

कल्याण



श्रीवामन-पुराणाड्ड

वर्ष
५६

संख्या
१

१९८२

'कल्याण' के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५६वें वर्ष-(सन् १९८२) का विशेषाङ्क—'श्रीगामनपुराणाङ्क' पाठकोंको सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठरसामग्री है और ८ पृष्ठोंमें नृत्य आदि। यथास्थान कई चतुर्दशे चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन प्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर धा गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्रीद्वारा तथा जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको यी० पी० द्वारा प्राहक-संख्याके क्रमानुसार भेजा जा सकेगा। 'कल्याण'का वार्षिक मुलक २०.०० रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कवा हो मूल्य है।

३—मनीआर्डर-कूपनमें अथवा यी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और प्राहक-संख्या कृपया स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। प्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें 'पुराना प्राहक' लिख दें। नया प्राहक बनना हो तो 'नया प्राहक' लिखनेका कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर' के पतेपर भेजें, किन्तु व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—प्राहक-संख्या या 'पुराना प्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये प्राहकोंमें लिख जायगा, जिससे आपकी सेवामें 'श्रीगामनपुराणाङ्क' नया प्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेंगा और पुराना प्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी यी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सक्ता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही उधरसे यी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप यी० पी० लौटायें नहीं। कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सम्बन्धनों नया प्राहक बनाकर उन्हींको यी० पी० से गये 'कल्याण'के अङ्क दे दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुरोध करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायेगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—विशेषाङ्क—'श्रीगामनपुराणाङ्क' फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ सब प्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है। शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी प्राहकोंको ईन्हें भेजनेमें लगभग ५-६ सप्ताह तो लग ही जाते हैं। प्राहक-महानुभावोंको सेवामें विशेषाङ्क प्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ प्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे। कृपालु प्राहक परिश्रमिनि समझकर हमें क्षमा करेंगे।

६—आपके 'विशेषाङ्क' के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो प्राहक-संख्या और पता लिखा गया है, उन्हें आप स्वयं सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या यी० पी०-अम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके। इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है।

७—'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' को अलग तथा 'व्यवस्थापक-गीताप्रेस'को पृथक पत्र, पाम्पट, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, यीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०) भी लिखना चाहिये।

८—'कल्याण-सम्पादन-विभाग', 'साधक-सङ्घ' तथा 'नाम-जप-विभाग' को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०) इस प्रकार पता लिखना चाहिये। पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, ज्ञानि, अश्वम्या आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अतः धर्मप्राण जनताके इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सद्बुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरित-मानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अनिश्चित उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यत्नमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवस्थाका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्राध्य—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश),
जनपद—पाँही गढ़वाल (३० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें समयता, समझता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, मोह, मांस, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे आगत करनेके पवित्र उद्देश्यसे लगभग ३७वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्यताका शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकारिणी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये प्रथम करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'साधक-पत्र' भेजा जाता है, जिनमें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके डाक-टिकट या ग्रीवापत्र भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइयें। पता—

संस्था—साधक-संघ, टाग 'कल्याण-सम्पादकीय विभाग' पत्राध्य—गोताप्रेस, जनपद—
गोताप्रेस २७३००५ (३० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएं

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्तसौख्य समझाने मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः समस्त विद्वाने इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंकी भी प्रशंसा करने लिये लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रयत्न किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें सत्रेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। निम्नकारणों मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

पता—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्राध्य—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) जनपद—
पाँही गढ़वाल (३० प्र०)

श्रीवामनपुराणाङ्क

(लेखकोंकी सूची)

विषय	पृष्ठ संख्या
१-मङ्गलाचरणम्	... १
२-वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन	... २
३-अदिनिरुज वामन-स्तुति	... २
४-इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपसृंहयेत्-(दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी शारदाशीटाधीश्वर अनन्तश्रीविभूति जगद्गुरु शंकराचार्य परमपूज्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजः। शुभाशीर्वाद)	... ३
५-पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ-(तमिळ्नाडुकेवलस काशीशामकोटियीटाधिरति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजः। शुभाशीर्वाद)	... ४
६-विदोषाङ्क यदास्वी यने-(पश्चिमाम्नाय शंकरा शारदाशीटाधीश्वर अनन्तश्रीविभूति जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजः। शुभाशीर्वाद)	... ५
७-दानयेन्द्र यतिपर भगवान्की अद्भुत कृपा (-परमपूज्य अनन्तश्रीविभूति परमपूज्य स्वामी श्रीशंकराशीर्वादी महाराज)	... ६
८-वामनपुराणके सर्वम्यरूप दो इलोक (-भीष्मस्मृतियपीटाधिरति अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीशंकराशीर्वादी महाराज)	... ६
९-वामनपुराणकी एक इलक (-अनन्तश्रीविभूति अयोध्या गेनैशसदसरीटाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)	... ७
१०-विदोषाङ्क सफल हो (-अनन्तश्रीविभूति जगद्गुरु भीतिम्बारांनार्यपीटाधीश्वर श्री 'श्री' श्रीगणेश सर्वेश्वरराज देवाचार्यजी महाराजः। शुभाशीर्वाचन)	... ७
११-सांस्कृतिक निधि-पुराण (ब्रह्मलीन परमभद्रेश्वर श्रीजयदयालजी गोयन्दकाये पात्रा रिचार्)	... १०
१२-वेद-पुराणोंमें गोगरिमा (योगिराज पूज्यराद श्रीदेवरत्ना वाराणसी आशीर्वाचन)	... १३
१३-पुराण-महिमा (-नित्यनीलजीन परमभद्रेश्वर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोदार)	... १४
१४-वामनभगवान्ने यतिसे क्यो छटा ? (-स्वामी श्रीशंकरानन्दजी मरवती)	... १५
१५-श्रीवामनपुराणकी उपादेयता (-परमभद्रेश्वर स्वामी श्रीराममुखादासजी महाराज)	... १६

—*१९८३*

श्रीवामनपुराणाङ्कके विषयोंकी सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१-	श्रीनारादजीका पुत्र ५ श्रुतिमें वामनाश्रयो मन्त्र, शिवजीका स्वीकृति और श्रीमूत्रारदन होना	... १७
२-	शारदागम होनेपर शंकरजीका मन्दरपर्वतर बना और दक्षका यह	... २०
३-	शंकरजीका ब्रह्महत्यासे दूष्टनेके विदे तीर्थोंमें भ्रमण, कटिकाभयमें नारायणकी स्तुति, वाशाकर्ममें ब्रह्महत्यामें मुक्ति पर कयाली नाम पड़ना	... ३६
४-	विजयात्री मीठी कतीमें ६५-यशकी बातों, सतीका प्राण-त्याग, शिवका क्रोध एवं उनके गर्भोद्धार दक्ष-यशका विषय	... ३०
५-	दक्ष-यशका विषय, देवाओंका प्रसादन, शंकरके बालरूप और राक्षसोंके अयोमें शरण कथन	... ३१

६ नर-नारदकी उदरति, तप-चर्चा, यदरिकाश्रमकी वसन्तकी शोभा, काम-दाह और कामकी अनश्रुताका वर्णन	३९
७-उत्तरीकी उदरति तथा, प्रसूत-प्रसंग—नर-नारायणसे संवाद एवं युद्धोपक्रम	४८
८ प्रसूत और नारायणका सुसुप्त सुदः भक्तिसे विजय	५३
९-अश्वत्थामकी विजिगीषा, देवी और असुरोंके वाहनों एवं युद्धका वर्णन	५९
१०-अश्वत्थसे सप्त देवताओंका युद्ध और अश्वत्थकी विजय	६४
११-सृष्टिशक्ति तथा, भक्त-नारायणसे श्रुतिसे प्रश्न करना, श्रुतियोंका भ्रमोपदेश, देवादिके धर्म, भुवनकोश एवं शरीर नरकी वृत्ति	६९
१२-सृष्टिशक्ति तथा, देवोंके धर्मोंके सम्बन्धमें प्रश्न, श्रुतियोंका उत्तर और नरकी वृत्ति	७४
१३-सृष्टिके प्रश्नके उत्तरमें श्रुतियोंका अश्वत्थकी स्थिति और उनमें स्थित पर्वत तथा नदियोंका वर्णन	७९
१४-दशाह्वयधर्म, आत्म-धर्म और महाचार-न्यस्तका वर्णन	८३
१५-देवीका धर्म एवं महाचारका प्रसंग, सृष्टिके नगरका उत्थान-पतन, वरुणा-असीही महिमा, लोकार्क-प्रसंग	९४
१६-देवीके धर्म—विधियों और उनके अद्भुतशायन आदि व्रतों एवं शिव-पूजनका वर्णन	९८
१७-देवादिमें तपस्वीकी उदरति, अश्वत्थसे विधान, विष्णु-पूजा, विष्णुपञ्जरस्तोत्र और महिषका प्रमद	१०४
१८-महाशक्ति अविचार, देवीकी वैजोगादिसे भगवती कात्यायनीका प्रादुर्भाव, विन्ध्यप्रसङ्ग, दुर्गाकी अवस्थिति	१०९
१९-कात्यायनी उदरका महिषामुने भगवती कात्यायनीके मौन्दर्यका वर्णन, महिषासुरका संदेश और युद्धोपक्रम	११४
२०-भगवती कात्यायनीका देवीके साथ युद्ध, महिषासुर-नर एवं देवीका शिवजीके पादमूलमें लीन हो जाना	११८
२१-देवीके पदमूलोंमें गम्भीरी प्रसन्नोत्तर, कुरुक्षेत्रव्य पृथ्वदकीर्णका प्रमद, संवरण-तपतीका विवाह	१२३
२२-कुरुकी वध, कुरुक्षेत्र निर्माण प्रमद और पृथ्वदकीर्णका महात्म्य	१२९
२३-वामनकी वध, वशिष्ठा देवताका धारिणी होना और उनकी श्रुत रात्र्य-लक्ष्मीका वर्णन	१३४
२४-वामन शक्तिसे उदरमें देवताओंका हृदयजीके साथ ब्रह्मलोकमें जाना	१३५
२५-वामन शक्तिसे उदरमें ब्रह्मा उदरदेश, तदनुसार देवीका श्वेतश्रीधर्म स्वरथा करना	१३८
२६-वदररक्षण नारायण वामनी श्रुति	१४१
२७-भगवत नारायणसे देवी और श्वेतश्री धारिणी, अदिनिही नरथा और प्रभुसे धारिणी	१४२
२८-श्वेतश्रीकी धारिणीसे भगवतका प्रसन्न होना तथा भगवान्का अदिनिही वर देना	१४५
२९-वामन शक्तिसे प्रसन्नोत्तर, प्रह्लादका अदिनिके गर्भमें वामनागमन एवं विष्णु-महिमाका कथन तथा नवन	१४६
३०-वामन शक्तिसे प्रसन्नोत्तर, अदिनिके गर्भमें वामनका प्रादुर्भाव, ब्रह्माक्षय स्तुति, वामनका वदिके वर्णन जाना	१५१
३१-वामनका वदिके वर्णन तथा वामनका प्रादुर्भाव, वामनका वदिके वर्णन जाना और वदिके वर्णन	१५४
३२-वामनकी वदिके वर्णन - उदरका कुरुक्षेत्रमें प्रवर्णित होना	१६२
३३-वामनकी वदिके वर्णन प्रवर्णित होना और कुरुक्षेत्रमें विनाय करने तथा तीर्थमें स्नान करनेका महत्त्व	१६४
३४-कुरुक्षेत्रमें सप्त प्रसन्नोत्तर, नदी नदियों एवं गण्डर्ष तीर्थोंका महात्म्य	१६६
३५-कुरुक्षेत्रमें तीर्थोंके महात्म्य एवं वामन अनुत्थान वर्णन	१७०
३६-कुरुक्षेत्रमें तीर्थोंके महात्म्य एवं वामन अनुत्थान वर्णन	१७१
३७-कुरुक्षेत्रमें तीर्थोंके महात्म्य और वामन अनुत्थान वर्णन	१८०
३८-वामन प्रसन्नोत्तर, वामनका शिवरात्रि और उनकी अनुत्थान-प्राप्ति	१८३
३९-वामनके वदिके वर्णन	१८५
४०-वामनका वदिके वर्णन, तीर्थोंका उदरसे प्रमद	१८८
४१-कुरुक्षेत्रमें तीर्थोंके महात्म्य, शक्ति, देवता, श्रुतियोंका, शिव, संनिहित, प्राची मरुवती, पञ्चवट, वामन, वामन तीर्थ, वामनका आदिका वर्णन	१९१
४२-वामनका तीर्थोंके महात्म्य, वामनकी नदीकी महिमा और वामनका तीर्थोंका वर्णन	१९४

- ४३-स्यागुतीर्थं, स्यागुवट और साभिद्वय सरोवरके सम्बन्धमें प्रश्न और ब्रह्माके इच्छामें होमसंगका उक्त ... ११९
- ४४-श्रुतियोंमदित ब्रह्माजीका शक्रजीकी शरणमें जाना और स्तवन, स्यागुवीक्षर प्रसंग और इतिवृत्त शक्रकी स्तुति एवं लिङ्गमें सनिधान ... २०३
- ४५-शानिहितमर—स्यागुतीर्थं, स्यागुवट और स्यागुलिङ्गका माहात्म्य वर्णन ... २०७
- ४६-स्यागु लिङ्गके समीप अगल्य लिङ्गोही स्थापना और उनके दर्शन अर्चनका माहात्म्य ... २०९
- ४७-स्यागुतीर्थके सन्दर्भमें राजा वेनका चरित्र, पृथु-जन्म और उनका अभियेक, वनके उदारके क्रिय प्रयुक्त पयन और वेनकी शिव स्तुति ... २१३
- ४८-वेन श्रुत शिव स्तुति एवं स्यागुतीर्थका माहात्म्य, वेन आदिकी युगतिका वर्णन ... २२५
- ४९-नार मुत्तोंकी उत्पत्ति कथा, ब्रह्म-श्रुत शिवकी स्तुति और स्यागुतीर्थका माहात्म्य ... २२८
- ५०-तुष्येनके श्रुत-सौथके सन्दर्भमें अश्वय तृतीयाके महत्त्वकी कथा ... २३२
- ५१-मेनाकी तीन कन्याओंका जन्म, कुटिला और रागिणीकी शाप, उमाकी तपस्या, शिवदारा उमाकी परीक्षा एवं मन्दराचलपर गमन ... २३३
- ५२-शिवजीका महर्षियोंसे स्मृतार उन्हें हिमवान्के यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवान्से शिवके लिये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीकृति और उत्तरियोंद्वारा शिवको स्वीकृति-स्वप्न ... २३०
- ५३-हिमालय पुत्री उमाका भगवान् शिवके साथ विवाह और बाललिव्योंकी उत्पत्ति ... २४५
- ५४-भगवान् शिवके लिये मन्दरपर विध्वंसद्वारा गृहनिर्माण, शिवका यज्ञकर्म करना, पार्वतीकी तपस्यासे ब्रह्माका वर देना, बौशिसीही स्थापना, शिवके प्राङ्गणमें अग्नि प्रवेद्य, देवीकी प्रार्थना आदि और गञ्जानकी उत्पत्ति ... २५०
- ५५-देवीद्वारा नमुचिका वध, शुभ निशुम्भका वृत्तान्त, धूम्रनेचनका वध, देवीका चण्ड प्रपञ्चसे युद्ध और अनुर सैन्यसहित चण्ड-मुण्डका विनाश ... २५६
- ५६-चण्डिनासे मातृनाओकी उत्पत्ति, असुरोंसे उनका युद्ध, रक्तबीज निशुम्भ शुम्भ वध, देवताओंके द्वारा देवीकी स्तुति, देवीद्वारा वरदान और भविष्यमें प्रादुर्भावका कथन ... २६३
- ५७-कार्तिकेयका जन्म, उनके छः मूल और चतुर्भूति होनेका हेतु, उनका सेनागति होना तथा उनका गण, मयूर, शक्ति और दण्डादिसा पाना ... २७०
- ५८-सेनापतिप्रदपर नियुक्त कार्तिकेयके लिये श्रुतियोंद्वारा स्वस्त्ययन, तारक विजयके लिये प्रस्थान, पातालसेतुका वृत्तान्त, तारक-महिषासुर-वध तथा मुचुनाओको वर ... २७८
- ५९-श्रुत-ब्रह्मा पातालसेतुपर आगमन कर प्रहार करना, अ-धका गौरीको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना ... २८८
- ६०-पुनः तेजःप्रामिषे लिये शिवकी तपस्या, कैदारतीर्थकी उपलब्धि, शिवका सरस्वतीमें निमग्न होना, युरासुरका प्रसंग और मनःसुमारका प्रसंग ... २९२
- ६१-पुत्राग्न नरसोंका वर्णन, पुत्र शिष्यकी विशेषता एवं बारह प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, सनत्सुमार ब्रह्माका प्रसंग, चतुर्भूति का वर्णन और मुक्त वध ... २९९
- ६२-शिवके अभियेक और सप्त-शुक्ल प्रलया उपदेश, हरि-रूपके सयोगसे विष्णुके हृदयमें शिवकी संस्थिति, गुप्तकी सजीवनी विद्याकी शिक्षा, मङ्गलकी कथा और सप्तसारस्वततीर्थका माहात्म्य ... ३०५
- ६३-अध्याससुरका प्रसङ्ग, दण्डकाव्यायनका कथन, दण्डका अरजाके चित्राङ्गदाका वृत्तान्त-कथन ... ३१०
- ६४-चित्राङ्गदा-सन्दर्भ, विध्वंसका बन्दर होना, वेदवती आदि का उपाख्यान, जाबालिका कथन मोचन ... ३१३
- ६५-गालरप्रसङ्ग, चित्राङ्गदा वेदवती-वृत्तान्त, कन्याओंकी स्वोक्त, मृताची-वृत्तान्त, बाराक्रीडी ब्रह्मासे मुक्ति, विध्वंसका शान्त मुक्ति, इन्द्रयुष्मादिका समगोदावरमें आना, शिव-स्तुति, समगोदावरमें मम्मैष्म, कन्याओंका विवाह ... ३२२
- ६६-दण्ड अरजाके प्रसंगमें शुक्रद्वारा दण्डकी शाप, महादका अ-धको उपदेश और अन्धक शिव सन्दर्भ ... ३३५
- ६७-नन्दिद्वारा आहूत गणोंका वर्णन, उनसे हरि और इन्द्रका एकत्वपरिभाषण, गणोंकी महाशिवका दर्शन और गणोंद्वारा मन्दरका भर जाना ... ३४०
- ६८-भगवान् शक्रका अध्यासमें मुक्तके लिये प्रस्थान, षड्रगणोंका दानकथनमें युद्ध और सुदुष्ट अन्दि देवीका विनाश ... ३४५

६९-शुक्रद्राग संजीवनीका प्रयोग, नन्दि-दानव-युद्ध, शिवका शुक्रको उदरस्थ रखना, शुक्रकृत शिवस्तुति और विशदार्शन, प्रलय देवोंने युद्धमें दैत्योंकी हार, शिवनेयमें अन्धकका पार्वतीदेतु विफलप्रयास, पुनः दैत्य-देव और इन्द्र-रम्भ-युद्ध, मानसिका जन्म और शारदिक दैत्योंका नाश, जम्भ-कृजम्भ-वध	...	३५०
७०-अन्धकका शिव-शूलमें भेदन, मैत्रावरिणी उत्पत्ति, अन्धककृत शिवस्तुति, अन्धकका भृङ्गित्व, देवादिकोंका भोजना, अहंकुसुमने पार्वतीका प्राङ्मुख और अन्धकद्राग उनकी स्तुति	...	३६३
७१-इन्द्रका मन्वन्तर अस्त्रोंने युद्ध, उनका (पाकशासन) और (गोप्रभिक्ष) होनेका हेतु, मरुतीकी उत्पत्तिकी कथा	...	३७१
७२-स्वायम्भुव, स्वर्गोत्थित, उत्तम, सामय, रवेत, चाक्षुष-मन्वन्तरमेंके मरुद्गणकी उत्पत्तिक वर्णन	...	३७५
७३-वल्कि, मयप्रभृति दैत्योंका देवताओंके साथ युद्ध, कालनेमिके साथ विष्णुभगवान्का युद्ध और कालनेमिका वध	...	३८१
७४-वल्कि-यागका देवताओंके युद्ध, वल्किकी विजय, प्रह्लादका स्वर्गमें आना, वल्किसे प्रह्लादका उपदेश	...	३८५
७५-पौलोम्य-वल्कीका वल्किसे यहाँ आना, श्वेत वल्की आदिकी उत्पत्ति, निधियोंका वर्णन, जयश्रीका वल्किमें मिल्ना और वल्किनी गमूढिका वर्णन	...	३८९
७६-प्राद्विन्द-हेतु इन्द्रकी तरस्या, माताके आश्रममें आना, अदितिकी तरस्या और वामुदेवकी स्तुति, वामुदेवका अदितिके पुत्र बननेका आश्वासन और स्वतेजसे अदितिके गर्भमें प्रवेश	...	३९३
७७-प्रह्लादने अदितिके गर्भमें विष्णुके प्रविष्ट होनेकी बात जानकर वल्कि विष्णुको दुर्वचन, प्रह्लादद्राग वल्किसे शर और अनुनय करनेपर उपदेश	...	३९८
७८-प्रह्लादकी तीर्थयात्रा, धुन्धु और वामन-प्रयोग, धुन्धुका यज्ञानुष्ठान, वामनका प्रादुर्भाव और उनके लिये दान देनेका धुन्धुका निश्चय, योगनका त्रिविक्रम होना और धुन्धुका वध	...	४०२
७९-पुरुषरातो रथकी प्राप्ति और उगी गन्तारमें प्रेत और वणिककी भेंट तथा परस्पर वृत्तान्तका कहना एवं श्रवण-प्राप्त्योका साहाय्य, गथामें आदि करनेसे प्रेत-योनिसे मुक्ति और पुरुषराको सुरूपकी प्राप्ति	...	४१०
८०-नक्षत्र-पुरुषके वर्णन-प्रगट्टमें नक्षत्र-पुरुषकी पूजाका विधान और नक्षत्र-पुरुषके व्रतका साहाय्य	...	४१६
८१-प्रह्लादकी अनुकामिक तीर्थयात्राका वर्णन और ज्योद्धकका आख्यान	...	४१९
८२-जातदानके कथा-प्रसङ्गमें उपमन्यु तथा श्रीदामका वृत्तान्त, शिवद्राग विष्णुको चक्र देना, हरका विरूपाक्ष हो जाना और श्रीदाम-वध	...	४२२
८३-प्रह्लादकी अनुकामगत तीर्थ-यात्रामें अनेक तीर्थोंका महत्त्व	...	४२६
भगवान् वामनसे श्रेयःप्राप्तना (श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र (विनय))	...	४३१
नर निवेदन और श्रद्धा-प्रार्थना	...	४३१

चित्र-सूची

बहुरंगी चित्र

१-वाटा वल्किसे युद्धमें गाने हुए भगवान् वामन	...	सुख-पृष्ठ
२-भगवान् वामन	...	१
३-वामनारवारी भगवान् विष्णु	...	१७
४-भगवती वरदा देवी	...	१०९
५-भगवान् मायात्मजका य-यात्रामें पृथ्वी	...	१५७
६-वामनकी वरदा	...	२२८
७-महाराष्ट्रमें भगवान् विनायक	...	२५०
८-महाराष्ट्र में अदितिके भगवान् शक्र	...	३६०
९-भगवान् विष्णुका ३६ विनायक	...	

रेखा-चित्र

कल्याणके द्वितीय अङ्कके (शेष वामनपुराणीय) विषयोंकी सूची

भाषा	विषय	पृष्ठ संख्या
	गजेन्द्रपर भीहरि अनुग्रह [सफल]	... ४३३
८४-	महादशके तीर्थयात्राप्रसङ्गमें विन्दुगिरिस्थित सरोवरमें ब्राह्मणों द्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना, गजेन्द्रद्वारा विष्णुकी स्तुति, गज ब्राह्मण उदार एव गजेन्द्रकी उस्तोषाकी फलश्रुति	... ४३४
८५-	सारस्वतस्रोतके सदर्भमें विष्णुपञ्चरसोय, सारस्वतनव-कथन प्रसंगमें राक्षस वृत्तान्त, राक्षसप्रण मुनिकी अग्नि प्राथना, सारस्वतस्रोत और मुनिद्वारा राक्षसों उपदेश	... ४४१
८६-	स्रोतोंके क्रममें पुलस्त्यकीदास उपदिष्ट महेश्वर-कथित पापप्रशमनस्तोत्र	... ४५०
८७-	अगस्त्यद्वारा उचित पापप्रशमनस्तोत्र	... ४५३
८८-	बलिना पुण्ड्रकेयमें आना, वरुणके मुनिपौत्र पलायन, पलायनका आविर्भाव, उनका स्तुति, बलिने पहले बादकी उलफटा और भरद्वाजके स्वखानना कथन	... ४५५
८९-	वामनभगवान्का विविध स्थानोंमें निवास-वर्णन और पुण्ड्रकाङ्गके चिन्ने प्रस्थान करना	... ४६०
९०-	भगवान् वामनके आगमनसे पृथ्वीकी क्षुब्धता, बलि और शुक्रके सवाद प्रसंगमें वीर्यकारकी कथा	... ४६३
९१-	वामनका बलिने पहले जाकर उससे तीन पग भूमिकी याचना, वामनका विराटरूप ग्रहण करना एवं विचित्रमय, वामनका बलिबन्धन विषयक प्रश्न, बलिकी वर, बलिना पाताल और वामनका स्वर्ग-गमन	... ४७२
९२-	ब्रह्मयोगमें वामनभगवान्की पूजा, ब्रह्मकृत वामनकी स्तुति और वामनरूपमें विष्णुका स्वर्गमें निवास	... ४७८
९३-	बलिना पातालमें वास, मुदरानचक्रका वरुण प्रवेश, बलिद्वारा मुदरानचक्रकी स्तुति, महादशका विष्णु भक्तिकी प्रशंसा	... ४८२
९४-	बलिना महादशके प्रश्न, विष्णुकी पूजनादि-विधि, मासानुसार विविध दान विधान, विष्णु मन्दिर निर्माण और विष्णुभक्त एव बृहदात्म्यकी महिमाका वर्णन	... ४८८
९५-	पुराण रचन, भावण श्रवण और पठनकी फलश्रुति	... ४९३
१-	वामन पुराण-पठन-माहात्म्य [लेख] (अनन्तभी पूज्यपाद-भांगमुदरको ब्रह्मचारीको महाराज)	... ४९५
२-	नव-व्योतिषा प्रकाश मित्रे ! (अनन्तभी जगदाचार्य पूज्य नारदानन्दजी महाराजका शुभाशीर्षचन)	... ४९९

चित्र-सूची (द्वितीय अङ्क)

१-	शारणागत गजेन्द्रकी पाशसे श्रुति	(बट्टरगे)	मुद्रा-पृष्ठ-सं० ४३३
२-	भगवान् वामनद्वारा तीर्थसे पगकी पूर्तिकी माँग	"	४७२
३-	भगवान् विष्णुके दम अवतार	(रेखा-चित्र)	आरण्य पृष्ठ



'पतन्मया पुण्यतमं पुराणं श्रुभ्यं तथा नारदकीर्तिं वै !'

शिवमनपुराणकी शुभाशंसा

मायोपात्तननुत्रिविक्रमपदन्यासप्रकर्षान्वित-

स्तत्त्वोद्घोषविचारचरुचरितैर्यः

सत्कथाशेषधिः ।

पौराणोत्तुरव्याकृतसमेधितकलाकल्याणकल्पद्रुम-

प्रोक्त्यासिस्तयकः स 'शिवमनपुराणाङ्कः' सतां भावयेत् ॥ १ ॥

ओं योगभाषासे शरीर धारण करनेवाले भगवान् त्रिविक्रमके पाद-निक्षेपजन्य उत्कर्ष-(अर्थात् तीन पगोंसे त्रिदोंकीको नापकर वृत्ति-बन्धन आदि चरित्रोंके माहात्म्य-) से युक्त है, जो आध्यात्मिक तत्त्वोंकी उद्भूति, विचार और सुन्दर चरित्रोंसे सत्कथाओंका कोष बना हुआ है, पुराणभारतीद्वारा प्रवर्धित (काव्य-) कलासे समन्वित जो 'कल्याण' रूपी कल्पवृक्षमें उल्लसित होनेवाला गुच्छा है, ऐसा यह 'शिवमन-पुराणाङ्क' सज्जनोंके भगवद्भावकी प्रवर्धित करे ॥ १ ॥

आख्यानप्रियबालवृद्धवनितासन्दोहमुद्घोषधयन्

तीर्थस्नानकथाप्रतादिविविधैः

स्तोत्रैस्तथा

प्राञ्जलैः ।

शैवं

वैष्णवमप्यगाधतरलं

तत्त्वं

समुद्घाटयन्

कल्याणस्य

तदेव

सञ्चितविशेषाङ्कः

शुभायास्तु वः ॥ २ ॥

जिनको पौराणिक आख्यान विशेष रुचते हैं, ऐसे बालक-वृद्ध और बियोंके समूहको तीर्थस्नान, कथा, वनगायन आदि अनेक विधानों तथा सुन्दर देवस्तुतियोंसे जाग्रत करता हुआ, भगवान् शिव और विष्णुके गम्भीर तथा किरतून आध्यात्मिक रहस्योंको प्रकाशमें लाता हुआ कल्याणका यह संकलित विशेषाङ्क हम सबके लिये लाभ देनेवाला हो ॥ २ ॥

श्रीशिवमनपुराणाङ्कः

सुसम्पाद्यप्रकाशितः ।

समर्प्यतेऽद्य

श्रीमद्भ्यां

विद्यातीर्थेभ्य

एव

च ॥ ३ ॥

सधिमशीधिनैः

पाठैरध्यायविषयान्मकैः ।

सानुवादः

सभावार्यः

सुधियः

सम्परीक्ष्यताम् ॥ ४ ॥

यथावन्ति सुन्दरीतिले सम्पादित यह श्रीशिवमनपुराणाङ्क आज आप सब विद्वान् पाठकोंको समर्पित किया जाता है । इसमें विशेष विचार करके अध्यायों और विषयोंकी क्रमसंगतिका ध्यान रखते हुए भावार्थ तथा भावानुवाद भी प्रस्तुत किया गया है । विद्वान् पाठक हमारे इस श्रमका परीक्षण कर उसे सार्थक बनायें—यही हमारा विशेष निवेदन है ॥ ३-४ ॥

भस्मयस्तु

गोविप्रभ्यां

वर्धन्तां

धर्मवृद्धयः ।

प्रकामं

लभतां

शान्तिं

दिग्भिन्ना

भारतीप्रजाः ॥ ५ ॥

नो-शान्तगोत्र कल्याण हो । धर्मवृद्धियां बढ़ती रहें । आज धर्ममार्गसे जिसने अपनी दिशा ही बदल दी है, उसके दिग्भिन्ना हो पका है—ऐसी भारतीय जनता भी प्रभूत मानसिक शान्ति प्राप्त करे—यही हमारी इच्छा है ॥ ५ ॥



ये मानवा विगतरागपरापरव्या नारायण सुरगुरु सतत स्मरन्ति ।
 ४ धातपाण्डुरगुटा इव राजर्षाः संसाग्मागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥
 (भीष्म० पु० १२।७१)

वर्ष ५६ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-मास ५२०७, जनवरी १९८२ ई० { संख्या १
 पूर्ण संख्या ६६२

मङ्गलाचरणम्

स्वस्ति स्वागतमर्थाहं यद् विभो किं दीयतां मेदिनी
 का मात्रा मम विक्रमप्रपदं दत्तं जलं दीयताम् ।
 मा देहात्पुत्रानात्रवीक्षित्यं पापं किमस्मान्परं
 ज्ञेयेवं यत्किञ्चित्तो भवमुत्ते पापात्स नो धामनः ॥

भारता स्वर्गात् हो । भारता स्वर्गात् हो । ये पाचक हूँ । यामो । यामि । क्या
 दिया जाय । मुझे भूमि (दानमें) दीजिये । यत्किनी मात्रां । मेरे पदमें तीन पदा । दे दी ।
 पाचकका जन् दीजिये । भव दोः ये पाचक प्रियुक्त नरी, सागात् प्रियु है—येछा पुत्रानामने क्या ।
 (तो यत्किन क्या—) यत्किने बदर दान देनेसा उत्तम पाव गोन हो सरता दे । इस प्रकार परिचरकि
 बाद राजा बलिने पशारभने पूजा बनन भगवान् हम सद्की—वचक-भोता, पाठक-पाठिका मयुक्ति
 —एदा रक्षा करे । (—मु० १० भा०)

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवनन्तु ना यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्याः सत श्रामभिः ॥ १६ ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समृद्धमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥

श्रानि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ १८ ॥

विष्णोः क्रमाणि पश्यत यतो व्रतानि पश्यशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
द्विंशच्चक्षुगततम ॥ २० ॥

तद् विष्णोः विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्धत् पदम् ॥ २१ ॥

(ऋ० मं० १ सू० २२)

जिस भू-प्रदेशसे अपने अने सातों इन्द्रोंद्वारा विष्णुने
विचित्र पाद-क्रम किया था, उसी भू-प्रदेशसे देवता लोग

हमारी रक्षा करें ॥ १६ ॥ विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा

की, उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रखे और उनके
धूलियुक्त पैरसे जगत् छिप-सा गया ॥ १७ ॥ विष्णु

जगत्के रक्षक हैं, उनको आघात करनेवाला कोई नहीं
है । उन्होंने समस्त धर्मोंको धारण कर तीन पगोंमें

परिक्रमण किया ॥ १८ ॥ विष्णुके कर्मोंके बलसे ही
यजमान अपने व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं । उनके कर्मोंको

देखो । वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं ॥ १९ ॥ आकाशमें
चारों ओर विचरण करनेवाली आँखें जिस प्रकार दृष्टि

रखती हैं, उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुके उस
परम पदपर दृष्टि रखते हैं ॥ २० ॥ स्तुतिवादी और

मेधावी मनुष्य विष्णुके उस परम पदसे अपने हृदयको
प्रकाशित करते हैं ॥ २१ ॥

अदितिकृत वामन-स्तुति

यशेश यमपुत्र्याच्युत तीर्थपाद
तीर्थध्रुवः श्रवणमद्गलनामधेय ।

आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृश्याश भगवन्नस्ति दीनतायः ॥

विशनाय विद्वभयनस्थितिसंयमाय भूम्ने ।
स्वैवं गृहीतपुन्दाकिगुणाय

स्यम्याय शइयदुपवृद्धितपूर्णवोभ-
व्यापादितामृतमते हरये नमस्ते ॥

आयुः परं वपुर्भोगमनुल्लक्ष्मी-
र्गोभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।

गतं न केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
सत्तो नृणां किमु सपन्नजयादिगृशिः ॥

(अदितिने कथा—) आप यदके स्वामी हैं और स्वयं
यह भी जानती हैं । अस्तुन ! आपके चरणकमलोंका

आश्रय लेना ही है । भगवान्में तर जानें हैं । आपके
कर्मोंके श्रेष्ठ भी संसारमें तारनेवाला है । आपके

सत्त्वों का आश्रय ही कल्याण ही जाता है ।
अदिति ! जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी

सारी विपत्तियोंका नाश आप कर देते हैं । भगवन् ! आप
दीनोंके स्वामी हैं । आप हमारा कल्याण कीजिये ।

आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं
और विश्वरूप भी आप ही हैं । अनन्त होनेपर भी

सच्चन्द्रतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार
कर लेते हैं । आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते

हैं । नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए, पूर्ण बोधके द्वारा आप
हृदयके अन्वकारको नष्ट करते रहते हैं । भगवन् ! मैं

आपको नमस्कार करती हूँ । प्रभो ! अनन्त ! जब आप
प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु,

उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु,
अनुक्ति धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगको समस्त

सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और केवल (अद्वितीय)
ज्ञानतक प्राप्त हो जाना है; फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त

करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें
तो कहना ही क्या है । (आप समस्त मनोरथोंके कल्प-
वृक्ष हैं ।)

(श्रीमद्भा० ८ । १७ । ८-१०)

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

(दक्षिणाभ्याम् शून्नेरी शारदारोठाधीश्वर अनन्तभीविभूजित अमरगुण शरराचार्य परमपूज्य ध्यामी श्रीभक्तिभवनविशालीधरजी महाराजः शुभाशीर्वाद)

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिधितः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रमाणरचनसे विद्या और धर्म नियमों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एव ज्योतिषस्य षट् वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन एव धर्मशास्त्रके साय वेद परम प्रमाण हैं । वेदोंके वचनोंके रहस्य बड़े गूढ़ हैं, अर्थात् मामूली तौरपर शब्द-शब्दार्थ जाननेवाला वेदोंका तात्पर्य नहीं समझ सकता । अङ्ग-उपाङ्गोंके साय सम्प्रदायके अनुसार अध्ययन करने-वाला ही समझ पायेगा । उपाङ्गोंमें भी पुराणका स्थान प्रथम आया है । वे पुराण माल-पाधादि भेदसे अष्टादह हैं ।

पुराणोंका परिशीलन वेदोंके तात्पर्य समझनेमें बड़ा सहायक होना है । इसीलिये पुराणोंमें सर्वत्र कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
विमेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

पुराणोंके ज्ञानने बिना अपना तात्पर्य समझनेके प्रयास करनेवाले अल्पज्ञसे वेद डरता है कि वह व्यक्ति मेरा कहीं अर्थ तो न कर डालेगा ! पुराण और इतिहासके साय जो वेदका ज्ञान प्राप्त होना है, वही सचा निरुक्तता है । इसलिये पुराणोंका अध्ययन अरुच्य करना चाहिये ।

वेदोंमें जो सप्रह किये या गूढ़रूपमें धर्म बताये गये हैं, वे ही स्मृतियोंमें विस्तारसे व्याख्यात हुए हैं । फिर वे ही कथा-व्याख्यानादिरूपसे पुराणोंद्वारा स्पष्ट रीतिसे समझाये जाते हैं, जिससे मामूली ज्ञानवाला व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ पावे । उदाहरणके लिये कृष्णपुराणके शिक्षा वन्धीमें केवल इतना ही है कि 'सत्यं यद्' स्मृतिर—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेव धर्मः मनातनः ॥

—इस वचनसे उसीका विस्तार करते हैं । पुराणोंमें सत्यर अडिग रहनेवाले महागज हरिश्चन्द्र आदिनी अनेक मनोहर कथाओंके द्वारा सत्यरूप धर्मका उपदेश समझाया गया है, जिसमें मयका पाठन करनेवाला आत्ममें फल प्राप्त होनेपर भी अन्तमें उस सत्य-वचनरूप पूरुमाय धर्मसे ही परमात्माका साक्षात्कार कर अपना जीवन धन्य बना लेता है । इसमें सत्य धर्मकी वैदिक 'सत्यं यद्' द्विधियाक्यकी व्याख्या पूरी हो जाती है और हम सत्यरूप धर्मका महत्त्व समझ लेते हैं । वेदका अर्थ नहीं होने पाता । इसी प्रकार पुराण हमें धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य आदि वेदप्रतिपादित धर्मोंका महत्त्व समझाते हैं ।

महापुराणोंमें यामनपुराण भी एक है । इसमें भगवान् श्रीरामनजीका जन्म और उनके लीलाचरित्रके साय नाना आख्यानोंके द्वारा धर्मका निरूपण किया गया है । धर्मनिरूपण-प्रकरणमें यामनपुराण कहाता है—

एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म
यदात्मन्योधसुखे प्रसिद्धम् ।
ज्ञेयं नदेव प्रवदन्ति सन्त-
स्त प्राच्य देही विजहाति कामात् ॥

(४३ । २५)

पुराण प्रमाण कार्य यही है कि वह गुणरूपका आनन्दान प्राप्त करे । मनुष्य उसी आत्मको ज्ञानरूप कहते हैं जिसे प्राप्त करनेपर मनुष्य सारी कामनाओंसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

यामनपुराणके इन तार्किक उपदेशमें धर्मका वास्तव अन्तिम स्वरूप व्याख्यात है । आत्माका ज्ञान ही अन्तिम धर्म-साध्य वरम पुरुषार्थ है ।

पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ

(तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजका शुभाशीर्वाद)

आजकल परिस्थिति ऐसी बदल गयी है कि लोगोंको पुराण-श्रवण और पठन—दोनोंमें श्रद्धा नहीं रह गयी है। यह प्रवृत्ति कैसे सुधरे—इसके लिये हमलोगोंके हृदयमें बड़ी चिन्ता होती है। पुराणानुशीलनसे परम लाभ है। वर्तमान प्रवृत्तिके सुधारके लिये जनताको अपनी प्रवृत्ति सुधारने, सुरुचिको बढ़ानेमें सहायताय 'कल्याण'को स्वयं पढ़ना चाहिये। 'कल्याण' पत्र पुराणों एवं इतिहासोंको एक-एक करके प्रायः यथासमय अपने विशेषाङ्कके द्वारा लोगोंके सामने रखनेके काममें सफल हुआ है; इस बातसे हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और हमारा उनके लिये परम आशीर्वाद है। 'कल्याण'के इस प्रयाससे जनताकी अभिरुचि पुराणोंमें बढ़ेगी और वेदार्थका प्रकाश होगा।

बड़े हर्षकी बात है कि 'कल्याण' इस वर्ष वामन-पुराणको अर्थसहित अपने विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करने जा रहा है। उसकी सफलताके लिये हमारा आशीर्वाद है।

वामनपुराण सद्धर्म, नीति एवं सदाचारको जनताके बीच फैलानेवाला आर्ष-ग्रन्थ है। इसे पढ़नेसे लोग विनयी एवं सदाचारी बनेंगे, अपना-पराया कल्याण करेंगे, इस धर्मप्रधान देशका मङ्गल होगा।

अपने सनातन वैदिक धर्मके आधार और प्रमाण-भूत मूलग्रन्थ अपौरुषेय वेद ही हैं। पर वेदोंके भाव और उनमें कहीं हुई बातोंको आख्यानोपाख्यानोद्धार द्वारा सुस्पष्ट करनेका काम पुराण ही करते हैं। इसलिये

भारतीय विचारक मनीषी वेदोंके व्याख्यानके लिये इतिहास तथा पुराणोंको पढ़ते हैं। पहले अपठित प्रामीण लोग भी मन्दिर और पवित्र नदियोंके तटोंपर पढ़े-पढ़ाये जाते हुए पुराणोंको तथा वैशाख, श्रावण, कार्तिक, माघ आदि मासीय धर्मकृत्य-माहात्म्यों, तीर्थ-माहात्म्योंको श्रवण कर पारमार्थिक लाभ उठाते थे। पुराण-इतिहासोंको पढ़नेसे पुराने प्राचीन राजा-महाराजोंके सफल इतिहास और सांसारिक व्यवस्थाका ज्ञान भी मिलता है। विश्व-सृष्टि और प्रलय—दोनोंके विषयमें बहुत-सी बातोंका ज्ञान हमको पुराण ही देते हैं। साथ-साथ भूगोल और खगोलके बारेमें भी हम सीख सकते हैं। हमारे धर्मकी कैसे बिना संशय कानके द्वारा ही आजतक पढ़ूँची हैं ?—पुराणोंके द्वारा ही तो। पुराणोंको सुनने और पढ़नेसे सब पाप दूर होते हैं और श्रेष्ठ धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक संस्कारोंकी रूप पड़ती है। इससे लोग ईश्वरको सर्वस्व मानेंगे और उनमें दृढ़ भक्ति करेंगे। और, फिर ईश्वर-चरणारविन्दोंमें प्रणत होकर जीवनका वास्तविक फल प्राप्त करेंगे।

पुराणोंमें वामनपुराण बड़े महत्त्वका है। इसमें वामन एवं नर-नारायणके तथा भगवती दुर्गाके बहुत पवित्र चरित्र तो हैं ही, प्रह्लाद आदि भक्तोंके बड़े रम्य आख्यान भी हैं। सुप्रसिद्ध गजेन्द्रमोक्षकी कथा और मूलस्तोत्र भी इसमें हैं। 'कल्याण' ऐसे उपादेय पुराणका विशेषाङ्क जर्नकल्याणकी भावनासे निकाल रहा है—यह प्रसन्नताका विषय है। 'कल्याण' अपने कार्यमें सफल हो—यह हमारा पुनः आशीर्वाद है।

विशेषाङ्क यशस्वी वने

(पश्चिमाम्नाय द्वारका-द्वारवापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरुक शङ्कराचार्य स्वामी

भीमभिनवकविदानन्दतीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

पुराणोंमें भारतीय संस्कृति भरी है। पुराण ज्ञाननिधि है। इस अक्षरपर पृथ्वीपर जगद्गुरुका दार्शनिक है। ऐसे ज्ञानके निधान उपयोगी पुराणोंका प्रकाशन शुभाशीर्वाद है कि यह विशेषाङ्क भगवान् श्रीशङ्कराधीश्वर नितान्त आवश्यक है। 'कन्याग' श्रोत्रामनपुराणाङ्क तथा चन्द्रमौलीश्वरकी अनुकम्पासे सफल और यशस्वी विशेषाङ्कके रूपमें निकाल रहा है, यह प्रसन्नताकी बात वने। (पे०—गन्धी)

दानवेन्द्र बलिपर भगवान्की अद्भुत कृपा

(धर्मवशात् अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य स्वामी भीमभिनवजी महाराज)

जीवोंपर श्रीभगवान्की अर्हेतुकी कृपा सदा ही रहती है। जीव केवल अपने त्याग, तपस्या आदि साधनोंके बलपर इस भवसागरसे कभी तर नहीं सकता। वड़े-वड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, महात्मागण अनन्त जगत्को त्याग-तपस्या आदि साधनकर श्रीभगवान्के पास पहुँचते हैं। किंतु जब भगवान्की भावना अनुकम्पा मत्कोद्धारके लिये आतुर हो जाती है, तब श्रीभगवान् स्वयं भक्तके पास जानेके लिये बाध्य हो जाते हैं और वे उसका कृपापूर्वक उद्धार करते हैं। श्रीभगवान्ने काननरूप धारणकर दानवेन्द्र बलिजो बँध लिया। वह घटना सबमुच बड़ी ही कष्टगर्णणी थी। जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया हो, उस बलिजके प्रति श्रीभगवान्का यह व्यवहार आगतनः सहसा बड़ा कठोर-सा प्रतीत होता है। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस लीलाके मूलमें भी उन कृपायुक्ती अनन्त कृपा ही छिपी है। ब्रह्मजी कुछ कहना चाहते थे, पर इसी बीच महामना बलिजकी पत्नी श्रीविष्णुवलीजी श्रीभगवान्के सामने आ जाती हैं। वे कहती हैं—

श्रीद्वार्यमात्मन इदं विजगत् कृतं ते

स्वाम्यं तु तत्र कुभियोऽपर ईश कुर्युः।

(भीमरा० ८/२२/२०)

अर्थात्—'प्रभो! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है, पर यहाँ जो दुखुद्धि हैं, वे आपकी इस सम्पत्तिपर अपना साम्राज्य अहीभर करते हैं।' वस्तुतः साग विभ्र भगवान्का है; अतः सर्वस्व समर्पण ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। इसमें भी भगवत्कृपा ही कारण होती है।

अन्तमें श्रीप्रह्लादजीने कहा कि 'प्रभो! लोग कहते हैं कि भगवान् देवताओंका पक्षगत करनेवाले हैं, किंतु आज यह बात विदित हो गयी कि तपस्वः आप असुरोंके भी पक्षपाती हैं, उनपर भी आपकी अन्न कृपा रहती है। तभी तो आप बलिजके घरमें उनके (बावन) द्वारोंपर चक्र लिये हुए खड़े दिखायी पड़ते हैं। यह कौत्सी विशेषता है कि आप कौत्सी देवताके यहाँ चक्र लिये खड़े नहीं दीगने, पर बलिजके यहाँ पहग दे रहे हैं।'

वस्तुतः यह महान् आश्चर्य है कि भगवान् कानन-रूपमें दानवेन्द्र बलिजके सभी द्वारोंपर खड़े दीखते हैं। बलिजकी आँखें जहाँ जाती हैं, यहाँ श्रीभगवान् दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः बलिज जीवन परम धन्य है।

इस आख्यानको सुनिपुणतया प्रकाशित करता है—

काननपुराण। 'कन्याग'का यह 'श्रीकृष्णपुराणाङ्क'

इसर और प्रकाश डालेगा।

पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ

(तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजका शुभाशीर्वाद)

आजकल परिस्थिति ऐसी बदल गयी है कि लोगोंको पुराण-श्रवण और पठन—दोनोंमें श्रद्धा नहीं रह गयी है। यह प्रवृत्ति कैसे सुधरे—इसके लिये हमलोगोंके हृदयमें बड़ी चिन्ता होती है। पुराणानुशीलनसे परम लाभ है। वर्तमान प्रवृत्तिके सुधारके लिये जनताको अपनी प्रवृत्ति सुधारने, सुरुचिको बढ़ानेमें सहायतार्थ 'कल्याण'को स्वयं पढ़ना चाहिये। 'कल्याण' पत्र पुराणों एवं इतिहासोंको एक-एक करके प्रायः यथासमय अपने विशेषाङ्कके द्वारा लोगोंके सामने रखनेके काममें सफल हुआ है; इस बातसे हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और हमारा उनके लिये परम आशीर्वाद है। 'कल्याण'के इस प्रयाससे जनताकी अभिरुचि पुराणोंमें बढ़ेगी और वेदार्थका प्रकाश होगा।

बड़े हर्षकी बात है कि 'कल्याण' इस वर्ष वामन-पुराणको अर्थसहित अपने विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करने जा रहा है। उसकी सफलताके लिये हमारा आशीर्वाद है।

वामनपुराण सद्गर्म, नीति एवं सदाचारको जनताके बीच फैलानेवाला आर्ष-ग्रन्थ है। इसे पढ़नेसे लोग विनयी एवं सदाचारी बनेंगे, अपना-पराया कल्याण करेंगे, इस धर्मप्रधान देशका मङ्गल होगा।

अपने सनातन वैदिक धर्मके आधार और प्रमाण-भूत मूलग्रन्थ अपौरुषेय वेद ही हैं। पर वेदोंके भाव और उनमें कही हुई बातोंको आख्यानोपाख्यानोद्वारा सुस्पष्ट करनेका काम पुराण ही करते हैं। इसलिये

भारतीय विचारक मनीषी वेदोंके व्याख्यानके लिये इतिहास तथा पुराणोंको पढ़ते हैं। पहले अपठित ग्रामीण लोग भी मन्दिर और पवित्र नदियोंके तटोंपर पढ़े-पढ़ाये जाते हुए पुराणोंको तथा वैशाख, श्रावण, कार्तिक, माघ आदि मासीय धर्मकृत्य-माहात्म्यों, तीर्थ-माहात्म्योंको श्रवण कर पारमार्थिक लाभ उठाते थे। पुराण-इतिहासोंको पढ़नेसे पुराने प्राचीन राजा-महाराजोंके सफल इतिहास और सांसारिक व्यवस्थाका ज्ञान भी मिलता है। विश्व-सृष्टि और प्रलय—दोनोंके विषयमें बहुत-सी बातोंका ज्ञान हमको पुराण ही देते हैं। साथ-साथ भूगोल और खगोलके बारेमें भी हम सीख सकते हैं। हमारे धर्मकी कैसे बिना संशय कानके द्वारा ही आजतक पढ़ूँची हैं ?—पुराणोंके द्वारा ही तो। पुराणोंको सुनने और पढ़नेसे सब पाप दूर होते हैं और श्रेष्ठ धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक संस्कारोंकी रूप पड़ती है। इससे लोग ईश्वरको सर्वत्र मानेंगे और उनमें दृढ़ भक्ति करेंगे। और, फिर ईश्वर-चरणारविन्दोंमें प्रणत होकर जीवनका वास्तविक फल प्राप्त करेंगे।

पुराणोंमें वामनपुराण बड़े महत्त्वका है। इसमें वामन एवं नर-नारायणके तथा भगवती दुर्गाके बहुत पवित्र चरित्र तो हैं ही, प्रह्लाद आदि भक्तोंके बड़े रम्य आख्यान भी हैं। सुप्रसिद्ध गजेन्द्रमोक्षकी और मूलस्तोत्र भी इसमें हैं। 'कल्याण' ऐसे उपादेय पुराणका विशेषाङ्क जनकल्याणकी भावनासे निकाल है—यह प्रसन्नताका विषय है। 'कल्याण' अपने कार्यमें सफल हो—यह हमारा पुनः आशीर्वाद है।

विशेषाङ्क यशस्वी वने

(पश्चिमात्माय दारका-दारदायीठाभीषर अनन्तभीतिभूरित्, जगद्गुरुक जगद्गुरुचार्म स्वामी

भीतिभिनवसचिदानन्दतीर्थभी मदारामाया शुभाशीर्वाद)

पुराणोंमें भारतीय सृष्टि भी है। पुराण ज्ञानलिपि है। इस अमरपर पूज्याद जगद्गुरुका दार्दिक है। ऐसे ज्ञानके निधान उपयोगी पुराणोंका प्रकाशन शुभाशीर्वाद है कि यह विशेषाङ्क भगवान् श्रीदारकाभीरा नितान्त आवश्यक है। 'कृत्याग' श्रीवामनपुराणाङ्क तथा चन्द्रमौलीचरकी अनुकृत्यासे सफल और यशस्वी विशेषाङ्कके रूपमें निकाल रहा है, यह प्रमत्तताकी बात वने। (पे०—पन्नी)

दानवेन्द्र वलिपर भगवान्की अद्भुत कृपा

(धर्मसम्राट् अनन्तभीतिभूरित् परमपूज्य स्वामी भीतररात्री मदाराम)

जीवोंपर श्रीभगवान्की अर्द्धतुकी कृपा सदा ही रहती है। जीव केवल अपने त्याग, तपस्या आदि साधनोंके बलपर इस भवसागरसे कभी तर नहीं सकता। बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, महात्मागण अनन्त जन्मोंतक त्याग-तपस्या आदि साधनकर श्रीभगवान्के पास पहुँचते हैं। किंतु जब भगवान्की भाखती अनुकृत्या मकोद्वारके लिये आवृत्त हो जाती है, तब श्रीभगवान् स्वयं भक्तके पास जानेके लिये बाध्य हो जाते हैं और वे उसका कृपार्थक उद्धार करते हैं। श्रीभगवान्ने वानररूप धारणकर दानवेन्द्र बलिजो बाँध लिया। वर घटना सचमुच बड़ी ही करुणापूर्ण थी। जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया हो, उस बलिजो प्रति श्रीभगवान्का यह व्यवहार आपातनः सहसा बड़ा कठोर-सा प्रतीत होता है। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस लीजके मूलमें भी उन कृपादकी अनन्त कृपा ही छिपी है। ब्रह्माजी कुछ कहना चाहते थे, पर इसी बीच महामना बलिजो पत्नी श्रीतिन्यारलीनी श्रीभगवान्के सामने आ जाती हैं। वे कहती हैं—

धीदार्थमात्मन इदं विजगत् हृतं ते

स्वाम्यं तु तत्र बुधियोऽपर ईसा कुरुयुः।

(भीमका० ८।२२।२०)

अर्थात्—प्रभो! आपने अपनी क्रीयके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है, पर यहाँ जो बुद्धि हैं, वे आपकी इस सम्पत्तिपर अपना स्वामित्व अधीन कर लेते हैं। वस्तुतः सारा विश्व भगवान्का है; अतः सर्वस्व समर्पण ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। हममें भी भगवान्की ही कारण होती है।

अन्तमें श्रीब्रह्माजीने कहा कि 'प्रभो! लोग कहते हैं कि भगवान् देकाओंका पक्षपात करनेवाले हैं, किंतु आज यह बात विरत हो गयी कि तबत आप असुरोंके भी पक्षपाती हैं, उनपर भी आपकी अनन्त कृपा रहती है। तभी तो आप बलिजो घरमें उनके (वानर) द्वारोंपर चक्र लिये हुए खड़े दिखायी पड़ते हैं। यह कैसी विशेषता है कि आप किसी देवनाके यहाँ चक्र लिये खड़े नहीं दीकते, पर बलिजो यहाँ पहरा दे रहे हैं।'

वस्तुतः यह महान् आश्चर्य है कि भगवान् वानर-रूपमें दानवेन्द्र बलिजोके सभी द्वारोंपर खड़े दीकते हैं। बलिजो आँवें जहाँ जाती हैं, वही श्रीभगवान् दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः बलिजो जीवन परम धन्य है।

इस आख्यानको सुनिपुणताया प्रकाशित करना है—

वामनपुराण। 'कृत्याग'का यह 'श्रीवामनपुराणाङ्क'

संस्करण और प्रकाशक दालिया।

वामनपुराणके सर्वस्वरूप दो श्लोक

(—श्रीशालरियापीठाधिपति अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीधराचार्यजी महाराज)

आर्यसर्वस्व पुराण सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेके कारण वेदोंसे कम महत्त्वके नहीं हैं। कहीं-कहीं तो वे उनसे भी अधिक महत्त्ववाले हैं। श्रीरूपगोस्वामीने पुराण शब्दका वेदार्थ-संगत यह निर्वचन किया है कि 'पुरा नयतीति पुराणम्' अर्थात् जो वेदोपदिष्ट गहन गम्भीर तत्वोंको सरल भागमें सब देश, सब काल, सब दिशाओंमें 'गोहें-गेहे, जने-जने' तक पहुँचाता है, उसे पुराण कहते हैं।

गङ्गा आदि तीर्थोंका महत्त्व, भूप्रदक्षिणा, एकादशी आदि व्रतोंकी उपादेयता, शुभाशुभ कर्मोंके फलोंका विस्तृत विवेचन, वृक्षारोपण-सेचन आदिका महत्त्व, पाप-पुण्योंका विवेचन और उनके फलोंसे होनेवाले सुख-दुःखोंका विद्वेषण, मृत्युके अनन्तर जीवात्माओंकी स्थिति एवं गनिका विवेचन, आत्माकी स्थितिसे इहलोक और परलोक—द्रोनोंका सम्बन्ध, गो-महिमा और उसके दानका महत्त्व आदि-आदि आर्योंके जो सांस्कृतिक-धार्मिक आचरण हैं, उन सबका मूल विधायक स्रोत पुराण ही हैं।

वैरागिक विद्वानोंने अन्यत्र पुराणका एक लक्षण 'सृष्टीनिहासः पुराणम्'—इस प्रकार भी किया है।

पुराणोंमें सृष्टिकी उत्पत्तिके रहस्य आदि पाँच विषयोंका प्रतिपादन है। भृगोल, ग्वगोल, ग्रह, नक्षत्र-ताराओं आदिके विस्तृत वर्णनके साथ नक्षत्र-श्रमण, ग्रहोंके अतिचारों-सौम्याचारोंसे पृथ्वीके प्राणियोंपर होनेवाले परिणामोंका वर्णन भी अग्निपुराणादिमें पाये जाते हैं। पुराणोंमें कर्मके व्याखियोंकी चिकित्साका भी विधान है। पुराण वेदार्थ-ज्ञानके प्रकाशक हैं, व्याख्यान हैं। पुराण ज्ञानकी खान हैं।

अठारह पुराणोंमें वामनपुराणकी भी रिगणना है। यह वैष्णव-पुराण है। इसमें वैष्णवोंके योग्य संस्कारों तथा सदाचारोंका वर्णन है। इस पुराणमें भक्तिके आठ लक्षणोंमेंसे एक लक्षण यह भी है कि 'यश्च मां नोपजीवति' अर्थात् जो व्यक्ति हमारे द्वारा अपना पेट नहीं पाळता, वह भक्त है। भक्तिका आश्रय लेकर पेट पालनेवाला भक्ति-पद्धतिको ि कर देता है, वह भक्त नहीं है। यह बात कितनी अच्छी है।

वामनपुराणने भगवद्भक्तोंको नीचे लिखित दो श्लोकोंसे जो अभयदान दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे दो श्लोक ये हैं—

१-स्थिते मत्सि सुखस्ये शरीरे सति यो नरः।

धानुसाम्ये स्थिते समर्ता विद्वरूपं च मामजम् ॥

२-ततस्तं प्रियमाणं तु काष्ठपायाणसन्निभम्।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

अर्थात्—'शारीरिक इन्द्रियों, मन और शरीरके सुखस्थ रहते हुए जो भक्त प्राणी विश्वरूप मेरा चिन्तन करता है तो (उसके) उसकी प्रियमाण अवस्थामें, काष्ठ-पायाण-सन्निभ अवस्थामें होते हुए भी मैं उसका स्मरण रखता हूँ और उसे परमगति प्रदान करता हूँ।'।

वामनपुराणके इन दो श्लोकोंको श्रीसम्प्रदायमें विशेष महत्त्व देते हुए इसे चरम श्लोक माना गया है। वेदान्तदेशिक स्वामीने इन दो श्लोकोंकी विस्तृत विवेचना की है। इसे 'रहस्यशिक्षामणि' नाम दिया गया है। ये दो श्लोक वामनपुराणके प्राणरूप और वैष्णवोंके सर्वस्वरूप हैं।

सामनपुराणकी एक झलक

(—अनन्तश्रीभिषुवित अशेष्या-त्रोभेरागदन्गीठाभीभर श्रीमन्नगदुदु रामानुजाचार्यं यती-र म्ताली
भीरामनारायणाचार्यंजी महाराज)

सम्पूर्ण भारतीय विद्याओंमें पुराणविद्याका स्थान सर्वोपरि है। शास्त्रोंका ये यहाँतक कथन है कि—

पुराणं सर्वसाक्षात्प्राणा प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च यज्ञेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

(मत्स्यपु० २३।३)

पुराणोंकी एक विशेषता यह है कि यदि ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय तो फिर बुद्ध भी अध्ययन करना शेष नहीं रह जाता; क्योंकि प्रायः सभी पुराणोंमें—

समंश्च प्रतिस्तम्भं चंतो मन्वन्तराणि च ।
पंशानुचरितं चेत्ति पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

—के अनुसार चर-अचररूप चेतन और अचेतनोंकी भौतिक सृष्टि, आजीविका, चरित्रनिर्माणमें आदर्शभूत सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परात्परतम-तत्त्व परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायणके सम्पूर्ण अन्तार-चरित्रोंका चित्रण, पुण्यप्लोक चरित्रोंका राजशशाक वर्णन, विविध इतिहास, कल्पमें होनेवाले अत्यान्व पवित्र व्यक्तियोंके चरित्र और इन्हीं प्रसङ्गोंमें भूगोल, खगोल वन-नदी-सरोवर, नीर्य-वन-दान आदि पवित्र कर्मोंका तथा त्याग्योपादय क्रिया-कर्मोंका विशद वर्णन होता है। सक्षिप्तमें—सृष्टिकी उत्पत्ति और विनाश, मनुओं-राजाओं आदिकी वंश-परम्परा, मनुओंका वर्णन तथा विविध व्यक्तियोंका चरित्र—ये पाँच क्रिय जिस क्रममें पूर्णता वर्णित हों, उसे पुराण कहते हैं—ऐसा लिखा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुराण सत्त्विकी निर्मि है।

यह लक्षण पुराणोंमें सबका धरित होता है। संसारकी किसी भी भाषामें पुराणोंने समान सृष्टि-वियय-विययक संशोभुव प्रथ्य देवकेभं नही आते। अन्य भाषाकी तो बात छोड़िये, सत्त्वस्तद्विषयमें भी पुराणोंको छोड़कर अन्य किसी भी प्रथम इस प्रकारका परिनिष्ठित एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रम विस्तारपूर्वक नहीं

मिलता। इसलिये 'पुराण' शब्दका वास्तविक अर्थ ही इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है कि ये पुराणग्रन्थ प्राचीनसे भी अति प्राचीन—यहाँतक कि मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति-कालसे भी पूर्वतम रहस्योंका प्रत्यक्षके समान वर्णन करते हैं। मूर्ध, चन्द्र आदि धर, अधिनी आदि नक्षत्र, काल, कौम, विम प्रयत्न बने—इन सब बातोंका परिज्ञान पुराणोंके धर्मिक कर्मी भी विस्तारसे प्राप्त न हो सकेंगे। इतनेपर भी जो गुरुरारम्भा-विमुक्त पुराणों-की नीमन कहनेका दृ.साहस करते हैं, वे न केवल पुराणोंके प्रतिपाद्य विषयसे ही अपरिचित हैं, अतः पुराण शब्दकी—'पुराणं वस्मान् पुरा नरं भवति' (निद्रक ३।११।२४) इस वाक्यका व्युत्पत्तिमें तथा इसके साथक व्याकरण-श्लोके भी सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं।

समस्त 'पुराणों'की संख्या १८ है। उरपुराण भी १८ हैं। इनके अनिद्रिक म्भ पुराणों आदिकों भी जोड़ें तो इनकी संख्या १०० तक पहुँच जाती है। इन सभी पुराणोंमें निम्न निम्न कल्पोंकी सृष्टिके चरित्र हैं। अतः सभी अन्तारोंके चरित्र सभी पुराणोंमें होनेपर भी उन-उन कल्पोंमें अनन्तत भगवद्वक्तारोंका चरित्र-चित्रण क्रिमीमें विस्तारसे तथा क्रिमीमें मन्वन्तरके तत्त्व कल्पानुसार ज्यों-वस्त्यों किया गया है। जब-जब पुराणविद्यका लोप होता है, तब-तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन स्वयं प्रकट होकर सम्पूर्ण वेदो-वेदों-का विस्तार पुराणके रूपमें करते हैं। यह स्मरण प्रया है—'ब्रह्मपुराणानां यत्त सत्यंतीमुक्तः'

सभी पुराणोंकी अरुनी अत्र-अत्र विरिन्तणें हैं। प्रकृत ध्यानपुराणकी यह अर्गैकिक विशेषता है कि उसके प्रतिपाद्य भगवान् ध्यान किसीके भी काल नहीं है। एक ओर जहाँ वे इन्द्रके वनुज उपेन्द्र बनने हैं,

वही दूसरी ओर वे परमभागवत महाराज बलिके द्वारपाल-रूपेण रक्षक बनते हैं। इसीलिये वे दोनोंमें किसीके भी नाम नहीं हैं (अर्थात् 'वाम' + 'न'—'वामन' हैं)। इसके अनिर्दिष्ट भी श्रीवामनभगवान् के विलक्षण अवतारकी एक और अर्पूर् कथा वामनपुराणमें प्राप्त होती है। उसके अनुसार—

चतुर्थस्य कलेत्राद्वा जित्वा देवान् सवासवान् ।
धुन्धुः शक्रत्वमकरोद्द्विरण्यकशिपौ सनि ॥
(वा० पु० ७८ । १६)

'चतुर्थ बलिके आदि सत्गुणमें धुन्धु नामका महान् असुर देवताओंके ऊपर विजय प्राप्त कर इन्द्रपदपर आरूढ़ हुआ था; फिर—

तस्मिन् काले स बलवान् द्विरण्यकशिपुस्ततः ।
चचार मन्दरगिरे देव्यो धुन्धुं समाश्रितः ॥

—इस वचनके अनुसार द्विरण्यकशिपुने उस धुन्धु नामके महा-असुरके आश्रित होकर ही तपस्या की। सभी देवता धुन्धुके भयसे भीत होकर ब्रह्मलोक गये। धुन्धुको यह समाचार अपने वीरोंद्वारा प्राप्त हुआ। तदनुसार उस दानवेन्द्र धुन्धुने अपने वीरोंको ब्रह्मलोकपर भी चढ़ाई करनेके लिये आदेश दिया। देव्योंने उसके इस महान् साहसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए निवेदन किया कि उस दिव्य मानमें केवल पुण्यात्माओं ही पहुँच सकते हैं; क्योंकि यहाँसे हजारों योजन दूर महर्षियोंने भरा हुआ 'महः' नामक लोक है। उसमें रहनेवाले परमतेजस्वी महर्षियोंकी स्वाभाविक दृष्टि पड़ने-मात्रसे हम सभी देव्य विनष्ट हो सकते हैं। उससे भी आगे एक करोड़ दूरीपर 'जन'लोक है। वहाँपर श्रीशिवके वाहन भगवान् नन्दीश्वरकी जननी लोकमाना कामधेनु अपने चागे नन्दोसे अनवरत प्राप्त करती हुई एवं श्रीसागरको दूषाप्रदित करती हुई अपने समान गर्वोंके साथ विराजती हैं। उन पृथ्वीओंके हुंकारमात्रसे सम्पूर्ण असुरकुल नष्ट हो सकता है। उससे भी ऊपर

तीन करोड़ योजन दूरीपर सहस्र सूर्योंके समान प्रभाववाले सिद्धोसे नृसेवित 'नपः' नामका लोक है और उससे भी ऊपर अनन्त मार्तण्डसे प्रदीप्त 'सत्य' नामका लोक है, जहाँपर लोकविनामह श्रीब्रह्माजी विराजते हैं, जिनके द्वारा आपको वरदान प्राप्त हुए हैं। उस ब्रह्मलोकमें पहुँचना हम सबके लिये सर्वथा असम्भव है।

यह सुनकर दानवेन्द्र धुन्धुने पूछा कि उस ब्रह्मलोकमें जानेके लिये कौन-सा पवित्र कर्म आवश्यक है, जिसके कारणसे देवेन्द्र सब देवताओंके साथ वहाँ जा सकते हैं और मैं नहीं जा सकता। उस पुण्यको वनाओ; उसे करके हम भी वहाँ जानकी योग्यता प्राप्त करेंगे। देव्योंने कहा इसे श्रीशुक्राचार्यजी बना सकते हैं।

तब दानवेन्द्र धुन्धुने उनकी संनिधिमें पहुँचकर उनके कानानुसार भार्गवगोत्रीय अमित ब्राह्मणोंद्वारा गोमध-अश्वमेधादि यज्ञोंकी दीक्षा प्रहण कर शुक्रशिष्योंके साथ यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। फिर तो मन्त्रोच्चारण-रथ एवं यज्ञीय पवित्र धूमसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही व्याप्त हो गया। इससे घबराकर सब देवताओंने भगवान् श्रीहरिकी प्रार्थना की। देवताओंकी प्रार्थना सुन मधुसूदनने उन लोगोंको अभय प्रदान कर धुन्धुको बाँधनेका संकल्प किया—

वन्धनाय मतिं चक्रे धुन्धोर्धर्मव्वजस्य वै ।
ततः कृत्या स भगवान् वामनं रूपमोश्वरः ॥
वामनं रूपमास्थाय भगवान् भूतभावनः ।
देहं त्यक्त्वा निगलस्यं काष्ठवद् देविकाजले ॥
(वा० पु० ७८ । ५२-५३)

भगवान् वामन-शर्गर धारण कर देविका नदीमें कूद पड़े। इस प्रकार भगवान्को देविका नदीमें डूबते-उतरते देखकर देव्यराज धुन्धु एवं ब्रह्मणोंने दयापरवश हो शीघ्रतापूर्वक उन्हें निकाला तथा पूछा—ब्रह्मन् ! आप कौन हैं और नदीमें कैसे बह रहे हैं ? उन लोगोंके प्रश्नको सुनकर कौपते हुए भगवान्ने कहा—सर्वशामर्थ-

वेत्ता कारणोत्प्रेय प्रमास नामक ब्रह्मके दो पुत्र हुए।
 बड़े भारिका नाम नेत्रभास तथा में गणभास छोटा भारी
 हुआ। छोटा होनेने कारण मुने अमन भी कहते हैं।
 विताजीके स्वर्गदासी हो जानपर मेरे उनेउ जानने कहा—
 कुम्भवामननयजानां फटीवानां शिवत्रिभुवमपि।
 उन्मत्तानां तथाग्यानां धनभागो न विप्रते ॥

(वामन पु० ७८। ६४)

ऐसा कहकर मेरे निवारकी शस्त्रसे उन्होंने मुने
 इस नदीमें फेंक दिया, जिसे निरालयक रूप लोगोंने
 महत्पुण्यक कर्ष किया है। यह सुनकर दैत्यराज
 दानवीर धुन्धने कहा कि आप अपनी इच्छाके अनुसार
 दास-दासी, गृह, स्वर्ण, रत्न, गज, पृथ्वी, बहादि जो
 चाहें सो हमने प्राप्त करें। दानवश्रेष्ठ धुन्धनी इस
 बातको सुनकर भगवान्ने कहा—

मम प्रमाणमालोक्य मामकं च पदत्रयम्।

सम्प्रयच्छस्व दैत्येन्द्र नाधिकं रक्षितुं क्षमः ॥

(वामनपु० ७८। ८०)

—भगवान्नी इस वाणीको सुन करने उसने अनुसार
 दान देनेके लिये ज्यों ही सकल्प किया, त्यों ही भगवान्ने
 अपने त्रिविक्रम-रूपको प्रकट कर सम्पूर्ण भूशोकको
 एक पादमात्रसे नापकर विरोधक लिये उभय दैत्योका
 संहार करते हुए दूसरे पाँसे स्वर्गलोक भी नाप लिया
 तथा तीसरे पदके लिये स्थान न दे सकनेवाले उस
 दानवश्रेष्ठके ऊपर वे बूढ़ पड़े। उसक साथ भूमिपर गिरनेके

कारण तीस हजार योजन भद्रा गूढ़ बन गया। उस
 महागर्भमें दानवेधर धुन्धुको निरा जानेकर दिव्य वायुम-
 ययी बर्सादाग उस महागर्भको पूर्ण करते हुए कृपा-
 परमा हो स्वयं भी दानवेन्द्रको क्षणमें लीन कर
 वाग्निदीग्धमें भस्महित हो गये—

एवं पुरा विष्णुरभूच्च यामनो

धुन्धुं विक्रेतुं च विविक्तमोऽभूत्।

(प० ७०। ७८। ९०)

इस प्रकार वामन भगवान्ने विभिन्न रूपोंमें अवतारों-
 का वर्णन और क्षीरसागर विवेचन करते हुए चतुर्धुव ब्रह्मणे
 जो कूर्म-वल्गानुसार त्रिविक्रम भगवान्के चरित्रके साथ
 विरामक प्रतिपादन किया, वही वामनपुराणके
 रूपमें विद्यमान हुआ।

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्धुवः*

त्रिवर्गमश्रयीद्यथा यामनं परिकीर्तितम् ॥

पुराणं दशसादृशं कूर्मकलरानुगं शिष्यम् ॥

(मत्स्य० ५१। ४४-४५)

उपर्युक्त लक्षण उपर्युक्त वामनपुराणमें तो सर्वथा
 घटित होता है, परंतु पद्य-सरणमें चार हजार श्लोकोंकी
 न्यूनता है। कहा जाता है कि इसका उत्तरभाग
 किसी आश्रमिक घटनाका दिवस अपना अन्य किसी
 धर्मविरोधी पद्यकृतन शिखर हो गया।

विशेषाङ्क सफल हो

(अननाश्रिमूर्ति जगद्गुरु श्रीनिवासाचार्य-सोटागेश्वर भी 'श्रीश्री')

श्रीराधाशैश्वर्यचरण देवाचार्यजी महाराजका शुभाशुभवन)

अश्वि-ब्रह्माण्ड-नायक, त्रिगुण-विभोहन, जगद्विज-
 निमित्तोपादनकारण, अनुमद-विप्रद शत्रुघ्न करुणा-
 करुणालय, मुक्तोपसृप्य, क्षराक्षरानीक, निय त्रिगुण

विहारी, श्रीगगनशंकर-सुगुण श्रीगुह्यता एवं राक्ष-
 ज्ञानमें सवेच हैं। 'शास्त्रयोनिवाह' (प० सू० १।
 १। ३)का वाक्यार्थ करते हुए आचार्यचरण

• इस प्रमाणमें सिद्ध होता है कि इससे क्या चतुर्धुव ब्रह्म है, पर उत्तर पुराणमें बराबरमें पुत्ररूपकी ही
 यह है। उन्होंने यह नहीं कहा है कि मैंने चतुर्धुव ब्रह्मके, वैसा कुछ सुना है, वैसा ही यह रहा है। प्रतीत
 होता है कि इस प्रकारका ब्रह्म रहा होगा वा अत्र दृष्ट है। [प०]

श्रीनिम्बार्क भगवान्ने शाश्वतो ही ब्रह्मज्ञानका कारण बनाया है—

‘शास्त्रमेव योनिस्तज्जमिकारणं यस्मिस्तदेवोक्त-
लक्षणलक्षितं चस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति ।’

(वें० पा० सौ०)

यह ब्रह्म अनुमानादि-(प्रमाण-) गम्य नहीं है । वेद ही (आप्त शब्द ही) इसके ज्ञानमें प्रमाण हैं । इसे स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर श्रीनिवासाचार्यजी महाराजने वेदान्तकास्तुभमें लिखा है—

‘ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किन्तु वेदप्रमाणकम् ।
कृतः ? शास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रं वेदः योनिः कारणं
ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिस्तज्ज्यायोनित्तस्य भावस्तत्त्वम् ।
तस्माच्छास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रप्रमाणकत्वात् ।
वेदेकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः ।’

वेदादिशास्त्र श्रीसर्वेश्वर प्रभुके निःश्वसित हैं ।
उपनिषद्ने मुक्तकण्ठसे कहा है—

‘अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्
वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः
पुराणं विद्या उपनिषदः । (वृ० ४ । ५ । ११)

इतिहास और पुराण निःश्वसित होते हुए भी वेदके
आशयका विस्तृत विवेचन करते हैं—

‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।’

भागवतकारने तो इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद
भी कहा है—

ऋग्यजुःसामायर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥
(श्रीमद्भा० १ । ४ । २०)

इस प्रकार पुराणोंका भी महत्त्व निर्विवाद है ।
इनकी भाषा लौकिक एवं सर्वसंवेद्य है । महर्षि श्रीवेद-
व्यासजीने इनकी रचना सर्वजन-हिताय की है ।
इनमें केवल भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि ही नहीं, अपितु
विविध विज्ञानका भी रहस्य प्रतिपादित किया गया है ।
पुराणोंमें अन्यतम एक वामनपुराण भी है जो अपनेमें
सर्वथा परिपूर्ण है । इसमें बलि-वामनकी कथा मुख्य है ।

बलिका जन्म दानव-कुलमें हुआ है । इस कुलके
विव्यंसक भगवान्ने वामनस्वरूप ब्रह्म-तन धारण किया
है । शुक्राचार्य सावधान कर देते हैं, तथापि उदारमना
दानी बलि अपने वचनसे त्रिमुख नहीं होते । लीलाविहारी
असुरारिको जानते हुए भी बलि अपने वचनसे विचलित
नहीं हुए और जगत्त्रयका विधिपूर्वक दान कर दिया । इस
सर्ववेद्य कथानकको मूलमें रखते हुए महर्षि वेदव्यासजीने
सर्ग, विसर्ग आदि पञ्च लक्षणोंयुक्त ‘वामन-पुराण’ को
विस्तृत रूपसे वर्णित किया है । इस पुराणको उद्धृत
कर ‘कल्याण’ ‘श्रीवामनपुराणाङ्क’ प्रकाशित कर रहा है—
यह प्रसन्नताकी बात है । इसकी सफलताके लिये
हमारा आशीर्वाचन है ।



सांस्कृतिक निधि—पुराण

(ब्रह्मलीन परमश्रेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पावन विचार)

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है । उन्हें साक्षात्
श्रीहरिका रूप बतलाया गया है । जिस प्रकार भगवान्
श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश प्रदान करनेके लिये
सूर्यका विग्रह धारण करके जगत्में विचर रहे हैं,
उसी प्रकार ने सत्रके हृदयमें प्रकाश करनेके लिये इस

जगत्में पुराणोंका रूप धारण करके मनुष्योंके हृदयमें
विचर रहे हैं । अतः पुराण परम पवित्र हैं—

यथा सूर्यवपुर्भूत्वा प्रकाशाय चरेद्धरिः ।
सर्वेषां जगतामेव हरिरालोकहेतवे ॥
तथैवान्तःप्रकाशाय पुराणावयवो हरिः ।
विचरेदिह भूतेषु पुराणं पावनं परम् ॥
(पद्य० स्वर्ग० १२ । १०-११)

जिस प्रकार प्रैर्गियोंके छिये नेदोंका व्याख्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये—'पुराणं शृणुयादित्यम्' (पद्म० स्वर्ग० ६२।५८)। पुराणोंमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है तथा चारोंका एक दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है—इसे भी भलीभाँति समझाया गया है।

श्रीमद्भागवतमें किया है—

धर्मस्य हापचर्यस्य नार्थोऽर्थार्थोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रोतिर्लाभो ज्ञेयेन यावता ।
जीवस्य तत्त्वज्ञास्य नार्थो यदचेह कर्मभिः ॥
(१।२।११०)

धर्म तो अपर्यग्न (मोक्ष या भगवत्प्राप्ति-) का साधक है। धन प्राप्त कर लेना ही उसका प्रयोजन नहीं है। धनका भी अन्तिम साध्य है धर्म, न कि भोगोंका समूह। यदि धनसे लौकिक भोगकी ही प्राप्ति हुई तो यह व्यभिची बात नहीं मानी गयी है। भोगसमूहका भी प्रयोजन सदा इन्द्रियोंके तृप्त करते रहना ही नहीं है, अर्थात् जितनेसे जीवन-निर्वाह हो सके, उनका ही आवश्यक है। जीवनके जीवनका भी मुख्य प्रयोजन भगवत्प्राप्तिको जाननेकी सही अभिलाषा ही है, न कि पत्तादि वर्णोद्धार प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति ॥

यह तत्त्व-ज्ञासा पुराणोंके श्रवणसे भलीभाँति जगयी जा सकती है। इतना ही नहीं, सारे साधनोंका फल है—भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करना। यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवणसे सज्जमें ही प्राप्त की जा सकती है। पद्मपुराणमें किया है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतिरुपादे धीयते मतिः ।
धोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरुचिणः ॥
(स्वर्ग० ६२।१२)

धृष्टद्विये यदि भगवान्को प्रसन्न करनेमें जराही बुद्धिको लगाना हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रोष्य

रूपगरी भगवान्के स्वरूपभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये ॥ इमीच्छिये पुराणोंका हमारे यहाँ इतना आदर रहा है।

वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनारि माने गये हैं, उनका रचयिता कोई नहीं है। सृष्टिर्ता ब्रह्माजी भी उनका रचयिता ही करने हैं। पद्मपुराणमें किया है—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मण स्मृतम् ।'
(पद्म० सृष्टि० १।५५)

इनका निम्नार मौ करोड़ (एक अरब) श्लोकोंका माना गया है—'शतकोटिप्रविस्तरम्।' उमी प्रसङ्गमें यह भी कहा गया है कि समयके परिर्वर्तनसे जब मनुष्योंकी आयु कम हो जाती है और इतने बड़े पुराणोंका श्रवण और पठन एक जीवनमें उनके छिये असम्भव हो जाता है, तब पुराणोंका सत्त्वैरु रचनेके छिये स्वयं सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ भगवान् ही प्रत्येक श्रावणसमूहमें व्यामरूपमें अवतीर्ण होते हैं और उन्हें अष्टादश माण्डमें बौद्धकर चार लग्न श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं। पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही भूतोंमें प्रकाशित होता है। कहते हैं कि स्वर्गादि लोकोंमें आन भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान है—

कालेनाप्रहणं ह्यष्ट पुराणस्य तथा विमुः ।
व्यासरूपरुद्रदा ब्रह्मा संप्रदायं युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वारे द्वारे जगौ ।
तदाश्रयदाथा ह्यव्या भूयो केऽस्मिन् प्रकाशितम् ॥
अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ।
(पद्म० सृष्टि० १।५१-५२)

इस प्रकार भगवान् वेदव्यास भी पुराणोंके रचयिता नहीं, अर्थात् संक्षेपक अथवा समूहक ही निद होते हैं। इसीच्छिये पुराणोंको 'पञ्चम वेद' कहा गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां षेदम्' (जाटोग्यो-पनिषद् ७।१।२)। उपसुक्त उपनिषद्कव्यके अनुसार यद्यपि इतिहास-पुराण दोनोंको ही 'पञ्चम वेद'की

की गौरवपूर्ण उपाधि दी गयी है, फिर भी बालीकीय गणपयग और महाभारत, जिनकी इतिहास संज्ञा है, क्रमशः महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यासद्वारा प्रणीत होनेके कारण पुराणोंकी अपेक्षा अर्वाचीन ही हैं। इस प्रकार पुराणोंकी पुराणता—सर्वोपेक्षया प्राचीनता युक्त हो जाती है। इसलिये हमारे यहाँ वेदोंके बाद पुराणोंका ही सबसे अधिक सम्मान है, क्योंकि कहीं-कहीं तो उन्हें वेदोंसे भी अधिक गौरव दिया गया है। पद्यपुराणमें ही लिखा है—

यो विश्वच्छतुरो वेदान् साङ्गोपनियदो ह्रिजः ॥

पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विच्छक्षणः।

(छष्टि० २।५०-५१)

जो ब्राह्मण अङ्गों एवं उपनिषदोंसहित चारों वेदोंका ज्ञान रखता है, उससे भी बड़ा विद्वान् कह है, जो पुराणोंका विशेष ज्ञाता है।

यहाँ श्रद्धालुओंके मनमें स्वाभाविक ही यह शङ्का हो सकती है कि उपर्युक्त श्लोकोंमें वेदोंकी अपेक्षा भी पुराणोंके ज्ञानको श्रेष्ठ क्यों बतलाया है। इस शङ्काका दो प्रकारसे समाधान किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त श्लोकके 'विद्यान्' और 'विजानाति'—इन दो क्रियापदोंपर विचार करनेसे यह शङ्का निर्मूल हो जाती है। बात यह है कि ऊपरके वचनमें वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंमें विशिष्ट ज्ञानका पेशिच्छेद बनाया गया है, न कि वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके सामान्य ज्ञानका अथवा वेदोंके विशिष्ट ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका। पुराणोंमें जो कुछ है, वह वेदोंका ही तो विस्तार—विशिष्टीकरण है। ऐसी दशामें पुराणोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंका ही विशिष्ट ज्ञान है और वेदोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंके सामान्य ज्ञानसे ऊँचा होना ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि जो बात वेदोंमें सूत्ररूपमें कही गयी है, वही पुराणोंमें विस्तारमें वर्णित

है। उदाहरणके लिये परम तत्त्वके निर्गुण-विराकार स्वरूपका जो वेदों-(उपनिषदों-) में विशद वर्णन मिलता है, परंतु सगुण-साकार-तत्त्वका बहुत ही संक्षेपमें कहीं-कहीं वर्णन मिलता है। ऐसी दशामें जहाँ पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानको सगुण-निर्गुण दोनों तत्त्वोंका विशिष्ट ज्ञान होगा, वेदोंके सामान्य ज्ञानको प्रायः निर्गुण-विराकारका ही सामान्य ज्ञान होगा। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोककी संगति यथीमति बैठ जाती है और पुराणोंकी जो महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है, वह गच्छी तरह समझमें आ जाती है।

पुराण अठारह हैं। उनके नाम ये हैं—

१-तमपुराण, २-पद्मपुराण, ३-विष्णुपुराण, ४-शिवपुराण, ५-श्रीमद्भागवत, ६-नारदीयपुराण, ७-सार्कण्डेयपुराण, ८-अग्निपुराण, ९-भविष्यपुराण, १०-ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११-चरितपुराण, १२-वाराह-पुराण, १३-स्कन्दपुराण, १४-वामनपुराण, १५-कूर्मपुराण, १६-मत्स्यपुराण, १७-गरुडपुराण और १८-ब्रह्माण्डपुराण। कहते हैं कि जो प्रतिदिन इन अठारहों पुराणोंका नाम लेता तथा प्रतिदिन तीनों समय इस नामावलीका जप करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है। पुराण भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति हैं।

वामनपुराण पुराणोंकी श्रुतत्वमें चौदहवीं कड़ीपर पड़ता है। इसमें विष्णुके वामनावतार-सम्बन्धी प्रसङ्गोंके अनिगूक शिवकल्पका भी वर्णन मिलता है। नारद-पुराणके मतानुसार इसमें दो भाग हैं तथा श्लोक-संख्या १० हजार है। आधुनिक संस्करणमें उक्त भाग नहीं मिलता। प्रथम भागकी सूची बहुत कुछ नारदपुराणकी सूचीसे मिलती है, जो इस प्रकार है—दशयजुर्वेद, मदनवहन, प्रह्लाद-नारायण-सुद्ध, श्रीदुर्गाचरित, पार्वती-जन्म-कीर्तन, गौरी-उपाख्यान, कुम्भारचरित, अट्टिचरित, त्रिविक्रमचरित, प्रेतोपाख्यान,

मलाके द्वारा की गयी स्तुति आदि। इसका गाढात्म्य भी अन्य पुराणोंकी भाँति विदित है। रामनपुराणमें ही ९५ वें अध्यायमें वका पुस्तकयज्ञीने कहा है कि नारदजी! वामनपुराण चादहसँ उत्तम पुराण है। इसका श्रवण करनेसे शीघ्र हो पापोंके लक्षण नाश हो जाता है और महापापक भी नष्ट हो जाते हैं— इसमें मुझे (बुढ़ भी) संदेह नहीं है। हे मुने! हे मित्र! इस वामन-पुराण-के पाठ करने,

श्रवण करने और करानेसे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं—

चतुर्दशं वामनमाहुरध्वं
 धुने च यस्याद्यथाद्वयं नारायम् ।
 प्रयान्ति नास्यत्र च संशयो मे
 महान्ति पापान्यपि नारदाशु ॥
 पाशत् संशयणाद् विप्र थायणादपि कस्यचित् ।
 सर्वपापानि नश्यन्ति वामनस्य सदा मुने ॥
 (९५।११-२०)

वेद-पुराणोंमें गोगरिमा

(गोगिराज पूषणद् श्रीदेवरत्न वाचा अशीर्षचन)

गाय सविदोमयी है। अथर्ववेद उमें रगेकी माता, वसुओंकी दुहिता, आदित्योंकी स्वमा अंर अमृतकी नाभि कहता है—

‘माता यद्राणां दुहिता पश्चात्

स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।’

आर्थिक दृष्टिसे गाय भारतकी सृष्टि है। सामाजिक दृष्टिसे गाय गोगिराके महारजको सूचित करती है। हमारे इतिहास-पुराणोंमें गोवधकी बड़ी महिमा है। गणेश गोशरमें अष्ट ऐश्वर्ययुक्त लक्ष्मी सदा ही निवास करती है—‘अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते सदा।’ इसलिये भारतको सृष्टिकर्त्री बनानेके लिये गोगिरा बनान अवश्यक है और हमारा विश्वास है, उन ही अशीर्षद भी कि गोगिराके प्रसन्न होनेसे अन्न प्रसन्न मिले। प्रसन्न अन्न प्रसन्न बहने।

वसुधैव कुटुम्बकम् गाय सृष्टिकर्त्री कहती है। पशुपुराणके सूक्तिकण्ड- (२५।१३०) में उक्त है कि इमाने प्रसन्नकालमें हिन्दु हिन्दु अन्नक मन्त्र गोगिराके लिये ही गौरी उक्त उक्त ग—

‘सम्यक् धामो नमः सृष्टः कुर्वेत् संसर्गं प्रति।’

भारतीय जनसमाज गोगिराके प्रसन्नकालमें अन्नके ही प्रसन्न होय कर अन्न है; अन्न गायक पशु होनेके ही वह उक्त मन्त्र है उन गोगिराके

अनेक उपायोंके लिये कृत्रिम होकर उसकी पूजा-आर्चा करता है। धार्मिक कृत्योंमें पशुप्राय और पशुपायकी बड़ी महिमा सभी इतिहास-पुराणोंमें वर्णित है। पशुप्रायकी महिमा अतुल्य है। उसके प्रदानमें त्वग्-अस्मिन् पाप भी अग्निमें ईधनकी भाँति भस्मसात् हो जाता है। उन यह मन्त्र बोला जाता है कि—

यत् त्वगन्धिगतं पापं वेदे तिष्ठति मामको ।
 प्राशनं पशुपायस्य दहत्यग्निर्गिग्धतम् ॥

वेदोंमें गायकी जगह-जगह ‘अध्याय’ कहा गया है। पर वेदको अपने ज्ञान-गौरवका ध्यान करनेके लिये भरत अपने माथेपर गोवधका कालकल्प लक्षण लक्षण विकृत कर रहा है। भारत धर्मप्राण ऐसा है। धर्म गोकुल है। हम अपने स्वरूपकी रक्षा और पुष्टिके लिये इस गोकुल धर्मकी रक्षा यदि नहीं कर पायेंगे तो हम जीवित नहीं रह सकते। इसलिये एकदुःख ही करके हमें इस सांस्कृतिक धनके रक्षोपायपर विचार कर उसे अनुष्ठित करना चाहिये। जो प्रयास चल रहे हैं, उन्हें और बढ़ाना चाहिये। हिंदिया चढ़ी रहे, गोकुल बढ़ होकर रहेगा। प्रजातान्त्रिक सरकार भी बहुप्रायकी उपेक्षा बहुत दिनोंतक नहीं कर सकेगी। बहुमत गोकुलकी वाहता है, अतः गोकुल बढ़ होकर ही रहेगा।

भगवान् वागमनं वक्ष्ये तौन पक्का गोदान (गी-
पृथिवीका दान) मांग कर लिया था । उन्होंने वक्षिकों
वह सौभाग्य दिया कि उसके निवासके प्रत्येक द्वारपर
उसे दर्शन देनेके लिये वे सड़े रहते हैं । गौण अर्थसे
गोदानकी यह मझिमा वागमपुराणमें है, परंतु अन्य
पुराणोंमें—(मुख्य अर्थ गायोंका दानमें—) विद्यमान गोदान
शब्द न जानें किंतु नी पुण्यराशि प्रदान करानेका विधान
करता है । पुराणोंमें गोदानकी अत्यन्त मझिमा गाथी
गयी है । यही कारण है कि हम गोदानके बाट यह
कामना करते हैं कि गायें हमारे चागें और हों और
हम गायोंके बीचमें रहें । पद्मपुराणका वचन है—



पुराण-महिमा

(—नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भार्गवी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतीय संस्कृत साहित्य-सागर अनन्त रत्नगशिसे पूर्ण
है । उन रत्नोंमें पुराणका स्थान अत्यन्त महत्त्वका है ।
पुराण अ-याग्यशास्त्र है, पुराण दर्शनशास्त्र है, पुराण
धर्मशास्त्र है, पुराण नीतिशास्त्र है, पुराण तन्त्र-मान्त्र-शास्त्र है,
पुराण कल्पशास्त्र है, पुराण इतिहास है, पुराण जीवनी
कोष है, पुराण रत्नानन आर्यसंस्कृतिका खज्ज्य है और
पुराण वेदकी सरस और सरलतम व्याख्या है । पुराणमें
तीर्थरहस्य और तीर्थमाहात्म्य है, पुराणमें तीर्थोंका इतिहास
और उनकी विस्तृत सूची है, पुराणमें परम्योक्तविधान,
प्रेतविज्ञान, जन्मान्तर और लोकान्तर-रहस्य, कर्म-रहस्य
तथा कर्मफलनिर्णयण, नक्षत्रविज्ञान, ग्नन्विज्ञान, अशुर्वेद
और शकुन्तशास्त्र आदि-आदि इतने महत्त्वपूर्ण और उपयोग्य
विषय हैं कि जिनकी पूरी जानकारीके साथ व्याख्या
करना तो बहुत दुर्लभ बात है, किन्तु पड़े पूरी सूची बना
पाना भी प्रायः अम्भव है । इतने महत्त्वपूर्ण विषयोंपर
इतनी गम्भीर गोरक्षा तथा सरल अनुसंधान करनेके
उनका रहस्य समझ भासने में सके देना पुराणोंका ही काम
है । पुराणोंको आधुनिक मानने और बनानेके विद्वान्

गायों सम्राज्यतो नित्यं गावः पृष्टत एव च ।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

गी सर्वदेवमयी है—'पृष्टे ब्रह्मा गले विष्णुमुखे
रुद्रः प्रतिष्ठितः'—उसकी पीठमें ब्रह्मा, गलेमें विष्णु और
मुखमें रुद्र आदि देवोंका वास है । भारतको देवोंसे
अधिष्ठित रखने तथा उसकी समृद्धिके लिये गोरक्षा
अत्यन्त आवश्यक है । गोरक्षा होगी, अवश्य होगी—
इसमें क्विचित् भी संदेह नहीं है ।

(वस्तुतः गोरक्षा हमारा पावन कर्तव्य है और
गोवध धर्मप्राण भारतके लिये महान् कलङ्क है । यह
कलङ्क शीघ्र उड़ाया जाना चाहिये ।)

केवल बाहरी प्रमाणोंपर ही ध्यान देने हैं । पुराणोंके
अन्ततन्त्रमें प्रवेश करके उन्होंने उनको नहीं देखा ।
यथार्थतः उन्होंने पुराणोंकी ज्ञान-परम्परापर भी दृष्टिपात
नहीं किया । वस्तुतः पुराणोंमें जो कहीं-कहीं कुछ
न्यूनाधिकता—उसमें विदेशी तथा विचरिर्मयोंके आक्रमण-
अत्याचारसे ग्रन्थोंकी दुर्दशा—हुई उससे उसके बहून-से
अंश आज उपलब्ध नहीं हैं । फिर भी इसने पुराणोंकी
मूढ महत्ता तथा प्राचीनतामें कोई बाधा नहीं आती ।

एक ही परमतत्त्व

पुराणोंमें भक्ति एवं ज्ञानकी बातें भरी हैं । सत्-
चित्त-आनन्दरूप परमात्मा परमपर ब्रह्म एक है, वह
सर्वदा सर्वथा पूर्ण, सर्वग, सर्वज्ञ, सर्वश, अमृत, विभु
है, वह सर्वोत्तम है, सर्वोत्तम है । सम्पूर्ण देशकाल्यतीत
है, सम्पूर्ण देश-काल्यस्य है । वह नित्य निराकार, नित्य
निर्गुण है; वह नित्य साकार, नित्य सगुण है । अवश्य
ही उसकी अमूर्ति पावनैतिक नहीं और उसके गुण
विगुणबन्धित नहीं हैं । वह ब्रह्म ब्रह्मरतः नित्य एकमात्र

होते हुए ही स्वल्पतः ही अनादिकालमे विविध स्वल्प-सम्पन्न, विविध शक्तिमयत्र एव विविध शक्ति-प्रकाश-प्रक्रिया-सम्पन्न है। नित्य एक होने हुए ही उसकी नित्य विभिन्न पृथक् सत्ता है। उन्ही पृथक् रूपोंके नाम—शिव, विष्णु, शक्ति, राम, कृष्ण, वायन, कूर्म, गणेश आदि हैं। वइ एक ही अनादिकालमे इन विविध रूपोंमे अभिव्यक्त है। ये सभी स्वल्प नित्य शाश्वत आनन्दमय ब्रह्मत्वा ही हैं।

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परममनः।
दानोपादानगह्विता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा दानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविजिताः ॥

धरापर ब्रह्मके वे सभी रूप नित्य शाश्वत परमानन्द-स्वरूप हैं। उनके देह जन्म-मरणसे रहित होकर स्वरूपभूत हैं; वे प्रकृतिजनित कदापि नहीं हैं। वे परमानन्दसंदोह हैं, सर्वतोभावेन ज्ञानैकस्वरूप हैं, वे सभी समस्त भगवद्गुणोंसे परिपूर्ण हैं एव सभी दोषोंसे (माया-प्रपञ्चसे) सर्वथा रहित हैं।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय परम स्वयं तत्त्वके लीलास्वरूप तीन नाम हैं। इस परम तत्त्व भगवान्के श्रुतिविरहितसकी लीलाकारमे सृष्टिमा निर्माण

और मन्त्र हो सकता है। ये भगवान् निर्गुण (प्राकृत गुणोंमे रहित), सर्वेश्वर, प्रकृतिमे परे और परमात्मा हैं। ये सत्र जीवोंसे निर्मित हैं और उनमें त्रित भी हैं। ये (नैमित्तिक रूपमे रहित) निराकार और (स्वल्पत्वमें स्थित) सात्त्विक, सर्वव्यापी और स्वेच्छागम्य हैं। योगिगण 'सनातन परब्रह्म' कहते हैं और रात-दिन इन सर्वमहत्त्वमय स्वयं-स्वरूप परमात्माका ध्यान करते रहते हैं। ये स्वतन्त्र तत्रा समस्त प्राणोंक भी कारण हैं। प्रत्येक समय सर्वशैलस्वरूपा प्रकृति इनमें लीन रहती है और सृष्टिके समय प्रकट होकर क्रियाशील हो जाती है। वइ प्रकृति भगवान्की निज अभिजा शक्ति है और क्षेत्रानुसार अप्रकट या प्रकटस्वरूपमें इनमें प्रेमे जो सदा-सर्वादा रहती है—जैसे अग्निमें उसकी दाहिका शक्ति रहती है।

पुराणोंमें गुणोंक धर्मज्ञ प्रचार हुआ। आज उनके प्रचारके अभावमें इस तत्त्वके प्रकाशन क्या—आध्यात्मों, उपाध्यायोंके मिसा धर्मकी व्याख्या पुराणोंक प्रमुख उद्देश्य है। धर्मकी स्थिति डायंडोल हो उठी है। धर्मभंगनाके अभावमें देशका शास्त्र स्वल्प विगदना जा रहा है। अपना देश धर्मप्राण देश है। अतः पुराणोंके प्रचारके द्वारा धर्मस्थापनका कार्य बड़ महत्त्व होय। सभीको सबेद होकर उत्तर प्रयत्नशील होना चाहिये।



वामनभगवान्ने वलिको क्योँ छला ?

(लेखक—स्वामी श्रीचक्रानन्दजी सरस्वती)

नास्तिक एव आस्तिक जनताके मनमें स्वभावतया यह शङ्का उठती है कि भगवान् तो धर्मकी स्थापनाके लिये अन्तरे लगे हैं—'धर्मसंस्थापनार्थं सम्भ्रामामि' किंतु वायन-अन्तरामे उन्होंने प्रकृतो छत्र इसकें विपरीत ही किया है। अन्तरामे यदि दृग्ग प्रयोजन दुष्टोंका विनाश—'विनाशाय च दुष्टेताम्' किया जाय तो राजा बलि धर्मा ना थे, उनका विनाश भगवान्ने छलसे क्योँ किया ?

इस शङ्काक उत्तर यह है कि जब धर्मकी ओटमें

अधर्मकी वृद्धि होकर सृष्टिकक-संचालनमें बाधा उत्पन्न हो जाती है और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि धर्म या मार्गलाको निवृत्त किये बिना अधर्म या अधर्मानाका विनाश नहीं किया जा सकता, तब सप्तवि-धर्मकी रक्षाके लिये तामस-धर्मका विनाश ही सर्वजनहितकारी एव शाश्वत-सम्पन्न माना गया है।

राजा बलि यद्यपि न्यय धर्मा ना थे तथापि उनके आश्रयसे रहनेवाले असुरोंक अधर्मकार्योमें पृथ्वी आकुल थी। अतः भगवान्ने वामन शरीरमे तीन पग पृथ्वीको

मोगकर अनि विद्याल शरीरमे तीनों लोकोंको नापकर बलिकों बांध दिया । समष्टि-धर्मकी स्थापनाके लिये ही भगवान्ने बलिकों व्यक्ति-धर्मकी उपेक्षा की, यह कार्य वैश्व ही उचित है, जैसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये आवश्यक होनेपर एक अङ्गका काट देना होता है ।

गर्भोत्पत्ति विचार कर देखा जाय तो राजा बलिकों धर्मका विनाश नहीं हुआ; क्योंकि व्यक्ति-धर्मके पाठनका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम फल है परमात्माकी प्राप्ति । सो, राजा बलिकों वैश्वी हुई है वैश्वी तो स्यात् ही किसीको हुई हो । राजा बलिकों शयनगृहमें जितने द्वार हैं, उन सबमें प्रभु वरदानके कारण अनेक रूप धारण करके बलिकों दर्शन देनेके लिये खड़े रहते हैं; क्योंकि अग्निजाने वरदान माँगा था कि जब मैं सोकर उठूँ तो जहाँ, जिस द्वारपर, मेरी नजर पड़े वहाँ, उसी द्वारपर आपका दर्शन हो ।

समष्टि-व्यष्टि-धर्मके सामान्य-विशेष रूपकी वाच्य-वाचकता प्राप्त हो जाय तो छद्मसे वृन्दाके पानित्रत-

धर्मको भंग करना आदि भगवान्की लीज्यार्थका रहस्य भी स्वयं ही समझमें आ जायगा; क्योंकि एक वृन्दाके पानित्रतधर्मकी आंशमें ही उसका पानि अनेक छिन्निके धर्मका विनाश कर रहा था । अतः भगवान्ने छद्मसे उसके पतिकार रूप धारण कर वृन्दाके व्यष्टि-पानित्रतधर्मको नष्ट कर समष्टि-पानित्रतधर्मकी रक्षा की थी । यहाँ भी गंभीरतासे देखा जाय तो वृन्दाको व्यष्टि-पानित्रतधर्मके पाठनका सर्वोत्कृष्ट परम फल परमपति परमात्माकी प्राप्ति जैसी हुई, वैश्वी तो शायद किसीकी भी नहीं हुई; क्योंकि तुच्छीरूपा वृन्दाका संयोग शक्तिग्रामरूप भगवान्से सदा बना रहता है । अतः भगवान्के पूजन, भोग आदि सभी उपचारोंमें तुच्छीरूपा उपयोग अनिवार्य है ।

बलिकों क्यों छद्म ? इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर इतना ही है कि समष्टिधर्मकी स्थापनाके लिये छद्म । अतः वामन-अवतारमें भी गीता- (१ । ८) में कथित अवतार-धर्मादाके अनुरूप ही भगवान्ने कार्य किया है । फलतः वामनभगवान्की लीज्य और पुराणका स्वरूप लोकसङ्ग्राहकरी है ।

श्रीवामनपुराणकी उपादेयता

(परमश्रद्धेय स्वामी श्रीराममुन्ददासजी महाराज)

मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिया है । उसकी प्राप्तिके साधनोंका वर्गन वेदोंमें आता है, जो भगवान्के निःश्वस हैं—‘यस्य निःश्वसितं वेदाः’ । वेदोंके तात्पर्यको समझानेके लिये ही वेदव्यासजी महागुरुने पुराणोंकी रचना की । पुराणोंमें इतिहास- (कथावर्णन) के द्वारा आख्यान-उपाख्यान एवं वेदोंके विषयोंकी ही समझानेसे समझाया गया है । जिन लोगोंका वेदोंमें अभिज्ञान नहीं है, वे भी वेदोंके कवचों समझानेसे समझ सकें, उसीलिये पुराणोंका प्रकाशन किया गया है एवं वेदार्थ-भिन्नत लिये ही स्मृतियोंमें भी आचरणका विधान किया है । पुराणों एवं स्मृतियोंको न जाननेसे वेदोंका ठीक अर्थ भी नहीं समझा जा सकता । सभी

तात्पर्य न समझनेवाले—अज्ञान मनुष्योंके द्वारा वेदोंकी मर्यादा नष्ट होती है । अतः वेदोंकी रक्षाके लिये पुराणों एवं स्मृतियोंका प्रकाशन हुआ, जिससे कि साधारण जनताके वेदोंका तात्पर्य पहुँच जाय और वे उससे अपने जीवनको शुद्ध-निर्मल बनाकर उन्नति कर सकें ।

‘कल्प्याण’ अपने कल्पनेके वर्षके प्रथम अङ्कके रूपमें श्रीवामनपुराणाङ्क (विशेषाङ्क) निकाल रहा है, जो बहुत ही उपादेय है । वामनपुराणमें अनेक अच्छे-अच्छे प्रकाश हैं, जिनमें व्यवहारकी शिक्षाके साथ ही परमार्थ-सम्बन्धी बहुत-सी सार बातें बतायी गयी हैं । इस पुराणकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेसे लोक और परलोक-विषयक कल्याण हो सकता है ।

कल्याण



वामनावतारी भगवान् विष्णु

ॐ नमो भगवते विधिनाथाय

अथ श्रीवामनपुराणम्

[अथ प्रथमोऽध्यायः]

नारायणो नमस्कृत्य नर नैव नरोत्तमम् । देवीं मत्स्वनीं ध्यामि नरो जयमुदीरयेत् ॥

भगवान् श्रीनारायण, गनुज्योमैश्रेष्ठ नर, भगवती मत्स्वनी देवी और (पुराणोंके कर्ता) गर्दभ व्यासजीको नमस्कार करके जय (पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रन्थों)का उच्चारण (पठन) करना चाहिये ।

श्रीलोकयराज्यमाश्रित्य ब्रह्मेन्द्रियाय यो ददां । शीघ्रं प्राय नमस्तस्मै स्रष्टवामनकरिणे ॥ १ ॥
 पुलस्त्यसृष्टिमासीनमाश्रमे पाण्डिदां धरम् । नारदं परियत्रच्छ पुराणं वामनाश्रयम् ॥ २ ॥
 कथं भगवता ब्रह्मन् विष्णुना प्रभविष्णुना । वामनारथं धृतं पूर्वं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३ ॥
 कथं च वैष्णवो भूया प्रह्लादो दैत्यसत्तमः । त्रिदशैर्युगेषु मार्गमत्र मे संदायो मदान् ॥ ४ ॥
 भूयते च छिजधेष्ट दक्षस्य दुष्टिना सती । शंकरस्य त्रिणा भाग्यो यमूय धरपरिनिर्तो ॥ ५ ॥
 त्रिमर्षो मा परित्यज्य स्वशरीरं परानना । जाता दिमयवो मेरे गिरिन्द्रस्य मदान्मनः ॥ ६ ॥
 पुनश्च देवदेवस्य पत्नीत्यमगमच्छुभा । एतन्मे संदायं छिन्धि सर्वयित् त्वं मतोऽसि मे ॥ ७ ॥
 नीर्यानां नैव माहात्म्यं दानानां चैव सत्तम । प्रदानां विधिगानां च विधिमान्मक्ष्य मे द्विज ॥ ८ ॥

पहला अध्याय प्रारम्भ

(श्रीनारदजीका पुलस्त्य ऋषिने वामनाश्रयी धरन, शिवजीका शोलाचरित और श्रीमूतवाहन होना)

त्रिदशैः त्रिभिः (भूमि, स्वर्ग और पताल—इन) तीनों लोकोंके राक्षसों छीनकर इन्द्रको दे दिया, ठग मायमय वाग्लक्ष्यधारी और लक्ष्मीको हृदयमें धारण करनेवाले त्रिगुणो नमस्कृत है ।

(नर, वारही वान द्वे द्वि—) ऋषियोगैश्रेष्ठ त्रिदश पुलस्त्य ऋषि अपने आश्रममें बैठे हुए थे; (वही)

नारदजीन उनसे वामनपुराणकी रचना (इस प्रकार) पूठी । उन्होंने कहा—ब्रह्मन् ! महाप्रमाणवाली भगवन् विष्णुने कौनसे वामनका उचकार घटण किया था । इसे आप मुझ जिह्वामुखसे बगलिये । एक लो मेरी यह गद्दा है कि दैत्यवर्ष प्रह्लादने त्रिगुणभक्त होकर भी देवताओंके साथ युद्ध कैसे किया और ब्रह्मणधेष्ट । दूसरी विज्ञान यह है कि दक्षप्रजापतिने पुत्री भगवती सती, जो भगवान् शंकरकी त्रिय पत्नी थीं, उन श्रेष्ठ भूवर्षाली- (मनी-भिं अपना शरीर त्यागकर परमराज हिमालयके चरमे त्रिमण्डि जन्म लिया । और पुनः वे

१ महाभारतके उत्तरेत्यानुसर नर नारायण ब्रह्मर्षिभरमें विभक्त परमाना ही है, जो बरदने अर्जुन और इक्ष्वाकु । वे ही नारायणीय या भागवतधर्मके प्रधान प्रचारक हैं, अतः भागवतीय ग्रन्थोंमें सर्वत्र इन दोनोंको नमस्कार किया गया है । पुराण प्रवचनमें भी इन दोनोंको सांप्रतिक रूपमें पढ़नेको प्राचलित गया है ।

महाभारतका प्राचलन नाम अथ है य इत्युच्यते पुराणोदा भा एतन् विजा कल्प है । अथिभ्युराणका वचन है अण्डका पुराणानि नामस्य कथित तथा । धर्मे देदाहः न कर्मदाभाते विदुः ॥

। ब्रह्मिनाम धैतेया प्रवृत्ति मनीषिणः ॥ (भक्तिपुराण १ । १ । ५९)

अर्थात् अठारहो पुराण, अध्याय और तन्मूषं (वेदायं) गौतमी वेद, बिसे महाभारत-रूपमें बचने हैं—इत नमको मनीषीभोग कथ्य कहते हैं ।

कन्यागी देवदेव- (महादेव-) की पत्नी कैसे बनी ? मैं मानता हूँ कि आपको सब कुछका ज्ञान है, अतः आप मेरी इस शंकाको दूर कर दें । साथ ही सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है द्विज ! तीर्थों तथा दानोंकी महिमा और विविध बतोंकी अनुष्ठान-विधि भी मुझे बताइये ॥ १—८ ॥

एवमुक्तो नारदेन पुलस्त्यो मुनिसत्तमः । प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो नारदं तपसो निधिम् ॥ ९ ॥
नारदजीके इस प्रकार कहनेपर मुनियोंमें मुख्य तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ तपोधन पुलस्त्यजी नारदजीसे कहने लगे ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुराणं वामनं वक्ष्ये क्रमान्निखिलमादितः । अवधानं स्थिरं कृत्वा शृणुष्व मुनिसत्तम ॥ १० ॥
पुरा हैमवती देवी मन्दरस्थं महेश्वरम् । उवाच वचनं दृष्ट्वा श्रीष्मकालमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
श्रीष्मः प्रवृत्तो देवेश न च ते विद्यते गृहम् । यत्र वातातपौ श्रीष्मे स्थितयोर्नौ गमिष्यतः ॥ १२ ॥
एवमुक्तो भवान्वा तु शंकरो वाक्यमब्रवीत् । निराश्रयोऽहं सुदति सदारण्यचरः शुभे ॥ १३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! आपसे मैं सम्पूर्ण वामनपुराणकी कथा आदिसे (अन्ततक) वर्णन करूँगा । मुनिश्रेष्ठ ! आप मनको स्थिर कर ध्यानसे सुनें ? प्राचीन समयमें देवी हैमवती-(सती-) ने श्रीष्म-ऋतुका आगमन देखकर मन्दर पर्वतपर बैठे हुए भगवान् शंकरसे कहा—देवेश ! श्रीष्म-ऋतु तो आ गयी है, परंतु आपका कोई घर नहीं है, जहाँ हम दोनों श्रीष्मकालमें निवास करते हुए वायु और तापजनित कठिन समयको बिता सकेंगे । सतीके ऐसा कहनेपर भगवान् शंकर बोले—हे सुन्दर दाँतोंवाली सति ! मेरा कभी कोई घर नहीं रहा । मैं तो सदा बनोंमें ही घूमता रहता हूँ ॥ १०—१३ ॥

इत्युक्त्वा शंकरेणाय वृक्षच्छायासु नारद । निदाघकालमनयत् समं शर्वेण सा सती ॥ १४ ॥
निदाघान्ते समुद्भूतो निर्जनाचरितोऽद्भुतः । घनान्धकारिताशो वै प्रावृट्कालोऽतिरागवान् ॥ १५ ॥
तं दृष्ट्वा दक्षतनुजा प्रावृट्कालमुपस्थितम् । प्रोवाच वाक्यं देवेशं सती सप्रणयं तदा ॥ १६ ॥

नारदजी ! भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर सतीदेवीने उनके साथ वृक्षोंकी छायामें (जैसे-तैसे रहकर) निदाघ-(गर्मी-)का समय बिताया । फिर श्रीष्मके अन्तमें अद्भुत वर्षाऋतु आ गयी, जो अत्यधिक रागको बढ़ानेवाली होती है और जिसमें प्रायः सबका आवागमन अवरुद्ध हो जाता है । (उस समय) मेघोंसे आवृत हो जानेसे दिशाएँ अन्धकारमय हो जाती हैं । उस वर्षाऋतुको आयी देखकर दक्ष-पुत्री सतीने प्रेमसे महादेवजीसे यह वचन कहा—॥ १४—१६ ॥

विवर्णन्ति वाता हृदयावदारणा गर्जन्यमी तोयधरा महेश्वर ।
स्फुरन्ति नीलाभ्रगणेषु विद्युतो वाशन्ति केकारचमेव बाहिनः ॥ १७ ॥

पतन्ति धारा गगनात् परिच्युता वक्रा वलाकाश्च सरन्ति तोयदान् ।
पदम्बसज्जार्जुनकेतकीद्रुमाः पुष्पाणि मुञ्चन्ति सुमास्ताहताः ॥ १८ ॥

श्रुत्वाय मेघन्य दृढं तु गर्जितं त्यजन्ति हंसाश्च सरांसि तदक्षणात् ।

यथाश्रयान् योगिगणाः समन्तात् प्रवृद्धमूलानपि संत्यजन्ति ॥ १९ ॥

१—भविष्यपुराणके प्रमाणानुसार वामनपुराणके वक्ता चतुर्भुज (ब्रह्माजी) हैं, पर वहाँ पुलस्त्यजी ऐसा उल्लेख नहीं करते कि 'पुराणं वामनं वरुणे ब्रह्मणा च मया धृतम्' । इतने प्रतीत होता है कि एतत्-सम्बन्धी श्लोक अनुपलब्ध है । मत्स्यपुराणमें भी चतुर्भुज (ब्रह्मा) के वक्ता होनेका उल्लेख है—

विभिन्नमस्य मारुतमभिरुच्यते चतुर्भुजः । त्रिवर्गमभ्यधात्तम वामनं परिकीर्तितम् ॥

इमानि यूपानि घने मृगाणां चरन्ति धायन्ति रमन्ति शंभो ।
 तथाशिराभाः सुनरां स्फुरन्ति पदयेद् मालेषु घनेषु देव ।
 नूनं समृद्धिं सलिलस्य हृद्या चरन्ति श्वस्तगणदुम्बेषु ॥ २० ॥
 उद्बुध्नेगाः सहस्रैव निम्नगा जाताः शशाङ्गाद्वितचारमौले ।
 किमत्र चित्रं यदनुगन्तलं जतं निषेभ्य योषिद् भवति त्वरीला ॥ २१ ॥

महेधर । हृदयको विदीर्ण करनेवाली वायु वेगमे चल रही है । ये मेघ भी गर्जन कर रहे हैं, नीले मेघोंमे विजयियों कीय रही है और मयूरगग करुणनि कर रहे हैं । आकाशसे गिरती हुई जलशायण नीचे आ रही है । बगुने तथा बगुल्लोंकी पंक्तियों जलशायोंमे तैर रही हैं । प्रबल वायुके शोकके ग्राहक कदम्ब, सर्ग, अर्जुन तथा केतकीके वृक्ष पुष्पोंको गिरा रहे हैं—वृक्षोंसे फल झड़ रहे हैं । मेघका गम्भीर गर्जन सुनकर हंस तुरंत जलशायोंको छोड़कर चले ना रहे हैं, जिस प्रकार योगिजन अपने सब प्रकारसे समृद्ध धरको भी छोड़ देने हैं । शिवजी ! वनमें भृगोंके ये यूप आनन्दित होकर इधर-उधर दौड़ लगाकर खेल-कूदकर आनन्दित हो रहे हैं और देव । देखिये, नीचे बादलोंमे त्रिगुत् मलीर्भानि चमक रही है । लम्बा है, जलको बुझिने देकर शीतल हरे-भरे सुपुटनये वृक्षोंपर विचरण कर रहे हैं । नदियाँ सशस्त्र उदाम (बड़े) वेगमे बहने लगी हैं । चन्द्रशेखर । ऐसे उत्तेजक समयमें यदि अमुवृत्त व्यक्तिके कंदेमें आकर खी दुःशील हो जाती है तो इसमें क्या आश्चर्य ॥ १७-२१ ॥

नीलैश्च मेघैश्च समाधृतं नभः पुष्पैश्च सज्जां मुकुलैश्च नीपाः ।
 फलैश्च यित्वाः पयसा तथापगाः पत्रैः सपत्रैश्च महासरांसि ॥ २२ ॥
 इतीहो संकर दुःसहोद्भूते काले सुरीन्द्रे ननु ते प्रवीमि ।
 गृहं कुपस्यान्न महाचलोत्तमे सुनिवृत्ता येन भयामि शंभो ॥ २३ ॥
 इत्थं यिनेत्र श्रुतिपामणोपकं श्रुत्वा यद्यो वाक्यमिदं पभापे ।
 न मेऽस्ति वित्तं गृहसंचयायै मृगाशिवमांवरणं मम मिये ॥ २४ ॥
 ममोपर्यातं भुजगेध्वरः शुभे कर्णेऽपि पत्रैश्च तथैव पिङ्गलः ।
 केयूरमेकं मम कम्बलस्त्वहिर्द्विंतायमन्यो भुजगो धनंजयः ॥ २५ ॥
 नागस्तथैवाभ्यतपे द्वि कङ्कणं सव्येतरौ तक्षक उत्तरे तथा ।
 नीलोऽपि नीलाञ्जनतुल्यवर्णः धार्मातटे राजति सुप्रतिष्ठः ॥ २६ ॥

आकाश नीले बादलोंसे तिर गया है । इसी प्रकार पुष्पोंके द्वारा सर्ग, मुकुलों- (कच्छियों-) के द्वारा नीप (कदम्ब), फलोंके द्वारा निम्न-वृक्ष एवं जलके द्वारा नदियाँ और कमल-पुष्पों एवं कमल-पत्रोंसे बड़े-बड़े सरोवर भी ढक गये हैं । हे संकरजी ! ऐसी दुःसह, अद्भुत तथा भयंकर दशामें आपसे प्रार्थना करनी है कि इस महान् तथा उत्तम पर्वतपर गृह-निर्माण करजिये; हे शंभो ! जिससे मैं सर्गया निश्चिन्त हो जाऊँ । कर्णोंसे प्रिय लम्बेवाले सर्गोंके इन वचनोंको सुनकर तीन नयनवाले भगवान् संकरजी बोले—प्रिये ! घर बनानेके लिये (और उसकी साज-सज्जाके लिये) मेरे पास धन नहीं है । मैं व्याघ्रके चर्मनात्रसे अपना शरीर ढकता हूँ । शुभे ! (मूर्खोंके अभावमें) सर्गराज ही मेरा उपवीत (जनेऊ) बना है । पत्र और पिङ्गल नामके दो सर्ग मेरे दोनों कर्णोंमे (कुण्डलका काम करते) हैं । कंबल और धनंजय नामके ये दो सर्ग मेरी दोनों बाँहोंके बागुबंद हैं । मेरे दाहिने और बाँवें हाथोंमें भी धनदाः अक्षर तथा तक्षक नाग कङ्कण बने हुए हैं । इसी प्रकार मेरी कमरमें नीलाञ्जनके वर्णकला नील नामका सर्ग अवस्थित होकर सुलोभित हो रहा है ॥ २२-२६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इति वचनमथोप्रां शंकरान्मा मृडानी ऋतुमपि तद्वसन्यं श्रीमदाकर्ण्य भीता ।
अयनिनलमवेक्ष्य स्वामिनो वासकृच्छ्रात् परिवदति सरोपं लज्जयोच्छ्वस्य चोष्णम् ॥ २७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवजीने इस प्रकार कठोर तथा ओजस्वी एवं सत्य होनेपर भी असत्य प्रतीत हो रहे वचनको सुनकर सतीजी बहुत दर गयीं और स्वामीके निवासकष्टको देखकर गरम साँस छोड़ती और पृथ्वीकी ओर देखती हुई (कुड़) क्रोध और लज्जासे इस प्रकार कहने लगी— ॥ २७ ॥

देव्युवाच

कथं हि देवेदेवेश प्रावृट्कालो गमिष्यति । वृक्षमूले स्थिताया मे सुदुःखेन वदाम्यतः ॥ २८ ॥
सतीदेवी बोलीं—देवेश ! वृक्षके मूलमें दुःखपूर्वक रहकर भी मेरा वर्षाकाल कैसे व्यतीत होगा !
रसीलिये तो मैं आपमें (गृहके निर्माथकी बात) कहती हूँ ॥ २८ ॥

शंकर उवाच

गनावस्थिनदेहायाः प्रावृट्कालः प्रयास्यति । यथाऽम्बुधारा न तव निपतिष्यन्ति विग्रहे ॥ २९ ॥
शंकरजी बोले—देवि ! मेघ-मण्डलके ऊपर अपने शरीरको स्थित कर तुम वर्षाकाल भलीभाँति व्यतीत कर सकोगी । इसमें वर्षाकी जलधाराएँ तुम्हारे शरीरपर नहीं गिर पायेंगी ॥ २९ ॥

पुलस्त्य उवाच

नतो हरस्तद्घनखण्डमुन्नतमारुह्य तस्थौ सह दक्षकन्यया ।
नतोऽभवन्नाम महेश्वरस्य जीमूतकेतुस्त्विति विश्रुतं दिवि ॥ ३० ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद महादेवजी दक्षकन्या सतीके साथ आकाशमें उन्नत मेघमण्डलके ऊपर चढ़कर बैठ गये । तभीमें स्वर्गमें उन महादेवजीका नाम 'जीमूतकेतु' या 'जीमूतवाहन' विख्यात हो गया ॥ ३० ॥
॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

[अथ द्वितीयोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

नतस्त्रिनेत्रस्य गतः प्रावृट्कालो व्रनोपरि । लोकानन्दकरी रम्या शरत् समभवन्मुने ॥ १ ॥
व्यजन्ति नीलाम्बुधरा नभस्तलं वृक्षांश्च कदाः सरितस्तटानि ।
पद्माः सुगन्धं निलयानि वायसा कर्चिपाणं क्लृपं जलाशयाः ॥ २ ॥
विकासमायान्ति च पद्मजानि चन्द्रांशयो भान्ति लताः सुपुष्पाः ।
नन्दन्ति दृष्टान्यपि गोकुलानि सन्तश्च संतोषमनुव्रजन्ति ॥ ३ ॥
सरःसु पद्मा गगने च तारका जलाशयेष्वेव तथा पर्यासि ।
मतां च विस्रं हि दिशां मुखैः समं वैमल्यमायान्ति शशाङ्काननयः ॥ ४ ॥

दूसरा अध्याय प्रारम्भ

(भरदागम होनेपर शंकरजीका मन्दरपर्वतपर जाना और दक्षका यज्ञ)

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार तीन नयनवाले भगवान् शिवका वर्षाकाल मेघोंपर बसते हुए ही व्यतीत हो गया । हे मुने ! कथाका लगेको आनन्द देनेवाली रमणीय शब्द ऋतु आ गयी । इस ऋतुमें नीले मेघ

आकाशको और बगुने कुशोंको छोड़कर अलग हो जाते हैं । मरियं भी तथै छोड़कर बहने लगती हैं । एतने कमलपुत्र सुगन्ध फैलते हैं, कोंबे भी घोंसलोंको छोड़ देते हैं । हृदयोंके शृङ्ग फिर पड़ते हैं और जलशय मर्वा स्रष्ट हो जाते हैं । इस समय कमल विकसित होते हैं, द्रुम चन्द्रमकी विरग्ये आनन्ददायिनी होकर फल जाती हैं, लताएँ पुष्पित हो जाती हैं, गौशे हृद-पुत्र होकर आनन्दसे विहरती हैं तथा संतोंको बड़ा सुख मिळता है । तालाबोंमें कमल, गजमें तारागम, जलशयोंमें निर्मल जल और दिशाओंके मुक्कमण्डके साथ मन्त्रोंका चित्त तथा चन्द्रमकी अंति भी सर्वा स्रष्ट एवं निर्मल हो जाती हैं ॥ १-४ ॥

पलादशो हरः काले मेघपृष्ठाधियासिनाम् । सर्वामादाय शैलेन्द्रं मन्दरं समुपाययौ ॥ ५ ॥
 तयो मन्दरपृष्ठेऽर्वा स्थितः समशिलातले । स्वाम शंभुर्भगवान् सत्या सह महापुनिः ॥ ६ ॥
 तयो ध्यनीति शरदि प्रनिबुद्धे च केदारो । द्भजः प्रजापतिश्रेष्ठो यष्टुमाभन वतुम् ॥ ७ ॥
 द्वादशैव स आदित्याश्शाखादीथ सुतोत्तमान् । सवद्वयान् नमामन्त्र्य सवस्यान्समधीरत्म् ॥ ८ ॥

ऐसी शरद-ऋतुमें शरदली मेघके ऊपर वास करनेवाली सतीको साथ लेकर श्रेष्ठ मन्दर पर्वतपर पहुँचे और महातेजस्वी (महाकान्तिमान्) भगवान् शंकर मन्दराचलके ऊपरी भागमें एक समतल शिखर अवस्थित होकर सतीके साथ विग्राम करने लगे । उसके बाद शरदऋतुके बाँत जानेपर तथा भगवान् विष्णुके जन्म जानेपर प्रजापतिश्रेष्ठ श्रेष्ठ दक्षने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया । उन्होंने द्वादश आदित्यों तथा पद्वय आदि (ऋषियों) के साथ ही हृद आदि श्रेष्ठ देवताओंको भी निमन्त्रित कर उन्हें यज्ञका सदस्य बनाया ॥ ५-८ ॥

अरुन्धत्या च सदिनं यसिष्टं संसितव्रतम् । सहानस्ययामि च सह धृप्या च कौशिकम् ॥ ९ ॥
 अहस्यया गौतमं च भरद्वाजममायया । चन्द्रया सदिनं ब्रह्मन्पुषिमङ्गिरसं तथा ॥ १० ॥
 आमन्त्र्य हृतयान्दक्ष सवस्यान् यष्टसंसदि । विद्वान् गुणसंपन्नान् वेदवेदाङ्गपरगामी विद्वान् ऋषियैः ॥ ११ ॥
 धर्मं च स समाह्वय भार्ययाऽदिसया सह । निमन्त्र्य यज्ञयादस्य द्वात्पाल्यमादिसान् ॥ १२ ॥

शरदली । उन्होंने अरुन्धतीमहिन प्रसादाश्रयारी वसिष्ठको, अनमूया-सदिन अत्रिमुनिको, धृतिके सहित कौशिक (विष्णुमित्र) मुनिको, अहन्त्याके साथ गौतमको, अमायाके सहित भरद्वाजको और चन्द्रके साथ अङ्गिरा ऋषिको आमन्त्रित किया । विद्वान् दक्षने इन गुणसंपन्न वेद-वेदाङ्गपरगामी विद्वान् ऋषियैको निमन्त्रितकर उन्हें अपने यज्ञमें सदस्य बनाया । और, उन्होंने (प्रजापति दक्षने) यज्ञमें धर्मको भी उनकी पत्नी अहिमके साथ निमन्त्रितकर यज्ञमण्डपरा द्वारपाल नियुक्त किया ॥ ९-१२ ॥

अरिष्टनेमिनं चके । इभ्यादरुणवारिणम् । शृगुं च मन्त्रसंस्कारे सव्याग् दक्ष. पयुक्तयान् ॥ १३ ॥
 तथा चन्द्रमसं देवं रोहिष्या सदिनं शुचिम् । धनानामाधिपत्ये च युक्तयान् हि प्रजापतिः ॥ १४ ॥
 जामातृदुहितृदचैव द्वादिन्द्रांश्च प्रजापति । सशंकरां सर्वा मुक्तयामते सयोनं स्यमन्त्रयत् ॥ १५ ॥

दक्षने अरिष्टनेमिको सनिधा लनेरा कार्य सौवा और शृगुको समुचित मन्त्र-माध्यमें नियुक्त किया । फिर दक्षप्रजापतिने रोहिणीसहित 'अर्षशुचि' चन्द्रमको कोषाध्यक्षके पदपर नियुक्त किया । इस प्रकार दक्षप्रजापतिने केवल शंकरसहित सतीको छोड़कर अपने सभी जन्मजातों, पुत्रियों एवं दौहित्रोंको यज्ञमें आमन्त्रित किया ॥ १३-१५ ॥

नारद उवाच

किमय लोकपतिना धनाप्यक्षो महेश्वरः । ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि न निमन्त्रितः ॥१६॥
नारदजीने कहा (पूछा)—(पुलस्त्यजी महाराज !) लोकस्वामी दक्षने महेश्वरको सबसे बड़े, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, सबदे. आदिमें रहनेवाले एवं समग्र ऐश्वर्यकी स्वामी होनेपर भी (यज्ञमें) क्यों नहीं निमन्त्रित किया ? ॥ १६ ॥
पुलस्त्य उवाच

ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि भगवाञ्छिवः । कपालोनि विद्विन्वेशो वृक्षेण न निमन्त्रितः ॥१७॥
पुलस्त्यजीने कहा—(नारदजी !) ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ तथा अग्रगणी होनेपर भी भगवान् शिवको कपाली जानकर प्रजापति दक्षने उन्हें (यज्ञमें) निमन्त्रित नहीं किया ॥ १७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं देवताश्रेष्ठः शूलपाणिस्त्रिलोचनः । कपाली भगवान् जातः कर्मणा केन शंकरः ॥१८॥
नारदजीने (फिर) पूछा—(महाराज !) देवश्रेष्ठ शूलपाणि, त्रिलोचन भगवान् शंकर किस कर्मसे और किस प्रकार कपाली हो गये, यह बतलाये ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्यावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम् । प्रोक्तामादिपुराणे च ब्रह्मणाऽव्यक्तमूर्तिना ॥१९॥
पुरा त्वेकार्णवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । नष्टचन्द्रार्कनक्षत्रं प्रणष्टपवनानलम् ॥२०॥
अप्रतर्प्यमयिक्षेयं भावाभाववियर्जितम् । निमग्नपर्वततरु तमोभूतं सुदुर्दशम् ॥२१॥
तस्मिन् स शेते भगवान् निद्रां यर्षसहस्रिकीम् । रात्र्यन्ते सृजते लोकान् राजसं रूपमास्थितः ॥२२॥

पुलस्त्यजीने कहा—नारदजी ! आप ध्यान देकर सुनें । यह पुरानी कथा आदिपुराणमें अव्यक्तमूर्ति ब्रह्माजीके द्वारा कही गयी है । (मैं उसी प्राचीन कथाको आपसे कहता हूँ ।) प्राचीन समयमें समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् एकीभूत महासमुद्रमें निमग्न (डूबा हुआ) था । चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु एवं अग्नि—कितीका भी कोई (अलग) अस्तित्व नहीं था । 'भाव' एवं 'अभाव' से रहित जगत्की उस समयकी अवस्थाका कोई ठीक-ठीक ज्ञान, विचार, तर्कना या वर्णन सम्भव नहीं है । सभी पर्वत एवं वृक्ष जलमें निमग्न थे तथा सम्पूर्ण जगत् अन्धकारसे व्याप्त एवं दुर्दशाग्रस्त था । ऐसे समयमें भगवान् विष्णु हजारों वर्षोंकी निद्रामें शयन करते हैं एवं रात्रिके अन्तमें राजस रूप ग्रहणकर वे सभी लोकोंकी रचना करते हैं ॥ १९-२२ ॥

राजसः पञ्चवदनो वेदवेदाङ्गपारंगः । स्रष्टा चराचरस्यास्य जगतोऽद्भुतदर्शनः ॥२३॥
तमोमयस्तथैवान्यः समुद्भूतस्त्रिलोचनः । शूलपाणिः कपर्दी च अक्षमालां च दर्शयन् ॥२४॥
ततो महात्मा स्रष्टुजदहंकारं सुशरणम् । येनाक्रान्ताकुर्भी देवो तावेव ब्रह्मशंकरौ ॥२५॥
अहंकारात्ततो रद्रः प्रत्युवाच पितामहम् । को भवानिह संप्रातः केन सृष्टोऽसि मां वद ॥२६॥

इस चराचरान्तक जगत्का स्रष्टा भगवान् विष्णुका वह अद्भुत राजस स्वरूप पञ्चमुख एवं वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञाता था । उसी समय तमोमय, त्रिलोचन, शूलपाणि, कपर्दी तथा स्रष्टास्रमाला धारण किया हुआ एक अन्य पुरुष भी प्रकट हुआ । उसने वद भगवान् ने अति शरम्य अहंकारकी रचना की, जिससे ब्रह्मा तथा शंकर—वे दोनों ही देवता अज्ञान हो गये । अहंकारसे व्याप्त दिवने प्रकृति कदा—तुम कौन हो और यहां कैसे आये हो ? तुम मुझे यह भी बतलाओ कि तुम्हारी सृष्टि किसने की है ? ॥ २३-२६ ॥

पितामहोऽप्यहंकारान् प्रत्युवाचाथ को भवान् । भवतो जनकः कोऽत्र जननी वा नदृश्यताम् ॥२७॥
इत्यन्योन्यं पुरा ताभ्यां ब्रह्मेताभ्यां कलिप्रिय । परिवाशोऽभवत् तत्र उ

भयान्प्रन्तरिक्षं दि जानमायस्त्रादोत्पतत् । धारयन्तनुत्रां वीणां बुधेन् विलिखित्वाप्यनिम् ॥२९॥
ततो विनिजितः शंभुर्मानिता पद्मयानिता । तन्व्यायभोगुणो वृत्तो प्रदात्रन्तो यथा शरीरि ॥३०॥

(तिर) इसपर अपने भी अहंकारसे उत्तर दिया—आप भी बनइस्ये कि आप कौन हैं तथा आपके माना-रिक्त कौन हैं ? लोक-कल्याणके छिपे कलहको प्रिय माननेवाले नारदजी । इस प्रकार प्राचीनकालमें मन्त्र और शंकरके बीच एक-दूसरेमें दुर्गिह द हुआ । उसी समय आपका भी प्रादुर्भाव हुआ । आप उत्पन्न होते ही अनुभव बीगा धारण किये किञ्चित्किय शब्द करने हुए अन्तरिक्षकी ओर ऊपर चले गये । इसके बाद भगवान् शिव मानो ब्रह्माद्वारा पराजितसे होकर राष्ट्रपल चन्द्रमाके समान दीन एवं अधोमुख होकर पड़े हो गये ॥ २७-३० ॥

पराजिते लोकपती देवेन परमेष्ठिना । क्रोधान्धकारितं रुद्रं पञ्चमोऽथ मुखोऽग्रनीम् ॥३१॥
अहं ते प्रतिजानामि तमोमूर्ते त्रिलोचन । दिग्वासा वृषभाकृतो लोकशयनरो भवान् ॥३२॥
इत्युक्तः शंकरः मुञ्चो यदनं घोरचक्षुषा । निर्वङ्घुषामस्त्रनिशं ददर्श भगवानजः ॥३३॥
ततस्त्रिनेत्रस्य समुद्भवन्ति यज्ञप्राणि पञ्चाय सुदर्शनानि ।
इवेतं च रक्तं वनशायदानं नीलं तथा पिङ्गजं च शुभ्रम् ॥ ३४ ॥

(मन्त्रके द्वारा) लोकपति (शंकर) के पराजित हो जानेपर क्रोधसे अन्धे हुए रुद्रसे (श्रीवृषभजीके) पाँचवें मुखने कहा—तमोमूर्ति त्रिलोचन । मैं आपको जानता हूँ । आप दिग्म्बर, वृषरोही एवं लोकोँको नष्ट करनेवाले (प्रलयकारी) हैं । इसपर अजन्मा भगवान् शंकर अपने तीसरे घोर नेत्रद्वारा भस्म करनेकी इच्छासे मन्त्रके उस मुखको एकटक देखने लगे । तदनन्तर श्रीशंकरके श्वेत, रक्त, स्वर्णिम, नील एवं पिङ्ग वर्णके सुन्दर पाँच मुख समुद्भूत हो गये ॥ ३१-३४ ॥

यज्ञप्राणि षष्ट्याऽकंसमानि सद्यः पैतामहं यज्ञप्रमुखाय पात्रयम् ।
समाहृतस्याथ जलस्य सुद्बुद्धा भवन्ति किं तेषु पराक्रमोऽस्ति ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्या क्रोधयुक्तेन शंकरेण महात्मना । नरप्रायेण शिरदिच्छन्नं धाम्नं परुषादिनम् ॥ ३६ ॥
तच्छिन्नं शंकरस्यैव सत्ये करतलेऽपतत् । पतते न फदाचिच्च तच्छंकररक्षिच्छरः ॥ ३७ ॥
अथ क्रोधायुक्तेनापि ब्रह्मणानुत्कर्षणा । स्पृष्टुस्तु पुरुषो धीमान् कयची गुणहन्ती शरी ॥ ३८ ॥
धनुष्पाणिर्मदासुहृवांशकिधरोऽप्ययः । चतुर्भुजो महावर्णो आदित्यसमदर्शनः ॥ ३९ ॥

सूर्यके समान दीप्त (उन) मुखोंको देखकर विनामहके मुखने कहा—जलमें आधान करनेसे बुद्बुद तो उत्पन्न होते हैं, पर क्या उनमें कुछ शक्ति भी होती है ? यह सुनकर क्रोधभरे भगवान् शंकरने मन्त्रके चट्टेर भाग्य करनेवाले सिरको अपने नाभके अग्रभागसे काट डाला; पर वह कटा हुआ मन्त्राजीका सिर शंकरजीके ही वाम हथेलीपर जा गिरा एवं वह कापाल श्रीशंकरके उस हथेलीमें (इस प्रकार चिरक गया कि गिरनेपर भी) स्थिती प्रकार न गिरा । इसपर अद्भुततर्फी मन्त्राजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये । उन्होंने कयच-मुण्डक एवं शर धारण करनेवाले धनुर्धर विशाल वाहुयुक्ते एक पुरुषकी रचना की । यह अन्यत्र, चतुर्भुज वाग, शक्ति और भारी तरकस धारण किये या तथा सूर्यके समान तेजस्वी दीप्त पद्मका पा ॥ ३५-३९ ॥

स प्राद गच्छ दुर्धुसे मा त्वां शूलिन् निपातये । भवान्पापसमायुक्तः पापिच्छं क्रोत्रिणांमनि ॥ ४० ॥
इत्युक्तः शंकरस्तेन पुरुरेण महात्मना । प्रपासुको जगामाय वदो बद्धिचयमम् ॥ ४१ ॥
मरनारायणस्यानं पर्यते दि हिमाश्रये । सरस्वती यथ पुण्या स्पन्दते सरितां वरा ॥ ४२ ॥

तत्र गत्वा ह तं दृष्ट्वा नारायणमुवाच ह । भिक्षां प्रयच्छ भगवन् महाकापालिकोऽस्मिभोः ॥ ४३ ॥
इत्युक्तो धर्मपुत्रस्तु रुद्रं वचनमब्रवीत् । सर्व्यं भुजं ताडयस्व त्रिशूलेन महेश्वर ॥ ४४ ॥

उस नये पुरुषने शिवजीसे कहा—दृष्टुद्धि शूलधारी शंकर ! तुम शीघ्र (यहाँसे) चले जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें मार दारूँगा । पर तुम पापयुक्त हो; भला, इतने बड़े पापीको कौन मारना चाहेंगा ! जब उस महापुरुषने शंकरसे इस प्रकार कहा, तब शिवजी लजित होकर हिमालय पर्वतपर स्थित बदरिकाश्रमको चले गये, जहाँ नर-नारायणका स्थान है और जहाँ नदियोंमें श्रेष्ठ पवित्र सरस्वती नदी बहती है । वहाँ जाकर और उन नारायणको देखकर शंकरने कहा—भगवन् ! मैं महाकापालिक हूँ । आप भुजं भिक्षा दें । ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र-(नारायण-) ने रुद्रसे कहा—महेश्वर ! तुम अपने त्रिशूलके द्वारा मेरी त्रयी भुजापर ताड़ना करो ॥ ४०-४४ ॥

नारायणवचः श्रुत्वा त्रिशूलेन त्रिलोचनः । सर्व्यं नारायणभुजं ताडयामास वेगवान् ॥ ४५ ॥
त्रिशूलाभिष्टान्मागात् तिस्रो धारा विनिर्ययुः । एका गगनमाक्रम्य स्थिता ताराभिमण्डिता ॥ ४६ ॥
द्वितीया न्यपतद् भूमौ तां जग्राह तपोधनः । अत्रिस्तास्मात् समुद्भूतो दुर्वासा शंकरांशतः ॥ ४७ ॥
एतीया न्यपतत्तारा कपाले रौद्रदर्शने । तस्माच्छिद्युः समभवत् संनद्धकवचो युवा ॥ ४८ ॥

श्यामावदातः शरचापपाणिर्जन्यथा प्रावृषि तोयदोऽसौ ।

इत्थं व्रुचन् कस्य विशातयामि स्कन्धाच्छिद्रस्तालफलं यथैव ॥ ४९ ॥

शिवजीने नारायणकी बात सुनकर त्रिशूलद्वारा बड़े वेगसे उनकी वाम भुजापर आघात किया । त्रिशूलद्वारा (भुजापर) प्रताड़ित मार्गसे जलकी तीन धाराएँ निकल पड़ी । एक धारा आकाशमें जाकर ताराओंसे मण्डित आकाशगङ्गा हुई; दूसरी धारा पृथ्वीपर गिरी, जिसे तपोधन अत्रिने (गन्दाकिर्नाके रूपमें) प्राप्त किया । शंकरके उसी अंशसे दुर्वासाका प्रादुर्भाव हुआ । तीसरी धारा भयानक दिखायी पड़नेवाले कपालपर गिरी, जिससे एक शिशु उत्पन्न हुआ । यह (जन्म लेते ही) कवच बाँधे, श्यामवर्णका युवक था । उसके हाथोंमें धनुष और बाण था । फिर वह वर्षाकालमें मेघ-मार्जनके समान कहने लगा—मैं किसके स्कन्धसे सिरको तालफलके सदृश काट गिराऊँ ! ॥ ४५-४९ ॥

तं शंकरोऽभ्येत्य तत्रो यभापे चरं हि नारायणयादुजातम् ।
निपातयन् नर दुष्टवाक्यं प्रज्ञात्मजं सूर्यशतप्रकाशम् ॥ ५० ॥

इत्येवमुक्तः स तु शंकरेण आद्यं धनुस्त्वाजगद्यं प्रसिद्धम् ।
जग्राह तूष्पानि तथाऽक्षयाणि युद्धाय वीरः स मतिं चकार ॥ ५१ ॥

ततः प्रयुक्तो सुभृशं महाबलीं प्रज्ञात्मजो बाहुभवश्च शर्वः ।
दिव्यं सहस्रं परिचरराणां ततो हरोऽभ्येत्य विरञ्चिमूचे ॥ ५२ ॥

जितस्त्वदीयः पुरुषः पितामहं नरेण दिव्याद्भुतकर्मणा वली ।
महापृषत्कैरभिपत्य ताडितस्तद्भुतं चेद दिशो दशैव ॥ ५३ ॥

प्रज्ञा तमोशं पञ्चतं यभापे नेदास्य जन्मान्यजितस्य शंभो ।
पराजितद्वेषतेऽसौ त्वदीयो नरो मर्दायः पुरुषो महात्मा ॥ ५४ ॥

इत्येवमुक्त्वा पञ्चतं त्रिलोप्रशिक्षेप सूर्यं पुरुषं विरिञ्चिः ।
तं नग्नयौ वदा स विमहे निक्षेप धर्मप्रभवस्य केवः ॥ ५५ ॥

श्रीनारायणजी बाह्यमे उच्यते तस्य पुरुषोऽसमीप आकर श्रीशंकर उवाच—हे नर ! तुव गृह्ये सप्तान् ५ राशान्, ११ मनुभाषा, ३३ने उच्यते इमं पुरुषस्य नर उवाच । शंकरजीय एव मन्त्रनर उच्यते नरने प्रसिद्ध ज्ञानगत नरस्य मनुष्य एव अक्षय गृह्यार महेश्वर सुदृश निधय क्रिया । उमके बाद ब्रह्ममन्त्र अंश न गणगरीभुज मे उच्यते त्रीने नरीमे महेश दिव्य बर्तन प्रबत युद्ध होतार रहा । तत्रधात श्रीशंकरजान ब्रह्मर पम जय कहा—विदमह ' यह एक अद्भुत बात है कि दिव्य एव अद्भुत कर्मवृत्ते (मेरे) नरने दशों दिश ओंमे अथ महान् गणों प्रद्वये त दिन वर आपके पुरुषस्यो जीत क्रिया । इमने उम ईशमे कहा कि इय अत्रिना जन यदो दूसेन्द्रा पराजि होनेर क्रिये नही हुआ है । यदि तिमोरो पराजित कहा जना अभीष्ट है तो यह तारा नर ही है । तेग पुरुष सो महाशक्ति है—एसा म्हे जनेनर श्रीशंकरजाने ब्रह्मजीय पुरुषस्यो गृह्यनग्नये केक दिया नर उवा । शंकर उम नगरो धर्मपुत्र नरके शरीरमे केक दिया ॥ ५०-५५ ॥

॥ इम प्रकार धीशामनपुराणमे दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥



[अथ तृतीयोऽध्यायः]

पुण्यस्य उवाच

नन वरगले मद्र, कपाले दाहणे स्थिते । संतापमगमद् प्रहृद्यिच-नया ध्यातुंन्द्रिय ॥ १ ॥
 नत समागता रीटा नीलाञ्जनचयप्रभा । संरक्तमूर्च्छिता भीमा ब्रह्महत्या ह्यरान्तरम् ॥ २ ॥
 तामागता हृते हृष्टा पमच्छ विस्मयलिनीम् । काऽपि न्यमागता रीटे केनाचर्यते तद्वद ॥ ३ ॥
 कपालिनमयोवाच ब्रह्महत्या सुदारुणा । ब्रह्मथ्याऽस्ति संज्ञाता मा प्रनीच्छ त्रिगेचन ॥ ४ ॥
 तीमग अध्याय प्रारम्भ

(शंकरजीय ब्रह्महत्यासे शून्यक लिय तीर्थोमे समग; बदरिकाशमे नारायण स्तुति; बाराणसीमे ब्रह्महत्यासे मुक्ति एवं कपाली नाम पढ़ना)

पुण्यस्यजा बोले—नारदना । तत्रधात शिवजीको अपने रक्तने भयरा कपाल स जनेमे बड़ी निरा हुई । उनको इन्द्रियो व्यकुल हो गयी । उन्हें बड़ा सताप हुआ । उमके बाद कालिवर मनन नीचेरगरी एक कर्णके फेराबली भयकर ब्रह्महत्या गकारके निरट आयी । उस विस्मयन रूपकली श्रीशे अयी देवकर शंकरजाने पूरा—ओ भयवनी श्री ! यह बनगओ कि तुम कौन हो एव किमत्रिये यहाँ आयी हो ? इमरा उम अप्तन दाहण प्रहृद्यने उमने कहा—हे ब्रह्महत्या है । हे त्रिगेचन ' अब मुझे मारकर करे—मरिच्छे यहाँ आयी है ॥ १-४ ॥

इत्येयमुवाच यथां ब्रह्महत्या विवद ६ । विदुःशयानिन दृष्टं समन्तानि त्रिप्रदम् ॥ १ ॥
 ब्रह्महत्याभिभूतस्य शयो बदरिकाशमम् । भागच्छन्न दृशोप नरनागवणाकृयो ॥ २ ॥
 भद्रेष्टा धर्मतनयो चिन्तादोषस्मन्वित । जगाम यमुना स्नानुं स्ताऽपि मुष्कज्याऽभयम् ॥ ३ ॥
 कालिन्दी मुष्कमलिला निरीक्ष्य ध्रुवकेतन । प्लक्षजा स्नातुमगमदन्तजौन य सा गता ॥ ४ ॥

ऐसा बहुर ब्रह्महत्या मतने जन्ने शरीरवृत्ते त्रिदुःखानि शिकरे गरुडो मेन गवा । ब्रह्महत्यामे अभिभूत होकर श्रीशंकर बदरिकाशमे अये किन्तु यहाँ नर एव नारायण स्नानके उठे दर्शन नही हुआ । मरके उन दोनो पुरुषोको यही न दणकर ने निरत श्री शंकरो मुक हो यमुनाजीमे स्नान करन एव । मनु उमका नर भी गृह्यण । पालाजीको निरंश गकर एव न शंकर हत्यारीमे स्नान करन एवे किन्तु यह ५ पुत्र हो गयी ॥ ५-१॥

ततोऽनु पुष्कराण्यं सागधारण्यमेव च । सैन्धवाण्यमेवास्तौ गत्वा स्नातो यथेच्छया ॥ ९ ॥
 तथैव नैमिषाण्यं धर्माण्यं तथेश्वरः । स्नातो नैव च सा रौद्रा ब्रह्महत्या व्यमुञ्चत ॥ १० ॥
 त्रिरित्सु तीर्थेषु तथाश्रमेषु पुण्येषु देवायतनेषु शर्वः ।
 सन्नायुतो योग्युतोऽपि पापाघावाप मोक्षं जलदध्वजोऽसौ ॥ ११ ॥
 ततो जगाम निर्विण्णः शंकरः कुण्डजालम् । तत्र गत्वा ददर्शाय चक्रपाणि खगध्वजम् ॥ १२ ॥
 तं घृष्टा पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा हरः स्तोत्रमुदीरयत् ॥ १३ ॥

फिर पुष्कराण्य, धर्माण्य और सैन्धवाण्यमें जाकर उन्होंने बहुत समयतक स्नान किया । उसी प्रकार वे नैमिषाण्य तथा सिद्धपुरमें भी गये और स्नान किये; फिर भी उस भयंकर ब्रह्महत्याने उन्हें नहीं छोड़ा । तीर्थगतके शंकरने अनेक नदियों, तीर्थों, आश्रमों एवं पवित्र देवायतनोंकी यात्रा की; पर योगी होनेपर भी वे पापसे मुक्ति न प्राप्त कर सके । तत्रश्चात् वे खिन्न होकर कुण्डमें गये । वहाँ जाकर उन्होंने गरुडध्वज चक्रपाणि-(विष्णु-)को देखा और उन शङ्ख-चक्र-गदाधारी पुण्डरीकाक्ष-(श्रीनारायण-)का दर्शनकर वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥ ९-१३ ॥

हर उवाच

नमस्ते देवतानाथ नमस्ते गरुडध्वज । शङ्खचक्रगदापाणे वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
 नमस्ते निर्गुणानन्त धमनपर्याय वेधसे । ज्ञानाज्ञान निरात्म्य सर्वोलम्ब नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥
 रजोगुण नमस्तेऽस्तु ब्रह्ममूर्ति सनातन । त्वया सर्वमिदं नाथ जगत्सृष्टं चराचरम् ॥ १६ ॥
 सत्त्वाधिष्ठित लोकेश विष्णुमूर्ति अधोक्षज । प्रजापाल महाबाहो जनार्दन नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
 नमोमूर्त्तौ अहं त्वय न्वदंशकोधसंभवः । गुणाभियुक्त देवेश सर्वव्यापिन नमोऽस्तु ते ॥ १८ ॥

भगवान् शंकर बोले—हे देवताओंके स्वामी ! आपको नमस्कार है । गरुडध्वज ! आपको प्रणाम है । शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेव ! आपको नमस्कार है । निर्गुण, अनन्त एवं अतर्कनीय विधाता ! आपको नमस्कार है । ज्ञानाज्ञानस्वरूप, स्वयं निराश्रय किन्तु सबके आश्रय ! आपको नमस्कार है । रजोगुण, सनातन, ब्रह्ममूर्ति ! आपको नमस्कार है । नाथ ! आपने इस सम्पूर्ण चराचर विश्वकी रचना की है । सत्त्वगुणके आश्रय लोकेश ! विष्णुमूर्ति, अधोक्षज, प्रजापालक, महाबाहू, जनार्दन ! आपको नमस्कार है । हे नमोमूर्ति ! मैं आपके अंशभूत क्रोधसे उत्पन्न हूँ । हे ममान् गुणवाले सर्वव्यापी देवेश ! आपको नमस्कार है ॥ १४-१८ ॥

भूमिं त्वं जगत्पाय जलाम्बरपुनाशनः । वायुर्बुद्धिर्मनश्चापि शर्वरी त्वं नमोऽस्तु ते ॥ १९ ॥
 धर्मो यन्त्राः सत्यमहिंसा शौचमार्जयम् । धना दानं दया लक्ष्मीर्वैश्वर्यं त्वमीश्वर ॥ २० ॥
 त्वं त्वात्ताधनुरो देवास्त्रं धेयो वेदपाठनः । उपवेदा भवानीश सर्वोऽसि त्वं नमोऽस्तु ते ॥ २१ ॥
 नमो नमस्तेऽस्तुत चक्रपाणे नमोऽस्तु ते माधव मीनमूर्ते ।
 लोकेश भवान् फलपिबो मतो मे शयनं मां केशव पापबन्धान् ॥ २२ ॥
 मन्मातुर्गं नामय विमलसूर्यं यद् ब्रह्मदत्त्याऽभिभवं यभूय ।
 दन्तोऽस्मि नष्टोऽस्त्व्यग्नमीद्वरगो पुनीदि तीर्थोऽसि नमो नमस्ते ॥ २३ ॥

अथवा ! आप ही पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, बुद्धि, मन एवं शक्ति हैं; आपको नमस्कार है । धर्म ! आप ही धर्म, सत्य, शौच, मार्जय, अहिंसा, विमला, मन्मत्, धन, दान, दया, लक्ष्मी एवं ब्रह्मचर्य हैं । हे ईश ! आप अहोमूर्तिवत् सर्वोद्वेगनाशक देव एवं वेदपाठकर्ता हैं । आप ही उपवेद हैं तथा सभी बुद्ध

आप ही हैं; आपको नमस्कार है । अच्युत ! चक्रागि ! आपको बारंबार नमस्कार है । दीनमूर्तिवती (मत्स्यावतारी) माधव ! आपको नमस्कार है । मैं आपको लोकमें दयालु मानता हूँ । जेशव ! आप मेरे शरीरमें स्थित ब्रह्मदेवतामें उत्पन्न अशुभको नष्ट कर मुझे पाप-बन्धनसे मुक्त करें । जिना विचार किये कार्य करनेवाला मैं दास एवं नष्ट हो गया हूँ । आप साक्षात् तीर्थ हैं, अतः आप मुझे पवित्र करें । आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १९-२३ ॥

पुलस्त्य उवाच

हृषं स्तुतध्वजधरः शंकरेण महात्मना । प्रोवाच भगवान् वाच्यं ब्रह्महत्याक्षयाय हि ॥ २४ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—भगवान् शंकरद्वारा इस प्रकार स्तुत होनेपर चक्रागि भगवान् विष्णु शंकरजी ब्रह्महत्याको नष्ट करनेके लिये उनमें वचन बोले— ॥ २४ ॥

हरिरवाच

गोहृष्यर शृणुष्वेमां मम वाचं कलस्वनाम् । ब्रह्महत्याक्षयकरी शुभदां पुण्यार्थनीम् ॥ २५ ॥
योऽसौ प्राङ्मण्डले पुण्ये मर्दानप्रभोऽध्ययः । प्रयागे घमते नित्यं योगशायीनि विभुनः ॥ २६ ॥
चरणान् दक्षिणात्तस्य विनिर्याता सत्पिता । विधुना यत्नेन्येव सूर्यगारहृष शुभा ॥ २७ ॥
सम्पादन्या द्वितीया च अमिगित्येव विधुना । ते उभे तु सरिच्छ्रेष्ठे लोकसूय्ये धम्वतुः ॥ २८ ॥

भगवान् विष्णु बोले—महेश्वर ! आप ब्रह्महत्याको नष्ट करनेवाली मेरी मधुर वाणी सुनें । यह शुभप्रद एवं पुण्यको बढ़ानेवाली है ।

यहसि पूव प्रयागमें मेरे अंशसे उत्पन्न 'योगशायी' नामसे विख्यात देवता हैं । वे अत्यन्त—विद्वान्मूर्तिपुत्र हैं । वहाँ उनका नित्य निवास है । वहीमे उनके दक्षिण चरणमें 'वर्णा' नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ नदी निकली है । यह सब पापोंको हरनेवाली एवं पवित्र है । वहाँ उनके वाम पादसे 'अस्मि' नामसे प्रसिद्ध एक दूसरी नदी भी निकली है । ये दोनों नदियाँ श्रेष्ठ एवं लोकसूय्य हैं ॥ २५-२८ ॥

ताभ्यां मध्ये तु यो देशस्तद्वेशं योगशायिनः । प्रैलोक्यप्रसरं तीर्थं सर्वपापमोचनम् ।
न तादृशोऽस्ति गगने न भूम्यां न रस्मानले ॥ २९ ॥

तत्रास्ति नगरी पुण्या ख्याता पारान्तसी शुभा । यस्यां हि भोगिनीऽपीता प्रयान्ति भरतो लयम् ॥ ३० ॥
विलासिनीनां रसानासनेन धुनिसुन्दरीनां लघुगुणयानाम् ।
शुचिसरत्थं गुरयो निराभ्य हास्यादशापन्न सुदुर्मुस्तान् ॥ ३१ ॥
मज्जतु योषित्तु चतुष्पापेषु पदान्यलकारगणितानि दृष्ट्वा ।
ययौ शरीरं विसर्पमेव यस्यां क्लिप्तं प्रयाता म्बलपद्मिनीयम् ॥ ३२ ॥
तुहानि यस्यां सुरमन्दिरानि रन्ध्रानि चन्द्रं रजनीमुखेषु ।
दिव्यादि सूर्यं पयनान्दुनाभिर्दीर्घाभिर्यं सुपताक्षिणभिः ॥ ३३ ॥

उन दोनोंके मध्यका प्रदेश योगशायीका क्षेत्र है । वही तीनों लोकमें सर्वश्रेष्ठ तथा सभी पापोंमें सुदूर देनेवाला तीर्थ है । उसके समान अन्य कोई तीर्थ आकरा, पृथ्वी पर रस्तानमें नहीं है । इस ! वहाँ पवित्र शुभप्रद विख्यात पारान्तसी नगरी है, जिसमें भोगी लोग भी आरके लोकसे प्राप्त करते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके वेदध्वनि विद्वान्मूर्ति विद्योकी कल्पनीय ध्वनिसे मिश्रित होकर मङ्गल स्वरका रूप धारण करती है । उस ध्वनिको सुनकर सुकृदन् बारंबार उपासार्थक उनका शस्त्र करते हैं । जहाँ वीरशैल ध्वज करनेवाली शिवीक, अन्त

एतेषमुक्तो गणद्वयजेन मृगपत्ररत्न शिरसा प्रणम्य ।
 जगाम श्वाद् गहरो यथाऽपी गणालतीं गणामोचनाय ॥ ४० ॥
 गत्या सुपुण्या नगरां सुतीर्थो दृष्ट्वा च लोल सद्गामोचनेभम् ।
 स्नाया च तीर्थेषु विमुक्तपाप स केशरं ब्रह्ममुपाजगाम ॥ ४३ ॥

केशर शकरो दृष्ट्वा प्रणियायेदमजरीत् । तत्र प्रसादाद् इत्येकेण प्रपद्या मय गता ॥ ४१ ॥
 नेद् कपालं देवेश मन्त्रस्त परिमुञ्चति । कारण वेष्टि न च तदेतमे यस्तुनर्हसि ॥ ४१ ॥

भगवान् विष्णुक पेशा उद्घनेपर गिवजीने उर्दे मद्राफ पुत्ररत्न प्रगाम शिरा । शिरा ने गण सुद नर शिरो
 मद्राफ समान तेज नेमे शारङ्गी गये । वहाँ परमपत्रि तथा तीर्थभूत नगरीमें जाकर दशद्वन्द्वेभ मय 'अथा' मन्त्रने
 स्थित भगवान् लोचर्कना' दर्शन किया तथा (वहीक) तथामि स्नान कर और गण-मुक्त होकर ३ (बहगा
 साम्भार) कदावना दर्शन करने गये । उर्होंने केशरना दर्शन करक प्रगामकर कहा—'इत्येकेण' अर्थात्
 धमादसे ब्रह्मदत्त्या तो ना हो गया पर देवेश । यह कपाल मरे हाथको नहीं गेद । हा ई । इस गण । मे
 नहीं जानता । अत ही मुझे यह रत्न करने हैं ॥ ४२-४१ ॥

पुलस्त्य वचन

महादेवच ध्रुवा केशया पात्रयमधवीत् । विचये कारण मद्र तरसरो कथयामि ते ॥ ४६ ॥
 योऽसौ ममाप्रतो दिव्यो हृद् पश्रोत्पल्यैतु । एष तीर्थवर पुण्यो देवगर्धरपूजित ॥ ४७ ॥
 पतसिन्धुचरे तीर्थे स्नान शंभो समाचर । स्नातमाप्रस्य गाधैव कपाल परिमोक्षयति ॥ ४८ ॥
 तत्र कपाली लोके च स्थाना मद्र भविष्यति । कपालमोचनेयेषु तीर्थे चेद् भविष्यति ॥ ४९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवना वचन सुनकर स्नान यह ३ कर रहा—'हृद्' । इस समान शरगैरे
 मे तुम्हें बताया है । मेरे सामन मन्त्रोंसे भा यह जो दिव्य सरोवर है, यह पत्रि तथा तारामि श्रेष्ठ है एव
 दवताओं तथा गणोंसे पूजित है । गिवजा' । 'त इम परम श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करे । स्नान करनेपरने आज ही
 यह कपाल (नापक हाथको) उर्दे मय । इसी उद् 'साम्भार' आप 'रत्न ग' न ममे प्रमिद हो । त्ना वद
 तीर्थ भा 'कपालमोचन' नामने प्रसिद हो' ॥ ४६-४९ ॥

पुलस्त्य वचन

एवमुक्त्वा सुरेदोन केशवेन महेश्वर । कपालमोचने सस्ना यदाकत्रिधिता मुने ॥ ५० ॥
 स्नातस्य तीर्थे त्रिपुरान्तकस्य परिच्युत हस्तत्रलात् कपालम् ।
 साम्भार ब्रह्मनाथ कपालमोचन तत्तीर्थपर्यं भगवत्प्रसादात् ॥ ५१ ॥
 ॥ इति धीधामनपुराणे मृगीयोप्याय ॥ ३ ॥

पुलस्त्यजी बाल—मुन । सुरेशर मन्त्रक पेशा उद्घनेपर महेश्वरने कपालमोचनतीर्थमें नेगेद विरसि
 स्नान किया । उस तीर्थमें स्नान करते हा उनर हाथसे ब्रम रत्न गण फिर गया । तनामे भगवत्की श्रुतमे उस
 उत्तम तीर्थना नाम 'कपालमोचन' पडा' ॥ ५०-५१ ॥

॥ इस प्रकार धीधामनपुराणमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१-उर्दे' इके सङ्ग्रहमें विशेष बनकारीके शिरो देविद मद्राफके ३०८ वें म ३१०वें पृष्ठपर प्रामादित विवरण ।
 २-कपालमोचन तीर्थ काशीके परिसरमें बरिदानुग्रहमे श्रीमन्तर लिखते हैं । इस मद्राफमें दृष्ट्वा तीर्थक ७०१३४ ।

[अथ चतुर्थोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एवं कपालां वंजाता देव्यै भगवान्हरः । अनेन कारणेनासौ दक्षेण न निमन्त्रितः ॥ १ ॥
 कपालिजायैति सतीं विजाप्याथ प्रजापतिः । यत्ने चार्हापि दुहिता दक्षेण न निमन्त्रिता ॥ २ ॥
 एतस्मिन्नन्तरं देवीं द्रष्टुं गौतमतन्दिनी । जया जगाम शैलेन्द्रं मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ ३ ॥
 नामागतां सतीं दृष्ट्वा जयामेकामुवाच ह । किमर्थं विजया नागाजयन्ती चापराजिता ॥ ४ ॥

चौथा अध्याय प्रारम्भ

(विजयाकी मौसी सतीसे दक्ष-यज्ञकी चार्ती, सतीका प्राण-त्याग; शिवका क्रोध

एवं उनके गणोंद्वारा दक्ष-यज्ञका विध्वंस)

पुलस्त्यजी बोले—श्वरें ! भगवान् शिव इस प्रकार कपाली नागसे ख्यात हुए और इसी कारण वे दक्षके द्वारा निमन्त्रित नहीं हुए । प्रजापति दक्षने सतीको अपनी पुत्री होनेपर भी कपालीकी पत्नी समझकर निमन्त्रणके योग्य न मानकर उन्हें यज्ञमें नहीं बुलाया । इसी बीच देवीका दर्शन करनेके लिये गौतम-पुत्री जया सुन्दर गुहावाले पर्वतश्रेष्ठ मन्दरपर गयी । जयाको वहां अकेली आयी देखकर सती बोली—विजये ! जयन्ती और अपराजिता यशं क्यों नहीं आयी ? ॥ १-४ ॥

सा देव्या वचनं श्रुत्वा उवाच परमेश्वरीम् । गता निमन्त्रिताः सर्वा मत्वे मातामहस्य ताः ॥ ५ ॥
 समं पित्रा गौतमेन मात्रा चैवाप्यहस्यया । अहं समागता द्रष्टुं त्वां तत्र गमनोत्सुका ॥ ६ ॥
 किं त्वं न व्रजसे तत्र तथा देवो महेश्वरः । नामन्त्रिताऽसि तातेन उताहोस्विद् व्रजिष्यसि ॥ ७ ॥
 गतास्तु नृपयः सर्वे ऋषिपत्न्यः सुरास्तथा । मातृष्वसः शशाङ्कश्च सपत्नीको गतः क्रतुम् ॥ ८ ॥
 पतुर्वशेषु लोकेषु जन्तवो ये चराचराः । निमन्त्रिताः क्रतौ सर्वे किं नासि त्वं निमन्त्रिता ॥ ९ ॥

देवीके वचनको सुनकर विजयाने उन सती परमेश्वरीसे कहा—अपने पिता गौतम और माता महल्याके साथ वे मातामहके सत्र-(यज्ञ)-में निमन्त्रित होकर चली गयी हैं । वहां जानेके लिये उत्सुक मैं आपसे मिलने आयी हूँ । क्या आप तथा भगवान् शिव वहां नहीं जा रहे हैं ? क्या पिताजीने आपको नहीं बुलाया है ? अथवा आप यहाँ आयेगी ? सभी ऋषि, ऋषि-पत्नियों तथा देवगण वहाँ गये हैं । हे मातृष्वसः (मौसी) ! पत्नीके सहित शशाङ्क भी उस यज्ञमें गये हैं । चौदहों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी उस यज्ञमें निमन्त्रित हुए हैं । क्या आप निमन्त्रित नहीं हैं ? ॥ ५-९ ॥

पुलस्त्य उवाच

जयायास्तद्वचः श्रुत्वा यज्ञपातसमं सती । मन्युनाऽभिप्लुता ब्रह्मन् पञ्चत्वमगमत् ततः ॥ १० ॥
 जया तुतां सतीं दृष्ट्वा क्रोधशोकमिन्दुता । मुञ्चन्तां वारि नेत्राभ्यां सस्वरं विललाप ह ॥ ११ ॥
 धाक्रन्दितध्वनिं श्रुत्वा शूलपाणिखिलोचनः । वाः किमेतदिनोन्व्युजत्वा जयाभ्याशमुपागतः ॥ १२ ॥
 पागतां दृष्ट्वा देवीं स्तनाभिर वचरपतेः । रुक्तां परशुना भूमौ श्लथ्याज्ञां पतितां सतीम् ॥ १३ ॥
 देवीं निरपितां दृष्ट्वा जयां पप्रच्छ शंकरः । किमियं पतिता भूमौ निरुक्तेव लता सती ॥ १४ ॥
 सा शंकरस्यतः श्रुत्वा जया वचनमवगान् । श्रुत्वा मलय्या दक्षस्य भगिन्यः पतिभिः सह ॥ १५ ॥
 आश्रित्यापान्क्तिमोक्त्वा गमं शकादिभिः सुरैः । भानृष्वन्ता विपन्नेयमन्तर्दुःखेन दृश्यती ॥ १६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—श्वरें ! (नागजी !) यज्ञरतके समान जयाकी उस बातको सुनकर क्रोध एवं दुःखसे

भरकर सतीने प्रश्न हीरे दिये । सतीको गये हुए देवगण क्रोध एवं दुःखसे भरी जया शूल पाणि ब्रह्मन् के लिये

करने लगीं । रोनेकी करुणध्वनि सुनकर शूड्यागि भगवान् शिव 'अरे क्या हुआ, क्या हुआ'—ऐसा कहकर उसके पास गये । वहाँ पहुँचकर उन्होंने फरसेसे कटी वृक्षर चढ़ी ल्यायी तरह सर्गको भूमिर मरी पड़ी देखा तो जयासे पूछा—ये स्त्री कटी ल्यायी तरह भूमिर क्यों पड़ी हुई है ! शिवने बचनको सुनकर जया बोले—हे बिलोकेश्वर ! दशके यज्ञमें अपने-अपने पतिके साथ बहनोंका एवं इन्द्र आदि देवोंके साथ आदिना निमन्त्रित होकर उपस्थित होना सुनकर आन्तरिक दु:ख (की आला) में दग्ध हो गयी । इनमें मेरी मांगरी बहन (स्त्री)के प्राण निकल गये ॥ १०—१६ ॥

पुलस्त्य वचन

एतच्छ्रुत्या यचो रीद्रं यद्रः क्रोधाच्छ्रुतो धमौ । मुन्दस्य सनगात्रेभ्यो निघेष्टः सहस्राविंशः ॥१७॥
 ततः क्रोधात् त्रिनेत्रस्य गात्रोमोद्भवा मुने । गणाः सिद्धमुपा जाता चाग्भद्रपुरोगमा ॥१८॥
 गणैः परिप्लुतस्तस्मान्मन्दराद्धिमत्साहयम् । गतः कनकलं तस्माद् यत्र दशोऽयज्ञान् क्रतुषु ॥१९॥
 ततो गणानामधिपो वीरभद्रो महाबलः । दिशि प्रतीच्युस्तरायां तस्य द्यूत्थपं मुने ॥२०॥

पुलस्त्यजीने कहा—जयाके इस भयंकर (अगङ्गल) बचनको सुनकर शिवकी अत्यन्त मुद हो गये । उनके शरीरसे सहस्रा अगिनकी तेज आलाएँ निकलने लगीं । मुने ! इसके बाद शीरके कारण त्रिनेत्र भगवान् शिवके शरीरके लोमोंसे सिद्धके समान सुनगले वीरभद्र आदि बहुतसे इन्द्रग उपन हो गये । अपने गणोंसे चिरे भगवान् शिव मंदर पर्वतसे हिमालयपर गये और वहाँसे कनकल चले गये, जहाँ दश यज्ञ कर रहे थे । इसके बाद सभी गणोंमें अग्रणी महाबली वीरभद्र शूड धारण क्रिये पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें चले गये ॥ १७—२० ॥

जया क्रोधाद् गदां गृष्ट पूर्वदक्षिणतः स्थिता । मध्ये त्रिशूलवृक् शर्वस्तस्यौ क्रोधाग्महामुने ॥२१॥
 मृगाश्रियदनं द्यूा देवाः शक्रपुरोगमाः । श्रवयो यज्ञगन्धर्वाः किमिदं त्विन्यचिन्तयन् ॥२२॥
 ततस्तु धनुस्वाय शशांश्चाशीवियोगमान् । द्वारपालस्तदा धर्मो वीरभद्रमुपाद्रवन् ॥२३॥
 तमापतन्तं सहसा धर्म द्यूा गणेश्वरः । करेणैकेन जप्राह त्रिशूलं पदिसन्निभम् ॥२४॥
 कामुकं च क्षितीयेन एतांवेनाय मार्गणान् । चतुर्येन गदां गृष्टा धर्ममप्यद्रवन् गणः ॥२५॥

महामुने । क्रोधसे गदा लेकर जया पूर्व-दक्षिण दिशा (अग्निरोग) में गङ्गाहो गया और मध्यमें क्रोधसे भरे त्रिशूल लिये शंकर खड़े हो गये । सिद्धवदन- (वीरभद्र-)को देखकर इन्द्र आदि देवता, ऋषि, यज्ञ एवं गन्धर्वदेव सोचने लगे कि यह क्या है ! तदनन्तर द्वारपाल धर्म धनुष एव सर्गके समान बागोंको लेकर वीरभद्र की ओर दौड़े । मरुता धर्मसे आता हुआ देवकर गणेश्वर एक हाथमें अग्निके सहस्र त्रिशूड, दूसरे हाथमें धनुष, तैमरे हाथमें बाण और चौथे हाथमें गदा लेकर उनकी ओर दौड़ पड़े ॥ २१—२५ ॥

ततश्चतुर्भुजं द्यूा धर्मराजो गणेश्वरम् । तस्यावष्टभुजो भूत्वा नानानुषयगोऽप्ययः ॥२६॥
 एतद्गर्भमगदात्मासपरच्छधरस्यकुशोः । चायमागोणवृत्तयौ हन्तुरागो गणेश्वरम् ॥२७॥
 गणेश्वरोऽपि संयुक्तो हन्तुं धर्मं सनातनम् । पर्यर्णं मार्गणांस्तीक्ष्णान् यया प्राचुरि तोपदः ॥२८॥
 तावन्वोम्यं महात्मानो शरत्चारधरो मुने । कथितकनकनि काशो त्रिशुणाश्रिय रंजनु ॥२९॥

इनके बाद धर्मराजने चतुर्भुज गणेश्वरको देव और नानाप्रकारके अन्न-शस्त्रोंमें सज्जित होकर अष्टभुजाओंको धारणकर उनकी सनना किया और गणोंके स्वामी वीरभद्रपर प्रहार करनेकी इच्छामें वे अपने हाथमें दाव, तलवार, गदा, भाला, फरसा, अजुना, धनुष एवं बाण लेकर खड़े हो गये । गोधर वीरभद्र की अत्यन्त मुद होकर

काको भाग्येके, जिने वाग्वर्कक मेवके, मरुत उनके उभय वाणोंकी बर्षा करने लगे । मुने ! अनुपको जिये
 र्शितो वरुण (अन्वय) काउ शरीरवन्दे ने दोनों महात्म्य यज्ञ-पुष्पके समान दीखने लगे ॥ २६--२७ ॥

ततो वगस्त्रैर्गणनायकेन जितः स धर्मः तरसा प्रसह्य ।

परादमुखोऽमूर्द्धमना मुनीन्द्र स वीरभद्रः प्रविंश यज्ञम् ॥ ३० ॥

यज्ञघातं प्रनिवृत्तं तं वीरभद्रं गणेश्वरम् । इन्द्रा तु सहसा देवा उत्तस्थुः सायुधा मुने ॥ ३१ ॥

यमयोऽष्टौ महाभागा प्रजा तत्र सुदारुणाः । रन्द्राद्या द्वादशादित्या रन्द्रास्त्वेकादशैव हि ॥ ३२ ॥

विद्येदेवाद्य साव्याद्य सिद्धगन्धर्वपन्नगः । यक्षाः किंपुरुषादथैव जनाश्चक्रधरास्तथा ॥ ३३ ॥

राजा वैवस्वनाद् वंशाद् धर्मकीर्तिस्तु विभ्रुतः । सामवंशोद्भवश्चोप्रा भोजकीर्तिर्महासुजः ॥ ३४ ॥

दिग्निजा दानवाश्चान्ये येऽन्ये तत्र समागताः । ते सर्वेऽभ्यद्रवन् रौद्रं वीरभद्रसुदायुधाः ॥ ३५ ॥

मुनिराज ! इसके बाद श्रेष्ठ शरणाओंके कारण श्रीगणेशने पराजित होकर यमराज मिल होकर पीछे
 हट गये । इस वीरभद्र यज्ञशालामें घुस गये । मुने ! गणेश वीरभद्रको यज्ञमण्डपमें घुसने देवकर सहसा सभी
 देवता अशु-शरु लेकर उठ खड़े हुए । महाभाग आठों यमु, अत्यन्त दारुण नरों प्रह, इन्द्र आदि दिक्पाल, द्वादश
 आदित्य, प्वादश रुद्र, विन्देदेव, साव्याग, सिद्ध, गन्धर्व, पन्नग, यक्ष, किंपुरुष, विहंगम, चक्रधर,
 वैवस्वत-वंशीय प्रसिद्ध राजा धर्मकीर्ति, चन्द्रवंशीय महाबाहु, उप बलशाली राजा भोजकीर्ति, दैन्य-दानव तथा यहाँ
 हुए अन्य सभी लोग आयु लेकर रौद्र वीरभद्रकी ओर दौड़ पड़े ॥ ३०-३५ ॥

तानापनत एवागु चापवाणधरो गणः । अभिदुद्राच वेगेन स्वानेव शरोन्करैः ॥ ३६ ॥

ते शस्त्रधर्मतुल्यं गणेशाय समुत्सृजन् । गणेशोऽपि वगस्त्रैस्तान् प्रविच्छेद् विभेद् च ॥ ३७ ॥

शरैः शस्त्रैश्च सततं बध्यमाना महात्मना । वीरभद्रेण देवाद्या अवहारमकुर्वन् ॥ ३८ ॥

ततो विंश गणयो यज्ञमध्यं सुविस्तृतम् । जुदाता ऋषयां यत्र हवींषि प्रविनन्वते ॥ ३९ ॥

अनुप-बाण धारण क्रिये गणोंने उन देवताओंके आने ही उनपर वेगपूर्वक शरोंद्वारा आक्रमण कर दिया ।
 इस देवताओंने भी वीरभद्रके ऊपर अनुपनीय वाणोंकी बर्षा की । गणनायक वीरभद्रने देवताओंके अक्रोंको छिन्न-
 भिन्न कर डाला । महात्मा वीरभद्रद्वारा विविध वाणों और अश्रोंने आहत होकर देवता आदि रणभूमिमें भाग चले ।
 अब पराजित वीरभद्र सुविस्तृत यज्ञके मध्यमें प्रविष्ट हुए, जहाँ मुनिगण यज्ञकुण्डमें हवीकी आहुति दे रहे थे
 ॥ ३६-३९ ॥

ततो महर्षयो हृष्ट्या नृगेन्द्रचदनं गणम् । भीता होत्रं परिन्वय्य जग्मुः शरणमच्युतम् ॥ ४० ॥

तानानांशक्रावृद् हृष्ट्या महर्षीस्त्रस्तमानसान् । न मेतव्यमितीत्युक्त्वा समुत्सृशौ वरायुधः ॥ ४१ ॥

समानस्य ततः शार्ङ्गं शरानग्निशिखानोपमान् । मुमोच वीरभद्राय क्षायावरणदारुणान् ॥ ४२ ॥

ते नम्य प्रायमानाय भगोषा वै हरेः शराः । निपेतुर्भुवि भगनाशा नास्तिकादिव याचकाः ॥ ४३ ॥

जब वे महर्षि सिद्धमुनि वीरभद्रको देवकर भयमें हवन छोड़कर विष्णुकी शरणमें चले गये । चक्रधारी विष्णु
 महर्षि महर्षिोंके दृष्टी देवकर 'हरे मत' ऐसा कहकर अपने श्रेष्ठ अक्र लेकर खड़े हो गये और अपने शार्ङ्ग
 अनुपको वराहर वीरभद्रके ऊपर शरीरको विदीर्ण करनेवाले अग्निशिखाके तुल्य वाणोंकी बर्षा करने लगे । पर
 शरीरके ने बलवै (मरुत) बाण वीरभद्रके शरीरपर पड़चकर भी पृथ्वीपर ऐसे (यों ही व्यर्थ होकर)
 पड़े, जैसे कि पाचक नास्तिकके पासने निरुद्ध—निराश होकर लौट जाता है ॥ ४०-४३ ॥

शरणास्त्यमोऽप्राग्मोऽन्यमापनाचीक्ष्य वेदाय । दिष्टीरहैवीगभद्रं प्रच्छादयितुमुद्यत ॥ ४४ ॥
 तानप्राग्नास्तुदेवेन श्रिभाम्नाग्नतायक । याप्यामान दत्तेन गद्या मार्गोर्लम्बा ॥ ४५ ॥
 हृष्ट्या विपप्राग्यत्राणि गदा विक्षेप माधय । श्रिदत्तेन समाहृत्य पातयामान भूते ॥ ४६ ॥
 मुताल यामभद्राय प्रविशेप हत्यायुध । लङ्गलं च गणैःसोऽपि गद्या प्रत्ययाप्यत् ॥ ४७ ॥
 मुतालं मगद हृष्ट्या लङ्गलं च निशारितम् । वीरभद्राय विक्षेप चक्रं प्रोधात् स्वगजत्र ॥ ४८ ॥

येन (- यर्थ) बाणको व्यर्थ होने केकर भगवान् विष्णु पुन वरभद्रको दिव्य अस्त्रों से इन दोनके लिये तयार हो गये । वसुदेवक डार प्रयुक्त उन बाणको गणधेय गिरभद्रने झूट, गदा और बाणसे लेकर निकर कर दिया । भगवान् विष्णुने अपन अस्त्रोंको नष्ट होने देकर उमरा सोमेदकी गदा करी । विष्णु वरभद्रने उमे भी अपने विज्ञानसे वस्त्रक पूर्वीर तिर दिया । हत्यायुतने वरभद्रकी ओर मूला और हत्यायुतने उमे भी अपने वरभद्रन गदासे निकरित कर दिया । गदाक मद्रित मूला और हत्यायुतने नष्ट हुआ देकर वस्त्रकन विष्णुने उमेसे वरभद्रक ऊपर मुदूर्जनचक्र कर दिया ॥ ४४-४८ ॥

तमापतन्त शतसूर्यसत्या मुदूर्जान वीक्ष्य गणेश्वरस्तु ।
 दूरा पस्वित्यज्य उग्रह चक्र यथा मयुं मौनवपु सुदृष्ट ॥ ४९ ॥
 चक्रे निर्गीणं गलनायथेन प्रोधानिरलोऽमितबाग्नेत्र ।
 मुरारिरभ्येय गणाधिपेन्द्रमुक्षिप्य वंगदा भुवि निशिपेर ॥ ५० ॥

हृषियाह्वर्यमेन त्रिनिर्गपटम्य भूतले । सहितं वधिगोद्वारसुंस्वाच्चक्रं चिनिर्गतम् ॥ ५१ ॥
 ततो निवृत्तमालाक्य चक्र वैडभनादान । समादाय हृषीकेशो वीरभद्रं मुमोच ह ॥ ५२ ॥

उमेकर गिरभद्रन मद्रको मूर्यके मद्रा मुदूर्जन चक्रको अगरी ओर आने देकर हो झूटको छोड़कर चक्रको उमे से निकर तिर उमे मीनवपुगीरामी विष्णु मसुदूर्जको निकर गये थे । वरभद्रका चक्र निकर त्रिने जनेकर विष्णुक गुरर सान नर सोमेसे कर हो गये । वे उमेके निकर पहुँच गये और उमे वेगसे उठा त्रिगत त । पूर्वीरक वस्त्रक उमे पीसने लगे । भगवान् विष्णुकी मुतायों और चक्रोंक प्रकल वेगसे मूलाके परके गये वीरभद्र मुक्के छीरकर पीहारेके साथ चक्र बहर निकर आया । चक्रको मुक्के निकर देकर भगवान् विष्णुने उमे ले लिया और वीरभद्रको छोड़ दिया ॥ ४९-५२ ॥

हृषीकेशेन मुनस्तु वीरभद्रो जटाधरम् । गन्या निन्दयामान धामुदेयात्पराजयम् ॥ ५३ ॥
 ततो जटाधरो हृष्ट्या गणेशो शोणितान्द्रुतम । नि श्वसन्तं यथा नामं प्रोधं चक्रे नदाप्ययः ॥ ५४ ॥
 ततः प्रोधाभिभूतेन वीरभद्रोऽप्य संमुना । पूर्वोद्दिष्टे तदा म्याने सायुधस्तु निवृत्तितः ॥ ५५ ॥
 वीरभद्रमवादिदय भद्रकाली च शंकरः । विवेरा प्रोधाप्राप्तो यत्रवाटं श्रिदुल्लभत् ॥ ५६ ॥
 ततस्तु देवयजरे जटाधरो त्रिदाल्पानौ त्रिपुगात्तपराणि ।
 दशम्य यत्तं विदति क्षयंकरे जानो श्रुतीनां प्रयत्ने हि मायम ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे वसुधैःष्यथ ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णुकाग ओड़ दिये जनेकर वीरभद्रने जटाधरीक दिवसे निकर कर वसुदेवके दुई अनी पात्रकक कर्षन किया । तिर वीरभद्रको तूले उमय तथा मूर्यके मद्राणि चक्र कर उन अल्प जटाकर (सकल) लेकर निकर । हरेके वद सोमेसे त्रिनिर्गये शंकरने अग-मद्रित वीरभद्रको परके वस्त्रके मन्तर बंध दिया । वे त्रिदुल्लभ

शंकर बीरभद्र तथा भद्रकालीको आदेश देकर क्रोधसे लाल आँखें किये यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए । त्रिपुर नामक राक्षसको मारनेवाले' उन त्रिशूलरामि त्रिपुरारि देवश्रेष्ठ जटाधरके दक्ष-यज्ञमें प्रवेश करते ही ऋषियोंमें भारी भय उत्पन्न हो गया ॥ ५३-५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

[अथ पञ्चमोऽध्यायः]

पुत्रस्य उवाच

जटाधरं हरिर्दृष्ट्वा क्रोधादारक्तलोचनम् । तस्मात् स्थानादपाकस्य कुञ्जाग्रेऽन्तर्हितः स्थितः ॥ १ ॥
चमयोऽष्टौ हरं दृष्ट्वा सुस्रुवुर्वेगतां मुने । सा तु जाता मरिच्छ्रेष्ठा सीता नाम सरस्वती ॥ २ ॥
पञ्चदश तथा गद्गास्त्रिनेत्रा वृषकेतनाः । कान्दिशीका लयं जग्मुः समस्येत्यैव शंकरम् ॥ ३ ॥
विद्वेऽद्विवनौ चसाध्याय्य मरुतोऽनलभास्कराः । समासाय पुरोडाशं भक्षयन्तो महामुने ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दक्ष-गणका पित्रंस, देवताओंका प्रतादन, शंकरके कालरूप और राश्यादि रूपोंमें स्वरूप-कथन)

पुत्रस्यजां योने—जटाधारी भगवान् शिवको क्रोधसे आँखें लाल किये देवकर भगवान् त्रिपुण्ड्र उस स्थानसे दृष्टकर मुन्नाम(श्रुतिदेव-) में छिप गये । मुने ! क्रुद्ध शिवको देवकर आठ वसु तेजीसे पिचलने लगे । इस कारण वहाँ सीता नामकी श्रेष्ठ नदी प्रवाहित हुई । वहाँ पूजके लिये स्थित त्रिनेत्रधारी ग्यारहों रुद्र भयके मारे डर-डर भागते हुए शंकरके निकट जाकर उनमें ही लीन हो गये । महामुनि नारद ! शंकरको निकट जाते देव त्रिवेदेश्यगा, अश्विनीकुमार, सायवृन्द, वायु, अग्नि एवं सूर्य पुरोडाश खाते हुए भाग गये ॥ १-४ ॥

चन्द्रः सममृक्षगर्जनिर्जां समुपदर्शयन् । उत्पत्याकृत्य गगनं स्वमधिष्ठानमास्थितः ॥ ५ ॥
कश्यपाद्याद्य प्रसूययो जपन्तः शतमद्रियम् । पुण्याअलिपुत्रा भूत्वा प्रणताः संस्थिता मुने ॥ ६ ॥
बसहृद् दक्षदयिता दृष्ट्वा रुद्रं चलाधिकम् । शक्रादीनां सुरेशानां कृपणं विललाप ह ॥ ७ ॥
ततः क्रोधाभिभूतेन शंकरेण महात्मना । तत्प्रहारैरमरा बहयो विनिपातिताः ॥ ८ ॥

किर तो ताराओंके साथ चन्द्रमा रात्रिको प्रकाशित करते हुए आकाशमें ऊपर जाकर अपने स्थानपर स्थित हो गये । इधर कश्यप आदि ऋषि शतहरियन्(मन्त्र-) का जप करते हुए अन्नन्निमें पुण्य लेकर विनीतभावसे बंधे हो गये । इन्द्रादि सभी देवताओंमें अधिक बड़ी रुद्रको देवकर दक्ष-पत्नी अत्यन्त दीन होकर बार-बार करुण विचार करने लगी । इधर क्रुद्ध भगवान् शंकरने गणकोंके प्रहारसे अनेक देवताओंको मार गिया ॥ ५-८ ॥

पादमहारिण्यरे त्रिशूलनारं मुने । दृष्टवग्निना नर्षयान्ये देवाद्याः प्रलयीकृताः ॥ ९ ॥
ततः पूया हरं गीह्य गिनिज्जन्तं मुगमुगन् । क्रोधाद् बाह प्रमार्याथ प्रदुद्राय महेश्वरम् ॥ १० ॥
गनापगन्तं भगवान् संनिर्वाह्य त्रिगोचनः । बाहुभ्यां प्रतिजघाह करुणैकेन शंकरः ॥ ११ ॥
कगन्त्यां मरुहृत्वरय शंभुनांशुमनोऽपि हि । द.राहुतिलभ्यां निद्वेऽहरसुधागाः समन्ततः ॥ १२ ॥

मुने ! शंकरने इन्में प्रहार हुन आकाशमें गेने प्रारम्भे, कुलको त्रिशूलसे और कुलको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निद्वारा मार दिया । उनके बाद देव एवं अशुभका संहाय करने हुए शंकरको देवकर पूषादेवता (अत्यन्त

सूर्य) कोधपूर्वक दोनों बाहोंको फैलाकर शिवजीकी ओर दौड़े । विलेचन दिखने उन्हें अपनी ओर आते देन एक ही हाथसे उनकी दोनों मुजाओंको पकड़ लिया । शिवद्वारा सूर्यके पकड़ी गयी दोनों मुजाओंकी अङ्गुलियोंसे चारों ओर रक्तकी धारा प्रवाहित होने लगी ॥ १-१२ ॥

ततो घेगेन महता शंशुमन्तं दियाकरम् । भ्रामयामास स्वतंतं सिद्धो मृगशिरुं यथा ॥ १३ ॥
 धामिनस्यातिवेगेन नारदांशुमनोऽपि हि । भुजी द्वस्त्वमापग्नौ वृष्टिनस्नायुष्यधनौ ॥ १४ ॥
 रथिराप्नुतसर्वाङ्गमंशुमन्तं महेश्वरः । संनिरिक्ष्योत्सस्त्रैर्जनमन्यतोऽभिजगाम ॥ १५ ॥
 ततस्तु पूषा विहसन् दशानानि विदरांयन् । मोरानैष्टेहि कापालिन् पुनः पुनर्येदरम् ॥ १६ ॥

किर मगधान् शिव दिवाकर मूर्धदेवके अत्यन्त वेगसे घुमाने लगे जैसे मिर्हि हिरण-शायकरके घुमाना (दोषाना) है । नारदजी । अत्यन्त वेगसे घुमाये गये सूर्यकी मुजाओंके स्नायुकर टूट गये और वे (स्नायुरं) बहुत ट्रेगे—नष्टप्राय हो गयीं । मूर्धके सभी अङ्गोंको रक्तसे लपप देवकर उन्हें छेड़कर शंकरकी दूसरी ओर चले गये । उसी समय हैंसते एवं दौंन दिखाने हुए पूषा देवता (बारह आदित्योंमेंसे एक सूर्य) कहने लगे—ओ कापालिन् ! आओ, ह्वर आओ ॥ १३-१६ ॥

ततः श्रोधाभिभूतेन पूषो घेगेन शंशुना । मुष्टिनाहत्य दशानाः पातिता धरणांतले ॥ १७ ॥
 भ्रमदन्तस्ताथा पूषा शोणिताभिप्लुताननः । पपात भुवि निःसंशो यज्राहत इयान्चलः ॥ १८ ॥
 भगोऽभिर्धाय्य पूषाणं पतितं रथिपोक्षितम् । नेत्रार्थ्यां घोररूपाभ्यां शृण्वन्नमनेक्षत ॥ १९ ॥
 त्रिपुरध्नस्ततः मृदस्तलेनाहत्य चक्षुषी । निपातयामास भुवि क्षोभयन्सर्वदेयताः ॥ २० ॥

इसपर मृदु हठने वेगपूर्वक मुक्कंसे मारकर पूषाके दौंनोंको धरतीपर गिरा दिया । इस प्रकार दौंन टूटने एव रक्तसे लपप होकर पूषा देवता बरमे नष्ट हुए पर्यन्तके समान बेहोश होकर घूर्णीपर गिर पड़े । इस प्रकार गिरे हुए पूषाको रथिरसे षपप देखकर मग देवता (तृतीय सूर्यभेद) भयंकर नेत्रोंसे शिवजीको देखने लगे । इससे मृदु त्रिपुराण्तक दिखने सभी देवताओंको क्षुब्ध करते हुए हथेलीसे पीटकर भगती दोनों आँखें पृथ्वीपर गिरा दीं ॥ १७-२० ॥

ततो दियाकराः सर्वे पुरस्ठत्य शतकतुम् । मरुदभिष्य हुताशौष्य भयाञ्जमुर्दिनो द्वा ॥ २१ ॥
 प्रतिपातेषु देवेषु प्रह्लादाया द्वितीध्वराः । नमस्तुत्य ततः सर्वे तस्युः प्राञ्चलयो मुने ॥ २२ ॥
 ततस्तं यज्ञघाटे तु शंकरो घोरचक्षुषा । ददर्श दग्धुं कोपेन सर्गोदचैव सुगसुरान् ॥ २३ ॥
 ततो निलिहियरे धीराः प्रणेमुर्दुदुस्तथा । भयादग्ये हरं दृष्ट्वा गता यैवम्वनक्षयम् ॥ २४ ॥

किर क्या था ! सभी दसों सूर्य इन्द्रको आगे कर मरुद्गों तथा अग्निपोक साथ भयसे दसों दिशाओंमें भाग गये । मुने ! देवताओंके चले जानेपर प्रह्लाद आदि दैत्य महेश्वरको प्रमाणकर अत्रिदि बौधकर गढ़े हो गये । इसके बाद शंकर उस यज्ञमण्डपको तथा सभी देवसुहृदोंको दग्ध करनेके लिये कोमर्ग घोर दृष्टिसे देखने लगे । ह्वर दूसरे वीर महादेवको देखकर भयसे जहाँ-तहाँ छिग गये । कुछ लोग प्रमाण करने लगे, कुछ भाग गये और कुछ तो भयसे ही संघे यन्पुरी पहुँच गये ॥ २१-२४ ॥

त्रयोऽक्षयस्त्रिभिर्नैर्दुःसहं स्वमपैक्षत । दृष्टमायास्त्रिनेत्रेण भर्साभूताभयन् सज्गान् ॥ २५ ॥
 अग्नौ प्रणष्टे यज्ञोऽपि भूत्या दिव्ययसुर्मंगः । दुद्राय विकल्पगानिर्दक्षिणासहितोऽम्बरे ॥ २६ ॥

नमैवानुसमन्विताश्चावमानस्य वेगवान् । शरं पाशुपतं कृत्वा कालरूपी महेश्वरः ॥२७॥
 अङ्गेन यथाद्यात्तं जटाधर इति श्रुतः । अङ्गेन गगने शर्यः कालरूपी च कथ्यते ॥२८॥

मिः भगवान् शिखरे अङ्गेने तीनों नेत्रोंमें तीनों अक्षियों- (आकर्षणीय, गार्हपत्य और शाल्यक्षियों-) को देखा । उनके चरणों ही में अक्षियों क्षयमानमें नष्ट हो गयीं । उनके नष्ट होनेपर यज्ञ भी मृगता शरीर धारण कर आकाशमें दक्षिणाके साथ नीजगतिमें भाग गया । कालरूपी वेगवान्, भगवान् शिव धनुष्को युक्ताकर उत्तर पाशुपत शयन स्थानकर उन मृगके पीछे दौड़े और आगे रूपमें तो जटाधारामें स्थित हुए जिनका नाम 'जटाधर' पड़ा । शर आगे दमरूपमें वे आकाशमें स्थित होकर 'काल' कहलाये ॥ २५-२८ ॥

नारद उवाच

कालरूपी न्ययात्प्रातः संभुर्गगनगोचरः । लक्षणं च स्वरूपं च सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥२९॥

नारदजी बोले - (मुने !) आगे आकाशमें स्थित शिवको कालरूपी कहा है । आप उनके सम्पूर्ण रूप और लक्षणोंको भी व्याख्या कर दें ॥ २९ ॥

पुत्रस्य उवाच

स्वल्पं त्रिपुराजस्य नद्विभे कालरूपिणः । येनाम्वरं मुनिश्रेष्ठ व्याप्तं लोकहितेषुना ॥ ३० ॥
 यथाशिवनी च भर्णी कृत्तिकायास्तथाशकः । मेघो राशिः कुजक्षेत्रं तच्छिरः कालरूपिणः ॥ ३१ ॥
 जान्नेयांशास्त्रयो प्रथमं प्राजापत्यं फलं गृहम् । सौम्याहं वृषनामदं वदतं परिकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
 मृगालंमार्द्रादिन्याशांस्त्रयः सौम्यगृहं त्विदम् । मिथुनं भुजयोस्तस्य गगनम्यस्य शूलिनः ॥ ३३ ॥

पुत्रस्यर्जुनेकदा—तुमिह ! मैं त्रिपुरको मारनेवाले कालरूपी उन संकरके स्वरूपको (वास्तविक रूपको) बतलाता हूँ । उन्होंने 'मेघ' भवद्वीकी शिरमें ही आकाशको व्याप्त किया है । सम्पूर्ण अश्विनी तथा मृगी महाश्र एवं कृत्तिकाके एक चरणमें एक भौतका क्षेत्र मेघ गति ही कालरूपी महादेवका मित्र कटी गयी है । 'इन्द्र' ! तनी प्रकार कृत्तिकाके तीन चरण, सम्पूर्ण मेघिणी नक्षत्र एवं मृगशिराके दो चरण, यह युक्तीकृत गृह गति ही उनका भूगर्भ है । मृगशिराके मेघ दो चरण, सम्पूर्ण अर्द्रा और पुनर्वसुके तीन चरण बुधकी (प्रथम) निर्वासन स्थित राशि आकाशमें स्थित शिवकी दोनों भुजाएँ हैं ॥ ३०-३३ ॥

आश्विन्यांशरं पुष्यं च आश्लेषाशशितो गृहम् । राशिः फल्गुको नाम पाश्ये मत्वचिनाशिनः ॥ ३४ ॥
 पिष्यर्धो भगवन्तस्यमुनांशद्वयं फल्गुः । सूर्यक्षेत्रं चिभोऽंशान् हृदयं परिगीयते ॥ ३५ ॥
 उत्तमं गगनप्रयः पार्श्वदिश्वप्रापे फल्गुश त्विदम् । सोमपुत्रस्य मद्मेतद् द्वितीयं जटारं विभोः ॥ ३६ ॥
 त्रिप्रांशान्शतयं गानिदिशायायांशकप्रथमम् । द्वितीयं युक्तावदतं तुवा नाभिरुदाहता ॥ ३७ ॥

मैं प्रथम पुनर्वसुका शिवकी कला, सम्पूर्ण पुनर्वसु और अश्लेषा नक्षत्रोंके चन्द्रमाका क्षेत्र फल्गु गति आश्लेषाका शरके क्षेत्रोंके शरके चरण है । 'इन्द्र ! सम्पूर्ण मृग, सम्पूर्ण पूर्वकाशुनी और उत्तरा-काशुनीका प्रथम चरण, मृगीके मित्र गति आश्लेषा हृदय कटी गयी है । उत्तमकाशुनीके तीन चरण, सम्पूर्ण इन्द्र नक्षत्र एवं शिवके दो चरण बुधकी द्वितीय गति, फल्गु गति संकरका जटार है । चित्राके क्षेत्र दो चरण, मृगीके चरण दो चरण आश्लेषाके क्षेत्र चरणमें युक्त युक्ता दमरा क्षेत्र युक्त गति महादेवकी शरके है ॥ ३४-३७ ॥

विशाखांशमनुगथा ज्वेष्टा भीमगृहं त्रिदम् । द्वितीयं गृहियको गशिर्मदं कालस्वरूपिण ॥ ३८ ॥
 मूलं पूर्वोत्तरांशान्न देवाचार्यगृहं धनुः । ऊरुयुगलमीशस्य अमरं प्रगायते ॥ ३९ ॥
 उत्तरांशाम्भयो ऋशं धयणं मरुगं मुने । धनिष्ठार्थं शनिसेत्रं जानुनी परमेष्ठिनः ॥ ४० ॥
 धनिष्ठार्थं शनिभिया प्रौष्ठपदांशप्रथमम् । गौंरिः सप्तारमिदं कुम्भो जहं न विभुते ॥ ४१ ॥

विशाखाका एक चरण, सम्पूर्ण अनुगथा और ज्वेष्टा नक्षत्र, मङ्गलक द्वितीय क्षेत्र वृहियर राशि काठकपी मन्दादेवका उपस्थ है । सम्पूर्ण मूल, पूरा पूर्वाश्रद और उत्तराश्रदकी प्रथमचरणवर्ग धनु राशि जे वृहस्वमिना क्षेत्र है, महेश्वरके दोनो ऊरु है । मुने ! उत्तराश्रदके क्षेत्र तीन चरण, सम्पूर्ण श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठार्थ दो पूर्व चरणकी मकर राशि शनिका क्षेत्र और परमेष्ठी महेश्वरके दोनो मुने है । धनिष्ठार्थके दो चरण, सम्पूर्ण शनिभिय और पूर्व भाद्रपदके तीन चरणवर्ग कुम्भ राशि शनिका द्वितीय गृह और शिवकी दो जवाएँ हैं ॥ ३८-४१ ॥

प्रौष्ठपदांशमेकं तु उत्तरा रेवती तथा । द्वितीयं जारमदनं मानस्तु धरणागुभौ ॥ ४२ ॥
 एयं हृत्या कालरूपं त्रिनेत्रो यतं प्रोधागमार्गैराजधान ।
 विद्वद्गामौ घेनानुद्विमुक्तः ये संतस्तौ तात्कभिदिचताः ॥ ४३ ॥

पूर्वभाद्रपदके क्षेत्र एक चरण, सम्पूर्ण उत्तरभाद्रपद और सम्पूर्ण रेवती नक्षत्रोंका वृहस्वमिना द्वितीय क्षेत्र एव मान राशि उनके दो चरण हैं । इस प्रकार काठक्य चरणपर दिक्के शोधपूर्वक दृष्टिगन्तव्यकी दरजे बाणोंमे मारा । उनके बाद बाणोंसे विद्र होकर, किंतु वेदन की अनुपूर्ति न करना हुआ, यद् यद् तागतोंमे विरे शरीरवाला होकर आकाशमे स्थित हो गया ॥ ४२-४३ ॥

नारद उवाच

रादायो गदिता ध्रुवस्यया छाददा वै मम । तेषां विदोपनो बृहि लक्षणानि स्वरूपतः ॥ ४४ ॥
 नारदजीने कथा—नारद ! आपने मुझसे बारहों गणितोंका वर्णन किया । अब विदोप गणमे उनके स्वरूपक अनुसार उक्तगोत्रोंके वर्णन ॥ ४४ ॥

पुनराय उवाच

स्वरूपं तय पक्ष्यामि राशीना शृणु नारद । याददा यत्र संचार्य यस्मिन् मन्त्रे यमन्ति च ॥ ४५ ॥
 मेयः समानमूर्तिश्च अजायिकधनादिषु । संचारस्यानमेवास्य धान्यरक्षाभारदिषु ॥ ४६ ॥
 नयशास्त्रसंछन्नेयुधायां च मरुदाः । निष्य चरति कुन्त्येषु मरुतां पुच्छिनेषु च ॥ ४७ ॥
 वृषः सट्टारूपो हि घरते गोशुलादिषु । तस्याधियासभूमिस्तु कर्णायलधराध्रयः ॥ ४८ ॥

पुनरुच्यती दोले—नारदजी ! आपको मैं गणितोंका स्वरूप बताना है; मुनिये । वे जैसा हैं तथा जहाँ संचार और निवस करती हैं वही सभी वर्णित करता है । मेय राशि भेदक समान अक्षरवर्णी है । यरुगे, भेद, धन-धान्य एव रनाकरादि इसके संचार-स्थान हैं तथा नरदुर्बलसे आच्छादित समग्र पृथ्वी एव पुच्छि वनस्पतिवर्गेमे युक्त समेशोंके पुच्छिर्गोमे यद् निष्य सचरण करती है । वृषभक समान रूपयुक्त वृषगामि गोकुलद्विने विचरण करती है तथा वृषकोकी भूमि इसका निवस स्थान है ॥ ४५-४८ ॥

स्त्रीधुंमयोः समं रूपं दाप्यासनपरिग्रहः । योग्यायधुंम्युद्वि मुत्तुनं गीतनर्नरुदितिरिषु ॥ ४९ ॥
 म्पिनः श्रीङ्गारतिनिष्यं विहारायनिगम्य तु । मिथुनं नाम विरयानं शदिउष्मा मरुः म्पिनः ॥ ५० ॥

काकः कुलीरेण समः मलिलस्थः प्रकीर्तितः । केदारवापीपुलिने विविक्तावनिरेव च ॥ ५१ ॥
सिंहस्तु पर्वतारण्यदुर्गकन्दरभूमिषु । वसते व्याधपल्लीषु गङ्गरेषु गुहासु च ॥ ५२ ॥

मिथुन राशि एक स्त्री और एक पुरुषके साथ-साथ रहनेके समान रूपवाली है । यह शय्या और आसनोंपर स्थित है । पुरुष-स्त्रीके हाथोंमें कीया एवं (अन्य) वाद्य हैं । इस राशिका संचरण गानेवालों, नाचनेवालों एवं धिन्यियोंमें होता है । इस द्विवचन राशिके मिथुन कहते हैं । इस राशिका निवास क्रीडास्थल एवं विहार-भूमियोंमें होता है । कर्क राशि कैकडेके रूपके समान रूपवाली है एवं जलमें रहनेवाली है । जलसे पूर्ण क्यारी एवं नदी-नीर शय्या वाद्यका एवं एकान्त भूमि इसके रहनेके स्थान हैं । सिंह राशिका निवास वन, पर्वत, दुर्गमस्थान, कन्दरा, म्त्थोंके स्थान, गुहा आदि होता है ॥ ४९-५२ ॥

धूम्रप्रदीपिकाकरा नावास्त्रा च कन्यका । चरते स्त्रीरतिस्थाने वसते नड्वलेषु च ॥ ५३ ॥
तुल्यापाणिध पुत्रयो वीथ्यापणविचारकः । नगराध्वानशालासु वसते तत्र नारद ॥ ५४ ॥
भ्यध्रयल्मीकसंचारी वृश्चिको वृश्चिकावृत्तिः । विरगोमयक्रीडादिपागणादिषु संस्थितः ॥ ५५ ॥
धनुस्तुङ्गजवनो दीप्यमानो धनुर्धरः । वाजिशूरास्त्रविहीरः स्थायी गजरथादिषु ॥ ५६ ॥

कन्या राशि अन्न एवं दीपक हाथमें लिये हुए है तथा नौकापर आरूढ़ है । यह स्त्रियोंके रतिस्थान और सरपत, कण्ठा आदिमें विचरणा करती है । नारद ! तुल्या राशि हाथमें तुला लिये हुए पुरुषके रूपमें गलियों और बाजारोंमें विचरणा करती है तथा नगों, मार्गों एवं भवनोमें निवास करती है । वृश्चिक राशिका आकार विच्छूर्जता है । यह गङ्गे एवं कर्मीक आदिमें विचरणा करती है । यह विर, गोवर, क्रीडा एवं पत्थर आदिमें भी निवास करती है । धनु राशिकी जंवा बोड़ेके समान है । यह ज्योतिःस्वरूप एवं धनुष लिये है । यह घुड़सवारी, वीरताके कर्म एवं अस्त्र-शस्त्रोक्त इका तथा शूर है । गज एवं रथ आदिमें इसका निवास होता है ॥ ५३-५६ ॥

गुणाम्यो मकरो प्रामन् वृषस्तन्धेक्षणाङ्गजः । मकरोऽयं नदीचारो वसते च महौदधौ ॥ ५७ ॥
रिक्तानुम्भध पुत्रयः स्तन्धधारो जलाद्भुतः । घनशालाचरः कुम्भः स्थायी शौण्डिकसमसु ॥ ५८ ॥
मीनहयमथासनं मीनस्तीर्थाधिभ्रमंचरः । यस्मिन् पुण्यदेशेषु देवव्राह्मणसमसु ॥ ५९ ॥
लक्षणा गद्वितानुभ्यं मेसादीनां महासुने । न कस्यचिन् न्ययाख्येयं गुणमेतन्पुरातनम् ॥ ६० ॥

एतन् मया ते स्थितं सुर्ये यथा त्रिनेत्रः प्रममाय यत्नम् ।
पुण्यं पुराणं परमं पवित्रमाख्यातवान्यापहरं शिवं च ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पद्मोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इन्द्र ! मकर राशिका मृग शृङ्गे मृग-सदृश एवं कंघे शृङ्गे कन्योके तुल्य तथा नेत्र हार्थिके नेत्रके समान है । यह राशि नदीमें विचरणा करती तथा समुद्रमें विश्रान करती है । कुम्भ राशि रिक्त घड़ेको कंघेपर लिये लाने भाँसे मृगके समान है । इसका संचरण-स्थान पृथ्वी एवं मृगस्थ (मघशाला) है । मीन राशि दो मंजुषा मत्स्योके समानवाली है । यह तीर्थगमन एवं समुद्र-वेगमें संचरण करती है । इसका निवास पवित्र देशों, देवार्थियों एवं ब्राह्मणोंके घरोंमें होता है । महासुने ! मीने आणको मेसादि राशियोंका लक्षण बतलाया । अथ इस ब्राह्मण महाराजो शिवो आणको न व्याख्येयम् । देवो ! महासुने शिवने जिस प्रकार यज्ञको प्रमथित किया, उसका भी मैंने तेरे कर्ण पर श्रित । इस प्रकार मीने आणको प्रेमकर, परम पवित्र, पापहारी एवं कल्याण-कर आणक मृगका मृग-सदृशत्व न समुद्र ॥ ५७-६१ ॥

॥ इति पद्मोऽध्यायः श्रीवामनपुराणोऽस्यो नामोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

[अथ षष्ठोऽध्यायः]

पुनस्तथ उवाच

हृद्भयो ब्रह्मणो योऽसौ धर्मो दिव्यवपुर्मुने । दाशायणी तस्य भायां तप्यानङ्गतायमुतात् ॥ १ ॥
 हरिं कृष्णं च देवपे नारायणतरो तथा । योगाम्यामरतो नित्यं हरिदृष्ट्वां वपुर्वतुः ॥ २ ॥
 नरनारायणौ सैव जगतो हितवाम्यया । तप्येतां च तपः सौम्यौ पुष्यन्नावृणिसत्तनी ॥ ३ ॥
 प्रलेयादिं स्मामाम्य तीर्णं बदरिकाश्रमे । शुण्णौ तत्परं मय गङ्गाया विपुने तटे ॥ ४ ॥

छटा अध्याय प्रारम्भ

(नर-नारायणकी उत्पत्ति, तपश्चर्या, बदरिकाश्रमकी वन्यनी गोभा, काम-दाह और कामकी अनङ्गताका वर्णन)

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! ब्रह्माजीके हृदयसे जो दिव्यदेहधारी धर्म प्रकट हुआ था, उन्ने दशरथ पुत्री 'मूर्ति' नामकी भायसे हरि, कृष्ण, नर और नारायण नामक चार पुत्रोंके उत्पन्न किए । देखो ! इनमें हरि और कृष्ण ये दो तो निय योग्यात्मसे निरगत हो गये और पुरातन श्रुति शान्मना नर तथा नारायण संनरके कल्पयके लिये हिमालय पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें गङ्गाके निर्मल तटपर (परब्रह्म नाम उक्ताका उप करने हुए) तप करने लगे ॥ १-४ ॥

च जगदेष्यगानरम् । तपितं तपसा ब्रह्मसाकः शोभं तदा ययौ ॥ ५ ॥
 संसुग्धस्तरामा ताम्यां शोभणाय शतक्रतुः । रम्भायाप्सरसः श्रेष्ठाः प्रेरयन्त महाधमम् ॥ ६ ॥
 कन्दर्पश्च सुदुर्धरंद्यूताङ्कुरमहायुधः । समं महचरोषैव पमन्तेनाधमं गतः ॥ ७ ॥
 ततो माधवमन्दर्पी तादृशैवाप्सरसो पराः । यदर्याधममागम्य विचिर्यादुर्धयेच्छया ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! नर-नारायणकी दुष्कर तपस्यासे सारा स्थावर-जगत्तमक यह जगत् परित्त हो गया । इनमें इन्द्र विभुय हो उठे । उन दोनोंकी तपस्यासे अत्यन्त यश इन्द्रने उठे मोहित करनेके लिये रम्भा आदि श्रेष्ठ अप्सराओंको उनके विराल आश्रममें भेजा । काम इसके आयुर्वर्षमें अशोक, आलूदिकी संनरिणी विशेष प्रभवक हैं । इन्हें तथा अपने सहयोगी वसन्त ऋतुको साथ लेकर वह भी उस आश्रममें गया । अब वे वसन्त, कामदेव तथा श्रेष्ठ अप्सराएँ—ये सब बदरिकाश्रममें जाकर निर्वास कीड़ा करने लग गये ॥ ५-८ ॥

ततो पमन्ते संप्राप्ते विद्रुका ज्वलनप्रभाः । निष्पन्नाः सततं रेजुः शोभयन्तो धरातलम् ॥ ९ ॥
 विशिरं नाम मातङ्गं विदार्यं नखरैरिय । पमन्तकेसरी प्रातः पलातकुमुमैर्मुने ॥ १० ॥
 मया नुगारीषकरी निर्जितः हंसैः तेजसा । तमेव हसन्तयुर्ध्वैः पमन्तः बुन्दुबुद्धमलैः ॥ ११ ॥
 यन्तति कर्मिकराणां पुषिगतानि विरोजिरे । यथा नरेन्द्रपुत्राणि वनराधमणानि दि ॥ १२ ॥

तब वसन्त ऋतुके आ जानेपर अग्नि-प्रियाक महा कर्मिण्डने पलात परहीन होकर गन्दिन पृथ्वीकी शोभा बढ़ाने हुए सुरोभिन्त होने लगे । मुने ! कम्प-वर्ती मित्र मनो पल्लव-पुष्पवर्ती लगीमें विद्रुकावर्ती गजराजको विदीर्ण कर बड़ी अपना मन्त्रमय जमा चुका था । वह सोचने लगा—मैंने अपने तेजसे इतकन्दू-रूपी हार्यीको जीत लिया है और वह बुन्दकी कल्पिके बराने उनका उद्दहस भी करने लगा है । इस मुर्खीके अर्ककारोंमें मण्डित राजकुमारोंके समान पुषित कचनार-अनङ्गतामें वन सुरोभिन्त होने लगे ॥ ९-१२ ॥

तेषामनु तथा नीयाः किङ्करा इव रजिरे । स्वामिसंलक्ष्मणमाना भृत्या राजसुतानिव ॥१३॥
 रक्तानोकल्पता भान्ति पुष्पिताः सप्तसोज्ज्वलाः । भृत्या वसन्तनृपतेः संप्राप्तं स्रक्शुता इव ॥१४॥
 मृगवृन्दाः पिङ्गरिता राजन्ते गहने वने । पुलकाभिर्घृता यदन् सज्जनाः सुहृदागमे ॥१५॥
 मङ्गरीभिर्विगजन्ते नर्दाकुलेषु वेतसाः । चवतुकामाश्चाकुल्याकोऽस्माकं महशो नराः ॥१६॥

ऐसे लक्ष्मणोंके पीछे उनके द्वारा सम्पन्नित गेयका कहे रहते हैं, जैसे ही उन (विगित-वनों)के पीछे-पीछे कदम्ब-
 वृक्ष सुशोभित हो रहे थे । ऐसे प्रकार लाल अशोक आदिके समूह भी सदास पुष्पित एवं उद्भासित हो
 सुशोभित होने लगे । यद्यपि या मन्त्रो सुतुराज वसन्तके अनुयायी युद्धमें रहने लथपथ हो रहे हों । वने वनमें
 पीछे रंगरे लक्ष्मण (स प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार सुहृदके आनेमें सज्जन / अनन्दमें) पुलकित होकर
 सुशोभित होते हैं । नर्दाके तपोर अपनी मंजरीयोंके द्वारा वेतस ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे अंगुलियोंके द्वारा
 या कान्ता चारने से कि हमने सदास अथ कौन वृक्ष है ॥ १३-१६ ॥

रक्तानोकल्पता तन्वी देवसे किङ्करादिभ्रमा । नीत्याशोककल्पा दयामा विक्रांतिकमलानता ॥ १७ ॥
 नीलेन्दोवरनेत्रा च ब्रह्मण विलम्बालसानी । प्रकुल्लङ्कुन्ददशना मञ्जरीकरशोभिता ॥ १८ ॥
 चन्सुजीवाभरा शुभ्रा सिन्दुवारनयाद्भता । पुंस्कोकिलस्वना दिव्या अङ्गोलयमना शुभा ॥ १९ ॥
 यर्षित्वृन्दवल्गवा च सारसस्वरनूपुगा । प्रायंसारसना ब्रायन् मत्तहंसगतिस्तथा ॥ २० ॥
 पुष्यजीवांशुका भृङ्गरोमराजिधिराजिता । यमन्तलक्ष्मीः सस्त्राता ब्रायन् घदरिकाश्रमे ॥ २१ ॥
 गणो नागरयणो हृद्गा आश्रमन्यानचरिताम् । सर्माक्ष्य च दिशः सवास्तनोऽनङ्गमपदयत् ॥ २२ ॥

देवों ! जो दिव्य पतकी एवं शोभने भी वसन्त-रक्ष्मी उस बदरिकाश्रममें प्रकट हुई थी, उसके
 फलसे रक्तशोक ही लक्षण, फलदा ही लक्षण, नीलशोक फल-पाराश, विकसित कमल ही मुख और नीलकमल
 ही नेत्र थे । उसके विकारात् मानो स्तन, सुन्दरपुष्प वस्त, मङ्गरी लक्षण, दृष्टार्थ्याफल अथ, सिन्दुवार नय,
 लक्ष्मीकोकला कल्पनी । शोभा मय, अंशुके वर, मयूररूप आभरण, सारस नूपुम्बराय और आश्रमके
 दिग्गज कल्पनी से । उसके मन हम माने, पञ्चजीव रूप वर और जगत् मानो रोमावलीक्ष्मणमें विराजित थे ।
 यह नागरयणमें आश्रमकी अद्भुत मन्त्रायण से प्रकट सभी दिशाओंकी ओर देव और रि, कामदेवकी
 से देव ॥ १७—२२ ॥

नगर उवाच

सोऽस्माद्यनहो ब्रह्मणे गमिन् घदरिकाश्रमे । ये दशं जगत्प्रायो देवो नागरयणोऽव्यय ॥ २३ ॥
 नागदर्शने पूजा—ब्रह्मणे ! तिमो नागरयणो नागरयणो घदरिकाश्रममें देव या, यह अनङ्ग काम
 देव है । ॥ २३ ॥

पुनरप्य उवाच

चन्द्रो हंसनयो सोऽसौ यमो निरायणे । स शंकरेण संदग्धो सनत्प्रत्यमुपागतः ॥ २४ ॥
 पुनस्तप्यजाते यथा—यह शंकरेण हंसो पुत्र है, इसे ही काम देव माने है । शंकर-(की नेत्राग्नि-)
 देव मय होकर यह शंकर ही मय ॥ २४ ॥

नगर उवाच

विमो रामदेवोऽसौ शंभवेन संभुज । इभ्यन्तु शरणे गमिन्नेतद्व्याग्यानुमर्हति ॥ २५ ॥
 नागदर्शने पूजा—शंभवेन ! यह देव शंकर है कि शंकरिणः शंकरने कामदेवको किस कारणसे भय
 दिया है ॥ २५ ॥

पुण्यव्य उपाय

यदा दक्षसुता प्रामन् सती याता यमशयम् । विनाश्य दक्षयज्ञं तं विचर्या विभोचन ॥ २६ ॥
 नतो वृक्षयज्ञं दद्यात् कन्दर्पं वसुमायुध । अपदीकं तदाऽन्वेषेण उन्मादेनाभ्यताडयत् ॥ २७ ॥
 नतो हरः शरणाय उन्मादेनागु ताडितः । विचर्या मदेन्मत्तः कनकानि सर्गाणि च ॥ २८ ॥
 स्मरन् सती महादेवस्तथोग्मादिन ताडितः । न शर्म लेभे देवैः पाण्डित्य इय क्षिप ॥ २९ ॥

पुण्यव्यर्जने कहा—इसमें ! दक्ष-पुत्री सतीके प्रशम्यग करनेपर शिवजी दक्ष-वधका ध्यम का (जहाँ नहीं) विचर्या करने लगे । तब शिवजीको ली-महित देवदर पुण्याश्रयके कामदेवने उनपर अपना 'उन्मादन'नामक अथ छोड़ा । इस उन्मादन-भागमे अहक होकर शिवजी उन्नत होकर यहाँ और मतेरगोमे घूमने लगे । देवों ! बाणविद गजके समान उन्मादमे 'दयित महादेव सतीका स्मरण करने हुए बड़े शरणा हो रहे थे—उन्हें चैन नहीं था ॥ २६-२९ ॥

तत्र पपात देवेन्द्राः कालिन्दीसरितं मुने । निमग्ने शंकरे आपो दग्धा कृष्णव्यमागता ॥ ३० ॥
 तदाप्रभृति कालिन्या भृद्गाञ्जननिर्भं जटम् । आम्यन्दत् पुण्यतोया सा केदारगामिशयने ॥ ३१ ॥
 नतो नदीषु पुण्यासु सरस्तु च नदेषु च । पुलिनेषु च रम्येषु वार्याषु नलिनीषु च ॥ ३२ ॥
 ययंतेषु च रम्येषु काननेषु च सागुषु । विचरन् स्वच्छया नैव शर्म लेभे महेश्वरः ॥ ३३ ॥

मुने ' उमके बाद शिवजी यमुना नदीमें कूद पड़े । उनके जलमें निमग्न करनेमे उम नदीका जल कल हो गया । उम मगधमे कालिन्दी नदीका जल भृग और अजनके सदरा कृष्णवर्णका हो गया एवं वह परिव शोभायली नदी पृथ्वी केदारगामे सदरा प्रवाहित होने लगी । उमके बाद परिव नदियों, मतेरगो, नदों, मरगाय नदी-नदों, वरिणों कमण्डो, पर्वतों, मनोहर कानको तथा पर्वत शृङ्खला स्वेच्छपूर्वक विचरन करने हुए भगवान शिव कहीं भी शक्ति नहीं प्राप्त कर सक ॥ ३०-३३ ॥

क्षणं गायति देवैः क्षण रोदिनि शंकर । क्षण ध्यायति तन्वद्रीं दक्षकन्या मनोरमाम् ॥ ३४ ॥
 ध्याय्या शर्मं प्रहसयिनि शर्मं म्यन्नायते हर । स्वप्ने मग्नेद् गदति तां दृष्ट्या दक्षक यकाम् ॥ ३५ ॥
 निर्घृणे निष्ठ किं मूढे यजसे मामनिन्दिते । मुग्धे तयया विरहितो दग्धोऽसि मदनान्गिना ॥ ३६ ॥
 सति मन्य प्रवृत्तिना सा शोष कृत् मुन्दरि । पादप्रणामानतमभिभाषितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

दरने ' वे कभी गते, कभी गते और कभी कृष्णा मुन्दरी सतरा चल करने । ध्यान करके कभी मोन और कभी ध्यान देकर लगे थे स्वप्नरात्रमें मनारो देवदर वे इस प्रसव करने थे—निन्दे ! मग्ने, हे मूढे ! मुग्ध क्यों होइ रही हो ? हे अनिन्दिते ! हे मुग्धे तुम्हारे निरहमे मे कामगिने दग्ध हो रहा है । हे सति ! क्या तुम बलुत मुद हो ? मुन्दरि ! शोष मत करो । मैं तुम्हारे चरणोंमें अन्न होकर प्रणाम करता हूँ । तुम्हें मेरे साथ बात नो करनी ही नदिये ॥ ३४-३७ ॥

भूयसे दृश्यसे निरयं शृद्दयसे घण्टमे मिये । आश्रित्यसे च मत्तं विमर्ष नाभिभागमे ॥ ३८ ॥
 विलपन्तं जन् दृष्ट्या हृषा कम्प न जायते । विदोषत पति पाते ननु म्यन्निर्घृण ॥ ३९ ॥
 म्यपोनानि घयास्वयेयं पूर्वं मम हृत्तोदरि । विना म्वया न जीयिषं तदमन्य म्यया हृत्तम् ॥ ४० ॥
 नन्दि म्यन्निर्घृण म्यन्निर्घृण म्यन्निर्घृण ॥ ४१ ॥

शिवजी भागने लगे । उसके बाद क्रामदेवके प्राग पांडा किए जानेपर महादेवजी घोर दारुवनमें चले गये, जहाँ ऋग्गिण अपनी पत्नियोंके साथ निवास करते थे ॥ ५५-५८ ॥

ने चापि ऋषयः सर्वे एषा मूर्ध्ना नताभवन् । ततस्तान् प्राह भगवान् भिक्षा मे प्रतिश्रीयताम् ॥ ५९ ॥
ततस्ते मौनितस्तस्युः सर्वे एव महर्षयः । तदाश्रमाणि सर्वाणि परिचक्राम नारद ॥ ६० ॥
नं प्रविष्टं तदा एषा भार्गवात्रेययोपितः । प्रदोभमगमन् सवा हीनसत्त्वाः समन्ततः ॥ ६१ ॥
ऋणे न्यरुन्धतीमेकामनस्र्यां च भामिनीम् । एताभ्यां भर्तृपूजासु तच्चिन्तासु स्थितं मनः ॥ ६२ ॥

उन ऋषियोंने भी उन्हें देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया । फिर भगवान्ने उनसे कहा—आप-लोग मुझे भिक्षा दीजिये । इसपर सभी महर्षि मौन रह गये । नारदजी ! इसपर महादेवजी सभी आश्रमोंमें घूमने लगे । उस समय उन्हें आश्रममें आया हुआ देव पत्निव्रता अरुन्धती और अनुसूयाको छोड़कर ऋषियोंकी समस्त पत्नियों प्रभुत्व एवं सत्त्वहीन हो गयीं । पर अरुन्धती और अनुसूया पतिसेवामें ही लगी रहीं ॥ ५९-६२ ॥

ततः संक्षुभिताः सवा यत्र यानि महेश्वरः । तत्र प्रयान्ति कामार्त्ता मदविललितेन्द्रियाः ॥ ६३ ॥
न्यफन्वाश्रमाणि शून्यानि स्नान्ति ता मुनियोपितः । अनुजगमुर्यथा मत्तं करिण्य इव कुञ्जरम् ॥ ६४ ॥
ततस्तु ऋषयां एषा भार्गवाक्षिरसो मुने । मोघान्विनामुबन्सर्वे लिङ्गोऽस्य पततां भुवि ॥ ६५ ॥
ततः पपात देवस्य लिङ्गं पृथ्वीं विदारयन् । अन्तर्ज्ञानं जगामाथ विश्वी नीललोहितः ॥ ६६ ॥

अब शिवजी जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ संक्षुभित, कामार्त्ता एवं मदसे विकल इन्द्रियोंवाली स्त्रियों भी जाने लगीं । मुनियोंकी वे स्त्रियाँ अपने आश्रमोंको सूना छोड़ उनका इस प्रकार अनुसरण करने लगीं, जैसे करेणु गडगड गजका अनुसरण करे । मुने ! यह देखकर ऋग्गिण क्रुद्ध हो गये एवं कहा कि इनका लिङ्ग भूमिपर गिर जाय । फिर तो महादेवका लिङ्ग पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ गिर गया एवं तब नीललोहित त्रिशूली अन्तर्धान हो गये ॥ ६३-६६ ॥

ततः स पत्निनां लिङ्गो धिभिश्च वसुधावलम् । रसातलं विवेशाशु मत्साण्डं चोर्ध्वतोऽभिनत् ॥ ६७ ॥
ततश्चाल पृथिवी गिरयः सर्गिता नगाः । पातालभुवनाः सर्वे जद्रमाजद्रमैर्वृताः ॥ ६८ ॥
संक्षुब्धान् भुवनान् एषा भूलोकान् पितामहः । जगाम माधवं द्रष्टुं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ६९ ॥
तत्र एषा हृषीकेशं प्रणिपत्य च भक्तितः । उवाच देव भुवनाः किमर्थं क्षुभिता विभो ॥ ७० ॥

यह पृथ्वीपर गिरा लिङ्ग उसका भेदन कर तुरंत रसातलमें प्रविष्ट हो गया एवं ऊपरकी ओर भी उसने विश्व-महादण्डका भेदन कर दिया । इसके बाद पृथ्वी, पवन, नदियाँ, पादप तथा चरचरने पूर्ण समस्त पाताललोक कांप उठे । पितामह अथा भूलोक आदि भुवनोंको संक्षुब्ध देखकर श्रीकृष्णुमें मिलने श्रीसागर पहुँचे । वहाँ उन्हें देव भक्तिपूर्वक प्रणाम कर ब्रह्मने कहा—देव ! समस्त भुवन विक्षुब्ध कैसे हो गये हैं ? ॥ ६७-७० ॥

अयोवाच हर्षिर्वाग्व शायो लिङ्गो महर्षिभिः । पानितस्तान्य भारता मन्वचाल वसुंधरा ॥ ७१ ॥
तन्मन्ददृष्टतमं श्रुत्वा देवः पितामहः । तत्र गच्छाम देवेश एवमाह पुनः पुनः ॥ ७२ ॥
ततः पितामहो देवः पेशयथा जगत्पतिः । वाजगमनुमनमुद्देशं यत्र लिङ्गं भवस्य तत् ॥ ७३ ॥
ततोऽनन्तं हर्षिलिङ्गं एषाका रागेश्वरम् । पातालं प्रविशेसाथ विस्रयान्तरितो विभुः ॥ ७४ ॥

इसपर श्रीरश्मिने कहा—भगवन् ! महर्षियोंने शिवके लिङ्गको गिरा दिया है । उसके भारसे कष्टमें पृथ्वी अपने पृथ्वी विक्षुब्ध हो गयी है । उसके अर्थ प्रकाशमें वसु अक्षुब्ध शक्तको सुनकर केदा ! हृमन्नेग यहाँ चले—

ऐसा बार-बार करने लगे । फिर ब्रह्म और जगन्नि सिन्धु नहीं पढ़ेचे, नहीं संख्या सिद्ध सिंग भ । नहीं उम अन्त सिद्धको देवस्य अधर्षचरित होकर हम्पि रुद्रस्य मर हो उमका पना कल्पेने सिद्धे पन्कजे प्रविष्ट ह्य ॥ ७१-७२ ॥

प्रह्ला पद्मयिमानेन ऊर्ध्वमाश्रय्य सर्वतः । नैयात्तमलभद् प्रपन्न विमितः पुनरगतः ॥ ७० ॥
 विष्णुर्गंगाऽथ पाताल्यान् मत्त लोकरययण । चमराणिर्विनिष्पान्तो लेभेऽन्नं न महामुने ॥ ७६ ॥
 विष्णुः पितामहस्योभी हरलिङ्गं समेय दि । कृताग्रलिपुटौ मूत्रा मोनुं देयं प्रचक्रतुः ॥ ७७ ॥
 नारदजी ! ब्रह्मजी अपने पद्मपत्रके द्वारा सम्पूर्ण ऊर्ध्वरुद्राको लैव गये, पर उम सिद्धका अन्त नहीं प मके और अधर्षचरित होकर वे लैट अये । मुने । इसी प्रकार जब चमराणि भगवान् सिन्धु भी मने पन्कजेने प्रवेश कर उम सिद्धका बिना अन्त पाये ही वर्धुमि बठर आये, तब ब्रह्म, सिन्धु दोनों विनिष्कृत कर जारर दाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ७५-७७ ॥

हरिप्रदाणावचनः

नमोऽस्तु ते शूलपाणे नमोऽस्तु वृषभध्वज । जीमूतवाहन कचे शयं ज्यम्बक शंकर ॥ ७८ ॥
 महेश्वर महेशान सुवर्णाक्ष वृषाकपे । दक्षयमक्षयकर कालकर नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥
 स्वमादित्य जगतस्वयं मय्यं परमेश्वर । भवातन्तश्च भगवान् सर्वगतस्व नमोऽस्तु ते ॥ ८० ॥

प्रह्लाविष्णु बोले—शूलपाणिनी ! आपको प्रणाम है । वृषभध्वज ! जीमूतवाहन ! कचि ! शयं ! ज्यम्बक ! शंकर ! आपको प्रणाम है । महेश्वर ! महेशान ! सुवर्णाक्ष ! वृषाकपे ! दक्षयमक्षयकर ! कालकर ! आपको प्रणाम है । परमेश्वर ! आप इस जगतके आदि, मध्य एवं अन्त हैं । आप पदैर्धर्मार्ण भगवान् सर्वगतानी या सर्वत्रयम हैं । आपको प्रणाम है ॥ ७८-८० ॥

पुनरथ उवाच

एयं संस्तूयमानस्तु तस्मिन् शक्यते हरः । स्वरुपी नाविद् याक्यमुवाच यदां यरः ॥ ८१ ॥
 पुलस्त्यजी बोले—उम दाहकनेमै हम प्रकार स्तुति किये करने पर क्वाअने श्रेष्ठ हरने अपने स्वयमे प्रकट होकर (अर्थात् मूर्तिमान् होकर) उन दोनोंने हम प्रकार कहा— ॥ ८१ ॥

हर उवाच

विश्वे देयतानायौ परिभूतममं विद्म । मां स्तुयते मृदाम्यस्यं कामतापितपिमहम् ॥ ८२ ॥
 भगवान् शंकर बोले—आप दोनों सभी देवताओंके स्वामी हैं । आपद्वेय चक्रे-चक्रे पड़े हू तथा कामानिमे दाथ और मुझ सब प्रकारसे अन्वस्य पकिसी कते स्तुति कर गे हें ॥ ८२ ॥

देववृन्द

भवतः पानितं लिङ्गं यदेतद् भुवि शंकर । पतन् प्रपृगतां नृप अतो देव स्तुययते ॥ ८३ ॥
 इसर इदासिन्धु दोनों बोले—शिवजी ! पृथ्वीपर आकर गे वह त्रि सिंग गत है, उमे पुनः आप पदय करे । इसीलिये हम आपको स्तुति कर रहे हें ॥ ८३ ॥

हर उवाच

यदर्थयन्ति श्रद्धया मम लिङ्गं सुपोषन्तौ । तदेतन्मतिपृष्णीयां नाप्यपेति कथंयत ॥ ८४ ॥
 ततः प्रोवाच भगवानेवमस्तिपति केशरः । प्रह्ला मयं च जपाद् लिङ्गं कनकगिहयम् ॥ ८५ ॥

शिवजी भागते लगे । उसके बाद कामदेवके द्वारा पीछा किये जानेपर महादेवजी घोर दाम्बनमें चले गये, जहाँ ऋषिगण अपनी शक्तियोंके साथ निवास करते थे ॥ ५५-५८ ॥

न चापि ऋषयः सर्वे दृष्ट्वा मूर्ध्ना ननाभवन । ततस्तान्प्राह भगवान् भिक्षा मे प्रतिदीयताम् ॥ ५९ ॥
ततस्ते मौनितस्तस्युः सर्व एव महर्षयः । तदाधमाणि सर्वाणि परिचक्राम नारद ॥ ६० ॥
तं प्रविष्टं तदा दृष्ट्वा भार्गवात्रेययोपितः । प्रक्षोभमगमन् सवा हीनसखाः समन्ततः ॥ ६१ ॥
ऋते त्वरुन्धतीमेकामनस्र्यां च भामिनीम् । एताभ्यां भर्तृपूजासु तच्चिन्तासु स्थितं मनः ॥ ६२ ॥

उन ऋषियोंने भी उन्हें देखकर गिर झुकाकर प्रणाम किया । गिर भगवान्ने उनसे कहा—आप-
लोग मुझे भिक्षा दीजिये । इसपर सभी महर्षि मौन रह गये । नारदजी ! इसपर महादेवजी सभी आश्रमोंमें घूमने
लगे । उस समय उन्हें आश्रममें आया हुआ देव पतिव्रता अरुन्धती और अनुसूयाको छोड़कर ऋषियोंकी
समस्त पत्नियों प्रलुब्ध एवं सत्यहीन हो गयीं । पर अरुन्धती और अनुसूया पतिसेवामें ही लगी रहीं ॥ ५९-६२ ॥

ततः संभुभिताः सवा यत्र याति महेश्वरः । तत्र प्रयान्ति कामार्ता मदविह्वलितेन्द्रियाः ॥ ६३ ॥
न्यक्न्याश्रमाणि शून्यानि स्वानि ना मुनियोपितः । अनुजगमुर्यथा मत्तं करिष्य इव कुञ्जरम् ॥ ६४ ॥
ततस्तु ऋषयो दृष्ट्वा भार्गवाद्गिरसो मुने । क्रोधान्विताद्ब्रुवन्सर्वे लिङ्गोऽस्य पततां भुवि ॥ ६५ ॥
ततः पपात देवस्य लिङ्गं पृथ्वीं विदारयन् । अन्तर्ज्ञानं जगामाय त्रिशूली नीललोहितः ॥ ६६ ॥

अब शिवजी जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ संभुभित, कामार्त एवं मदसे विकल इन्द्रियोंवाली स्त्रियाँ भी
जाने लगीं । मुनियोंकी वे स्त्रियाँ अपने आश्रमोंको सूता छोड़ उनका इस प्रकार अनुसरण करने लगीं, जैसे करेणु
मदमत्त गजका अनुसरण करे । मुने ! वह देखकर ऋषिगण क्रुद्ध हो गये एवं कहा कि इनका लिङ्ग भूमिपर
गिर जाय । गिर तो महादेवका लिङ्ग पृथ्वीको विदारण करता हुआ गिर गया एवं तब नीललोहित त्रिशूली
ध्वन्यार्त हो गये ॥ ६३-६६ ॥

ततः न पतितो लिङ्गो विभिय वसुधानलम् । रसातलं विवेशाशु ब्रह्माण्डं चोर्ध्वतोऽभिनत् ॥ ६७ ॥
ततश्चाल पृथिवी गिरयः सरितो नगाः । पातालभुवनाः सर्वे जङ्गमाजङ्गमैर्वृताः ॥ ६८ ॥
संभुब्धान् भुवनान् दृष्ट्वा भूर्लोकान् पितामहः । जगाम माधवं द्रष्टुं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ६९ ॥
तत्र दृष्ट्वा दृष्टोपेतं प्रणिपत्य च भक्तितः । उवाच देव भुवनाः किमर्थं भुभिता विभो ॥ ७० ॥

यह पृथ्वीपर गिरा गिरा उसका भेदन कर तुरंत रसातलमें प्रविष्ट हो गया एवं ऊपरकी ओर भी उमने विश्व-
ब्रह्माण्डका भेदन कर दिया । इसके बाद पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, पादप तथा चराचरमें पूर्ण समस्त पाताललोक
काट उठे । पितामह स्वयं भूर्लोक आदि भुवनोंको संलुब्ध देखकर श्रीविष्णुमें मिलने क्षीरसागर पहुँचे । वहाँ उन्हें
देव भक्तिपूर्वक प्रणाम कर ब्रह्मने कहा—देव ! समस्त भुवन किन्तुव्य कैसे हो गये हैं ! ॥ ६७-७० ॥

अथोवाच हरिर्ब्रह्मन् शर्वो लिङ्गो महर्षिभिः । पानितस्तस्य भारतं संचचाल वसुंधरा ॥ ७१ ॥
ततस्तद्द्रुततमं ध्रुव्या देवः पितामहः । तत्र गच्छाम देवेश एवमाह पुनः पुनः ॥ ७२ ॥
ततः पितामहो देवः केशवश्च जगत्पतिः । वाजगमनुन्तमुद्देशं यत्र लिङ्गं भवस्य तत् ॥ ७३ ॥
ततोऽनन्तं हरिलिङ्गं दृष्ट्वासा स्तोभवरम् । पातालं प्रविवेशाथ विलयान्तरितो विभुः ॥ ७४ ॥

इसपर श्रीवामने ब्रह्म—ब्रह्मन् ! महर्षिकोंने शिवके लिङ्गको गिरा दिया है । उसके भारने कष्टमें पड़ी
वहाँ पृथ्वी विकल हो रही है । इसके बाद शिवजी इस अद्भुत वाकको सुनकर देवों ! हमसेही वहाँ चले—

ऐसा बार-बार करने लगे । फिर प्रदा और जगपति तिन्यु कर्त्तों पहुँचे, जहाँ संकरता छिद्र गिरा था । वहाँ उम अनन्त छिद्रको देवस्य आध्वर्यचक्रित होकर हरि गुरुद्वार मगर हो उमका पता लगानेके किये पात उमों प्रविष्ट हुए ॥ ७१-७४ ॥

प्रदा पश्यमानेन ऊर्ध्वमाक्रम्य स्वर्गतः । नैवायत्तमलभद् प्रदात् विश्विनः पुनरागतः ॥ ७५ ॥
 विश्वगुणैवाऽथ पातालान् मत् लोकपरायणः । चक्रपाणिर्विनियकान्तो लेभेऽग्नं न महामुने ॥ ७६ ॥
 विश्व्युः पितामहद्योभी हरलिङ्गं ममेत्य हि । हृताप्रलिपुटी भूया स्तोतुं देयं प्रचक्रतुः ॥ ७७ ॥

नारदजी ! प्रदाजी अपने पश्यानके द्वारा सम्पूर्ण ऊर्ध्वकाशको लँच गये, पर उम छिद्रका अन्त नहीं पा सके और आध्वर्यचक्रित होकर वे लौट आये । मुने ! इसी प्रकार जब चक्रपाणि भगवान् विश्वु भी सानो पतालमें प्रवेश कर उम छिद्रका बिना अन्त पाये ही वहाँसे बाहर आये, तब प्रदा, विश्वु दोनों क्षिप्रछिद्रके पास जाकर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ७५-७७ ॥

हरिप्रदाणावृचतुः

नमोऽस्तु ते शूलपाणे नमोऽस्तु वृषभध्वज । जीमूतवाहन कथे शर्वं स्वम्भक शंकर ॥ ७८ ॥
 महेश्वर महेशान सुयणीक्ष वृषाकपे । दक्षयज्ञक्षयकर कालरुप नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥
 त्वमादिरम्य जगन्स्त्वं मध्यं परमेश्वर । भवानन्तश्च भगवान् सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ८० ॥

प्रदा-विश्व्यु बोले—शूलपाणिजी ! आपको प्रणाम है । वृषभध्वज ! जीमूतवाहन ! कवि ! शर्व ! स्वम्भक ! शंकर ! आपको प्रणाम है । महेश्वर ! महेशान ! सुयणीक्ष ! वृषाकपे ! दक्ष-यज्ञ-निर्वसक ! कालरूप शिव ! आरम्भे प्रणाम है । परमेश्वर ! आप इस जगत्के आदि, मध्य एवं अन्त हैं । आप परैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वत्रगामी या सर्वत्रगत हैं । आपको प्रणाम है ॥ ७८-८० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं नंस्तूपमानस्तु तस्मिन् शक्यते हरः । स्वरूपी ताविद् वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ ८१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उम दारुणमें इस प्रकार स्तुति किये जानेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ हरने अपने स्वस्वतः प्रकट होकर (अर्थात् मूर्त्तितान् होकर) उन दोनोंमें इस प्रकार कहा— ॥ ८१ ॥

हर उवाच

विमर्षं देवतानाथौ परिभूतममं त्विह । मां स्तुयाते भृशाम्बस्यं कामततित्तविमर्शम् ॥ ८२ ॥

भगवान् शंकर बोले—आप दोनों सभी देवताओंके स्वामी हैं । आदर्शके चरित्रके यत्ने हुए मैं कामाग्निमें दग्ध और मुझ सब प्रकारसे अवस्था व्यक्तिकी क्यों स्तुति कर रहे हैं ॥ ८२ ॥

देवावृचतु

भवतः पानितं लिङ्गं यदेतद् भुवि शंकर । एतन् प्रयुक्तं मूढ अग्ने देव स्तुतान्ते । ८३ ॥

इतार इवाश्रित्यु दोनों बोले—शिवजी ! वृष्ठीय आरम्भ के वह त्रि-विन्दु-रूप हैं, जो मूढ-जात प्रहण करें । इसीप्रिये हम आपको स्तुति कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

हर उवाच

यद्यर्चयन्ति शिदरा मम लिङ्गं सुपेत्तनी । तदेतन्प्रतिपृष्टमानं नान्येने कर्त्तव्यम् । ८४ ॥

ततः प्रोवाच भगवानेवमस्त्विति शिदराः । इत्युक्तं ते कथं त्रि-विन्दु-रूपं त्रि-विन्दु-रूपं । ८५ ॥

[अथ सप्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततोऽनङ्गं विभुदंष्ट्रा क्रवन् नागायणो मुनिः । प्रहस्यैवं वचः प्राह कन्दर्प इह आन्यताम् ॥ १ ॥
 तदक्षुभ्रत्वमाश्वास्य कामो विस्मयमागतः । वसन्तोऽपि महाचिन्तो जगामाद्यु महामुने ॥ २ ॥
 ततश्चाप्यरम्यो दृष्ट्वा स्वागतेनाभियुज्य च । वसन्तमाह भगवानेहोहि स्वीयतामिति ॥ ३ ॥
 ततो चिह्नस्य भगवान् मञ्जरीं कुन्तुमावृताम् । आदाय प्राञ्चुवर्णाङ्गीमूर्वावीलां त्रिनिर्ममे ॥ ४ ॥
 उरुद्वयां स कन्दर्पो दृष्ट्वा सर्वोद्गसुन्दरीम् । अमन्यत तदाऽनङ्गः किमियं सा प्रिया रतिः ॥ ५ ॥
 मानवां अध्याय प्रारम्भ

(उर्वशीकी उत्पत्ति-कथा, प्रह्लाद-प्रसंग—नरनारायणने संवाद एवं युसोपक्रम)

पुलस्त्यजी बोले—नागदजी ! उसके बाद समर्थ नागायण ऋषि कामदेवको देवकर हँसते हुए यों बोले—
 काम ! तुम क्यों बैठो । काम उनकी उम अक्षुभ्रता- (भयरता-) को देवकर चकित हो गया । महामुने !
 कन्दर्पको भी उम समय बड़ी चिन्ता हुई । फिर अस्मगाओंकी ओर देवकर स्वागतके द्वारा उनकी पूजा कर भगवान्
 नागायणने वसन्तमे कहा—आओ बैठो । उसके पश्चात् भगवान् नागायण मुनिने हँसकर एक फूलमे भरी मञ्जरी ली
 और अपने ऊपर एक सुवर्ण अङ्गुली तटणीका चित्र लिखकर उसकी मञ्जरी रचना कर दी । नागायणकी जाँचसे
 उज्वल उम सर्वोद्ग सुन्दरीको देवकर कामदेव मनमें सोचने लगा—क्या यह सुन्दरी मेरी पत्नी रति है ! ॥ १-५ ॥
 तदेव वदनं चान् स्वाक्षिभ्रुकुटिलालकम् । सुनासावंशाधरोष्ठमालोकनपरायणम् ॥ ६ ॥
 नाय्याहार्यविरल्यो पीवरौ मग्नचूचुको । राजतेऽभ्याः कुचौ पीनौ सज्जनाविद्य संहृतौ ॥ ७ ॥
 तदेव तनु चार्वङ्ग्या बलित्रयविभूषितम् । उदरं राजते दलक्षणं रोमावलिबिभूषितम् ॥ ८ ॥
 रोमावली च जघनाद् यान्तो न्तनतटं त्रियम् । राजते भृङ्गमालेव पुलितान् कमलाकरम् ॥ ९ ॥

इसकी वैभो ही सुन्दर आँखें, नाँव एवं कुटिल अलकों हैं । इसका वैसा ही मुखमण्डल, वैसी सुन्दर
 नाभिका, वैसा बदन और वैसा ही इसका अघरोष्ठ भी सुन्दर है । इन्ने देवनेमे तृप्ति नहीं होती है । यतिके समान ही
 मनोहर तथा अप्रमत्त मग्न चूचुकाके स्थूल (मांसल) न्तन दो सज्जन पुरुषोंके सदृश परस्पर मिले हैं । इस
 सुन्दरके वैभो ही कया, त्रिवेद्युक्त, कोमल तथा रोमावलिवाला उदर भी शोभित हो रहा है । उदरपर नाँवसे
 नागकी और न्तन तटनक जती हुई इसकी रोमगति मगेवरआदिके तटमे कमलवृन्दको और जानी हुई
 मग्न-मण्डलके समान सुशोभित हो रही है ॥ ६-९ ॥

जघनं स्वतिविस्तीर्णं भात्यन्या रजनावृतम् । श्रोत्रोदमथने नदं भुजङ्गेनेव मन्दरम् ॥ १० ॥
 कदलीन्तम्भसदशौर्ध्वमूलैरथोन्मिः । विभाति सा सुचार्वङ्गी पद्मकिञ्जल्कतन्निभा ॥ ११ ॥
 जानुनो गृदगुल्फे च शुभे जङ्गे त्वरोमशे । विभातोऽभ्यास्तथा पादावलककसमद्विधौ ॥ १२ ॥
 इति संचिन्तयन् कामम्नामनिन्दितलोचनाम् । कामातुरोऽसौ संजानः किमुनात्यो जनो मुने ॥ १३ ॥
 उमक कल्पनेमे मण्डित स्थूल जघन-प्रदेश श्रोत्रसागरके मथनके समयमें वासुकि नागसे वेदित मन्दर-
 पर्वतके समान सुशोभित हो रहा है । कदली-न्तम्भके समान ऊर्ध्वमूल उरुआँवाली कमलके केसरके समान गौर-
 वर्णकी यह सुन्दरी है । इसके दोनो धुत्तने, गृदगुल्फ, रोमरहित सुन्दर जंघा तथा अलककके समान कान्तिवाले
 दोनो पैर अप्रमत्त सुशोभित हो रहे हैं । मुने ! इस प्रकार उस सुन्दरीके विषयमें सोचते हुए जब यह कामदेव
 स्वनेमे कामतुर हो गया तो फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या थी ॥ १०-१३ ॥

माधयोऽप्युपेक्षां दृष्ट्वा क्षयित्वापत नागद् । निश्चिन्तय काननेन्द्रस्य राजधानीं हरपंथिता ॥ १५ ॥
 भाषाया शशिनो नूनमियं कान्तिनिशाक्षये । रथिगदिमन्तनायातिर्भीमा शरत्पमागा ॥ १६ ॥
 इत्थं सचित्तपन्नेय भयदभ्यास्तयोगणम् । तस्वी मुनिरिय स्थामास्थित म तु माधय ॥ १७ ॥
 तत्र म निश्चितान् सर्वान् कन्दर्पादीन् महामुने । दृष्ट्वा प्रोवाच ध्वनं मिमं कृपा शुभ्रत ॥ १८ ॥
 इयं प्रमोहस्तम्भूता कामाक्षरस माधय । नीयतां सुरलोकाय दीपता दाम्भय ॥ १९ ॥
 इत्युक्त्वा कम्पमानास्ते जम्बुद्वीपार्थशां दिवम् । महद्वाक्षाय मा महाद् रूपयानाशालिनीम् ॥ २० ॥
 भागधुरचरिणिं ताभ्या धर्मजाभ्यां महामुने । दैत्यराजाय कामाद्यास्तोऽमुद् विष्मद पर ॥ २० ॥
 एतादृशं दि चरित क्यतिमध्यां जगाम ह । पानालेषु तथा मर्त्ये दिदृशद्यु जगाम ध ॥ २१ ॥

नरदजी ' अब बसत भी उस उरशीको दायर सोचने ल' नि क्या यह गज कन्दरी राजनी ही नाग अर उपरियत ही गयी है । अपना रथिना अन्न हानय मूर्यसि मिगो न तपस अपने स्वय चन्द्रिका ही शरणमें आ गया है । इस प्रकार सोचते हुए अम्बराओको रोकर बगन मुनिक सरदा पतन्य हो गया । महामुने ' उसके बाद शुभ्रत नारायण मुनिने कानदि सभीसो चरित देकर हमने हुए रहा—दे काम, हे अप्सराओ, हे बसत ' यह अप्सरा नेरी जाँघसे उचन हुआ है । इसे तुमलोग देवगणमें ले जाओ और इन्द्रको दे दो । उनके ऐसा कहनेपर वे सभी भयमें काँपते हुए उरशीको तेरा नामों चो गये और उस रूप-श्रीवाशालिनी अप्सराको इन्द्रसे दे दिया । महामुने ' उन कानदिने इन्द्रसे उन दोनों धर्मके पुत्रों (नर-नारायण) के चरित्रको ब्रह्मा, जिससे इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ ' नर और नारायण इन अचरित्री वर्णों भाग सत्र बढ़ती गयी तथा वह पाताल, मर्कलोक एवं सभी दिशाओंमें व्याप्त हो गयी ॥ १५-२१ ॥

एकदा निहतं रोद्रे हिरण्यकशिपी मुने । अभिषिक्तस्तदा राग्ये प्रह्लादो नाम दानय ॥ २२ ॥
 तसिभ्यास्तनि दैत्येन्द्रे देवप्रादापपूजके । मण्यति भुयि राजानो यजन्ते विधियत्तदा ॥ २३ ॥
 प्राज्ञागदच तथा धर्म तीर्थयात्रादच पुरते । यैश्चादच पशुगृहस्था द्वाद श्रुधुरते गता ॥ २४ ॥

मुने एक बारका बात है । जब भयकर हिरण्यकशिपु नाग गया तब प्रह्लाद नामक दानव राजादार बैठा । वह दक्ता और ब्राह्मणोंका पूजक था । उसका शासनकालों पृथ्वीपर राजा लोग विरिचरक वज्ञानुष्ठान करत थे । ब्राह्मण लोग तस्या, धर्म-यज्ञ और तीर्थयात्रा, दैत्य लोग पशुपालन तथा दूद लोग सन्तरी सेना प्रमसे करते थे ॥ २२-२४ ॥

चातुर्वर्ण्यं तत स्वे ह्ये भाधमे धर्मकर्मणि । आरत्त ततो देवा पृथ्या सुलाभपर मुने ॥ २५ ॥
 ततस्तु जययता नाम भार्गयेन्द्रे महानया । जगाम नर्मदा स्नातुं तौर्यं घृयागुलीभ्यरम् ॥ २६ ॥
 तत्र दृष्ट्वा महादेवं नयां स्नातुमयानरत् । धरतोर्ल मज्जमाद नाग केरत्तेर्दिवा ॥ २७ ॥
 एहीनस्तेन नागेन ससार मनसा हरिम् । संसृते पुण्डरीकाक्षे निर्दिशोऽभून्मदोरण ॥ २८ ॥

मुने ' इन प्रकार चारों वर्ग अपने आश्रममें स्थित रहकर धर्म-यज्ञोंमें लगे रहते थे । इनमें एक भी अपने कर्ममें लगन हो गये । उसी समय ब्रह्मणोंमें श्रेष्ठ भार्गवशी महानयी पवन गन्ध कृति नर्मदा नकुलीघर तपमें स्नान करत गये । वहाँ वे महादेवका दर्शनपर नदीमें स्नान करनेके लिये उतरे । अलमें उतरते ही ऋषिको एक मूरे वर्गके सोचने परक शिवा । उस सूर्यगारा परक जातेर स्थिति अपने मनमें

विष्णु भगवन्का नाराय चिक । कमलावन भगवान् श्रीहरिको स्मरण करनेपर वह महान् सर्प विपहीन हो गता ॥ २५-२८ ॥

नीलस्नेनानिर्गोद्रेण पशनेन रसातलम् । निर्विपश्चापि तत्याज च्यवनं भुञ्जगोत्तमः ॥२९॥
संत्यक्तमाद्यो नानेन च्यवने भार्गवोत्तमः । चचार नागकन्याभिः पूज्यमानः समन्ततः ॥३०॥
विचरन् प्रविशेजाय ज्ञानयानां महत् पुरम् । संपूज्यमानो दैत्येन्द्रैः प्रह्लादोऽथ ददर्श तम् ॥३१॥
भृगुपुत्रे महातेजाः पूजां चक्रे यथार्हतः । संपूजितोपविष्टश्च पृष्टश्चागमनं प्रति ॥३२॥

किर उस भयंकर विरहित सने च्यवन मुनिको रसातलमें ले जाकर छोड़ दिया । सने भार्गवश्रेष्ठ च्यवनको मुक्त कर दिया । किर ने नागकन्याओंसे पूजित होते हुए चारों ओर विचरण करने लगे । वहाँ घूमते हुए वे दानवोंके विशाल नगरमें प्रविष्ट हुए । इसके बाद श्रेष्ठ दैत्योंद्वारा पूजित प्रह्लादने उन्हें देखा । महातेजस्वी प्रह्लादने भृगुपुत्रकी यथायोग्य पूजा की । पूजाके बाद उनके बैठनेपर प्रह्लादने उनसे उनके आगमनका कारण पूछा ॥२९-३२॥

स चोवाच महाराज महातीर्थे महाफलम् । स्नातुमेवागतोऽस्म्यथ द्रष्टुञ्चैवाकुलीश्वरम् ॥ ३३ ॥
नथामंयावतीर्णोऽस्मि गृहीतव्राहिणा बलात् । सगानीतोऽस्मि पाताले दृष्टश्चात्र भवानपि ॥ ३४ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं च्यवनस्य दीर्घश्रवणः । प्रोवाच धर्मसंयुक्तं स वाक्यं वाक्यकोविदः ॥ ३५ ॥

उन्होंने कहा—महाराज ! आज मैं महाफलदायक महातीर्थमें स्नान एवं नकुलीश्वरका दर्शन करने आया था । वहाँ नदीमें उतरते ही एक नागने मुझे बलात् पकड़ लिया । वही मुझे पातालमें लाया और मैंने यहाँ आपको भी देखा । च्यवनकी इस बातको सुनकर सुन्दर वचन बोलनेवाले दैत्योंके ईश्वर (प्रह्लाद) ने धर्मसंयुक्त यह वाक्य कहा ॥ ३३-३५ ॥

प्रह्लाद उवाच

भगवन् कानि तीर्थानि पृथिव्यां कानि चास्यरे । रसातले च कानि स्युरेतद् वक्तुं त्वमर्हसि ॥३६॥

प्रह्लादने पूछा—भगवन् ! कृपा करके मुझे बतलाइये कि पृथ्वी, आकाश और पातालमें कौन-कौनसे (मष्टान्) तीर्थ हैं ? ॥ ३६ ॥

च्यवन उवाच

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्नरिक्षे च पुष्करम् । चक्रतीर्थं महाबाहो रसातलतले विदुः ॥३७॥

(प्रह्लादके वचनको सुनकर) च्यवनजने कहा—महाबाहो ! पृथ्वीमें नैमिषारण्यतीर्थ, अन्तरिक्षमें पुष्कर, और पातालमें चक्रतीर्थ प्रसिद्ध हैं ॥ ३७ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रुत्वा तद्भार्गवचरो दैत्यराजो महानुने । नैमिषं गन्तुकामस्तु दानयानिदमब्रवीत् ॥३८॥

पुलस्त्यजने कहा—महानुने ! भार्गवकी इसी बातको सुनकर दैत्यराज प्रह्लादने नैमिषतीर्थमें जानेके लिये इच्छा प्रकट की और दानवोंसे यह बात कही ॥ ३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

उत्तिष्ठध्वं गमिष्यामः स्नातुं तीर्थं हि नैमिषम् । द्रक्ष्यामः पुण्डरीकाक्षं पीतवाससमच्युतम् ॥३९॥

प्रह्लाद बोले—उठो, हम सभी नैमिषतीर्थमें स्नान करने जायेंगे तथा वहाँ पीताम्बरधारी एवं कमलके सगान नेत्रोंवाले भगवान् बाल्युत (विष्णु) के दर्शन करेंगे ॥ ३९ ॥

पुनराय उपास

इत्युक्त्वा दानवेन्द्रेण सर्वे ते देवदागवा । धनुष्योनाममुष्टं निजंमुध रमान् ॥४०॥
 ते समभ्येत्य देतेया दानवाश्च महाशला । निदिशारण्यमागम्य स्नानं यमुजुंदायिना ॥४१॥
 ततो दिताभ्यर. धीमान् मृगव्यां स चचार ह । चरन् समग्रसिं पुण्यां ददत्तं विमतेदमाम् ॥४२॥
 तस्याहूत् महाशालं शालवृष्टं शरैश्चितम् । ददत्तं वाजानपरात् सुये रानान् पश्यन् ॥४३॥

पुलस्त्यजने वहा—देवराज प्रह्लादके ऐम वृद्धनेर वे स्त्री देव और दानव गान्त्ये वडर निरते
 एव अनुश्रीय उद्योगे लगे गये । उन महाशलायन् दिविपुत्रों एव दानवोंने नमिसागण्यने आर आनन्दरुक् स्नान
 किया । इमक बाद श्रीमान् देवश्रेष्ठ प्रह्लाद मृगला (आक्ट या शिकार) क निये दनमें धूने लगे । वही
 धूमने हूए उहोंने पवित्र एव नमंत जगती सरस्वती नदीसे देवा । वही मतीर ही बागोमे गायत्र सिधे
 बड़ी-बड़ी शागाओंके एक शाल वृक्षसे देवा । वे स्त्री बाग एक-दूमेके मुगसे लगे हूए थे ॥ ४०-४३ ॥

ततस्तान्दुताशरान् वाजान् नागोपर्याप्तान् । दृष्ट्वाऽनुलं तदा चक्रे क्रोधं देत्येभ्यर स्मिद ॥४४॥
 स ददत्तं ततो दुराष्टृष्णजिनधरो मुनी । समुद्रतजटाभापे तपस्यासक्तमानसो ॥४५॥
 तयोश्च पादरंघोर्दिभ्ये धनुषी लक्षणाश्विते । शार्ङ्गमाजगरं चैव भक्ष्यो ष गेहपुषो ॥४६॥
 तौ दृष्ट्वाऽमन्यत तदा क्षाम्भिविति दानवः । तत प्रोवाच वचनं ताकुभौ पुरोत्तमो ॥४७॥

तत उन अद्भुत आकारवाले नागोपरीत (सँ सोसे निगटे) बागोंसे देखकर देत्येभ्यसे वक्ता क्रोध हुआ । फिर उहोंने
 दूसे ही वाले मृगचर्मसे धारण किये हूए वही-बड़ी जगजगती तथा तपस्यासे लगे दो मुनियोंसे देवा । उन
 दोनोंसे वगने सुश्रा शाङ्ग और आजगव नामक दो दिव्य धनुष एव दो अश्व तथा बड़े-बड़े तरकन कर्मन
 थे । उन दोनोंसे इस प्रकार देवकर दानराज प्रह्लादके उहें दम्भसे युक्त समझा । फिर उहोंने उन दोनों
 श्रेष्ठ पुरुषोंमे वहा— ॥ ४४-४७ ॥

नि भवद्वयां समारब्धं दम्भं धर्मविनाशनम् । क तप. क जटाभात क चेमी प्रवगपुर्धा ॥४८॥
 अयोवाच नरो देत्यं वा ते चिन्ता दिताभ्यर । सामर्थ्ये सति य धुर्यात् तत्संगयेत तस्य हि ॥४९॥
 अयोवाच दिताशलां वा शक्तिर्युवयोरिह । मयि निष्ठति देत्येन्द्रे धर्ममनुप्रयत्नकं ॥५०॥
 नरस्तं प्रत्युवाचाथ आयाम्या शक्तिरुजिता । न वरिष्ठिच्छनुयाद् योदुं नरनारायणो मुधि ॥५१॥

आप दोनों वद धर्मविनाशक दम्भपूर्ण कार्य क्यों कर रहे हैं ! वही तो अपनी पद तप्य और
 जगभार, क्यों ये दोनों श्रेष्ठ अथ । इमार नरने उनसे वहा—देत्येभ्य । तुम उमरी विर सों कर रहे
 हो । सामर्थ्य रहनकर कोई भी व्यक्ति जो कर्म करता है, उसे वही रोग दता है । तब दिताभ्यर प्रह्लादने उन
 दोनोंसे वहा—धर्मसे युक्त स्वार्थ कर्मने मुझ देत्येन्द्रक रही वही आप ह्येग (मातृ-व्याने) कर
 कर सकते हैं । इमार नरने उहें उत्तर दिय—हमने पर्यंत शक्ति प्राप्त कर ली है । हम नर और
 नारायण—दोनोंसे कोई भी युद्ध नहीं कर सकते ॥ ४८-५१ ॥

देत्येभ्यरस्तन. वृज. प्रतिशामारोपे च । यथा कथंचिजंयामि नरनारायणं एते ॥५२॥
 इत्येवमुक्त्वा वचनं महामा दिताभ्यरः म्याय वलं वनान्ते ।
 विगत्य धारं गुणमापिहृष्य तल्पनि घोहनं वनार ॥५३॥
 ततो नरस्त्याजगरं हि धारमानस्य वाजान् सुबद्धशिलाप्रान् ।
 मुमोच तानत्रितमै पृथग्वैधियुते देवस्तपनीयपुष्टे ॥५४॥

द्विजान् समादद्याथ नरः पृथक्कान् दैत्यैश्चरेणाप्रतिमेन संख्ये ।

क्रुद्धः समानस्य महाधनुस्ततो मुमोच चान्यान् विविधान् पृथक्कान् ॥५५॥

इसपर दैत्येश्वरने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा कर दी कि मैं युद्धमें जिस किसी भी प्रकार आप नर और नारायण दोनोंको जीवूँगा । ऐसी प्रतिज्ञाकर दैत्येश्वर प्रह्लादने वनकी सीमापर अपनी सेना खड़ी कर दी और धनुषको फेंककर उसपर ठोपी चढ़ायी तथा शोग्दर करतलछवि की-ताड़ ठोकी । इसपर नरने भी आजगव धनुषको चढ़ाकर बहुत-से नेत्र बाण छोड़े । परंतु प्रह्लादने अनेक क्षण-पुंखवाले अप्रतिम बाणोंसे उन बाणोंको काट डाला । फिर नरने युद्धमें अप्रतिम दैत्येश्वरके द्वाग बाणोंको नष्ट हुआ देख क्रुद्ध होकर अपने महान् धनुषको चढ़ाकर पुनः अन्य अनेक तीक्ष्ण बाण छोड़े ॥ ५२—५५ ॥

एकं नरो ह्यौ दितिजेश्वरश्च प्राञ्च धर्मसुनुश्चतुरो दितांशः ।

नरस्तु वाणान् प्रमुमाच पञ्च पट् दैत्यनाथो निशितान् पृथक्कान् ॥ ५६ ॥

सप्तपिसुरयो द्विचतुश्च दैत्या नरस्तु पट् त्रीणि च दैन्यसुख्ये ।

पट्प्राणि चैकं च दिताश्वरेण मुक्तानि वाणानि नराय विप्र ॥ ५७ ॥

एकं च पट् पञ्च नरेण मुक्तास्वष्टौ शराः सप्त च दानवेन ।

पट् सप्त चाष्टौ नव पन्नरेण द्विसप्ततिं दैत्यपतिः ससर्ज ॥ ५८ ॥

शतं नरर्षाणि शतानि दैत्यः पट् धर्मपुत्रो दश दैत्यराजः ।

ततोऽप्यसंख्येयतरान् द्वि वाणान् मुमोचतुस्तौ सुभृशं हि क्रोधात् ॥ ५९ ॥

नरके एक बाण छोड़नेपर प्रह्लादने दो बाण छोड़े; नरके तीन बाण छोड़नेपर प्रह्लादने चार बाण छोड़े । इसके बाद पुनः नरने पाँच बाण और फिर दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लादने छः तेज बाण छोड़े । विप्र ! नरके सान बाण छोड़नेपर दैत्यने आठ बाण छोड़े । नरके नव बाण छोड़नेपर प्रह्लादने उनपर दस बाण छोड़े । नरके बारह बाण छोड़नेपर दानवने पंद्रह बाण छोड़े । नरके छतीस बाण छोड़नेपर दैत्यपतिने बहत्तर बाण चलाये । नरके सौ बाणपर दैत्यने तीन सौ बाण चलाये । धर्मपुत्रके छः सौ बाणोंपर दैत्यराजने एक हजार बाण छोड़े । फिर नौ उन दोनोंने अफन क्रोधसे (एक दूसरेपर) असंख्य बाण छोड़े ॥ ५६—५९ ॥

ततो नरो वाणान्परसंख्यैस्त्वास्तरद्भूमिमथो दिशः खम् ।

स चापि दैत्यप्रवरः पृथक्कैश्चिच्छेद् वेगान् तपनीयपुङ्खैः ॥ ६० ॥

नरः पान्त्रिभिर्वीरैः सुभृशं नरदानवौ । युद्धे वरास्त्रैर्युध्येतां वाररूपैः परस्परम् ॥ ६१ ॥

तगस्तु दैत्येन परात्तपाणिना चापे नियुक्तं तु पितामहाखम् ।

मणेश्वरगतं पुरुषोत्तमेन सप्तं समादव्य निपंतनुस्तौ ॥ ६२ ॥

प्रणास्यं तु प्रशमिते प्रहादः क्षोभमूर्च्छितः । गदां प्रगृह्य तरसा प्रचस्कन्द रयोत्तमात् ॥ ६३ ॥

उसके बाद नरने असंख्य बाणोंसे पृथ्वी, आकाश और दिशाओंको टक दिया । फिर दैत्यप्रवर प्रह्लादने शार्ङ्गनामके बाणोंसे बड़े वेगसे छोड़कर उनके बाणोंको काट दिया । तब नर और दानव दोनों वीर बाणों तथा मणेश्वर के अश्वमे परस्पर युद्ध करने लगे । इसके बाद दैत्यने हाथमें ब्रह्मास्त्र लेकर उस धनुषपर नियोजित कर चला दिया एवं उस पुरुषोत्तमने भी माणेश्वरनामका प्रयोग कर दिया । वे दोनों अश्व परस्पर एक दूसरेसे टकर खाकर फिर मरे । मणेश्वरके चर्य छोड़नेपर जोड़ने मूर्च्छित हुए प्रह्लाद वेगसे गदा लेकर उत्तम रथसे क्रुद्ध पड़े ॥ ६०—६३ ॥

गदापाणि समाधानं दैव्यं नारायणमन्त्रा । इष्टाऽथ वृष्टतश्चक्रे नरं योद्धुमनाः स्वयम् ॥ ६५ ॥
 ततो दितांताः समदः समाद्रवन् सदाहंताणि तपसां निधानम् ।
 ध्यानं पुराणविमुदाखिकनं नारायणं नाग्द लोकात् ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीशमनपुराणे महाभोग्यायः ॥ ७ ॥

श्रुति नारायणने उस समय दैत्यको हाथमें गदा छिपे अपनी ओर आते देवकर स्वयं युद्ध करनेकी इच्छासे गरको पीछे हटा दिया । नादजी ! तब प्रह्लादजी गदा लेकर तपोनिगन, शार्ङ्गधनुसको धारण करने लगे, प्रसिद्ध पुराणन श्रुति, महाभोगनगली, लोकाणि नारायणकी ओर दीक्ष लगे ॥ ६५ ६५ ॥

॥ इस प्रकार धोगामनपुराणमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

[अष्टमोऽध्यायः]

पुनराथ दवाथ

शार्ङ्गपाणिनमाधान्तं इष्टाऽप्रे दानयेधरः । परिधाय गदां घेगान् मूर्ध्नि साधयन्ताद्वयम् ॥ १ ॥
 ताद्वितम्याय गद्या धर्मपुत्रस्य नाग्द । नेत्राभ्यामगतद् पारि यद्विर्यनिर्भं भुवि ॥ २ ॥
 मूर्ध्नि नारायणस्यापि सा गदा दानयर्पिता । जगाम राक्षसा प्रह्लादलोटके यथाऽऽतनिः ॥ ३ ॥
 ततो निवृत्त्य दैत्येन्द्रः समाम्बय रथं द्रुतम् । आदाय वामुकं पारस्वल्पाद् पाजं समाददे ॥ ४ ॥

आठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लाद और नारायणका तुमुत्त युद्ध, भक्तिसे विजय)

पुलस्त्यजी बोले—प्रह्लादने जब हाथमें शार्ङ्गधनुष छिपे भक्तान् नारायणको मनमें अने देव तो अपनी गदा घुमाकर वेगले उनके निपर प्रहार कर दिया । नादजी ! गदासे प्रवृत्ति होनेपर नागपाणे नेत्रोंमें लागके सुत्रिके समान आँसु वृष्टीपर गिरने लगे । प्रह्लाद् ! अपनी चौथीपर निपर जैसे वह दूट जाय छे, उसी प्रकार दानयद्वारा नारायणके निपर चल्यो गती वह गदा भी मौरुको टुकड़े हो गती । उसके बाद शीघ्रापूर्वक लौकर वीर दैत्येन्द्रने रथपर आग्द हो धनुष लेकर अपनी तरकनने बाग निकल छिया ॥ १-४ ॥

भानस्य धारं घेगेन गादंपत्रान्दालीमुघान् । मुमोष साध्याय तदा क्रोधात्परिताननः ॥ ५ ॥
 तानागतत एवाशु बागांश्चन्द्रार्द्धसिन्धुभान् । विच्छेद् बाणैरपरिनिर्मिदं च दानयम् ॥ ६ ॥
 ततो नारायणं दैव्यो दैव्यं नारायणः शरैः । आविश्येतां तदाऽन्योन्यं मर्मभिद्रिद्रिजिघमैः ॥ ७ ॥
 ततोऽदरे संनिपातो देयानामभयमुने । दिदृक्षुणां तदा युद्धं लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ ८ ॥

निर क्रोधात् प्रह्लादन शीघ्रमे धनुसको चक्रकर गृभके पधरने अनेक बाणोंसे नारायणकी ओर चलया । नारायणने भी वड़ी शीघ्रसे अपनी ओर आ रहे उन अर्धचन्द्रनुच्य बाणोंके अदने बाणोंके कट टल और कुछ दगरे बाणोंसे प्रह्लादको सिद्ध कर दिया । तब दैत्यने नारायणको और नारायणने दैत्यसे—एक दूसरेको—मर्मभेदी एव हीने चलनेवले बाणोंसे बेग दिया । मुने । तम मन शीघ्रापूर्वक हो रहे इस पेटेरातुप निमित्त एव सुन्दर युद्धको देखनेकी इच्छासे दक्ष ओकर स्त्र्द अकलामे दक्ष हो गद ॥ ५-८ ॥

ततः सुराणां दुःसुखमन्ययाचन्त महास्वनाः । पुण्यार्मनीयस्यं मुमुषुः साधुदैत्ययोः ॥ ९ ॥
 ततः पर्यवत्तु देवेषु गगनस्थेषु ताबुभौ । भयुष्यता मदेष्यानी प्रसक्तानिपदंनम् ॥ १० ॥

बधन्धनुस्तथाकारं ताद्युभौ शश्वृष्टिभिः । दिशश्च विदिशश्चैवच्छादेयतां शरोत्करैः ॥११॥
 ततो नारायणधामं समावृण्व्य महामुने । विभेद मार्गणैस्तोक्षणैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥१२॥
 तथा दैत्येश्वरः क्रुद्धध्यापमानस्य वेगवान् । विभेद हृदये बाह्वोर्बदने च नरोत्तमम् ॥१३॥

उसके बाद बड़े जोरसे बजनेवाले नगाड़ोंको बजाकर देवताओंने भगवान् नारायणके और दैत्यके ऊपर अनुपमस्वप्नें पुष्पोंकी बर्षा की । फिर उन दोनों धनुर्धारियोंने आकाशमें स्थित देवताओंके सामनें दर्शकोंको आनन्द देनेवाला (दिव्यरस) अनूठा युद्ध किया । उस समय उन दोनोंने बाणोंकी वृष्टिसे आकाशको मानो बौध दिया और बाणवृष्टिसे दिशाओं एवं विदिशाओंको टक दिया । महामुनि नारदजी ! तब नारायणने धनुषको गींचकर तेज बाणोंसे प्रह्लादके सभी मर्मस्थलोंमें प्रहार किया और कुर्नवाले दैत्येश्वरने क्रोधपूर्वक धनुषको चढ़ाकर नरोत्तमके हृदय, दोनों भुजाओं और मुँहको भी (बाणोंसे) वेध दिया ॥ ९-१३ ॥

ततोऽप्यतो दैत्यपतेः कार्मुकं मुष्टिवन्धनात् । चिच्छेदैकेन बाणेन चन्द्रार्धाकारवर्चसा ॥१४॥
 बगाम्यत धनुश्छिन्नं चापमादाय चापम् । अधिष्यं लाघवान् कृत्वा घवर्ष निशिताब्जागम् ॥१५॥
 तानप्यस्य शरान् साध्यश्छित्त्वा बाणैरवारयन् । कार्मुकं च ध्रुवप्रेण चिच्छेद पुरुषोत्तमः ॥१६॥
 छिन्नं छिन्नं धनुर्दैत्यस्यन्यदन्यत्समाददे । मनादत्ते तदा साव्यो मुने चिच्छेद लाघवान् ॥१७॥

उसके बाद नारायणने बाण चला रहे प्रह्लादके धनुषके मुष्टिवन्धको अर्धचन्द्रके आकारवाले एक तेजस्वी बाणसे काट दिया । प्रह्लादने भी काटे धनुषको शट पीककर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और शीघ्र ही उसकी प्रलम्बा (डोरी) चढ़ाकर तेज बाणोंकी बर्षा प्रारम्भ कर दी । पर उसके उन शरोंको भी नारायणने बाणोंसे काटकर निवारित कर दिया और उन पुरुषोत्तमने तीव्र बाणसे उसके धनुषको भी काट डाला । नारदजी ! एक धनुषके छिन्न होनेपर दैत्यगजने बारम्बार दूसरा धनुष प्रस्था किया, किंतु नारायणने लिये हुए उन-उन धनुषोंको भी तुरंत काटकर गिरा दिया ॥ १४-१७ ॥

संछिन्नेष्वथ चापेषु जघाद दिनिजेदशरः । परिवं दारुणं दीर्घं सर्वलोहमयं दृढम् ॥१८॥
 परिगुणाय परिवं धामयामास दानयः । धाम्यमाणं स चिच्छेद नागचेन महामुनिः ॥१९॥
 छिन्ने तु परिवं धामान् प्रह्लादो दानवदशरः । मुद्गरं धाम्य वेगेन प्रचिक्षेप नराग्रजे ॥२०॥
 तमागतानं बलवान् मार्गणैर्दशभिर्मुने । चिच्छेद दशधा साध्यः स छिन्नो न्यपतद् भुवि ॥२१॥

फिर धनुषोंके कट जानेपर दैत्यानि प्रह्लादने एक भयंकर, मजबूत और लौह- (फौलाद-) मे बने 'परिव' नामक अशरों उठा दिया । उसे लेकर वे दानव (प्रह्लाद) चारों ओर घुमाने लगे । उस घुमाये जाते हुए परिवरों की नगामुनि नारायणने बाणसे काट दिया । उसके कट जानेपर श्रीमान् दनुजेश्वर प्रह्लादने पुनः एक मुद्गरको वेगसे घुमाकर उसे नारायणके ऊपर फेंक । नारदजी ! उस आते हुए मुद्गरको भी बलवान् नारायणने दस बाणोंसे दस भागोंमें काट दिया; कट नष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८-२१ ॥

मुद्गरं निक्षेपे जाते प्राग्मायिष्य वेगवान् । प्रचिक्षेप नराग्र्याय नं च चिच्छेद धर्मजः ॥२२॥
 प्राग् छिन्ने ततो दैत्यः शक्तिमादाय चिक्षेप । तां च चिच्छेद बलवान् ध्रुवप्रेण महानयाः ॥२३॥
 छिन्नेषु तेषु शश्वृष्टु दानवैरुत्सवदधनुः । मनादाय ततो बाणैरवास्ताग नारद ॥२४॥
 तथा नारायणो दैत्ये दैत्यमानं जगद्भुजः । नाग्विन जयानाय हृदये नुरनागसः ॥२५॥

प्रह्लादने मुद्गरके निकट हो जानेपर 'प्रांश' नामक अथ लेकर बड़े जोरसे नरके बड़े भारी नारायणके ऊपर चढ़ दिया; पर उन्होंने उसे भी काट डाला। प्रांशके नष्ट हो जानेपर दूसरे तेज 'शक्ति' फेंके, पर बघवान् मशानका नारायणने उसे भी अपने भुजंगके द्वारा काट डाला। नरदजी ! उन मनी अश्रोते नष्ट हो जानेपर प्रह्लाद दूसरे विशाल धनुस्से लेकर बाणोंकी बर्रां करने लगे। तब फल तरारी जगद्गुरु नारायणदेवने प्रह्लादके हृदयमें नाराचसे प्रहार किया ॥ २२-२५ ॥

संभिन्नहृदयो भगवान् देवेनाद्भुतकर्मणा। निपयात रघोपस्ये तनयोवाह मागधिः ॥२६॥
 स संनां सुचिरेणैव प्रतिलभ्य दितीश्वरः। मुहूर्त्तं धारमादाय भूयो योद्मुपायनः ॥२७॥
 तमागतं संनिगीक्ष्य प्रयुवाच नराग्रजः। मच्छ दैत्येन्द्र योग्यान् प्रातन्मदिशमाचर ॥२८॥
 एयमुक्तो दितीशस्तु साधयेनाद्भुतकर्मणा। जगाम नैमिषारण्यं क्रियां चक्रे तद्दतिनीम् ॥२९॥

नारदजी ! अद्भुत पराक्रमी नारायणके प्रहारसे प्रह्लादका हृदय बिर ग्वा, फलतः वे वेदोश होकर अपने निकटे भागमें फिर पड़े। यह देगकर सारथी उन्हें बहामि हटकर दूर ले गया। बहान देरके बाद जब उन्हें चेचना प्राप्त हुई—दोश आया, तब वे पुनः मुहूर्त धनुस् लेकर नर-नारायणसे युद्ध करनेके लिये संग्रामभूमिमें आ गये। उन्हें आया देग नारायणने कहा—दैत्येन्द्र ! अब हम काट प्रातः युद्ध करेंगे; तुम भी जाओ, इस समय अपना नित्य कर्म करो। अद्भुत पराक्रमी श्रीनारायणके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद नैमिषारण्य चले गये और वहाँ अपने नित्य कर्म सम्पन्न किये ॥ २६-२९ ॥

एयं सुष्यति देवे च प्रह्लादो ह्यमुषो मुने। रात्रौ चिन्तयते युद्धे कथं जेष्यामि दाम्भिरम् ॥ ३० ॥
 एयं नारायणेनाऽसौ सदासुष्यत नारद। दिव्यं पर्यमहर्षं तु दैत्यो देयं न चाज्ञयन् ॥ ३१ ॥
 ततो पर्यमहर्षान्तं ह्यजिते पुरुषोत्तमे। पीतवामममम्येभ्य दानयो पात्रयममकीन् ॥ ३२ ॥
 किमर्थं देवेदेवत साध्यं नारायणं हरिम्। विजेतुं नाऽप्य शक्नोमि एतन्मे वारणं यद् ॥ ३३ ॥

नारदजी ! इस प्रकार भगवान् नारायण एवं दानकेप्र प्रह्लाद—शोनोंमें युद्ध चत्रा रहा। राधिमें प्रह्लाद यह विचार किया करते थे कि मैं युद्धमें इन दम्भ कर्ननेके शक्तिसे कैसे जीऊँ ! नारदजी ! इन प्रकार प्रह्लादने भगवान् नारायणके साथ एक हजार दिव्य वारोंक युद्ध किया, परन्तु वे उन्हें (नारायणसे) जीत न पाये। फिर हजार दिव्य वारोंके बीच जानेपर भी पुरुषोत्तम नारायणने न जीत सजनेपर प्रह्लादने वैकुण्ठमें जाकर पीतवर्णशरी भगवान् विष्णुमें कहा—देवेत ! मैं (ममलकामे) स्तूप्य नारायणसे अत्यन्त कठे न जीत पाया, अतः मुझे इसका कारण बतलाये ॥ ३०-३३ ॥

पीतवर्ण उवाच

दुर्जयोऽसौ महाबाहुरूपया प्रह्लाद धर्मतः। शान्तो विप्रस्ये धीमान् मृधे देगामुरैगि ॥ ३४ ॥

इसपर पीतवर्णशरी भगवान् विष्णु बोले—प्रह्लाद ! महाबल धर्मपुत्र नारायण तुम्हारे द्वारा दुर्जे हैं। वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त शनी हैं। वे सभी देवताओं प्य अतुंगने भी युद्धमें नहीं जीत पा सकते ॥ ३४ ॥

महान् उवाच

यद्यसौ दुर्जयो देव मया शान्तो ज्ञानिरे। नरकं यन्मनिगतं नरुमर्थं भक्तिरिति ॥ ३५ ॥
 हीनप्रतिभो देवेत कथं जीविष मादराः। तन्मात्रयामतो विष्णो वरिष्ये वाम्भोधनम् ॥ ३६ ॥

प्रह्लादने कहा—देव ! यदि ये साव्यदेव (नारायण) युद्धभूमिमें मुझसे जीते नहीं जा सकते हैं तो मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसका क्या होगा ! यह तो मिथ्या हो जायगी । देवेश ! मुझ-जैसा व्यक्ति हीनप्रतिज्ञा होकर कैसे जीवित रह सकेगा ! इसलिये हे विष्णु ! अब मैं आपके सामने अपने शरीरकी शुद्धि करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्ययमुक्त्वा पचनं देवासे दानवेश्वरः । शिरःस्नातस्तदा तस्थौ गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥
ततो दैन्यपतिं विष्णुः पीतवासाऽब्रवीद्ध्रुवः । गच्छ जेष्यसि भक्त्या तं न युद्धेन कथंचन ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान्से ऐसा कहकर दानवेश्वर प्रह्लाद सिरसे पौरतक स्नानकर वहाँ बैठ गये और 'भ्रातृ-भाष्य'का जप करने लगे । उसके बाद पीतान्धरधारी विष्णुने प्रह्लादसे कहा—हाँ, तुम जाओ, तुम उन्हें भक्तिसे जीत सकोगे, युद्धसे कयमपि नहीं ॥ ३७-३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

मया जितं देवदेव प्रैलोक्ष्यमपि सुव्रत । जितोऽयं त्वत्प्रसादेन शक्तः किमुत धर्मजः ॥ ३९ ॥
अस्मी यद्यजयो देव प्रैलोक्ष्येनापि सुव्रतः । न स्थातुं त्वत्प्रसादेन शक्यं किमु करोम्यज ॥ ४० ॥

प्रह्लादजी बोले—देवाधिदेव ! सुव्रत ! आपकी कृपासे मैंने तीनों लोकों तथा इन्द्रको भी जीत लिया है; इन धर्मपुत्रकी बात ही क्या है ! हे अज ! यदि वे सद्भती त्रिलोकीसे भी अजेय हैं तथा आपके प्रसादसे भी मैं उनके सामने नहीं रह सकता तो फिर मैं क्या करूँ ! ॥ ३९-४० ॥

पीतवासा उवाच

सोऽहं दानवशाईल लोकातां दिनकाम्यया । धर्मं प्रवर्त्तापयितुं तपश्चर्यां समास्थितः ॥ ४१ ॥
तस्माद्यदिच्छसि जयं तमारोधय दानव । तं पराजेप्यसे भक्त्या तस्माच्छुश्रूष धर्मजम् ॥ ४२ ॥

(इति) भगवान् विष्णु बोले—दानवेश्वर ! वस्तुतः नारायणरूपमें वहाँ मैं ही हूँ । मैं ही जगत्की भगवत्की इच्छासे धर्मप्रवर्तनके लिये उस रूपमें तप कर रहा हूँ । इसलिये प्रह्लाद ! यदि तुम विजय चाहते हो तो मेरे उस रूपकी आराधना करो । तुम नारायणको भक्तिद्वारा ही पराजित कर सकोगे । इसलिये धर्मपुत्र नारायणकी आराधना करो—इसी अर्थमें वे सुसाव्य हैं ॥ ४१-४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतुक्तः पीतवासिन दानवेन्द्रो महात्मना । अब्रवीद्ध्रुवन् हृष्टः समाह्वयाऽन्वकं मुने ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद प्रसन्न हो गये । उन्होंने फिर अन्वकसे हुश्रुकर इस प्रकार कहा ॥ ४३ ॥

प्रह्लाद उवाच

देवाध्या दानवादेवैष परिपाल्यास्त्वयान्यक । मयोन्वृष्टमिदं राज्यं प्रतीच्छस्य महाभुज ॥ ४४ ॥
इत्ययमुक्त्वा तत्राह राज्यं देवप्रलोकनिः । प्रह्लादोऽपि नदाऽगच्छत् पुण्यं यदरिक्ताधमम् ॥ ४५ ॥
एषा नारायणः देवं नरं च दिनजेश्वरः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा यवन्दे चरणौ तयोः ॥ ४६ ॥
ननुमन् महातेजा यदयं नागायणोऽन्वयः । किमयं प्रणतोऽस्मिह मामजित्या महासुर ॥ ४७ ॥

प्रह्लादजी बोले—अन्वक ! तुम देवों और दानवोंका प्रतिपालन करो । महाबाहो ! मैं यह राज्य छोड़ रहा हूँ । उसे तुम ग्रहण करो । इस प्रकार कहनेपर जब शिष्यावृत्तके पुत्रने राज्यको लीकार कर लिया,

तव प्रहाद पति बदिकाश्रम चले ग्ये । वहाँ उन्होंने मगान् नारायण तथा नरसे देवावर हाथ जोड़कर ।
 उनके चरणोंमें प्रणाम किया । महातीव्रगी भगवान् नारायणने उनमें कहा—महापुत्र ! मुझे बिना गीते ही
 अब तुम क्यों प्रणाम कर रहे हो ! ॥ ४४-४७ ॥

महात् वचन

कस्यां जेतुं प्रभो शक्तः कस्यचत् पुरुषोऽधिकः । त्वं हि नारायणोऽनन्तः पीतपाम्पा जनार्दन ॥ ४८ ॥
 त्वं देवः पुण्डरीकाक्षस्त्वं विष्णुः शार्ङ्गधापयूक् । स्वमन्वयो महेदानः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ ४९ ॥
 त्वां योगिनश्चिन्तयन्ति चार्थयन्ति मनीषिणः । जपन्ति स्नानपयस्त्वां च वज्रन्ति त्वां च पात्रिभिर ॥ ५० ॥
 त्वमच्युतो ह्योर्वेदाश्रयणार्थिर्गणधरः । महामौलो ह्यदिशस्त्वमेव परकच्छतः ॥ ५१ ॥

महात् बोले—प्रभो ! आपसे भक्त कौन जीत सकता है । आपसे बड़कर कौन हो सकता है । आप
 ही अनन्त नारायण पीताम्बरगरी जनार्दन हैं । आप ही कालजयन शार्ङ्गधनुषधारी विष्णु हैं । आप अन्वय,
 महेश्वर तथा शाश्वत परम पुरुषोत्तम हैं । योगिजन आकाश ही ध्यान करते हैं । निदान् पुरुष आर्या ही पूजा
 करते हैं । वेदज्ञ आपके नामका जा करते हैं तथा वाञ्छितजन अपना यजन करते हैं । आप ही अच्युत,
 ह्रीनेत्रा, चक्रपाणि, धराधर, महामन्व्य, हयग्रीव तथा श्रेष्ठ कच्छत (कूर्म) अर्थात् हैं ॥ ४८-५१ ॥

शिरण्याशरिपुः धीमान् भगवानथ वृष्टः । मत्पितृनांशानकरो भवानपि वृष्टेसरो ॥ ५२ ॥
 मत्ता विनेषोऽमरपाद् हुनादाः प्रेताधिपो नीरपतिः समीरः ।
 सूर्यो मृगाद्गोऽचलजङ्गमायो भवान् विभो नाथ एगोन्द्रबेजो ॥ ५३ ॥
 त्वं पृथ्वी ज्योतिरावारां जलं भूया मद्दधराः । त्वया स्थानं जगत्सर्वं कस्यां जेष्यति माधव ॥ ५४ ॥
 भक्त्या यदि ह्योर्वेदा मोषमेवि जगद्गुरो । नान्यथा त्वं प्रताप्योऽग्नि जेतुं सर्वगणम्य ॥ ५५ ॥

आप शिरण्याश देवको वर करनेवाले ऐश्वर्य-युक्त और भगवान् अग्नि वरदा हैं । आप ही मेरे पिताके
 गारुडके भागवान् नृसिंह हैं । आप मत्ता, मीन, इन्द्र, अग्नि, धन, वरुण और वयु हैं । हे मन्त्रिन् ! हे गणेशके
 (गणधरज) ' आप सूर्य, चन्द्र तथा स्थार और जगत्के अग्नि हैं । पृथ्वी, अग्नि, आकाश और जल आप ही
 हैं । सदृशों स्वामी आपने समस्त जगत्को व्याप किया है । माधव ! आपसे कौन जीत सकेगा । आप्तुगे !
 ह्रीनेत्रा ! आप भक्तिमें ही सतुष्ट हो सकते हैं । हे सर्वगत ! हे अविनाशिन ! आप दूसरे किसी भी अन्य
 प्रकारसे नहीं जीते जा सकते ॥ ५२-५५ ॥

भगवन्वचन

परितुष्टोऽस्मि ते दैत्य स्तयंनानेन सुमते । भक्त्या त्यनन्यथा चार्दं न्यथा दैत्य पराजिताः ॥ ५६ ॥
 पराजिताश्च पुरुषो दैत्य इष्टं प्रयच्छन्ति । इष्टार्थं ते प्रदास्यामि सर्वं तृणं यन्निच्छसि ॥ ५७ ॥

धीभगवान् बोले—सुमत ! दैत्य ! तुम्हारी इस स्तुतिमें मैं अत्यन्त सतुष्ट हूँ । दैत्य ! अत्यन्त भक्तिमें
 तुमने मुझे जीत लिया है । प्रहाद ! पराजित पुरुष विनेत्रको दण्ड (क. स्वामे बुद्ध) दण्ड है । परतु मैं तुम्हारे
 दण्डके बदले तुम्हें वर दूँगा, तुम इच्छित वर माँगे ॥ ५६-५७ ॥

महात् वचन

नारायण परं याने पं त्वं मे दातुमर्हसि । तस्मै पारं त्वं यातु शार्ङ्गं मानसं तथा ॥ ५८ ॥
 पात्रिर्षं च जगन्नाथ पश्यता सह तप्यतः । शोभेन दण्डाभयद् दण्डमेतद्व्यच्छ ॥ ५९ ॥

प्रह्लादने कहा—देव ! यदि ये साध्यदेव (नारायण) युद्धभूमिमें मुझसे जीते नहीं जा सकते हैं तो मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसका क्या होगा ! वह तो मिथ्या हो जायगी । देवेश ! मुझ-जैसा व्यक्ति हीनप्रतिज्ञा होकर कैसे जीवित रह सकेगा ! इसलिये हे विष्णु ! अब मैं आपके सामने अपने शरीरकी शुद्धि करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं देवाग्रे दानवेश्वरः । शिरःस्नातस्तदा तस्थौ गृणन् ब्रह्म स्नाततनम् ॥ ३७ ॥
ततो दैत्यपतिं विष्णुः पीतवासाऽब्रवीद्धचः । गच्छ जेष्यसि भक्त्या तं न युद्धेन कथंचन ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान्से ऐसा कहकर दानवेश्वर प्रह्लाद सिरसे पौरतक स्नानकर वहाँ बैठ गये और 'ब्रह्म-गायत्री'का जप करने लगे । उसके बाद पीताम्बरधारी विष्णुने प्रह्लादसे कहा—हाँ, तुम जाओ, तुम उन्हें भक्तिसे जीत सकोगे, युद्धसे कयमपि नहीं ॥ ३७-३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

मया जितं देवदेव त्रैलोक्यमपि सुव्रत । जितोऽयं त्वत्प्रसादेन शक्रः किमुत धर्मजः ॥ ३९ ॥
असौ यद्यजयो देव त्रैलोक्येनापि सुव्रतः । न स्यातुं त्वत्प्रसादेन शक्यं किमु करोम्यज ॥ ४० ॥

प्रह्लादजी बोले—देवाधिदेव ! सुव्रत ! आपकी कृपासे मैंने तीनों लोकों तथा इन्द्रको भी जीत लिया है ; इन धर्मपुत्रकी बात ही क्या है ! हे अज ! यदि ये सद्रती त्रिलोकीसे भी अजेय हैं तथा आपके प्रसादसे भी मैं उनके सामने नहीं ठहर सकता तो फिर मैं क्या करूँ ! ॥ ३९-४० ॥

पीतवासा उवाच

सोऽहं दानवशार्दूल लोकानां हितकाम्यया । धर्मं प्रवर्त्तापयितुं तपश्चर्यां समास्थितः ॥ ४१ ॥
तस्माद्यदिच्छसि जयं तमाराधय दानव । तं पराजेष्यसे भक्त्या तस्माच्छुश्रूष धर्मजम् ॥ ४२ ॥

(इसपर) भगवान् विष्णु बोले—दानवश्रेष्ठ ! वस्तुतः नारायणरूपमें वहाँ मैं ही हूँ । मैं ही जगत्की भलाईकी इच्छासे धर्मप्रवर्तनके लिये उस रूपमें तप कर रहा हूँ । इसलिये प्रह्लाद ! यदि तुम विजय चाहते हो तो मेरे उस रूपकी आराधना करो । तुम नारायणको भक्तिद्वारा ही पराजित कर सकोगे । इसलिये धर्मपुत्र नारायणकी आराधना करो—इसी अर्थमें वे सुसाध्य हैं ॥ ४१-४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्तः पीतवासेन दानवेन्द्रो महात्मना । अब्रवीद्धचनं हृष्टः समाह्वयाऽन्धकं मुने ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद प्रसन्न हो गये । उन्होंने फिर अन्धकको बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ ४३ ॥

प्रह्लाद उवाच

दैत्याश्च दानवाश्चैव परिपाल्यास्त्वयान्धक । मयोत्सृष्टमिदं राज्यं प्रतीच्छस्व महाभुज ॥ ४४ ॥

इत्येवमुक्तो जग्राह राज्यं हिरण्यलोचनिः । प्रह्लादोऽपि तदाऽगच्छत् पुण्यं वदरिकाश्रमम् ॥ ४५ ॥

इष्ट्वा नारायणं देवं नरं च दितिजेश्वरः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वचन्दे चरणौ तयोः ॥ ४६ ॥

तमुवाच महातेजा वाक्यं नारायणोऽज्ययः । किमर्थं प्रणतोऽसीह मामजित्वा महासुर ॥ ४७ ॥

प्रह्लादजी बोले—अन्धक ! तुम दैत्यों और दानवोंका प्रतिपालन करो । महाबाहो ! मैं यह राज्य छोड़ रहा हूँ । इसे तुम ग्रहण करो । इस प्रकार कहनेपर जब हिरण्याक्षके पुत्रने राज्यको स्वीकार कर लिया,

तव प्रह्लाद पवित्र बदरिकाश्रम चले ग्ये । वहाँ उन्होंने भगवान् नारायण तथा नरसी देवार काय जोड़कर । उनके चरणोंमें प्रणाम किया । महतीकस्ती भगवान् नारायणने वनमे कहा—'हाय ! मुझे मिला जीने ही । अब तुम क्यों प्रणाम कर रहे हो ! ॥ ४४-४७ ॥'

प्रह्लाद दबाय

कल्यां जेतुं प्रभो शक्तः कस्यस्तः पुरुषोऽधिकः । त्वं हि नारायणोऽनन्तः पीतामसा जनार्दनः ॥ ४८ ॥
 त्वं देवः पुण्डरीकाक्षस्त्रं विष्णुः शार्ङ्गचारपृक् । स्वमन्त्रयो महेतानः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ ४९ ॥
 त्वां योगिनश्चिन्तयन्ति चार्चयन्ति मनोषिणः । जपन्ति स्तनकस्त्रयां च यजन्ति त्वां च पादिका ॥ ५० ॥
 त्वमच्युतो ह्यग्रेवैश्वानराणिधंगधरः । महामौक्तो ह्यशिरास्त्रमेव परकच्छरः ॥ ५१ ॥

प्रह्लाद बोले—'प्रभो ! आपसे भद्रा बरान जीत सकता है । आपसे बंदक मौन हो मरता है । आप ही अनन्त नारायण पीताम्बरधारी जनार्दन हैं । आप ही कमन्त्रयन शार्ङ्गधनुशारी विष्णु हैं । आप अत्यय, मोक्षधर तथा शाश्वत परम पुरुषोत्तम हैं । योगिजन आकर ही भजन करते हैं । निदान् पुरुष आरकी ही पूजा करते हैं । वेदज्ञ आपके नामका जा करते हैं तथा पात्रिकजन अणका यजन करते हैं । आप ही अच्युत, ह्रीनेत्रा, चक्रपाणि, धराधर, महामस्य, हयमौन तथा श्रेष्ठ कच्छर (कुर्म) अक्षरी हैं ॥ ४८-५१ ॥

दिरण्याशरिपुः धीमान् भगवानथ सूवरः । मपितुर्नाशानकरो भवानपि नृवैरयो ॥ ५२ ॥
 प्रह्ला विनेयोऽमरवाद हुनासः प्रेताधिपो नारपतिः समारः ।
 सूर्यो मृगाद्गोऽचलजङ्गमाद्यो भवान् विभो नाथ एग्रेन्द्रवैतो ॥ ५३ ॥
 त्वं पृथ्वी ज्योतिगवासां जलं भूया सदसदाः । स्वया व्याप्तं जगत्सर्वं कस्यां जेष्यति माधव ॥ ५४ ॥
 भक्त्या यदि ह्यग्रेवैश्वानराणि जगद्गुरो । नान्यथा त्वं प्रदास्योऽसि जेतुं सर्वगणधर ॥ ५५ ॥

आप दिरण्याश देवसे यम कर्नेशले ऐश्वर्ययुक्त और भगवान् अग्नि करद हैं । आप ही मेरे विरुद्ध मारनेवाले भगवान् वृत्ति हैं । आप भद्रा, मित्र, इन्द्र, अग्नि, धन, कर्ण और बसु हैं । हे मन्त्रिन् ! हे एग्रेन्द्रो (गन्धर्वज) ! आप सूर्य, चन्द्र तथा स्थार और जगत्के अग्नि हैं । पृथ्वी, अग्नि, आकाश और जल आप ही हैं । सदृशों रूपोंमे आपने सतत जगत्को व्याप्त किया है । माधव ! आपसे कौन जीत सकेगा ! जगद्गुरो ! ह्रीनेत्रा ! आप भक्तिमे ही सन्तुष्ट हो सकते हैं । हे सर्वग ! हे अविनाशिन ! आप दुमने विजो मे अय प्रकारसे म्की जीते जा सकते ॥ ५२-५५ ॥

भगवतुकाय

परितुषोऽस्मि ते दैव्य स्वपेनानेन सुमग । भक्त्यात्वनन्यथा चाहं त्वया दैव्य पराजितः ॥ ५६ ॥
 पराजितश्च पुरुषो दैव्य दण्डं प्रयच्छति । दण्डार्थे तं प्रदास्यामि त्वं वृषु यमिच्छति ॥ ५७ ॥

धीभगवान् बोले—सुगत ! दैव्य ! तुम्हारी (स सुनिमे मे अचल सन्तुष्ट हैं । दैव्य ! अल्प भक्तिमे तुमने मुझे जीत लिया है । प्रह्लाद ! पराजित पुरुष विनेकारो दण्ड (ज रूपमे बुद्ध) दे दे । परतु मे तुम्हारे दण्डके बन्ने तुम्हें बर दूँगा, तुम इच्छित वर मांगो ॥ ५६-५७ ॥

प्रह्लाद दबाय

नारायण परं पापे यं त्वं मे दातुमर्हसि । तस्मे पारं त्वं यातु शाश्वतं मानसं तथा ॥ ५८ ॥

प्रह्लादने कहा—देव । यदि ये साध्यदेव (नारायण) युद्धभूमिमें मुझसे जीते नहीं जा सकते हैं तो मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसका क्या होगा ? वह तो मिथ्या हो जायगी । देवेश ! मुझ-जैसा व्यक्ति हीनप्रतिज्ञ होकर कैसे जीवित रह सकेगा ? इसलिये हे विष्णु ! अब मैं आपके सामने अपने शरीरको शुद्धि करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं देवाग्रे दानवेश्वरः । शिरःस्नातस्तदा तस्थौ गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥
ततो दैत्यपतिं विष्णुः पीतवासाऽब्रवीद्वचः । गच्छ जेष्यसि भक्त्या तं न युद्धेन कथंचन ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान्से ऐसा कहकर दानवेश्वर प्रह्लाद सिरसे पौरतक स्नानकर वहाँ बैठ गये और 'ब्रह्म-गायत्री'का जप करने लगे । उसके बाद पीताम्बरधारी विष्णुने प्रह्लादसे कहा—हाँ, तुम जाओ, तुम उन्हें भक्तिसे जीत सकोगे, युद्धसे कयमपि नहीं ॥ ३७-३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

मया जितं देवदेव त्रैलोक्यमपि सुव्रत । जितोऽयं त्वत्प्रसादेन शकः किमुत धर्मजः ॥ ३९ ॥
असौ यद्यजयो देव त्रैलोक्येनापि सुव्रतः । न स्थातुं त्वत्प्रसादेन शक्यं किमु करोम्यज ॥ ४० ॥

प्रह्लादजी बोले—देवाधिदेव ! सुव्रत ! आपकी कृपासे मैंने तीनों लोकों तथा इन्द्रको भी जीत लिया है; इन धर्मपुत्रकी बात ही क्या है ? हे अज ! यदि ये सद्ब्रती त्रिलोकीसे भी अजेय हैं तथा आपके प्रसादसे भी मैं उनके सामने नहीं ठहर सकता तो फिर मैं क्या करूँ ? ॥ ३९-४० ॥

पीतवासा उवाच

सोऽहं दानवशार्दूल लोकानां हितकाम्यया । धर्मं प्रवर्त्तापयितुं तपश्चर्यां समास्थितः ॥ ४१ ॥
तस्माद्यदिच्छसि जयं तमारोधय दानव । तं पराजेप्यसे भक्त्या तस्माच्छुश्रूष धर्मजम् ॥ ४२ ॥

(इसपर) भगवान् विष्णु बोले—दानवश्रेष्ठ ! वस्तुतः नारायणरूपमें वहाँ मैं ही हूँ । मैं ही जगत्की भलाईकी इच्छासे धर्मप्रवर्तनके लिये उस रूपमें तप कर रहा हूँ । इसलिये प्रह्लाद ! यदि तुम विजय चाहते हो तो मेरे उस रूपकी आराधना करो । तुम नारायणको भक्तिद्वारा ही पराजित कर सकोगे । इसलिये धर्मपुत्र नारायणकी आराधना करो—इसी अर्थमें वे सुसाध्य हैं ॥ ४१-४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्तः पीतवासेन दानवेन्द्रो महात्मना । अब्रवीद्वचनं हृष्टः समाह्वयाऽन्धकं मुने ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद प्रसन्न हो गये । उन्होंने फिर अन्धकको बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ ४३ ॥

प्रह्लाद उवाच

दैत्याश्च दानवाश्चैव परिपाल्यास्त्वयान्धक । मयोत्सृष्टमिदं राज्यं प्रतीच्छस्व महाभुज ॥ ४४ ॥
इत्येवमुक्तो जग्राह राज्यं हैरण्यलोचनिः । प्रह्लादोऽपि तदाऽगच्छत् पुण्यं वदरिकाश्रमम् ॥ ४५ ॥

हृष्टा नारायणं देवं नरं च दितिजेश्वरः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा चवन्दे चरणौ तयोः ॥ ४६ ॥
तमुवाच महातेजा वाक्यं नारायणोऽव्ययः । किमर्थं प्रणतोऽस्मीह मामजित्वा महासुर ॥ ४७ ॥

प्रह्लादजी बोले—अन्धक ! तुम दैत्यों और दानवोंका प्रतिपालन करो । महाबाहो ! मैं यह राज्य छोड़ रहा हूँ । इसे तुम ग्रहण करो । इस प्रकार कहनेपर जब हिरण्याक्षके पुत्रने राज्यको खीकार कर लिया,

(इन्द्र-) का बहन है । हे नारद ! इन्द्रके उरुसे तपन भयकर दृष्टाकर्षणत्वा एव मनके सत्ता र्शितान् पौत्रान् नामक मन्त्रि धर्मराजका बहन है । इन्द्रके कर्ण-मन्त्रसे तपन श्यामवर्णताया दिव्यगतिरीत जलनि नयाव शिशुमार (सूस) यक्षका बहन है । अम्बिकाके चरणोंसे तपन गङ्गाके चरणोंके सतान भयंकर अचलत्वा, पर्याकार नगोत्तम कुचेका बहन है ॥ १४-१८ ॥

एषाद्दानानां यद्दानां पाहनानि महासुने ।

गन्धर्वाश्च महावीर्या भुजगोन्द्राश्च शरणाः । इषेतानि सौरभेषानि गृयाप्युभयपानि च ॥१९॥
 एवं चन्द्रममभ्यार्दसदृशं हंसपादनम् । इत्यो रथसाज्ञाश्च भादिव्या मुनिमत्तम ॥२०॥
 बुध्रव्याश्च धर्मयो यक्षाश्च नरपाहनाः । विन्मता भुजगाश्च दयाकरी तयागिदनी ॥२१॥
 साग्नाधिष्ठिता प्रलयन् मरुतो घोरदरानाः । गुम्फाश्च कथयो गन्धर्वाश्च पदातिनः ॥२२॥

हे महासुने ! एकादश इन्द्रोंके बहन महावराक्रमवाली कथबेगम, भयंकर सौराज्य तथा सुगमिरे संसने तपन तीव्रगतिराले सनेद वेल हैं । मुनिश्रेष्ठ ! चन्द्राके रथके गीचनेकाले आधे हजार (पांच सौ) दस हैं । आदिव्योके रथके बहन घोड़े हैं । यमुओंके बहन हाथी, यशोंके बहन नर, किलरोंके बहन सर्प एवं अम्बिनी-कुमारोंके बहन घोड़े हैं । अथन् ! भयंकर दीवनेकाले मरुद्रणोंके बहन हरिया हैं, धुम्रुओंके बहन मुक हैं और गन्धर्वलोग पैदल ही चलते हैं ॥ १९-२२ ॥

आरुद्य पाहनान्येषं इयानि स्नान्यमरोत्तमाः । संनद्य निर्ययुहंश्च युजाय सुमद्योजमः ॥२३॥
 एम प्रकार बड़े तेजस्वी श्रेष्ठ देवगण अपने-अपने बहनोंपर आरुद एवं सजद (तैयार) होकर प्रसन्न-पूर्वक युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २३ ॥

नारद उवाच

गदितानि सुरादीनां पाहनानि त्वया सुने । दैत्यानां पाहनान्येषं यथायद् पश्यतुमर्हसि ॥२४॥
 नारदने वदा— सुने ! अपने देवदिव्योंके बहनोंका वर्णन किया ; इसी प्रकार अब अशुओंके बहनोंका भी यथायत् वर्णन करे ॥ २४ ॥

बुधराय उवाच

शृणुष्व दानपादीनां पाहनानि द्विजोत्तम । पथदिव्यानि तत्वेन यथापद्योत्तुमर्हसि ॥२५॥
 अन्धकस्य रथो दिव्यो मुक्तः परमपातिभिः । इत्यन्येषां सद्दस्त्रादस्त्रिनलवरीमानान् ॥२६॥
 प्रह्लादस्य रथो दिव्यश्चन्द्रवर्णोर्हयोत्तमैः । उद्यमानस्तापाश्चभिः इवेत्यगममया सुभ ॥२७॥
 विरोचनस्य च राज्ञः बुजगस्य मुत्तंगमः । जम्भस्य तु रथो दिव्यो हयैः वाञ्छनसगिभिः ॥२८॥

पुलस्त्यजी बोले—द्विजोत्तम ! (अथ) दानकोंके बहनको सुने । मैं तपन, उनका दीव्यदीव्य वर्णन करता हूँ । अन्धकका अलौकिक रथ दृष्टाकर्षणके श्रेष्ठ अशोसे परिचायित होता था । वह हजार अश्वों—दिव्येरी नानि और मेमिके बीचकी लसदिव्योमे मुक्त बरह सै हाथोंका परिगायकला था । प्रह्लादका दिव्य रथ सुन्दर एवं सुपर्य-रजन-मण्डित था । उसने बद्धवर्गवर्णके अष्ट उत्तम घोड़े जुते हुए थे । विरोचनका बहन हाथी का एवं बुजम्भ घोड़ेपर सवार था । जम्भका दिव्य रथ वर्गवर्गके घोड़ोंसे मुक्त था ॥ २५-२८ ॥

शङ्कराण्य सुराणो हयर्मावस्य बुध्रः ।

रथो मयस्य विख्यातो दुन्दुमेध महाएणः । शम्भस्य विमानोऽनुदपन्नाद्रोमंगधिः ॥ २९ ॥
 बलपुत्री च बलिनी गङ्गामुसलधातिनी । पक्ष्यां दैव्यसैन्यानि अभिद्रगित्तुमुपा ॥ ३० ॥

एवं असुरगण पिशाचों एवं राक्षसोंकी पुष्टि बढ़ानेवाली शोणित-सरिताको पार करनेकी इच्छा कर रहे थे । उस समय देवता और दानवोंके बाजे बज रहे थे । आकाशमें स्थित मुनियों और सिद्धोंके समूह उस युद्धको देख रहे थे । जो वीर उस युद्धमें सम्पुग्न मारे गये थे, उन्हें अप्सराएँ, सीवे स्वर्गमें लिये चली जा रही थीं ॥ ४९-५२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नवौं अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

[अथ दशमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रवृत्ते संग्रामे भीरूणां भयवर्धने । सहस्राक्षो महात्वापमादाय व्यसृजच्छरान् ॥ १ ॥
अन्धकोऽपि महावेगं धनुराकृष्य भास्वरम् । पुरंदराय चिक्षेप शरान् बर्हिणवांससः ॥ २ ॥
तावन्त्योन्यं सुतीक्ष्णाग्रैः शरैः संनतपर्वभिः । रुक्मपुङ्गवमहावेगैराजमनुरुभावपि ॥ ३ ॥
ततः क्रुद्धः शतमलः कुलिशं भ्राम्य पाणिना । चिक्षेप दैत्यराजाय तं ददर्श तथान्धकः ॥ ४ ॥
आजघान च बाणौघैरक्षौः शरैः स नारद । तान् भस्मसात्तदा चक्रे नगानिव हुताशनः ॥ ५ ॥

दसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकके साथ देवताओंका युद्ध और अन्धककी विजय)

पुलस्त्यजी बोले—तपश्चात् भीरुओंके लिये भय बढ़ानेवाला समर आरम्भ हो गया । हजार नेत्रोंवाले इन्द्र अपने विशाल धनुषको लेकर बाणोंकी वर्षा करने लगे । अन्धक भी अपने दीप्तिमान् धनुषको लेकर बड़े वेगसे मयूरपंख लगे बाणोंको इन्द्रपर छोड़ने लगा । वे दोनों एक-दूसरेको झुके हुए पर्वोंवाले स्वर्णपंखयुक्त तथा महावेगवान् तीक्ष्ण बाणोंसे आहत कर दिया । फिर इन्द्रने क्रुद्ध होकर वज्रको अपने हाथसे घुमाकर उसे अंधकके ऊपर फेंका । नारदजी ! अंधकने उसे आते देखा । उसने बाणों, अश्रों और शरोंसे उसपर प्रहार किया; पर अग्नि जिस प्रकार ज्वालों, पर्वतों (या वृक्षों) को भस्म कर देती है, उसी प्रकार उस वज्रने उन सभी अश्रोंको भस्म कर डाला ॥ १-५ ॥

ततोऽतिवेगिनं वज्रं दृष्ट्वा बलवतां वरः । समाप्लुत्य रथात्तस्यो भुवि बाहुसहायवान् ॥ ६ ॥
रथं सारथिना सार्धं साभ्रध्वजसकूबरम् । भस्म कृत्वाथ कुलिशमन्धकं समुपाययौ ॥ ७ ॥
तमापतन्तं वेगेन मुष्टिनाहत्य भूतले । पातयामास बलवाज्जर्जं च तदाऽन्धकः ॥ ८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ अन्धक अग्नि वेगवान् वज्रको आते देखकर रथसे कूदकर बाहुबलका आश्रय लेकर पृथ्वीपर खड़ा हो गया । वह वज्र सारथि, छत्र, राजा एवं कूबरके साथ रथको भस्मकर अन्धकके पास पहुँच गया । उस- (वज्र-) को वेगपूर्वक आते देख बलवान् अन्धकने मुष्टिसे मारकर उसे भूमिपर गिरा दिया और गर्जन करने लगा ॥ ६-८ ॥

तं गर्जमानं वीक्ष्याथ चासत्रः सायकैर्दृढम् । चवर्षं तान् वारयन् स समभ्यायाच्छतक्रतुम् ॥ ९ ॥
आजघान तलेनेभं कुम्भमध्ये पदा करे । जानुना च समाहत्य विषाणं प्रबभञ्ज च ॥ १० ॥
धाममुष्ट्या तथा पार्श्वं समाहत्यान्यकस्त्वरन् । गजेन्द्रं पातयामास प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ॥ ११ ॥
गजेन्द्रात् पतमानाच्च अवप्लुत्य शतक्रतुः । पाणिना वज्रमादाय प्रधिवेशामरावतीम् ॥ १२ ॥

उसे इस प्रकार गरजते देगकर इन्द्रने उसके ऊपर जोरोंसे बाणोंकी बर्षा प्रारम्भ कर दी । अन्धक भी उनको निवारण करने हुए इन्द्रके पाम पट्टेच गया । उसने अपने हाथमें ऐरावत हाथीके निरपर एवं अपने पैरमें मूँटपर प्रहार कर और घुटनोंमें दौंतोंपर प्रहार कर उन्हें तोड़ डाला । फिर अन्धकने बाणों मुट्टीसे ऐरावतकी कमरपर शीतनापूर्वक चोट मारकर उसे जर्जर कर गिरा दिया । इन्द्र भी हाथीसे नीचे गिरे जा रहे थे । वे झटसे कूदकर एवं हाथमें वज्र लेकर अमरावतीमें प्रविष्ट हो गये ॥ ९-१२ ॥

पराङ्मुने सहस्राश्वे तद् दैवतबलं महत् । पातयामास दैत्येन्द्रः पादमुष्टितलादिभिः ॥ १३ ॥
ततो वैरम्यनो दण्डं परिभ्राम्य ऋजोत्तम । समभ्यधावन् प्रह्लादं हन्तुशामः सुरोत्तमः ॥ १४ ॥
तमागत्यं बाणैर्वैर्ययं रविनन्दनम् । हिरण्यरशिणोः पुत्रध्यापमानस्य वेगवान् ॥ १५ ॥
तां बाणवृष्टिमतुलां दृष्टेनाहत्य भान्शरिः । शातयित्वा प्रचिक्षेप दण्डं लोकभयंकरम् ॥ १६ ॥

इन्द्रके रणसे विमुग हो जानेपर अन्धकने उस विशाल देव-मेनाको पैर, मुट्टी एवं घण्टों आदिके मारकर गिरा दिया । नारदजी । इसके बाद देव-प्रेष्ठ यमराज अपना दण्ड घुमाने हुए प्रह्लादको मारनेकी इच्छते दौड़ पड़े । यमराजको अपनी ओर आते देव प्रह्लादने भी अपने धनुसके चढ़ाकर पुनोमें बाण-मूँटोंकी बड़ी लग दी । यमराजने अपने दण्डके प्रहारसे उस अनुलनीय बाण-वृष्टिको व्यर्थ कर लोकभयकारी दण्ड चत्रा दिया ॥ १३-१६ ॥

स बायुपथमास्थाय धर्मराजस्ये स्थितः । जज्वाल कालाग्निनिभो यद्दद् दग्धुं जगन्ध्रयम् ॥ १७ ॥
जाज्वल्यमानमायातं दण्डं दृष्ट्वा दितेः सुताः । प्राक्रोशन्ति हतः कण्ठं प्रह्लादोऽप्यं यमेन हि ॥ १८ ॥
तमाक्रन्दितमारुण्यं हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः । प्रोवाच मामेष्ट मयि स्थिते कोऽप्यं सुराधमः ॥ १९ ॥
इत्येयमुक्त्वा पचनं वेगेनाभिलसार च । जग्राह पाणिना दण्डं हसन सख्येन नारद ॥ २० ॥

धर्मराजके हाथमें स्थित वह दण्ड हवामें ऊपर घूम रहा था । वह ऐसा लगता था मानो तीनों लोकोंको जलानेके लिये कालाग्नि प्रज्वलित हो रही हो । उस प्रज्वलित दण्डको अपनी ओर आते देवकर दैत्यसे चिन्तने लगे—हाय ! हाय ! यमराजने प्रह्लादको मार दिया । उस आक्रन्दनको सुनकर हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकने कहा—उगो मन । मेरे रहते ये यमराज क्या करु हैं ? नारदजी ! ऐसा कहकर वह वेगमें दौड़ पड़ा और हँसते हुए उस दण्डको त्रयें हाथमें पकड़ लिया ॥ १७-२० ॥

तमादाय ततो वेगाद् भ्रामयामास चान्धकः । जगजं च महानादं यथा प्रावृष्टि तोयदः ॥ २१ ॥
प्रह्लादं रक्षितं दृष्ट्वा दण्डाद् दैत्येभ्यरेण हि । माधुवादं ददुर्हंसा दैत्यदानपगृययाः ॥ २२ ॥
भ्रामयन्तं महादण्डं दृष्ट्वा भानुसुतो मुने । दु सहं दुर्धरं मत्वा अन्तर्धानमगाद् यमः ॥ २३ ॥
अन्तर्हिते धर्मराजे प्रह्लादोऽपि महामुने । दारयामास बलवान् देवसैव्यं समन्ततः ॥ २४ ॥

फिर अन्धक उगे लेकर घुमाने लगा और साथ ही वार्तिकक मेरके तुल्य वह महानाद करने हुए गर्जन करने लगा । अन्धकके द्वारा यम-दण्डने प्रह्लादको सुरक्षित देवकर दैत्यों एवं दानकों सेनानायक प्रसन्न होकर उगे धन्यवाद देने लगे । मुने ! अपने महादण्डको अन्धकद्वारा घुनते देव सूर्जनय यम दैत्यको दु सह और दुर्धर समझकर अन्तर्धान हो गये । महामुने ! धर्मराजके अन्तर्हित होनेपर अब बर्ण प्रह्लाद भी सभी ओरसे देवमेनाको नष्ट करने लगे ॥ २१-२४ ॥

वृणु । शिशुमारुण्यो यद्दृश पाशैर्महासुरान् । गदया दारयामास तमभ्यगाद् विरोचनः ॥ २५ ॥
तोमरैर्वज्रसंस्पर्शः शक्तिभिर्मार्गणैरपि । जलेनां ताडयामास मुद्गरैः कर्णरैरपि ॥ २६ ॥

ततस्तं गद्याभ्येन्य पातयित्वा धरातले । अभिद्रुत्य वनन्धाथ पाशैर्मत्तगजं बली ॥२७॥
तान् पाशशतधा चक्रे वेगाच्च दनुजेश्वरः । वरुणं च समभ्येत्य मध्ये जग्राह नारद ॥२८॥

वरुणदेव मूसपर स्थित थे । वे प्रबल असुरोंको अपने पाशोंसे बाँधकर गदाद्वारा विदीर्ण करने लगे । इसपर विरोचनने उनका सामना किया । उसने वज्रतुल्य तोमर, शक्ति, वाण, मुद्गर और कणपों-(भल्लों)-से वरुणदेवपर प्रहार किया । इसपर वरुणने उसके निकट जाकर गदासे मारकर उन्हें पृथ्वीपर गिरा दिया । फिर दौड़कर उन्होंने पाशोंमें उसके मतवाले हाथीको बाँध लिया । पर अन्धकने तुरन्त ही उन पाशोंके सैकड़ों टुकड़े कर दिये । नारदजी ! इतना ही नहीं, उसने वरुणके निकट जाकर उनकी कमर भी पकड़ ली ॥२५-२८॥

ततो दन्ती च शृङ्गाभ्यां प्रचिक्षेप नदाऽव्ययः । ममर्द् च तथा पद्भ्यां सवाहं सलिलेश्वरम् ॥२९॥
तं मर्द्यमानं वाक्षयाथ शशाङ्कः शिशिरांशुमान् । अभ्येन्य नाडयामास मार्गणैः कायदारणैः ॥३०॥

स ताड्यमानः शिशिरांशुवाणैरवाप पीडां परमां गजेन्द्रः ।
दुष्टश्च वेगात् पयसामधीशं मुहुर्मुहुः पादन्तैर्ममर्द् ॥ ३१ ॥
स मृद्यमानो वरुणो गजेन्द्रं पद्भ्यां सुगाढं जगृहे महर्षे ।
पादेषु भूमिं करयोः स्पर्शांश्च मूर्धानमुल्लाल्य बलान्महात्मा ॥ ३२ ॥
गृह्याङ्गुलीभिश्च गजस्य पुच्छं कृत्वेह बन्धं भुजगेश्वरेण ।
उत्पात्र्य चिक्षेप विरोचनं हि सकुञ्जरं खे सनियन्तवाहम् ॥ ३३ ॥

उस हाथीने भी अपने प्रबल दाँतोंसे वरुणको उठाकर फेंक दिया । साथ ही वह बाहनसहित वरुणको अपने पैरोंसे कुचलने लगा । यह देख शीतकिरण चन्द्रमाने हाथीके पास पहुँचकर अपने तेज चुकीले वाणोंसे उसके शरीरको विदीर्ण कर दिया । चन्द्रमाके वाणोंसे विद्व होनेपर अन्धकके हाथीको अल्पविक पीड़ा हुई । वह अपने पैरोंसे वरुणको तेजीसे बार-बार कुचलने लगा । नारदजी ! वरुणदेवने भी हाथीके दोनों पैरोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया एवं अपने हाथों तथा पैरोंसे भूमिका स्पर्श करते हुए मन्तक उठाकर बलपूर्वक अङ्गुलियोंसे उस हाथीकी पूँछ पकड़ ली और मर्पगज वागुक्तिमें विरोचनको बाँधकर उसे हाथी और पिल्लवानके सहित उठाकर आकाशमें फेंक दिया ॥ २९-३३ ॥

शित्तो जलेशेन विरोचनस्तु सकुञ्जरो भूमितले पपात ।
साट्टं सन्यत्रार्गलहर्म्यभूमिं पुरं सुकेशेरिच भास्करेण ॥ ३४ ॥
तनां जलेशः सगद्ः सपाशः समभ्यधावद् दितिजं निहन्तुम् ।
ततः समाक्रन्दमनुत्तमं हि मुक्तं तु दैन्यैर्धनरावतुल्यम् ॥ ३५ ॥
हा हा हताऽसौ वरुणेन वीरो विरोचनो दानवसैन्यपालः ।
प्रह्लाद हे जम्भकुजम्भकाद्या रक्षध्वमभ्येत्य सहान्धकेन ॥ ३६ ॥
अहो महात्मा बलवाञ्च जलेशः संचूर्णयन् दैन्यभटं सवाहम् ।
पाशेन वद्ध्या गद्या निहन्ति यथा पशुं वाजिमखे महेन्द्रः ॥ ३७ ॥
शुचाथ शब्दं दिनित्तैः समीरितं जम्भप्रधाना दितिजेश्वरास्ततः ।
समभ्यधावंस्त्वरिता जलेश्वरं यथा पतङ्गा ज्वलितं हुताशनम् ॥ ३८ ॥

वरुणद्वारा फेंका गया विरोचन आकाशमें हाथीमहित पृथ्वीपर इस प्रकार आ गिरा, जैसे सूर्यद्वारा पहले सुकेन्द्री दैत्यका नगर अट्टाट्टिकाओं, यन्त्रों, अर्गट्टाओं एवं महलोंके सहित पृथ्वीपर गिराया गया था। उसके बाद वरुण गदा और पाश लेकर दैत्यको मारनेके लिये दौड़े। अब दैत्यरोग भेग-मर्जन-जैसे जोर-जोरमें रोने लगे—हाय ! हाय ! राक्षस-सेनाके रक्तकरीर विरोचन वरुणद्वारा मारे जा रहे हैं। हे प्रहाद ! हे जम्भ ! हे कुजम्भ ! तुम ममी अन्धकके साथ आकर (उन्हें) बचाओ। हाय ! ब्रह्मान् वरुण दैत्यवीर विरोचनको बहिनसहित चूर्ण करते हुए उन्हें पाशसे बाँधकर पदासे इस प्रकार मार रहे हैं, जैसे अन्धमें यज्ञमें इन्द्र पशुको मारते हैं। दैत्योंके रुदनको सुनकर जम्भ आदि प्रमुख दैत्यगण वरुणकी ओर शीघ्रतासे ऐसे दौड़े जैसे पतङ्ग प्रञ्जलि अग्निकी ओर दौड़ते हैं ॥ ३४—३८ ॥

तानागतान् वै प्रसमीक्ष्य देवः प्राह्मादिमुत्सृज्य रित्त्य पाशम् ।
 गदां समुद्धाम्य जलेद्वरस्तु दुद्राम ताञ्जम्भमुत्पानरातीन् ॥ ३९ ॥
 जम्भं च पाशेन तथा निहत्य तारं तलेनाशनिर्मनिमेन ।
 पादेन घृष्टं तरसा कुजम्भं निपानयामास यत्नं च मुञ्चया ॥ ४० ॥
 तेनार्दिता देववरेण दैत्याः संप्राद्रचन् दिक्षु विमुक्तदात्राः ।
 ततोऽन्धकः स त्वरितोऽभ्युपेयाद् रणाय योद्धुं जलनायनेन ॥ ४१ ॥
 तमापतन्तं गदया जघान पाशेन यदृष्या परणे सुरेदाम् ।
 तं पाशमाविष्य गदां प्रशृष्ट्य विश्लेष दैत्यः स जलेभ्यराय ॥ ४२ ॥

उन दैत्योंको आया देख वरुण प्रहाद-पुत्र-(विरोचन-)को छोड़ करके पाश फेंकाकर और गदा घुमाकर उन जम्भप्रभृति शत्रुओंकी ओर दौड़े। उन्होंने जम्भको पाशसे, तार-दैत्यको घन-मुन्य करतलके प्रहारसे, वृश्रा-सुरको पैरोंसे, कुजम्भको अपने केशों और बल नामक असुरको मुक्कने मारकर गिरा दिया। देवप्रवर। वरुणद्वारा मर्दित दैत्य अपने अश्र-रात्रोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे। उसके बाद अन्धक वरुणदेवके साथ युद्ध करनेके लिये बढ़ी तेजीसे उनके पास पहुँचा। अपनी ओर आते देव वरुणने उस दैत्यनायक अन्धकको अपने पाशसे बाँधकर गदामें मारा, किंतु दैत्यने उस पाश और गदाको छीनकर वरुणपर ही फेंक दिया ॥ ३९-४२ ॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाशं गदां च दाक्षायणिनन्दनस्तु ।
 विवेदा वेगात् पयसां निधानं ततोऽन्धको देवयत्नं ममदं ॥ ४३ ॥
 तनो हुताशः सुरशत्रुमैत्र्यं वृदाह रोषान् पयनाभूतः ।
 तमभ्ययाद् शनयविश्वकर्मा मयो महाराहुद्रप्रधायः ॥ ४४ ॥
 तमापतन्तं सह शम्यरेण समीक्ष्य यद्विः पथनेन सार्धम् ।
 दाक्षत्या मयं शम्यरेमेव कण्ठे संताप्य जप्राह पलात्महरे ॥ ४५ ॥
 शक्या स कायारणे विदारिते संभिन्नदेहो न्यपतत् गृथिश्याम् ।
 मयः प्रजज्वाल च शम्यरोऽपि कण्ठावलग्ने ज्यलने प्रदूने ॥ ४६ ॥
 स दृष्टमानो दिनितोऽग्निनाथ सुविस्वरं घोरतरं रराय ।
 सिंहाभिपन्नो चिपिते यथैव मत्तो गजः मन्दति वेदनात्तः ॥ ४७ ॥

उस पाश और गदाने अपनी ओर आते देवपर दाक्षायणीके पुत्र वरुण शीघ्रतासे सुन्द्रमें पैठ गये। तब अन्धक देवसेनारा मर्दन करने लगा। उसके बाद पवनद्वारा प्रञ्जलि अग्निदेव क्रोधपूर्वक, अमूर्तरी सेनाके

दग्ध करने लगे । तब दानवोंका 'विश्वकर्मा' (शिल्पिपराज) प्रचण्ड प्रतापी महाबाहु मय उनके सामने आया । नारदजी ! शम्बरके साथ उसे आते देव अग्निदेवने वायुदेवताके साथ शक्तिके प्रहारसे मय और शम्बरके कण्ठमें चोट पहुँचाकर उन दोनोंको ही जोग्ने पकड़ लिया । शक्तिसे कवचके फट जानेपर छिन्न-मिन्न शरीरवाला मय पृथ्वीपर गिर पड़ा और शम्बरासुर कण्ठमें प्रदीप्त अग्निके लग जानेसे दग्ध होने लगा । अग्निद्वारा जलते दैत्यते उस समय मुक्त कण्ठसे इस प्रकार रोदन किया, जैसे वनमें सिद्धसे आक्रान्त मन्वान्या हाथी वेदनासे दृग्शी होकर करुण चिन्वाइ करता है ॥ ४२-४७ ॥

नं शब्दमाकर्ण्य च शम्बरस्य दैत्येश्वरः क्रोधचिन्कटाष्टिः ।
 आः किं किमेतन्तनु केन युद्धे जितो मयः शम्बरदानवश्च ॥ ४८ ॥
 ततोऽब्रुवन् दैत्यभटा दिर्नाशं प्रदह्यन् ह्येष हुनाशनेन ।
 रक्षस्व चाभ्येत्य न शक्यतेऽन्यैर्हुनाशनां चारयितुं रणाश्रे ॥ ४९ ॥
 इत्थं स दैत्यैर्भिनोदितस्तु हिरण्यचक्षुस्तनया महर्षे ।
 उद्यम्य वेगान् पण्डितं हुनाशं समाब्रुवन् निष्ठ निष्ठ ब्रुवन् हि ॥ ५० ॥
 श्रुत्वाऽन्धकस्यापि वचो व्ययात्मा संक्रुद्धचिन्स्वर्गिनो हि दैत्यम ।
 उपाय भूम्यां च विनिष्पिपेप ततोऽन्धकः पावकमागसनाद् ॥ ५१ ॥

शम्बरके उस शब्दको सुनकर क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले दैत्येश्वरने कहा—अरे ! यह क्या है ? युद्धमें मय और शम्बरको किसने जीता है ? इसपर दैत्ययोद्धाओंने अन्धकसे कहा—अग्निदेव इनको जला रहे हैं । आप जाकर उनकी रक्षा करें । आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी अग्निको नहीं रोक सकता । नारदजी ! दैत्योंके ऐसा कहनेपर हिरण्याक्षपुत्र शीघ्रतासे परिव्र उठाकर 'उहरो-उहरो'—कहता हुआ अग्निकी ओर दौड़ पड़ा । अन्धकके वचनको सुनकर अव्ययात्मा अग्निदेवने अत्यन्त क्रोधसे उस दैत्यको शीघ्र ही उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया । उसके बाद अन्धक अग्निके पास पहुँचा ॥ ४८-५१ ॥

समाजघानाथ हुनाशनं हि वरायुधेनाथ वराहमथ्ये ।
 समाहृतोऽग्निः परिमुच्य शम्बरं तथाऽन्धकं स त्वर्गितोऽभ्यधावन् ॥ ५२ ॥
 नमापतन्तं परिश्रेण भूयः समाहनन्मूर्ध्नि तदाऽन्धकोऽपि ।
 स ताडितोऽग्निर्दिनिजेश्वरेण भयान् प्रदुद्राव रणाजिगद्धि ॥ ५३ ॥
 ततोऽन्धको मारुतचन्द्रभास्करान् साध्यान् समद्राश्विवमृन् महोरगान् ।
 यान् या शंभेण स्पृशते पराक्रमी पराङ्मुखोस्तान् कृतवान् रणाजिगान् ॥ ५४ ॥
 ततो विजिन्यामर्गसैन्यमुग्रं सैन्द्रे सरुद्रे मयमं मसोमम ।
 संप्लुज्यमानो दनुर्पुर्गवैस्तु तदाऽन्धको भूमिसुपाजगाम ॥ ५५ ॥
 आत्माद्य भूमिं करदान् नरेन्द्रान् कृत्वा वगे स्थाप्य चराचरं च ।
 जगतमग्रं प्रविशेश श्रीमान् पातालमथ्यं पुरमदमकाहम ॥ ५६ ॥
 तत्र स्थितस्यापि महासुरस्य गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ।
 सहाश्वरगोभिः परिचाराणाय पातालमथ्येन्य समावसन्त ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

उसने श्रेष्ठ अश्वके द्वारा अग्निके सिंगपर प्रहार किया । इस प्रकार आहत अग्निदेव शम्बरको छोड़कर तत्काल अन्धककी ओर दौड़ । अन्धकने आते हुए अग्निदेवके सिंगपर पुनः पण्डिसे प्रहार किया । अन्धकद्वारा

तांति अग्निदेव भयभीत हो रगक्षेत्रमें भाग गये । उसके बाद पराक्रमी अश्वक वायु, चन्द्र, सूर्य, मातृ, रत्न, अधिनीतुम्बर, वसु और महाभागमें जिन-जिनको वाग्वे स्वर्ग कल्प था, वे सभी युद्धभूमिमें पगडमुग हो जाते थे । इस प्रकार इन्द्र, रत्न, यम, सोममण्डित देवताओंकी उग्र सेनाको जीतकर अश्वक श्रेष्ठ दानकोके द्वारा पूजित होकर पृथ्वीपर आ गया । वहाँ वह बुद्धिमान् देव्य सभी राजाओंको अपना कर्तव्य (मन्त्र) बना करके तथा समस्त चक्र-पर जगतको कर्तव्य कर पानालमें स्थित अपने अश्वक नामक उत्तम नगरमें चला गया । वहाँ उस महापुरु अश्वकको सेवा करनेकर कृपे आभयशोक साथ सभी प्रसुप्त शत्रु, विद्याशर एवं सिद्धोंक समूह पानालमें आकर निवास करने लगे ॥ ५२-५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

[अथैकादशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यदेतद् भवता प्रोक्तं सुसंशिनगरोऽम्बरात् । पानितो भुवि सूर्येण नत्कदा कुत्र कुत्र च ॥ १ ॥
सुकेशीति च कदाचामै केन दत्तः पुरोऽस्य च । निमये पानितो भूम्यामाशाशाद् भास्करेण हि ॥ २ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिकी कथा, मगधारण्यमें ऋषियोंसे प्रश्न करना, ऋषियोंका धर्मोपदेश, देवदिके धर्म,

भुवनरक्षा एवं इक्षीस नरसोमा वर्णन)

नारदजीने (पुलस्त्यजीसे) पूछा—आपने जो यह कहा है कि मूर्धने सुकेशीके नगरको आकाशमें पृथीपर गिरा दिया था तो यह घटना कब और कहाँ हुई थी ? सुकेशी नामका वह कौन व्यक्ति था ? उसे यह नगर किन्तने दिया था और भगवान् मूर्धने उसे आकाशमें पृथीपर क्यों गिरा दिया ? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

ऋणुप्पात्रहितो भूया कथामेतां पुरातनीम् । यथोक्तवान् स्वयम्भूर्मा कथ्यमानां मयाऽनघ ॥ ३ ॥

आसीन्निशाचरपतिर्विशुकेशीति विश्रुतः । तस्य पुत्रो गुणज्येष्ठः सुकेशिगभयत्ततः ॥ ४ ॥

तस्य तुष्टस्तथेदानं पुरमाशाश्यागिणम् । प्रादाद्देज्ययमपि शत्रुभिश्चाप्यभ्यतम् ॥ ५ ॥

स चापि शंखान् प्राप्य वरं गगनानं पुरम् । रमे निशाचरैः साङ्गै मदा धर्मपथि स्थितः ॥ ६ ॥

स कदाचिद् गतोऽस्यं मागधं राक्षसेद्वयः । तत्राश्रमांस्तु दृष्टो ऋषीणां भाविताम्बनाम् ॥ ७ ॥

महर्षान् स तदा दृष्ट्वा शण्डिपत्याभिप्राय च । प्रत्युवाच ऋषीन् सर्वान् कृतात्मनपरिग्रहः ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—निशाचर नारदजी ' यह कथा बहुत पुरानी है; आप इसे मगधारण्यमें सुनिये ।

ब्रह्मजीने जमे यह कथा मुझे सुनायी थी वैसे ही हमें भी आपसे सुना रहा है । पहले विशुकेशी नामके प्रसिद्ध राक्षसोंका एक नगर था । उसका पुत्र सुकेशी गुणोंमें उसमें भी बदनगर था । उसका प्रसन्न होकर निशाचर उने एक अश्वकचारी नगर का शत्रुके अश्वक पर अश्वक होनेका धर्म भी दिया । उस शत्रुके आकाशचारी श्रेष्ठ नगर परकर राक्षसोंके साथ मदा धर्मपथपर रहत हुए । अचानक एक मलय मगधारण्यमें जाकर उस राक्षसगजने वहाँ ध्यान परतण ऋषियोंके आश्रममें जाकर । उस समय मूर्धनियोंके देवकर अभिप्रायन और प्रमाण किया । फिर एक जगह बैठकर उनमें समस्त ऋषियोंके कहा— ॥ ३-८ ॥

सुकेशिस्वाच

प्रष्टुमिच्छामि भवतः संशयोऽयं हृदि स्थितः । कथयन्तु भवन्तो मे न चैवाज्ञापयाम्यहम् ॥ ९ ॥
किंस्विच्छ्रेयः परं लोके किमु चेह द्विजोत्तमाः । केन पूज्यस्तथा सत्सु केनासौ सुखमंधतं ॥ १० ॥

सुकेशि बोला—मैं आपलोगोंको आदेश नहीं दं रहा हूँ; बल्कि मेरे हृदयमें एक संदेह है, उसे मैं आपसे पूछना चाहता हूँ । आप मुझको उसे बतलाइयें । द्विजोत्तमो ! इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी क्या है ? मनुष्य सज्जनोंमें कैसे पूज्य होता है और उसे सुखकी प्राप्ति कैसे होती है ? ॥९-१० ॥

पुलस्त्य उवाच

हृत्थं सुकेशिचचनं निशम्य परमपर्ययः । प्रोचुर्विमृदय श्रेयोऽर्थमिह लोके परत्र च ॥ ११ ॥

पुलस्त्यजी बोले—सुकेशीके इस प्रकारके वचनको सुनकर श्रेष्ठ ऋषियोंने विचारकर उससे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी बातें कहीं ॥ ११ ॥

ऋषय ऊचुः

श्रूयतां कथयिष्यामस्तव राक्षसपुंगव । यद्धि श्रेयो भवेद् वीर इह चासुत्र चाव्ययम् ॥ १२ ॥

श्रेयो धर्मः परं लोके इह च क्षणदाचर । तस्मिन् समाश्रितः सत्सु पूज्यस्तेन सुखी भवेत् ॥ १३ ॥

ऋषिगण बोले—वीर राक्षस-श्रेष्ठ । इस लोक और परलोकमें जो अक्षय श्रेयस्कर वस्तु है, उसे हम तुमसे कहते हैं, उसे सुनो । निशाचर ! इस लोक और परलोकमें धर्म ही कल्याणकारी है । उसमें स्थित रहकर व्यक्ति सज्जनोंमें आदरणीय एवं सुखी होता है ॥ १२-१३ ॥

सुकेशिस्वाच

किंलक्षणो भवेद् धर्मः किमाचरणसत्क्रियः । यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु तदुच्यताम् ॥ १४ ॥

सुकेशि बोला—धर्मका लक्षण (परिचय) क्या है ? उसमें कौनसे आचरण एवं सत्कर्म होते हैं, जिनका आश्रय लेकर देवादि कभी दुःखी नहीं होते । आप उसका वर्णन करें ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः । स्वाध्यायवेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजार्गतः स्मृता ॥ १५ ॥

दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्यं युद्धसत्क्रिया । वेदनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता ॥ १६ ॥

सिद्धानामुदितो धर्मो योगयुक्तिरनुत्तमा । स्वाध्यायं ब्रह्मविज्ञानं भक्तिर्द्वाभ्यामपि स्थिरा ॥ १७ ॥

उल्कृष्टपासनं श्रेयं नृत्यवाद्येषु वेदिता । सरस्वत्यां स्थिरा भक्तिर्गान्धर्वो धर्म उच्यते ॥ १८ ॥

ऋषियोंने कहा—सदा यज्ञादि कार्य, स्वाध्याय, वेदज्ञान और विष्णुपूजामें रति—ये देवनाओंके शाश्वत परम धर्म हैं । बाहुबल, ईर्ष्याभाव, युद्धकार्य, नीतिशास्त्रका ज्ञान और हर-भक्ति—ये दैत्योंके धर्म कहे गये हैं । श्रेष्ठ योगसाधन, वेदाध्ययन, ब्रह्मविज्ञान तथा विष्णु और शिव—इन दोनोंमें अचल भक्ति—ये सव सिद्धोंके धर्म कहे गये हैं । ऊँची उपासना, नृत्य और वाद्यका ज्ञान तथा सरस्वतीके प्रति निश्चल भक्ति—ये गन्धर्वोंके धर्म कहे जाते हैं ॥ १५—१८ ॥

विद्याधरगन्धमनुलं विज्ञानं पौरुषे मतिः । विद्याधरणां धर्मोऽयं भवान्यां भक्तिरेव च ॥ १९ ॥

गन्धर्वविद्यावेदित्वं भक्तिर्भीतो तथा स्थिरा । कौशलयं सर्वशिल्पानां धर्मः किम्पुरुषः स्मृतः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यममानित्वं योगाभ्यासरतिर्हृदा । सर्वत्र कामचारित्वं धर्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥ २१ ॥

ब्रह्मचर्यं यथाशित्यं जप्यं ज्ञानं च राक्षस । नियमाङ्गमवेक्षित्यमात्रं धर्मं प्रचक्षते ॥ २२ ॥
 स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च । अशरण्यमनायामं दया दित्वा धनम दम ॥ २३ ॥
 जितेन्द्रियत्वं शीघ्रं च माहृत्यं भक्तिरच्युते । शोकर भास्वरे देव्यां धर्मोऽयं मानव स्मृत ॥ २४ ॥

अद्भुत विद्याका धारण करना, विज्ञान, पुरुषार्थकी बुद्धि और भवनीके प्रति भक्ति—ये विद्याधरोंके धर्म हैं । गन्धर्वविद्याका ज्ञान, सूर्यके प्रति अटल भक्ति और सभी शिल्प-वक्रओमें बुझाया— ये ऋष्युक्तोंके धर्म माने जाते हैं । ब्रह्मचर्य, अमानित्व (अभिमानमें बचना), योगभ्यासमें दृढ़ प्रीति एव सत्र दण्डनुसार भ्रमण—ये पितृके धर्म कहलते हैं । राक्षस ! ब्रह्मचर्य, नियमाहार, जप, आत्मज्ञान और नियमनुसार धर्मज्ञान—ये ऋषियोंके धर्म कहे जाते हैं । स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, उदारता, विश्रान्ति, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शीघ्र, माहृत्य तथा विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा देवोंमें भक्ति—ये मानवोंके (सामान्य) धर्म हैं ॥ १०.—२४ ॥

धनसन्धिपरयं भोगानि स्वाध्यायं शंकरार्चनम् । अहंशङ्कमौल्यद्वयं धर्मोऽयं गुरोरपि प्रति ॥ २५ ॥
 परदारयमर्शित्वं पारस्पर्येऽर्थे च लोलता । स्वाध्यायं व्यस्यके भक्तिधर्मोऽयं राक्षस स्मृत ॥ २६ ॥
 अविवेकमयाज्ञानं शौचदानिरसत्पना । पिशाचानामयं धर्मः सदा चाभिरगृह्णुता ॥ २७ ॥
 योनयो द्वादशैवैतास्तासु धर्मोऽथ राक्षस । ब्रह्मणा कथिता पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥ २८ ॥

धनका स्वामित्व, भोग, स्वाध्याय, शिवजीकी पूजा, अहंकार और सौम्यता—ये गुणोंके धर्म हैं । परलीगमन, दूसरोंके धनमें लोलुपता, वेदाप्ययन और शिवभक्ति—ये राक्षसोंके धर्म कहे गये हैं । अविवेक, अज्ञान, अपवित्रता, असत्यता एव सदा मांस-भक्षणकी प्रवृत्ति—ये पिशाचोंके धर्म हैं । राक्षस ! ये ही ब्राह्मणेयोनियों हैं । पितामह ब्रह्मने उनके ये ब्राह्म गति देनेवाले धर्म कहे हैं ॥ २५—२८ ॥

सुकेशिकाव

भवद्विरुक्ता ये धर्माः शाश्वता द्वादशाव्ययाः । तत्र ये मानवा धर्मोस्तान् भूयं व्रजनुमर्हथ ॥ २९ ॥
 सुकेशिने कथा—अपलोगोंने जो शाश्वत एव अव्यय ब्राह्म धर्म बनाये हैं, उनमें मनुष्योंके धर्मोंमें एक बार पुनः कहनेकी कृपा करें ॥ २९ ॥

अथ उचु

शृणुष्व मनुजादाना धर्मोऽस्तु क्षणदाचर । ये घसन्ति महापृष्ठे नगा दंष्ट्रिषु ममसु ॥ ३० ॥
 योजनानां प्रमाणेन पञ्चाशत्कोटिरायता । जलोपरि महार्णं हि नैरिवास्ते सगिजले ॥ ३१ ॥
 तस्योपरि च देवेशो ब्रह्मा शैलेन्द्रमुत्तमम् । कर्णिकाराशमल्युच्चं स्यापयामास मत्तम ॥ ३२ ॥
 तस्येमां निर्ममे पुण्यां प्रजां देवधनुर्दिशम् । स्थानानि द्वीपसंज्ञानि कृत्वाऽथ प्रजापतिः ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—निश चर ' पृथ्वीके सप्त द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्य ऋषियोंके धर्मोंको सुनो । यह पृथ्वी पचास करोड़ योजन विस्तरवाली है और यह नदीमें नानके समान जलपर स्थित है । मज्जमथ्रेट ! उसके ऊपर देवेश ब्रह्मने कर्णिकारक आकारवाले अत्यन्त ऊँचे सुमेरुगिरिके स्थानि कथा है । फिर उम्मार प्रभाने चारों दिशाओंमें पवित्र प्रजास निर्माण किया और द्वीप-नामवाले अनेक स्थानोंकी भी रचना की है ॥ ३०—३३ ॥

तत्र मध्ये च कृतवाङ्मयद्वीपमिति ध्रुवम् । तल्लभं योजनानां च प्रमाणेन नियचते ॥ ३४ ॥
 ततो जलनिधी गैरो धारानो द्विगुणः स्थितः । तस्यापि द्विगुणः प्लक्षो वाहान संव्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

ततस्त्रिविश्वरसोदश्च वाह्यतो वलयाकृतिः । द्विगुणः शाल्मलिद्वीपो द्विगुणोऽस्य महोदधेः ॥ ३६ ॥
सुरोदो द्विगुणस्तस्य तस्माच्च द्विगुणः कुशः । घृतोदो द्विगुणश्चैव कुशार्द्धीपात् प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥

उनके मध्यमें उन्होंने जम्बूद्वीपकी रचना की । इसका प्रमाण एक लक्ष योजनका कहा जाता है । उसके बाहर दुगुना परिमाणमें लवण-समुद्र है तथा उसके बाद उसका दुगुना प्लक्षद्वीप है । उसके बाहर दुगुने प्रमाण-वाला वलयाकार इक्षुरस-सागर है । इस महोदधिका दुगुना शाल्मलिद्वीप है । उसके बाहर उससे दुगुना सुरासागर है तथा उससे दुगुना कुशद्वीप है । कुशार्द्धीपसे दुगुना घृतसागर है ॥ ३४-३७ ॥

घृतोदाद् द्विगुणः प्रोक्तः क्रौञ्चद्वीपो निशाचर । ततोऽपि द्विगुणः प्रोक्तः समुद्रो दधिसंज्ञितः ॥ ३८ ॥
समुद्राद् द्विगुणः शाकः शाकाद् दुग्धाब्धिरुत्तमः ।
द्विगुणः संस्थितो यत्र शेषपर्यङ्कगो हरिः । पते च द्विगुणाः सर्वे परस्परमपि स्थिताः ॥ ३९ ॥
चत्वारिंशदिमाः कोट्यो लक्षाश्च नद्यतिः स्मृताः ।
योजनानां राक्षसेन्द्र पञ्च चातिसुविस्तृताः । जम्बूद्वीपात् समारभ्य यावत्क्षीराब्धिरन्ततः ॥ ४० ॥

निशाचर ! घृतसागरसे दुगुना क्रौंचद्वीप कहा गया है तथा उससे दुगुना दधिसमुद्र है । दधिसागरसे दुगुना शाकद्वीप है और शाकद्वीपसे द्विगुण उत्तम क्षीरसागर है जिसमें शेषशय्यापर सोये श्रीहरि स्थित हैं । ये सभी परस्पर एक-दूसरेसे द्विगुण प्रमाणमें स्थित हैं । राक्षसेन्द्र ! जम्बूद्वीपसे लेकर क्षीरसागरके अन्ततकका विस्तार चालीस करोड़ नव्हे लाख पाँच योजन है ॥ ३८-४० ॥

तस्माच्च पुष्करद्वीपः स्वादूदस्तदनन्तरम् । कोट्यश्चतस्रो लक्षणां द्विप चाशच्च राक्षस ॥ ४१ ॥
पुष्करद्वीपमानोऽयं तावदेव तथोदधिः । लक्षमण्डकटाहेन समन्तादभिपूरितम् ॥ ४२ ॥
एवं द्विपास्त्वमे सप्त पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः । गदिष्यामस्तव वयं शृणुष्व त्वं निशाचर ॥ ४३ ॥
प्लक्षादिपु नरा वीर ये वसन्ति सनातनाः । शाकान्तेषु न तेष्वस्ति युगावस्था कथंचन ॥ ४४ ॥
मोदन्ते देववत्तेषां धर्मो दिव्य उदाहृतः । कल्पान्ते प्रलयस्तेषां निगद्येत महाभुज ॥ ४५ ॥
ये जनाः पुष्करद्वीपे वसन्ते रौद्रदर्शने । पैशाचमाश्रिता धर्मे कर्मान्ते ते विनाशितः ॥ ४६ ॥

राक्षस ! उसके बाद पुष्करद्वीप एवं तदनन्तर सादु जलका समुद्र है । पुष्करद्वीपका परिमाण चार करोड़ वावन लाख योजन है । उसके चारों ओर उतने ही परिमाणका समुद्र है । उसके चारों ओर लाख योजनका अण्डकटाह है । इस प्रकार वे सानों द्वीप भिन्न धर्मों और क्रियावाले हैं । निशाचर ! हम उनका वर्णन करते हैं । तुम उसे सुनो । वीर ! प्लक्षसे शाकतकके द्वीपोंमें जो सनातन (नित्य) पुरुष निवास करते हैं, उनमें किसी प्रकारकी युग-भयवस्था नहीं है । महाबाहो ! वे देवताओंके समान सुखभोग करते हैं । उनका धर्म-दिव्य कहा जाता है । कल्पके अन्तमें उनका प्रलयमात्र होना वर्णित है । पुष्करद्वीप देखनेमें भयंकर है । वहाँके निवासी पैशाच-धर्मोंका पालन करते हैं । कर्मके अन्तमें उनका नाश होता है ॥ ४१-४६ ॥

शुकेशिरवाच

किमर्थं पुष्करद्वीपो भवद्भिः समुदाहृतः । दुर्दर्शः शौचरहितो घोरः कर्मान्तनाशकृत् ॥ ४७ ॥

शुकेशिने कहा—आपलोगोंने पुष्करद्वीपको भयंकर, पवित्रता-रहित, घोर एवं कर्मके अन्तमें नाश करनेवाला क्यों बतलाया ? कृपाकर यह बात हमें समझायें ॥ ४७ ॥

अथ उचु

तस्मिन् निशाचरं ह्येव नरका मन्ति दासणा । रौरवादास्त्रके गंड. पुष्पगे चोरदर्शन ॥४८॥

ऋषियोगे नहा—निशाचर ! उम शीघ्रमे रौरव आदि भयनक नरक है । उमने पुनः शीघ्र देवसेम यदा मकर है ॥ ४८ ॥

सुभेदिन्याः

किमन्येतानि गंडाणि नरकाणि तपोधना । त्रियन्मात्राणि मागेण रा च तेषु स्वरूपा ॥ ४९ ॥

सुभेदिने पूत्र—तत्रियोग ! वे रौरव नरक कितने हैं । उनका मागे कितना है । उनका स्वरूप बस है । ॥ ४९ ॥

अथ उचु

शृणु राक्षसश्रेष्ठ प्रमाणं लक्षणं तथा । सर्वेषां शंखार्दीनां संख्या आ त्वेर्नामनि ॥ ५० ॥

हे महेश्वरे योजनानां ज्वलिताङ्गपरिस्थले । रौरवो नाम नरक प्रथम परिशक्ति ॥ ५१ ॥

ततः पापमयी भूमिरभस्ताडवितापिता । द्वितीये द्विगुणस्तस्मात्प्रमाणेन उच्यते ॥ ५२ ॥

ततोऽपि द्विभ्यश्चापस्त्रामिश्रो नरकः स्मृतः । अश्वनामिश्रणे नाम चतुर्थो द्विगुण पर ॥ ५३ ॥

ततस्तु शालचक्रेति पञ्चमः परिशोयते । अप्रतिष्ठं च नरकं घटीपत्रं च सप्तमम् ॥ ५४ ॥

ऋषियोगे नहा—राक्षसश्रेष्ठ ! उन सप्त रौरव आदि नरकेका लक्षण और प्रमाण सुने, त्रिन (सुभय नरको) की संख्या इसकी है । उनमें प्रथम रौरव नरक कहा जाता है । यह दो हजार योजन मिलत एव प्रचलित जागमय है । उमसे द्विगुण महाौरव नामक द्वितीय नरक है । उमकी भूमि जग्ने हुए तीरमे बनी है, जो भीरुमे जानझग तावन होनी रक्ती है । उमसे द्विगुण मिलत तीसरा तामिश्र नामक नरक कहा जाता है । उमसे द्विगुण अश्वनाम नामक चतुर्थ नरक है । उमक बाद पंचम नरकों शालचक्र कहते हैं । अप्रतिष्ठ नामक नरक ५५ जा घटीपत्र सप्तम है ॥ ५०-५४ ॥

अस्तिपञ्चमं चान्यत्सदस्राणि द्विसप्ततिः । योजनानां परिश्रयानमष्टमं नरकेत्समम् ॥ ५५ ॥

नवमं तसदुत्तमं च दशमं वृष्टगात्रनलि । कल्पप्रसक्त्येकस्तथाऽन्यः श्वानभोजन ॥ ५६ ॥

संशोषो लोदपिण्डश्च हरम्भस्तिता तथा ।

घोरा क्षारनदी चान्या तथाप्य वृमिभोजन । तथाऽष्टादशमा भोक्ता त्रेण यनगणा नदी ॥ ५७ ॥

तथा पर शोणितपूषभोजन भुगप्रवागा निशिया चक्र ।

संशोषणे नाम तथाप्यनन प्रोक्तास्तंते नरका सुभेदिनि ॥ ५८ ॥

इति श्रीवमनपुराण एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

नरकोमे श्रेष्ठ अतिप्रथम नामक आठवा नरक कल्प एकर योजन मिलत क्या कहा है । नवी तमकुम्भ, रजनी वृष्टाङ्गलि ग्याहरी कल्प और शालचक्र नामक क्षानभोजन है । उनका मागे प्रथम नरक, लोटपिण्ड, हरम्भस्तिता, मयका ५५ तथा वृमिभोजन और कहरकेको गोर वना की नदी का कता है । उनसे अतिशय शोणित पूषभोजन, भुगप्रवागा निशिया चक्र नामक अतिशय नरक कहते हैं । सुभेदिनी ! हमने उमने उन नरक की संख्या कर दिया ॥ ५५-५८ ॥

॥ इस प्रकार धर्मानुभवपुत्राभमे ग्याहरीका अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

[अथ द्वादशोऽध्यायः]

सुकेशिह्वाच

कर्मणा नरकानेतान् केन गच्छन्ति वै कथम् । एतद् वदन्तु विप्रेन्द्राः परं क्रौतूहलं मम ॥ १ ॥

वारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिका नरक देनेवाले कर्मोंके सम्बन्धमें प्रश्न, ऋषियोंका उत्तर और नरकोंका वर्णन)

सुकेशिने पूछा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! इन नरकोंमें लोग किस कर्मसे और कैसे जाते हैं, यह आपलोग बतलायें । इस विषयको जाननेकी मेरी बड़ी उत्सुकता है ॥ १ ॥

ऋषय ऊचुः

कर्मणा येन येनेह यान्ति शालकटंकट^१ । स्वकर्मफलभोगार्थं नरकान् मे शृणुष्व तान् ॥ २ ॥

वेददेवद्विजातीनां यैर्निन्दा सततं कृता । ये पुराणेतिहासार्थान् नाभिनन्दन्ति पापिनः ॥ ३ ॥

गुरुनिन्दाकरा ये च मखविघ्नकराश्च ये । दातुर्निवारका ये च तेषु ते निपतन्ति हि ॥ ४ ॥

सुहृद्भ्रमपतिसदर्यस्वामिभृत्यपितासुतान् । याज्योपाध्याययोर्षैश्च कृता भेदोऽधमैर्मिथः ॥ ५ ॥

कन्यामेकस्य दत्त्वा च ददत्यन्यस्य येऽधमाः । करपत्रेण पाह्यन्ते ते द्विधा यमकिंकरैः ॥ ६ ॥

ऋषिजन बोले—सुकेशिन् ! मनुष्य अपने जिन-जिन कर्मोंके फल भोग करनेके लिये इन नरकोंमें जाते हैं, उन्हें हमसे सुनो । जिन लोगोंने वेद, देवता एवं द्विजातियोंकी सदा निन्दा की है, जो पुराण एवं इतिहासके अर्थमें आदरबुद्धि या श्रद्धा नहीं रखते और जो गुरुओंकी निन्दा करते हैं तथा यज्ञोंमें विघ्न डालते हैं, जो दाताको दान देनेसे रोकते हैं, वे सभी उन (वर्णित हो रहे) नरकोंमें गिरते हैं । जो अधम व्यक्ति मित्र, स्त्री-पुरुष, सहोदर भाई, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र एवं आचार्य तथा यजमानोंमें परस्पर झगड़ा लगाते हैं तथा जो अधम व्यक्ति एकको कन्या देकर पुनः दूसरेको दे देते हैं, वे सभी यमदूतोंद्वारा नरकोंमें आरासे दो भागोंमें चीरे जाते हैं ॥ २-६ ॥

परोपतापजनकाश्चन्दनोशीरहारिणः । वालव्यजनहर्त्तारः करम्भसिकताश्रिताः ॥ ७ ॥

निमन्त्रितोऽन्यतो भुङ्क्ते श्राद्धे दैवे सपैतुके । स द्विधा कृष्यते मूढस्तीक्ष्णतुण्डैः खगोत्तमैः ॥ ८ ॥

मर्माणि यस्तु साधूनां तुदन् वाग्मिर्निकृन्तति । तस्योपरि तुदन्तस्तु तुण्डैरि न्ति पतत्रिणः ॥ ९ ॥

यः करोति च पैशुन्यं साधूनामन्यथामतिः । वज्रतुण्डनखा जिह्वामाकर्षन्तेऽस्य वायसाः ॥ १० ॥

(इसी प्रकार) जो दूसरोंको संताप देते, चन्दन और खसकी चोरी करते और बालोंसे बने व्यजनों—चँवरोंको चुराते हैं, वे करम्भसिकता नामक नरकमें जाते हैं । जो देव या पितृश्राद्धमें निमन्त्रित होकर अन्यत्र भोजन करता है, उस मूर्खको नरकमें तीक्ष्ण चोंचवाले बड़े-बड़े नरकपक्षी पकड़कर दोनों ओर खींचते हैं । जो तीखे बचनोंके द्वारा चोट करते हुए साधुओंके हृदयको दुखाता है, उसके ऊपर भयंकर पक्षी अपने चोंचोंसे कठोर प्रहार करते हैं । जो दुष्टबुद्धि मनुष्य साधुओंकी चुगली-निन्दा करता है, उसकी जीभको वज्रतुल्य चोंच और नखवाले कौए खींच लेते हैं ॥ ७-१० ॥

मातापितृगुरुणां च येऽवह्नां चकूरुद्धताः । मज्जन्ते पूयविण्मूत्रे त्वप्रतिष्ठे ह्यधोमुखाः ॥ ११ ॥

देवतातिथिभूतेषु भृत्येष्वभ्यागतेषु च । अभुक्त्वस्तु ये श्नन्ति वालपित्रिणिमात्सु ॥ १२ ॥

१—शालकटंकट महाभारत ७ । १०९ । २२-२१ में अलम्बुयका तथा यहाँ सुकेशीका नामान्तर है । सुकेशि और

सुकेशी भी चलते हैं ।

दुष्टाद्यन्तुपनिर्वासं भुञ्जते स्वधमा इमे । स्वर्गमुपाश्च जायन्ते शुभात्ता गिरिनिमहा ॥१३॥
एकपटुपुपुपिष्टानां विषमं भोजयन्ति ये । विद्भोजनं राक्षसेभ्य नरकं ते यजन्ति च ॥१४॥

जो उद्धत लडके अपने माता-पिता एवं गुरुजी आशुका उन्वहान करते हैं, वे पीत, मित्रा एव मूत्रसे पूर्ण अग्निष्ठ नामक नरकमें नोवेकी और मुँह कर डूबाये जाते हैं । जो दमन, अतिवि, अन्य प्राणी, सेवर, बाहरसे आये व्यक्ति, बालक, पिता, अग्नि एव माताओंको बिना भोजन कराये पहले ही खा लेते हैं, वे अत्रम पुरुष पर्वतनुन्य शरीर एवं सूबा-सदृश मुखवाले होकर भूयसे व्याकुल रहते हुए दूधिन रक्त एव पीतका सर भक्षण करते हैं । हे राक्षसराज ! एक ही पङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंको जो समानरूपसे भोजन नहीं कराते, वे विद्भोजन नामक नरकमें जाते हैं ॥ ११-१४ ॥

एक साधंययातं ये पश्यन्तश्चार्यिनं नरा । असंप्रिभज्य भुञ्जान्तते यान्ति दलेमभोजनम् ॥ १५ ॥
गोमाल्लणाग्रय. स्पृष्टा पैरुच्छिष्टै क्षपाचर । छिप्यन्ते हि करास्तेषां तत्तुभ्यमे सुदारणे ॥ १६ ॥
सुवेन्दुनारका दृष्टा पैरुच्छिष्टैश्च कामत । तेषां नेत्रगना यद्विधंस्यते यमकिरुरै ॥ १७ ॥
मिषत्रायाप जनना ज्येष्टा धना पिता ससा । जामयो गुरुणां घृष्टा ये संस्पृष्टा पदानुभिः ॥ १८ ॥
पदाङ्गयस्ते निगडैर्लोहैर्विद्विप्रतापितै । क्षिप्यन्ते राक्ष्ये घोरे एतान्नुपरिदाहिन ॥ १९ ॥

जो लोग एक साथ चलनेवाले किसी बहुत तीव्र चाहवालेको देखने हुए भी उसे अन्न नहीं देते—अन्तरे भोजन करते हैं, वे श्लेष्मभोजन नामक नरकमें जाते हैं । हे राक्षस ! जो उच्छिष्टावश्यामं (नूटं रहते हुए) गाय, ब्राह्मण और अधिको स्पर्श करते हैं, उनके हाथ भयकर तत्तुभ्यमे डाले जाते हैं । जो उच्छिष्टावश्यामि स्वेच्छसे सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रको देखने हैं, उनके नेत्रोंमें यमदूत अग्नि जलाते हैं । जो मित्रजी पत्नी, मता, जेठ भाई, पिता, बहन, पुत्री, गुरु और बृद्धोंको पैसे छूने हैं, उन मनुष्योंके पैर मूत्र जत्रनी हुई बेझोसे बांधकर उन्हें रौरव-नरकमें डाला जाता है, जहाँ वे घुटनोंक जलने रहते हैं ॥ १५-१९ ॥

पापसं हारं मांसं वृष्या भुक्तानि यैर्नरैः । तेषामयोगुहास्तता क्षिप्यन्ते यदनेऽनुता ॥ २० ॥
गुरुदेवद्विजातीनां वेदानां च नराधमैः । निन्दा निशामिता यैस्तु पापानामिनि दुर्घनाम् ॥ २१ ॥
तेषां लोहमया फांला यद्विघर्षाः पुनः पुनः । धयणेषु निखन्यन्ते धर्मराजस्य किरुरैः ॥ २२ ॥
प्रपादेवबुद्धारामान् विप्रवेदमसभामदान् । कूपवापांनडागांश्च भङ्ग्या विभंसयन्ति ये ॥ २३ ॥
तेषां त्रिलपतां चर्मं देहन् क्रियते पृथक् । कर्तिकाभि सुनाङ्गाभिः सुराद्रेयमकिरुरै ॥ २४ ॥

जो बिना विशेष प्रयोजनके—पीर, पिचड़ी एवं मासका भोजन करते हैं, उनको मुँहमें जठरा हुआ लोहेका पिण्ड टाका जाता है । जो पापियोंद्वारा की गयी गुरु, दयता, ब्राह्मण और वेदोंकी निन्दाको सुनते हैं, उन नीच मनुष्योंके कानोंमें धर्मराजके किकर अग्निरंग लोहेकी कीर्तिका बार-बार टोंकते रहते हैं । जो प्याउ (पीसर), देवमन्दिर, बगीचा, ब्राह्मणगृह, सभा, मठ, कुआँ, बावडा एवं तडागको तोड़कर नष्ट करते हैं, उन मनुष्योंके मूलाप करते रहनेपर भी भयकर यमकिरुर सुनीस्य छुरिकाओंद्वारा उनकी चमड़ी उवैदने हैं—उनकी श्शसे चर्मको काटकर पृथक् करते रहते हैं ॥ २०-२४ ॥

गोमाल्लणार्चमग्निं च ये यै मेहन्ति मानवाः । तेषां गुदेन चान्त्राणि विनिष्कृत्यन्ति वायसा ॥ २५ ॥
स्वपोषणपरो यस्तु परित्यजति मानव । पुत्रघृत्पुत्रलभ्रादिघनुष्यवर्गमकिचनम्
दुर्भिक्षे संश्रमे चापि स श्वभोज्ये निपात्यते ॥ २६ ॥

शरणागतं ये त्यजन्ति ये च बन्धनपालकाः । पतन्ति यन्त्रपीडे ते ताड्यमानास्तु किंकरैः ॥ २७ ॥
 फलेशयन्ति हि चिप्रादीन् ये ह्यकर्मसु पापिनः । ते पिष्यन्ते शिलापेषे शोष्यन्तेऽपि च शोषकैः ॥ २८ ॥

जो गाय, ब्राह्मण, सूर्य और अग्निके सम्मुख मल-मूत्रादिका त्याग करते हैं, उनकी गुदासे कौए उनकी आँतोंको नोच-नोचकर काटते हैं। जो दुर्भिक्ष (अकाल) एवं विप्लवके समय अकिंचन, पुत्र, मृत्यु एवं कलत्र (खी) आदि वस्तुवर्गको छोड़कर आत्म-पोषण करता है, वह यमदूतोंद्वारा श्रमोजन नामक नरकमें डाला जाता है। जो रक्षांक लिये शरणमें आये व्यक्तिका परित्याग करता है, वह मनुष्य वन्दीगृह-रक्षक यमदूतोंके द्वारा पीटे जाते हुए यन्त्रपीड नामक नरकमें गिरते हैं। जो लोग ब्राह्मणोंको कुकर्मोंमें लगाकर उन्हें क्लेश देते हैं, वे पापी मनुष्य शिलाओंपर पीसे जाते हैं और अग्नि-सूर्य आदिद्वारा शोषित भी किये जाते हैं ॥ २५-२८ ॥

न्यासापहारिणः पापा बध्यन्ते निगडैरपि । श्रुत्क्षामाः शुष्कतात्वोष्ठाः पात्यन्ते वृश्चिकाशने ॥ २९ ॥
 पर्वमैथुनिनः पापाः परदाररनाश्च ये । ते बहिनतां कूटाग्रामालिङ्गन्ते च शाल्मलीम् ॥ ३० ॥
 उपाध्यायमधःकृत्य यैरधीतं द्विजाधमैः । तेपामध्यापको यश्च स शिलां शिरसा बहेत् ॥ ३१ ॥
 मूत्रदलेष्मपुरीषाणि यैरुत्सृष्टानि वारिणि । ते पात्यन्ते च विण्मूत्रे दुर्गन्धे पूयपूरिते ॥ ३२ ॥

जो धरोहरको चुरा लेते हैं, उन्हें वेड़ी लगाकर भूखसे पीड़ित एवं सूखे तालु और ओठकी अवस्थामें वृश्चिकाशन नामक नरकमें गिराया जाता है। जो पर्वोंमें मैथुन करते तथा परस्त्री-संग करते हैं, उन पापियोंको बहिनता कीलेंवाले शाल्मलिका (विषशतासे) आलिङ्गन करना पड़ता है। जो द्विज उपाध्यायको खयकी अपेक्षा निम्नासनपर बैठाकर अध्ययन करता है, उन अधम द्विजों एवं उनके अध्यापकको शिरपर शिला वहन करनी पड़ती है। जो जलमें मूत्र, कफ एवं मलका त्याग करते हैं, उन्हें दुर्गन्धयुक्त विष्टा और पीवसे पूर्ण विण्मूत्रनामक नरकमें गिराया जाता है ॥ २९-३२ ॥

श्राद्धतिर्य्यमन्योन्यं यैर्मुक्तं भुवि मानवैः । परस्परं भक्ष्यन्ते मांसानि खानि चालिशाः ॥ ३३ ॥
 वेदचहिगुरुत्यागी भार्यापित्रोस्तथैव च । गिरिट्टङ्गादधःपातं पात्यन्ते यमकिंकरैः ॥ ३४ ॥
 पुनर्भूपतयो ये च कन्याविध्वंसकाश्च ये । तद्गर्भश्राद्धभुग् यश्च कृमीन्भक्षेत्पिपीलिकाः ॥ ३५ ॥
 चाण्डालादन्यजाद्वापि प्रतिगृह्णाति दक्षिणाम् । याजको यजमानश्च सोऽन्तःस्थूलकीटकः ॥ ३६ ॥

जो इस संसारमें श्राद्धके अवसरपर अतिथिके निमित्त तैयार किये गये पदार्थको परस्पर भक्षण कर लेते हैं, उन मूर्खोंको परलोकमें एक-दूसरेका मांस खाना पड़ता है। जो वेद, अग्नि, गुरु, भार्या, पिता एवं माताका त्याग करते हैं, उन्हें यमदूत गिरिशिखरके ऊपरसे नीचे गिराते हैं। जो विधवासे विवाह कराते, अविवाहित कन्याको दूषित करते एवं उक्त प्रकारसे उत्पन्न व्यक्तियोंकी सन्तानके यहाँ श्राद्धमें भोजन करते हैं, उन्हें कृमि तथा पिपीलिकाका भक्षण करना पड़ता है। जो ब्राह्मण चाण्डाल और अन्त्यजोसे दक्षिणा लेते हैं उन्हें उनके यजमानको पत्थरोंमें रहनेवाला स्थूल कीट बनना पड़ता है ॥ ३३-३६ ॥

पृष्ठमांसाशिनो मूढास्तथैवोत्कोचजीविनः । क्षिप्यन्ते वृकभक्षे ते नरके रजनीचर ॥ ३७ ॥
 स्वर्णस्तेयी च ब्रह्मघ्नः सुरापी गुरुतल्पगः । तथा गोभूमिहर्तारो गोस्त्रीवालहनाश्च ये ॥ ३८ ॥
 पते नग द्विजा ये च गोपु विक्रयिणस्तथा । सोमविक्रयिणो ये च वेदविक्रयिणस्तथा ॥ ३९ ॥
 कूटसभ्यास्त्वशां चाश्च नित्येनैमित्तनाशकाः । कूटसाक्ष्यप्रदा ये च ते महारौरवे स्थिताः ॥ ४० ॥

राक्षस ! जो पीठगोटे गिरायन करते हैं—चुग्ली करते एवं घूम लेते हैं, उन्हें वृकभक्ष नामक नरकमें डाला जाता है । उसी प्रकार सोना चुगनेवाले, व्रतद्वन्द्वरे, मद्यपी, गुरुगनीगनी, गाय तथा भूमिरी चोरी करनेवाले एवं स्त्री तथा वादकको मारनेवाले मनुष्यों तथा गे, सोम एवं वेदका विक्रय करनेवाले, दग्धी, देही भागामे झूठी गवाही देनेवाले तथा पवित्रताके आचरणको छोड़ देनेवाले शौर नित्य एवं नैमित्तिक यमोक्त नश करनेवाले द्विजोंको मद्गारीय नामक नरकमें रहना पड़ना है ॥ ३७—४० ॥

दशवर्षमहन्नाणि तासन् तामिन्द्रके स्थिताः । तावच्चैवान्धनामिन्द्रे अग्निप्रवृत्ते ततः ॥ ४१ ॥
 तावच्चैव घटोप-प्रे तमकुम्भे ततः परम् । प्रपाने भवते तेषां यैरिदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ४२ ॥
 ये न्येते नग्वा गैत्रा गौर्याथास्तरोदिना । ते सर्वे क्रमगः प्रोक्ताः कृतत्वे लोकनिन्दिते ॥ ४३ ॥

उपर्युक्त प्रकारके पापियोंको दस हजार वर्ष तामिन्द्र नरकमें तथा उनसे ही वर्तितक अन्धनामिन्द्र और अग्निप्रवृत्त नामक नरकमें रहनेके बादमें भी—उनसे ही वर्तितक घटोपत्र और तमकुम्भमें रहना पड़ना है । तिन भयङ्कर गौरव आदि नरकोंमें हमने तुमने वर्णन किया है, वे सभी लोक-निन्दित कृत-ज्ञोंको यही-वर्णन प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४१—४३ ॥

यथा सुराणां प्रवरो जनार्दनो यथा गिरीणामपि शैशिराट्टिः ।
 यथा गुहानां प्रवरं सुदर्शनं यथा खगानां विनतातनुजः ॥
 महोरगाणां प्रवरोऽप्यनन्तो यथा च भूतेषु महा प्रथाना ॥ ४४ ॥
 नदीषु गङ्गा जलजेषु पद्मं सुरारिमुख्येषु हराङ्घ्रिभक्तः ।
 क्षेत्रेषु यद्वत्कुन्दजादलं वरं तीर्थेषु यद्वत् प्रवरं पृथूदरम् ॥ ४५ ॥
 सरम्भु चैवोत्तरमानसं यथा वनेषु पुण्येषु हि नन्दनं यथा ।
 लोकेषु यद्वत्सदनं विरिञ्चेः सत्यं यथा धर्मविधित्यासु ॥ ४६ ॥
 यथाद्वयमेधः प्रवरः क्रान्तां पुत्रो यथा स्वर्गवनां यगिष्ठः ।
 तपोधनानामपि कुम्भयोनिः श्रुतिपरा यद्वदिहागमेषु ॥ ४७ ॥
 मुग्धः पुराणेषु यथैव माग्धः स्वायंभुवोक्तिस्यपि संहितासु ।
 मनुः स्मृतिनां प्रवरो यथैव त्रिषुषु दशौ विषुषेषु दानम् ॥ ४८ ॥

जैसे देवताओंमें श्रीनिष्णु, पर्वतोंमें हिमालय, अश्वोंमें सुदर्शन, पक्षियोंमें गरुड़, मदान् गणोंमें अनन्तनाम तथा भूतोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ है, नदियोंमें गङ्गा, वनमें उपल होनेवालोंमें कमल, देवशत्रु दैत्योंमें महादेवके चरणोंका भक्त और क्षेत्रोंमें जैसे गुरुजागद और तीर्थोंमें पृथूदरक हैं, नक्षत्रोंमें उचात्मनस, पवित्र वनोंमें नन्दनन, लोकोमें ब्रह्मचोरक, धर्म-जायोंमें सत्य प्रथान है तथा जैसे यज्ञोंमें अध्वरेज, वृनेयोंमें (सर्गसुत्र) पदायोंमें पुत्र मुग्धदायक है; तद्विषयोंमें आग्धय. आगम शास्त्रोंमें वेद श्रेष्ठ है; जैसे पुराणोंमें माग्धपुराण, महाकाओंमें स्वायंभुसम्पित, स्मृतिपोंमें मनुस्मृति, त्रिषुषुमें अमर्या और त्रिषुषु अर्थात् तेष और त्रुषु गणोंमें सर्वत्र समगम संशान्तिक अमर्याप्य विना गया दान श्रेष्ठ होता है ॥ ४४-४८ ॥

नेत्रम्विनां यद्वदिराकं उक्तो ऋक्षेषु चन्द्रो जयधिहोदेषु ।
 भवान् तथा राक्षससत्तमेषु पारोषु नागस्तिमितेषु पथः ॥

धान्येषु शालिर्द्विपदेषु विप्रः चतुष्पदे गोः श्वपदां मृगेन्द्रः ।
 पुष्पेषु जानी नगरेषु काञ्ची नारीषु रम्भाऽऽश्रमिणां गृहस्थः ॥ ५० ॥
 कुशस्थली श्रेष्ठतमा पुरेषु देशेषु सर्वेषु च मध्यदेशः ।
 फलेषु चूतो मुकुलेष्वशोकः सर्वौषधीनां प्रवरा च पथ्या ॥ ५१ ॥
 मूलेषु कन्दः प्रवरो यथोक्तो व्याधिष्वजीर्ण क्षणदाचरेन्द्र ।
 श्वेतेषु दुग्धं प्रवरं यथैव कार्पासिकं प्रावरणेषु यद्वत् ॥ ५२ ॥

जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, जलाशयोंमें समुद्र, अच्छे राक्षसोंमें आप और निश्चेष्ट करनेवाले पार्श्वोंमें नागपाश श्रेष्ठ हैं एवं जैसे धानोंमें शालि, दो पैरवालोंमें ब्राह्मण, चौपायोंमें गाय, जंगली जानवरोंमें सिंह, फूलोंमें जाती (चमेली), नगरोंमें काञ्ची, नारियोंमें रम्भा और आश्रमियोंमें गृहस्थ श्रेष्ठ हैं; जैसे सप्तपुरियोंमें द्वारका, समस्त देशोंमें मध्यदेश, फलोंमें आम, मुकुलोंमें अशोक और जड़ी-बूटियोंमें हरीतकी सर्वश्रेष्ठ है; हे निशाचर! जैसे मूलोंमें कन्द, रोगोंमें अपच, श्वेत वस्तुओंमें दुग्ध और वस्त्रोंमें रूईके कपड़े श्रेष्ठ हैं; ॥ ४९-५२ ॥

कलासु मुख्या गणितज्ञाना च विज्ञानमुख्येषु यथेन्द्रजालम् ।
 शाकेषु मुख्या त्वपि काकमात्री रसेषु मुख्यं लवणं यथैव ॥ ५३ ॥
 तुङ्गेषु तालो नलिनीषु पम्पा वनौकसेष्वेव च ऋक्षराजः ।
 महीरुहेष्वेव यथा वटश्च यथा हरो ज्ञानवतां वरिष्ठः ॥ ५४ ॥
 यथा सतीनां हिमवत्सुता हि यथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ।
 यथा वृषाणामपि नीलवर्णा यथैव सर्वेष्वपि दुःसहेषु ।
 दुर्गेषु रौद्रेषु निशाचरेश नृपातनं चैतरणी प्रधाना ॥ ५५ ॥
 पार्पायसां तद्वदिह कृतघ्नः सर्वेषु पापेषु निशाचरेन्द्र ।
 ब्रह्मघ्नगोघ्नादिषु निष्कृतिर्हि विद्येत नैवास्य तु दुष्टचारिणः ।
 न निष्कृतिश्चास्ति कृतघ्नवृत्तैः सुहृत्कृतं नाशयतोऽन्दकोटिभिः ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

निशाचर ! जैसे कलाओंमें गणितका जानना, विज्ञानोंमें इन्द्रजाल, शाकोंमें मकोय, रसोंमें नमक, ऊँचे पेड़ोंमें ताड़, कमल-सरोवरोंमें पंपासर, बनेले जीवोंमें भालू, वृक्षोंमें वट, ज्ञानियोंमें महादेव वरिष्ठ हैं; जैसे सतियोंमें हि माल्यकी पुत्री पार्वती, गौओंमें काली गाय, बैलोंमें नील रंगका बैल, सभी दुःसह (कठिन) एवं भयंकर नरकोंमें चैतरणी नृपातन प्रधान है, उसी प्रकार हे निशाचरेन्द्र ! पापियोंमें कृतघ्न प्रधानतम पापी होता है । ब्रह्महत्या एवं गोहत्या आदि पापोंकी निष्कृति तो हो जाती है, पर दुराचारी पापी एवं मित्रद्रोही कृतघ्नका करोड़ों वर्षोंमें भी निस्तार नहीं होता ॥ ५३-५६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

[अथ त्रयोदशोऽध्यायः]

सुनेतिनाम

भयङ्गिनिदिता घोरा पुष्करद्वीपमन्थिति । जम्बूद्वीपस्य तु संस्थानं वक्ष्यन्तु महर्षय ॥ १ ॥

तेरह्यौ अध्याय प्रारम्भ

(सुनेशिनै प्रथम उत्तरमें ऋषियोंका जम्बू-द्वीपकी स्थिति और उनमें स्थित पर्वत तः नदिषोऽप्यर्णन)

सुकेरीने कहा—आदरणीय ऋषियो ! आपनेगोने पुष्करद्वीपके भयङ्गर अथमानका वर्णन किया, अब आपनेग (श्यारर) जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन करें ॥ १ ॥

वक्ष्यन्तु

जम्बूद्वीपस्य संस्थानं वक्ष्यमानं निशामय । नयमेदं सुविस्तीर्णं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥ २ ॥

मध्ये त्रिलोक्यतो वर्यो भद्राश्व पूर्वतोऽद्भुत । पूर्वं उत्तरतश्चापि हिरण्यो राक्षसेश्वर ॥ ३ ॥

पूर्वदक्षिणतश्चापि किन्नरो वर्य उच्यते । भाग्यो दक्षिणे प्रोक्तो हरिर्दक्षिणपश्चिमे ॥ ४ ॥

पश्चिमे वेतुमालश्च रम्यश्च पश्चिमोत्तरे । उत्तरे च सुरवर्षं कल्पद्रुक्षसमावृत ॥ ५ ॥

ऋषियोंने कहा—राक्षसेश्वर ! (अ) तुम हमलोगोंने जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन सुनो । यह द्वीप आपन्त विशाल है और नव भागोंमें विभक्त है । यह स्वर्ग एव मोक्ष-फल-प्रद देनेवाला है । जम्बूद्वीपके बीचमें इलावृत-वर्ष, पूर्वमें अद्भुत भद्राश्ववर्ष तथा पूर्वोत्तरमें हिरण्यवर्ष है । पूर्व-दक्षिणमें किन्नरवर्ष, दक्षिणमें भारतवर्ष तथा दक्षिण-पश्चिममें हरिवर्ष बताया गया है । इसके पश्चिममें वेतुमालवर्ष, पश्चिमोत्तरमें रम्यवर्ष और उत्तरमें कल्प-द्रुक्षसे समावृत वृक्षवर्ष है ॥ २-५ ॥

पुण्या रम्या नयैवैते वर्यो शालकटंकट । इलावृताद्या ये चाष्टौ वर्यमुक्त्वैव भारतम् ॥ ६ ॥

न तेष्यस्ति युगावस्था जरामृत्युभयं न च ।

तेषां स्वाभाविका सिद्धि मुखमाया हायन्नन । विषययोगे न तेष्यस्ति नोत्तमाधममध्यमा ॥ ७ ॥

यदेतद् भारतं वर्यं नयद्वीपं निशाचर । सागरातरिता सर्वे भगव्याश्च परस्परम् ॥ ८ ॥

इन्द्रद्वीप वसेरुमास्ताघ्नर्णो गभस्तिमान् । नागद्वीप कटाहश्च सिंहलो पादणस्तया ॥ ९ ॥

अयं तु नवमस्तेषा द्वीप सागरसंबृत । कुमारारण्य परिस्थानो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ॥ १० ॥

सुनेशिनै ! ये नव पवित्र और रमणीय वर्य हैं । भारतवर्षके अनिमित्त इत्यवृत्तदि आठ वर्योंने युगावस्था तथा जरामृत्युका भय नहीं होता । उन वर्योंने विना प्रयत्न क्यमान बड़ी-बड़ी सिद्धियों मित्रों हैं । उनमें उत्तम, मध्यम, अधम अदि किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है । निशाचर ' इस भारतवर्षके भी ना उपद्वीप हैं । ये सभी द्वीप समुद्रामे घिरे हैं और परस्पर अग्न्य हैं । भारतवर्ष ना उपद्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रद्वीप, वसेरुमान्, ताघ्नर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, कटाह, सिंहल और वरुण । नवो मुख्य यह कुमारद्वीप भाग्य-सागरसे लगा हुआ दक्षिणसे उत्तरका ओर फैला है ॥ ६-१० ॥

पूर्वं किराता यस्यान्ते पश्चिमे यचना स्थिताः । भाग्धा दक्षिणतो घोरं नुक्कास्यपि चोत्तरे ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः क्षुद्राश्चान्तर्गथासिनः । रुज्यायुद्धयणिज्यायैः कर्मभिः कृतपावना ॥ १२ ॥

तेषां संव्ययद्धारश्च पभिः कर्मभिरिच्छ्यते । स्वर्गोपगमंमिश्च पुण्यं पापं नयैव च ॥ १३ ॥

महेन्द्रो मलय सद्य शुक्तिमान् ऋक्षपर्यतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सनात्र पुलपर्यता ॥ १४ ॥

वीर ! भारतवर्षके पूर्वकी सीमापर किरात, पश्चिममें यवन, दक्षिणमें आन्ध्र तथा उत्तरमें तुरुष्कज्योग निवास करते हैं । इसके बीचों ब्राह्मण, शत्रिय, वैश्य एवं शूद्रज्योग रहते हैं । यज्ञ, युद्ध एवं वाणिज्य आदि कर्मोंके द्वारा वे सभी पवित्र हो गये हैं । उनका व्यवहार, स्वर्ग और अपवर्ग- (मोक्ष-) की प्राप्ति तथा पाप एवं पुण्य इन्हीं (यज्ञादि) कर्मोंद्वारा होते हैं । इस वर्णमें गण्डक, मलय, राम, शुकुत्तमान् ऋत, विन्ध्य एवं पारियात्र नामवाले सात मुख्य बुद्ध पर्वत हैं ॥ ११-१४ ॥

नथायं शतगन्धमा भूश्रग मध्यवाग्निः । विस्तारोच्छ्रायिणो रम्या विपुलाः शुभसानवः ॥ १५ ॥
 कोलात्तलः स्व घे भ्राजो मन्दगे दर्दुराचलः । चान्ध्रमां वैशुतश्च मैलाकः सखस्तथा ॥ १६ ॥
 तुङ्गश्चो नामगिरिस्ताथा गोवर्धनाचलः । उज्जयिनः पुण्यगिरिर्बुद्धो रैवतस्तथा ॥ १७ ॥
 ऋण्यमूकः सगोमन्तश्चित्रकूटः कनसागः श्रीपर्वतः कोङ्कणश्च शतशोऽन्येऽपि पर्वताः ॥ १८ ॥

इसके मध्यमें अन्य ज्यों पर्वत हैं जो अत्यन्त विरल, उत्तुङ्ग (ऊँचे) रम्य एवं सुन्दर शिखरोंसे सुशोभित हैं । यहाँ कोलात्तल, वैशाज, मन्दार गिरि, दर्दुर, आतंत्रम, वैशुत, मैलाक, सररा, तुङ्गश्च, नामगिरि, गोवर्धन, उज्जयन्त (गिरनार), पुण्यगिरि, अर्बुद (आबू), रैवत, ऋण्यमूक, गोमन्त (गोवाधा पर्वत), चित्रकूट, कनसार, श्रीपर्वत, कोङ्कण तथा अन्य सौक्यों पर्वत भी विराज रहे हैं ॥ १५-१८ ॥

नेर्विमिथा जनपदा म्लेच्छा आर्योश्च भागशः । नैःपीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठा यास्ताः सम्यङ्निशामय ॥ १९ ॥
 सरखन्ती पञ्चरुपा पालिन्दी सरिरण्वती । शतद्रुधन्त्रिका नीला वितस्तेरावती कुहूः ॥ २० ॥
 मधुरा देविका चैव उशीरा धातकी रसा । गोमती धूतपापा च बालुदा सटपद्धती ॥ २१ ॥
 निशीरा गण्डकी चित्रा मौक्षिणी च बधूसरा । सरयूश्च सलौहित्या हिमजत्पादिनिःसृताः ॥ २२ ॥

उनसे संयुक्त आर्यों और म्लेच्छोंके विभागोंके अनुसार जनपद हैं । यहाँके निवासी जिन उत्तम नदियोंके जल पीते हैं उनका वर्णन म्लेच्छोक्ति सुने । पाँच रूपकी सरखन्ती, यमुना, हिरण्वती, सतलज, चन्द्रिका, नीला, वितन्ता, परावती, कुहू, मधुरा, देविका, उशीरा, धातकी, रसा, गोमती, धूतपापा, बालुदा, सटपद्धती, निशीरा, गण्डकी, चित्रा, मौक्षिणी, बधूसरा, सरयू तथा लौहित्या—ये नदियाँ हिमालयकी तलहटीसे निकली हैं ॥ १९-२२ ॥

वेदस्मृतिवेदवर्ता पृषधन्ती सिन्धुरेव च । पर्णाशा नन्दिनी चैव पावती च मही तथा ॥ २३ ॥
 पाग चर्मण्वती लृपां विदिशा वैष्णुमत्यपि । सिप्रा छत्रन्ती च तथा पारियात्राश्रयाः स्मृताः ॥ २४ ॥
 शोणो महातदश्चैव नर्मदा सुरसा कृपा । मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटापलायिका ॥ २५ ॥
 चित्रान्वता घे तमसा करमोदा पिशाचिका । तथास्या पिण्डश्रोणी विपाशा बञ्जुलवती ॥ २६ ॥
 सखन्तजा शुक्तिमती मशिष्ठा कृत्तिमा धमुः । ऋक्षपादप्रसृता च तथास्या बालुवादिनी ॥ २७ ॥

वेदस्मृति, वेदवर्ता, पृषधन्ती, सिन्धु, पर्णाशा, नन्दिनी, पावती, मही, पारा, चर्मण्वती, लृपी, विदिशा, वैष्णुमती, सिप्रा तथा अक्की—ये नदियाँ पारियात्र पर्वतसे निकली हुई हैं । महातद शोण, नर्मदा, सुरसा, कृपा, मन्दाकिनी, दशार्णा, चित्रकूटा, अपलायिका, चित्रान्वता, तमसा, करमोदा, पिशाचिका, पिण्डश्रोणी, विपाशा, बञ्जुलवती, सखन्तजा, शुक्तिमती, मशिष्ठा, कृत्तिमा धमुः और बालुवादिनी—ये नदियाँ तथा दूरी जो बालुका बतानेवाली हैं, ऋक्षपर्वतसे तलहटीसे निकली हुई हैं ॥ २३-२७ ॥

चित्रा पर्योर्णा निर्दिश्या तापी सतिपश्चावती । वेणा चैतर्णा चैव सिनावातुः कुसुद्धती ॥ २८ ॥
 तोया चैव महागोर्णा दुर्गन्धा वाशित्या तथा । विन्ध्यपादप्रसृताश्च नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ॥ २९ ॥

गोदावरी भीमरथी कृष्णा वेणा सरस्वती । तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा वाहा वानेरिय च ॥ ३० ॥
दुग्धोश्वा नलिनी रेवा यारिसेना कलम्बना । एतास्त्वपि मदानय महापादविनिर्गता ॥ ३१ ॥

शिवा, पयोष्ठी (पंनगणा), निर्निन्ध्या (काशीसिंघ), तापी, निराजानी, रेणा, वैरणी, सिनी, कट, तुमुदती, तोया, मरागैरी, दुर्गन्वा तथा वशिष्ठा—ये पवित्र जलवर्णी कन्यातग्वारिणी नदियाँ विष्णुवर्त्मते निकली हुई हैं । गोदावरी, भीमरथी, कृष्णा, वेणा, सरस्वती, तुङ्गभद्रा, सुप्रयोग, वाहा, कवरी, दुग्धोश्वा, नलिनी, रेवा (नर्मदा), यारिसेना तथा कलम्बना—ये मदानदियाँ सगर्भके पाद- (गोधे) मे निकली हैं ॥ २८-३१ ॥

कृत्नमाला ताम्रपर्णी यञ्जुला चोत्पलावती । सिनी चैव सुदासा च शुक्तिमत्प्रभवस्त्विया ॥ ३२ ॥
सर्वां पुण्या सरस्वत्य पापप्रशमनास्तया । जगतो मानरा सर्वां सर्वा सागरयोविता ॥ ३३ ॥
गन्ध्या मन्धराश्चाम भुद्रनजो दि राक्षस । सदाशालदाद्यान्या प्राट्टदालदास्ताथा ।
उद्व्याध्योद्भवा देसाः पिपन्ति स्वेच्छया शुभा ॥ ३४ ॥

मत्स्या, कुराष्ट्रा शुक्तिकुण्डलाश्च । पाञ्चालरादया सह कोसलाभि ॥ ३५ ॥
वृका शपरवीवीरा सभूलिङ्गा जनास्त्विये । शम्भुदेवैव समरावा मन्धरेदया जनास्त्विये ॥ ३६ ॥

कृत्नमाला, ताम्रपर्णी, यञ्जुला, उन्पयानी, सिनी तथा सुदासा—ये नदियाँ शुक्तिमान पर्वतमे निजरी हुई हैं । ये सभी नदियाँ पवित्र, पापोंका प्रशमन करनेवाली, जगत्की मानएँ तथा सागरकी पतिव्याँ हैं । राक्षस^१ इनक अनिरिक्त भारतमें अथ हजारों छोटी नदियाँ भी बहती हैं । इनमें कुछ तो सदैव प्रवाहित होनेवाली हैं । उतर एव मध्यके देशोंके निजामी इन पवित्र नदियोंके जलसे स्वेच्छया पान करते हैं । मत्स्य, कुराष्ट्र, तुंगि, कुण्डल, पाञ्चाल, काशी, कोसल, वृक, शबर, कौनीर, भूटिङ्ग, शक तथा यशक-जातियोंक मनुष्य मध्यदेशमें रहते हैं ॥ ३२-३६ ॥

वाह्वीवा घाटधानाश्च आभीराः कालोयका । अरपन्तास्तया दूष्ठा पहवाश्च ससेठका ॥ ३७ ॥
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रका । शातद्रवा ललिताश्च पारावनमभूपरा ॥ ३८ ॥
माउपेदकधाराश्च कैकेया दशमास्तया । क्षत्रिया प्रातिवैदयाश्च वैदयदूडकुलानि च ॥ ३९ ॥
काम्बोजा दरदाश्चैव बर्बरा अङ्गलौकिवा । चीनाश्चैव तुयाराश्च बहुधा याह्यतोदरा ॥ ४० ॥
आग्नेयाः सभट्टाजा मस्यलाश्च इरोरवा । लग्नरास्तयाना रामा शूलिकास्तद्वै सह ॥ ४१ ॥
औरसाश्चालिमद्राश्च किरानाना च जातयः । तामसाः भ्रमसाश्च तुपाग्यां पुण्ड्रकास्तया ॥ ४२ ॥
श्रुता कुडुका ऊर्णास्तूणीपादा सजुङ्गुटा । माण्डव्या माळगीयाश्च उत्तरापयवासिनः ॥ ४३ ॥

वाह्वीक, घाटधान, आभीर, कालोयक, अरान्त, दूष्ट, पहव, ससेठ, गन्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्रक, शातद्रव, ललिप, पारावन, गूक, माडर, उदकभार, कैकेय, दशम, क्षत्रिय, प्रातिवैद्य तथा वैदय एव जनोंक कुल, काम्बोज, दरद, बर्बर, अङ्गलौकिक, चीन, तुयार, बहुधा, बादागैर, आग्नेय, भग्नाज, मस्यल, दरोरक, लम्पक, तावन, राम, शूडिक, तङ्गण, औरस, अटिभद्र, किरागैरी जातियाँ, तामस, क्रमगम, सुगर्भ, पुण्डर, पुद्रन, कुडुक, ऊर्ण, देवीनाद, कुङ्कुट, माण्डव्य एव माळगीय—ये जातियाँ उत्तर भारतमें निवास करती हैं ॥ ३७-४३ ॥

१—मनुस्मृति (८ । ४१) में भी वृत्ति वनरादि यमं मान्य है । इन्हे विद्यासे ह्यप्रनेते सिन्धु एतन्नादि आदि देवता बाहिये ।

शुद्धा यद्वा मुद्ररवास्त्वन्तर्गिरिविर्गिराः । तथा प्रवङ्गा वाङ्मेया मांसादा बलदन्तिकाः ॥ ४४ ॥
 प्रद्योत्तरा प्राविजया भार्गवाः केशवर्धराः । प्राग्ज्योतिषाश्च शुद्धाश्च विदेहास्ताम्रलिम्बकाः ॥ ४५ ॥
 माला मगधगोनन्दाः प्राच्या जनपदास्त्रिवमे । पुण्ड्राश्च केरलाश्चैव चौडाः कुल्याश्च राक्षसाः ॥ ४६ ॥
 जालुया मूषिकाश्च कुमारादा महाशकाः । महाराष्ट्रा माहिविकाः कालिङ्गाश्चैव सर्वशः ॥ ४७ ॥
 आभीराः सप्त नैपीका आरण्याः शवराश्च ये । वलिन्या विन्ध्यमौलेया वैदर्भी दण्डकैः सप्त ॥ ४८ ॥
 पौरिकाः सौशिकाश्चैव अश्मका भोगवर्जनाः । वैपिकाः कुन्दला अन्ध्रा उद्भिदा नलकारकाः ।
 दक्षिणात्या जनपदास्त्रियमे शालकटकट ॥ ४९ ॥

अङ्ग (भागलपुर), ग्रंग एवं मुद्ररव (मुंगेर), अन्तर्गिरि, त्रिर्गिरि, प्रवङ्ग, वाङ्मेय, मांसाद, बलदन्तिका, प्रद्योत्तर, प्राविजय, भार्गव, केशवर्धर, प्राग्ज्योतिष, शुद्ध, विदेह, ताम्रलिम्बक, माला, मगध एवं गोनन्द—ये पूर्वके जनपद हैं । हे राक्षस ! हे शालकटकट ! पुण्ड्र, केरल, चौड, कुल्या, जालुप, मूषिकाद, कुमाराद, महाशक, महाराष्ट्र, माहिविक, कालिङ्ग (उड़ीसा) आभीर, नैपीक, आरण्य, शवर, वलिन्य, विन्ध्यमौलेय, वैदर्भ, दण्डक, पौरिक, सौशिक, अश्मक, भोगवर्जन, वैपिक, कुन्दल, अन्ध्र, उद्भिद् एवं नलकारक—ये दक्षिणके जनपद हैं ॥ ४४-४९ ॥

शूर्पारका कारिवना दुर्गास्तालीकटैः सप्त । पुल्ल्याः ससिनीलाश्च तापसास्तामसास्तथा ॥ ५० ॥
 कारस्करास्तु रमिनी नासिक्यान्तरनर्मदाः । भारकच्छा समादेयाः सप्त सारखतैरपि ॥ ५१ ॥
 वात्सेयाश्च सुराष्ट्राश्च आवन्त्याश्चावुदैः सप्त । इत्येते पश्चिमामाशां स्थिता जानपदा जनाः ॥ ५२ ॥
 कारुपादचैकलव्याश्च मेकलाश्चोत्कलैः सप्त । उत्तमर्णा दशाणांश्च भोजाः किकवरेः सप्त ॥ ५३ ॥
 तोशला कोशलाश्चैव त्रैपुराश्चैल्लिकास्तथा । तुरुसास्तुम्बराश्चैव चदनाः नैपथ्रैः सप्त ॥ ५४ ॥
 अनूपान्तुण्डिकेरथ पीतपोषास्त्ववन्तयः । तुक्केशो विन्ध्यमूलस्थास्त्रियमे जनपदाः स्मृताः ॥ ५५ ॥

सुकेशि ! शूर्पारक (बम्बईका क्षेत्र), कारिवन, दुर्ग, तालीकट, पुल्ल्या, ससिनील, तापस, तामस, कारस्कर, रगी, नासिक्य, अन्तर, नर्मद, भारकच्छ, माहेय, सारखत, वात्सेय, सुराष्ट्र, आवन्त्य एवं आवुदै—ये पश्चिम दिशामें स्थित जनपदोंके निवासी हैं । कारुप, एकलव्य, मेकल, उत्कल, उत्तमर्ण, दशाणां, भोज, किकवर, तोशल, कोशल, त्रैपुर, ऐल्लिक, तुरुस, तुम्बर, चदन, नैपथ, अनूप, तुण्डिकेर, पीतहोत्र एवं अवन्ती—ये सभी जनपद विन्ध्याचलके मूलमें (उपत्यका—तराईमें) स्थित हैं ॥ ५०-५५ ॥

अथो देशान् प्रवक्ष्यामः पर्वताथथिणस्तु ये । निराहारा हंसमार्गाः कुपथास्तङ्गणाः खशाः ॥ ५६ ॥
 कुयप्रावरणाश्चैव ऊर्णाः पुण्याः सङ्गुफाः । त्रिगताश्च किराताश्च तोमराः शिशिराद्रिकाः ॥ ५७ ॥
 इमे तत्रोक्ता विपयाः सुविस्तराद् द्विपे कुमारे रजनीचरेश ।
 पतेषु देशेषु च देशधर्मान् संकीर्त्यमानाञ्छृणु तत्रतो हि ॥ ५८ ॥
 ॥ इति श्रीवामनपुराणे प्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अञ्ज, अब हम पर्वताश्रित प्रदेशोंके नामोंका वर्णन करेंगे । उनके नाम इस प्रकार हैं—निराहार, हंसमार्ग, कुपथ, तंगण, खशा, कुयप्रावरण, ऊर्ण, पुण्य, इङ्गक, त्रिगत, किरात, तोमर एवं शिशिराद्रिक । निशाचर । तुमसे कुमारद्वीपके इन देशोंका विस्तारसे हमलोगोंने वर्णन किया । अब हम इन देशोंमें वर्तमान देश-धर्मोंका यथार्थतः वर्णन करेंगे, उसे सुनो ॥ ५६-५८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

[अथ चतुर्दशोऽध्यायः]

अथ ४७:

अदिसा सत्यमस्तेयं दानं भ्रान्तिर्दमः शमः। अकार्पण्यं च शौचं च तपश्च रजनीचर ॥ १ ॥
 दशाङ्गो राक्षसश्रेष्ठ धर्मोऽस्ती सार्धैर्वर्णिकः। ब्राह्मणस्यापि विदित्वा चानुराधम्यकल्पना ॥ २ ॥

चौदहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दशाङ्ग धर्म, आश्रम-धर्म और सदाचार-स्वरूपका वर्णन)

श्रुतिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ ! अदिसा, मय्य, अस्तेय (चोरी न करना), दान, क्षमा, दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम, अकार्पण्य, शौच एवं तप—धर्मके ये दसों अङ्ग सभी वर्गोंके लिये उपदिष्ट हैं। ब्राह्मणोंके लिये तो चार आश्रमोंका और भी विधान विहित किया गया है ॥ १-२ ॥

सुकेशिदशाच

विप्राणां चानुराधम्यं विस्तरान्मे तपोधनाः। आचरन्त्येषं न मे हृत्तिः शृण्वतः प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

सुकेशि बोला—तपोधनो ! ब्राह्मणोंके लिये विहित चारों आश्रमोंके नियम आदिको आपलोगे विस्तारसे कहें। मुझे उसे सुनने हुए तमि नहीं हो रही है—मैं और भी सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

अथ ४८:

दृतेपोनयनः सम्यग् ब्रह्मचारी गुरो वसेत्। तत्र धर्मोऽप्य यस्तं च कथ्यमानं निशामय ॥ ४ ॥
 स्वाध्यायोऽध्यागिनश्चूभूया स्नानं भिक्षाशनं तथा। गुरोर्निवेद्य तथायमनुष्ठानेन सर्वदा ॥ ५ ॥
 गुरोः कर्माणि श्लोघोगः सम्यक्प्रीत्युपपादनम्। तेनाहृतः पठेच्चैव तत्पथे नान्यमानसः ॥ ६ ॥
 एकं ह्यै सकलान् यापि वेदान् प्राप्य गुरोर्मुखात्। मनुजानो यरं दस्या गुरवे दक्षिणां ततः ॥ ७ ॥
 गार्हस्थ्यधर्मकामस्तु गार्हस्थ्यधर्ममायसेत्। यानप्रत्याधर्मं वाऽपि चतुर्थं स्येच्छयायनतः ॥ ८ ॥

श्रुतिगण बोले—सुकेशि ! ब्रह्मचारी ब्राह्मण भलीभाँति उपनयन-संस्कार करताकर गुरुके गृहपर निवास करे। वहाँके जो वर्तमान हैं, उन्हें बतलाया जा रहा है। तुम उन्हें सुनो। उनके कर्तव्य हैं—स्वाध्याय, टैमिक दहन, स्नान, भिक्षा माँगना और तमै गुरुको निवेदित्र करके तथा उनसे आज्ञा प्राप्त कर भोजन करना, गुरुके कार्पण्य उद्यत रहना, सम्यक् रूपसे गुरुमें भक्ति रखना, उनके बुलानेपर तत्पर एवं एकाग्रचित्त होकर पढ़ना (—ये ब्राह्मण ब्रह्मचारीके धर्म हैं)। गुरुके मुखसे एक. दो या सभी वेदोंका अध्ययन कर गुरुको धन तथा दक्षिणा दे करके उनसे आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थाश्रममें जानेका इच्छुक (प्रायः) गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करे अथवा अन्ती इच्छाके अनुसार वानप्रस्थ या मन्यासुका अवलम्बन करे ॥ ४-८ ॥

तत्रैव वा गुरोर्गृहे द्विजो निष्ठामयाच्युयात्। गुरोरेभावे तत्पुत्रे तच्छिष्ये तत्सुतं विना ॥ ९ ॥
 शुभ्रपत्रं निरभिमानो ब्रह्मचर्याधर्मं वसेत्। एवं जयति मृत्युं न द्विजः शालकटुष्ट ॥ १० ॥
 उपावृत्तसातस्तस्माद् गृहस्थाधर्मकाम्यया। असमानवित्तुल्लजां कन्यामुदरेद् निशाचर ॥ ११ ॥
 स्वकर्मणा धनं लब्ध्वा पितृश्रेयानिर्गानपि। सम्यक्संयोजयेद् भक्त्या सदाचाररतो द्विजः ॥ १२ ॥

अथवा ब्राह्मण ब्रह्मचारी वही गुरुके धर्मों ब्रह्मचर्याकी निष्ठा प्राप्त करे अर्थात् जीवनभरमें ब्रह्मचारी। गुरुके आश्रममें तमके पुत्र एवं पुत्र न हो तो उनके शिष्यके सुतीप निवस करे। राक्षस सुकेशि ! अथ ११

करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें रहे । इस प्रकार अनुष्ठान करनेवाला द्विज मृत्युको जीत लेता है । हे निशाचर ! वहाँकी अवधि समाप्त कर ब्रह्मचारी द्विज गृहस्थाश्रमकी कामनासे अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रके ऋषिवाले कुलमें उत्पन्न कन्यासे विवाह करे । सदाचारमें रत द्विज अपने नियत कर्मद्वारा धनोपार्जनकर पितरों, देवों एवं अतिथियोंको अपनी भक्तिसे अच्छी तरह तृप्त करे ॥ १-१२ ॥

सुकेशिवाच

सदाचारो निगदितो युष्माभिर्गम सुव्रताः । लक्षणं श्रोतुमिच्छामि कथयन्त्वं तमद्य मे ॥ १३ ॥

(ब्रह्मचारी ब्राह्मणके नियमोंको सुननेके बाद) सुकेशिने कथा—श्रेष्ठ व्रतवाले ऋषियो ! आपलोगोंने मुझसे इसके पूर्व सदाचारका वर्णन किया है । सदाचारका लक्षण क्या है ? अब मैं उसे सुनना चाहता हूँ । कृपया मुझसे उसका वर्णन करें ॥ १३ ॥

प्रपद्य उचुः

सदाचारो निगदितस्तव योऽस्माभिरावरात् । लक्षणं तस्य वक्ष्यामस्तच्छृणुष्व निशाचर ॥ १४ ॥
गृहस्थेन सदा कार्यमाचारपरिपालनम् । न ह्याचारविहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ॥ १५ ॥
यदादानतपांसोऽप्य पुरुषस्य न भूतये । भवन्ति यः समुल्लङ्घ्य सदाचारं प्रवर्तते ॥ १६ ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दते । कार्यो यत्नः सदाचारे आचारो ह्यन्यलक्षणम् ॥ १७ ॥

ऋषियोंने कथा—राक्षस ! हमलोगोंने तुमसे श्रद्धापूर्वक जिस सदाचारका वर्णन किया है, उसका (अब) लक्षण बतलाते हैं; तुम उसे सुनो । गृहस्थको आचारका सदा पालन करना चाहिये । आचारहीन व्यक्तिका इस लोक और परलोकमें कल्याण नहीं होता है । सदाचारका उल्लङ्घन कर लोक-व्यवहार तथा शास्त्र-व्यवहार करनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान एवं तप कल्याणकर नहीं होते । दुराचारी पुरुष इस लोक तथा परलोकमें सुख नहीं पाता । अतः आचार-पालनमें सदा तत्पर रहना चाहिये । आचार दुर्लक्षणोंको नष्ट कर देता है ॥ १४-१७ ॥

तस्य स्वरूपं वक्ष्यामः सदाचारस्य राक्षस । शृणुष्वैकमनास्तच्च यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि ॥ १८ ॥

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा पुत्रं च कामः फलमस्य मोक्षः ।

असौ सदाचारतरुः सुकेशिन् संलेखितो येन स पुण्यभोक्ता ॥ १९ ॥

ब्राह्मे सुहृते प्रथमं त्रिभुध्येदनुस्मरेद् देववरान् महर्षीन् ।

प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यं यदुक्तवान् देवपतिस्त्रिनेत्रः ॥ २० ॥

राक्षस ! हम उस (पृष्ठ) सदाचारका स्वरूप कहते हैं । यदि तुम कल्याण चाहते हो तो एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो । सुकेशिन् ! सदाचारका मूल धर्म है, धन इसकी शाखा है, काम (मनोरथ) इसका पुण्य है एवं मोक्ष इसका फल है—ऐसे सदाचाररूपी वृक्षका जो सेवन करता है, वह पुण्यभोगी बन जाता है । मनुष्योंको ब्राह्मसुहृत्तमें उठकर सर्वप्रथम श्रेष्ठ देवों एवं महर्षियोंका स्मरण करना चाहिये तथा देवाधिदेव महादेवद्वारा कथित प्रभात-कालीन मङ्गलस्तोत्रका पाठ करना चाहिये ॥ १८-२० ॥

सुकेशिवाच

किं तदुक्तं सुप्रभातं शंकरेण महात्मना । प्रभाते यत् पठन्मर्यां सुच्यते पापबन्धनात् ॥ २१ ॥

सुकेशिने पूछा—ऋषियो ! महादेव शंकरने कौन-सा 'सुप्रभात' कहा है कि जिसका प्रातःकाल पाठ करनेसे मनुष्य पाप-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ? ॥ २१ ॥

अथ य इत्यु-

भूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं हरोदितम् । श्रुत्या स्मृत्या पठित्या च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २२ ॥
 प्रला मुपाविरिपुरान्तकारी भातुः शशी भूमिमुनो युध्व ।
 गुरध्व शुक्रः सप्त भातुजेन कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २३ ॥
 भृगुर्गसिष्ठः प्रतुरङ्गिपाथ मनुः पुलस्त्यः पुलहः समौतमः ।
 रैभ्यो मरीचिदच्यवनो ऋभुश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २४ ॥
 सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गली च ।
 सप्त स्वपाः सप्त रसानलाश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २५ ॥

श्रुपिणण थोले—राक्षसश्रेष्ठ । महादेवजीद्वारा वर्णित 'सुप्रभात'स्तोत्रको मुनो । इतको मुनने, स्मरण करने और पढ़नेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । (स्तुति इस प्रकार है—) 'प्रला, भिन्नु, शकर ये देवता तथा सूर्य, चन्द्रगा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर ये ऋ—सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें । भृगु, भरिष्ठ, ऋतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन तथा ऋगु—ये सभी (श्रुति) मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें । सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सप्तों श्वर एवं सप्तों रसान—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें ॥ २२-२५ ॥

पृथ्वी सगन्धा स्पर्शास्तथापः स्पर्शश्च वायुर्ध्वलनः सतेजाः ।
 नभः सद्यम् महता सदैव पच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २६ ॥
 सतार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तपयो वीषधराश्च सप्त ।
 भूरादि हृत्या भुयनाणि सप्त रदन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २७ ॥
 इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत् स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या ।
 दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं भवेत्तच्च सत्यं भगवत्प्रसादान् ॥ २८ ॥
 ततः समुत्थाय विचिन्तयेत् धर्मं तथापि च विहाय शय्याम् ।
 कल्याय पश्चादरिखिन्दुर्यं गच्छेत् तत्रोत्सर्गविधिं दि व्रतुम् ॥ २९ ॥

गन्धगुगुगाली पृथ्वी, रसगुगुगाल जल, स्पर्शागुगुगाली वायु, तेजोगुगुगाली अग्नि, शब्दगुगुगाली आकाश एवं महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें । सप्तों समुद्र, सप्तों कुड्यवर्ष, सप्तों, सप्तों श्रेष्ठ द्वीप और भू आदि सप्तों लोक—ये सभी प्रभातकालमें मुझे मङ्गल प्रदान करें ।' इस प्रकार प्रातःकालमें परम पवित्र सुप्रभात-स्तोत्रको भक्तिपूर्वक पढ़ें, स्मरण करें अथवा सुनें । निश्चय ! ऐसा करनेसे भगवान्की कृपासे निश्चय ही उसके दुःस्वप्नका नाश होना है तथा सुन्दर प्रभात होना है । उसके बाद उठकर धर्म तथा अर्थके विषयमें चिन्तन करें और शय्या-स्थान करनेके बाद 'हरि'का नाम लेकर उत्सर्ग-विधि (शौच आदि) करनेके उद्ये जाय ॥ २६-२९ ॥

न देवगोब्राह्मणपक्षिमारो न राजमारो न चतुर्पदे च ।
 कुर्यादयोःस्तर्गमपीद गोष्ठे पूर्यारतां दैव समाश्रितो गाम् ॥ ३० ॥
 ततस्तु शौचार्थमुपाहरेन्मूर्धं गुरे त्रयं पाणिजले च सत ।
 तयोभयोः पञ्च चतुस्त्रयैर्वा लिङ्गे तयैर्वा मृतमाहरेत् ॥ ३१ ॥
 नान्तर्जलाद्राक्षस मूर्धिमन्थलात् शौचावशिष्टा शरणा तथान्या ।
 पल्लोकमृच्छापि हि शौचनाय प्राहा मदाचारविदा मरेण ॥ ३२ ॥
 वदन्मुखाः प्राट्मुखां वापि विज्ञान मदात्वा पादौ भुवि संनिविष्ट ।
 समाचमेद्दृगिरफेनिल्याभिराशौ पश्विन्व मुलं द्विरदग्नि ॥ ३३ ॥

मल-त्याग देवता, गौ, ब्राह्मण और जग्निके मार्ग, राजपथ (सड़क) और सौराष्ट्रपर, गोशालामें तथा पूर्व या पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके न करे । मलत्यागके बाद फिर शुद्धिके लिये मिट्टी ग्रहण करे और मलद्वारमें तीन बार, वाएँ हाथमें सात बार तथा दोनों हाथोंमें दस बार एवं लिङ्गमें एक बार मिट्टी लगाये । राक्षस ! सदाचार जाननेवाले मनुष्यको जलके भीतरसे, चूहेकी बिलसे, दूसरोंके शौचसे बची हुई एवं गृहसे मिट्टी नहीं लेनी चाहिये । दीमककी बाँबीसे भी शुद्धिके लिये मिट्टी नहीं लेनी चाहिये । विद्वान् पुरुष पैर धोनेके पश्चात् उत्तर या पूर्वमुख बैठकर फेन-रक्षित जलसे पहले मुखको दो बार धोये; फिर धोनेके बाद आचमन करे ॥ ३०-३३ ॥

ततः स्पृशेत्खानि शिरः करेण संध्यासुपासीत ततः क्रमेण ।
 केशांस्तु संशोध्य च दन्तधावनं कृत्वा तथा दर्पणदर्शनं च ॥ ३४ ॥
 कृत्वा शिरःस्नानमथाङ्गिकं वा संपूज्य तोयेन पितृन् सदेवान् ।
 द्यौमं च कृत्वालभनं शुभानां कृत्वा बर्हिर्निर्गमनं प्रशस्तम् ॥ ३५ ॥
 दूर्वादधिसर्पिरथोदकुम्भं घेत्तुं सचत्सां वृषभं सुवर्णम् ।
 मृद्गोमयं स्वस्तिकमक्षतानि लाजामधु प्राह्मणकन्यकां च ॥ ३६ ॥
 श्वेतानि पुष्पाण्यथ शोभनानि पुताशनं चन्दनमर्कविम्बम् ।
 यश्वत्यवृक्षं च समालभेत ततस्तु कुयाञ्जिजातिधर्मम् ॥ ३७ ॥

आचमन करनेके बाद अपनी इन्द्रियों तथा सिरको हाथसे स्पर्श कर क्रमशः केश-संशोधन, दन्तधावन एवं दर्पण-दर्शन कर संध्योपासन करे । शिरःस्नान (सिरसे पैरतक स्नान) अथवा अर्धस्नान कर पितरों एवं देवताओंका जलसे पूजन करनेके पश्चात् हवन एवं मातृलिक वस्तुओंका स्पर्श कर बाहर निकलना प्रशस्त होता है । दूर्वा, दधि, घृत, जलपूर्ण कलश, बछड़ेके साथ गाय, बैल, सुवर्ण, मिट्टी, गोबर, स्वस्तिक चिह्न, अक्षत, लाजा, मधुका स्पर्श करे और ब्राह्मणकी कन्या एवं सूर्यविम्बका दर्शन करे तथा सुन्दर श्वेतपुष्प, अग्नि, चन्दनका दर्शन कर अश्वत्य (पीपल) वृक्षका स्पर्श करनेके बाद अपने जाति-धर्म (अपने वर्णके लिये नियतकर्म) का पाठन करे ॥ ३४-३७ ॥

देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्र्यं स्वगोत्रधर्मं न हि संत्यजेत् ।
 तेनार्थसिद्धिं समुपाचरेत् नासत्प्रलापं न च सत्यहीनम् ॥ ३८ ॥
 न निष्टुरं नागमशास्त्रहीनं वाक्यं वदेत्साधुजनेन येन ।
 निन्द्यो भवेन्नैव च धर्मभेदी सद्गं न चासत्स्तु नरेषु कुयान् ॥ ३९ ॥
 संध्यासु वज्र्यं सुरतं दिवा च सर्वासु योनीषु परावलासु ।
 आगारशून्येषु महीतलेषु रजस्वलास्त्रेव जलेषु वीर ॥ ४० ॥
 वृथाऽऽत्नं वृथा दानं वृथा च पशुमारणम् । न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहम् ॥ ४१ ॥

देश-विहित धर्म, श्रेष्ठ कुलधर्म और गोत्रधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, उसीसे अर्थकी सिद्धि करनी चाहिये । असत्प्रलाप, सत्यरहित, निष्टुर और वेद-आगमशास्त्रसे असंगत वाक्य कभी न कहे, जिससे साधुजनोंद्वारा निन्दित होना पड़े । किसीके धर्मको हानि न पहुँचाये एवं बुरे लोगोंका सङ्ग भी न करे । वीर ! सन्ध्या एवं दिनके समय रति नहीं करनी चाहिये । सभी योनियोंकी परलियोंमें गृहहीन पृथ्वीपर, रजस्वला स्त्रीमें तथा जलमें मुरतन्यापार वर्जित है । गृहस्थको व्यर्थ भ्रमण, व्यर्थ दान, व्यर्थ पशुवध तथा व्यर्थ दार-परिग्रह नहीं करना चाहिये ॥ ३८-४१ ॥

वृथाऽटनाश्रित्यहानिर्दृष्ट्यादानाज्ञतद्वयः । वृथा पशुधनः प्राप्नोति पातकं नरकप्रदम् ॥ ४२ ॥
 संतत्या हानिरद्वलाप्या वर्णसंकरतो भयम् । मेतव्यं च भवेद्भोके वृथादारपरिमहान् ॥ ४३ ॥
 परस्वये परदारं च न कार्या बुद्धिरुत्तमैः । परस्वयं नरकयैव परदारमथ मृतये ॥ ४४ ॥
 नैशेत् परस्त्रियं नग्रां न सम्भाषेत् तस्करात् । उद्वेग्यादनां स्वयं संभाषं च वियज्येत् ॥ ४५ ॥

अर्थ धूमनेसे नित्यकर्मकी हानि होती है तथा वृथा दानसे धनकी हानि होती है और वृथा पशुधन करने-
 वाला नरक प्राप्त करने वाले पापको प्राप्त होता है । अथैव धी-संप्रद्वेषे सन्तानकी निन्दनीय हानि, वर्णसंकरका
 भय तथा लोभसे भी भय होता है । उत्तम व्यक्ति परधन तथा परस्त्रीमें बुद्धि न लगाये । परधन नरक देनेवाला
 और परस्त्री मृत्युका कारण होती है । परस्त्रीको नम्रावस्थामें न देखे, चोरीसे बातचीत न करे एव राजसूय धीको न
 भो देवे, न उसका स्पर्श ही करे और न उससे बातचीत ही करे ॥ ४२-४५ ॥

नैकासने तथा स्वयेयं सोदर्यां परजायया । तथैव म्यान्न मातुश्च तथा स्वदुहितुस्वयि ॥ ४६ ॥
 न च स्नार्यात् वै नग्ने न शयीत् कदाचन । दिग्वासगोऽपि न तथा परिधमणमिष्यते ॥
 भिन्नासनभाजनादीन् दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

नन्दासु नाभ्यङ्गमुपाचरेत् क्षौरं च रिक्तासु जयासु मांसम् ।
 पूर्णासु योषित्परिवर्जयेत् भद्रासु सर्वाणि समाचरेत् ॥ ४८ ॥
 नाभ्यङ्गमर्कं न च भूमिपुत्रे क्षौरं च शुक्रे रविजे च मांसम् ।
 बुधेषु योषिन् समाचरेत् शेषेषु सर्वाणि सदैव कुर्यात् ॥ ४९ ॥

अपनी बहन तथा परस्त्रीके साथ एक आसनपर न बैठे । इसी प्रकार अपनी माता तथा कन्याके साथ
 भी एक आसनपर न बैठे । नग्न होकर स्नान और शयन न करे । ब्रह्महीन होकर इधर-उधर न घूमे, । दूटे, आसन
 और बर्तन आदिको अलग रख दे । नन्दा (प्रतिपद्, पृष्ठी और एकादशी) निधियोंमें तेजसे माट्टिा न करे । रिक्ता
 (चतुर्था, नवमी और चतुर्दशी) निधियोंमें क्षौर कर्म न करे (न कगये) तथा जया (तृतीया, अष्टमी और
 त्रयोदशी) निधियोंमें फटका गूदा नहीं काना चाहिये । पूर्णा (पञ्चमी, दशमी और पूर्णिमा) निधियोंमें धीका
 सपर्यक न करे तथा भद्रा (द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी) निधियोंमें सभी कार्य करे । रविवार एव मङ्गलवारको
 तेजकी माट्टिा, शुकवारको क्षौरकर्म, नहीं कराना चाहिये (न करना चाहिये) । शनिवारको कलम गूदा न
 वाये तथा बुधवारको श्री वर्ण है । शेष दिनोंमें सभी कार्य सदैव कर्तव्य हैं ॥ ४६-४९ ॥

विघ्नासु हस्ते धरणं न तैलं क्षौरं विद्यास्वास्तभिजित्सु वर्ज्यम् ।
 मूले मृगे भाद्रपदासु मांसं योषिन्मद्याहृत्तिस्योत्सपासु ॥ ५० ॥
 सदैव वर्ज्यं शयनमुद्विषारस्तथा प्रतीच्यां रजनोचरेत् ।
 भुञ्जत नैषेद् च दक्षिणामुरो न च प्रतीच्यामभिभोजनोपमम् ॥ ५१ ॥
 देवालयां चैत्यनकं चतुष्पथं विद्याधिकं चापि गुप्तं प्रदक्षिणाम् ।
 माल्यान्नपानं यसनानि यत्नतो नान्यैर्घृतांधापि हि धारयेद् बुधः ॥ ५२ ॥
 स्नायाच्छिष्टःस्नानतया च नित्यं न कारणं चैव विना निरासुत् ।
 प्रदोषरागे स्पजनापयाते मुक्त्या च त्रगमङ्गते शशाङ्के ॥ ५३ ॥

नित्रा, हस्त और अश्रम नक्षत्रोंमें तैल तथा विद्याका और अभिजित नक्षत्रोंमें क्षौर-कार्य नहीं करना-कगना चाहिये ।
 ५०. मृगशिरा, पूर्णभाद्रपद और उत्तराभाद्रपदमें गूदा-अभ्यङ्ग तथा मत्स्य, वृत्तिका और मीनो वसता (वसताम्नी,

उत्तरामाहा, उत्तरामाहपदा) में श्री-सहवास न करे। राक्षसराज ! उत्तर एवं पश्चिमकी ओर सिर करके शयन नहीं करना चाहिये। दक्षिण एवं पश्चिममुख भोजन नहीं करना चाहिये। देवमन्दिर, चैत्य-वृक्ष, देवताके समान पूज्य पीपल आदिके वृक्ष, चौराहे, अपनेसे अधिक विद्वान् तथा गुरुकी प्रदक्षिणा करे। बुद्धिमान् व्यक्ति यत्पूर्वक दूसरेके द्वारा व्यवहृत माला, अन्न और वस्त्रका व्यवहार न करे। नित्य सिरके ऊपरसे स्नान करे। प्रहोपराग (प्रहणके समय) और स्रजनकी मृत्यु तथा जन्म-नक्षत्रमें चन्द्रमाके रहनेके अतिरिक्त समयमें रात्रिमें बिना विशेष कारण स्नान नहीं करना चाहिये ॥ ५०-५३ ॥

नाभ्यङ्गितं कायसुपस्पृशेच्च स्नातो न केशान् विधुनीत चापि ।
गाजाणि चैवाम्बरपाणिना च स्नातो विमृज्याद् रजनीचरेण ॥ ५४ ॥
वसेच्च देशेषु सुराजकेषु सुसंहितेष्वेव जनेषु नित्यम् ।
अत्रोधता न्यायपरा शमत्सराः द्रुपीवला ह्योपधयश्च यत्र ॥ ५५ ॥
श्वापस्तु वैद्यो धनिकश्च यत्र सच्छ्रेयियस्तत्र वसेत नित्यम् ॥ ५६ ॥
न तेषु देशेषु वसेत बुद्धिमान् सदा नृपो दण्डरुचिस्तवशक्तः ।
जनोऽपि नित्योत्सववद्भारः सदा जिगीषुश्च निशाचरेन्द्र ॥ ५७ ॥

राक्षसेश्वर ! तेल-माछिष किये हुए किसीके शरीरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। स्नानके बाद बालोंको उसी समय कंधीसे न झाड़ें। मनुष्यको वहाँ रहना चाहिये जहाँका राजा धर्मात्मा हो एवं जनवर्गमें समता हो, लोग क्रोधी न हों, न्यायी हों, परस्परमें डाढ़ न हो, खेती करनेवाले किसान और ओपधियाँ हों। जहाँ चतुर वैष्य, धनी-मानी दानी, श्रेष्ठ श्रेयिय विद्वान् हों वहाँ निवास करना चाहिये। जिस देशका राजा प्रजाको मात्र दण्ड ही देना चाहता हो तथा उत्सवोंमें जन-समाजमें नित्य किसी-न-किसी प्रकारका बैर-विद्वेष हो एवं लड़ाई-झगड़ा करनेकी ही लाज्सा हो, निर्दल मनुष्यको ऐसे स्थानपर नहीं रहना चाहिये ॥ ५४-५७ ॥

अथ उषुः

यत्र वर्ज्यं महाबाहो सदा धर्मस्थितैर्नरैः । यद् भोज्यं च समुद्दिष्टं कथयिष्यामहे ययम् ॥ ५८ ॥
भोज्यमन्नं पर्युषितं स्नेहायनं चिरसंभृतम् । अस्नेहा व्रीहयः श्लक्ष्णा विकाराः पयसस्तथा ॥ ५९ ॥
तद्भृद् द्विदलकादीनि भोज्यानि मनुष्यवीत् ॥ ६० ॥

ऋषियोंने कहा—महाबाहो ! जो पदार्थ धर्मात्मा व्यक्तियोंके लिये सर्वव्याज्य है एवं जो भोज्य है, हम उनका वर्णन कर रहे हैं। तेल, वी आदि स्निग्ध पदार्थोंसे पकाया गया अन्न वासी एवं बहुत पहलेका बने रहनेपर भी भोज्य (स्नानयोग्य) है तथा सूखे भूने हुए चावल एवं दूधके विकार—दही, वी आदि भी वासी एवं पुराने होनेपर भी भक्ष्य—स्नाने योग्य हैं। इसी प्रकार मनुने चने, अरहर, मसूर आदिके भूने (तले) हुए दालको भी अविक्त कालतक भोजनके योग्य बतलाये हैं ॥ ५८-६० ॥

मणिरत्नप्रवालानां तद्वन्मुनाफलस्य च । शैलदाहमयातां च पृणमूलोपधान्यपि ॥ ६१ ॥
शूर्पधान्याजिनानां च संघनानां च घाससाम् । बल्कलानामशेषाणात्पशुना शुद्धिरिष्यते ॥ ६२ ॥
अस्नेहानामथोष्णोत्तिलकलकेन चारिणा । कापांसिकानां वस्त्राणां शुद्धिः स्यात्सह भक्षणा ॥ ६३ ॥
नागदन्नाभियष्टहानां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते । पुनः पाकेन भाण्डालां नृपयानां च मेघ्यता ॥ ६४ ॥
शुचि भोजं कालवृत्तः पर्यं योविन्दुषं तथा । स्थ्यात्पलमविजातं दातवर्गणं यत्कृतम् ॥ ६५ ॥
पात्रप्रशस्तं मिरानीतम्लोष्णानरितं चतुः । चेपितं बालवृष्यानां बालस्य च मुक्तं शुचि ॥ ६६ ॥

(पहले आगे सब द्रव्य शुद्ध बनाने हैं ।) मणि, रत्न, प्रभात (सूर्य), योग, पत्थर और जड़ी-बूटी के बने कर्म, वृष, मूत्र तथा ओषधियाँ, सूप (दाह), धान्य, मृगचर्म, मित्रे हुए वष एवं वृक्षोंके सभी भागोंकी शुद्धि करने होती है । तंडु-पूत आदिसे मणि यज्ञोंकी शुद्धि तथा जठ तथा मित्र-कन्धक (रत्न)में पत्थर कागमके यज्ञोंकी शुद्धि भस्मसे (पत्थर कोयले आदिकी रागसे) होती है । हाथोंके दाँत, हड्डी और मँगलकी वनी चीजोंकी शुद्धि तगरानेसे (खारादनेसे) होती है । मिट्टीके बर्तन पुनः आगमें जलानेसे शुद्ध होते हैं । मिश्रण, कागियोंका हाव, विन्यय वस्तु, धी-मुच अज्ञात वस्तु, प्राणके मय्य मार्ग या चौराइसे लायी जानेवाली तथा नीरुगोग्राह निर्मित कस्तुरि पत्रि मानी गयी हैं । वचनद्वारा प्रशस्ति, पुराना, अनेकनेक जनसे होती हुई लायी जानेवाली छोटी कस्तुरि, कागों और वृद्धोंद्वारा किया गया कर्म तथा शिशुका मुच शुद्ध होता है ॥ ६१-६६ ॥

कर्मन्ताद्वापशालासु	स्तनंधयसुताः	त्रियः ।	यागिवृषयो द्विजेन्द्राणां संतताधामुग्निद्वय ॥ ६७ ॥
भूमिर्विद्युप्यते			एतदादमाज्जनगोपमैः ।
केदाकोटावपनेऽन्ने	गोघ्राते	मक्षिकान्यिते ।	मृद्वस्तुभस्मक्षाराणि प्रहेनध्यानि शुद्धये ॥ ६९ ॥
औदुम्बरानां चाम्बलेन	शारेण	प्रपुसीगवयोः ।	भस्माशुभिद्य वांस्यानां शुद्धिः प्रायोद्रयम्य च ॥ ७० ॥

कर्मशाळा, अन्तर्गृह एव अग्निशाळामें दूधमुँहे घषोंको छी हुई शिपों, मन्थन्य कर्मने हुए शिशुन प्रासपोंके मुक्तके छीटे तथा उष्ण जलने विन्दु पत्रि होते हैं । पृथ्वीकी शुद्धि गेरुने, जलने, हट्टू देने, गैरोंके चलने, छीपने, कर्मचने तथा सीचनेसे होती है और गृहकी शुद्धि शाङ्क देने, जलके छिड़कने तथा पूजा आदिसे होती है । केरा, कीट पड़े हुए और मक्खीके बैठ जानेपर तथा गयके द्वारा मूषे जानेपर अन्तकी शुद्धिने मित्रे उखर जल, भस्म, क्षार या मृत्पिण्ड छिड़कनी चाहिये । ताग्रात्रकी शुद्धि खट्टाईसे, जले और शीगेरी क्षारके द्वारा, कौसेकी वस्तुएँ भस्म और जलके द्वारा तथा ताल पदार्थ कुट अंशको दहा देनेसे शुद्ध हो जते हैं ॥ ६७-७० ॥

अमेध्याकस्य मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन च । अन्येयामपि प्रध्याणां शुद्धिर्गन्धापहारतः ॥ ७१ ॥
 मातुः प्रह्ववणे वस्त्रः शशुनि फलपातने । गर्दभा भार्यादित्ये दया मृगप्रदने शुचिः ॥ ७२ ॥
 रध्याकर्दमनोयानि नावः पथि तृणानि च । मास्तेनैव शुद्धयन्ति पक्वेष्वरचिधानि च ॥ ७३ ॥
 शृत्तं द्रोणाद्रकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत् । अप्रमुदधृष्य संत्याज्यं शेषम्य मोक्षणं स्मृतम् ॥ ७४ ॥
 उपवासं विरायं वा दृषितान्मन्य भोजने । यज्ञते रातपूर्वे च नैव शुद्धिर्विद्यते ॥ ७५ ॥

अपत्रि वस्तुसे मिले पदार्थ जल और मिट्टीसे धोने तथा दुर्गन्ध दूर कर देनेसे शुद्ध होते हैं । अन्य (गन्धवाले) पदार्थोंकी शुद्धि भी गन्ध दूर करनेसे होती है । माताके स्नानको प्रस्तुत कराने (पेटाने) में दण्ड, वृक्षसे फल गिरानेमें पक्षी, बोझा दोनेमें गगा और शिकार पकड़नेमें कुत्ता शुद्ध (मान्य) है । गर्भके कीचड़ और जल, नाव तथा रास्तेकी वास वृष एवं पके हुए रईयोंके समूह गथुके द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं । यदि एक द्रव्य (दाईसेसे अथिद) पके अन्नके अर्धित वस्तुमें सम्पर्क हो जय तो उमके उग्रका अंश निकाल कर फेंक देना एव शेषपर जल छिड़क देना चाहिये । इन्में उमकी शुद्धि हो जाती है । अन्न रूपसे दूतित अन्न या तेनेपर तीन रात्रिक उग्रमम करनेसे शुद्ध हो जानेका विधान है, किन्तु न-वृक्षका दूतित अन्न एतनेपर शुद्धि नहीं हो सकती ॥ ७१-७५ ॥

१-द्रव्यशुद्धिका यह प्रकरण अनुसूची ५ । ११० - ११६ तथा याज्ञवल्क्यस्मृति १ । १८२ ११३ इत्यादिमें भी प्रायः इसी भावका है ।

एषश्चयाद्यानलज्जार्द्रश्च सूक्तिकान्यावसायिनः । स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्यं तथैव सूतदारिणः ॥ ७६ ॥
सस्नेहमस्थि संस्पृश्य सवासाः स्नानमाचरेत् । आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥ ७७ ॥
न लङ्घयेत्पुरीपासकृष्टीवनोद्धर्त्तनानि च । गृहातुच्छिष्टविष्णुञ्चे पादाभ्यांश्चि क्षिपेद् बहिः ॥ ७८ ॥
पञ्चपिण्डाननुद्भृत्य न स्नायात् परवारिणि । स्नायीत देवघातेषु सरोहदसरित्सु च ॥ ७९ ॥

रजमूला स्त्री, कुत्ता, नग्न (दिगम्बर साधु), प्रसूता स्त्री, चाण्डाल और शववाहकोंका स्पर्श हो जानेपर अपवित्र हुए व्यक्तिको पवित्र होनेके लिये स्नान करना चाहिये । मज्जायुक्त हड्डीके छू जानेपर यक्षसहित स्नान करना चाहिये, किंतु सूखी हड्डीका स्पर्श होनेपर आचमन करने, गो-स्पर्श तथा सूर्यदर्शन करनेमात्रसे ही शुद्धि हो जाती है । विष्टा, रक्त, थूक एवं उवटनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । चूटे पदार्थ, विष्टा, मूत्र एवं पेशे धोनेके जलको घरसे बाहर फेंक देना चाहिये । दूसरेके द्वारा निर्मित बावली आदिमें मिट्टीके पाँच टुकड़ोंके निकाले बिना स्नान नहीं करना चाहिये । (मुद्ध्यतः) देव-निर्मित श्रीलिंगों, ताल-तल्लैयों और नदियोंमें स्नान करना चाहिये ॥ ७६-७९ ॥

नोद्यानादौ विकालेषु प्राञ्जस्त्रिष्टेत् कदाचन । नालपेद् जनविद्विष्टं चौरहीनां तथा स्त्रियम् ॥ ८० ॥
देवतापितृसञ्छास्त्रयज्ञवेदादिनिन्दकैः । कृत्वा तु स्पर्शमालापं शुद्ध्यते कमावलोकनात् ॥ ८१ ॥

अभोज्याः सूक्तिकापण्डमारजार्यास्तुश्चकुम्भकुटाः । पतितापविद्धनगनाश्चाण्डालाधमाश्च ये ॥ ८२ ॥

बुद्धिमान् पुरुष वाग-वगीचोर्षे असमयमें कभी न ठहरे । लोगोंसे द्वेष रखनेवाले व्यक्ति तथा पति-पुत्रसे रहित स्त्रीसे वार्त्तालाप नहीं करना चाहिये । देवता, पितरों, भले शास्त्रों (पुराण, धर्मशास्त्र, रामायण आदि), यज्ञ एवं वेदादिके निन्दकोंका स्पर्श और उनके साथ वार्त्तालाप करनेपर मनुष्य अपवित्र हो जाता है, यह सूर्यदर्शन करनेपर शुद्ध होता है उसकी शुद्धि भगवान् सूर्यके समक्ष उपस्थान करके अपने किये हुए स्पर्श और वार्त्तालाप कर्मके त्याग तथा पश्चात्ताप करनेसे होती है । सूक्तिक, नपुंसक, विलाघ, चूहा, कुत्ते, मुर्ग, पतित, नग्न (विधर्मा) (इनके लक्षण आगे बतलाये जायेंगे) समाजसे बहिष्कृत, और जो चाण्डाल आदि अवम प्राणी हैं उनके यहाँ भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ८०-८२ ॥

सुकेशिस्त्वाच

भवद्भिः कीर्तिताऽभोज्या य एते सूक्तिकादयः । अमीषां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतो लक्षणानि हि ॥ ८३ ॥

सुकेशि बोला—ऋषियो ! आपन्नेगोंने जिन सूक्तिक आदिका अन्न अभक्ष्य कहा है, मैं उनके लक्षण विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ ८३ ॥

अथ क्तुः

प्राज्ञाणी ब्राह्मणस्यैव याऽवगंधन्वमागता । तावुभौ सूक्तिकेत्युक्तौ तयोरन्नं विगर्हितम् ॥ ८४ ॥

न जुगोत्युचिते काले न स्नानि न ददाति च । पितृदेवार्चनाद्धोनः स षण्डः परिगीयते ॥ ८५ ॥

दम्भार्थं जपते यश्च तप्यते यजते तथा । न परचार्यमुद्युक्तो स मार्जारः प्रकीर्तितः ॥ ८६ ॥

विभवे सति नैवास्ति न ददाति जुष्टोति च । तमाहुरागुं तस्यान्नं भुक्त्वा कृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ ८७ ॥

ऋषियोंने कहा—सुकेशि ! अन्य ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोंके व्यभिचारित होनेपर उन दोनोंको ही 'सूक्तिक' कहा जाता है । उन दोनोंका अन्न निन्दित है । उचित समयपर दहन, स्नान और दान न करनेवाला तथा पितरों एवं देवताओंकी पूजासे रहित व्यक्तिको ही यहाँ 'षण्ड' या नपुंसक कहा गया है । दम्भके लिये जप, तप और यज्ञ करनेवाले तथा परलोकार्थ उद्योग न करनेवाले व्यक्तिको यहाँ 'मार्जार' या 'विलाघ' कहा गया है । ऐश्वर्य रहने

हृष्ट भोग, दान एवं इवन न करनेवालेको 'आसु' (वृहा) कहते हैं । उनका अन्न 'वान्तर मनुष्य वृष्टुका' करनेसे शुद्ध होता है ॥ ८४-१७ ॥

य परेषा हि मर्माणि निवृन्तप्रिय भारते । नित्य परगुणहृष्या स ध्यान इति कथ्यते ॥ ८८ ॥
सभागताना य सभ्य पक्षपानं समाश्रयेत् । तमाहु बुक्कुट देयास्तस्यान्ध्र्यन्नं निर्गर्हितम् ॥ ८९ ॥
स्वधर्मं य समुख्यं परधर्मं समाश्रयेत् । अनापदि स विद्वद्भि पतित परिकीर्यते ॥ ९० ॥
देयत्यागो पितृत्यागो गुरुभक्त्यरतस्तथा । गोमहाह्नयस्रोत्रधण्डपविद्ध स कीर्यते ॥ ९१ ॥

दूसरोंका मार्ग भेदन करते हुए बात-बात करनेका उपाय दूसरोंके गुणोंसे द्वेष करनेवालेको 'धान' या 'कुता' कहा गया है । सामने आगत व्यक्तियोंमें जो सत्य व्यक्ति पक्षपान करता है उसे दन्ताओंन 'कुक्कुट' (मुण्ड) कहा है, उसका भी अन्न निन्दित है । विपत्तिकालके अतिरिक्त अन्य समयमें अपना धर्म छोड़कर दूसरोंका धर्म प्रदर्श करनेवालेको विद्वानोंन 'पतित' कहा है । उपासी, पितृत्यागी, गुरुभक्तिमें निगुण तथा गी, ब्राह्मण एवं श्रीश्री हत्या करनेवालेको 'अपविद्ध' कहा जाता है ॥ ८८-९१ ॥

येषां कुले न यदोऽस्ति न शास्त्र नैव च व्रतम् । तेनगता कीर्तिता सद्भिस्तेषामन्न विगर्हितम् ॥ ९२ ॥
आदारार्तानामदाता च दातुश्च प्रतिषेधक । शरणागतं यस्त्वजनि स चाण्डालोऽप्यसौ नर ॥ ९३ ॥
यो बाण्धयै परित्यक्त साधुभिःशान्तिरपि । कुण्डाशी यश्च तस्यान्नं भुक्त्वा चाद्राणं चरेत् ॥ ९४ ॥
यो नित्यकर्मणो हानिं कुर्यान्नैमित्तिकस्य च । भुक्त्वान्नं तस्य शुद्धयेत् विरात्रोपोषितो नर ॥ ९५ ॥

जिनके कुलमें वेद, शास्त्र एवं व्रत नहीं हैं, उन्हें सज्जन लोग 'नग्न' कहते हैं । उनका अन्न निन्दित है । आशा रखनेवालोंको न देनेवाला, दानाको मना करनेवाला तथा शरणागतों परिन्याय करनेवाला अन्न मनुष्य 'चाण्डाल' कहा जाता है । बांधवों, साधुओं एवं शत्रुओंसे त्याग गया तथा कुण्ड (पतिव्रतियों रहनेपर पर पुरुषसे उत्पन्न पुत्र) के यहाँ अन्न खानेवालेको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये । नित्य और नैमित्तिक कर्म न करनेवाले व्यक्तिना अन्न खानेपर मनुष्य तीन रातोंके उपवास करनेसे शुद्ध होता है ॥ ९२-९५ ॥

गणकस्य निपादस्य गणिकाभिपजोस्तथा । कदयंभ्यापि शुद्धयेत् विरात्रोपोषितो नर ॥ ९६ ॥
नित्यस्य कर्मणो हानिं केवलं मृतजन्मसु । न तु नैमित्तिकोच्छेदं कर्तव्यो हि बधयन ॥ ९७ ॥
जाते पुत्रे पितु स्नानं सचैलस्य विधीयते । मृते च मयंपत्न्यानिपाद भगवान् शृणु ॥ ९८ ॥
प्रेताय सलिलं देयं यदिर्दग्ध्या तु गोत्रजैः । प्रथमेऽद्वि चतुर्थे वा मन्त्रे वाऽप्यिन्द्रायम् ॥ ९९ ॥

गणक (ज्योतिषी), निपाद (मन्त्रह), वैद्या, वैद्य तथा दृष्टान्त धर्म खनन भी मनुष्य तीन दिन उपवास करनेपर शुद्ध होता है । धर्ममें जन्म या मृत्यु होनेपर नित्यकर्म रुक जाते हैं किन्तु नैमित्तिक कर्म कभी बंद नहीं करना चाहिये । भगवान् शृणुन कहा है कि पुत्र उत्पन्न होनेपर पितृके श्रिये एवं मन्त्रोंमें स्त्री बन्धुओंके श्रिये ब्रह्मके स्नान करना चाहिये । प्रायश्चित्त शस्त्रशास्त्र करने चाहिये । 'वृष्टुका' करनेके बाद गोत्र लगे प्रकृत उद्देशमें जलदान (निराश्रित) करें तथा 'पितृके दिन ११ वींसे १३ वींसे दिन ३६ वदन करें ॥ ९६-९९ ॥

ऊर्ध्वं संनयनालेपामङ्गस्पर्शां विधीयते । लोदकैस्तु क्रिया कार्या संशुद्धैस्तु सपिण्डजैः ॥१००॥
 त्रिपोद्बन्धनशस्त्रास्तुवह्निपातमृतेशु च । बाले प्रव्राजि संन्यासे देशान्तरमृते तथा ॥१०१॥
 सद्यः शौचं भवेद्धीर तच्चाप्युक्तं चतुर्विधम् । गर्भघ्नावे तदेवोक्तं पूर्णकालेन चेतरे ॥१०२॥
 ब्राह्मणानामहोरात्रं क्षत्रियाणां दिनत्रयम् । पद्भ्यां चैव वैश्यानां शूद्राणां द्वादशाह्निकम् ॥१०३॥

अस्थि-चयनके बाद अङ्ग-स्पर्शाका विधान है । शुद्ध होकर सोदकों (चौदह पीढ़ीके अन्तर्गतके लोगों) एवं सपिण्डजों (सात पीढ़ीके अंदरके लोगों-) को और्ध्वदैहिक क्रिया (मरनेके बाद की जानेवाली विहित क्रिया) करनी चाहिये । हे वीर ! त्रिप, बन्धन, शस्त्र, जल, अग्नि और गिरनेसे मृत्युके होनेपर तथा बालक, परिव्राजक, संन्यासीकी एवं किसी व्यक्तिकी दूर देशमें मृत्यु होनेपर तत्काल शुद्धि हो जाती है । वह शुद्धि भी चार प्रकारकी कही गयी है । गर्भघ्नावमें भी शीघ्र ही शुद्धि होती है । अन्य अशौच पूरे समयपर ही दूर होते हैं । (वह सद्यः शौच) ब्राह्मणोंका एक अहोरात्रका, क्षत्रियोंका तीन दिनोंका, वैश्योंका छः दिनोंका एवं शूद्रोंका बारह दिनोंका होता है ॥ १००-१०३ ॥

दशद्वादशमासार्द्धमाससंख्यैर्दिनेश्च तैः । स्वाः : कर्मक्रियाः कुर्युः सर्वे वृणा यथाक्रमम् ॥१०४॥
 प्रेतमुद्दिश्य कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टं विधानतः । सपिण्डीकरणं कार्यं प्रेते आवत्सरान्तरे ॥१०५॥
 ततः पितृत्वमापन्ने दर्शपूर्णदिभिः शुभैः । प्रीणनं तस्य कर्त्तव्यं यथा श्रुतिनिर्दर्शनात् ॥१०६॥
 पितुरर्थं समुद्दिश्य भूमिदानादिकं स्वयम् । कुर्यात्तेनास्य सुप्रीताः पितरो यान्ति राक्षस ॥१०७॥

सभी वर्णोंके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) क्रमशः दस, बारह, पंद्रह दिन एवं एक मासके अन्तरपर अपनी-अपनी क्रियाएँ करें । प्रेतके उद्देश्यसे विधिके अनुसार एकोद्दिष्ट श्राद्ध करना चाहिये । मरनेके एक वर्ष बीत जानेपर मनुष्यको सपिण्डीकरण श्राद्ध करना चाहिये । उसके बाद प्रेतके पितर हो जानेपर अमावास्या और पूर्णिमा निधिके दिन वेदविहित विधिसे उनका तर्पण करना चाहिये । राक्षस ! पितरके उद्देश्यसे स्वयं भूमि-दान आदि करे, जिससे पितृगण इसके ऊपर प्रसन्न हो जायँ ॥ १०४-१०७ ॥

यद् यदिष्टतमं किंचिद् यच्चास्य दयितं गृहे । तच्छद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥१०८॥
 अधेतव्या त्रयी नित्यं भाव्यं च विदुषा सदा । धर्मतो धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि शक्तितः ॥१०९॥
 यच्चापि कुर्यतो नात्मा जुगुप्सामेति राक्षस । तत् कर्त्तव्यमशङ्केन यन्न गोप्यं महाजने ॥११०॥
 एवमाचरतो लोके पुरुषस्य गृहे सतः । धर्मार्थकामसंप्राप्तिं परत्रेह च शोभनम् ॥१११॥

व्यक्तिकी जीवित-अवस्थामें धर्ममें जो-जो पदार्थ उसको अत्यन्त अमिलपित एवं प्रिय रहा हो, उसकी अक्षयताकी कामना करते हुए गुणवान् पात्रको दान देना चाहिये । सदा त्रयी अर्थात् ऋक, यजुः और सामवेदका अध्ययन करना चाहिये, विद्वान् बनना चाहिये, धर्मपूर्वक धनार्जन एवं यथाशक्ति यज्ञ करना चाहिये । राक्षस ! मनुष्यको जिस कार्यके करनेसे कर्त्ताकी आत्मा निन्दित न हो एवं जो कार्य बड़े लोगोंसे छिपाने योग्य न हो ऐसा कार्य निःशङ्क (आसक्तिरहित) होकर करना चाहिये । इस प्रकारके आचरण करनेवाले पुरुषके गृहस्थ होनेपर भी उसे धर्म, अर्थ एवं कामकी प्राप्ति होती है तथा वह व्यक्ति इस लोक और परलोकमें कल्याणका भागी होता है ॥ १०८-१११ ॥

पप तूद्देशनः प्रोक्तो बृहस्पतिश्च उक्तमः । दानप्रस्थाश्रमं धर्मं प्रवक्ष्यामोऽवधार्यताम् ॥११२॥
 आपत्यसंततिं तद्वा प्राप्ते देष्टव्यं ज्ञानतिष्ठ । दानप्रस्थाश्रमं गच्छेत्वात्मनः शुद्धिकारणम् ॥११३॥
 तन्नाश्रयोपयोवैश्वं तपोभिश्चान्मकर्षणम् । भूमौ शय्या द्रव्यचर्यं पितृदेवातिथिक्रिया ॥११४॥
 होमस्त्रिपचणं तानं जटाफलकलधारणम् । घन्यस्नेहनिषेचित्वं दानप्रस्थविधिस्त्वयम् ॥११५॥

श्रुतियोंसे सुचेती से क्या—सुचेती । अब तक हमने सक्षोमे उत्तम गृहस्थाश्रमा वर्गन किया है । अब हम वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मका वर्णन करेंगे, उसे ध्यानपूर्वक सुनो । सुदिनान् व्यक्ति पुत्रकी सन्तान (पौत्र) और अपने शरीरकी गिरती अवस्था देखकर अपने आ गार्गी सुदिने त्रिये गन्धर्व्य आश्रमसे प्रस्थान करे । वही धारण्यमे उत्पन्न मूल-मूल धादिसे अपना जीवन-यापन करते हुए तदासा शरीर शोभय करे । इन धारण्यमे भूमिपर शयन, तद्वचर्यमा पाठन एव विनर, देवता तथा अतिथियोंकी पूजा करे । दहन, विनी तद— प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्यासाल—पान, जटा और कन्व-उपा धारण तथा अन्य फलसे निवारण रस्ता है न करे । यही वानप्रस्थ आश्रमकी विधि है ॥ ११२-११५ ॥

धार्थसङ्गपरित्यागो प्रश्नचर्यममानिता । जितेन्द्रियत्वमाशसे नैवस्तिन् वसतिश्चिरम् ॥११६॥
 वनासम्भस्तथाहारो भैक्षान्नं नानिभोपिता । आमजानायशोघेज्जा तथा चामानयो गन्म् ॥११७॥
 सतुर्थं त्याश्रमे धर्मा अस्माभिस्ते प्रकीर्तिताः । यर्णधर्मानि चान्यानि निरागम्य निराचर ॥११८॥
 गार्हस्थ्यं प्रवृत्तये च वानप्रस्थं प्रयाथमा । क्षत्रियम्यापि कथिता ये चाचारो द्विजस्यदि ॥११९॥
 (चतुर्थ आश्रम-(सत्यास-के धर्म ये हैं—) सभी प्रकारकी आस्तिकियोंका त्याग, प्रवच्य, अक्षररसा अभाय, जितेन्द्रियता, पर ध्यानपर अधिक समवक्तन रहना, उपोषण अभाय, भिक्षात भोजन, क्रोमत्र त्याग, आमजानकी इच्छा तथा आमज्ञान । निराचर ! हमने तुमसे चतुर्थ आश्रम-(सत्यास)के इन धर्मोंका वर्णन किया । अब अन्य वर्ण धर्मोंसे सुनो । क्षत्रियोंके लिये भी गार्हस्थ्य, प्रवच्य एव वानप्रस्थ-इन तीन आश्रमों एव प्राज्ञगोंके लिये विहित आचारोंका विधान है ॥ ११६-११९ ॥

वैश्वानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विद्य । गार्हस्थ्यमुत्तमं स्वेकं शूद्रस्य क्षत्रदाचर ॥१२०॥
 स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणां न दापयेत् । यो दापयति तस्यासौ परियुष्यति भास्वर ॥१२१॥
 कुपितः कुलनाशाय ईश्वरो योगवृत्तये । भानुर्थं यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥१२२॥
 तस्मात् स्वधर्मं न हि संत्यजेत् न द्वारयेथापि हि नामवंशम् ।
 यः संत्यजेथापि निजं हि धर्मं तस्मै प्रशुष्येत दिवाचरस्तु ॥१२३॥

रास । वैश्वानरिके लिये गार्हस्थ्य एव वानप्रस्थ-इन दो आश्रमोंका विधान है तथा शूद्रन लिये पन्नात्र उत्तम गृहस्थ आश्रम ही नियम है । अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित धर्मोंका हम लोभने त्याग नहीं करना चाहिये । जो इनका त्याग करता है, उसपर सूर्य भगवान् क्रुद्ध होते हैं । निराचर ! भगवान् भरकर क्रुद्ध होकर उस मनुष्यको योगवृद्धि एव उसकी कुलका नाश करनेके लिये प्रयत्न करने हैं । अब मनुष्य गन्धर्व्यमा न तो त्याग करे और न अपने वशकी हानि होने दे । जो मनुष्य अपने धर्मका त्याग करता है उसपर भगवान् सूर्य क्रोध करते हैं ॥ १२०-१२३ ॥

पुरुषाय वयाय

इत्येवमुक्तो मुनिभिः सुचेती प्रणम्य तान् प्रक्षनिधीन् मदर्षीन् ।
 जगाम चोत्पत्य पुरं स्वर्षयं सुष्टुमुद्रांममवेभ्यमाज ॥१२४॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुनियोंके ऐसा कहनेके बाद सुचेती उन ब्रह्मजनों महर्षियोंके बरम्बर प्रणामकर धर्मका चिन्तन करते हुए उड़कर अपने पुरको चला गया ॥१२४॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



[अथ पञ्चदशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सुकेशिर्देवंपं गत्वा स्वपुरमुत्तमम् । समाह्वयाब्रवीत् सर्वान् राक्षसान् धार्मिकं वचः ॥ १ ॥
 अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयमः । दानं दया च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यममानिता ॥ २ ॥
 शुभा सत्या च मधुरा वाङ् नित्यं सन्क्रियारतिः । सदाचारनिषेवित्वं परलोकप्रदायकाः ॥ ३ ॥
 इत्युचुर्मुनयो मह्यं धर्ममाद्यं पुरातनम् । सोहमाज्ञापये सर्वान् क्रियतामविकल्पतः ॥ ४ ॥
 पन्द्रहवां अध्याय प्रारम्भ

(दैत्योका धर्म एवं सदाचारका पालन, सुकेशीके नगरका उत्थान-पतन, वरुणा-असीकी महिमा, लोलार्क-प्रसंग)

पुलस्त्यजी बोले—देवों ! उसके बाद अपने उत्तम नगरमें जाकर सुकेशीने सभी राक्षसोंको बुलाकर उनसे धर्मकी बात बतलायी । (सुकेशीने कहा—) अहिंसा, सत्य, चोरीका सर्वथा त्याग, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, दान, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहंकारका न करना, प्रिय, सत्य और मधुर वाणी बोलना, सदा सत्कार्योर्मि अनुराग रखना एवं सदाचारका पालन करना—ये सब धर्म परलोकमें सुख देनेवाले हैं । मुनियोंने इस प्रकारके आदिकालके पुरातन धर्मको मुझे बतलाया है । मैं तुमलोगोंको आज्ञा देता हूँ कि तुमलोग बिना किसी द्विचकके इन सभी धर्मोंका आचरण करो ॥ १-४ ॥

पुलस्त्य

ततः सुकेशिवचनात् सर्व एव निशाचराः । त्रयोदशङ्गं ते धर्मं चकुर्मुदितमानसाः ॥ ५ ॥
 ततः प्रवृद्धिं सुनरामगच्छन्त निशाचराः । पुत्रपौत्रार्थसंयुक्ताः सदाचारसमन्विताः ॥ ६ ॥
 तज्ज्योतिस्तेजसस्तेषां राक्षसानां महात्मनाम् । गन्तुं नाशकनुवन् सूर्यो नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ७ ॥
 ततस्त्रिभुवने ब्रह्मन् निशाचरपुरोऽभवत् । दिवा चन्द्रस्य सदृशः क्षणदायां च सूर्यवत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजाने कहा—उसके बाद सुकेशीके वचनसे सभी राक्षस प्रसन्न-चित्त होकर (अहिंसा आदि) तेरह अङ्गवाले धर्मका आचरण करने लगे । इसमें राक्षसोंकी सभी प्रकारकी अच्छी उन्नति हुई । वे पुत्र-पौत्र तथा अर्थ-धर्म-सदाचार आदिसे सम्पन्न हो गये । उन महान् राक्षसोंके तेजके सामने सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमाकी गति एवं कान्ति क्षीण-सी दीग्वने लगी । ब्रह्मन् ! उसके बाद निशाचरोंकी नगरी तीनों लोकोंमें दिनमें चन्द्रमाके समान और रातमें सूर्यके समान चमकने लगी ॥ ५-८ ॥

न शायते गतिर्व्याम्नि भास्करस्य ततोऽम्बरे । शशाङ्कमिति तेजस्त्वाद्मन्यन्त पुरोत्तमम् ॥ ९ ॥
 स्वं विक्रान्तं विमुञ्चन्ति निशामिति व्यचिन्तयन् । कमलाकरेपु कमला मित्रमित्यवगम्य हि ।

रात्रौ विक्रसिता ब्रह्मन् विभूर्तिं दातुमीप्सवः ॥ १० ॥

कौशिका रात्रिसमयं बुद्ध्वा निरगमन् किल । तान् वायसास्तदा ज्ञात्वा दिवा निघ्नन्ति कौशिकान् ॥ ११ ॥
 स्नातकास्त्वापगास्तेव स्नानजप्यपरायणाः । आकण्ठमग्नास्तिष्ठन्ति रात्रौ ज्ञात्वाऽथ वासरम् ॥ १२ ॥

(फलतः) अब आकाशमें सूर्यकी गतिका (चलनेका) पता नहीं लगता था । लोग उस श्रेष्ठ नगरको नगरके

तेजके कारण आकाशमें चन्द्रमा समझने लग गये । ब्रह्मन् ! सरोवरके कमल दिनको रात्रि समझकर विकसित नहीं होते थे । पर ने रात्रिमें सुकेशीके पुरको सूर्य समझकर विभूर्ति प्रदान करनेकी इच्छासे विकसित होने लगे । इसी प्रकार उल्टू भी दिनको रात समझकर बाहर निकल आये और कौए दिनमें आये जानकर उन उल्टूओंको मारने लगे ।

लान वरनेशाने लोग भी रात्रिको दिन साक्षर ल्लेक सुने बदन होकर स्नान करने को पत्र भग करने हुए बरने वहे रहे ॥ ०.—१२ ॥

न प्ययुज्यन्त यथाश्च तदा ये पुरदर्शने । मन्यमानास्तु दिवसमिदमुच्चैर्भुवन्ति च ॥ १३ ॥
 नूनं बान्ताविहानेन केनचिच्चयपत्रिणा । उच्छृष्टं जीमिं नून्ये कूट्ठान्य सरितस्तटे ॥ १४ ॥
 ततोऽनुकृपयाविष्टो विप्रस्यांस्तोषरदिमभिः । संतापयञ्जगन् मयं नास्ममिनि वयंघन ॥ १५ ॥
 अन्ये यदन्ति यथाहो नूनं यश्चिन् मृतो भवेत् । तत्कान्तया तपस्तनं भृशदोरसंघा यत् ॥ १६ ॥
 भागधितस्तु भगवांस्तरसा ये दिवाकरः । तेनामी शशिनितेजा नास्तमेनि रविभुंयम् ॥ १७ ॥

उस समय सुवेशोके नगरके (मूर्यस्तु) दर्शन होनेसे चक्रवा-चक्रर्द रात्रिको ही दिन मानकर परस्पर अलग नहीं होते थे । वे उबलवासे रहते—निधय ही किसी पनीमे विहान चक्रवाक पक्षीने पकानेसे नहीं-पतर कर कर के जीमन त्याग दिया है । इसीसे दयाई मूर्य अपनी तेज विगणोंसे जगद्गुरु तपने हुए किसी प्रकर अन्न नहीं हो रहे हैं । दूरे कहते हैं—निधय ही कोइ चक्रवाक मर गया है और पत्रिके दोरने उसकी दुष्टिकी कान्ताने भारी तप किया है । इसीप्रिये निधय ही उनकी तपस्यसे प्रसन्न हुए पत्र चन्द्रमारो जीमनेवाले भगवान् मूर्य अन्न नहीं हो रहे हैं ॥ १३—१७ ॥

यजिनो होमशालामु सह ऋत्विग्भिरक्षरे । प्रावर्त्तयन्त क्रमाणि गत्रायि महासुने ॥ १८ ॥
 महाभागयताः पूजां विष्णोः कुर्वन्ति भक्तितः । रवौ द्वादिनि चैवान्ये प्रदणोऽन्ये हरस्य च ॥ १९ ॥
 कामिनश्चाप्यमन्यन्त साधु चन्द्रमसा हृतम् । यदियं रजनो रम्या हृता सततवर्षमुदा ॥ २० ॥

महासुने ! उन दिनों यज्ञशालाओंमें ऋत्विजोंके साथ यज्ञमान लोग रात्रिके भी यज्ञकर्म करनेमें लगे रहते थे । तिस्यके भक्तियोग भक्तिपूर्वक महा विष्णुकी पूजा करते रहते पत्र दूरे लोग सूर्य, चन्द्र, शक्र और शिवकी आगधनामें लगे रहते थे । कामी लोग यह मानने लगे कि चन्द्रमाने रात्रिको निरन्तरके दिने अपनी श्योक्ता-मयी बना दिया, अष्टा हुआ ॥ १८—२० ॥

अन्ये सुर्वल्लोकगुरुरसाभिधकभृद् यती । निर्याजेन महागन्धैर्गचिनः कुसुमेः शुभैः ॥ २१ ॥
 सह लक्ष्म्या महायोगी नभस्यादिचतुर्थ्यपि । अशून्यदायता नाम द्वितीया सर्वशामदा ॥ २२ ॥
 तेनामी भगवान् प्रीतः प्रादाच्छयनमुत्तमम् । धरुण्यं च महाभोगैरनस्तमिनशोरम् ॥ २३ ॥
 अन्येऽप्ययन् धुपं देव्या रोहिण्या शशिनः क्षयम् । हृष्ट्या तपनं तपो घोरं रुद्राराधनशाम्यया ॥ २४ ॥
 पुण्यायामशयाष्टभ्यां वेदोक्तविधिना स्वयम् । तुष्टेन संमुना दत्तं वरं चास्यै यदच्छया ॥ २५ ॥

दूरे लोग कहने लगे कि हमनेकेने श्रवण आदि वार मर्दानोंमें शुद्धभावमें अन्न सुगन्धित पत्रि पुष्टेशास महालक्ष्मीके साथ सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले भगवान् तिस्यको पूजा की है । इसी अर्थमें सर्वशामदा अशून्यदायता द्वितीया त्रिपि दोमी है । तमीमें प्रसन्न होकर भगवान्ने अशून्य तथा महाभोगैसे पविर्गु उत्तम गदन प्रदान किया है । दूरे कहते कि देवी रोहिणीने चन्द्रमारः शय देकर निधय ही रुद्रकी आगपना करनेकी अनिच्छावसे परम पत्रि अशय अशमी त्रिपिमें वेदोक्त विधिमें कष्टिन् शम्या की है, जिससे स्फुट होकर भगवान् शरने उमे लपनी इच्छासे कर दिया है ॥ २१—२५ ॥

अन्येऽप्ययन् चन्द्रमसा धुयमारथिनो हरिः । प्रत्रेनेह त्यज्जण्डेन तेनाज्जण्डः शर्दा दिवि २६ ॥
 अन्ये अप्यच्छलाङ्गेन धुपं रक्षा हृतामनः । पदद्वयं समस्यर्ष्यं विष्णोरमितेज ॥ १ ॥

तेनासौ दीप्तिमांश्चन्द्रः परिभूय दिवाकरम् । अस्तावामानन्दकरो देव तपति सूर्यवत् ॥ २८ ॥
लक्ष्यते कारणैरन्यैर्बहुभिः सत्यमेव हि । शशाङ्कनिर्जितः सूर्यो न विभाति यथा पुरा ॥ २९ ॥

दूसरे लोग कहते—चन्द्रमाने निश्चय ही अखण्ड-व्रतका आचरण करके भगवान् हरिको आराधित किया है । उससे आकाशमें चन्द्रमा अखण्डरूपसे प्रकाशित हो रहा है । दूसरोंने कहा—चन्द्रमाने अत्यधिक तेजवाले श्रीविष्णुके चरणयुगलकी विधिवत् पूजा करके अपनी रत्ना की है । उससे तेजस्वी चन्द्रमा सूर्यपर विजय प्राप्त करके हमें आनन्द देते हुए दिनमें सूर्यकी भाँति दीप्तिमान् हो रहे हैं । अन्य अनेक प्रकारके कारणोंसे सचमुच यह उद्दिष्ट हो रहा है कि चन्द्रमाके द्वारा पराजित हुए सूर्य पूर्ववत् दीप्तिवाले नहीं दीख रहे हैं ॥ २६-२९ ॥

यथामी कमलाः श्लक्ष्णा रणदुभृङ्गणावृताः । विकचाः प्रतिभासन्ते जातः सूर्योदयो ध्रुवम् ॥ ३० ॥
यथा चामी विभासन्ति विकचाः कुमुदाकराः । अतो विज्ञायते चन्द्र उदितश्च प्रतापवान् ॥ ३१ ॥
एवं संभायतां तत्र सूर्यां वाक्यानि नारद । असन्त्यत किमेतद्धि लोको वक्ति शुभाशुभम् ॥ ३२ ॥
एवं संचिन्त्य भगवान् दृष्यौ ध्यानं दिवाकरः । आसमन्ताज्जगद् वस्तं त्रैलोक्यं रजनीचरैः ॥ ३३ ॥

इधर ये सुन्दर कमल खिले हैं और उनपर भँरे गुंजार कर रहे हैं । भ्रमर-समूहसे आवृत्त ये सुन्दर कमल विकसित दिग्बलयी पड़ रहे हैं; अतः निश्चय ही सूर्योदय हुआ है । और इधर ये कुमुदवृन्द खिले हुए हैं; अतः उक्त है कि प्रतापवान् चन्द्रमा उदित हुआ है । नारदजी ! इस प्रकार वार्ता करनेवालोंके वाक्योंको सुनकर सूर्य सोचने लगे कि ये लोग इस प्रकार शुभाशुभ कचन क्यों बोल रहे हैं ! भगवान् दिवाकर ऐसा विचारकर प्यानगन हो गये और उन्होंने देखा कि समस्त त्रैलोक्य चारों ओरसे राक्षसोंद्वारा ग्रस्त हो गया है ॥ ३०-३३ ॥

ततस्तु भगवाञ्छात्वा तेजसोऽप्यस्तद्विष्णुताम् । निशाचरस्य वृद्धिं तामचिन्तयत योगविद् ॥ ३४ ॥
ततोऽहासीष तान् सर्वान् सदाचाररताञ्शुचीन् । देववाङ्मणपूजास्तु संसक्तान् धर्मसंयुतान् ॥ ३५ ॥
नतस्तु रक्षः क्षयहृत् तिमिरद्विपकखरी । मर्दांशुनखरः सूर्यस्तद्विघातमचिन्तयत् ॥ ३६ ॥
एतच्चाद्य ततश्चिद्रं राक्षसानां दिवस्वपतिः । स्वधर्मविच्युतिनाम सर्वधर्मविघातकृत् ॥ ३७ ॥

तब योगी भगवान् भास्कर राक्षसोंकी वृद्धि तथा तेजकी असहनीयताको जानकर स्वयं चिन्तन करने लगे । उन्हें यह बात हुआ कि सभी राक्षस सदाचार-परायण, पवित्र, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजामें अनुरक्त तथा धार्मिक हैं । उन्होंने बाद राक्षसोंको नष्ट करनेवाले तथा अन्धकाररूपी हाथीके छिये तेज किरणरूपी नखवाले सिंहके समान सूर्य उनके विनाशके विनयमें चिन्तन करने लगे । अन्तमें सूर्यको राक्षसोंके अपने धर्मसे गिरनेका मूल कारण मादम हुआ, जो समस्त धर्मोंका विनाशक है ॥ ३४-३७ ॥

ततः क्रोधाभिभूतेन भानुना रिपुभेदिभिः । भानुमी राक्षसपुरं तद् दृष्टं च ययेच्छया ॥ ३८ ॥
स भानुना तदा दृष्टः क्रोधाभ्रातेन चक्षुषा । निपपातास्यराद् अष्टः क्षीणपुण्य इव ब्रह्मः ॥ ३९ ॥
पतनान्दं समालोक्य पुरं शालकटद्वष्टः । नमो भवाय शर्वाय इदमुच्चैर्दरीरयत् ॥ ४० ॥
तमागन्दिताक्रुण्य चारुणा गगनेचराः । एा हेति सुक्रुशुः सर्वे हरभक्तः पतत्यसौ ॥ ४१ ॥

यब क्रोधसे अभिभूत सूर्यने शत्रुओंके भेदन करनेवाली अपनी किरणोंद्वारा भलीभाँति उस राक्षसको देखा ; तब सगुण सूर्यजया श्लोकभरी दृष्टिसे देते जागेके कारण श्व नगर नष्ट हुए पुण्यवाले ब्रह्मके समान आकाशरसे नीचे गिर पड़ा । एतने नगरको गिरते देखकर शालकटकट-(सुकेशी)-ने ऊँचे सरसे चीखनेके स्वरमें

'नमो भवाय शर्वाय' यह कहा । उसी उस चीउको सुनकर गहनमें विचरण करनेवाले सभी आग्न विन्दने लगे—हाय हाय । हाय हाय । यह श्राप भक्त तो नीचे गिर रहा है ॥ ३८-४१ ॥

तच्छारणपक्षः शर्वाः ध्रुवपान् सर्वगोऽप्ययः । ध्रुवा संविन्तयामाग वेनाग्नौ पायते भुवि ॥ ४२ ॥
 क्षातयान् देवपतिना सहस्रविराट्पतेन तत् । पातितं रात्रसपुत्रं ततः मुन्दस्त्रिलोकतः ॥ ४३ ॥
 मुन्दस्तु भगवन्तं तं भानुमन्तमपश्यत । दृष्टमात्रस्त्रिनेत्रेण निपपात तपोऽम्बरान् ॥ ४४ ॥
 गगनात् स परिभ्रष्टः पथि वायुनिषेधिते । यच्छ्रुत्वा निपतितो यन्मृतो यथोपल ॥ ४५ ॥

सर्वत्र व्याम और अग्निवासी निय शासन के कारणोंके उस कवनको सुना और गिर स्त्रेचने लगे— यह नगर तिमरे द्वारा पृथ्वीपर गिराया जा रहा है । उन्होंने यह जान लिया कि देवोंके पति सृष्टिकारिगणांगी सूर्यद्वारा गश्मकोय यह पुर गिराया गया है । इसमें त्रिनेत्र शंकर बुद्ध हो गये और उन्होंने भगवन् सूर्यको देखा । त्रिनेत्रगरी शंकरके देखने ही ने सूर्य आकाशसे नीचे आ गिरे । आकाशसे नीचे वायुमण्डलार्थमें वे इस प्रकार गिरे जैसे वनके द्वारा कोई पत्थर फेंका गया हो ॥ ४२-४५ ॥

ततो वायुपथान्मुक्तः किञ्चुसोज्ज्वलविग्रहः । निपपानान्नरिक्षान् स घृनः क्षिप्रत्वारणः ॥ ४६ ॥
 चारणैर्वेधितो भानुः प्रविभाल्यम्बरान् पतन् । अर्धपत्रं यथा तालान् फलं कपिभिरामृतम् ॥ ४७ ॥
 ततस्तु श्रुपयोऽभ्येय्य प्रय्युधुभानुमालिनम् । निपतन्व हरिक्षेत्रे यदि धेयोऽभियान्जसि ॥ ४८ ॥
 ततोऽग्र्यान् पतन्नेव विस्वास्तास्तपोधनान् । किं तन् क्षेत्रं हरेः पुष्यं यद्व्यं शीघ्रमेव मे ॥ ४९ ॥

गिर पलाश-पुष्पके समान आभाकाले सूर्य वायुमण्डलसे अलग होकर किनरों एवं चरणोंमें भरे अन्तरिक्षसे नीचे गिर गये । उस समय आकाशमें नीचे गिरते हुए सूर्य चारणोंमें गिरे हुए ऐसे लग रहे थे, जैसे तालवृक्षसे गिरनेवाला अधपत्र तालफल कदियोंसे विरा हो । तब मुनियोंने क्षिप्रगणांगी भगवन् सूर्यदेवके गीर्वाण आकर उनसे कहा कि यदि तुम कन्यागण चाहते हो तो निष्पके क्षेत्रमें गिरो । गिरते हुए ही सूर्यने (देमा सुनकर) उन तपस्वियोंसे पूछा—निष्पगणान्का वह पवित्र क्षेत्र कौन-सा है ? आपयोग उमे मुझे शीघ्र बताना ॥ ४६-४९ ॥

तम्युधुमुत्तयः सूर्ये शृणु क्षेत्रं महाफलम् । साम्पन्नं वासुदेव्य भावि तच्छरणात् ॥ ५० ॥
 योगशापिनमारभ्य वाचत् वैशवदर्शनम् । एतन् क्षेत्रं हरेः पुष्यं नाम्ना वाराणसी पुरी ॥ ५१ ॥
 तच्छ्रुत्वा भगवान् भानुर्ध्वनेत्राग्नितापिनः । धरणायास्तथैशम्यास्त्रन्तरं निपपात ॥ ५२ ॥
 ततः प्रह्वानि तनौ निमज्ज्यास्यां तुलद् रविः । धरणायां समभ्येय्य मगमज्ञा यच्छ्रुत्वा ॥ ५३ ॥

इमार मुनियोंने सूर्यसे बतलाया—सूर्यदेव । आप सूर्यके देवताके उस क्षेत्रका विचरण मुनिये । इस स्थान वह क्षेत्र वासुदेवका क्षेत्र है, किंतु मन्त्रिकमें वह शक्यका क्षेत्र होगा । योगशापीने प्रारम्भ पर वैशवदर्शनकरके क्षेत्र हरिना पवित्र क्षेत्र है, इसका नाम वाराणसीपुरी है । उससे सुनकर शिवांगी गेत्रागिरीसे सतप होने हुए भगवन् सूर्य बरगा और अग्नी इन दोनों नदियोंके बीचमें गिरे । उसका बाद शीघ्रके जटने रहनेसे सूर्य हुए सूर्य असी नदीमें स्नान करनेके बट बरगा नदीमें इच्छानुहूत स्नान गिरे ॥ ५०-५३ ॥

भूयोऽसि परणां भूयो भूयोऽपि धरणामसिम् । तुन्दितनेत्रगणाणां धमतेऽप्यनचक्रन्तः *
 पतस्त्रिभन्तरे भगवन् श्रुपयो यक्षगाशसा । नाग रिजा रगभापि पणिणोऽप्यसिम्

१-अब भी बरुणा और अस्ती नदियों बाराणसीके अन्तरे अन्तरिक्षमें विधे हुए हैं । अस्ती नदिये १० है, पर बरुणा सदा बन्धुता रहती है ।

यावन्तो भास्कररथे भूतप्रेतादयः स्थिताः । तावन्तो ब्रह्मसदनं गता वेद्यितुं मुने ॥ ५६ ॥
ततो ब्रह्मा सुरपतिः सुरैः सार्धं समभ्यगात् । रम्यं महेश्वरावासं मन्दरं रविकारणात् ॥ ५७ ॥
गत्वा दृष्ट्वा च देवेशं शंकरं शूलपाणिनम् । प्रसाद्य भास्करार्थाय वाराणस्यामुपानयत् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार शंकरके तीसरे नेत्रकी अग्निसे दग्ध होकर वे वारंवार असि और वरुणा नदियोंकी ओर धलतचक्र (लुकाठीके मण्डल)के समान चकर काटने लगे । मुने ! इस बीच ऋषि, यज्ञ, राक्षस, नाग, विद्याधर, पक्षी, अप्सराएँ और भास्करके रथमें जितने भूत-प्रेत आदि थे, वे सभी इसे ज्ञापित करनेके लिये ब्रह्मलोकमें गये । तब सुरपति इन्द्र, ब्रह्मा देवताओंके साथ सूर्यकी शान्तिके लिये महेश्वरके आवास-स्थान मन्दर पर्वतपर गये । वहाँ जाकर तथा देवेश शूलपाणि भगवान् शिवका दर्शन करनेके बाद भगवान् ब्रह्माजी भास्करके लिये उन्हें (शिवजीको) प्रसन्न कर उन्हें (सूर्यको) वाराणसीमें लाये ॥ ५७-५८ ॥

ततो दिवाकरं भूयः पाणिनादाय शंकरः । कृत्वा नामास्य लोलेति रथमारोपयत् पुनः ॥ ५९ ॥
आरोपिते दिनकरं ब्रह्माऽभ्येत्य सुकेशिनम् । सवान्धवं सनगरं पुनरारोपयद् द्विवि ॥ ६० ॥
समारोप्य सुकेशिं च परिष्वज्य च शंकरम् । प्रणम्य केशवं देवं वैराजं स्वगृहं गतः ॥ ६१ ॥
एवं पुरा नारद भास्करेण पुरं सुकेशेर्भुवि सन्निपातितम् ।
दिवाकरो भूमितले भवेन क्षिप्तस्तु दृष्ट्या न च संप्रदग्धः ॥ ६२ ॥
आरोपितो भूमितलाद् भवेन भूयोऽपि भानुः प्रतिभासनाय ।
स्वयंभुवा चापि निशाचरेन्द्रस्वारोपितः खे सपुरः सवन्धुः ॥ ६३ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

फिर भगवान् शंकरने सूर्य भगवान्को हाथमें लेकर उनका नाम 'लोल' रख दिया और उन्हें पुनः उनके रथपर स्थापित कर दिया । दिनकरके अपने रथमें आरूढ़ हो जानेपर ब्रह्मा सुकेशीके पास गये एवं उसे भी पुनः बान्धवों और नगरसहित आकाशमें पूर्ववत् स्थापित कर दिया । सुकेशीको पुनः आकाशमें स्थापित करनेके बाद ब्रह्माजी शंकरका आलिङ्गन एवं केशवदेवको प्रणाम कर अपने वैराज नामक लोकमें चले गये । नारदजी ! प्राचीन समयमें इस प्रकार सूर्यने सुकेशीके नगरको पृथ्वीपर गिराया एवं महादेवने भगवान् सूर्यको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे दग्ध न कर केवल भूमितलपर गिरा ही दिया था । फिर शंकरने सूर्यको प्रतिभासित होनेके लिये भूमितलसे आकाशमें स्थित किया और ब्रह्माने निशाचरराजको उसके पुर और बन्धुओंके साथ आकाशमें फिर संस्थापित कर दिया ॥ ५९-६३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें न्द्रहर्षो अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

[अथ पौडशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यानेतान् भगवान् प्राह कामिभिः शशिनं प्रति । आराधनाय देवाभ्यां हरिशाभ्यां चदस्व तान् ॥ १ ॥

सोलहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवताओंकी शयन-तिथियों और उनके अशून्यशयन आदि व्रतों एवं शिव-पूजनका वर्णन)

नारदजीने कहा—पुलस्त्यजी ! आपने चन्द्रमाके प्रति कामियोंद्वारा वर्णित श्रीहरि और शंकरकी आराधनाके लिये जिन व्रतोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन करें ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कामिभिः प्रोक्तान् व्रतान् पुण्यान् कलिप्रिय । आराधनाय शर्वस्य केशवस्य च धामतः ॥ २ ॥
यदा त्वायाद्री संयाति व्रजते चोत्तरायणम् । तदा स्वपिति देवेशो भोगिभोगे प्रियः पतिः ॥ ३ ॥
प्रतिष्ठुते विभौ तस्मिन् देवगन्धर्वगुह्यमः । देवानां मातरश्चापि प्रमुखाश्चाप्यनुकमात् ॥ ४ ॥

पुलस्त्यजी बोलें—लोक-यन्यायके लिये कलिकी भी इष्ट माननेवाले कलि (कल्ड) प्रिय नारदजी ! आप महादेव और बुद्धिमान् श्रीहरिकी आराधनाके लिये कामियोंद्वारा कहे गये पवित्र व्रतोंका वर्णन सुनें । जब आयादी पूर्णिमा वीन जाती है एव उत्तरायण चटना रहता है, तब लक्ष्मीरति भगवान् विष्णु भोगिभोग (शोशय्या) पर सो जाते हैं । उन विष्णुके सो जानेपर देवता, गन्धर्व, गुह्यक एव देवमाताएँ भी क्रमश सो जाती हैं ॥ २-४ ॥

नारद उवाच

कथयस्व सुरादीनां शयने विधिमुत्तमम् । सर्वमनुक्रमेणैव पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ ५ ॥
नारदने कहा—जनार्दनसे लेकर अनुक्रमसे देवता आदिके शयनकी सब उत्तम विधि मुझे बतलाइये ॥ ५ ॥

पुलस्त्य उवाच

मिथुनाभिगते सूर्ये शुक्लपक्षे तपोधन । एकादश्यां जगत्स्वामी शयनं परिकल्पयेत् ॥ ६ ॥
शोषादिभोगपर्यङ्कं कृत्वा सम्पूज्य केशवम् । कृत्योपवीतकं चैव सम्यक्सम्पूज्य वैद्विजान् ॥ ७ ॥
अनुष्ठां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः । लम्ब्यापीताम्बरधरः स्वस्तिनिद्रां समानयेत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोलें—तपोधन नारदजी ! आयादके शुक्लपक्षमें सूर्यके मिथुन राशिमें चले जानेपर एकादशी तिथिके दिन जगदीश्वर विष्णुकी शय्याकी परिकल्पना करनी चाहिये । उस शय्यापर शोषनागके शरीर और कणकी रचना कर यज्ञोपवीतयुक्त श्रीकेशव (की प्रतिमा) की पूजा कर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे सप्तम एवं पवित्रतापूर्वक रहते हुए स्वयं भी पीताम्बर धारण कर द्वादशी तिथिमें सुखपूर्वक उन्हें सुखाना चाहिये ॥ ६-८ ॥

त्रयोदश्यां ततः कामः स्वपते शयने शुभे । कदम्बानां सुगन्धानां कुसुमैः परिकल्पिते ॥ ९ ॥
चतुर्दश्यां ततो यक्षाः स्वपन्ति सुखशीतले । सौवर्णपङ्कजहृते सुखास्तौर्णोपधानके ॥ १० ॥
पूर्णिमास्यामुमानायः स्वपते चर्मसंस्तरे । वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्रमध्यान्वचर्मणा ॥ ११ ॥
ततो दिवाकरो राशिं संप्रयाति च कर्कटम् । ततोऽमराणां रजनी भवति दक्षिणायनम् ॥ १२ ॥

इसके बाद त्रयोदशी तिथिमें सुगन्धित कदम्बके पुष्पोंसे बनी पवित्र शय्यापर कामदेव शयन करते हैं । फिर चतुर्दशीके सुशीतल स्वर्णपङ्कजसे निर्मित सुखदायकरूपमें विछाये गये एव तक्षियेवाली शय्यापर यक्षलोग शयन करते हैं । पूर्णिमासे तिथिके चर्मयत्र धारणकर उमानाय शकर एक-दूसरे चर्मद्वारा जटाभार बाँधकर व्याघ्र चर्मकी शय्यापर सोते हैं । उसके बाद जब सूर्य कर्कट राशिमें गमन करते हैं तब देवताओंके लिये रात्रिस्वरूप दक्षिणायनका आरम्भ हो जाता है ॥ ९-१२ ॥

ब्रह्मा प्रतिपदि तथा नीलोत्पलमयेऽनघ । तल्पे स्वपिति लोकानां दर्शयन् मार्गमुत्तमम् ॥ १३ ॥
विश्वकर्मा द्वितीयायां तृतीयायां गिरेः सुता । विनायकश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यामपि धर्मपाट् ॥ १४ ॥
षष्ठ्यां स्कन्दः प्रत्यपिति सप्तम्यां भगवान् रविः । कात्यायनी तथाष्टम्यां नवम्यां कमलाख्या ॥ १५ ॥
दशम्यां भुजगेन्द्राश्च स्वपन्ते वायुभोजना । एकादश्यां तु रुष्ण्यायां साध्या ब्रह्मन् ॥ १६ ॥

निष्पाप नारदजी ! लोगोंको उत्तम मार्ग दिखलाते हुए नन्दाजी (श्रावण कृष्ण) प्रतिपदाको नीले कमलकी शय्यापर सो जाते हैं । विश्वकर्मा द्वितीयाको, पार्वतीजी तृतीयाको, गणेशजी चतुर्थीको, धर्मराज पञ्चमीको, कार्तिकेयजी षष्ठीको, सूर्य भगवान् सप्तमीको, दुर्गादेवी अष्टमीको, लक्ष्मीजी नवमीको, वायु पीनेवाले श्रेष्ठ सर्प दशमीको और साध्यगण कृष्णपक्षकी एकादशीको सो जाते हैं ॥ १३-१६ ॥

एष क्रमस्ते गदितो नभादौ स्वप्ने मुने । स्वपत्सु तत्र देवेषु प्रावृट्कालः समाययौ ॥ १७ ॥

कङ्काः वलाकाभिरारोहन्ति नभोत्तमान् ।

वायसाश्चापि कुर्वन्ति नीढानि ऋषिपुंगव । वायसाश्च स्वपन्थेते ऋतौ गर्भभरालसाः ॥ १८ ॥

यस्यां तिथ्यां प्रखपिति विश्वकर्मा प्रजापतिः । द्वितीया सा शुभा पुण्या अशून्यशयनोदिता ॥ १९ ॥

तस्यां तिथावचर्य हरिं श्रीवत्साङ्गं चतुर्भुजम् । पर्यङ्कस्यं समं लक्ष्म्या गन्धपुष्पादिभिर्मुने ॥ २० ॥

ततो देवाय शय्यायां फलानि प्रक्षिपेत् क्रमात् । सुरभीणि निवेद्येत्वं विज्ञाप्यो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

मुने ! इस प्रकार हमने तुम्हें श्रावण आदिके महीनोंमें देवताओंके सोनेका क्रम बतलाया । देवोंके सो जानेपर वर्षाकालका आगमन हो जाता है । ऋषिश्रेष्ठ ! (तब) बलाकाओं (बगुलोंके झुंडों)के साथ कङ्का पक्षी ऊँचे पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं तथा कौए घोंसले बनाने लगते हैं । इस ऋतुमें मादा कौएँ गर्भभारके कारण आलस्यसे सोती हैं । प्रजापति विश्वकर्मा जिस द्वितीया तिथिमें सोते हैं वह कल्याणकारिणी पवित्र तिथि अशून्यशयना द्वितीया तिथि कही जाती है । मुने ! उस तिथिमें लक्ष्मीके साथ पर्यङ्कस्थ श्रीवत्सनामक चिह्न धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णुभगवान्की गन्ध-पुष्पादिके द्वारा पूजाके हेतु शय्यापर क्रमशः फल तथा सुगन्ध-द्रव्य निवेदित कर उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे कि—॥ १७-२१ ॥

यथा हि लक्ष्म्या न वियुज्यसे त्वं त्रिविक्रमानन्त जगन्निवास ।

तथा त्वशून्यं शयनं सदैव अस्माकमेवेह तव प्रसादान् ॥ २२ ॥

यथा त्वशून्यं तव देव तल्पं समं हि लक्ष्म्या वरदाच्युतेश ।

सत्येन तेनामितवीर्यं विष्णो गार्हस्थ्यनाशो मम नास्तु देव ॥ २३ ॥

इत्युच्चार्य प्रणम्येशं प्रसाद्य च पुनः पुनः । भुञ्जीत देवर्षे तैलक्षारविचर्जितम् ॥ २४ ॥

द्वितीयेऽङ्कि द्विजाग्रथाय फलान् दद्यात् विचक्षणः । लक्ष्मीधरः प्रीयतां मे इत्युच्चार्य निवेद्येत् ॥ २५ ॥

हे त्रिविक्रम ! हे अनन्त ! हे जगन्निवास ! ! ! जिस प्रकार आप लक्ष्मीसे कभी अलग नहीं होते, उसी प्रकार आपकी कृपासे हमारी शय्या भी कभी शून्य न हो । हे देव ! हे वरद ! हे अच्युत ! हे ईश ! हे अमितवीर्यशाली विष्णो ! आपकी शय्या लक्ष्मीसे शून्य नहीं होती, उसी सत्यके प्रभावसे हमारी भी गृहस्थीके नाशका अवसर न आवे—पत्नीका विग्रोण न हो । देवर्षे ! इस प्रकार स्तुति करनेके बाद भगवान् विष्णुको प्रणामद्वारा बार-बार प्रसन्नकर रात्रिमें तेल एवं नमकसे रहित भोजन करे । दूसरे दिन बुद्धिमान् व्यक्ति, भगवान् लक्ष्मीधर मेरे ऊपर प्रसन्न हों—यह वाक्य उच्चारण कर श्रेष्ठ ब्राह्मणको फलोंका दान दे ॥ २२-२५ ॥

अनेन तु विधानेन चातुर्मास्यवतं चरेत् । यावद् बुद्धिकराशिस्थः प्रतिभाति दिवाकरः ॥ २६ ॥

ततो विदुष्यन्ति सुराः क्रमशः क्रमशो मुने । तुलास्थेऽङ्कं हरिः कामः शिवः पश्चाद्विबुध्यते ॥ २७ ॥

तत्र दानं द्वितीयायां मूर्तिर्लक्ष्मीधरस्य तु । सशय्यास्तरणोपेता यथा विभवमात्मनः ॥ २८ ॥

एष वनस्तु प्रथमः प्रोक्तस्तव महासुने । यस्मिन्धीर्णे वियोगस्तु न भवेदिह कस्यचित् ॥ २९ ॥

जबतक मूर्त्ये वृद्धिक राक्षस रहते हैं, तबतक इसी विधिसे चातुर्मास्य-भक्त पावन किया जाना चाहिये। मुने ! उसके बाद क्रमशः देवता जागते हैं। सूर्यके तुलारामिमें स्थित होनेपर विष्णु जाग जाते हैं। उसके बाद काम और शिव जागते हैं। उसके पश्चात् द्वितीयाके दिन अपने विभवके अनुसार विठ्ठलैवादी शय्याके साथ छत्रीरकी मूर्तिका दान करे। महामुने ! इस प्रकार मैंने आपको यह प्रथम व्रत बतलाया, जिसका आचरण करनेपर इस ससारमें किसीको वियोग नहीं होता। २६-२७ ॥

नभस्ये मासि च तथा या स्यात्कृष्णाष्टमी शुभा। युक्ता मृगशिरैणैव सा तु कालाष्टमी स्मृता ॥ ३० ॥
तस्यां सर्वेषु लिङ्गेषु त्रिषु स्वपिति शंकरः। घस्ते संनिधाने तु तत्र पूजाऽश्रया स्मृता ॥ ३१ ॥
तत्र स्नानान्न वै विद्वान् गोमूत्रेण जलेन च। स्नातः संपूजयेत् पुष्पैर्धत्तस्य त्रिलोचनम् ॥ ३२ ॥
धूपं केसरनिर्यासं नैवेद्यं मधुसर्पिणी।

प्रीयतां मे विरूपाक्षस्त्वित्युच्चार्य च दक्षिणाम्। विप्राय दद्यान्नैवेद्यं सहिरण्यं द्विजोत्तम ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार भाद्रपद मासमें मृगशिरा नक्षत्रसे युक्त जो पवित्र कृष्णाष्टमी होनी है उसे कालाष्टमी माना गया है। उस तिथिमें भगवान् शंकर समस्त लिङ्गोंमें सोते एवं उनके संनिधानमें निवास करते हैं। इस अवसरपर की गयी शंकरजीकी पूजा अश्रय मानी गयी है। उस तिथिमें विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि गोमूत्र और जलसे स्नान करे। स्नानके बाद वृत्के पुष्पोंसे शंकरकी पूजा करे। द्विजोत्तम ! केसरके गेंदका धूप तथा मधु एवं शृतका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद 'विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहकर ब्राह्मणकी दक्षिणा तथा सुवर्गके साथ नैवेद्य प्रदान करे ॥ ३०-३३ ॥

तद्द्विदश्वयुजे मासि उपवासी जितेन्द्रियः।
नमस्यां गोमयस्नानं कुर्यात्पूजां तु पद्भुजैः। धूपयेत् सज्जनियासं नैवेद्यं मधुमोदकैः ॥ ३४ ॥
कृतोपवासस्वष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। प्रीयतां मे हिरण्याक्षो दक्षिणा सतिला स्मृता ॥ ३५ ॥
कार्तिके पयसा स्नानं कर्पूरेण चार्चनम्। धूपं धीयासनिर्यासं नैवेद्यं मधुपायसम् ॥ ३६ ॥
सन्नैवेद्यं च रजनं दातव्यं दानमप्रजे। प्रीयतां भगवान् स्वायण्डिरिनि वाच्यमनिष्टुरम् ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार आश्विन मासमें नवमी तिथिकी इन्द्रियोंको वरामें करके उपवास रहकर गोबरसे स्नान करनेके पश्चात् कमलोंसे पूजन करे तथा सर्ज वृक्षके निर्यास (गेंद) का धूप एवं मधु और मोदकका नैवेद्य अर्पित करे। अष्टमीको उपवास करके नवमीको स्नान करनेके बाद 'हिरण्याक्ष मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए तिळके साथ दक्षिणा प्रदान करे। कार्तिकमें दुग्धस्नान तथा करनेके पुण्यसे पूजा करे और सरल वृक्षकी गेंदका धूप तथा मधु एवं खीर नैवेद्य अर्पितकर विनयपूर्वक 'भगवान् शिव मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह उच्चारण करते हुए ब्राह्मणको नैवेद्यके साथ रजतका दान करे ॥ ३४-३७ ॥

कृतोपवासमष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। मासि मार्गशिरै स्नानं दध्नार्चा भद्रया स्मृता ॥ ३८ ॥
धूपं शोचुक्षनिर्यासं नैवेद्यं मधुनोदनम्।

संनिवेद्या रक्षशालिर्दक्षिणा परिकीर्तिता। नमोऽस्तु प्रीयतां शर्वस्त्विति वाच्यं च पण्डितैः ॥ ३९ ॥
पौषे स्नानं च हविषा पूजा स्यात्तपरेः शुभैः। धूपो मधुकनियासो नैवेद्यं मधु दाण्डुली ॥ ४० ॥
समुद्रगा दक्षिणा प्रोक्ता प्रीणनाथ जगद्गुरोः। वाच्यं नमस्ते देवेश श्यम्यकेनि प्रकीर्तयेत् ॥ ४१ ॥

मार्गशीर्ष (अग्रहन) मासमें अष्टमी तिथिकी उपवास करके नवमी तिथिमें दमिसे स्नान करना चाहिये। इस समय 'भद्रा' ओग्निके द्वारा पूजाका विधान है। पण्डित व्यक्ति श्रीवृक्षके गेंदका धूप एवं मधु

और ओदनका नैवेद्य देकर 'शर्व (शिवजी) को नमस्कार है, वे मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए रक्तशांति (लाल चावल) की दक्षिणा प्रदान करे—ऐसा कहा गया है । पौष मासमें घृतका स्नान तथा सुन्दर तगर-पुष्पोंद्वारा पूजा करनी चाहिये । फिर महुएके वृक्षकी गोंदका धूप देकर मधु एवं पूड़ीका नैवेद्य अर्पित करे और 'हे देवेश ध्यम्बक ! आपको नमस्कार है'—यह कहते हुए शंकरजीकी प्रसन्नताके लिये मूँगसहित दक्षिणा प्रदान करे ॥ ३८-४१ ॥

माघे शुशोद्वसन्तानं मृगमदेन चार्चनम् । धूपः कदम्बनिर्यासो नैवेद्यं सतिलोदनम् ॥ ४२ ॥
पयोभक्तं सनैवेद्यं सरुक्मं प्रतिपादयेत् । प्रीयतां मे महादेव उमापतिरितीरयेत् ॥ ४३ ॥
पयमेव नमुद्दिष्टं पडभिमासैस्तु पारणम् । पारणान्ते त्रिनेत्रस्य स्नपनं कारयेत्कमात् ॥ ४४ ॥
गौरोचनायाः सहिता गुडेन देवं समालभ्य च पूजयेत् ।
प्रीयस्व दीनोऽस्मि भवन्तमीश, मच्छोकनाशं प्रकुरुष्व योग्यम् ॥ ४५ ॥

माघमासमें कुशके जलसे स्नान करे और मृगमद (कस्तूरीसे) अर्चन करे । उसके बाद कदम्ब वृक्षके गोंदका धूप देकर तिल एवं ओदन (भात) का नैवेद्य अर्पित करनेके पश्चात् 'महादेव उमापति मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए सुवर्गके साथ दूध एवं भातकी दक्षिणा प्रदान करनी चाहिये । इस प्रकार छः मासके बाद (प्रथम) पारणकी विधि कही गयी है । पारणके अन्तमें त्रिनेत्रधारी महादेवका क्रमसे स्नान-कार्य सम्पन्न कराये । गौरोचनके सहित गुड़द्वारा महादेवकी प्रतिमाका अनुलेपन कर उसकी पूजा करे तथा इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे ईश ! मैं दीन हूँ तथा आपकी शरणमें हूँ; आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तथा मेरे दुःख-शोकका नाश करें' ॥ ४२-४५ ॥

तनस्तु फाल्गुने मासि कृष्णाष्टम्यां यतव्रत । उपवासं समुदितं कर्तव्यं द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
द्वितीयोऽङ्घ्रि ततः स्नानं पञ्चगव्येन कारयेत् । पूजयेत्कुन्दकुसुमैर्धूपयेत् चन्दनं त्वपि ॥ ४७ ॥
नैवेद्यं सघृतं दद्यात् ताप्रपात्रे गुडोदनम् ।
दक्षिणां च द्विजातिभ्यो नैवेद्यसहितां मुने । वासोयुगं प्रोणयेच्च रुद्रमुच्चार्य : ॥ ४८ ॥
चैत्रे चोद्गुम्बरफलैः स्नानं मन्दारकार्चनम् । गुग्गुलुं महिपारुख्यं च घृताक्तं धूपयेद् बुधः ॥ ४९ ॥
समोदकं तथा सर्पिः प्रोणनं विनिवेदयेत् । दक्षिणा च सनैवेद्यं मृगाजिनमुदाहृतम् ॥ ५० ॥
नाट्येश्वर नमस्तेऽस्तु इदमुच्चार्य नारद । प्रोणनं देवनाथाय कुयाच्छ्रद्धासमन्वितः ॥ ५१ ॥

वनधारी द्विजश्रेष्ठ ! इसके बाद फाल्गुन मासकी कृष्णाष्टमीको उपवास करना चाहिये । दूसरे दिन नवमीको पद्मगव्यसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा कुन्दद्वारा अर्चनकर चन्दनका धूप और ताप्रपात्रमें घृतसहित गुड और ओदनका नैवेद्य प्रदान करे । उसके बाद 'रुद्र' शब्दका उच्चारण कर ब्राह्मणोंको नैवेद्यके साथ दक्षिणा तथा दो वर प्रदान कर महादेवको प्रसन्न करे । चैत्र मासमें गूलरके फलके जलसे स्नान कराये और मदारके फलोंसे पूजा करे । उसके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति घृतमिश्रित 'महिय' नामक गुग्गुलुसे धूप देकर मोदकके साथ घृत उनकी प्रसन्नताके लिये अर्पित करे एवं 'नाट्येश्वर (भगवान्) को नमस्कार है'—यह कहते हुए नैवेद्यसहित दक्षिणास्वरूपमें मृगचर्म प्रदान करे । इस प्रकार पूर्ण श्रद्धायुक्त होकर महादेवजीको प्रसन्न करे ॥ ४६-५१ ॥

वैशाखे स्नानमुदितं सुगन्धकुसुमाम्भसा । पूजनं शंकरस्योक्तं चूतमञ्जरिभिर्विभो ॥ ५२ ॥
धूपं सजाज्ययुक्तं च नैवेद्यं सफलं घृतम् । नामजप्यमपीशस्य फाल्ग्वेति विपदिचता ॥ ५३ ॥

जलमुम्भान् सनैरेणान् ब्राह्मणाय निवेदयेत् । सोपवीतान् सहान्नाथांस्तत्त्रिचैस्तत्परायणैः ॥ ५४ ॥
 ज्येष्ठे स्नानं चामलकैः पूजार्ककुसुमैस्तथा । धूपयेत्त्रिनेत्रं च आयत्यां पुष्टिकारकम् ॥ ५५ ॥
 सप्तवंशच सघृतान् देवे दध्नाकान् विनिवेदयेत् । उपानयुगलं छत्रं दानं दद्याच्च भक्तिमान् ॥ ५६ ॥
 नमस्ते भगनेत्रघ्न पूष्णे दराननाशन । इदमुच्चारयेद्भक्त्या प्रीणनाय जगत्पते ॥ ५७ ॥

नारदजी ! वैशाखमासमें सुगन्धित पुष्पोंके जलसे स्नान तथा आमकी मन्त्रधियोंसे शंकरके पूजनका विधान है । इस समय धी-मिले सर्ज वृक्षके गोंदका धूप तथा फलसहित घृतका नैवेद्य अर्पित करना चाहिये । बुद्धिमान् व्यक्तिसे इस समय श्रीशिवके 'कालन्न' नामका जप करना चाहिये और तन्लीनतापूर्वक ब्राह्मणको नैवेद्य, उपवीत (जनेऊ) एवं अन्न आदिके साथ पानीसे भरा घड़ा दक्षिणा देनी चाहिये । ज्येष्ठ मासमें आँरलेके जलसे स्नान कराये तथा मन्दारके पुष्पोंसे उनकी पूजा करे । उसके बाद त्रिनेत्रधारी पुष्टि-कर्ता श्रीशिवको धूपदानमें धूप दिखलाये । फिर धी तथा दही मिला सत्तका नैवेद्य अर्पित करे । जगत्पतिके प्रीत्यर्थ 'हे पूजाके दौत तोड़नेवाले भगनेत्रघ्न शिव ! आपकी नमस्कार है'—यह कहकर भक्तिपूर्वक उत्र एवं उपानयुगल (एक जोड़ा जूता) दक्षिणामें प्रदान करना चाहिये ॥ ५२-५७ ॥

आपाढे स्नानमुद्वितं श्रोफलैरचनं तथा । धत्तकुसुमेः शुक्लैर्धूपयेत् सिल्हकं तथा ॥ ५८ ॥
 नैवेद्या सघृताः पूषाः दक्षिणा सघृता यवाः । नमस्ते दक्षयज्ञघ्न इदमुच्चैर्हृदीरयेत् ॥ ५९ ॥
 धावणे मृगभोज्येन स्नानं कृत्वाऽर्चयेद्भक्तम् । श्रोत्रक्षपत्रैः सफलैर्धूपं दद्यात् तथागुरुम् ॥ ६० ॥
 नैवेद्यं सघृतं दद्याद् दधि पूषान् समोदकान् । दध्योदनं सङ्घसरं मायघाना सरापुलीः ॥ ६१ ॥
 दक्षिणां श्वेनघृभं घृतं च कपिलां शुभाम् ।

कनकं रक्तयसनं प्रदद्याद् ब्राह्मणाय हि । गङ्गाधरेति जतध्वं नाम शंभोश्च पण्डितैः ॥ ६२ ॥
 आपाढमासमें चिन्बके जलसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा धरके उजले पुष्पोंसे उनकी पूजा करे; सिल्हक (मिछारस वृक्षका गोंद) का धूप दे और घृतके सहित माल्यपूर्वका नैवेद्य अर्पित करे एवं—हे दक्षके यज्ञका विनाश करनेवाले शक्र ! आपको नमस्कार है—यह ऊँचे स्वरसे उच्चारण करे । श्रावणमासमें मृगभोज्य (जयनामी) के जलसे स्नान कराकर फलयुक्त त्रिव्यपत्रोंसे महादेवकी पूजा करे तथा अगुरुका धूप दे । उसके बाद घृतयुक्त पूष, मोदक, दधि, दध्योदन, उड़दकी दाल, गुना हुआ जौ एवं कचौड़ीका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मणको श्वेत बैल, शुभा कपिला (भूरी) गौ, खर्ग एवं रक्तधरकी दक्षिणा दे । पण्डितोंको चाहिये कि शिवजीके 'गङ्गाधर' इस नामका जप करे ॥ ५८-६२ ॥

अर्माभिः

पङ्कभिरपरैर्मौसैः

पारणमुत्तमम् ।

एवं संवत्सरं पूर्णं सम्पूज्य घृषभध्वजम् । अक्षयान् लभते कामान् महेश्वरयचो यथा ॥ ६३ ॥
 इदमुक्तं घृतं पुष्यं सर्वोक्षयकरं शुभम् । स्वयं रुद्रेण देवैर् तत्तथा न तद्वन्यथा ॥ ६४ ॥
 ॥ इति श्रीवामनपुराणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इन दूसरे छ महीनोंके अनन्तर द्वितीय पारण होता है । इस प्रकार एक वर्षतरु घृषभध्वज (शिवजी) का पूजन कर महेश्वरके वचनानुसार मनुष्य अक्षय कामनाओंको प्राप्त करता है । स्वयं भगवान् शक्रने यह कल्याणकारी पत्रि एवं सभी पुष्पोंको अक्षय करनेवाला वन बतलाया था । यह जैसा कहा गया है, वैसा ही है । यह कभी व्यर्थ नहीं जाता ॥ ६३-६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

[अथ सप्तदशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

मासि चाश्वयुजे ब्रह्मन् यदा पत्रं जगत्पतेः । नाभ्यानिर्याति हितदा देवेष्वेतान्यथोऽभवत् ॥ १ ॥
 कंदर्पस्य करग्रे तु कदम्बश्चारुदर्शनः । तेन तस्य परा प्रीतिः कदम्बेन विवर्द्धते ॥ २ ॥
 यश्राणामधिपस्यापि मणिभद्रस्य नारद । वटवृक्षः समभवत् तस्मिंस्तस्य रतिः सदा ॥ ३ ॥
 महेश्वरस्य हृदये धत्तूरविष्टपः शुभः । संजातः स च शर्वस्य रतिकृत् तस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

सत्रहर्षां अध्याय प्रारम्भ

(देवाओंसे तरुओंकी उत्पत्ति, अखण्डव्रत-विधान, विष्णु-पूजा, विष्णुपञ्जरस्तोत्र और महिषका प्रसङ्ग)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! आश्विन मासमें जब जगत्पति (विष्णु)की नाभिसे कमल निकला, तब अन्य देवताओंसे भी ये वस्तुएँ उत्पन्न हुईं—कामदेवके करतलके अप्रभागमें सुन्दर कदम्ब वृक्ष उत्पन्न हुआ । इसीलिये कदम्बसे उसे बड़ी प्रीति रहती है । नारदजी ! यक्षोंके राजा मणिभद्रसे वटवृक्ष उत्पन्न हुआ, अतः उन्हें उसके प्रति विशेष प्रेम है । भगवान् शंकरके हृदयपर सुन्दर धत्तूर-वृक्ष उत्पन्न हुआ, अतः वह शिवजीको सदा प्यारा है ॥ १-४ ॥

ब्रह्माणो मध्यतो देहाज्जातो मरुत्तमभः । खदिरः कण्टकी श्रेयानभवद्विश्वकर्मणः ॥ ५ ॥
 गिरिजायाः करतले कुन्दगुल्मस्त्यजायत । गणाधिपस्य कुम्भस्थो राजते सिन्धुवारकः ॥ ६ ॥
 यमस्य दक्षिणे पाद्वे पालाशो दक्षिणोत्तरे । कृष्णोदुम्बरको रुद्राज्जातः क्षोभकरो वृषः ॥ ७ ॥
 स्कन्दस्य वन्धुजीवस्तु स्वैरश्वत्थ एव च । कात्यायन्याःशमी जाता बिल्वो लक्ष्म्याःकरेऽभवत् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके शरीरके बीचसे मरुत्तमणिके समान खैरवृक्षकी उत्पत्ति हुई और विश्वकर्माके शरीरसे सुन्दर कंटैया उत्पन्न हुआ । गिरिनन्दिनी पार्वतीके करतलपर कुन्द लता उत्पन्न हुई और गणपतिके कुम्भ देशसे सिंदुवार-वृक्ष उत्पन्न हुआ । यमराजकी दाहिनी बगलसे पलाश तथा बायीं बगलसे गुलरका वृक्ष उत्पन्न हुआ । रुद्रसे उद्दिग्ण करनेवाला वृष (ओरवि-विशेष)की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार स्कन्दसे वन्धुजीव, सूर्यसे पीपल, कात्यायनी दुर्गासे शमी और लक्ष्मीजीके हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ ॥ ५-८ ॥

नागानां पतये ब्रह्मञ्छरस्तम्यो व्यजायत । वासुकेर्विस्तृते पुच्छे पृष्ठे दूर्वा सितासिता ॥ ९ ॥
 साव्यानां हृदये जातो वृक्षो हरिचन्दनः । एवं जातेषु सर्वेषु तेन तत्र रतिर्भवेत् ॥ १० ॥
 तत्र रम्ये शुभे काले या शुक्लैकादशी भवेत् । तस्यां सम्पूजयेद् विष्णुं तेन खण्डोऽस्य पूर्यते ॥ ११ ॥
 पुष्पैः पत्रैः फलैर्वापि गन्धवर्णरसान्वितैः । ओषधीभिश्च मुख्याभिर्यावत्स्याच्छरदागमः ॥ १२ ॥

नारदजी ! इसी प्रकार शेषनागसे सर्पत, वासुकिनागकी पुच्छ और पीठपर श्वेत एवं कृष्ण दूर्वा उत्पन्न हुई । साव्योंके हृदयमें हरिचन्दनवृक्ष उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्पन्न होनेसे उन सभी वृक्षोंमें उन-उन देवताओंका प्रेम होना है ।

उक्त रागीय सुन्दर समयमें शुक्लपक्षकी जो एकादशी तिथि होती है उसमें भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिए । इसमें पूजाकी न्यूनता दूर हो जानी है । शरत्कालकी उपस्थितिक गन्ध, वर्ण और रसयुक्त पत्र, पुष्प एवं फलों तथा मुस्ता ओषधियोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये ॥ ९-१२ ॥

घृतं तिलं घ्रीहियया हिरण्यकनकादि यत् । मणिमुक्तामृगालानि धत्त्राणि विविधानि च ॥ १३ ॥
 रसानि स्वादुकटुयम्लकषायलयणानि च । तिकानि च निवेद्यानि तान्यखण्डानि यानि हि ॥ १४ ॥
 तत्पूजार्थं प्रदानव्यं केशवाय महात्मने । यदा संवत्सरं पूर्णमखण्डं भजते गृहे ॥ १५ ॥
 हतोपवासो देवर्षे द्वितीयेऽहनि संपतः । स्नानेन तेन स्नायीत येनाखण्डं हि यत्सरम् ॥ १६ ॥

घी, तिल, चानल, जी, चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, मूँग तथा नाना प्रकारके वस्त्र, खादु, कटु, अम्ल, कषाय, लयण और तिक रस आदि वस्तुओंको अखण्डरूपसे महामा केशवकी पूजाके लिये अर्पित करना चाहिये । इस प्रकार पूजा करते हुए वर्षको वितानेपर घरमें पूर्ण सृष्टि होती है । देवों ! जितेन्द्रिय होकर दूसरे दिन उपवास करके जिससे वर्ष अखण्डित रहे इसलिये इस प्रकार ध्यान करे—॥ १३-१६ ॥

सिद्धार्थकैस्त्रिलैर्वापि तेनैरोद्धतं स्मृतम् ।

हविषा पद्मनाभस्य ध्यानमेव समाचरेत् । होमे तदेव नदिनं दाने शक्तिर्निजा द्विज ॥ १७ ॥
 पूजयेताथ कुसुमैः पादादारभ्य केशवम् । धूपयेद् विविधं धूपं येन स्याद् वत्सरं परम् ॥ १८ ॥
 हिरण्यरत्नावासोभिः पूजयेत जगद्गुरुम् । रागलाण्डयचोप्याणि हविष्याणि निवेद्येत् ॥ १९ ॥
 ततः संपूज्य देवेशं पद्मनाभं जगद्गुरुम् । विद्यापयेन्मुनिश्रेष्ठ मन्त्रेणानेन सुव्रत ॥ २० ॥

सफेद सरसों या तिलके द्वारा उबटन तैयार करना चाहिये ऐसा कहा गया है । उमने या घीसे भक्तान् विष्णुको ध्यान कराना चाहिये । नारदजी ! होममें भी धीमा ही विद्या है और दानमें भी यथाशक्ति उसीकी विधि है । फिर पुण्योद्धार चरणसे आरम्भकर (मिरतक) सभी अङ्गोंमें केशवकी पूजा करे एव नाना प्रकारके धूपोंसे उन्हें सुवासित करे, जिससे सवसर पूर्ण हो । सुवर्ग, रत्नों और वस्त्रोंद्वारा (उन) जगद्गुरुका पूजन करे तथा राग-खाँड, चोप्य एव हविष्योंका नैवेद्य अर्पित करे । सुव्रत नारदजी ! देवेश जगद्गुरु विष्णुकी पूजा करनेके बाद इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—॥ १७-२० ॥

नमोऽस्तु ते पद्मनाभ पद्माध्व महायुते । धर्मार्थकाममोक्षाणि त्वखण्डानि भवन्तु मे ॥ २१ ॥
 विनासिपद्मपद्माक्ष यथाऽखण्डोऽसि सर्वतः । तेन सन्धेन धर्मोऽया अखण्डाः सन्तु केशव ॥ २२ ॥
 एवं संवत्सरं पूर्णं सोपवासो जितेन्द्रियः । अखण्डं पापयेद् ब्रह्मन् व्रतं वै सर्ववस्तुषु ॥ २३ ॥
 अस्मिन्धीर्णे व्रते व्यक्तं परितुष्यन्ति देवता । धर्मार्थकाममोक्षायास्त्वक्षयाः सम्भवन्ति हि ॥ २४ ॥

हे महामान्त्रिकाले पद्मनाभ लक्ष्मीपते ! आपको प्रणाम है । (आपकी कृपासे प्रसादसे) हमारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अखण्ड हों । विनमित्त कमलपत्रके समान नेत्रवाले ! आप जिस प्रकार चारों ओरसे अखण्ड हैं, उसी सचके प्रभावसे मेरे भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ) अखण्डित रहें । ब्रह्मन् ! इस प्रकार वर्षभर उपवास और जितेन्द्रिय रहते हुए सभी वस्तुओंके द्वारा व्रतको अखण्डरूपसे पूरा करे । इस व्रतके करनेपर देवता निश्चितरूपसे प्रसन्न होते हैं एव धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी पूर्ण होते हैं ॥ २१-२४ ॥

एतानि ते मयोक्तानि मतान्युक्तानि कामिभिः । प्रवक्ष्याम्ययुता स्वेनद्वैरणं पञ्चरं नुभम् ॥ २५ ॥
 नमो नमस्ते गोविन्द चक्रं गृह्य सुदर्शनम् । प्राच्यां रक्षस्व मा विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २६ ॥
 गदां श्रीमोर्द्वयं गृह्य पद्मनाभमितयुते । याम्यां रक्षस्व मां विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २७ ॥
 हलमादाय सौन्दर्यं नमस्ते पुरुषोत्तम । प्रतोन्त्यां रक्ष मे विष्णो भवन्नं शरणं गतः ॥ २८ ॥

नारद ! यहाँतक मैंने तुमसे सकाम व्रतोंका वर्णन किया है । अब मैं कल्याणकारी विष्णुपञ्जरस्तोत्रको कहूँगा । (वह इस प्रकार है—) गोविन्द ! आपको नमस्कार है । आप सुदर्शनचक्र लेकर मेरी पूर्व दिशामें रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ । अमितद्युते पद्मनाभ ! आप कौमोदकी गदा धारणकर मेरी रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपके शरण हूँ । पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है । आप सौनन्द नामक हल लेकर मेरी पश्चिम दिशामें रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ २५-२८ ॥

मुसलं शातनं गृह्य पुण्डरीकाक्ष रक्ष माम् । उत्तरस्यां जगन्नाथ भवन्तं शरणं गतः ॥ २९ ॥
 शार्ङ्गमादाय च धनुस्त्रं नारायणं हरे । नमस्ते रक्ष रक्षोघ्न पेशान्यां शरणं गतः ॥ ३० ॥
 पाञ्चजन्यं महाशङ्खमन्तर्वीर्यं च पङ्कजम् । प्रगृह्य रक्ष मां विष्णो आग्नेय्यां यक्षसूकर ॥ ३१ ॥
 चर्म सूर्यशतं गृह्य खड्गं चन्द्रमसं तथा । नैर्ऋत्यां मां च रक्षस्व दिव्यमूर्ते नृकेसरिन् ॥ ३२ ॥

पुण्डरीकाक्ष ! आप 'शातन' नामके विनाशकारी मुसलको लेकर मेरी उत्तर दिशामें रक्षा करें । जगन्नाथ ! मैं आपकी शरण हूँ । हरे ! शार्ङ्गधनुष एवं नारायणास्त्र लेकर मेरी ईशानकोणमें रक्षा करें । रक्षोघ्न ! आपको नमस्कार है, मैं आपके शरण हूँ । यज्ञवाराह विष्णो ! आप पाञ्चजन्य नामक विशाल शङ्ख तथा अन्तर्वीर्य पङ्कजको लेकर मेरी अग्निकोणमें रक्षा करें । दिव्य नृसिंह ! सूर्यशत नामकी दाल तथा चन्द्रहास नामकी तलवार लेकर मेरी नैर्ऋत्यकोणमें रक्षा करें ॥ २९-३२ ॥

वैजयन्तीं प्रगृह्य त्वं श्रीवत्सं कण्ठभूषणम् । वायव्यां रक्ष मां देव अश्वशीर्षं नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥
 वैनतेयं समारुह्य अन्तरिक्षे जनार्दन । मां त्वं रक्षजित सदा नमस्ते त्वपराजित ॥ ३४ ॥
 विशालाक्षं समारुह्य रक्ष मां त्वं रसातले । अकूपारं नमस्तुभ्यं महामोहं नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
 करशीर्षाङ्घ्रिपर्वेषु तथाऽष्टधातुपञ्जरम् । कृत्वा रक्षस्व मां देव नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

आप वैजयन्ती नामकी माला तथा श्रीवत्स नामका कण्ठभूषण धारणकर मेरी वायव्यकोणमें रक्षा करें । हयग्रीव ! आपको नमस्कार है । जनार्दन ! वैनतेय (गरुड़) पर आरुढ़ होकर आप मेरी अन्तरिक्षमें रक्षा करें । अजित ! अपराजित ! आपको सदा नमस्कार है । महाकच्छप ! आप विशालाक्षपर चढ़कर मेरी रसातलमें रक्षा करें । महामोह ! आपको नमस्कार है । पुरुषोत्तम ! आप आठ हाथोंसे पञ्जर बनाकर हाथ, शिर एवं सन्विस्थलों (जोड़ों) आदिमें मेरी रक्षा करें । देव ! आपको नमस्कार है ॥ ३३-३६ ॥

पतदुक्तं भगवता वैष्णवं पञ्जरं महत् । पुरा रक्षार्थमीशेन कात्यायन्या द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
 नाशायामास सा यत्र दानवं महिषासुरम् । नमरं रक्तवीजं च तथाऽन्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३८ ॥

द्विजोत्तम ! प्राचीन कालमें भगवान् शंकरने कात्यायनी (दुर्गा) की रक्षाके लिये इस महान् विष्णुपञ्जर-स्तोत्रको उस स्थानपर कहा था, जहाँ उन्होंने महिषासुर, नमर, रक्तबीज एवं अन्यान्य देव-शत्रुओंका नाश किया था ॥ ३७-३८ ॥

नारद उवाच

काऽसौ कात्यायनी नाम या जघ्ने महिषासुरम् । नमरं रक्तवीजं च तथाऽन्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३९ ॥

१-—३६ विष्णुपञ्जरस्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है तथा न्यूनान्तरसे अमिपुराण, अ० १३, ब्रह्मवैवर्त ३ । ३१, विष्णु-धर्मोत्तर १ । ११५ आदिमें प्राप्त होना है । वामनपुराणमें तो यह दो बार आ गया है । एक यहाँ तथा आगे ७४ वें अध्यायमें ।

कदचासौ महिषो नाम कुले जातश्च कस्य सः ।

कञ्चासौ रक्तबीजाख्यो नमरः कस्य चात्मजः । पतङ्गिस्तरतस्तात यथावद् वक्षतुमर्हसि ॥ ४० ॥

नारदजीने पूछा—शुभे ! महिषासुर, नमर, रक्तबीज तथा अन्धान्य सुर-कण्ठियोंका वध करनेवाली ये भगवती कात्यायनी कौन हैं ? तात ! यह महिष कौन है ? तथा वह किसके कुत्रमें उत्पन्न हुआ था ? यह रक्तबीज कौन है ? तथा नमर किसका पुत्र है ? आप इसका यथार्थ रूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ ३९-४० ॥

पुलस्त्य उवाच

ध्रुवतां संप्रवक्ष्यामि कथां पापप्रणादिनीम् । सर्वदा वरदा दुर्गा येयं कात्यायनी मुने ॥ ४१ ॥

पुत्राऽसुरधरो रौद्री जगत्क्षोभकराधुभौ । रम्भदचैव करम्भश्च द्वावास्तां सुमहायली ॥ ४२ ॥

तावपुत्री च देव्यं पुत्रार्थं तेषुस्तपः । यद्गन् वरंगणान् दैत्यो स्थितौ पञ्चनदे जले ॥ ४३ ॥

तत्रैको जलमध्यस्थो द्वितापोऽप्यग्निपञ्चमी । करम्भदचैव रम्भदच यत्नं मालवटं प्रति ॥ ४४ ॥

पुलस्त्यजो बोले—नारदजी ! सुनिये, मैं उस पापनाशक कथामें कहता हूँ । मुने ! सब कुट्ट देनेवाली वरदायिनी भगवती दुर्गा ही ये कात्यायनी हैं । प्राचीनकालमें संसारमें उलट-पुलट मचानेवाले रम्भ और करम्भ नामके दो भयंकर और महाबलवान् असुरश्रेष्ठ थे । देवों ! वे दोनों पुत्रहीन थे । उन दोनों दैत्यों पुत्रके लिये पञ्चनदके जलमें रहकर बहुत कष्टकर तप किया । मालवट यज्ञके प्रति पकाम होकर करम्भ और रम्भ—उन दोनोंमेंसे एक जलमें स्थित होकर और दूसरा पद्मानिके मध्य बैठकर तप कर रहा था ॥ ४१-४४ ॥

एकं निमग्नं सलिले प्राहरूपेण वासवः । चरणाभ्यां समादाय निजघान यथेच्छया ॥ ४५ ॥

ततो धातरि नष्टे च रम्भः कोपपरिप्लुतः । यद्गौ स्वशीर्षं संक्षिप्य होतुमैच्छन् महायलः ॥ ४६ ॥

ततः प्रवृष्ट केद्रेषु खड्गं च रविसप्रभम् । छेतुकामो निजं शीर्षं घट्निना प्रतिपेधिनः ॥ ४७ ॥

उकृच्च मा दैत्यवर नाशयात्मानमात्मना । दुस्तरा परवप्याऽपि स्ववध्याऽयतिदुस्तरा ॥ ४८ ॥

इन्द्रने प्राहका रूप धारणकर इनमेंसे एकको जलमें निमग्न होनेपर वे पकड़कर उच्छान्तुसार दूर ले जाकर मार डाला । उसके बाद भाइके नष्ट हो जानेपर क्रोधयुक्त महाबलशाली रम्भने अपने मित्रों काटकर अग्निमें हवन करना चाहा । वह अपना केश पकड़कर हाथमें सूर्यके समान चमकनेवाली तलवार लेकर अपना सिर काटना ही चाहता था कि अग्निने उसे रोक दिया और कहा—दैत्यवर ! तुम स्वय अपना नाश मत करो । दूसरेका वध तो पाप होता ही है, आत्महत्या भं, भयानक पाप है ॥ ४५-४८ ॥

यच्च प्रार्थयसे धीर तद्ददामि यथेप्सितम् । मा झियस्य मृतस्येह नष्टा भवति वै कथा ॥ ४९ ॥

ततोऽब्रवीद् यद्यो रम्भो परं चेन्मे ददासि हि । त्रैलोक्यविजयी पुत्रः स्यान्मे त्वचेत्तसाऽधिकः ॥ ५० ॥

अजेयो दैवतैः सर्वैः पुंभिर्दैत्यैश्च पाषकः । मदाग्लो वायुरिव कामरूपी ह्यनाजयित् ॥ ५१ ॥

तं प्रोवाच कविर्ब्रह्मन् यादमेधं भविष्यति । यस्यां चित्तं समालम्ब्य करिष्यसि ततः सुत ॥ ५२ ॥

धीर ! तुम जो माँगोगे, तुम्हारी इच्छाके अनुसार वह मैं तुम्हें दूँगा । तुम मरो मत । इस संसारमें मृत व्यक्तिकी कथा नष्ट हो जाती है । इसपर रम्भने कहा—यदि आप वर देते हैं तो यह वर दीजिये कि मुझे आपसे भी अधिक तेजस्वी त्रैलोक्यविजयी पुत्र उत्पन्न हो । अग्निदेव ! समस्त देवताओं तथा मानवों और दैत्योंसे भी वह अजेय हो । वह वायुके समान महाबलवान् तथा कामरूपी एव सर्वाखवेत्ता हो । नारदजी ! इसपर अग्निने उससे कहा—अच्छा, ऐसा ही होगा । जिम क्षीमें तुम्हारा चित्त लग जायगा उसीसे तुम पुत्र उत्पन्न करोगे ॥ ४९-५२ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन घट्टिना दानवो ययौ । द्रष्टुं मालवटं यक्षं यक्षैश्च परिवारितम् ॥ ५३ ॥
 तेषां पद्मनिधिस्तत्र वसते नान्यचेतनः । गजाश्च महिपाश्चाश्वा गावोऽजाविपरिप्लुताः ॥ ५४ ॥
 तान् दृष्ट्वैव तदा चक्रे भावं दानवपार्थिवः । महिष्यां रूपयुक्तायां त्रिहायण्यां तपोधन ॥ ५५ ॥
 सा समागोच्च दैत्येन्द्रं कामयन्ती तरस्विनी । स चापि गमनं चक्रे भवितव्यप्रचोदितः ॥ ५६ ॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर रम्भ यक्षोंसे विरा हुआ मालवट यक्षका दर्शन करने गया । वहाँ उन यक्षोंका एक पद्म नामकी निधि अनन्य-चित्त होकर निवास करती थी । वहाँ बहुत-से बकरे, भेड़े, घोड़े, भैंसे तथा हाथी और गाय-बैल थे । तपोधन ! दानवराजने उन्हें देखकर तीन वर्षोंवाली रूपवती एक महिषीमें प्रेम प्रकृत क्रिया (अर्थात् आसक्त हुआ) । कामपरायण होकर वह महिषी शीघ्र दैत्येन्द्रके समीप आ गयी तत्र भवितव्यतासे प्रेरित उसने (रम्भने) भी उस महिषीके साथ संगत किया ॥ ५३-५६ ॥

तस्यां समभवद् गर्भस्तां प्रगृह्याथ दानवः । पातालं प्रविवेशाय ततः स्वभवनं गतः ॥ ५७ ॥
 दृष्टश्च दानवैः सर्वैः परित्यक्तश्च बन्धुभिः । अकार्यकारकेत्येवं भूयो मालवटं गतः ॥ ५८ ॥
 साऽपि तेनैव पतिना महिषी चारुदर्शना । समं जगाम तत् पुण्यं यक्षमण्डलमुत्तमम् ॥ ५९ ॥
 ततस्तु वसतस्तस्य श्यामा सा सुषुवे मुने । अजीजनत् सुतं शुभ्रं महिषं कामरूपिणम् ॥ ६० ॥

उसे गर्भ रह गया । उसके बाद उस महिषीको लेकर दानव पातालमें प्रविष्ट हुआ और अपने घर चला गया । उसके दानव-बन्धुओंने उसे देख एवं 'अकार्यकारक' जानकर उसका परित्याग कर दिया । फिर वह पुनः मालवटके निकट गया । वह सुन्दरी महिषी भी उसी पतिके साथ उस पवित्र और उत्तम यक्षमण्डलमें गयी । मुने ! उसके वहीं निवास करते समय उस महिषीने सन्तान उत्पन्न की । उसने एक शुभ्र तथा इच्छाके अनुकूल रूप धारण करनेवाले महिष-पुत्रको जन्म दिया ॥ ५७-६० ॥

पतामृतमर्तो जातां महिषोऽन्यो ददर्श ह । सा चाभ्यगाद् दितिवरं रक्षन्ती शीलमात्मनः ॥ ६१ ॥
 तमुदामितनासं च महिषं वीक्ष्य दानवः । खड्गं निष्कृष्य तरसा महिषं समुपाद्रवत् ॥ ६२ ॥
 तेनापि दैत्यस्तीक्ष्णाभ्यां शृङ्गाभ्यां हृदि ताडितः । निर्भिन्नहृदयो भूमौ निपपात ममार च ॥ ६३ ॥
 मृते भर्तारि सा श्यामा यक्षणां शरणं गता । रक्षिता गुह्यकैः साध्वी निवार्य महिषं ततः ॥ ६४ ॥

उसके पुनः ऋतुमती होनेपर एक दूसरे महिषने उसे देखा । वह अपने शीलकी रक्षा करती हुई दैत्यश्रेष्ठके निकट गयी । नाकको ऊपर उठाये उस महिषको देखकर दानवने खड्ग निकालकर महिषपर वेगसे आक्रमण किया । उस महिषने भी तीक्ष्ण शृङ्गोंसे दैत्यके हृदयमें प्रहार किया । वह दैत्य हृदय फट जानेसे भूमिपर गिर पड़ा और मर गया । पतिके मर जानेपर वह महिषी यक्षोंकी शरणमें गयी । उसके बाद गुह्यकोंने महिषको हटाकर साध्वी महिषीकी रक्षा की ॥ ६१-६४ ॥

ततो निवारितो यक्षैर्दयारिर्मदनातुरः । निपपात सरो दिव्यं ततो दैन्योऽभवन्मृतः ॥ ६५ ॥
 नमगे नाम विख्यातो महाबलपराक्रमः । यक्षानाश्रित्य तस्यै स कालयन् श्वापदान् मुने ॥ ६६ ॥
 स च दैन्येश्वरो यक्षैर्मालवटपुरस्तरैः । चितामारोपितः सा च श्यामा तं चारुहत् पतिम् ॥ ६७ ॥
 ततोऽग्निमभ्यादुत्स्यौ पुरुषो रौद्रदर्शनः । व्यद्रावयत् स तान् यक्षान् खड्गपाणिर्भयंकरः ॥ ६८ ॥

यक्षोंद्वारा हटाया गया कामातुर हयागि (महिष) एक दिव्य सरोवरमें गिर पड़ा । उसके बाद वह मरकर एक दैन्य हो गया । मुने ! वन्धु पशुओंको मारने हुए यक्षोंके आश्रयमें रहनेवाला महान् बली तथा पराक्रमी ब्रह्म दैत्य

इत्येवमुक्तो देवेन घट्टिना दानवो ययौ । द्रष्टुं मालवटं यक्षं यक्षैश्च परिवारितम् ॥ ५३ ॥
 तेषां पद्मनिधिस्तत्र वसते नान्यचेतनः । गजाश्च महिपाश्चाश्वा गावोऽजाविपरिप्लुताः ॥ ५४ ॥
 तान् दृष्ट्वैव तदा चक्रे भावं दानवपार्थिवः । महिष्यां रूपयुक्तायां त्रिहायण्यां तपोधन ॥ ५५ ॥
 सा समागाच्च दैत्येन्द्रं कामयन्ती तरस्विनी । स चापि गमनं चक्रे भवितव्यप्रचोदितः ॥ ५६ ॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर रम्भ यक्षोंसे विरा हुआ मालवट यक्षका दर्शन करने गया । वहाँ उन यक्षोंका एक पद्म नामकी निधि अनन्य-चित्त होकर निवास करती थी । वहाँ बहुत-से बकरे, भेंड़े, घोड़े, भैंसे तथा हाथी और गाय-बैल थे । तपोधन ! दानवराजने उन्हें देखकर तीन वर्षोंवाली रूपवती एक महिषीमें प्रेम प्रकट किया (अर्थात् आसक्त हुआ) । कामपरायण होकर वह महिषी शीघ्र दैत्येन्द्रके समीप आ गयी तब भवितव्यतासे प्रेरित उसने (रम्भने) भी उस महिषीके साथ संगत किया ॥ ५३-५६ ॥

तस्यां समभवद् गर्भस्तां प्रगृह्याथ दानवः । पातालं प्रविशेशाथ ततः स्वभवनं गतः ॥ ५७ ॥
 दृष्टश्च दानवैः सर्वैः परित्यक्तश्च घन्धुभिः । अकार्यकारकेत्येवं भूयो मालवटं गतः ॥ ५८ ॥
 साऽपि तेनैव पतिना महिषी चारुदर्शना । समं जगाम तन् पुण्यं यक्षमण्डलमुत्तमम् ॥ ५९ ॥
 ततस्तु वसतस्तस्य श्यामा सा सुपुत्रे मुने । अजीजनत् सुतं शुभ्रं महिषं कामरूपिणम् ॥ ६० ॥

उसे गर्भ रह गया । उसके बाद उस महिषीको लेकर दानव पातालमें प्रविष्ट हुआ और अपने घर चला गया । उसके दानव-घन्धुओंने उसे देख एवं 'अकार्यकारक' जानकर उसका परित्याग कर दिया । फिर वह पुनः मालवटके निकट गया । वह सुन्दरी महिषी भी उसी पतिके साथ उस पवित्र और उत्तम यक्षमण्डलमें गयी । मुने ! उसके वहाँ निवास करते समय उस महिषीने सन्तान उत्पन्न की । उसने एक शुभ्र तथा इच्छाके अनुकूल रूप धारण करनेवाले महिष-पुत्रको जन्म दिया ॥ ५७-६० ॥

एतामृतमतीं जातां महिषोऽन्यो ददर्श ह । साचाश्वगाद् दितिवरं रक्षन्ती शीलमात्मनः ॥ ६१ ॥
 तमुद्रामितनासं च महिषं वीक्ष्य दानवः । खड्गं निष्कृष्य तरसा महिषं समुपाद्रवत् ॥ ६२ ॥
 तेनापि दैत्यस्तीक्ष्णाभ्यां शृङ्गाभ्यां हृदि ताडितः । निर्भिन्नहृदयो भूमौ निपपात ममार च ॥ ६३ ॥
 मृते भर्तारि सा श्यामा यक्षाणां शरणं गता । रक्षिता गुह्यकैः साध्वी निवार्य महिषं ततः ॥ ६४ ॥

उसके पुनः ऋतुमती होनेपर एक दूसरे महिषने उसे देखा । वह अपने शीलकी रक्षा करती हुई दैन्यश्रेष्ठके निकट गयी । नाकको ऊपर उठाये उस महिषको देखकर दानवने खड्ग निकालकर महिषपर वेगसे आक्रमण किया । उस महिषने भी तीक्ष्ण शृङ्गोंसे दैत्यके हृदयमें प्रहार किया । वह दैत्य हृदय फट जानेसे भूमिपर गिर पड़ा और मर गया । पतिके मर जानेपर वह महिषी यक्षोंकी शरणमें गयी । उसके बाद गुह्यकोंने महिषको दृष्टकर साध्वी महिषीकी रक्षा की ॥ ६१-६४ ॥

ततो निवारितो यक्षैर्हयारिर्मदनातुरः । निपपात सरो दिव्यं ततो दैन्योऽभवन्मृतः ॥ ६५ ॥
 नमरो नाम विख्यातो महाबलपराक्रमः । यक्षान्नाश्रित्य तस्थौ स कालयन् श्वापदान् मुने ॥ ६६ ॥
 स च दैन्येश्वरो यक्षैर्मालवटपुरस्सरैः । चित्तामारोपितः सा च श्यामा तं चारुहन् प्रतिम् ॥ ६७ ॥
 ततोऽग्निमध्यादुत्तस्थौ पुरुषो रौद्रदर्शनः । व्यद्रावयत् स तान् यक्षान् खड्गपाणिर्भयंकरः ॥ ६८ ॥

यक्षोंद्वारा दृष्टाया गया कामातुर हयारि (महिष) एक दिव्य सरोवरमें गिर पड़ा । उसके बाद वह मरकर एक दैन्य हो गया । मुने ! दैन्य पशुओंको मारने हुए यक्षोंके आश्रयमें रहनेवाला महाबलवान् वन्द्य तथा पराक्रमी वह दैन्य



‘नमर’ नामसे विख्यात हुआ । फिर मालवट आदि यक्षोंने उस ह्यामि दैत्येन्द्रको चितापर रखा । वह श्यामा भी पतिके साथ चितापर चढ़ गयी । तब अग्निके मध्यसे ह्यामि वृक्ष जिये विकसाल रूपवाला भयंकर पुरुष प्रकट हुआ । उसने सभी यक्षोंको मग्न दिया ॥ ६५-६८ ॥

तनो हतास्तु महिषाः सर्व एव महात्मना । श्रुते संरक्षितारं हि महिषं रम्भनन्दन ॥ ६९ ॥

स नामतः स्मृतो दैत्यो रक्तबीजो महामुने । योऽजयत् सर्वतो देवान् सेन्द्रकद्राकंभावनान् ॥ ७० ॥

एवं प्रभाया वनुपुंगवास्ते तेजोऽधिरुस्तान् धमौ ह्यारिः ।

राज्येऽभिपिकश्च महाऽसुरेन्द्रैर्विनिर्जितैः शम्बरतारकायैः ॥ ७१ ॥

अशक्नुवद्भिः सहितैश्च देवैः सलोकपालैः सहुताराभास्करैः ।

स्थानानि त्यक्तानि शशोन्द्रभास्करैर्धर्मैश्च ह्ये प्रतियोजितैश्च ॥ ७२ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

और फिर उस बलवान् दैत्यने रम्भनन्दन महिषको छोड़कर सारे महिषोंको मार डाला । महामुने ! वह दैत्य रक्तबीज नामसे विख्यात हुआ । उसने इन्द्र, रुद्र, सूर्य एवं मासुत आदिके साथ देवोंको जीत लिया । यद्यपि वे सभी दैत्य इस प्रकारके प्रभावसे युक्त थे; फिर भी उनमें महिष अग्निके तेजस्वी था । उसके द्वारा विजित शम्बर, तारक आदि महान् असुरोंने उसका राज्यभिन्नक किया । लोकपालोंसहित अग्नि, सूर्य आदि देवोंके द्वारा एक साथ मिलकर जब वह जीता नहीं गया तब चन्द्र, इन्द्र एवं सूर्यने अपना-अपना स्थान छोड़ दिया तथा धर्मको भी दूर हटा दिया गया ॥ ६९-७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सप्तदशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

[अथाष्टादशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु देवा महिषेण निर्जिताः स्थानानि संत्यज्य सयाहनायुधाः ।

जग्मुः पुरस्कृत्य पितामहं ते द्रष्टुं तदा चक्रधरं श्रियः पतिम् ॥ १ ॥

गत्वा त्वपश्यंश्च मियः सुरोत्तमौ स्थितौ खगेन्द्रासनशंकरौ हि ।

हृष्टौ प्रणम्यैव च सिद्धिसाधकौ न्यवेदयंस्तन्महिषादिवेषितम् ॥ २ ॥

प्रभोऽश्विसुर्येन्द्रनिलालिनिवेधसां जलेशशक्रादिषु चाधिकारान् ।

आक्रम्य नाराजु निराकृता वयं कृताग्निस्था महिषासुरेण ॥ ३ ॥

एतद् भ्रमन्तौ शरणागतानां ध्रुवा वचो ब्रूत हिनं सुराणाम् ।

न वेद् व्रजामोऽथ रसातलं हि मंकात्यमाना युधि दानवेन ॥ ४ ॥

अठारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(महिषासुरका अतिचार, देवीकी तेजोराशिसे भगवती कान्यायनीका प्रादुर्भाव, विष्वक्प्रमग, दुर्गाकी अवस्थिति)

पुलस्त्यजी बोले—इसके बाद महिषद्वारा पराजित देवता अपने-अपने स्थानको छोड़कर पितामहको आने कर चक्रगरी लक्ष्मीपति विष्णुके दर्शनार्थ अपने वाहनों और अलुपोंसे लेकर विष्णुशोक चले गये । वहाँ जाकर उन लोगोंने गरुड़महान् विष्णु एव शंकर—इन दोनों देवश्रेष्ठोंको एक साथ बैठे देखा । उन दोनों सिद्धि-साधकोंको देखनेके बाद उन लोगोंने उन्हें प्रणामकर उनमें महिषासुरकी दुःखेण बतलायी । वे बोले—

महिषासुरने अश्विनीकुमार, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र आदि सभी देवताओंके अधिकारोंको छीनकर स्वर्गमें निकाल दिया है और अब हमलोग भूयोंमें रहनेको विवश हो गये हैं । हम शरणागते देवताओंकी यह वान सुनकर आर दोनों हमारे हितकी वान वतलये; अन्यथा दानवद्वारा युद्ध मारे जा रहे हमलोग अब मृतत्वमें चले जायेंगे ॥ १-४ ॥

इत्थं सुराणिः सह संकरणं श्रुत्वा वचो विप्लुतचतसस्तान् ।
 दृष्ट्वाऽथ चक्रे चन्द्रसंघं क्रोधं कालाग्निकल्लो हरिरव्ययात्मा ॥ ५ ॥
 ततोऽपुनोपात्तमधुसूदनस्य सशंकरस्यापि पितामहस्य ।
 तथैव शक्रादिषु दैवतेषु महर्षिं तेजो वदनाद् विनिःसृतम् ॥ ६ ॥
 तच्चैकतां पर्वतकूटसन्निभं जगाम तेजः प्रवराश्रमे मुने ।
 कान्यायनस्याप्रतिमस्य तेन महर्षिणा तेज उपाकृतं च ॥ ७ ॥
 तेनरिषिषुष्टेन च तेजसा वृतं ज्वलन्प्रकाशार्कसहस्रतुल्यम् ।
 तस्माच्च जाता तन्व्यायतासीं कान्यायनी योगविशुद्धदेहा ॥ ८ ॥

शिवजीके मन्त्र ही विष्णु भगवन्ने (भी) उनके इस प्रकारके वचनको सुना तथा दुःखसे व्याकुल चिनवाले उन देवताओंको देखा तो उनका क्रोध कालाग्निके समान प्रज्वलित हो गया । उसके बाद मधुनामक राक्षसको मारनेवाले विष्णु शंकर, पितामह (ब्रह्मा) तथा इन्द्र आदि देवताओंके क्रोध करनेपर उन सबके मुखसे महान् तेज प्रकट हुआ । मुने ! फिर वह तेजोगणि कान्यायन ऋषिके अनुपम आश्रममें पर्वतशृङ्गके समान एकत्र हो गयी । उन महर्षिने भी उस तेजको और अभिवृद्धि की । उन महर्षिद्वारा उत्पन्न किये गये तेजसे आवृत वह तेज हजारों सूर्योंके समान प्रदीप्त हो गया । उसके योगसे विशुद्ध शरीरवाली एवं चञ्चल तथा विशाल नेत्रोंवाली कान्यायनी देवी प्रकट हो गयी ॥ ५-८ ॥

माहेश्वराद् वक्रप्रमथो बभूव नेत्रत्रयं पावकतेजसा च ।
 याम्येन केना अग्निंतेजसा च भुजास्तथाश्रदश संप्रजडिरे ॥ ९ ॥
 सौर्येन युग्मं स्तनयोः सुसंघतं मथ्यं तथैन्द्रेण च तेजसाऽभवत् ।
 ऊरु च जहो च नितम्बमंयुने जाते जलेशस्य तु तेजसा हि ॥ १० ॥
 गार्गा च लोकप्रपितामहस्य पद्माभिकोशप्रतिमौ बभूवतुः ।
 दियाकराजामपि तेजसाऽद्भुतीः कराद्भुतीश्च वसुतेजसैव ॥ ११ ॥
 प्रजारतानां दशनाश्च तेजसा याक्षेण नासा श्रवणी च मारुतात् ।
 नाथेन च भ्रूयुगलं मुकान्तिमत् कंदर्पशणासनसन्निभं वभौ ॥ १२ ॥

माहेश्वरीके तेजसे कान्यायनीका मुख बन गया और अग्निके तेजसे उनके तीन नेत्र प्रकट हो गये । इसी प्रकार यमके तेजसे केला तथा हरिके तेजसे उनकी अट्टारह भुजाएँ, चन्द्रमाके तेजसे उनके सटे हुए स्तनयुगल, इन्द्रके तेजसे स्तनयो तथा वरुणके तेजसे ऊरु, ब्रह्माके एवं नितम्बोंकी उत्पत्ति हुई । लोकप्रपितामह ब्रह्माके तेजसे कन्दर्पशंके मण्डल उनके दोनों चरण, आदित्योंके तेजसे पैरोंकी अद्भुतियाँ एवं वसुओंके तेजसे उनके हाथोंकी अद्भुतियाँ उत्पन्न हुई । प्रजारतियोंके तेजसे उनके दांत, याक्षोंके तेजसे नाक, वायुके तेजसे दोनों कान, सायकके तेजसे कामदेवके धनुर्के समान उनकी दोनों भँहे प्रकट हुई—॥ ९-१२ ॥

तथरिषिंतेजोत्तममुत्तमं महन्नाम्ना पृथिव्यामभवत् प्रसिद्धम् ।
 कान्यायनीत्येव तदा वर्षा सा साग्ना च तेनैव जगत्प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

द्वौ विशूलं वरदखिशूली चक्रं मुरारिवरणञ्च शङ्खम् ।
 शक्तिं हुताराः इवसनञ्च चापं तूणी तथाक्षय्यशरी त्रिवलान् ॥ १४ ॥
 घञं तथेन्द्र सह घण्टया च यमोऽथ दण्डं धनदो गदां च ।
 ब्रह्माऽक्षमालां सक्मण्डलुं च कालोऽसिमुग्रं सह चर्मणा च ॥ १५ ॥
 द्वारं च सोम सह चामरेण मालां समुद्रो हिमनाय मृगेन्द्रम् ।
 चूडामणिं वृण्डलमर्द्धचन्द्रं प्रादात् उग्रारं वसु शिल्पकर्त्ता ॥ १६ ॥

इस प्रकार महर्षियोंका उतमोत्तम तथा महान् तेज पृथ्वीपर 'कल्यायनी' इस नामसे पसिद्ध हुआ, तब वे उसी नामसे विश्वमें प्रसिद्ध हुईं । उरदानो शकरजीने उन्हें विश्वत्र, मुक्के मारनेवाले शीकृष्णने चक्र, कृष्णने शङ्ख, अग्निने शक्ति, वायुने घनुप तथा सूर्यने अक्षय बाणोंवाले दो तूणीर (तर्कस) प्रदान किये । इन्द्रने घण्टासहित वज्र, यमने दण्ड, कुबेरने गदा, ब्रह्मने ऊमण्डलके साथ रुद्राक्षकी माला तथा कालने उन्हें ढालसहित प्रचण्ड खड्ग प्रदान किया । चन्द्रमाने चँवरके सात हार, समुद्रने माला, हिमालयने सिंह, विश्वकामने चूडामणि, कुण्डल, अर्धचन्द्र, कुठार तथा पर्याप्त ऐश्वर्य प्रदान किया ॥ १३-१६ ॥

गन्धर्वराजो रजतानुलिप्तं पानस्य पूर्णं सदृशं च भाजनम् ।
 भुजंगद्वारं भुजगेश्वरोऽपि अभ्यलानपुष्पाभृतवः स्रजं च ॥ १७ ॥
 तदाऽतितुष्ट सुरसचमाना अट्टाट्टहासं मुमुचे विनेत्रा ।
 तां तुष्टुबुद्धेयवरा सहेन्द्राः सविष्णुरुद्रेन्दनिलाग्निभास्कराः ॥ १८ ॥
 नमोऽस्तु देव्यै सुरपूजितायै या संस्थिता योगविशुद्धदेहा ।
 निद्रास्वरूपेण मर्द्यां वितत्य तृष्णा त्रया क्षुद् भयदाऽथ कान्तिः ॥ १९ ॥
 श्रद्धा स्मृतिः पुष्टिरयो क्षमा च छाया च शक्तिः कमलाख्या च ।
 वृत्तिर्दया मान्तिरयेह माया नमोऽस्तु देव्यै भयरूपिकायै ॥ २० ॥

गन्धर्वराजने उनके अनुरूप रजतका पूर्ण पान-(मद्य) पात्र, नागराजने भुजङ्गहार तथा ऋतुओंने कभी न कुम्हिलानेवाले पुष्पोंकी माला प्रदान की । उसके बाद श्रेष्ठ देवताओंके ऊपर अन्यन्त प्रसन्न होकर विनेत्रा- (कल्यायनी-) ने उच्च अट्टहास किया । इन्द्र, विष्णु, रुद्र, चन्द्रमा, वायु, अग्नि तथा सूर्य आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करने लगे—योगसे विशुद्ध देहवाली देवोंसे पूजित देवीको नमस्कार है । वे निद्रारूपसे पृथ्वीमें व्याप्त हैं, वे ही तृष्णा, त्रया, क्षु-ग, भयदा, कान्ति, श्रद्धा, स्मृति, पुष्टि, क्षमा, छाया, शक्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, दया, प्राप्ति तथा माया हैं; ऐसी कल्याणमयी देवीको नमस्कार है ॥ १७-२० ॥

ततः स्तुता देववर्षैर्मृगेन्द्रमारह्य देवी प्रगताऽयनीधम् ।
 विन्ध्यं महापर्वतमुच्यते चकार यं निम्नतरं त्वगस्य ॥ २१ ॥

किर देववर्गोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर वे देवी सिंहपर आरूढ़ होकर विन्ध्य नामके उम ऊँचे शृङ्गवाले महान् पर्वतपर गयीं, जिसे अगल्य मुनिने अति निम्न कर दिया था ॥ २१ ॥

नागद उवाच

किमर्थमद्रि भगवानागत्यस्तं निम्नशृङ्ग कृतवान् महर्षिं ।
 कस्मै हृते केन च कारणेन पतद् वदस्वामलसत्त्ववृत्ते ॥ २२ ॥

१-सभी पुराणों तथा सप्तशतीकी ध्याल्याओंमें विद्वान्मार्गद्वारा ही आभूरण बनाने—देनेकी चर्चा है । कुछ प्रतियोंके अर्थमें समुद्रद्वारा देनेकी बात छप गयी है, जो गलत है ।

नारदजीने पूछा—शुक्रात्मन (पुलस्त्यजी) ! आप यह वचन कि भगवान् अगस्त्यनद्विषिने उस पर्वतको
निन्दते त्रिंशे पर्वं किं कर्णगे निन्द श्रुत्वाद्य कर् त्रिया ! ॥ २२ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुन हि चिन्वेत दिवाकरस्य गतिर्निन्द्या गगनेचरस्य ।
रदिन्तः कुम्भभयं समस्य होमायसाने वचनं वभाषे ॥ २३ ॥
समागतोऽहं द्विज दूरतस्त्वां कुरुष्व मामुद्धरणं मुनीन्द्र ।
ददस्व दातं मम यन्मनीषितं चरामि येन त्रिदिशेषु निवृत्तः ॥ २४ ॥
इत्थं दिवाकरस्यो गुणसंप्रयोगि श्रुत्वा तदा कलशजो वचनं वभाषे ।
दातं ददामि तव यन्मनसस्त्वभीष्टं नार्थी प्रयाति विमुक्तो मम कश्चिद्वच ॥ २५ ॥
श्रुत्वा वचोऽस्मृतमयं कलशोद्भवस्य प्राह प्रभुः करतले विनिधाय मूर्ध्नि ।
पयोऽद्य मे गिरिवरः प्ररुणद्धि मार्गं विन्ध्यस्य निम्नकरणे भगवन् यतस्व ॥ २६ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—प्राचीनकालमें विन्ध्यपर्वतने (अपने ऊँचे शिखरोंसे) आकाशचारी सूर्यकी गतिके
वचन द्या दिया था । तब सूर्यने महर्षि अगस्त्यके पास जाकर होमके अन्तमें यह वचन कहा—द्विज ! मैं बहुत
दूरसे आके पास आया हूँ । मुनिश्रेष्ठ ! आप मेरा उद्धार करें । मुझे अभीष्ट प्रदान करें, जिससे मैं निश्चित
होकर आकाशमें विचरण कर सकूँ । इस प्रकार सूर्यके मन्त्र वचनोंको सुनकर अगस्त्यजी बोले—मैं आपकी
अभीष्ट यस्तु प्रदान करूँगा । मेरे पासमे कोई भी याचक विमुक्त होकर नहीं जाता । अगस्त्यजीकी अमृतमयी
बागी सुन करके सिगर दोनों हाथ जोड़कर सूर्यने कहा—भगवन् ! यह पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य आज मेरा मार्ग
रोक रहा है, अतः आप इसे नीचा करनेका प्रयत्न करें ॥ २३-२६ ॥

इति रविवचनादथाह कुम्भजन्मा हतमिति विद्धि मया हि नीचनृद्धम् ।
तव किरणजितो भविष्यते महोघ्रो मम चरणसमाश्रितस्य का व्यथा ते ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा कलशोद्भवस्तु सूर्ये हि संस्तूय विनम्य भक्त्या ।
जगाम संन्यज्य हि दण्डकं हि विन्ध्याचलं वृद्धवपुर्महर्षिः ॥ २८ ॥
गत्वा वचः प्राह मुनिर्महोघ्रं यास्ये महार्तीयवरं सुपुण्यम् ।
वृक्षोऽस्म्यशक्तश्च तथाधिरोहुं तस्माद् भवान् नीचतरपोऽस्तु सद्यः ॥ २९ ॥
इत्येवमुक्तो मुनिरत्तमेन स नीचनृद्धस्त्वभवन्महोघ्रः ।
समाकमचापि महर्षिमुण्यः प्रोल्लङ्घ्य विन्ध्यं त्विदमाह शैलम् ॥ ३० ॥

सूर्यकी वच सुनकर अगस्त्यजीने कहा—सूर्यदेव ! विन्ध्यको आप मेरे द्वारा नीचा किया हुआ ही समझें । यह
पर्वत आपका किरणोंमें पराजित हो जाकर । मेरे चरणोंके अश्रय लेंगेपर आपको अब व्यथा कौसी ! वृद्ध शरीरको
महर्षि अगस्त्यजी ऐसे कहकर विनम्रतापूर्वक भक्तिमें सूर्यकी स्तुति करनेके बाद दण्डकको छोड़कर विन्ध्यपर्वतके
निष्ठ चले गये । वहाँ जाकर मुनिने पर्वतमें कहा—पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य ! मैं अत्यन्त पवित्र महार्तीयको जा रहा हूँ ।
मैं गूढ हॉन्में तुम्हारे ऊपर चढ़नेमें अमर्ष हूँ; अतः तुम तत्काल नीचा हो जाओ । मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके ऐसे
वचनपर विन्ध्य पर्वत निम्न शिखरवाला हो गया । तब महर्षिश्रेष्ठ (अगस्त्यजी) ने विन्ध्यपर्वतपर चढ़कर विन्ध्यको
राज का किया था; तब उसमें यह कहा— ॥ २७-३० ॥

यावत् भूयो निजमायजामि महाधर्मं धौनवपु सुवार्त्तान् ।
 त्वया न तात्रत्विह वर्धितव्यं नो चेद् विशास्वेषुऽहमवक्ष्याते ॥ ३१ ॥
 इत्येगमुक्त्वा भगवाज्जगाम दिशः स यास्या महमाऽन्तरिक्षम् ।
 आक्रम्य तस्यां स हि ता तदाशा शाले वचाम्यन यदा मुनीन्द्रः ॥ ३२ ॥
 तत्राश्रमं रम्यतरं हि एषा सद्युद्धजाम्भूतदत्तोरणात्तम् ।
 तत्राथ निक्षिप्य विद्भंषुर्ना स्वमाश्रमं सौम्यमुपाजगाम ॥ ३३ ॥
 ऋतावृत्तौ पर्यशालेषु नित्यं तमन्वरे हाप्रममाजसत् स ।
 शेषं च शालं स हि दण्डकस्थस्तपश्चचारामिभिरातिमान् मुनि ॥ ३४ ॥

मै जन्तक पत्रित तारसे स्नान करक पुन अपन महान् आश्रम न च्छेत्, तन्वरे तु हे नहा वदना चाहिये, अन्यथा अत्रज्ञा करनक करग मे तुष्टे घोर शप ड दूगा । 'मै उक्ति मनपसे किं ज उँग'—गगा नदकर भगवान् जगस्य सहस्र दक्षिण दिशाका ओर चके गये तथा उमी दिगम गड गय । मुनिने वशु विशुद्ध स्वर्गिम तोरग वके अनि रगगाय आश्रमका रचना रा एव उमम निर्भुया येवानुद्राको गगन मध्य अपने आश्रमो चक्र गय । अथत प्रकाशमान मुनि विभिन्न ऋतुश्रम पर्यं (चतुर्था, १२वा, १३वा तथा, पूर्वाभा निधियो तथा रवि-सन्नाति, सूर्योदय एव च द्रष्टव्य) क सत्य निर गम्यते नि-पन ज-प्रममे निरम करने लगे । शेष समन दण्डक गहका तप करने ओ ॥ ३१-३४ ॥

विन्ध्योऽपि दृष्ट्वा गगने महाश्रमं वृद्धिं न यावत् भगवान् ॥
 नासौ निवृत्तेति मतिं विधाय स मन्थितो नाचवगाद्रुद्धः ॥ ३५ ॥
 एव त्वगस्थेन महाबलन्द्र स नाचवृद्धिं दि क्तं नदरे ।
 तस्योर्ध्वगृहं मुनिस्तनुता सा दुर्गा स्थिग शतमन्त्रान् ॥ ३६ ॥
 देवाश्च सिद्धाश्च महोरगाश्च विद्याया भूवाप्यस्य ॥
 सर्वास्त्रोभिः प्रतियामयन्त सायादने तस्युत्तमका १०० ॥

॥ इति धावामनपुराण अष्टादशाऽऽन ४१८ ॥

विन्ध्यपर्वत भा आश्रमम मन् तश्रमको दगपर मर्दने न्ते नदी ---
 समझकर वह अपना शिवा नाचा मय ह । म भा ऐसे हा निन ह । ह मर्दो ---
 परंतु राज वि-यको नाचा नग मय । उमाक अथवाक ऊपर मुनिने म्नुन ह ---
 स्थिन हुई ओर देवा, सिद्ध म नाम नसा गाक सहित विद्याया भूवाप्यस्य ---
 करते हुए नि शोक होकर उनका मक रहन ओ ॥ ३५-३६ ॥

॥ इस प्रकार धावामनपुराणम अष्टादशोऽऽन प्रकर कवन हुन ॥

[अथैकीनविंशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उव

तनस्तु ता नव तदा वमन्तीं चरन्तीं
 नपश्यता शन्यन्तमो हा चण्डश्च मुण्डश्च
 दृष्ट्वा शन्यन्तमो शीघ्रमाचक्षुः

स्वस्थो भवान् किं त्वसुरेन्द्र साम्प्रतमागच्छ पश्याम च तत्र विन्ध्यम् ।
 तत्रास्ति देवी सुमहानुभावा कन्या सुररूपा सुरसुन्दरीणाम् ॥ ३ ॥
 जिनास्तया तोयधराऽलकैर्हि जितः शशाङ्को वदनेन तन्ध्या ।
 नैत्रैस्त्रिभिर्स्त्रीणि हुनाशनानि जितानि कण्ठेन जितस्तु शङ्खः ॥ ४ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चण्ड-मुण्डद्वारा महिपासुरसे भगवती कात्यायनीके सौन्दर्यका वर्णन, महिपासुरका संदेश और युद्धोपक्रम)

दुलस्यजीने कहा—उसके बाद उस श्रेष्ठ पर्वतशिखरपर निवास करनेवाली उन तपस्विनी कात्यायनी-
 (दुर्गा) को चण्ड और मुण्ड नामके दो श्रेष्ठ दानवोंने देखा और देखते ही पर्वतसे उतरकर वे दोनों असुर
 अपने घर चले गये । फिर उन दोनों दूतोंने दैत्यराज महिपासुरके निकट जाकर कहा—असुरेन्द्र ! आप इस समय
 स्वयं तो हैं ? आइये, हमको विन्ध्यपर्वतपर चलकर देखें; वहाँ सुर-सुन्दरियोंमें अत्यन्त सुन्दर, श्रेष्ठ लक्षणोंसे
 युक्त एक कन्या है । उस तन्वी- (मूकमदेहवाली) ने केशपाशके द्वारा मेघोंको, मुखके द्वारा चन्द्रमाको, तीन
 नेत्रोंद्वारा तीनों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आचहनीय) अग्नियोंको और कण्ठके द्वारा शङ्खको जीत लिया है (—इसकी
 शोभा और तेजसे ये फीके पड़ गये हैं) ॥ १-४ ॥

स्तनौ सुवृत्तावथ मग्नचूचुकां स्थितौ विजित्येव गजस्य कुम्भौ ।
 त्वां सर्वजेतारमिति प्रतर्क्य कुचौ स्मरेणैव कृतौ सुदुर्गौ ॥ ५ ॥
 पीनाः सशस्त्राः परिघोपमाश्च भुजास्तथाऽष्टादश भान्ति तस्याः ।
 पराक्रमं वै भवतो विदित्वा कामेन यन्त्रा इव ते कृतास्तु ॥ ६ ॥
 मध्यं च तस्यास्त्रिवलीतरङ्गं विभाति दैत्येन्द्र सुरोमराजि ।
 भयानुरारोहणकातरस्य कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ७ ॥
 सा रोमराजो सुतरां हि तस्या विराजते पीनकुचावलग्ना ।
 आरोहणे न्वद्भयकातरस्य स्वेदप्रवाहोऽसुर मन्मथस्य ॥ ८ ॥

उसके मग्न चूचुक्वाले वृत्त- (सुडौल गोल) स्तन हाथीके गण्डस्थलोंको मात कर रहे हैं । मात्स्य होता है कि
 कामदेवने अपनेको सर्वविजयी समझकर आपको परास्त करनेके लिये उसके दो कुचरूपी दो दुर्गोंकी रचना की है ।
 उसको मोक्ष परिवेके समान मग्न अग्रह भुजाएँ इस प्रकार सुशोभित हो रही हैं, मानो आपका पराक्रम
 जनक कामदेवने यन्त्रके समान उसका निर्माण किया है । दैत्येन्द्र ! त्रिवलीसे तरङ्गायमान उसकी कमर इस
 प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो वह मयान तथा अर्धर कामदेवका आरोहण करनेके लिये सोपान हो ।
 असुर ! उसके पीन कुचोंतककी वह रोमावृत्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो आरोहण करनेमें
 आपके नयने कातर कामदेवका स्वेद-प्रवाह हो ॥ ५-८ ॥

नाभिर्गर्भारा सुतरां विभाति प्रदक्षिणाऽस्याः परिवर्त्तमाना ।
 तस्यैव लावण्यगृहस्य मुद्रा कन्दर्पराजा स्वयमेव दत्ता ॥ ९ ॥
 विभाति रम्यं जघनं मृगाद्याः समन्ततो मेखलयाऽवजुष्टम् ।
 मन्याम तं कामनराधिपस्य प्राकारगुप्तं नगरं सुदुर्गम् ॥ १० ॥
 वृत्तावगमौ च मृदू कुमार्याः शोभेन ऊरु समनुत्तमौ हि ।
 धावासनार्य मकरध्वजन जनस्य देशाविव सन्निविष्टौ ॥ ११ ॥

तज्जानुयुग्मं महिपासुरेन्द्र अर्द्धान्तं भानि तयैव तस्य ।

दृष्ट्वा विधाता हि निरूपणाय श्रान्तस्ताया हस्ततले ददौ हि ॥ १२ ॥

उसकी गम्भीर दृष्टिगार्जन नामि ऐसी लगती है, मानो कन्दर्पने स्वयं ही उस सौन्दर्यगृहके ऊपर मुहर लगा दी है। चारों ओर भेगवतीसे आवेष्टित उस मृगनयनीका रमणीय जघन सुशोभित हो रहा है। उसे हम राजा कानन्य प्राकारसे (चहार दीवारियोंसे) गुप्त (सुरक्षित) दुर्गम नगर मानते हैं। उस कुनारीके वृत्ताकार रोमरहित, कोमल तथा उसम ऊर्ध्व इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, मानो कामदेवने मनुष्योंके निरमके त्रिपे दो रेणुके सञ्जिवेदा किया है। महिपासुरेन्द्र ! उसके अर्द्धान्त जनुयुग्म इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानो उसका रचना करनेके बाद यके विधाताने निरूपण करनेके त्रिपे अपना कर्तव्य ही स्थापित कर दिया हो ॥ ९-१२ ॥

जह्ने सुवृत्तेऽपि च रोमहीने शोभेन दैत्येश्वर ते तदप्ये ।

आक्रम्य लोकानिव निर्मिताया रूपाङ्गितस्यैव कृताधरो हि ॥ १३ ॥

पादौ च तस्याः कमलोदराभौ प्रयत्नतस्तौ हि कृता विधाता ।

आरुपि ताभ्यां नखरत्नमाला नक्षत्रमाला गगने यवैव ॥ १४ ॥

एवंस्वरूपा दनुनाय कन्या महोप्रशस्त्राणि च धारयन्तो ।

दृष्ट्वा यथेष्टं न च विन्न का सा सुताऽथय कस्यचिदेव धाला ॥ १५ ॥

तद्भूतले रत्नमनुत्तमं स्थितं स्वर्गं परित्यज्य महाऽसुरेन्द्र ।

गत्वाऽथ विन्ध्यं स्वयमेव पदय कुरुष्व यत् तेऽभिमतं क्षमं च ॥ १६ ॥

दैत्येश्वर ! उसकी सुवृत्त तथा रोमहीन दोनों जंघारों इस प्रकार सुशोभित हो रही हैं, मानो लोकोत्तर (दिव्य) निर्मित की गयी नायिकाके रूपके द्वारा पराजित की गयी हैं। विधाताने प्रयत्नपूर्वक उसके कमजोरके समान कान्तिकाले दोनों पैरोंका निर्माण किया है। उन्होंने कात्यायनीके उन चरणोंके नखरूपी रत्नशृङ्खलाको इस प्रकार प्रकाशित किया है मानो वह आकाशमें नक्षत्रोंकी माला हो। दैत्येश्वर ! वह कन्या वड़ आर भयानक शस्त्रोंको धारण किये हुए है। उसे मलयोर्माँति देखकर भी हम यह न जान सके कि वह कौन है तथा किन्हीं पुत्री या स्त्री है। महासुरेन्द्र ! वह स्वर्गका परित्यग कर भूतलमें स्थित श्रेष्ठरत्न है। आप स्वयं विन्ध्यपर्वतपर जाकर उसे देखें तथा जो आपकी इच्छा एवं सामर्थ्य हो वह करें ॥ १३-१६ ॥

श्रुत्वैव ताभ्यां महिपासुरस्तु देव्याः प्रवृत्तिं कमनोरूपाम् ।

चक्रे मतिं नाम विचारमस्ति इत्येवमुक्त्वा महिपोऽपि नास्ति ॥ १७ ॥

प्रागेव पुंसस्तु शुभाशुभानि स्थाने विधात्रा प्रतिपादितानि ।

यस्मिन् यथा यानि यतोऽथ विप्र स नाथते वा प्रजति स्वयं वा ॥ १८ ॥

ततानु मुण्डं नमरं सवण्डं विडालनेत्रं सपिशङ्गाफलम् ।

उग्रायुधं चिक्षुररक्तबीजौ समादिदेशाय महासुरेन्द्रः ॥ १९ ॥

श्राहृत्य भेरं रणकक्रंशास्ते स्वर्गं परित्यज्य महाधरं तु ।

आगम्य मूले शिविरं निपेद्य तस्युथ सञ्जा दनुनन्दनास्ते ॥ २० ॥

उन दोनों दूतोंसे कात्यायनाक आकरक सौन्दर्यकी बात सुनकर महिपने इस विषयमें कुछ भी विचारता नहीं है—यह कहकर जानेका निश्चय किया। इस प्रकार मानो महिपका अन्त ही आ गया। मनुष्यक शुभाशुभको ज्ञानने पहलेसे ही निर्धारित कर रखा है। जिस व्यक्तिसे जहाँपर या जहाँसे जिस प्रकार जो कुछ भी शुभाशुभ

परिणाम होनेवाला होता है, वह वहां ले जाया जाता है या नश्य चक्र जाता है। फिर महिम्ने मुण्ड, नमर, चण्ड, विदालनेत्र, विदागतेनाथ बाणकण्ड, उग्रायुध, चिक्षुर और रक्तवीजको आज्ञा दी। वे सभी दानव रणकर्कश भेरियो वजाकर, स्वर्गको छोड़कर उस पर्वतके निकट आ गये और उनके मूठमें मेनाके दंतोंका पड़ाव डालकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १७-२० ॥

ततस्तु दैव्या महिषासुरेण नम्रेपितो दानवयूथपालः ।
 मयस्य पुत्रो गिपुसैन्यमर्दो स दुन्दुभिर्दुन्दुभित्तिस्वनस्तु ॥ २१ ॥
 अभ्येन्य देवां गगनस्थिनोऽपि स दुन्दुभिर्वाक्यमुवाच विप्र ।
 कुमारि दूतोऽसि महानुरस्य रम्भात्मजस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ २२ ॥
 कान्यायनी दुन्दुभिमभ्युवाच पद्मेहि दैत्येन्द्र भयं विमुच्य ।
 वाक्यं च यद्रम्भसुतो वभापे वदस्व तन्मन्यमपेतमाहः ॥ २३ ॥
 तथोक्तवाक्ये दिनिजः शिवायास्यज्यास्वरं भूमितले निपण्णः ।
 सुखोपविष्टः परमात्मने च रम्भात्मजेनोक्तमुवाच वाक्यम् ॥ २४ ॥

तपश्चात् महिषासुरेण देवीके पाम धीमेकी ध्वनिकी भांति उच्च और गम्भीर ध्वनिमें बोल्नेवाले तथा शत्रुओंकी सेनाओंके समूहोंका मर्दन करनेवाले दानवोंके मेनापति मयपुत्र दुन्दुभिको भेजा। नारदजी ! दुन्दुभिने देवीके पाम पहंचकर आकाशमें स्थित होकर उनसे यह वाक्य कहा—हे कुमार ! मैं महान् असुर रम्भके पुत्र महिषका दूत हूँ। वर युद्धमें अद्वितीय वीर है। इसपर कान्यायनीने दुन्दुभिसे कहा—दैत्येन्द्र ! तुम निडर होकर इधर आओ और रम्भपुत्रने जो वचन कहा है, उसे निश्चयभावसे टीका-टीका कहो। दुर्गाके इस प्रकार कहनेपर यह दैत्य आकाशमें उतरकर पृथ्वीपर आया और सुन्दर आसनपर सुव्यपर्वक बैठकर महिषके वचनोंको इस प्रकार कहने लगा—॥ २१-२४ ॥

दुन्दुभिस्वाच

पवं समाशपयते मुगरिस्त्वां देवि दैव्या महिषानुरस्तु ।
 यथामग हीनबलाः पृथिव्यां भ्रमन्ति युद्धे विजिता मया ते ॥ २५ ॥
 नगो मही वायुपथाश्च वश्याः पातालमन्ये च महेश्वराद्याः ।
 इन्द्रोऽस्मि रुद्रोऽस्मि दिवाकरोऽस्मि सर्वेषु लोकप्रधिपोऽस्मि वाल ॥ २६ ॥
 न सोऽस्ति नाके न महीतले वा रसातले देवभद्रोऽसुरो वा ।
 को मां हि संयाममुपेयिवांस्तु भूतो न यशो न जिर्जायिपुयः ॥ २७ ॥
 यान्येव रत्नानि महीतले वा स्वर्गेऽपि पातालतलेऽथ मुग्धे ।
 सर्वाणि मामथ संप्रागतानि वीर्याजितानोह विजालनेत्रे ॥ २८ ॥
 नीरजमर्थं भवतां च कन्या प्रातोऽस्मि जैले तव कारणेन ।
 तस्माद् भजस्वैव जगत्पति मां पतिस्तवाहोऽस्मि विभुः प्रभुश्च ॥ २९ ॥

दुन्दुभि बोला—देवि ! असुर महिम्ने तुम्हें वर अवगत कराया है कि मेरे द्वारा युद्धमें पराजित हुए निर्विकल देवताके पुत्रोंपर नमस्कार कर रहे हैं। हे बाले ! स्वर्ग, पृथ्वी, वायुमर्ग, पाताल और शंकर आदि देवगण सभी मेरे शक्ति हैं। मैं ही इन्द्र, रुद्र, एवं सर्व हूँ तथा मनी लोकोंका स्वामी हूँ। स्वर्ग, पृथ्वी या रसातलमें जीवित रम्भके पुत्रोंका नाम कौन देवे, असुर, भूत या वज्र योंका नहीं हुआ जो युद्धमें मेरे सामने आ सकता हो।

(और भी सुनो) प्रणी, स्वर्ग या पातागमें चितने भी रत्न है, उन सबको मैंने अपने पात्रममे जीत लिया है और अब वे मेरे पास जा गये हैं । अतः अजोध गात्रिे ! तुम रुला हो और लीलांनोमि श्रेय हो । मैं तुम्हारे लिये इम परतपर आया हूँ । इमलिये मुझ चण्डपत्नियो तुम लीलांग करो । मैं तुम्हारे योग्य मर्या मर्मा पति हूँ ॥२५-२०॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा द्वितिजेन दुर्गा कायायनी शह मयस्य पुत्रम् ।
 मयं प्रभुर्दानवराट् पृथिव्यां मयं च युद्धे विजितामगश्च ॥ ३० ॥
 किं तस्मिन् दैत्येऽ कुलेऽस्मद्दोषे धर्मो हि शुल्काप्य इति प्रसिद्धः ।
 नं चैत् प्रदयामहिये ममात् भजामि मय्येन पतिं हयागिम् ॥ ३१ ॥
 श्रुत्वाऽथ वाक्यं मयजेऽप्राञ्च्य शूरं चक्षाम्पुत्रपत्नेः ।
 दयात्समूर्धानमपि त्वदयं किं नाम शुल्कं यदिहैव लभ्यम् ॥ ३० ॥

पुलस्त्यजीने कहा—उस दैत्यके पेसा रहतेपर दुर्गाजीने दन्दुभिने कहा—(अमुदूत) य मय है कि दानराट मलिय पृथीम मपर्य ह ण यद भी मय ह कि उनमे युद्धमे देवताओसो जीत लिया है, मितु दैत्येऽ ' हमारे कुलमे (विनाहक नियममें) शुल्क नामकी एक प्रभ प्रचलित ह । यदि मलिय जान मुझे यह प्रदान करे तो सयगलमे (मचमुच) मैं उमे पतिरूपमें स्वीकार कर दूँगी । म यक्यसो सुनकर दन्दुभिने कहा— (अद्य) रूपयराति ! तुम यह शुल्क नयओ । मलिय तो तुम्हारे लिये अपना मिग भी प्रदान कर सकता है, शुल्ककी तो बात ही क्या, जो यहाँ ही निठ सकता है ॥ ३०-३२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा दनुनायकेन कात्यायनो मन्त्रपनमुन्नदिष्या ।
 विहस्य नैतद्वचनं पभापे हिताय मयस्य चराचरम् ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजीने बोले—दनुनायक दन्दुभिने पेसा रहतेपर दुर्गाजीने उच्च मन्त्रे गवने कर हँसे हुए समस्त चराचर जलयागाय यह वचन कहा— ॥ ३३ ॥

श्रीदेव्युवाच

कुलेऽस्मद्दोषे शृणु दैत्य शूरं त्वं हि यपूर्वतरैः प्रमहा ।
 यो जेयतेऽस्मत्पुत्रजां रणाग्रे तस्या म भर्ताऽपि भविष्यतीति ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—दैत्य ! पूर्वजने इस कुलमे जो शुल्क जो देग निर्माति लिया है, उसे सुनो । (वह यह है कि) हमारे कुलमे उपायन जन्मासो जो युद्धमें जीतेगा, वही उमका पति होगा ॥ ३४ ॥

पुलस्त्य उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं देव्या दन्दुभिर्दानवेदयः । गवा निरेदयामास महिषाय यथातथम् ॥ ३५ ॥
 स चाभ्यगात्सहोतेजा मरुद्वैत्यपुरःसरः । आग य विन्ध्यशिखरं योद्ध नाम मरुस्वतीम् ॥ ३६ ॥
 तत सेनापतिर्दैत्यश्चिभुरो नाम नारदः । सेनाप्रगामिनं चक्रे नमरं नाम दानवम् ॥ ३७ ॥
 स चापि तेनाधिरुतश्चतुर्हं समूर्जितम् । बलैरुदेदामाशय दुर्गां बुद्राय वेगिनः ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—देवीजी यह बात सुनकर दन्दुभिने जाकर महिषासुरसे इम बातसो ज्यों-क्यों निवेदित कर दिया । उम महातेनर्धी देयने सभी दैत्योके सा । (युद्धमें देवीसो पवचितकर उमका पति बननेके लिये) प्रयाण किया एव सरस्वती (दवी) से युद्ध करनेकी इच्छामे किल्याचर परमार पहुँच गया ।

उसके पश्चात् सेनापति चिक्षुर नामक दैत्यने नमर नामके दैत्यको सेनाके आगे चलनेका निर्देश दिया । और यह भी महान बन्दी उमर उमरे निर्देश पाकर बलशाली चतुरंगिणी सेनाकी एक लड़ाकू टुकड़ीको लेकर वेगपूर्वक दुर्गाजीपर धावा बोल दिया ॥ ३५-३८ ॥

तमापतन्तं नोद्व्याथ देव्या ब्रह्मपुरोगमाः । ऊर्चुर्वाक्यं महादेवीं वर्म ह्यावथ चाम्बिके ॥ ३९ ॥
अथोवाच मुगन् दुर्गा नाहं वध्नामि देवताः । कवचं कोऽत्र संतिष्ठेत् ममाग्रे दानवाधमः ॥ ४० ॥
यदा न देव्या कवचं कृतं शक्यनियर्हणम् । तदा रक्षार्थमस्यास्तु विष्णुपञ्जरमुक्त्वान् ॥ ४१ ॥
सा तेन रक्षिता ब्रह्मन् दुर्गा दानवमत्तमम् । अवध्यं देवतैः सर्वैर्महिषं प्रत्यपीडयत् ॥ ४२ ॥

एवं पुरा देववरेण शंभुना तद्ग्रेण्यं पञ्जरमायताक्ष्याः ।
प्रोक्तं तथा चापि हि पादघातैर्निपूदिनोऽसौ महिषामुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥
एवंवभागे द्विज विष्णुपञ्जरः सर्वासु रक्षास्वधिको हि गीतः ।
कस्त्वय कुर्वोद् युधि दर्पितानि यम्य स्थिरश्चेत्तसि चक्रपाणिः ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे षष्ठोऽध्यायः ॥ १९ ॥

उमे आते देवकार ब्रह्मा आदि देवताओंने महादेवीसे कहा—अम्बिके ! आप कवच बाँध लें । उसके बाद देवीने देवताओंसे कहा—देवगण ! मैं कवच नहीं बाँधूँगी । मेरे सामने ऐसा कौन अधम दानव है जो यहाँ युद्धमें उदर सके ! जब देवीने शक्य-नियारक कवच न पहना तो उनकी रक्षाके लिये देवताओंने (पूर्वोक्त) विष्णु-पञ्जरस्वोत्र पढ़ा । ब्रह्मन् ! उसने रक्षित होकर दुर्गाने समस्त देवताओंके द्वारा अवध्य दानव-श्रेष्ठ महिषासुरको मृत पीड़ित किया । उस प्रकार पहले देवश्रेष्ठ शंभुने बड़े नेत्रोंवाली- (कात्यायनी-) से उस वैष्णवपञ्जरको कहा था, उमीके प्रभावसे उमीने (देवीने) भी पैरोंसे मारकर उस महिषासुरका कचूमर निकाल दिया । द्विज ! इस प्रकारके प्रभावसे एक विष्णुपञ्जर समस्त रक्षाकारी- (स्त्री-) में श्रेष्ठ कहा गया है । वस्तुतः जिसके वित्तमें चक्रपाणि हि । में, यद्धमें उमके अभिमानको कौन नष्ट कर सकता है ॥ ३९-४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥



[अथ विंशोऽध्यायः]

नारद उवाच

कथं कृत्यासती देवीं स्नानुगं महिषामुरम् । नवाहनं हतवती तथा विस्तरतो वद ॥ १ ॥

एतद्य स्वर्ग्यं ब्रह्मन् हृदि मे परिवर्तते । विद्यमानेषु शस्त्रेषु यत्पदभ्यां तममर्दयन् ॥ २ ॥

श्रीमया अध्याय प्रारम्भ

(भगवन् ॥ १ ॥ जोका देवीके साथ गुल्फ; महिषासुर-वध एवं देवीका शिवजीके पादमूलमें लीन हो जाना)

नारदजीने पूछा— (पुनरुपजी !) दुर्गादेवीने सेना एवं वाहनके मण्डित महिषासुरको किस प्रकार मार डाला, इसे शर-शय्यामें कर्ते । मेरे मनमें यह शंका पर कर गयी है कि शत्रुके विद्यमान होने हुए भी देवीने पीतसे ही इसे क्यों मारा ? ॥ १-२ ॥

पुण्डरीक उवाच

शृणुष्वसर्तितो भुजा कथामेतां पुरातनोम् । वृत्तां देवयुगम्यादां पुण्यां पापभयापहाम् ॥ ३ ॥

एवं वा नमसः कृतः समारतन वेगवान् । समजाय्वरथो ब्रह्मन् हृष्टो देव्या यथेच्छया ॥ ४ ॥

ततो दानवर्षदैत्यः समानम्याय कामुकम् । चवर्ष शैलं धारणैर्वैरिचामुद्वृष्टिभिः ॥ ५ ॥

शरणागतं तस्य तिलोक्ष्यादि समावृतम् । मृदा भगवती वेगव्यानवर्षात्

[फिर नारदजीके प्रस्नको सुनकर] पुलस्त्यजीने कहा—नारदजी ! देवयुगके आदिमें घटित तथा पाप एवं भयको दूर करनेवाली इस प्राचीन एवं पवित्र कथामें आप सावधान होकर सुनिये । एक बार इसी प्रकार (अर्थात्) पूर्ववर्णित रीतिसे क्रुद्ध होकर नमरने भी हाथी, घोड़े और रथोंके साथ वेगपूर्वक देवीके ऊपर आक्रमण कर दिया था । फिर देवीने भी उसे भलीभाँति देखा । इसके बाद दैत्यने अपने धनुषको झुकाकर (चढ़ाकर) त्रिव्य पर्वतके ऊपर इस प्रकारसे वाण-शर्मा की जैसे आक्रान्तिसे बादल (उसर) धारा-प्रवाह (मूसलमार) जलवृष्टि करता ही । उसका बाद उस दैत्यकी जाग-वसि पर्वतको सर्वथा ढना देखकर देवीको बड़ा क्रोध हुआ और तब उन्होंने वेगपूर्वक शूट मिसाइल धनुषको चढ़ा लिया ॥ ३-६ ॥

तद्धनुर्दानवे सैन्ये दुर्गया नम्रितं वलात् । सुवर्णपृष्ठं वियभौ विद्युद्भ्रुधरेऽप्यिव ॥ ७ ॥
वाणै सुररिपूनन्यान् खड्गेनान्यान् शुभ्रवत् । गद्या मुसलेनान्यांश्चमेषाऽन्यान्पातयत् ॥ ८ ॥
एकोऽप्यसौ यहन् देव्या वेसरी काऽसंनिभ । विधुन्वन् केसरसटा निपूद्यति दानयान् ॥ ९ ॥
कुलिशाभिहता दैत्या शक्त्या निर्भिन्नवक्षस । लाङ्गलैदारितम्रीवा विनिहृत्ता परश्वधै ॥ १० ॥
दण्डनिर्भिन्नशिरसश्चक्रविच्छिन्नन्धना । चेत्तु पेतुश्च मन्लुब्ध तत्यजुश्चापरे रणम् ॥ ११ ॥

श्रीदुर्गाजीद्वारा चढ़ाया गया सोनेकी पीठवाला वह धनुष दानवी-सेनामें इस प्रकार चमका जैसे बादलोंमें बिजली चमकती है । शुभ व्रतवाले श्रीनारदजी ! श्रीदुर्गाजीने कुछ दैत्योंको बाणोंसे, कुछको तलवारसे, कुछको गदासे, कुछको मुसलसे और कुछ दैत्योंको ढाल चलाकर ही मार डाला । कालके समान देवीके सिंहने (भी) अपनी गर्दनके बालोंको झाड़ते हुए अनेक ही अनेकों दैत्योंका संहार कर टाला । देवीने कुछ दैत्योंको वज्रसे आहत कर दिया तथा कुछ दैत्योंके शस्त्रको शक्तिसे फाड़ डाला, कुछके गर्दनको हलसे निरीक्षण कर कुछको फरसेसे काट डाला, कुछके सिरको दण्डसे फोड़ दिया तथा कुछ दैत्योंके शरीरके सपि-स्थानोंको चमसे छिन छिन कर दिया । कुछ पहले ही चढ़े गये, कुछ गिर गये, कुछ मूर्छित हो गये और कुछ युद्धभूमि छोड़कर भाग गये ॥ ७-११ ॥

ते वध्यमाना रौद्रया दुर्गया दैत्यदानया । कालरात्रिं मन्थमाना ह्रुदुर्भयपंडिता ॥ १२ ॥
सैन्याग्रं भग्नमालोक्य दुर्गामग्रे तथा स्थिताम् । हृष्ट्या जगाम नमरो मत्तुऽन्तरसस्थित ॥ १३ ॥
समागम्य च वेगेन देव्या शक्तिं मुमोच ह । निशूलमपि सिंहाय प्राहिणोद् दानवो रणे ॥ १४ ॥
तायापतन्तौ देव्या तु हकारेणाय भस्मसात् । वृतायथ गजेन्द्रेण गृहीतो मध्यमे हरि ॥ १५ ॥

भयकर रूपवाली दुर्गाद्वारा मारे जा रहे दैत्य एवं दानव भयसे व्याकुल हो गये तथा वे उन्हें कालरात्रिके समान मानते हुए डरसे भाग चढ़े । सेनाक अग्र (प्रधान) भागको नष्ट तथा अपने सम्मुख दुर्गको स्थित दानव नमर मतवाले हाथीपर चढ़कर आगे आया । उस दानवने युद्धमें देवीके ऊपर शक्तिमें कमतर प्रहार किया एवं सिंहके ऊपर विशूत्र चलाया । (त्रितु) देवीने उन दोनों अश्वोंको आते देव हुनारसे ही उन्हें भस्म कर डाला । इधर नमरके हाथीने (सूँड़से) सिंघनी कमर पकड़ ली ॥ १२-१५ ॥

अयोत्पत्य च वेगेन तलेनाहत्य दानवम् । गतासु कुञ्जरस्त्रधात् क्षिप्यदेव्यै निवेदित ॥ १६ ॥
गृहीत्या दानवं मध्ये ब्रह्मन् वायायना । सव्येन पाणिना भ्राम्य चादयत् पटहं यथा ॥ १७ ॥
ततोऽष्टहासं मुमुचे तादृशे वाद्यता गते । हास्यात् समुद्रवंस्तस्या भूतानानाधिधाऽद्भुता ॥ १८ ॥
केचिद् व्याघ्रमुखा रौद्रा घृकाकारास्तथा परे । हयास्या महिषासाश्च वराहवदना परे ॥ १९ ॥

उत्तर दिशि वेदीमें उल्टकर तम दातवको पंजेमें मारकर उसके प्राग ले लिये और हाथीके कंधेसे उसे नीचे गिराकर देवीके शीशे रख दिया । नारदजी ! देवी कात्यायनी क्रोधसे उस दैत्यको मध्यमें पकड़कर तथा बायें हाथमें पृष्ठाकर दोहके समान वज्रनि तर्जनी और उमे अपना बाजा बनाकर उन्होंने जोरसे अट्टहास किया । उनके संगमेंमें अनेक प्रकारके अद्भुत भूत उत्पन्न हो गये ! कोई-कोई (भूत) व्याघ्रके समान भयंकर मुखवाले थे, किसीकी आकृति भेड़ियेके समान थी, किसीका मुख बौड़ेके तुल्य और किसीका मुख जैसे-जैसा एवं किसीका मुखके समान मुँह था ॥ १६-१९ ॥

आयुक्त्व कुटुम्बकत्रयं गोऽजत्रिकमुखास्तथा । नानावक्रत्राभिचरणा नानामुध्वजस्तथा ॥ २० ॥
 गायन्त्यन्ये हसन्त्यन्ये रमन्त्यन्ये तु संग्रजः । वाद्यन्यपरे तत्र स्तुवन्त्यन्ये तथाश्विकाम् ॥ २१ ॥
 सा तैर्भूतगणैर्देवी साहं तद्दानवैः बलम् । ज्ञानयामास चाक्रम्य यथा सस्यं महाशनिः ॥ २२ ॥
 सेनाप्रे निरते नन्विन् तथा सेनाग्रगामिनि । चिश्रुगः सैन्यपालस्तु योधयामास देवताः ॥ २३ ॥

उत्ते मुँह चूहे, मुँगे (कुत्तुट), गव, बकरा और भेड़के मुखोंके समान थे । कई नाना प्रकारके मुख, शीश एवं चरणोंके भी तथा वे नाना प्रकारके आयुध धारण किये हुए थे । उनमें कुछ तो संग्रह बनाकर गाने लगे, कुछ संग्रह लगे और कुछ गाने करने लगे तथा कुछ बाजा बजाने लगे एवं कुछ देवीकी स्तुति करने लगे । देवीने उस भूतगणोंके साथ उस दातवसेनापर आक्रमण कर उमे इस प्रकार तहस-तहस कर दिया, जैसे भारी वज्रके समान ओलोंके गिरनेमें वेनीका संसार हो जाता है । इस प्रकार सेनाके अप्रभाग तथा सेनापतिके मारे जानेपर अब सेनापति चिक्षुर देवताओंमें निद्र गया—बुद्ध करने लगा ॥ २०-२३ ॥

कार्मुके गृहमाकर्णमाकृष्य स्थितां वरः । ववर्ष जग्जालानि यथा मेघो वसुन्धराम् ॥ २४ ॥
 नान् दुर्गा गजैर्द्विवा जग्मंशान् सुपर्वभिः । सौवर्णपुङ्गवानपराङ्गगाः जग्राह पंडित ॥ २५ ॥
 तनधनुर्भिधानुस्त्रुगज्ञानपि भामिनी । हत्वा सागरशिमंकेन ध्वजमेकेन चिच्छिन्दे ॥ २६ ॥
 तनस्तु सजरां चारं चिच्छिन्दैकपुणाऽश्विका । छिन्ने धनुषि खड्गं च चर्म चादत्तवान् बली ॥ २७ ॥

राशियोंमें क्षय उस दैत्यने अपने मंत्रधन धनुषको अपने कानोंतक चढ़ाकर उससे बाणोंकी इस प्रकार वर्षा की जैसे मेघ प्रसीर (घनघोर) जड़ बरसाने हैं । परंतु दुर्गाने भी सुन्दर पर्वों (गाँठों)वाले अपने बाणोंसे इन बाणोंके फटकार और क्षय भूतगणोंमें निमित्त पंखवाले सोलह बाणोंको अपने हाथोंमें ले लिया । उन्होंने क्रुद्ध होकर चार बाणोंमें उसमें चार बौड़ेके और एकमें नारथीको मारकर एक बाणसे उसको अजाके दो टुकड़े कर दिये । क्षिप्र ही अपने एक शरीर उससे अग्रमण्डित धनुषको काट डाला । धनुष काट जानेपर बलवान् चिक्षुरने क्रुद्ध और तहस-तहस करे ॥ २४-२७ ॥

तं गृहं चर्मणा चार्जं दैत्यस्यानुन्वतो बलान् । शरैश्चतुर्भिश्चिच्छेद ततः शूलं समाददे ॥ २८ ॥
 समुद्रधाम्य मदच्छले संसाद्रवश्यामिकाम् । क्रोष्टुको मुद्रितोऽरण्ये मृगराजवधूं यथा ॥ २९ ॥
 तस्याभिततः पादां कर्णं शीरं च पञ्चभिः । शरैश्चिच्छेद संकुद्धा न्यपतत्रिहताऽसुरः ॥ ३० ॥
 तस्मिन् सेनापती ध्रुष्के तदेवान्यो मयासुरः । समाद्रवत वेगेन कगलाभ्यश्च दानवः ॥ ३१ ॥

उस गृह और चर्मणको जोर लगाकर घुमा ही रहा था कि देवीने चार बाणोंसे उन्हें काट डाला । इसपर उस दैत्यने शूल ले लिया । अतएव उसने समुद्रतक अश्विकाकी ओर इस प्रकार दौड़ा जैसे वनमें सियार प्रसन्न होकर शिकारीकी ओर दौड़े । पर देवीने अस्त्र कृद्ध होकर पंच बाणोंसे उस असुरके दोनों हाथों, दोनों पैरों

एव मन्त्रसो वाट् वायु निम्ने यह । पुत्र मन्त्र नि । उम् । भावित् । नरा उपाय्य नामरा मन्त्र
 असुर त । नगगय्य नामरा नन्त्र—य तेना तनामे उनही ओ । नत् ॥ २१-२२ ॥

वाङ्मलश्चोन्नद्वैव उद्ग्रात्याग्रसामुम् । बुद्धरा मुन्त्रैः विनायनयनः ॥ ३० ॥
 एतेऽप्ये य महामाना दानरा गिना घरा । साययनमाद्रयन नानाशत्राध्यवागय ॥ ३३ ॥
 नान दृष्टा लाल्या दुर्गा वाणा जग्राह पाणिना । वाद्यामास हसता तया उमरुत् वम् ॥ ३५ ॥
 यया यया वाद्यते देवा वायानि तानि तु । तथा तथा भूतगणा न्ययति य हसति य ॥ ३ ॥
 नन्त्र उद्धत उद्धत उप्रसामरु र्द्वैर्, दुर्मुग् १११ विनाय—य तया । य नन्त्र अन्त यन
 एव श्रुत् तय गश्च गीर अथ य दृगारा ओ । नत् पड । य दान उ । तया । य यगपूर्व हा गौं नरा
 एव श्रुत् यन्त्र यद्वा हँमती य उ । यने नरी । येन यन शचाओ या न यनना नना ही यो या मना
 भूत भी नायत आर हस्त य ॥ ३२-३५ ॥

ततोऽसुरा शम्भुरग समभ्येय सरम्बताम् । अभ्यन्स्ताश्च नगा नेशेषु परमेश्वरा ॥ ३६ ॥
 प्रगृहा केदापु महासुरास्तान् उपय सिंहातु नगव्य सानुम् ।
 नमर्त वाणा परिव्रात्यता पपौ च पान नगना चतिया ॥ ३७ ॥
 तनस्तु दव्या रिनो महासुरा दार्दण्यनिधृतविशार्णदर्पा ।
 विभ्रस्तस्त्रा व्यसवद्य चाना तनस्तु तान् वाद्य महासरेन्द्रान् ॥ ३८ ॥
 देव्या महौना महिषासुरस्तु व्यद्रायद् भूतगणान् सुराग्रै ।
 तुण्डन पुच्छेन तथारम्भाऽन्याद् निश्वामगतेन य भूतसगान् ॥ ३९ ॥
 य सुरु शख यर महामरम्बताम्पा दुगाद पास चारर उनपर प्रहा कने गी । पर परमेश्वरान
 उनर गाराओ चोरन सा पत्त रिया । उन महासुरोंका वग पत्तयर तया सिन्धे उच्छर परत शृङ्गपर चारर
 नगजननी दुगा गी । चान करती हृड मधुपान करने गी । तया यान । इन ग्राहृण्येमे सभी असुरोंको
 मारकर उनर घमण्टको पूर कर लिया । उनर अब शगरसे किमर पड आर य प्रागर्हित हो गये । यह दपकर
 महाप्रग मण्डिपुसु अपन सुग अग्रभागन तुण्टसे पुच्छे, य मथ्यसे तया नि धास ययुसे दीर भूतगणोंको
 भगान गग ॥ ३६-३९ ॥

नादेन त्रेनाशनिसनिमेन विषाणकोन्त्या उपरान् प्रमव्य ।
 रुद्राय सिंह युधि हतुसाम तताऽगिरिना न यदा चाम ॥ ५० ॥
 नत स रुपाद् न नदगच्छ ह विभ्र गिरान् भूमिमशाणयच ।
 स रोभयस्तायनिधान् घनाश्च त्रिचसयन प्राद्रवनाऽ दुर्गाम् ॥ ५१ ॥
 सा चाय पाशन यय्य दुष्ट स चाप्यभूत् द्विरकृत् यगद्र ।
 कर प्रचिच्छद् च हस्तिनाऽप्र स गपि भूयो महिषाऽभिनात ॥ ५२ ॥
 ततोऽस्य शू व्यरुच नृडाना स शाणमूला न्यपतन् पृथियाम् ।
 शक्ति प्रविभप हुनाशदत्ता सा कुण्डिताप्रा न्यपत महप ॥ ५३ ॥

और अपन त्रिनगरी पडकर सनन नाट एव सींगरा नोकमे गप भूताओ व्यकुड कर रणवत्रों
 सिन्धे मारने लैडा । वसते अथिपारो यडा नोय हुआ । फिर य नद मण्डि । इन सुरीर सींगेसे चली
 चली परतों एव पृथीको चिनीग करने गग । य समुद्रको क्षुप करत तथा मगारो चित्र चित्र करते
 हुए दुर्गाओ ओ लैडा । इसर उन यान उम दुर्गको पागमे चँ रिया पर य नये मग्मे मीरे गैर

उसके दिग्गजों के उल्लास नगर दानवको पंजेमें गाकर उसके प्राग ले लिये और हाथीके कंधेसे उसे नीचे गिराकर देखीके आने लगा दिया । नागदजी ! देवी कात्यायनी क्रोधमें उस दैत्यको मध्यमें पकाडकर तथा शाये हाथमें गुणाकर दोड़के समान वज्राने लगी और उसे अपना बाजा बनाकर उन्होंने जोरमें अट्टहास किया । उनके समक्षमें अनेक प्रकारके अद्भुत भूत उत्पन्न हो गये ! कोई कोई (भूत) व्यावके समान भयंकर मुखवाले थे, किसीकी आकृति भेड़ियेके समान थी, किसीका मुख घोड़ेके तुल्य और किसीका मुख भैंसे-जैसा एवं किसीका शकलके समान गुंड था ॥ १६-१७ ॥

आयुःकुलकुटवक्राद्य गोऽजाविकसुखास्तथा । नानावक्राक्षिचरणा नानायुधवरास्तथा ॥ २० ॥
गायत्र्यन्ये हसन्त्यन्ये समन्त्यन्ये तु संवराः । तद्व्यन्यपरं तत्र स्तुवन्त्यन्ये तथाश्रिवकाम् ॥ २१ ॥
या नैर्मनवर्णैर्देवी साहं तदात्मयं बलम् । ज्ञातयामास चाक्रम्य यथा स्वस्य महाशनिः ॥ २२ ॥
सेनापते निरुते तस्मिन् तथा सेनाप्रणामिनि । विश्वरुः सैन्यपालस्तु योधयामास देवताः ॥ २३ ॥

उल्लेख मूल चूहे, गुणों (कुलकुट), तय, वक्रण और भेड़के मुखोंके समान थे । कई नाना प्रकारके मुख, आंग एवं चरण, चरण के मुखाने नाना प्रकारके आयुध धारण किये हुए थे । उनमें कुछ तो समूह बनाकर गाने लगे, कुछ दंभमें लगे और कुछ गाने करने लगे तथा कुछ बाजा बजाने लगे एवं कुछ देवीकी स्तुति करने लगे । देखीने उस भूतगणोंके साथ उस दानवसेनापर आक्रमण कर उसे उस प्रकार तटल-नहस कर दिया, जैसे भारी वज्रके समान घोड़ोंके शिरसे रींसीका संसार हो जाता है । इस प्रकार सेनाके अग्रभाग तथा सेनापतिके मारे जानेपर अब सेनापति विश्वरु नामके भेड़ियोंमें भिड़ गया—युद्ध करने लगा ॥ २०-२३ ॥

कार्मुके ददमकार्णमाकृष्य रथितां चरः । ववर्ष जग्जालानि यथा मेघा वसुन्ध्रगम् ॥ २४ ॥
नान दृग्नां स्वर्णैर्द्वित्वा जग्मन्वानं सुपूर्वभिः । सौवर्णपुद्गलानपराञ्जराः जग्राह पंडुश ॥ २५ ॥
तनधनुर्भिधनुस्वगुणानपि भामिनी । हत्या साश्रिमेकेन ध्वजमेकेन चिच्छिच्छे ॥ २६ ॥
तनस्तु सगरं चापं चिच्छेद्वैकुण्ठाऽश्रिका । छिन्ने धनुषि खड्गं च चर्म चादत्तवान् बली ॥ २७ ॥

रथियोंमें प्रेम उस दैत्यने अपने मजबूत धनुषको अपने कानोंतक चढ़ाकर उसमें बाणोंकी उस प्रकार वर्षा की जैसे वेच कुशीर, घनघोर । जड़ बरनाते हैं । परंतु दृग्नां भी सुन्दर पशुओं (गांठों)वाले अपने बाणोंसे उन बाणोंको काट काट और फिर सुवर्णमें निर्मित पंखवाले सोलह बाणोंको अपने हाथोंमें ले लिया । उन्होंने क्रुद्ध होकर चर्म वस्त्रोंमें उनका चर्म ओढ़ते और एकसे साश्रिमेको मारकर एक बाणमें उसका वज्रके दो टुकड़े कर दिए । फिर बाणोंमें एक बाणमें उसके बाणमय धनुषको काट डाला । धनुष काट जानेपर बलवान् विश्वरुने दण्ड और बाण छेड़ ल ॥ २४-२७ ॥

नं महं चर्मणा सार्य दैव्यस्याधुन्वतो बलान् । शरैश्चतुर्भिश्चिच्छेद ततः शूलं समादद ॥ २८ ॥
तनुदध्नाभ्य महच्छूलं संमद्रवदथाश्रिकाम् । क्रोष्टृको मुद्दिनेऽरण्ये मृगागजवधूं यथा ॥ २९ ॥
तस्याभिततः पादौ करौ जीवौ च पञ्चभिः । शरैश्चिच्छेद संकुद्धा न्यपतत्रिहताऽसुरः ॥ ३० ॥
तस्मिन् सेनापतो ध्रुणे तद्देवान्ये महासुरः । समाद्रवत घेनेन कगाल्याभ्यश्च दानवः ॥ ३१ ॥

यह दण्ड और बाणोंको जोर लगाकर घुल ही रहा था कि देखीने चार बाणोंने उन्हें काट डाला । इसपर उस दैत्यने दण्ड ले लिया । समाद्रवदथो गुलबंद वर अश्रिकारी और इस प्रकार दीड़ा जैसे वनमें सियार प्रमत्त होने लियेगीकी ही दण्ड देते हैं । पर देखीने अथवा क्रुद्ध होकर फेंच बाणोंने उस अस्त्रके दोनों हाथों, दोनों पैरों

एव मन्त्रो काय गग, निमिरे इह अतु मकरा गि पडा । उर नेतारिके जनेन उतस्य नामया मत्तान्
असुर तय प्रगतस्य नामका जनय—ये दोनों तेजीसे उनकी ओर दौड ॥ २८-३१ ॥

वाकलश्रोडनइचैव उदम्रात्प्रयोगामुंफ. । दुर्द्धमे मुमुंद्धर्चय विटालनयनोऽपरः ॥ ३२ ॥
एतेऽन्ये च महामानो दानग यत्सिंतां वरा । काव्यायनीमाद्रचलन नानासगाप्रपागय ॥ ३३ ॥
तान दृष्ट्वा लीलया दुर्गा घोणा जग्राह पाणिना । वादयामास हसन्तौ तथा उमरुं कं वग्म् ॥ ३४ ॥
यथा यथा वादयन्ते देवो वायानि तानि तु । तथा तथा भूतगणा नृत्यन्ति च हसन्ति च ॥ ३५ ॥
वाय्व, उद्वत, उदम्र, उदम्रासुं, दुर्द्ध, मुमुंद्धर्चय विटाल, त—ये तथा अन्य अनेक अयन्त वकी
एव श्रेष्ठ नव्य शक और अत्र लेका दुर्गा की ओर दौड पडे । वेही दुर्गासे उ हें देगा और वे गीतपूरक हाथोंमें वीणा
एव श्रेष्ठ टपन लेका हँसती हुई उन्हें प्रजाते लगी । देवी उन बायोको 'के-वों प्रजाती जाती थीं, त्यो-यो मभी
भूत भी नाचते आर हसते थे ॥ ३२-३५ ॥

ततोऽसुरा शस्त्रराग समभ्येत्य सरस्वताम् । प्रथमंस्तान्श्च जग्राह केदेषु परमेध्वरी ॥ ३६ ॥
प्रगृह्य केदेषु महामुरास्तान् उत्पत्य सिंहासु नगस्य सासुम् ।
ननर्त घोणां परिव्रादयन्ती पर्यौ च पानं जगतां जतिनो ॥ ३७ ॥
ततस्तु देव्या रलिनो महामुरा दौर्दण्डनिर्धूतशिरोर्षदर्पा ।
विस्त्रस्तारुहा व्यसवश्च जाताः ततस्तु तान् वीक्ष्य महामुनेन्द्रान् ॥ ३८ ॥
देव्या महौजा महिषासुरस्तु व्यद्रापयद् भूतगणान् सुराग्रैः ।
तुण्डेन पुच्छेन तथोरुवाऽन्यान् निश्वामयतेन च भूतसंघान् ॥ ३९ ॥

३६ असुर शस्त्र लेकर महामरुवीरगा दुर्गाके पास जाकर उनपर प्रहार करने लगे । पर परमेध्वरीने
उनके प्राणोंको जोरक साथ पकड लिया । उन महामुरोंका केश पकडकर तथा गिरने उठकर परत शृङ्खल जाकर
जगज्जलनी दुर्गा की गलन करनी हुई मधुपान करने लगी । तभी देवीने अपने जादूदण्डसे सभी असुरोंको
पाकर उनके घण्टट्टोंको चूर कर दिया । उनका शक शरीरसे गिरकर पड और वे प्राणहिन हो गये । यह देखकर
महागौ महिषसुर अपने सुरा अग्रभागसे, तुण्डसे, पुच्छसे, वक्ष अंगसे तथा निश्वामयसे देवीके भूतगणोंको
मराने लग ॥ ३६-३९ ॥

नदिन चैराशनिस्सिंभेन त्रिपाणोद्व्या नपगन् प्रमथ्य ।
दुद्राप सिंह युधि हन्तुकाम ततोऽधिपता प्रायशं जगाम ॥ ४० ॥
तत स क्षोपादय नक्ष्णशृङ्ग. सिप्रं गिरान् भूमिमशीर्णयश्च ।
संशोभयंस्तोयनिर्धौन घनाश्च पिचस्वयन् प्राद्रचतार्य दुर्गाम् ॥ ४१ ॥
सा चाय पाशेन वरन्प्र दुष्टं स चाप्यभून् द्विककटः कर्णन्द्र ।
करं प्रविच्छेद च हस्तिनाऽद्यं स वापि भूयो महिषोऽभिजात ॥ ४२ ॥
ततोऽस्य शूल ध्वस्तृजन्मृटानी स शीर्णमूल्ये न्यपतन् पृथिन्याम् ।
शक्तिं प्रविक्षेप हुताशदत्ता सा कुण्डिताप्रा न्यपतन्महर्ष ॥ ४३ ॥

और अपने त्रिपाणी कडकके समान नाद एव सींगोंकी नोकसे वेप भूतोंको व्याकुल कर रणक्षेत्रमें
सिंहसे पारने दौडा । इसमें अस्त्रियोंको बडा क्रोध हुआ । फिर वह कुद मडिप अपने मुनीके सींगोंसे जन्दी
जन्दी परतों पर पृथीसे निरीगं रणने लगा । यह समुद्रको क्षुब्ध करने तथा मेरासे विना विना करके
ए दुर्गाकी ओर दौडा । इसपर उन देवीने उस दुष्टको पाराने त्रों दिया, पर वह बग्गे भरने गीमे कणोंपर य

स चामीद् देवमेतान्(द्वैत्यदर्पितात्मनः। शिवरूपवमाम्भ्याय सैतापत्यं समुत्सृजन् ॥ १० ॥
 ततो निराश्रुता देवाः सेतानाथेन प्रभुना। दानवैष्ट्रेण विक्रम्य महिषेण पराजिताः ॥ ११ ॥

पुण्ड्रस्पर्जा योत्सु—सुते ! अन्तः) अब मैं फिर आपसे पार्वतीकी उभयतिके विषयमें वर्णन कर रहा

हूँ, आप प्यान देकर (सम्बद्ध) दसदशके जन्मकी शक्तन (नित्य. मम विराजनेवाञ्छी) कथा सुनें ! सतीके देह-त्याग कर देनेपर रुद्र भगवान् निराश्रय सिद्ध हो गये एवं अथर्चव्रतका पाठन करते हुए तपस्या करने लगे । वे शंकरजी (पण्डित) देवोंके दर्पको चूर्ण करनेवाले देवताओंके सेतानी थे । परंतु अब उन्होंने (रुद्र-रूपका त्याग करके) शिवस्वरूप धारण कर दिया तथा तपमें लगकर सेतापति-(म्यानी) पदका भी परित्याग कर दिया । फिर तो देवताओंके ऊपर उनके सेतानि शिखी निरहित हो जानेके कारण दानवश्रेष्ठ महिषने वृक्षपूर्वक आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया ॥ ८-११ ॥

ततो जम्बुः सुरेशानं द्रष्टुं चक्रमादाश्रयम्। देवतद्रीपे महाहंसं प्रपन्नाः जग्मं हरिम् ॥ १२ ॥
 नानामानान् सुरान् दृष्ट्वा ततः शक्रपुरगेगमान्। विहस्य मेघगर्भार्ण प्रोवाच पुरुरोत्तमः ॥ १३ ॥
 किं जिनास्वसुरैष्ट्रेण महिषेण दुर्गत्मना। येन सर्वे स्वयैत्यैवं मम पार्श्वमुपागतः ॥ १४ ॥
 तद् सुष्माहं जितायैव यद् वदामि सुरात्मनाः। तदकुर्व्यं जयो येन समाश्रित्य भवेद्धि वः ॥ १५ ॥

(जब देवमुदाय पराजित हो गया तब) पराजित हुए देवतालोग शरण-प्राप्तिकी खोजमें देवेश्वर भगवान्

श्रीविष्णुके दर्शनार्थी श्वेतद्वीप गये । उस समय भगवान् विष्णु इन्द्र आदि देवताओंको आपसे हुए देखकर हँसे और भयके साक्ष्य गभीर, गार्भीनि योत्सु—पाठन होता है कि आपलोग असुरोंके स्वामी दुरात्म महिषसे हार गये हैं, जिसके कारण हम प्रकार एक साथ मिलकर नरे पास आये हैं ! श्रेष्ठ देवताओ ! अब आपलोगोंकी भयईके शिषे मैं जो बात कहता हूँ, उसे आप सब सुनिये और उसे (यथावत्) चरितार्थ कीजिये । उसके सहारे आपकी भिन्न-विन्न विजा होगी ॥ १२-१५ ॥

य एते पितरों दिव्यास्वनिष्ठावासेति विश्रुताः। अमीषां मानसी कन्या मेता नाम्नाऽस्ति देवताः ॥ १६ ॥
 नामागथ्य मणनिध्यां श्रद्धया पत्न्याऽमगाः। प्रार्थयन्त्यं सर्वा मेतां प्रालेयाद्वेहिहार्तनः ॥ १७ ॥
 तर्णां सा स्वयंमुक्ता भविष्यति तपस्विनी। दक्षकोपाद् यया सुकं मलवज्जीवितं प्रियम् ॥ १८ ॥
 सा शंकरान् सनेजोऽपि जनयिष्यति यं त्वनम्। स एनिष्यति द्वैत्येन्द्रं महिषं सपदानुगम् ॥ १९ ॥

देवता ! जो ये 'अनिष्ठा' नामसे प्रसिद्ध दिव्य पितर हैं, उनकी मेता नामकी एक मानसी कन्या

है । देवगुण ! आपलोग आपस श्रद्धासे अणवभ्यासों सर्वा मेताकी (यथाविधि) आराधना करें तथा उनसे निरालस्यपरी पत्नी बननेके शिषे प्रार्थना करें । उनकी मेतासे (एक) तपस्विनी रूपवती कन्या उत्पन्न होगी, जिसने दक्षके ऊपर कोपकर अपने शिव जीवतका मरके समान परित्याग कर दिया था । वे शिवजीके तेजके अंगणमें शिव पुत्रकी उत्पन्न करेगी तथा देवोंमें श्रेष्ठ महिषको उनकी सेतासदित मार डालेगा ॥ १६-१९ ॥

तस्याद् गच्छत पुण्यं तद् कुन्दाक्षं महाकलयम्। तत्र पृथुदके तीर्थे पूज्यन्तां पितरोऽव्ययाः ॥ २० ॥
 महालिध्यां मगापुण्यं यदि शत्रुपराभवम्। जिहामतात्मनः सर्वे इत्थं वै क्रियन्तामिति ॥ २१ ॥

तब, अणवभ्यास मगान् करके शिवके, शक्ति कुन्दाक्षमें जाय एवं वहां 'पृथुदक' नामके तीर्थमें निव्य ही

अभिवादन करना शिवकी पूजा करें । यदि अणवभ्यास अपने शत्रुको पराजय चाहते हैं तो सब कुल योद्धक, यथावत्सहारे हम सब तीर्थ परीमें लगे जायेंगे, तपस्यो मगान् करें ॥ २०-२१ ॥

पुस्तक उवाच

इन्द्रपुत्र्या वासुदेवेन देवाः शक्रपुरोगमाः । हनाञ्जलिपुत्रा भूत्या पप्रच्छु परमेद्वरम् ॥ २२ ॥

पुस्तक्यजी बोले—भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि देवताओंने हाथ जोड़कर उन परमात्मासे पूछा— ॥ २२ ॥

देवा उवाच

कोऽयं कुरक्षेत्र इति यत्र पुण्यं पृथुदरुम् । उदुभवं तस्य तीर्थस्य भगान् प्रजोतु न ॥ २३ ॥

केयं प्रोक्ता महापुण्या तीर्थानामुत्तमा निधिः । यस्यां हि पितरो दिव्या पूज्याऽस्माभिः प्रयतन ॥ २४ ॥

ततः सुराणां वचनामुरारिः कैटभादेनः । कुरक्षेत्रेन्द्रवं पुण्यं प्रोक्तोस्ता त्रियामपि ॥ २५ ॥

देवताओंने प्रश्ना—भगवन् 'यह कुरक्षेत्र तीर्थ जैसा है, जहाँ पृथुदरु तीर्थ है । आप हमें गैत्रो उम तीर्थकी उपत्तिक विषयमें बतावें । और, यह पवित्र उत्तम निधि कौन-सी है जिसमें हम सब दिव्य विद्वेदोंकी पूजा प्रयत्नपूर्वक कर सकें । तब भगवान् विष्णुने देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उनमें कुरक्षेत्रकी पवित्र उपत्ति तथा उम उत्तम निधिकी भी वर्णन किया (जिसमें पूजा करनेकी बात कही थी) ॥ २३-२५ ॥

श्रीभगवानुवाच

सोमवंशोद्भवो राजा ऋशी नाम महाशर । कृत्स्न्यादौ समभरदक्षान् संवरणोऽभवत् ॥ २६ ॥

स च विश्वा निजे राज्ये वाल पराभियेचिनः । वाह्येऽपि धर्मनिरतो मद्रुक्केथ मदाऽभवत् ॥ २७ ॥

पुरोहितस्तु नम्यासांद् वसिष्ठो वरुणान्मजः । स वान्वाध्याययामान स्नाहान् वेदानुदाहरो ॥ २८ ॥

ततो जगाम चारुण्यं त्वत्तर्थाय गुणान्मज । सर्वकर्मसु निक्षिप्य वमिष्ठं तस्मां निधिम् ॥ २९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—सययुगक प्रारम्भमें सोमवंशमें ऋक्षनामके एक महाविराट् राजा उत्पन्न हुए । उन ऋक्षसे सरागर्भी उपजित हुई । पितृने उसे वचनमें ही राज्यार अभिषिक्त कर (वैश्या) दिया । वह वाक्यशाली भी सदा धर्मनष्ठ एवं मेरा भक्त था । वरुणके पुत्र वसिष्ठ उसक पुरोहित थे । उन्होंने उमे अज्ञेयहित सम्पूर्ण वेदोंको पढ़ाया । एक दिनकी बात है कि अनन्याय (छुडी) रहनेपर उर राजपुत्र (सराग) तत्पत्निय विमिष्ठको सभी कार्य सौंपकर वनमें चला गया ॥ २६-२९ ॥

ततो मृगया-याक्षेपाद् एकाकी गिजं वनम् । वैभ्राजं स जगाप्राथ श्रयोन्मादनमभ्यवात् ॥ ३० ॥

ततस्तु कोतुमाधिष्ट सर्वतुंगुमुने वने । अकित्तु सुगन्त्य समन्ताद् व्यचरद् वनम् ॥ ३१ ॥

स वनान्तं च दृष्टो कुहूगो रुनदावृतम् । कृह्वारपञ्चतुमुद्रे कमलेन्द्वारैरपि ॥ ३२ ॥

तत्र व्राटन्ति सततमसरऽमृग-यसा । तासा मध्ये दृशोय कस्यां संवरणोऽधिकाम् ॥ ३३ ॥

किर शिशारक त्रिये त्वाहित (यत्र) उर अत्रय ही पञ्चाजक नामक निम्न वनमें पहुँचा । उसके बाद वह उन्नादमें प्रान्त हो गया । उस वनमें सभी ऋतुओंमें फल फलान् पत्र, सुगन्धि भी रहती थी, किर भी उससे सतृप्त न होनेके कारण वह कुण्डलश वनमें चागे और विचरण करने लगा । वहाँ उसने फले हुए घेत, लड, पीते रुमठ, कुमुद एवं नात्रे कमलासे भरे उस वनको देखा । अन्ततः एव दूरस्थानों में सदा मनीषन्न (मनःहलाय) किया करती थीं । सरागने उनके बीच एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्रियाको दृष्ट ॥ ३०-३३ ॥

दर्शनादेव स नृपः काममार्गणपीडितः । जानः सा च नर्मद्वयेव कामगणानुराऽभवत् ॥ ३४ ॥

उभौ तौ पीडितौ मोहं जगमुः काममार्गणैः । राजा चलासतो भूम्या निष्पात तुष्टम् ॥ ३५ ॥

स चाग्निं देवसेनानीर्द्वैत्यदर्शितलाजनाः । शिवरूपत्वमास्थाय सेनापत्यं समुत्सृजन् ॥ १० ॥
ततो निराश्रुता देवाः सेनानाथेन शम्भुना । दानवैन्द्रेण विक्रम्य महिषेण पराजिताः ॥ ११ ॥

पुलस्त्यर्जा बोले—मुने ! अन्धा) अब मैं फिर आपने पार्वतीकी उभयनिके विषयमें वर्णन कर रहा हूँ, आप भवान् देकर (सम्बद्ध) स्वरूपके जगन्मयी शश्वत (नित्य, सदा विराजनेवाली) कथा मुनें ! सतीके देहत्याग कर देनेपर रुद्र भगवान् निराश्रय विधुर ही नये एवं ब्रह्मचर्यव्रतका पाठ्यन करते हुए तपस्या करने लगे । वे शंकरजी (पदके) देव्योंके दर्शकों चूर्ण करनेवाले देवताओंके सेनानी थे । परंतु अब उन्होंने (रुद्र-रूपका त्याग करके) शिव-स्वरूप धारण कर दिया तथा तपमें लगकर सेनापति- (स्थायी) पदका भी परित्याग कर दिया । फिर तो देवताओंके ऊपर उभयके सेनापति शिवसे विरहिन हो जानेके कारण दानववैष्ट महिषने बलपूर्वक आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया ॥ ८-११ ॥

ततो जग्मुः सुरेशानं द्रष्टुं चक्रतदाश्रमम् । इवेतद्द्रीपे महाहंसं प्रपन्नाः शरणां हृदिम् ॥ १२ ॥
तानागतान् सुगान् दृष्ट्वा ततः शक्रपुरोगमान् । विहस्य मेघगर्भारं प्रोवाच पुरुषोत्तमः ॥ १३ ॥
किं जितास्त्वसुरैन्द्रेण महिषेण दुरात्मना । येन सर्वे स्वप्नेष्वैवं मम पार्श्वसुपागताः ॥ १४ ॥
तद् युष्माकं हितार्थाय यद् वदामि सुरोत्तमाः । तत्कुरुष्वं जयो येन समाश्रित्य भवेद्धि वः ॥ १५ ॥

(जब देवसमुदाय पराजित हो गया तब) पराजित हुए देवताओंके शरण-प्राप्तिकी खोजमें देवेश्वर भगवान् श्रीविष्णुके दर्शनार्थ श्वेतद्रीप गये । उस समय भगवान् विष्णु रुद्र आदि देवताओंको आये हुए देव्यकर हँसे और भयके समान गभीर आर्गमिं बोले—मादृग होता है कि आपलोग असुरोंके स्वामी दुरात्मा महिषसे हार गये हैं, जिगमे कारण इस प्रकार एक साथ मिलकर मेरे पास आये हैं ? श्रेष्ठ देवताओ ! अब आपलोगोंकी भलाईके लिये मैं जो बात कहता हूँ, उसे आप सब मुनिये और उसे (यथावत्) चरितार्थ कीजिये । उसके सहारे आपकी निश्चय विजय होगी ॥ १२-१५ ॥

य एते पितरो दिव्यास्त्रग्निष्वात्तेनि विश्रुताः । अर्माणां मानसी कन्या मेना नाम्नाऽस्ति देवताः ॥ १६ ॥
नामागन्धय मत्तानिध्यां शक्रया परयाऽमराः । प्रार्थयध्वं सतीं मेनां प्रालेयाद्रेरिदार्थनः ॥ १७ ॥
तस्यां सा रूपसंगुक्ता भविष्यति तपस्विनी । दक्षकोपाद् यया सुक्तं मलयज्जीवितं प्रियम् ॥ १८ ॥
सा शंकरगन्धर्वेणोऽजो जनयिष्यति यं मुनम् । स एतियति द्वैत्येन्द्रं महिषं स्वदानुगम् ॥ १९ ॥

देवगण ! जो ये 'अग्निष्वात्त' नामसे प्रसिद्ध दिव्य पितर हैं, उनकी मेना नामकी एक मानसी कन्या है । देवगण ! आपलोग आपने शक्रसे अमाताम्याको सती सेनाकी (यथाविधि) आराधना करें तथा उनसे दिवाकरगी पूजा करनेके लिये प्रार्थना करें । उन्हीं सेनासे (एक) तपस्विनी स्वरूपकी कन्या उत्पन्न होगी, जिससे उभयके ऊपर कौरकर आपने प्रिय जीवनका मन्त्रके समान परित्याग कर दिया था । वे शिवजीके नेत्रके अंगारग लिंग पुत्रको उत्पन्न करेंगी वर देव्योंमें श्रेष्ठ महिषको उसकी सेनासहित मार डालेगा ॥ १६-१९ ॥

तस्माद् मलयज पुण्यं ननु कुरुष्वेत्तं मत्तानुगम् । तत्र पृथुदके तीर्थे पूज्यन्तां पितरोऽप्ययाः ॥ २० ॥
मत्तानिध्यां मत्तानुगं यदि शत्रुपराभवम् । जितासतात्मनः सर्वे इत्थं वै क्रियतामिति ॥ २१ ॥

अतः आपलोग भगवान् कृत् देवसेनाके, पवित्र कुरुक्षेत्रमें जायें एवं वहाँ 'पृथुदक' नामके तीर्थमें नित्य ही अग्निष्वात्त नामके पितरोंकी पूजा करें । यदि आपलोग अपने शत्रुको पराजय चाहते हैं तो सब कुछ श्रेष्ठकर पराजयके इस परम पवित्र तीर्थमें उन्हीं की निमित्त, कार्यमें लगाने करें ॥ २०-२१ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्त्वा गान्धर्वान् दत्ता शत्रुपुरोगमा । वृत्तान्चिपुटा भूमा प्रपद्यु परमेद्वरम् ॥ ११ ॥
पुलस्त्यजी वेले—भगवान् विष्णुः एसा कहनेर इड आदि दत्ताओंन हाय नाइकर उन परमात्मसे पूग—॥ ११ ॥

दत्ता उवाच

कोऽयं दुरधेय इति यत्र पुण्यं पृथुद्वरम् । उद्भव्य तस्य तार्क्ष्यं भगवान् प्रयातु न ॥ १३ ॥
केय प्रोक्ता महापुण्या तिर्यानामुत्तमा त्रिभिः । यस्या हि विनरो त्रिया पूयाऽस्माभिः प्रयत्नत ॥ १४ ॥
तत सुराणां वचनामुरारिः कर्तुमादत्त । दुरधेयरोद्वय पुण्यं गौतमास्ता निग्रामपि ॥ २० ॥
दत्ताजाने वृद्धा—भगवान् 'यह कुरुप्र तार्क्ष्यं जान ह, तहा प्रपद्यु तार्क्ष्यं ह । आप हमर गेंको उस तार्क्ष्यं उपतित्र द्विसयमें जानें । और, यह पवित्र उत्तम त्रिभिर्जनमा ह निमत हय स्व त्रिया शत्रुगर्भी पूना प्रयत्नपूर्वक कर सें । तत्र भगवान् विष्णुने दत्ताओंना प्रायना मुनर/ उनम उरुध्वरमा पवित्र उरुति तथा उस उत्तम त्रिभिर्जा भी गणन त्रिया (तिसमें पूना करनका बात प्रकाश) ॥ १३-२० ॥

श्रीभगवानुवाच

सामवशोद्भवो राजा ऋषो नाम महात्मा । वृत्तव्याज्ञो समभयतान् सवरणोऽभवत् ॥ २६ ॥
स च विद्यां निजं राज्यं वा एवाभिषेचितः । ज्ञानेऽपि धर्मनिरता मद्भक्तेश्च सदाऽभवत् ॥ २७ ॥
पुरोहितस्तु नस्यान्नाद् वसिष्ठां वरुणामन । स चान्याव्यापयामास साहजान् वेदानुत्तरथा ॥ २८ ॥
ततो जगाम चारुण्यं वनध्याय उपामन । सर्वकर्मसु निरिच्छ्य त्रिभिष्ट तस्मा निरिच्छम् ॥ २९ ॥

श्रीभगवान् न कह—सययुगत्र प्रारम्भम सामप्रथम ऋषनामत्र एव महाप्रयान् राजा उपनि हुण । उन ऋषसे सवरणका उपात हुई । एतन उसे प्रयत्नम हा रायरा आभाषक कर (पूग) दिया । यह ज्ञान्यज्ञात्स भा सग धर्मनर एर मेरा मक था । वरुणत्र पुत्र त्रिभिष्ट उमर पुरातन थ । उहान उमे अज्ञासहित सम्पूर्ण वेदोंका प्रयाया । एव दिनका रात ह त्रि शनध्याय (छु । रहनपर उर राचतुर (सवरण) तत्रानि त्रिभिष्टको सभा माय संपन्न वनम पूग गया ॥ २६-२९ ॥

तता सृगया याथावाद् एकांता निजं वनम् । घेष्रोत न जगामाय अत्र न्यादनमभ्ययात् ॥ ३० ॥
ततस्तु सौतुमाविष्टं सवतुस्तुमुम वन । जतिवृत्तं मुगु-पत्य सम ताद् व्यचरद् जनम् ॥ ३१ ॥
स वनात् च ददशं पुलस्त्यो मनदावृतम् । महारपश्चतुमुदै कमलन्दारैरपि ॥ ३२ ॥
तत्र वाडिति सततम सराऽमरज यत् । तासां मध्यं ददशोऽयं यथा सवरणोऽधिनाम् ॥ ३३ ॥

तत्र शिवारत्र स्थि व्यास (यत्र) उर उरुय वा उभयत्र नामत्र निजं वनम पँया । उसत्र जग उर उमात्से प्रल हो गया । उम उनम ममा सतुआमे कृत् कृत् एत उ सगति भी रहता था, त्रि भी उसस सतुस न हानत्र कारण यह कुनहृत्प्रश जनम चाता और छपरग करन गया । यँ उसन कृत् दृष्ट श्रेत, एत, पाठ उमर, कुमुद एर नात्र उमरसे भरे उस वनको गया । एमगा एर त्यक्त्याँ उर मया मनारञ्जन (मनप्रहारा) त्रिया करता था । सवरणन उनत्र बीच एक शयन सुत्ता कथाको गया ॥ ३०-३३ ॥

दर्शनाद्यं स नृप काममार्गणपाडित । वात सा च तमाश्रयेत् कामयाणात्पुत्राऽभवत् ॥ ३४ ॥
उभौ तौ पाडिता माह तस्मिन् काममार्गणे । राजा चलासता भूम्या निगपान् तुङ्गमान् ॥ ३५ ॥

तमभ्येभ्य महात्मानो गन्धर्वाः कामरूपिणः । निपिचुर्वाग्निष्ठाऽभ्येत्य न्यङ्मन्त्रोऽभवन् क्षणान् ॥ ३६ ॥
सा चाप्यग्रेभिरुपाय्य नीता पितृकुलं निजम् । तामिगध्वास्विना चापि मधुरैर्वचनाम्बुभिः ॥ ३७ ॥

उसे देखते ही वह राजा कामदेवके वाणसे पीटित (कामसे आर्तित) हो गया । और, इसी प्रकार वह कन्या भी उसे देखकर कामवाणसे अर्थात् (मूर्च्छित) हो गयी ! कामके वाणोंसे विकस होकर वे दोनों अचेत-से हो गये । राजा घोंटवी पीठपर रमे हुए आसन्नसे श्लिषककर पृथ्वीपर गिर पड़ा । इच्छाके अनुसार अपना रूप बना लेनेवाले महात्मा गन्धर्वके उमके पास जाकर उसे जलसे मूर्च्छित करे । (फिर) वह दूसरे ही अण-वेतनामें आ गया । तब अम्भगर्भोंने उसे मधुर वचनवाणी जलसे भी आसन्न किया और उसे उठाकर उसके पितृके घर ले गयी ॥ ३६-३७ ॥

स चाप्याकाप तुरगं प्रतिष्ठानं पुणेत्तमम् । गतस्तु मेरुशिखरं कामचार्या यथाऽमरः ॥ ३८ ॥
यदाप्रभृति सा दृष्टा शक्तिष्ठा तपनी गिरौ । तदाप्रभृति नादत्तानि दिवास्वपिति नो निजि ॥ ३९ ॥
ततः सूर्यविद्वेष्यशो विद्विद्या वरुणात्मजः । तपनीनापितं वीरं पार्थिवं तपसां निधिः ॥ ४० ॥
समुत्पत्य महायोगी गगनं रदिमण्डलम् । विवेश देवं निग्मांशुं दर्शं म्यन्दने स्थितम् ॥ ४१ ॥

फिर वह राजा (अपने) शीघ्र चढ़कर (अपने) श्रेष्ठ पंथनगर इस प्रकार चला गया, जैसे इच्छाके अनुसार चढनेवाले देवताके (सफलतासे) मेरुशृङ्गपर चले जाते हैं । ऋश्रके पुत्र संवरणने पर्वतपर देवकन्या तपनीके जलसे अपनी आंशुसे देखा था, तबसे वह दिनमें न तो भोजन करता था और न रात्रिमें सोता ही था । फिर सब कुछ जाननेवाले पृथ्वी शान्त तथा तपस्याके निधिवरुण महायोगी वरुणके पुत्र वसिष्ठ उस वीर गजपुत्रको तपनीके वाणसे मत्तापमें पड़े देखकर आकाशमें ऊपर जाकर (मध्य आकाशमें स्थित) सूर्यमण्डलमें प्रवेश किया तथा वहाँ स्थिर बैठे हुए तेज किरणवाले सूर्यदेवका उसने दर्शन किया ॥ ३८-४१ ॥

नं दृष्ट्वा भास्करं देवं प्रणमद् द्विजसत्तमः । प्रतिप्रणमितश्चासौ भास्करेणाविशद् गथे ॥ ४२ ॥
उपत्यज्जटाकल्पाऽग्नीं दिवाकरसमीपनाः । शोभते वारुणिः श्रीमान् द्वितीय इव भास्करः ॥ ४३ ॥
ततः संपुत्रिनोऽर्वाग्निभास्करेण तपोधनः । पृष्ठध्यागमने हेतुं प्रत्युवाच दिवाकरम् ॥ ४४ ॥
समायातोऽग्निं देवेश यानितुं न्यां महावृते । सुतां संवरणस्यायं तस्य त्वं दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

द्विजश्रेष्ठ अश्वमेध सूर्यदेवको देवकर प्रणाम किया । फिर वे सूर्यके दृष्ट प्रत्यभिवादन (प्रणामके लिये प्रणाम) किये जानेपर उनके स्वीय जवर रूपमें बैठ गये । सूर्यदेवके पास स्थिर बैठे हुए अग्निदेवके उक्त मन्त्र चमकवासी जटाके वरुणके पुत्र वसिष्ठ दूरसे सूर्यके लगन सुशोभित होने लगे । फिर वरुणने सूर्यके उक्त तपनीके अर्पणके कर्त्तव्य आश्रिते, सकार (किया) उनके बाद उनसे उनके आनेका करण पूछा । वह तपोधन वसिष्ठने सूर्यसे कहा—अति तेजस्वी देवेश ! मैं गजपुत्र संवरणके लिये आपसे कन्याकी कन्या वरुणसे आया हूँ । उसे आप (कन्या) प्रदान करें ॥ ४२-४५ ॥

ततो वसिष्ठाय दिवाकरेण निवेदिता सा तपनी तनूजा ।
सृष्टागन्तार द्विजपुंगवाय गनोऽर्पितः संवरणस्य देवाः ॥ ४६ ॥
सावित्रिमाश्रय ततो वसिष्ठः समाश्रमं पुण्यमुपाजगाम ।
सा सापि संसृत्य सृष्टात्मजं तं कृताञ्जलिवाचोणमाह देवी ॥ ४७ ॥

(भगवान् विष्णु कहते हैं—) देवगण ! उसके बाद सूर्यदेव घरपर आये और ब्राह्मणश्रेष्ठ वसिष्ठको राजा संवरणके लिये (अपनी) तपनी नामकी उस कन्याको समर्पित कर दिया । फिर सूर्यपुत्रीको साथ लेकर वसिष्ठ अपने पवित्र आश्रममें आ गये । वह कन्या उस राजपुत्रका स्मरण कर और हाथ जोड़कर ऋषि वसिष्ठमें बोली—॥ ४६-४७ ॥

तरपुत्राव

ब्रह्मन् गया खेदमुपेत्य यो हि सहाज्मरोभिः परिचारिकाभिः ।
 दृष्टो हारण्येऽमरगर्भतुल्यो नृपात्मजो लक्षणतोऽभिजाने ॥ ४८ ॥
 पादौ शुभौ चक्रगात्रानिचिद्रौ जडघ्ने तयोर्कृ करिहस्ततुल्यौ ।
 कटिस्तथा सिंहकटिर्यथैव क्षमं च मध्यं त्रिवर्तानियद्भम् ॥ ४९ ॥
 ग्रोत्वाऽस्य राह्याहनिमादधाति भुजौ च पानौ कटिनौ सुदोषौ ।
 हस्तौ तथा पद्मद्वयेन्द्रचन्द्रौ छत्राहनिस्तस्य शिरो विभानि ॥ ५० ॥
 नीलाश्व केदाः वृष्टिलाश्व तस्य कर्णौ समांशौ सुममा च नासा ।
 दोषाश्च तस्याङ्गुलयः सुपर्वाः पद्मथां कराभ्यां दशनाश्व शुभाः ॥ ५१ ॥

तपतीने कहा—वसिष्ठजी ! मैंने वनमें विलम्बमें निभोर होकर अपनी सेविकाओं तथा अन्तर्दार्जिकोंके साथ देव-पुत्रके समान (मोक्ष सुन्दर) जिस व्यक्तिको देखा था, उसे मैं लक्ष्मणसे राजकुमार मन्त्र रही हूँ; क्योंकि उसके दोनों शुभ चरणोंमें चक्र, गदा, राङ्गक चिह्न हैं । उसकी जाँघें तथा ऊरु दोनों हाथीकी सूँडके समान हैं । उसकी कटि सिंहकी कटिके समान है तथा त्रिरीशुक—तीन बरतण्डाल उसका उदरभाग बहुत पतला है । उसकी गर्दन राह्वक ममान है, दोनों भुजाएँ मोटी, बटांग और लम्बी हैं, दोनों करतल कमल-बिहसे अङ्कित हैं तथा उसका मस्तक छत्रक समान सुशोभित है । उसके बाल काले तथा घुँघराले हैं, दोनों कर्ण मांसउ है, नासिका सुडोङ्ग है, उसका हाथो एव परीकी अगुलियाँ सुन्दर पर्वशुक (पोवाडी) और लम्बी हैं और उसके दाँत श्वेत हैं ॥ ४८-५१ ॥

समुजत' पद्मिभुदारवर्षास्त्रिभिर्गर्भारग्विषु च प्रलम्बः ।
 रकस्तथा पञ्चसु राजपुत्रः कृष्णधनुर्मिस्त्रिभिरानतोऽपि ॥ ५२ ॥
 हाभ्यां च शुक्रः सुरभिधनुर्मिः दृश्यन्ति पद्मानि दशैव चाश्व ।
 वृत्. स भर्ता भगवान् हि पूर्वं तं राजपुत्रं भुवि संविचिन्त्य ॥ ५३ ॥
 ददस्य मां तस्य तपस्विनेऽस्मै गुणोपपन्नाय ममोहिताय ।
 नेदान्यकामां प्रयदन्ति सन्तो दातुं तयान्यस्य विभो क्षमस्व ॥ ५४ ॥

[तपतीने आगे कहा—] उम महापराक्रमी राजपुत्रके ललाट, कंधा, कपोट(गाल), ग्रीवा, कनक तथा जाँघें—ये छः अंग ऊँचे (सुडौल) हैं, नाभि, मध्य तथा हँसुली—ये तीन अङ्ग गम्भीर हैं और उसकी दोनों भुजाएँ तथा अण्डकोप—ये तीन अङ्ग लम्बे हैं । दोनों नेत्र, अवर, दोनों हाथ, दोनों पैर तथा नाभ—ये पाँचों खल वर्णवाले हैं, केश, पश्म (बरौनी) और कनीनिका (आँकरी पुतली)—ये चार अङ्ग कृष्ण हैं, दोनों भीहँ, आँखके दोनों कोर तथा दोनों कान झुके हुए हैं, दाँत तथा नेत्र दो अङ्ग श्वेत वर्णके हैं, केश, मुख तथा दोनों कपोल—ये चार अङ्ग सुगन्धवाले हैं । उनके नेत्र, मुख-विस्तर, मुखमण्डल, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख, हाथ और—ये अङ्ग कमलके समान हैं । भगवन् ! मैंने विचारकर पृथ्वीपर उस राजपुत्रको पहले ही पति

कर लिये है । प्रभो ! मुझे क्षमा करें । आप गुणोंमें युक्त (भरी) इच्छाके अनुकूल तथा वाञ्छित उस तपस्वीको मुझे दे दें; क्योंकि मरतीका यह कहना है कि अन्यकी कामना करनेवाली कन्याको किसी औरको नहीं देना चाहिये ॥ ५२-५४ ॥

देवदेव उवाच

इत्येवमुक्ताः सवितुश्च पुत्र्या ऋषिस्तदा ध्यानपरो बभूव ।
 ताया च तत्रार्कमुतां सकामां मुदा मुतां वाक्यमिदं जगात् ॥ ५५ ॥
 स एव पुत्रि नृपतेस्तनूजो दृष्टः पुरा कामयसे यमघ ।
 स एव चायति समाश्रमं वै ऋक्षात्मजः संवरणो हि नाम्ना ॥ ५६ ॥
 अथाजगाम स नृपस्य पुत्रस्तमाश्रमं ब्राह्मणपुंगवस्य ।
 दृष्ट्वा वसिष्ठं प्रणिपत्य मूर्ध्ना स्थितस्त्वपश्यत् तपतीं नरेन्द्रः ॥ ५७ ॥
 दृष्ट्वा च तां पद्मविशालनेत्रां तां पूर्वदृष्टामिति चिन्तयित्वा ।
 पप्रच्छ कथं ललता द्विजेन्द्र स वाग्विः प्राह नराधिपेन्द्रम् ॥ ५८ ॥

भववान् विष्णु बोले—किं सर्वपूर्वा तपतीके ऐसा कहनेपर वसिष्ठजी ध्यानमें मग्न हो गये और तपतीको उस कुमारमें आश्रम गाराकर प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने यह बात कही—पुत्रि ! जिस राजपुत्रका तुमने पहले दर्शन किया था और जिसकी कल्पना तुम आज कर रही हो, वह ऋषका पुत्र (राजा) संवरण ही है । वह आज मेरे आश्रममें आ रहा है । उसके प्रधान वह राजकुमार नी ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीके आश्रममें आया । उस राजाने वसिष्ठजीके आश्रम में आकर फिर मुझका प्रणाम किया; मैंनेपर तपतीको भी देखा । म्विले क्रमवत्के ममान विशाल नेत्रोंवाली उस तपतीको देखा उगने सोचा कि उसे मैंने पहले भी देखा है । (तब) उसने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह कुमार की कौन है ? उसपर वसिष्ठजीने राजश्रेष्ठ संवरणमें कहा— ॥ ५५-५८ ॥

इयं विशददुहित्वा नरेन्द्र नाम्ना प्रसिद्धा तपतीं पृथिव्याम् ।
 यथा नारायण दिवाकरोऽर्धितः प्रादान्मया त्वाश्रममानीनिः ॥ ५९ ॥
 तस्मान् नमुचिष्ट नरेन्द्र देव्याः पाणिं तपत्या विधिवद् गृहाण ।
 इत्येवमुक्तां नृपतिः प्रहृष्टो जग्राह पाणिं विधिवन् तपत्याः ॥ ६० ॥
 स्या तं पतिं प्राप्य मनोऽभिगमं मूर्त्यात्मजा शक्रममभावम् ।
 ययाम तनीं भवनेचमपु यथा महेन्द्रं दिवि दैत्यकन्या ॥ ६१ ॥
 ॥ इति श्रीवामनपुराणे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

नरेन्द्र ! पुत्रि मैंने तपती नामक प्रसिद्ध कन्ये सर्वपूर्वा पुत्री है । मैंने तुम्हारे ही लिये तृणमें इसकी याचना की थी जो अब उक्त कुमारके आश्रममें मुझे देना देना था । मैं तुम्हारे लिये ही उसे आश्रममें लाया हूँ; अतः नरेन्द्र ! उसे तपती ही है जो तुमने तपती नामक कल्पना करी । (वसिष्ठजीके आश्रम कहनेपर राजा बहुत प्रसन्न हुआ । उसके कर्णोंमें तपतीके शब्दोंके प्रविष्ट होने लगे । तपती तथा तपती नी अथक तुम्य प्रमानशाली उभ सुन्दर पतिको प्रसन्न करके आश्रममें आकर लगी । यह उक्त मन्त्रमें उसके साथ इस प्रकार विचार करने लगी, जैसे इन्द्रको पाकर मन्त्रमें तपती विचार करती है ॥ ५९-६१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इन्द्रात्मजा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

[अथ द्वाविंशोऽध्यायः]

देवदेव उवाच

तस्यां तपस्यां नरमत्तमेन जातः सुतः पार्ष्विलक्षणस्तु ।
 स जानकर्मविभिरेव संसृज्जो विवर्द्धताज्येन हुतो ययाऽग्निः ॥ १ ॥
 कुरोऽस्य चूडाकरणश्च देवा विप्रेण मिश्रावदनात्मजेन ।
 गवाभ्रिकस्य प्रतपन्धनं च वेदे च शास्त्रे विधिपारणोऽभूत् ॥ २ ॥
 ततश्चतुर्भिरपीढ ययैः सर्वंशतामम्यगमत् ततोऽसौ ।
 ख्यातः पृथिव्यां पुरुषोत्तमोऽसौ नाम्ना कुरुः संवरणस्य पुत्रः ॥ ३ ॥
 ततो नरपतिर्द्विधा धार्मिकं तनयं शुभम् । दारक्रियार्यमकारोद् यानं शुभकुले ततः ॥ ४ ॥

दार्हसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुकी कथा, कुरुक्षेत्रका निर्माण-प्रसङ्ग और पृथुदक तीर्थका माहात्म्य)

देवोंके नी देव भगवान् विष्णुने कहा—उस तपतीके गर्भसे मनुष्योंमें श्रेष्ठ संवरणके द्वारा राजलक्षणों-वाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह जातकर्म आदि संस्कारोंसे संसृज्ज होकर इस प्रकार बढ़ने लगा जैसे धीनी आहुति डालनेसे अग्नि बढ़ती है । देवगण । मिश्रावदनाके पुत्र वसिष्ठजीने उसका (यया समय) चौल-संस्कार कराया । नवें ष मं उसका उपनयन संस्कार हुआ । फिर वह (श्रम-क्रमसे अध्ययन कर) वेद तथा शास्त्रोंका पारगर्भी विद्वान् हो गया एवं चौबीस वर्षोंमें तो फिर वह सर्वज्ञ-सा हो गया । पुरुषश्रेष्ठ संवरणका वह पुत्र इस भूमामगर 'कुरु' नामसे प्रसिद्ध हुआ । तब राजा (उस) कल्याणकारी अपने धार्मिक पुत्रको (उपयुक्त अवस्थामें आये हुए) देखकर किसी उत्तम कुलमें उसके विवाहका यत्न करने लगे ॥ १-४ ॥

सौदामिनीं सुदामास्तु सुतां रूपधिकां नृपः । कुरोरर्याय वृत्तवान् स प्रादात् कुरुवेऽपि ताम् ॥ ५ ॥
 स तां नृपसुतां लब्ध्वा धर्माधीयविरोधयन् । रेमे तन्मया सह तथा पौलोम्या मघधानिव ॥ ६ ॥
 ततो नरपतिः पुत्रं राज्यभारक्षमं बली । विदित्वा यौवराज्याय विधानेनाभ्यपेचयत् ॥ ७ ॥
 ततो राज्येऽभिषिक्तस्तु कुरुः पित्रा निजे पदे । पालयामास स महीं पुत्रमथ स्वयं प्रजाः ॥ ८ ॥

राजाने कुरुके क्रिये सुन्दर ल रूपवाली सुदामाकी पुत्री सौदामिनीको चुना और सुदामा राजाने भी उसे कुरुको विधिवत् प्रदान कर दिया । उस राजकुमारीको पाकर वह (कुरु) धर्म और अर्थका (यथावत्) पालन करते हुए उस तन्मयी अर्थात् वृशाह्नीके साथ गार्हस्थ्य धर्ममें बैसे ही रहने लगा, जैसे पौलोमी (शची)के साथ इन्द्र दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते (हूए रहते) हैं । उसके बाद बलवान् राजाने राज्य-भारके बहन करनेमें—राज्य-कार्य संचालनमें—उसे समय जानकर विधिपूर्वक युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया । तब पिताके द्वारा अपने राज्यपदपर अभिषिक्त होकर कुरु औरस पुत्रकी भक्ति अपनी प्रजाका और पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ५-८ ॥

स एव क्षेत्रपालोऽभूत् पशुपालः स एव हि । स तत् प्रजापालो महायत्नः ॥ ९ ॥
 ततोऽस्य बुद्धिदत्तना कीर्तिलोकं गरीयसी । यावत्कीर्तिः सुसंस्था हि तावद्वासः सुरैः सह ॥ १० ॥
 स स्वयं नृपतिद्येष्टो यायातन्धमवेक्ष्य च । पिचचार महीं सर्वां कीर्त्यर्थं तु नरपिपः ॥ ११ ॥
 ततो धैतयनं नाम पुण्यं लोकेऽभरो बली । तदासाद्य सुसंतुष्टो विवेशाभ्यन्तरं ततः ॥ १२ ॥

(प्रजा और पृथ्वीके पालनमें लगे) वे राजकुमार बुरु 'क्षेत्रपाल' तथा 'पशुपाल' भी हुए ! महाबली वे सर्वपात्रक एवं प्रजापात्रक भी हुए । फिर उन्होंने सोचा कि संसारमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है (उसे प्राप्त करना चाहिये) ; क्योंकि जन्तुक संसारमें कीर्ति भन्तीभौति स्थित रहती है, नयनक मनुष्य देवताओंके साथ निवास करता है । इस प्रकार यथार्थताका विचार कर वे राजा यज्ञ-प्राप्तिके लिये समस्त पृथ्वीपर विचरण करने लगे । उसी सिद्धिकेमें वे बलशाली राजा पवित्र द्रव्यन पहँचे एवं पूर्ण सुसंतुष्ट होकर उसके भीतर प्रविष्ट हो गये ॥ ९-१२ ॥

तत्र देव्यां वदग्नाथ पुण्यां पापविमोचनीम् । प्लक्षजां ब्रह्मणः पुत्रां हरिजितां सख्यतीम् ॥ १३ ॥
सुदर्शनम्य जननीं हृदं कृत्वा सुविस्तरम् । स्थितां भगवनीं कूले तीर्थकोटिभिरालुताम् ॥ १४ ॥
तम्यास्तज्जलमर्द्धयैव ज्ञान्या प्रीतोऽभवन्पृथुः । समाजगाम च पुनर्ब्रह्मणो वेदिसुत्तराम् ॥ १५ ॥
समन्तपञ्चकं नाम धर्मस्थानमनुत्तमम् । आसमन्ताद् योजनानि पञ्च पञ्च च सर्वतः ॥ १६ ॥

(प्रविष्ट होनेके बाद राजाने) बरुं पर पापनाशिनी उत पवित्र सम्पत्ती नदीको देखा, जो पकटि (पाकड़) पृथ्वीमें उत्पन्न ब्रह्माकी पुत्री है । वह हरिजिता, ब्रह्मपुत्री और सुदर्शन-जननी नामसे भी प्रसिद्ध है । वह सुविस्तर हृद (बड़ा ताल या शील) में स्थित है । उसके तटपर करोड़ों तीर्थ हैं । उसके जलको देखते ही राजाको उसमें स्नान करनेकी इच्छा हुई । उन्होंने स्नान किया और बड़े प्रसन्न हुए । फिर वे उत्तर दिशामें स्थित ब्रह्माकी समन्त-पञ्चक वेदीपर गये । यह समन्तपञ्चक नामक धर्मस्थान चारों ओर पाँच-पाँच योजनतक फैला हुआ है ॥ १३-१६ ॥

देवा उचुः

कियन्त्यो वेदयः सन्ति ब्राह्मणः पुरुषोत्तम । येनोत्तमनया वेदिर्गदिता सर्वपञ्चका ॥ १७ ॥
देवताओंने पूछा—पुरुषोत्तम ! ब्रह्माकी कितनी वेदियाँ हैं ? क्योंकि आपने इस सर्वपञ्चक वेदीको उत्तर वेदी (अथ दिशा-संपेक्ष शब्द उत्तरमें विशिष्ट) कहा है ॥ १७ ॥

देवदेव उवाच

वेदयो लोकनाथस्य पञ्च धर्मस्य सेतवः । यासु यष्टं सुरेशेन लोकनाथेन शम्भुना ॥ १८ ॥
प्रयागे मध्यमा वेदिः पूर्वा वेदिर्गयादिगः । विरजा दक्षिणा वेदिरनन्तफलदायिनी ॥ १९ ॥
प्रयान्ता पुष्करा वेदिरितिभिः कुण्डैरलंकृता । समन्तपञ्चका चोक्ता वेदिरेवोत्तराऽव्यया ॥ २० ॥
तममन्यत राजर्षिर्द्वंद्वं क्षेत्रं महाफलम् । करिष्यामि कुरिष्यामि सर्वान् कामान् यथेष्टितान् ॥ २१ ॥

भगवान् विष्णु चालि—लोकनाथे स्नानी ब्रह्माकी पाँच वेदियाँ धर्म-सेतुके सदृश हैं, जिनपर देवाधिदेव शिवेश्वर श्रीशम्भुने यज्ञ किया था । प्रयाग न-यवेदी है, गया पूर्ववेदी और अनन्त फलदायिनी जगन्नाथपुरी दक्षिणवेदी है । (इसी प्रकार तीन कुण्डोंमें अलंकृत पुष्करक्षेत्र पश्चिम वेदी है और अव्यय समन्तपञ्चक उत्तर वेदी है । राजर्षि बुरुने सोचा कि इस (समन्तपञ्चक) क्षेत्रको महाफलदायी करुँगा (बनाऊँगा) और यहीं समस्त कामोंके लक्ष्मण-सेतु की ऐसी कहूँगा ॥ १८-२१ ॥

इति संक्षिप्तस्य मनसा स्वपत्या न्यन्दनमुत्तमम् । चक्रे कौन्त्यैर्यमकुलं संस्थानं पार्थिववर्षभः ॥ २२ ॥
कृत्वा सोमं च सौवर्णं शूरा मद्रवृषं प्रभुः । पौण्ड्रकं याम्यमहिषं स्वयं कर्षितुमुद्यतः ॥ २३ ॥
तं कर्षयन् नगरं समन्त्येव दानकतुः । प्रोवाच राजन् किमिदं भवान् कर्तुमिहोद्यतः ॥ २४ ॥
राजानयोगं नृपतरं तपः नय्यं धर्मां दयाम् । कृषामि शौचं दानं च योगं च ब्रह्मचारिताम् ॥ २५ ॥

१. समन्तपञ्चक और सर्वपञ्चक समानार्थी शब्द हैं; क्योंकि फलदा और सर्व दोनों शब्दोंकी शब्द है, अतः दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है । इसमें पण्डितोंने शब्द नहीं रखा चाहिये ।

आपने मनमें इस प्रकार विचार कर के गताश्रम क्षीरोमणि कुरु र उसे उतर पड़े एव उन्होंने अपनी कानिके लिये अनुपम स्थानका निर्माण किया। उक्त गताने सुवर्णवय हय वनकाकर उममें गजरके बैठ एव धनराजके पाण्डुक नामक भैरवो नामक स्वयं जन्मेने लिये तयार हुए। समय उन्होंने उनका पाम जकर कहा— गतन ! आप यहाँ यह क्या करनेके लिये उचत हुए हैं ? राजा बोले— मैं यहाँ तप कर, भ्या, दया, शोक, दान, योग और तपश्चर्य— इन अष्टाङ्गोंकी खेती कर रहा हूँ ॥ २२-२५ ॥

तस्योवाच हरिर्देव क्रस्माद्भोजो नरेदरः । लब्धोऽष्टाङ्गेति सहसा नरहम्य गनस्ततः ॥ २६ ॥

गतेऽपि शत्रो राजर्षिरहन्यदिति सारिभूकः । वृषतेऽन्यान् समन्ताच्च नतशेरोदान् मदीपतिः ॥ २७ ॥

ततोऽहमनुय गन्वा कुरो निमिदमित्यथ । तदाऽष्टाङ्ग महाभयं समाप्यात् नृपेण हि ॥ २८ ॥

ततो मयाऽप्य गदितं नृप राज क्व निष्ठिति ।

स चाह मम उरुस्थ जोरं तमहमनुयम् । देहाहं वापयिष्यामि सारं कृपतु च भवान् ॥ २९ ॥

ततो नृपतिना राहुर्दक्षिण प्रवृत्तः कृतः । प्रवृत्ते तं भुञ्जं दृष्ट्वा मया चक्रेण वेगतः ॥ ३० ॥

सहस्रधा तनदिद्युः दत्ता युष्माकमेव हि । ततः सज्यो भुञ्जो राजा दक्षदिक्ष्योऽप्यसौ मया ॥ ३१ ॥

तथैतेरयुगं प्रादाभ्यया छिन्नो च तावुभौ ।

तत स मे शिर प्रादान तेन प्रातोऽसि तस्य च । वरदोऽस्मात्पथेयुत्तं पुरंरमयाचत ॥ ३२ ॥

इसपर इन्द्र बोले—नरेदर ! आपने (कुरिके लिये सागनभूत) हल और शीत कहींसे प्राप्त किये हैं ? यह कहत हुए उदाहम कर इद्रे पत्रामे शीत ही चले गये। इन्द्रने चले जालेग भी राजा प्रतिदिन हल लेकर चारा आर सात योगात्त पृथ्वी जातने रहे। तब मैंने (निष्ठिते) उनसे राजा कहा—कुरु ! तुम यह क्या कर रहे हो ? इसपर, राजाने कहा—मैं (पूर्वोक्त) अष्टाङ्ग महाभयोंकी खेती कर रहा हूँ। फिर मैंने उनसे पूछा—राजन् ! शीत कहीं है ? राजाने कहा—शीत मेरे शीरमें है। मैंने उनसे कहा—उमे सुभ्र द दो। मैं (उमे) वाज्रंग, तुम हय चरगा। तब राजाने जरा दारिना नाय फंग, दिया। फंशपे हुए हाथोंसे देकर मैंने चक्रमे शीत ही उसने हजारों टुकड़े कर डारे और उन टुकड़कोंसे तुम देकायोंको दे दिया। उमके बाद राजाने वन गढ़ दिया और उमे भी मैंने फट दिया। वही प्रकार उमने दोनों उम्रोंको दिया। उन दोनोंको भी मैंने फट दिया। तब उसने अपना मस्तक दिया, जिसमे मैं उमने ऊपर प्रमत्त हो गया और कहा—तुम्हें मैं वर दूँगा। मेरे एत कहनेपर कुरुने (मुझसे) पर माँग—॥ २६—३२ ॥

कुरुवाच

यादेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु च । स्नाताना च मृताना च महापुण्यफलं त्विह ॥ ३३ ॥

उपजामं च दानं च स्नानं जप्य च माधुर । दौमयसादिकं चान्यच्चतुर्भं थाव्यशुभं विभो ॥ ३४ ॥

त्वत्प्रसादात्पूर्वकेशः शतशतगदाधरः । नृपयं प्रचरे क्षेत्रे भवत्यत्र महाफलम् ॥ ३५ ॥

तथा भवान् कुरैः सारं सम देवेन शलिना ।

वस त्व पुण्डरीकाक्ष महामान्यत्रकेऽच्युत । इत्येवमुक्तस्तेनाह राजा वादमुवाच तम् ॥ ३६ ॥

मथा च त्वं दिव्यवपुर्भय भूयो मदीपते । तदाऽन्तकाले मामेव लयमेप्यसि सुव्रत ॥ ३७ ॥

कुरुने कहा—जितने स्थानों मेने जोत है, वह धर्मक्षेत्र हो नाय और यहाँ स्नान करनेपर उमे एव

मर्तेवल्लोकी महापुण्यका प्राप्ति हो। माधुर विभो ! शतशतगदाधारी हरीकेश ! यहाँ किये गये उपव्रत, स्नान, दान, जप, हयन, यत आदि तथा अन्य शुभ या अशुभ रूप भी इस क्षेत्र देखनेसे अपनी कृपासे अशुभ

फल देनेवाले हों तथा हे पुण्डरीकाक्ष ! हे अश्रुत ! मेरे नामके व्यक्त (प्रकाशक) इस कुरुक्षेत्रमें आप सभी देवताओं एवं शिवजीके साथ निवास करें । राजाके ऐसा कहनेपर मैंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा । राजन् ! तुम पुनः दिव्य शरीरवाले हो जाओ तथा हे सुवन ! (दृढ़तासे प्रणवा मुष्टु पाठन करनेवाले) अन्तकालमें तुम मुझमें ही छीन हो जाओगे ॥ ३३-३७ ॥

कीर्तिश्च ग्राहयन्ती तुभ्यं भविष्यति न संशयः । तत्रैव याजका यज्ञान् यजिष्यन्ति सहस्रशः ॥ ३८ ॥
 तया क्षेत्रस्य रक्षार्थं द्यौः न पुरुषोत्तमः । यज्ञं च चन्द्रनामानं वासुकिं चापि पन्नगम् ॥ ३९ ॥
 विधाधरं शङ्खकर्णं सुकेशिं राजसेश्वरम् । अजायनं च नृपतिं महादेवं च पावकम् ॥ ४० ॥
 एतानि सर्वानोऽभ्येव्य रक्षन्ति कुरुजाङ्गलम् । अमीषां बलिनोऽन्ये च भृत्याश्चैवानुयायिनः ॥ ४१ ॥

(भक्तान् विष्णुने आगे कहा—) निःसंशय तुम्हारी कीर्ति सदा रहनेवाली होगी । यहाँपर यज्ञ करनेवाले न्यक्ति (यज्ञगान) यज्ञ करेंगे । फिर, उस क्षेत्रकी रक्षा करनेके लिये उन पुरुषोत्तम भगवान्ने राजाको चन्द्रनामक यज्ञ, वासुकि नामक सर्प, शङ्खकर्ण नामक विधाधर, सुकेशी नामक राजसेश्वर, अजायन नामक राजा और महादेव नामक अग्निको दे दिया । ये सभी तथा इनके अन्य बली मृत्यु एवं अनुयायी वहाँ आकर कुरुजाङ्गलकी सब ओरसे रक्षा करते हैं ॥ ३८-४१ ॥

अथै नदस्त्राणि धनुर्धराणां ये वारयन्तीह सुदुष्कृतान् वै ।
 स्नातुं न वच्छन्ति माणोभरुपास्त्वन्वस्य भूताः सचराचराणाम् ॥ ४२ ॥
 तस्यैव मध्ये दण्डपुण्य उक्तः पृथूदकः पापहरः शिवश्च ।
 पुण्या नदी प्राङ्मुखतां प्रयाता यज्ञोद्युक्तस्य शुभा जलाढया ॥ ४३ ॥
 पूर्वं प्रजेयं प्रपितामहेन सुषा समं भूतगणैः समस्तैः ।
 मदीं जलं वक्षिसमोरमेव खं त्वेयमादौ यिवभौ पृथूदकः ॥ ४४ ॥
 तथा च सर्पाणि महार्णवाणि तीर्थानि नद्यः खवणाः सरासि ।
 धन्तिर्मितानीह महाभुजेन तस्मैपयमाणात् सलिलं महीषु ॥ ४५ ॥

एक हजार धनुर्धारी, जो पारियोंकी पक्षसे हटते रहते हैं वे, उन रूप धारणकर चराचरके दूसरे भूतगण- (पारियों को स्नान नही करने देंगे) उरती- (कुरुजाङ्गल-) के मध्य पाप दूर करनेवाला एवं अति पवित्र पत्तनगणकी पृथूदक (पेरवा) नामक तीर्थ है, जहाँ शुभ जन्मते पूर्ण एक पवित्र नदी पूर्वकी ओर बहती है । इसे प्रपितामह भगवने नृपिके आदिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और आकाशादि समस्त भूतोंके साथ ही रक्षा पा. महाभुज भगवने पृथ्वीपर जिन महासमुद्रों, तीर्थों, नदियों, स्रोतों एवं नरोवतोंकी रचना की उन सभीके लक्ष्मणसे पूरक प्रथम है ॥ ४२-४५ ॥

द्वेषेय उपाय

मगरातीहपहल्योरन्तरे	कुरुजाङ्गले ।
शुक्तिवपुर्माभीर्न	पुराणं तोसहर्षणम् । अपृच्छन्त
प्रमाणं स्वस्ता	मूर्ध तांशानां च विशेषतः । देवतानां च
एतच्छुभं	एतस्त्वेषां चोमर्षयन्त्विति । प्रणिपत्य
	पुराणपरिचिदं चन्द्रममब्रवीत् ॥ ४८ ॥

[यानि कुरुक्षेत्र और उसके सरोवरका माहात्म्य कहते हैं—]

भगवान् विष्णु बोले— पहले समयमें मगराती सलली और दण्डती (वण्ड) के बीचमें स्थित कुरुक्षेत्रमें शक्ति, सुभेदार, पूर, तोसहर्षणमें बड़ी शक्ति मगोवती, शक्ति, पृथ्वी और इस सरोवरके, विस्तार, विशेषतः तीर्थों और सरोवरोंके माहात्म्य एवं चन्द्रमो महाभुज मदीं कथा कहतेही प्रार्थना की ।

उनके इस वचनको सुनकर रोमाञ्चित होते हुए पौर्णिक ऋषि लोमहर्षिग उनमें प्रणाम कर (फिर)
इस प्रकार बोले—॥ ४६-७८ ॥

लोमहर्षिग उवाच

ब्रह्माण्डमायं कमलामनस्यं विष्णुं तथा लक्ष्मिसमन्वितं च ।

ऋतं च देवं प्रणिपत्य मूर्त्तां तीर्थं महद् ब्रह्मसरः प्रवक्ष्ये ॥ ४९ ॥

रन्तुकाद्वीजसं यावत् पावताश्च चतुर्मुखम् । सरः संनिहितं प्रोक्तं ब्रह्मणा पूर्वमेव तु ॥ ५० ॥

कलिदापरयोर्मध्ये ध्यासेन च महात्मना । सरः प्रमाणं यत्प्रोक्तं तच्छूणुष्वं द्विजोत्तमाः ॥ ५१ ॥

विद्वेश्वरगद्गदस्युरं तथा कथ्या जरुवायी । यारदोद्यन्ती प्रोक्ता तत्रसंनिहितं सरः ॥ ५२ ॥

लोमहर्षिणाजी बोले—समने पहले उक्त होनेवाले कमलामन ऋषि, मूर्त्तिकाके सन्निधिमें आगे मशहदेन रुद्रको फिर हुम्भकर प्रणाम करके मैं महान् ब्रह्मसर तीर्थका वर्णन कर रहा हूँ । ब्रह्मने पहले कहा था कि वह 'मन्निहित' सगेर 'रन्तुक' नामक स्थानमें लेखा 'ओजस' नामक स्थानतक तथा 'पावन'में 'चतुर्मुख' तक फैला हुआ है । ब्राह्मणश्रेष्ठो ! किंतु अब कठि और द्वापरके मध्यमें महान् ध्यासेन सगेरवा जो (वर्तमान) प्रमाण बन गया है उसे आपलोग सुनें । 'विद्वेश्वर' स्थानसे 'अम्बिपुत्रक' और 'वृद्धा-कन्या'से लेकर 'ओजस्वी' नदीतक यह सगेर स्थित है ॥ ४९-५२ ॥

मया श्रुतं प्रमाणं यत् पठ्यमानं तु पावने । तच्छूणुष्वं द्विजश्रेष्ठाः पुष्यं वृद्धिकरं महत् ॥ ५३ ॥

विद्वेश्वराद् देववचनं नृपायनान् सरसतीम् । सरः संनिहितं क्षेत्रं समन्ताद्दर्शयोजनम् ॥ ५४ ॥

एतद्वाश्रित्य देवाश्च श्रुत्वायथ समगताः । सेवन्ते मुक्तिकामास्तं स्वर्गार्थं चापरे स्थिताः ॥ ५५ ॥

ब्रह्मणा सेवितामिदं सृष्टिकामेन योगिना । विष्णुना स्थितिकामेन हरिरूपेण सेविताम् ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैं वामनपुराणमें वर्णित जो प्रमाण सुना है, आप उस पवित्र एवं कल्याणकारी प्रमाणको सुनें । विद्वेश्वर स्थानमें दसभूतक एव नृपायनमें मारुत्तनीतक चतुर्दिक् आवे योजन-(दो फेहों)-में फैले इस सन्निहित सरको समझना चाहिये । मोक्षकी इच्छामें आवे हुए देवता एव ऋषिग इत्या आश्रय लेकर सरा इत्या सेवन करते हैं तथा अन्य लोग स्वर्गके निमित्त यहाँ रहते हैं । योगीवर भवने सृष्टिकी इच्छामें एवं भगवान् श्रीविष्णुने जगत्के फलनकी कामनासे इत्या आश्रय लिया था ॥ ५३-५६ ॥

रुद्रेण च सरोमध्यं प्रविष्टेन महात्मना । सेव्यं तीर्थं महातेजः स्याणुष्वं प्राप्तवान् हरः ॥ ५७ ॥

आर्षया ब्रह्मणो वेदिस्ततो रामहृदः स्मृतः । कुरुणा च यतः कुर्यं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम् ॥ ५८ ॥

नरन्तुकारन्तुकरोयदन्तरं यदन्तरं रामहृदाचचतुर्मुखम् ।

एतत्सु रुद्रेश्वरमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिपच्यते ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे हार्त्वेदोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(इसी प्रकार) सरोरके मध्यमें पैटर महात्मा रुद्रेने भी इस तीर्थका सेवन किया, निम्ने महानेजस्वी (उन) हरको स्थाणुत्व (स्थिरत्व) प्राप्त हुआ । आदिमें यह 'त्रयवेदी' कहा गया था, किंतु आगे चन्द्रर इत्या नाम 'रामहृद' हुआ । उनमें बाद रानर्षि कुरुक्षेत्रा जोने जानेसे इसका नाम 'कुम्भक्षेत्र' पड़ा । रन्तुक एव अरन्तुक नामक स्थानोंका मध्य तथा रामहृद एव चतुर्मुखक मध्यभाग समन्तपञ्चक है, जो कुरुक्षेत्र कहा जाता है । इसे निरामहकी उत्तरवेदी भी कहते हैं ॥ ५७-५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें हार्त्वेदी अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

[अथ त्रयोविंशोऽध्यायः]

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

प्रथम उच्यः

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥

तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
प्रथम उच्यः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥

शुभ्रगुणं सुखयः प्रीत्या वामनस्य महात्मनः । उपरतिं च प्रभायं च निवासं कुरुजातले ॥ २ ॥
सदेवं वंदं देव्यानां शुभ्रगुणं विजयवचनाः । यत्न वंदे समभवद् यत्किंचिदुच्यते पुनः ॥ ३ ॥
देव्यानामादिभुक्तयोः विजयवचनानि पुनः । तस्य पुत्रो महाविजाः प्रहादो नाम शतवयः ॥ ४ ॥
तस्माद् विजयवचनं जां वदितुं विजयवचनात् । इतो विजयवचनैर्देवानुन्वाय नर्यतः ॥ ५ ॥
गच्छं कृतं च तेनैतदं देवैर्देवैः सचराचरैः । कृतयत्नेषु देवेषु देवैर्देवैः देव्यतां गते ॥ ६ ॥

प्रहादो नाम शतवयः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

वामनमाश्रायमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा वदन्निर्दिशति ते त्वं गच्छं शतक्रतोः ॥ १ ॥
तैर्दमयां प्रख्याय प्राग्भू

किर तो धर्म चारों चरणोंसे प्रतिष्ठित हो गया और अधर्म एक ही चरणपर भिन्न रह गया। सभी राजा (मनीमौंति) प्रजापालन करने हुए सुशोभित होने लगे और सभी आधर्मिकोंके लोग अपने-अपने धर्मका पालन करने लगे। ऐसे समयमें असुरोंने बह्मिकोंके दत्तराजके पदपर अभिहित कर दिया। असुरोंका समुदाय हर्षित होकर निनाद (जय-जयकार) करने लगा। इसमें बाद कमलके भीतरी गोफाके समान धरन्तिगाली धरदासिनी और सुन्दर सुवेद्यानी श्रीलक्ष्मीदेवी हाथमें कमल लिये हुए बह्मिके समीप आयीं ॥ ११-१३ ॥

श्रीव्याय

बले बलवता श्रेष्ठ दैत्यराज महायुते। प्रीताऽस्मि तव भद्रं ते देवराजपराजये ॥ १४ ॥
यत्त्वया युधि विक्रम्य देवराज्यं पगजितम्। दृष्ट्वा ते पत्नं सत्त्वं ततोऽहं स्वयमागता ॥ १५ ॥
नाश्वर्यं दानवव्याघ्र हिरण्यकशिपोः कुले। प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव धर्मदमोदशम् ॥ १६ ॥
विशेषितस्त्वया राजन् दैत्येन्द्र। प्रपितामहः। येन भुक्तं हि निखिलं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा—बलवानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी दैत्यराज वरिष्ठ! देवराजके पगजय हो जानेपर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा महल हो, क्योंकि तुमने सभामें पराक्रम दिग्गजर देवोंके राज्यमें जीत लिया है। इसलिये तुम्हारे श्रेष्ठ बलवाने उत्कृष्ट मैं स्वयं आयी हूँ। दानव! असुरोंके स्वामी! हिरण्यकशिपुके कुटुम्बमें उत्पन्न हुए तुम्हारा यत्न ऐसा है—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। राजन्! आप दैत्यश्रेष्ठ अपने प्रपितामह हिरण्यकशिपुसे भी निश्चित (प्रभावशाली) हैं, क्योंकि आप पूरे तीनों लोकोंमें समृद्ध इस राज्यका भोग कर रहे हैं ॥ १४-१७ ॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी लक्ष्मीर्दैत्यनृपं यत्नम्। प्रविष्टा वरदा सेव्या संप्रदेयमनोरमा ॥ १८ ॥
तुष्टाश्च देव्यः प्रवराः ह्योः कीर्तितुंतिरेव च। प्रभा धृतिः क्षमा भूतिर्ऋद्धिर्दिव्या महामतिः ॥ १९ ॥
श्रुतिः स्मृतिरिडा कीर्तिः शान्तिः पुष्टिस्तथा क्रिया। सर्वाश्चाप्सरसो दिव्या नृत्तमंगतविशारदाः ॥ २० ॥
प्रपद्यन्ते सा दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यं सचराचरम्। प्राप्तमैश्वर्यमनुलं यतिना ब्रह्मादिना ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

दत्तराज बलिसे ऐसा कहनेके बाद सर्वदेव-वह्मिणी परम मनोहर रंगमाली मन्त्री सेव्य एवं (समझों) पर देनेवासी श्रीलक्ष्मी देवी राजा बलिमें प्रविष्ट हो गयीं। नरमनी श्रेष्ठ देवियों—ह्री, कीर्ति, धृति, प्रभा, प्रति, क्षमा, भूति, ऋद्धि, दिव्या, महामति, श्रुति, शान्ति, इत्यादी कीर्ति शान्ति, पुष्टि, क्रिया और नृत्तमंगलमें निपुण दिव्य अप्सराएँ भी प्रसन्न होकर दैत्येन्द्र (बलि) का सेवन करने लगीं। इस प्रकार ब्रह्मादी बलिने चर-अचरनाले त्रिलोकीका अतुल ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया ॥ १८-२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

[अथ चतुर्विंशोऽध्यायः]

अथय ऋषु

देवानां बृहि न. कर्म यद्वृत्तास्ते पराजिताः। कथं देवाग्निदेवाऽसौ विष्णुर्गोमनतां गतः ॥ १ ॥

चौबीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(यामन-चरितके उपक्रममें देवताओंका वक्ष्यपत्रके साथ ब्रह्मलोकमें जाना)

ऋषियोंने कहा—आप हमें यह बतलायें कि देवताओंने कान-सा कर्म किया, जिससे प्रभावित होकर वे (दैत्य) पराजित हुए तथा देवाग्निदेव भगवान् विष्णु वरुणसे यामन (बाना) बने ॥ १ ॥

लोमहर्षणं दत्तञ्च

बलिस्तर्यं च त्रैलोक्यं हृद्वा देवः पुरंदरः । मेरुप्रस्थं ययौ शक्रः स्वमातुर्निलयं शुभम् ॥ २ ॥
सर्मापं प्राप्य मातुश्च कथयामास नां गिरम् । आदित्याश्च यथा युद्धे दानवेन पराजिताः ॥ ३ ॥

लोमहर्षणने फल (उत्तर दिया)—इन्द्रदेवने जब तीनों लोकोंको बलिके अधिकारमें देखा तब वे मेरु (पर्वत) पर स्थित (रहनेवाली) अपनी कन्याणभयी माताके घर गये । माताके समीप जाकर उन्होंने उनसे (मातासे) वध बात कही—जिससे देवगण, युद्धमें दानव बलिते पराजित हुए थे ॥ २-३ ॥

अदितिरवाच

यद्येवं पुत्र युष्माभिर्न शक्यो हन्तुमाहवे । बलिर्विरोचनसुतः सर्वैश्चैव मरुद्गणैः ॥ ४ ॥
सहस्रशिरसा शक्यः केवलं हन्तुमाहवे । तेनैकेन सहस्राक्ष न स हान्येन शक्यते ॥ ५ ॥
तद्वत् पृच्छामि पितरं कश्यपं ब्रह्मवादिनम् । पराजयार्थं दैत्यश्च बलेस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

माता अदितिने फल—पुत्र ! यदि ऐसी बात है तो तुमलोग सम्पूर्ण मरुद्गणोंके साथ मिलकर भी संग्राममें विरोचनके पुत्र बलिके नहीं मार सकते । सहस्राक्ष ! युद्धमें केवल हजारों सिखाके (सङ्घर्षशीर्ष) भगवान् शिशु ही (उसे) मार सकते हैं । उनके सिवा किसी दूसरेसे वह नहीं मारा जा सकता । अतः इस विषयमें उस महान् आत्मा (महाबलवान्) बलिनामक दैत्यकी पराजयके लिये मैं तुम्हारे पिता ब्रह्मवादी कश्यपसे (उपाय) पूछूँगी ॥ ४-६ ॥

ततोऽदित्या सह सुराः संग्रामाः कश्यपान्तिकम् । तत्रापश्यन्त मारीचं मुनिं क्षीप्ततपोनिधिम् ॥ ७ ॥
आयं देवगुरुं दिव्यं प्रदीप्तं ब्रह्मवर्चसा । तेजसा भास्कराकारं स्थितमग्निशिखोपमम् ॥ ८ ॥
म्यस्तावदृष्टं तपोयुक्तं पराश्रुणाजिनाम्बरम् । बलकलाजिनसंवीतं प्रदीप्तमिव तेजसा ॥ ९ ॥
हृत्पारमिव दीप्यन्तमाज्यगन्धपुरस्कृतम् । स्वाध्यायवन्तं पितरं वपुष्मन्तमिवानलम् ॥ १० ॥
प्रातर्प्रादिसत्यवादिसुगसुरगुरुः प्रभुम् । ब्रह्मण्याऽप्रतिमं लक्ष्म्या कश्यपं क्षीप्ततेजसम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार माता अदितिके घरनेपर सभी देवता उनके साथ कश्यपजीके पास पहुँच गये । वहाँ (माता उन लोकेमें) तपस्विके धनी, गरीबिके पुत्र, आद्य एवं दिव्य पुरुष, देवताओंके गुरु, ब्रह्मतेजसे दीप्तमन्त्र और अज्ञानं तेजसे सूर्यके समान तेजस्वी, अग्निशिखाकी भाँति दीप्त, संन्यासीके रूपमें, गोपुत्र बनकर तथा भृगुवर्म धारण लिये हुए (आदृतिके) धीरी गन्धमे आध्यायित (वासित) अग्निके समान जन्मे हुए, स्तम्भरूपमें ऊँचे हुए बालों जतीधारी अग्नि ही हो एवं ब्रह्मगदी, सत्यवादी देवों तथा दानवोंके गुरु, अनुभव ब्रह्मतेजसे पूर्ण एवं शौभासे दीप्त कश्यपजीको देखा ॥ ७-११ ॥

यः सदा सर्वलोकानां प्रजानां पतिरन्तमः । आत्मभावविशेषेण हृत्तीयो यः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
अथ प्रजापते योराः स्नादित्या सुरर्षभाः । ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माणमिव मानसाः ॥ १३ ॥
अदृष्टो मुनि शक्येण बलिर्दुष्टो बलाधिकः । तस्माद् विधत्त नः श्रेयो देवानां पुष्टिवर्धनम् ॥ १४ ॥
शुभा तु यत्नं तेषां पुत्राणां कश्यपः प्रभुः । अकरोद् गमने बुद्धिं ब्रह्मलोकाय लोफकृत् ॥ १५ ॥

यः देवताओंके पितृ श्रीकश्यपजी) सभी लोकोंके रचनेवाले, श्रेष्ठ प्रजापति एवं आत्मभाव अर्थात् स्वभावसे ही गिरावले विशिष्टताके कारण ऐसे लग रहे थे जैसे तीसरे प्रजापति ही हैं । फिर अदितिके साथ समस्त देवताओंके प्रजापति एवं उनमें हाथ जोड़कर ऐसे बने, जैसे ब्रह्मने उनके मानव-पुत्र बोलने हैं—बलशाली

दीपराज बलि युद्धमें इन्द्रसे अराज्य हो गया है । अतः हम देवोंके समर्थनी पुण्ड्र-वृद्धिके त्रिये आर कन्यागकारि उपाय करें । उन पुण्ड्रकी बातें सुनकर लोकोत्तों स्वनेकले मानस्यजाली ब्रह्मदेवने ब्रह्मलोकमें जानेका विचार किया ॥ १२-१५ ॥

कश्यप उवाच

शक गच्छाम सदनं ब्रह्मणः परमाद्भुतम् । तथा पगजयं सर्वं ब्रह्मणः स्यात्सुमुद्यताः ॥ १६ ॥
सद्मादित्या ततो देवा यानाः काश्यपमाश्रमम् । प्रस्थिता ब्रह्मसदनं महर्षिगणमेतितम् ॥ १७ ॥
ते मुहूर्तेन संयाता ब्रह्मलोकं मुचर्चसः । दिव्यैः कामगमैर्यतिर्देवाहस्ते महाबलाः ॥ १८ ॥
प्रक्षान्तं ब्रह्ममिच्छन्तस्तपोराशिनमव्ययम् । अध्यगच्छन्त विस्तारो ब्रह्मणः परमां गभाम् ॥ १९ ॥

(त्रि) कश्यपने कहा—एह ! हम सभी अपनी पगजयकी बात ईश्वरीने प्रहर्षके त्रिये तैयार होकर उनके परम अद्भुत लोकको चरें । कश्यपके इस प्रकार कहनेपर अदितिके साथ कश्यपके आश्रममें आये हुए सभी देवताओंने महर्षिगणसे संवित ब्रह्मसदनकी ओर प्रस्थान किया । यथायोग्य इच्छाके अनुसार चरनेवाले दिव्य यानोंमें महाबली एवं तेजस्वी ने सभी देवता भ्रमणाश्रममें ही ब्रह्मलोकमें पहुँच गये और तत्र वे लोकोत्तपोराशि अत्यय ब्रह्मको देखनेकी इच्छा करते हुए इच्छाकी विशाल परम श्रेष्ठ भवामें पहुँचे ॥ १६-१९ ॥

पटपदोक्षेणमधुरां सामगैः नमुर्दारिताम् । श्रेयस्कराममित्रर्जा ह्यु संजह्युस्तदा ॥ २० ॥
ऋषो वसुचमुष्यैदच प्रोक्ताः क्रमपवाक्षराः । शुश्रुवुर्विधुष्यगामा विततेषु च कर्मसु ॥ २१ ॥
यज्ञविद्यावेदविदः पदक्रमविदस्तथा । स्वरेण परमर्षीणां सा बभूव प्रणादिता ॥ २२ ॥
यज्ञसंस्तवविदभिदय शिक्षाविदभिस्तथा द्विजैः । छन्दसां चैव चाप्यैः सन्विद्याविदारादैः ॥ २३ ॥
लोकपतिकेन्द्रुष्यैश्च शुश्रुवुः स्मरमीरिताम् । तत्र तत्र च विप्रेन्द्रा निपताः शंसितयताः ॥ २४ ॥
जगहोमपरा मुष्या ददन्तुः कश्यपात्मजा । तस्यां सभायाम्नामे स ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २५ ॥

वे (देवतालोक) भ्रमणकी गुणरामे सुश्रुत, सामगन्तमे सुप्रति, कन्यागकी विगमिका और शत्रुओंका विनाश करनेवाली उस समाजों वेपकार प्रसन्न हो गये । (उम स्थानपर) उन श्रेष्ठ देवताओंने विस्तृत (विदाष्ट) अनेक कर्मानुष्ठानोंके मध्य श्रेष्ठ ऋग्वेदियोंके द्वारा 'कन्यादाति' (वेद पढ़नेकी विशिष्ट शैलियेमें) उच्चमित्र ऋचाओ (वेदमन्त्रों) की सुना । यह सभा यज्ञविद्याके ज्ञाना पथ 'पदक्रम' प्रसन्न वेदपाठके ज्ञानवाले परमर्षियोंके उच्चारणकी ध्वनिसे प्रतिबलित हो रही थी । देवोंने वहाँ यज्ञके सस्तवोंके ज्ञानियों, शिक्षाविदों और वेदमन्त्रोंके अर्थ जाननेवालों, सप्तसत् विद्याओंमें पारङ्गुत द्विजों एवं श्रेष्ठ लोकायतियोंके चार्वाकके मतानुयायियों-) द्वारा उच्चमित्र स्वरको भी सुना । कश्यपके पुत्रोंने वहाँ सर्वत्र नियन्त्रक तीर्थ-जनको धारण करनेवाले जगहोम करनेमें लगे हुए श्रेष्ठ विप्रोंको देखा । उसी सभामें लोक-पितामह ब्रह्मा विगतजन थे ॥ २०-२५ ॥

सुरासुरगुरुः श्रीमान् विद्यया वेदमायया । उपासन् च तत्रैव प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ २६ ॥
दशः प्रचेताः पुलहो मरुविश्व द्विजोत्तमाः । भृगुत्रिंशत्सिद्धश्च गौतमो नारदस्तथा ॥ २७ ॥
विद्यास्तथान्तरिक्षं च पापुस्तेजो जलं मही । शन्दः स्वशंशु रूपं च रस्तो गन्धस्तथैव च ॥ २८ ॥
प्रकृतिश्च विकारश्च यथाप्यन् कारणं महत् । साहोपाहाश्च चर्याये वेदा लोकपतिस्तथा ॥ २९ ॥
नयाश्च क्रमवदचैव सद्बलः प्राग एव च । एते नाम्ये च यद्वयः स्यन्मुक्त्वमुपासते ॥ ३० ॥
अर्षो धर्मश्च कामश्च क्रोधो हर्षश्च नित्यशः । शुको बृहस्पतिश्चैव संयत्तोऽप्य बुधस्तथा ॥ ३१ ॥
शनिश्चरश्च राहुश्च प्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः । महतो विश्वकर्मा च वनवध द्विजोत्तमाः ॥ ३२ ॥
दियाकरश्च मोमश्च दिया रतिस्तथैव च । अर्द्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः पद् च संश्रिताः ॥ ३३ ॥

तं देवापि महात्मानं न विदुः कोऽप्यसाधिति । देवानस्मान् श्रुतिं विश्वं स वेत्ति पुरगोत्तमः ॥ ५ ॥
 तस्यैव तु प्रसादेन प्रवक्ष्ये परमां गतिम् । यत्र योगं समास्थाय तपश्चरति दुष्करम् ॥ ६ ॥
 श्रीरोदस्योत्तरे कृत्वे उदीच्यां दिशि विश्वकृत् । अमृतं नाम परमं स्थानमाहूर्तमर्निगणः ॥ ७ ॥
 भवन्तस्तत्र वै गत्वा तपसा शंसितप्रताः । अमृतं स्थानमासाद्य तपश्चरन्त दुष्करम् ॥ ८ ॥

उन महान् आत्मा- (सनातन आदिदेव)-को देवता आदि जोई भी वास्तव्यमें नहीं जागते कि वे कौन है; परंतु वे पुरगोत्तम (समस्त) देवोंको, मुझे तथा श्रुति (वेद) एवं समस्त विद्वयो जानते हैं (संसारके समस्त किया-कथाप उनकी जानकारीमें ही होते हैं; वे सर्वज्ञ हैं) । ऊहींके कृपा-प्रसादसे (आपलोगोंमें) मैं अत्यन्त श्रेष्ठ उपाय बतलाता हूँ । (आपलोग सुनें) । आप सभी उत्तर-दिशामें क्षीरसागरके उत्तरी तटपर स्थित उस स्थानपर जाइये जिसे विचारशील विद्वान् लोग (अमृत) नामसे उच्चारित करते हैं । विद्वन्की रचना करने-वाले (परमात्मा) वही योगशरणामें स्थित होकर कठिन तपस्या कर रहे हैं । आप सभी लोग उस अमृत नामक स्थानपर जायें और आलस्यरहित होकर आपलोग भी लक्ष्य सिद्धिके लिये वहाँ कठिन तपस्या प्रारम्भ कर दें ॥ ५-८ ॥

ततः श्रोत्यथ संघुष्टां स्निग्धगभीरनिःस्वनाम् । उष्णान्ते तोयदस्येव तं यपूर्णस्य निःस्वनाम् ॥ ९ ॥
 रक्तां पुष्टाक्षरां रम्यामभयां सर्वदा शिवाम् । वाणीं परमसंस्कारां वदतां ब्रह्मादिनाम् ॥ १० ॥
 दिव्यां सत्यकरां सत्यां सर्वकल्मषनाशिनाम् । सर्वदेवाधिदेवस्य ततोऽसौ भायितात्मनः ॥ ११ ॥
 तस्य धृतसमाप्त्यां तु योगव्रतविसर्जने । अमोघं तस्य देवस्य विश्वतो जौ महात्मनः ॥ १२ ॥
 कस्य किं वो वरं देवा द्दामि वरदः स्थितः । स्वागतं यः सुरश्रेष्ठा मन्त्रमौपमुपागताः ॥ १३ ॥

(जब आपलोग वहाँ जाकर कठिन तपस्या करने लगेंगे) तब प्रीप्सके अन्तमें देवाग्निदेवकी शब्द-वर्णिका, स्निग्ध-गभीर ध्वनिकाली, प्रेमसे भरी हुई शुद्ध और स्पष्ट अक्षरोंसे युक्त मनोहर एवं निर्भयताकी सूचना देनेवाली, सर्वदा बहूलक्षणी, उच्च स्वामे अध्वयन करनेवाले ब्रह्मादियोंकी वाणीके समान स्पष्ट, उत्तम संस्कारोंसे युक्त, दिव्य, मय-स्वर्णवर्णिका, सत्यवादी और उन्मुग्ध होनेके लिये प्रेरणा देनेवाली और प्राणोंको नष्ट करनेवाली जलमे पूर्ण मेवके गर्जनके समान गभीर वाणीको सुनेंगे । उसके बाद भातितात्मके (आत्मज्ञानसे परिपूर्ण) महात्मा कश्यपके योगव्रतके अन्तमें) व्रतकी समाप्ति हो जानेके बाद अमोघ तेजसे सम्पन्न वे देव आपसे कहेंगे—सुरश्रेष्ठो ! आपलोग मेरे पास आये, आपलोगोंका स्वागत है । मैं (आपलोगोंको) ब्रह्मान देनेके लिये आप सबके समक्ष स्थित हूँ ।
 कौन—किसे कौन-सा वर दूँ ॥ ९-१३ ॥

ततोऽदितिः कश्यपश्च गृहीयानां वरं तदा । प्रणम्य शिरसा पादौ तस्मै देवाय धीमते ॥ १४ ॥
 भगवानेव नः पुत्रो भवत्विति प्रसीद नः । उक्तश्च परया वाचा तथाऽस्त्विति स वक्ष्यति ॥ १५ ॥
 देवा सुवन्ति ते सर्वे कश्यपोऽदितिरेव च ।
 तथास्त्विति सुराः सर्वे प्रणम्य शिरसा प्रभुम् । श्वेतद्वीपं समुद्दिश्य गताः सौम्यदिशं प्रति ॥ १६ ॥
 तेऽचिरेणैव संप्राप्ताः श्रीरोद्धं सरितां पतिम् । यथोद्दिष्टं भगवता ब्रह्मणा सत्यवादिना ॥ १७ ॥

और, जब भगवान् इस प्रकार ब्रह्मान देनेके लिये उपस्थित होगे तथा अदिति एवं कश्यप प्रणम्य शिरसोंसे शुककर सिरसे प्रणाम और वक्की याचना करेंगे कि 'भगवान् ही हमारे पुत्र हों' इसके लिये आप हमारे ऊपर प्रसन्न हों' तब वे ब्रह्मवाणीके द्वारा 'ऐसा ही हो'—यह कहेंगे । (तब कश्यप और अदिति भी ब्रह्मवाणीके द्वारा 'ऐसा ही हो'—यह कहकर प्रसन्न होंगे) ।

प्रथम विद्या और ज्योतीषकी ओर रुद्र करके उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया । वे अत्यन्त शीघ्रतासे सत्य-
प्रणव भगवान् व्रजके द्वारा निर्दिष्ट की गयी श्वस्थाके अनुसार श्रीरत्नागरके नद्यपर पहुँच गये ॥ १४-१७ ॥

ने प्राप्ताः साधान् सर्वान् पर्वतांश्च सकान्तान् । नदींश्च विविधांश्चिद्व्याः पृथिव्यांते सुरोत्तमाः ॥ १८ ॥
अपश्यन्त तामो घोरं सर्वसत्त्वविवर्जिताम् । अभाकरममर्यादं तमसा सर्वतो वृतम् ॥ १९ ॥
अमृतं स्थानमात्माय कश्यपेन महात्मना । दीक्षितः फामर्दं दिव्यं वृतं वर्षसहस्रकम् ॥ २० ॥
प्रसादात् सुशाय तस्मै योगाय भीमते । नारायणाय देवाय सहस्राक्षाय भूतये ॥ २१ ॥
प्रसादात्पुनः संनिता ग्याने वीरासनेन च । क्रोधेन च सुराः सर्वे तप उग्रं समास्थिताः ॥ २२ ॥
कश्यपस्तत्र भगवान् प्रसादात् महात्मनः । उग्रैर्यत्न वेदोक्तं यमाहुः परमं स्तवम् ॥ २३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

उन देवसेनें पृथिवीके सभी समुद्रों, कसे करे हुए पर्वतों एवं भौति-भौतिकी दिव्य नदियोंको पार किया ।
उसके पर (उगरे आगे) उन लोगोंने ऐसे स्थानको देखा जहाँ न कोई प्राणी था, न सर्वथा प्रकाश ही था;
प्रकृत जगत् और घनघोर अन्धकार था, जिनमें सीमा गाढ़म ही नहीं होती थी । इस प्रकारके उरा 'अमृत' नामक
महात्म पहेचकर भगवान् कश्यपने प्रसादमयत्र योगी, देवेश्वर, कल्याणकी मूर्ति, सहस्रचक्षु नारायणदेवकी
प्रसादात् प्राप्तिके उद्देश्यसे देवताओंको महाप्रार्थिका (हजारों वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले) दिव्य (देव-सम्बन्धी)
स्थापुर्ण कामेवाले कामद मन्त्री दीक्षा दी । फिर वे सभी देवता क्रमशः अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके और
मैंने धारणकर उचित स्थानपर श्रीवामनसे वेदका कथोर तपस्या करने लगे । वहाँ भगवान् कश्यपने महात्मा
विद्यासे प्रसाद कामेके शिष्टे वेदमें कहे हुए स्तवः (मन्त्र या स्तोत्रका) रूप धारणमें पाठ किया, जिसे 'परमस्तव'
कहने में ॥ १८- २३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पञ्चविंशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

[अथ षड्विंशोऽध्यायः]

कश्यप उवाच

नामोऽस्तु ते देवेभ्य एकदशैश्च वृषाञ्चै विन्धुवृषु वृषाकपे सुरवृषु अनादिसंभव रुद्र कपिल
विश्वसेन मन्त्रिभ्यो भूत भर्तृनामै वैकुण्ठ वृषावर्त्त अनादिमध्यनिधन धनंजय शुचिधरवः पृथिनतेजः निजजय
सुहोनाथ महाशय विनाम सुभित मत्तवत् लोकनाथ पञ्चनाभ विरिञ्चं बहुरूप अक्षय अक्षर हृद्यभुज
पञ्चसरो भक्त सुहोनाथ ईस महाशयिण हर्षोदय सुदम महानियमधर विरज लोकमतिष्ठ अरुण
अज भयंते धर्मोनाथ गर्भगिनाथ शतशतुनाथ सन्द्रश्य न्यतेजः समुद्रवासः अजः सहस्रशिरः सहस्रपाद
सोमसुत महापुत्रय पुण्योत्तम सङ्ग्रहाक्षे सहस्रमूर्ते सहस्राय सहस्रसंभव सहस्रगर्वं त्वामाहुः ।
पञ्चपाद चामर नामैव यौगुट् वायुकां भवामाहुः प्रथं मन्वेषु प्राणिनां सहस्रधारं च भूय भुवश्च
सर्वे धर्मोः वेदोऽथ द्रव्यस्य महाप्रिय स्वतेन यौगि मन्त्रिभ्योऽसि धर्मोऽसि होता पोता मन्ता नेता
लोकोत्तमः सौम्य विश्वभारता रामेव द्विभिः सुभाण्ड इज्योऽसि नुमेथोऽसि समिधस्त्वमेव मतिर्गति-
र्गता रामसि न त्रऽसि यमाऽसि नृजति । धारा परमवशाऽसि संमोऽसि द्वाकितोऽसि दक्षिणाऽसि
विश्वसि सर्वत्र विराजमाना नारायण प्रित्तयत आदित्यवर्ण आदित्यतेजः महापुत्रय पुरुषोत्तम आविर्देन

सुविक्रम प्रभाकर शंभो स्वयंभो भूतादि. महाभूतोऽमि त्रिबभूव विद्वं रमेय त्रिभ्वगोताऽसि परित्रममि
त्रिभ्वभय ऊर्ध्वकर्म अमृत विवस्पते वाचस्पते घृताचं अनन्तकर्म यंश प्राग्ंश त्रिभ्वपास्तमेव ।

वरार्यिनां वरदोऽसि त्वम् ।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्या पञ्चभिरेव च । हृयते च पुनर्छाभ्या तुभ्यं दोःप्राप्तने नमः ॥ १ ॥

इति श्रीवामनपुराण पद्मविंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

छन्दीसर्वा अध्याय प्रारम्भ

(कश्यप-द्वारा भगवान् वामनकी स्तुति)

कश्यपने कहा—हे देवदेव, एकभृङ्ग, वृषारि, म्निषुड, वृषकपि, सुरवृष, अनादिसभर, छट, त्रिभु
त्रिभ्वस्मेन, सर्वभूतपति (सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी), ध्रुव, धर्माधर्म, वैकुण्ठ, वृषारत्त, अनादिमत्पनिधन, धनस्रप,
शुचिश्रव, पृथ्वितेज, निजजय, उमृतेशय, सनातन, त्रिधाम, तुषित, मन्तरय, लोचना, पद्मनाभ, त्रिरिधि,
बहुस्वरूप, अक्षय, अक्षर, हव्यसुज, गण्डपरशु, शक्र, सुन्ननेश, हम, महादक्षिण, हर्षिकेश, मन्म, महानियमधर,
त्रिरज, लोकप्रतिष्ठ, अरूप, अप्रज, धर्मज, धर्मनाभ, गभस्तिनाभ, शतवतुनाभ, चन्द्ररथ, मूर्धनेज, ममुद्रास, अज,
सहस्रशिर, सहस्रपाद, अधोमुख, महापुरुष, पुरुषोत्तम, सहस्रबाहु, सहस्रमूर्ति, महसाम्य, सहस्रमभय ! मेरा अपने
चरणोंमें नमस्कार है । (आपके भक्तजन) आपको सहस्रमभय कहते हैं । (जिसे दृष्ट पुष्पके समान मधुर
मुसफ़ानवाले) पुष्पहास, चरम (सर्वोत्तम) ' लगे आपको ही नीरट् एष वरदकार कहते हैं । आप ही अभय,
(सर्वश्रेष्ठ) यज्ञोंमें प्राक्षिता (भोक्ता) हैं; सहस्रधार, भू, भुव एवं स्व हैं । आप ही वेदवेद्य (वेदोंके द्वाए
जाननेयोग्य), ब्रह्मदाय, ब्राह्मणप्रिय (अग्निके प्रेमी), द्यौ (जासादाक समान सर्वयापी), मानसिन्धा (वायुके
समान गतिमान्), धर्म, होता, पोना (विग), मन्ता, नेता एवं होमके हेतु हैं । आप ही विद्यनेत्रके द्वारा
अप्य (सर्वश्रेष्ठ) है और दिशाओंके द्वाग सुभाण्ड (विस्तृत पात्ररूप) है जवांत दिशाएँ आपमें समाहित हैं । आप
(यजन करने योग्य) इत्य, सुमेर, मणिधा, गति, गति एव दाता हैं । आप ही मोक्ष, योग स्रष्टा (सृष्टि
करनेवाले), धाना (धारण और पोषण करनेवाले), परमयज्ञ, सोम, दीक्षित, दक्षिणा एव विद्य हैं । आप ही
स्वधिर, हिरण्यनाभ, नारायण चिनयन, आदित्यवर्ग, आदित्यनेत्र, महापुरुष, पुरुषोत्तम, आदिदेव, सुविक्रम,
प्रभाकर, शशु, स्वयम्भू, भूतादि, महाभूत, विद्यभूत एव विद्य हैं । आप ही समारती रक्षा करनेवाले, पवित्र,
विद्यभर, विद्यकी सृष्टि करनेवाले, ऊर्ध्वकर्म (उत्तमकर्म), अमृत (कभी भी मृत्युको न प्राप्त होनेवाले), दिवस्पति,
वाचस्पति, घृताचि, अनन्तकर्म, वश, प्राग्वश, विद्यया (विद्यका पाठन करनेवाले), तथा वरद-वर चाहनेवालोंके
त्रिये वरदानी हैं ।

चार (आश्रय), चार (अस्तु श्रोण्ड), दो (यज) तथा पाँच (ये यजाने) और पुनः दो
(वरद) अक्षरों—इस प्रकार ४+४+२+५+२=१७ अक्षरोंसे—तिसक टिये अत्रि होय किया जाता है उन
आप होत्रात्माको नमस्कार है ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छान्दीसर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥



[अथ सप्तविंशोऽध्यायः]

लोकमहर्षण उवाच

नारायणस्तु भगवान्कृत्यैवं परमं स्वयम् । ब्रह्मणेन द्विजेश्च्रेण कश्यपेन समोरितम् ॥ १ ॥
 उवाच वचनं सम्यक् नुष्टः पुष्टपदाक्षरम् । श्रीमान् प्रीतमना देवो यद्भवेत् प्रभुगेश्वरः ॥ २ ॥
 वरं वृणुध्वं भद्रं वो वरदोऽसि सुरोत्तमाः ।

कश्यप उवाच

प्रीतोऽसि नः सुरेश्च्रेष्ठ सर्वेषामेव निश्चयः ॥ ३ ॥

वासवम्यानुजे भ्राता धार्तानां नन्दिवर्धनः । अदित्या अपि च श्रीमान् भगवानस्तु वै सुतः ॥ ४ ॥
 अदिनिर्देवमाना च पत्नमेवार्थसुलभम् । पुत्रार्थं वरदं प्राह भगवन्तं वरार्थिनी ॥ ५ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् नारायणमे देवो और कश्यपकी प्रार्थना, अदिनिकी तपस्या और प्रभुसे प्रार्थना)

लोकमहर्षणने कहा—इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी द्विजश्रेष्ठ कश्यपने विष्णुकी उत्तम रतुनि की; उमे मुनिकर प्रसन्न होकर सामर्थ्यशाली एवं ऐश्वर्यसम्पन्न नारायणने अत्यन्त मंतुष्ट होकर प्रमत्त मनसे सुमंरकृत शब्दों एवं अक्षरोंवाला मगयानुकुल उचित वचन कहा—श्रेष्ठ देवताओ ! वर माँगे । तुम सबका कल्याण हो; मैं तुम लोकोको (ईश्वर) वर दूँगा ।

कश्यपने कहा—सुरेश्च्रेष्ठ ! यदि आप हम सबपर प्रमत्त हैं तो हम सभीका यह निश्चय है कि श्रीमान् भगवान् आप स्वयं इन्द्रके छोटे भाईके रूपमें अदितिके कुटुम्बियोंके आनन्द बढ़ानेवाले पुत्र बनें । वरकी याचना करनेवाली देवमाना अदिनिने भी वरदानी भगवानसे पुत्रकी प्रासिके लिये अपने इस उत्तम अभिप्रायको प्रकट किया—कहा ॥ १-५ ॥

देवा उचुः

निःश्रेयसार्थं सर्वेषां देवतानां महेश्वर । धाना भर्ता च दाना च शरणं भव नः स्वदा ॥ ६ ॥

ततस्तानमयोद्विष्णुर्देवान् कश्यपमेव च ।

सर्वेषामेव गुणमार्कं ये भविष्यन्ति शशवः । सुदुस्तमपि ते सर्वे न स्थाम्यन्ति ममाग्रतः ॥ ७ ॥

एवाऽसुरमणान् सर्वान् यत्तभागाप्रभोजिनः । हव्यादांश्च सुरान् सर्वान् कव्यादांश्च पितृनपि ॥ ८ ॥

कारिण्ये त्रिविधश्रेष्ठाः पारमेष्ठ्येन कर्मणा । यथायातेन मार्गेण निवर्तन्ध्वं सुरोत्तमाः ॥ ९ ॥

(अदितिके अभिप्रायको जानकर) देवताओंने कहा—महेश्वर ! सभी देवताओंके परम कल्याणके लिये आप हम सबकी मद्रा रक्षा करनेवाले, पावन-पोषण करनेवाले, दान देनेवाले एवं आश्रय बनें । इसके बाद भगवान् विष्णुने उन देवताओंमे तथा कश्यपके कहा कि आप सभीके जितने भी शत्रु हांगे वे सभी गंरे सम्मुख क्षणमात्र भी नहीं टिक सकेंगे । देवश्रेष्ठो ! परमेशी (ब्रह्म)के द्वारा किया गये कर्मके द्वारा मैं समस्त असुरोंको मारकर देवताओंकी वरदानके सर्वप्रथम भाग प्रदण करनेवाले अधिकारी एवं हृद्यभोक्ता और वितरोंको क यमोंका वनाऊँगा । सुरोत्तमा ! अब आपलोग जिन मार्गमे आये हैं, फिर उसी मार्गसे आपम लौट जायें ॥ ६-९ ॥

लोकमहर्षण उवाच

एवमुक्ते त् देवेन विष्णुना प्रभविष्णुना । ततः प्रहृष्टमनसः पूजयन्ति स्म नं प्रभुम् ॥ १० ॥

विश्वं देवा महामानः कश्यपोऽदिनिर्वच च । नमस्कृत्य सुरेशाय तस्मै देवाय रंहरता ॥ ११ ॥

प्रयानाः प्राविशं सर्वे विपुलं कश्यपाश्रमम् । ते कश्यपाश्रमं गत्वा कुक्षेत्रवतं महत् ॥ १२ ॥

प्रसाद्य तदिति तत्र तपसे नां न्ययोजयत् । सा चचार तपो चौरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ १३ ॥

लोमहर्षणेन कथा—प्रभावशाली भगवान् विष्णुने जब ऐसा कहा तब महान्मा देवगण, कश्यप एवं अदितिने प्रसन्न-चित्रामे उन प्रसन्न पूजन क्रिया एवं देवेश्वरको नमस्कार करनेके बाद पूरा दिशामें स्थित कश्यपके मिस्रुत आश्रमकी ओर शीघ्रनामे चल पड़े । जब देवगण कुरुक्षेत्र-वनमें स्थित महान् आश्रममें पहुँचे तब छोगेंने अदितिकी प्रसन्नकर उमे तस्या करनेके छिये प्रेरित किया । (फिर) उसने दस हजार वरानिक्त वहाँ कष्टिन तपस्या की ॥ १०-१३ ॥

तस्या नाम्ना वनं दिव्यं सर्वकामप्रदं शुभम् । आगधनाय कृष्णस्य धारिजना यायुभोजना ॥ १४ ॥
 दैत्यैर्निपहतान् दृष्ट्वा तनयावृषिसत्तमाः ।

धृयापुत्राऽहमिति सा निर्वेदाव् प्रणयाञ्जलिम् । तुषाव् धामिभरुषाभिः परमार्थावधोधिना ॥ १५ ॥
 शरप्यं शरणं विष्णुं प्रणता भक्तयत्सलम् । देवदैत्यमयं चादिमध्यमान्तस्वरुपिणम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ ऋषियो ! (जिस वनमें अदितिने तप किया) उस दिव्य वनका नाम उसके नामपर अदितिवन पड़ा । वह समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला एवं मङ्गलकारी है । ऋषिश्रेष्ठो ! परम अर्थको जाननेवाली (तपज्ञा) अदितिने अपने पुत्रोंको दैत्योंके द्वारा अपमानित देखा; उसने सोचा कि तब मेरा पुत्रका जनना ही व्यर्थ है; ईश्वरके अपनी वाणीको संयतकर; हवा पीकर नम्रनापूर्वक शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले, नक्तजनधिय, देवताओं और दैत्योंकी मूर्तिलरूप, आदि-मध्य और अन्तके रूपमें रहनेवाले भगवान् श्रीविष्णुकी प्रसन्नकरके छिये उनकी सत्य एवं मधुर वागियोंमें उत्तम स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १४-१६ ॥

अदितिराज

नमः कृत्यातिनाशाय नमः पुरकर्मालिने । नमः परमकल्याण कल्याणायादिवेधसे ॥ १७ ॥
 नमः पद्मजनेत्राय नमः पद्मजनाभये । नमः पद्मजन्मभूतिसंभवायात्मयोनये ॥ १८ ॥
 श्रियः कान्ताय दान्ताय दान्तद्वयाय चक्रिणे । नमः पद्मासिंहस्ताय नमः कनकरतसे ॥ १९ ॥
 तयात्मज्ञानयशाय योगिचिन्त्याय योगिने । निर्गुणाय विशेषाय हरये प्रह्लरुपिणे ॥ २० ॥

अदितिने इस प्रकार स्तुति करना आरम्भ किया—कृत्यासे उपन्न दुःखका नाश करनेवाले प्रसुको नमस्कार है । कमन्की मालको धारण करनेवाले पुत्रकर्माली भगवान्को नमस्कार है । परम मङ्गलकारी, कल्याणकरकी आदिविधाना प्रभो ! आपको नमस्कार है । कमञ्जनन ! आपको नमस्कार है । प्रभनाम ! आपको नमस्कार है । ब्रह्माकी उत्पत्तिके स्थान, आत्मजन्मा ! आपको नमस्कार है । प्रभो ! आप लक्ष्मीपति, इन्द्रियोंका दान करनेवाले, संयमियोंके द्वारा दर्शन पानेयोग्य, हाथमें सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले एवं स्वह् (तडकार) धारण करने हैं; आपको नमस्कार है । स्वामिन् ! आत्मज्ञानके द्वारा यज्ञ करनेवाले, योगियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य, योगकी साधना करनेवाले योगी, सत्कगुण, रजोगुण, तमोगुणमें रहित किंतु (दयदि) विविध गुणोंमें युक्त ब्रह्मकी श्रीहरि भगवान्को नमस्कार है ॥ १७-२० ॥

जगद्य त्रिष्टये यत्र जगन्तो यो न दृश्यते । नमः स्थूलान्तरिक्षाय तस्मै देवाय शार्ङ्गिणे ॥ २१ ॥
 यं न पश्यन्ति पश्यन्तो जगदप्यखिलं नराः । अपश्यन्निर्जगदप्यथ दृश्यते हृदि संमितः ॥ २२ ॥
 वह्निर्ज्योतिरलक्ष्यो यो लक्ष्यते ज्योतिषः परः । यस्मिन्नेव यतश्चैव यथैतदपि लं जगन् ॥ २३ ॥

तस्मै समस्तजगताममराय नमो ।
 आद्यः प्रजापतिः सोऽपि पितृणां परमं पतिः । पतिः सुराणां यस्तस्मै नम कृष्णाय वेधसे ॥ २४ ॥

जिन आप परमेश्वरमें सारा तसार स्थित है, किंतु जा ससारसे दृश्य नहीं हैं, ऐसे स्थूल तथा अन्तरिक्ष आप शार्ङ्गधारी देवकी नमस्कार है । सम्पूर्ण जगत्की अपेक्षा करनेवाले प्राणी जिन आपके दर्शनसे दृश्य रहते हैं, आपका वे दर्शन नहीं कर पाने, परंतु जिन्होंने जगत्की अपेक्षा नहीं की, उन्हें आप

स्थित दीग्वने हैं। आपकी ज्योति बाहर है एवं अन्तस्थ है, सर्वोत्तम ज्योति है; यह सारा जगत् आपमें स्थित है, आपसे उत्पन्न होना है और आपका ही है, जगत्को देवता उन आपको नमस्कार है। जो आप सबके आदिमें प्रजापति रहे हैं एवं वितर्कके श्रेष्ठ स्वामी हैं, देवताओंके स्वामी हैं; उन आप श्रीकृष्णको बार-बार नमस्कार है ॥ २१-२४ ॥

यः प्रवृत्तैर्निवृत्तैश्च कर्मभिस्तु विरज्यते । स्वर्गापवर्गफलद्वो नमस्तस्मै महाश्रुते ॥ २५ ॥
 यस्तु संचिन्त्यद्यात्तोऽपि सर्वं पापं व्ययोहति । नमस्तस्मै विशुद्धाय परस्मै हरिमेधसे ॥ २६ ॥
 ये पश्यन्त्यखिलाधारमोशानमजमव्ययम् । न पुनर्जन्ममरणं प्राप्नुवन्ति नमामि तम् ॥ २७ ॥
 यां यतो यज्ञपरमैरिच्यते यज्ञसंस्थितः । तं यज्ञपुरूपं विष्णुं नमामि प्रभुमोक्षवरम् ॥ २८ ॥

जो प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्मोंसे विरक्त तथा स्वर्ग और मोक्षके फलके देनेवाले हैं, उन महा धारण करनेवाले भगवान्को नमस्कार है। जो स्मरण करनेवालेके सारे पाप नष्ट कर देते हैं, उन विशुद्ध हरिमेधाको मेरा नमस्कार है। जो प्राणी अविनाशी भगवान्को अखिलाधार, ईशान एवं अजके रूपमें देखते हैं, वे कभी भी जन्म-मरणका नहीं प्राप्त होते। प्रभो ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आपकी आराधना यज्ञोंद्वारा होती है, आप यज्ञकी मूर्ति हैं, यज्ञमें आपकी स्थिति है; यज्ञपुरूप ! आप ईश्वर, प्रभु विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २५-२८ ॥

गीयते सर्ववेदेषु वेदविद्भिर्विदां गतिः । यस्तस्मै वेद्वेद्याय नित्याय विष्णवे नमः ॥ २९ ॥
 यतो विद्वं समुद्भूतं यस्मिन् प्रलयमेष्यति । विश्वोद्भवप्रतिश्रय नमस्तस्मै महात्मने ॥ ३० ॥
 आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं व्याप्तं येन चराचरम् । मायाजालसमुच्चङ्गं तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३१ ॥
 सोऽव तोयस्वरूपस्यो विभर्त्यखिलमोक्षवरः । विद्वं विद्ववर्षति विष्णुं तं नमामि प्रजापतिम् ॥ ३२ ॥

वेदोंमें आपका गुणगान हुआ है—इसे वेदज्ञ गाते हैं। आप विद्वज्जनोंके आश्रय हैं, वेदोंसे जानने योग्य एवं नित्यरूप हैं; आप विष्णुको मेरा नमस्कार है। विश्व जिनसे समुद्भूत हुआ है और जिनमें विघ्न होना तथा जो विश्वके उद्भव तथा प्रतिघातके स्वरूप हैं, उन महान् आत्मान-परमात्मा-को मेरा नमस्कार है। जिनके द्वारा मायाजालमें बंधा हुआ ब्रह्ममें लेकर चराचर (विश्व) व्याप्त है, उन उपेन्द्र भगवान्को मैं नमस्कार करती हूँ। जो ईश्वर जलम्बुरूपमें स्थित होकर अखिल विश्वका नाश करने हैं, उन विश्वपति एवं प्रजापति विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २९-३२ ॥

मूर्त्तं तमोऽसुरमयं तद्विधां विनिहन्ति यः । रात्रिजं सूर्यरूपी च तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३३ ॥
 यस्याक्षिणां चन्द्रसूर्यां सर्वलोकाशुभाशुभम् । पश्यतः कर्म सततं तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३४ ॥
 यस्मिन् सर्वदेवो सर्वं सत्यमेतन्मयोदितम् । नानृतं तमजं विष्णुं नमामि प्रभवान्व्ययम् ॥ ३५ ॥
 यद्येतत्सत्यमुक्तं मे भूयश्चातो जनार्दन । सत्येन तेन सकलाः पूर्यन्तां मे मनोरथाः ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

जो सूर्यरूपी उपेन्द्र असुरमय रात्रिसे उन्मत्त, रूपवारी तमका विनाश करते हैं, मैं उनको प्रणाम करती हूँ। जिनकी सूर्य तथा चन्द्रमा-रूप दोनों आँखें समस्त लोकोंके शुभाशुभ कर्मोंको सतत देखती रहती हैं, उन उपेन्द्रको मैं नमस्कार करती हूँ। जिन सर्वदेवके विषयमें मेरा यह समस्त उद्धार सत्य है—असत्य नहीं है, उन अजन्मा, अन्वय एवं सदा विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ। हे जनार्दन ! यदि मैंने यह सत्य कहा है तो उस सत्यके प्रभावसे मेरे मनकी सारी अनिच्छायें परिपूर्ण हों ॥ ३३-३६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तार्दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

[अथाष्टाविंशोऽध्यायः]

लोकहर्षण उवाच

एवं स्तुतोऽप्य भगवान् वासुदेव उवाच ताम् । अद्भ्यः सर्वमूतानां नस्याः संदर्शने स्थितः ॥ १ ॥
अद्भुतमसौ अध्याय प्रारम्भ

(अदितिकी प्रार्थनापर भगवान्का प्रकट होना तथा भगवान्का अदितिकी वर देना)

लोकहर्षणने कहा—इस प्रकार स्तुति करनेके बाद मनस्स प्राणिकोंके दृष्टि पथमें न आनेके कारण
वासुदेव उसके सामने प्रकट हुए और बोले— ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनोरथास्त्वमदिते यानिच्छस्यभिराच्छित्तान् । तांस्तुं प्राप्स्यसि धर्ममे मत्प्रसादान्न संशयः ॥ २ ॥
शृणु त्वं च महाभागे वषे यस्ते हृदि स्थितः । मद्दर्शनं हि निफलं न फदाचिद् भविष्यति ॥ ३ ॥
यदचेह त्वद्गुणे स्थिता त्रिरानं वै करिष्यति । सर्वे कामाः सन्वृष्यन्ते मनसा यानिहेच्छति ॥ ४ ॥
हृत्स्थोऽपि वनं यस्तु अदित्याः स्मरते नरः । सोऽपि यानि परं स्थानं किं पुनर्निवसन् नरः ॥ ५ ॥
यदचेह ब्राह्मणान् पञ्च घ्नन् वा द्वानेकमेव वा । भोजयेच्छूद्रया युक्तः स यानि परमां गतिम् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—धर्ममे (धर्मके मर्मको जाननेवाँ) अदिति ! तुम मुझमेजिन मनचाही कामनाओंकी
पूर्ति चाहती हो उन्हें तुम मेरी रूपसे प्राप्त करोगी, इसमें कोई संदेह नहीं । महाभागे ' सुनो, तुम्हारे मनमें
जिन वशोंकी इच्छा है उन्हें तुम मुझसे माँगे; क्योंकि मेरे दर्शन करनेका फल कभी व्यर्थ नहीं होता । तुम्हारे इस
(अदिति) वनमें रहकर जो तीन गणोंका निरास करोगे, उनही सभी मनचाही कामनाएँ पूरी होंगी । जो
मनुष्य दूर देशमें स्थित रहकर भी तुम्हारे इस वनका स्मरण करेगा, वह परम धानकी प्राप्त कर लेगा । फिर यहाँ
रहनेवाले मनुष्योंको परम धानकी प्राप्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य ? जो मानव इस स्थानपर पाँच, तीन अथवा
दो या एक ही ब्राह्मणको श्रद्धार्थक भोजन करेगा, वह उत्तम गति (मोक्ष) को प्राप्त करेगा ॥ २-६ ॥

अदितिवाच

यदि देव प्रसन्नस्त्वं भक्त्या मे भक्तवत्सल । प्रैलोक्याधिपतिः पुत्रस्तद्वस्तु मम यास्य ॥ ७ ॥
हृतं राज्यं हनन्धाम्य यशभाग इहामुरैः । स्वयि प्रसन्ने वरद तत् प्राप्नोतु सुतो मम ॥ ८ ॥
हृतं राज्यं न दुःखाय मम पुत्रस्य केशव । प्रपन्नदायविभ्रंशो वाधां मे कुरुते हृदि ॥ ९ ॥

अदितिने कहा—भक्तवत्सल देव ! यदि आप मेरी भक्तिमें मेरे ऊपर प्रमन हैं तो मेरा पुत्र इन्त तीनों
लोकोंका स्वामी हो जाय । असुरोंने उसके राज्यको तथा यशमें निरनेवाले भागको छीन लिया है । अब बदानी
प्रभो ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरा पुत्र उसे (राज्यको) प्राप्त कर ले । केशव ! मेरे पुत्रके साथ न असुरोंका
छीन जानेका मुझे दुःख नहीं है, किंतु शरणागतको निरनेवाले हिस्सेका जिन जाना मेरे हृदयको दुःख रहा है ॥ ७-९ ॥

श्रीभगवानुवाच

हृतः प्रसादो हि मया तव देवि यथेऽस्ति नम् । स्वादीनं चैव ते गर्भे संभविष्यामि कदाप्यात् ॥ १० ॥
तव गर्भे सुमुद्भूतस्तनस्ते ये त्वयाप्यः । तानहं च हनिष्यामि निवृत्ता भव गन्दिनि ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—अति ! तुम्हारी इच्छाक अनुसार मैंने तुम्हारे ऊपर कृपाकरके प्रकट जिन है ।
(सुनो,) कदापमें तुम्हारे गर्भमें मैं अपने अशाने जन्म दूँगा । तुम्हारी बेटोंमें जिन लेकर मैं तुम्हारे सभी
शत्रुओंका वध करूँगा । नन्दिति ! तुम छूट जाओ ॥ १०-११ ॥

वदितिदशः

प्रसीद देवदेवेश नमस्ते विश्वभावन ।

नाहं त्वामुदरे चोद्धृमीश शक्यामि केशव । यस्मिन् प्रतिष्ठितं सर्वं विश्वयोनिस्त्वमीश्वरः ॥ १२ ॥
अदितिने कदा—देवदेवेश ! आप (मुक्षपर) प्रसन्न हों । विश्वभावन ! आपको मेरा नमस्कार है ।
हे देवेश ! हे ईश ! आप विश्वके उत्पत्ति-स्थान और ईश्वर हैं । जिन आप प्रभुमें सारा संसार प्रतिष्ठित है,
उन आपके भारको मैं अपनी कोखमें वहन न कर सकूँगी ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं त्वां च वदिष्यामि आत्मानं चैव नन्दिनि । न च पीडां करिष्यामि स्वस्ति तेऽस्तु धजाम्यहम् ॥ १३ ॥

दृष्टुं क्तवान्तर्दिते देवेऽदितिर्गर्भं समादधे ।

गर्भस्थिते ततः कृष्णे च्चाल सफला क्षितिः । चक्रम्पिरे महाशैला जग्मुः क्षोभं महाम्भयः ॥ १४ ॥

यतो यतोऽदितिर्याति ददाति पदमुत्तमम् । ततस्ततः क्षितिः खेदात्रनाम द्विजपुंगवाः ॥ १५ ॥

दैत्यानामपि सर्वेषां गर्भस्थे मधुसूदने । बभूव तेजसो हानिर्यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुने कदा—नन्दिनि । मैं स्वयं अपना और तुम्हारा—दोनोंका भार वहन कर दूँगा; मैं तुम्हें पीडा नहीं करूँगा । तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ । यह कहकर भगवान्के चले जानेपर अदितिने गर्भधारण कर लिया । भगवान्-(कृष्ण-)के गर्भमें आ जानेपर सारी पृथ्वी उगमग गयी । बड़े-बड़े पर्वत हिलने लगे एवं विशाल समुद्र विक्षुब्ध हो गये । द्विजश्रेष्ठो ! अदिति जहाँ-जहाँ जाती या पैर रखती थी, वहाँ-वहाँकी पृथ्वी खेद-(भार-)के कारण झुक जाती थी । जैसा कि ब्रह्माने (पहले) बतलाया था, मधुसूदनके गर्भमें आनेपर सभी दैत्योंके तेजकी हानि हो गयी ॥ १३-१६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अष्टाविंशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

[अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः]

श्रीमहर्षण उवाच

निस्तेजसोऽसुरान् एषा समस्तानसुरेश्वरः । प्रह्लादमथ पप्रच्छ वलिरात्मापितामहम् ॥ १ ॥

उन्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वलिरा पितामह प्रह्लादसे प्रश्न, प्रह्लादका अदितिके गर्भमें यामनागमन एवं विष्णु-महिमाका कथन तथा स्तवन)

श्रीमहर्षण बोले—उसके बाद (दैत्योंके तेजके समाप्त हो जानेपर) असुरराज वल्लिने समस्त असुरोंको श्रीहीन देखकर अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा—॥ १ ॥

वलिरवाच

एतान् निस्तेजसो दैत्या निर्दग्धा इव वद्विना । किमेते सहसैवाद्य प्रह्लादण्डहता इव ॥ २ ॥

दुर्मिष्टं किं तु दैत्यानां किं कृत्या विधिनिर्मिता । नाशार्थेषां समुद्भूता येन निस्तेजसोऽसुराः ॥ ३ ॥

वल्लिने कदा—तात ! (इस समय) दैत्य लोग आगसे झुलसे झुलसे कान्तिहीन हो गये हैं । आज ये ऐसा क्यों हो गये हैं ? प्रतीत होता है कि मानो इन्हें ब्राह्मणका अभिशाप लग गया है—ये ब्रह्मदण्डसे जैसे

पीड़ित हो गये हैं। क्या दैत्यों का कोई अशुभ होनेवाला है ! अथवा इनके नाशके लिये ब्रह्मने कृपा-(पुराणगते उत्पन्न की गयी मारिकाशक्ति-को उत्पन्न कर दिया है, जिससे ये असुरब्रह्मण्डल इस प्रकार तेजसे रहित हो गये हैं ॥ २-३ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्यसुरपरस्तेन पृथः पौत्रेण ब्राह्मणाः। चिरं ध्यान्वा जगोद्दमसुरं तं तदा बलिम् ॥ ४ ॥
लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणों ! अपने पौत्र (पुत्रके पुत्र) राजा बलिके इस प्रकार पृथनेपर दैत्योंमें प्रधान महादत्ते देवतक ध्यान करके तब असुर बलिसे ब्रह्मा—॥ ४ ॥

महादत्त उवाच

चलन्ति गिरयो भूमिजंदाति सहसा धृतिम्। सद्यःसमुद्राःक्षुभिता दैत्यानिस्तेजसःशुताः ॥ ५ ॥
सूर्योदये यथा पूर्वं तथा गच्छन्ति न प्रहाः। देवानां च परा लक्ष्मीः कारणेनानुमीयते ॥ ६ ॥
महदेतन्महाबाहो कारणं दानवेश्वर। न ह्यल्पमिति मन्तव्यं त्वया कार्यं कथंचन ॥ ७ ॥
महादत्ते कहा—दानवमिप ! इस समय पहाड़ ढगमग रहे हैं, पृथ्वी एकएक अपनी (सामाजिक) धीला छोड़ रही है, समुद्रमें जोरोंमें छहरे उठ रही हैं और दैत्य तेजसे रहित हो गये हैं। सूर्योदय होनेपर अब पहलेके समान प्रहोमी चाल नहीं दीखती है। इन कारणों-(लक्ष्मी)-से अनुमान होता है कि देवताओंका अभ्युदय होनेवाला है। महाबाहु ! दानवेश्वर ! यह कोई विदोष कारण अवश्य है। इस कारणसे छोटा नहीं मानना चाहिये और आपको इसका कोई प्रतियोग (उपाय) करना चाहिये ॥ ५-७ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्युक्त्या दानवपति महादत्तः सोऽसुरोत्तमः। अत्यर्थभक्तो देवेभ्यं जगाम मनसा हरिम् ॥ ८ ॥
स ध्यान्वपथगं कृत्वा महादत्त मनोऽसुरः। विचारयामास ततो यथा देवो जनार्दनः ॥ ९ ॥
स दशसौदरेऽदित्याः प्रहादो वामनाकृतिम्। तदन्तश्च यस्मिन् ह्यदानमिधनौ मरुतस्तथा ॥ १० ॥
साध्यान् विश्वे तयादित्यान् गन्धर्वोत्तराशस्तान्। विरोचनं च तनयं बलिं चासुरनायकम् ॥ ११ ॥
जम्भं कुजम्भं नरकं बाणमन्यांस्तथासुरान्। आत्मानमुर्षी गगने धायुं धारिं हुताशनम् ॥ १२ ॥
समुद्राद्रिस्तरिद्वीपात् सरोसि च पद्मन् महीम्। धयोमशुप्यानरितयोस्तथैव च सरीसृपान् ॥ १३ ॥
सप्तस्तलोककण्ठारं ब्रह्माणं भरमेव च। महनक्षत्रताराश्च दक्षशांघां प्रजापतीन् ॥ १४ ॥
सम्पदयन् विस्मयापिष्टः प्रकृतिसृष्टः सणात् पुनः। महादत्तः प्राह दैत्येन्द्रं बलिं वैरोचनि ततः ॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा—असुरोंमें श्रेष्ठ महादत्त भज महादत्ते दैत्यराज बलिसे इस प्रकार कड़कर मनसे श्रीहरिके ध्यान किया। असुर महादत्ते अपने मनसे भगवान्के ध्यान-पथमें लक्ष्मीर चिन्तन किया—जैसा कि भगवान्का स्वरूप है। उन्होंने उस समय (चिन्तन करते समय) अदिति की बोगमें वामनके रूपमें भगवान्को देखा। उनके भीतर वसुओं, ह्रदों, दोनों अश्विनीकुमारों, मरुतों, साध्यों, निस्वेदेयों, धारित्यों, पद्मों, नार्यों, राक्षसों तथा अपने पुत्र विरोचन एवं असुरनायक बलि, जम्भ, कुजम्भ, नरक, बाण तथा इस प्रकारके दूसरे बहूतसे असुरों एवं अपनेको और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, समुद्रों, पर्वतों, नदियों, द्वीपों, सरो, पशुओं, भूस्पर्शियों, पक्षियों, सम्पूर्ण मनुष्यों, सरवनेवाले जीवों, समस्त लोकोंके षष्ठा ब्रह्मा, सिद्ध, प्रदों, मन्त्रों, तारुओं तथा दक्ष आदि प्रजापतियोंको भी देखा। महादत्त इन्हें देखकर आश्चर्यमें पड़ गये, किन्तु भगवान्के ही पूर्ववत् प्रकृतिस्य हो गये और विरोचन-पुत्र दैत्योंके राजा बलिसे बोले—॥ ८-१५ ॥

तत्संज्ञातं मया सर्वं यद्यं भवतामियम् । तेजसो हानिरुत्पन्ना शृण्वन्तु तदशेषतः ॥ १६ ॥
देवदेवो जगद्योनिरयोनिर्जगदादिजः । अनादिरादिर्विश्वस्य वरेण्यो वरदो हरिः ॥ १७ ॥

परावराणां परमः परापरसतां गतिः ।

प्रभुः प्रमाणं मानानां सतलोकगुरोर्गुरुः । स्थितिं कर्तुं जगन्नाथः सोऽचिन्त्यो गर्भतां गतः ॥ १८ ॥

प्रभुः प्रभूणां परमः पराणामनादिमध्यो भगवाननन्तः ।

त्रैलोक्यमंशेन सनाथमेकः कर्तुं महात्माऽदितिजोऽवतीर्णः ॥ १९ ॥

(दैत्यो !) मैंने तुम लोगोंकी कान्तिहीनताके (वास्तविक) सब कारणको—अच्छी तरहसे समझ लिया है । (अब) उसे तुम लोग भलीभाँति सुनो । देवोंके देव, जगद्योनि, (विश्वको उत्पन्न करनेवाले) किंतु स्वयं अयोनि, विश्वके प्रारम्भमें विद्यमान पर स्वयं अनादि, फिर भी विश्वके आदि, वर देनेवाले वरणीय हरि, सर्वश्रेष्ठोंमें भी परम (श्रेष्ठ), बड़े-छोटे सज्जनोंकी गति, मानोंके भी प्रमाणभूत प्रभु, सातों लोकोंके गुरुओंके भी गुरु एवं चिन्तनमें न आनेयोग्य विश्वके खामी मर्यादा-(धर्महेतु-) की स्थापना करनेके लिये (अदितिके) गर्भमें आ गये हैं । प्रभुओंके प्रभु, श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, आदि-मध्यसे रहित, अनन्त भगवान् तीनों लोकोंको सनाथ करनेके लिये अदितिके पुत्रके रूपमें अंशावतारस्वरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६-१९ ॥

न यस्य रुद्रा न च पद्मयोनिर्नेन्द्रो न सूर्येन्दुमरीचिमिश्राः ।

जानन्ति दैत्याधिप यत्स्वरूपं स वासुदेवः कलयावनीर्णः ॥ २० ॥

यमक्षरं धेद्विदो वदन्ति विशन्ति यं दानधिधूतपापाः ।

यस्मिन् प्रविष्टा न पुनर्भवन्ति तं वासुदेवं प्रणमामि देवम् ॥ २१ ॥

भूतान्यशेषाणि यतो भवन्ति ययोर्मयस्तोयनिधेरजस्रम् ।

लवं च यस्मिन् प्रलये प्रयान्ति तं वासुदेवं प्रणतोऽस्म्यचिन्त्यम् ॥ २२ ॥

न यस्य रूपं न बलं प्रभावो न च प्रतापः परमस्य पुंसः ।

विशयते सर्वपितामहाद्यैस्तं वासुदेवं प्रणमामि नित्यम् ॥ २३ ॥

दैत्यपते ! जिन वासुदेव भगवान्को वास्तविक स्वरूपको रुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र एवं मरीचि आदि श्रेष्ठ पुरुष नहीं जानते, वे ही वासुदेव भगवान् अपनी एक कलासे अवनीर्ण हुए हैं । वेदके जाननेवाले जिन्हें अक्षर कहते हैं तथा ब्रह्मज्ञानके होनेसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे निष्पाप शुद्ध प्राणी जिनमें प्रवेश पाते हैं और जिनके भीतर प्रविष्ट हुए लोग पुनः जन्म नहीं लेते—ऐसे उन वासुदेव भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ । समुद्रकी लहरोंके समान जिनसे सगस्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं तथा प्रलयकालमें जिनके भीतर विलीन हो जाते हैं, उन अचिन्त्य वासुदेवको मैं प्रणाम करता हूँ । ब्रह्मा आदि जिन परम पुरुषके रूप, बल, प्रभाव और प्रतापसे नहीं जान पाते उन वासुदेवको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ २०-२३ ॥

रूपस्य चक्षुर्ग्रहणं त्वगेषा स्पर्शग्रहित्री रसना रसस्य ।

प्राणं च गन्धग्रहणे नियुक्तं न घ्राणचक्षुः श्रवणादि तस्य ॥ २४ ॥

सार्थप्रकाशः परमार्थतो यः सर्वेश्वरो वेदितव्यः स युक्त्या ।

ज्ञानं नमोऽप्यमनघं च देवं प्राणं नतोऽहं हरिमोशितारम् ॥ २५ ॥

धैर्यैकदंष्ट्रेण समुद्धतैयं धरा चला धारयतीह सर्वम् ।

शंते प्रसिन्वा सकलं जगद् यस्तर्माद्यमीशं प्रणतोऽस्मि विष्णुम् ॥ २६ ॥

अंशान्तर्णन च येन गर्भे हतानि तेजांसि महासुराणाम् ।
 नमामि तं देवमनन्तर्भीशमशेषमन्तारतरोः कुठारम् ॥ २७ ॥
 देवो जगद्योनिरयं महात्मा स पोडशादीन महाऽसुरेन्द्राः ।
 सुरेन्द्रमातुर्जंडरं प्रविष्टो हतानि यस्तेन यत्नं धृषुषि ॥ २८ ॥

जिन परमेधरने रूप देवनेके त्रिये आँगोंको, स्पर्शज्ञानके त्रिये त्वचाको, लड़े-मीठे खाद लेनेके त्रिये जीभको और सुगन्ध-दुर्गन्ध सूँघनेके त्रिये नाकको नियत किया है; पर स्वयं उनके नाक, आँख और कान आदि नहीं हैं। जो बल्लुत सत्य प्रकाशस्वरूप हैं, वे सर्वेश्वर युक्तिके द्वारा (कुठ-कुठ) जाने जा सकते हैं; उन सर्वसर्व, स्तुतिके योग्य, निस्त्री भी प्रकारके मलसे रहित, (भक्तिके) प्राप्य, ईश-हरिदेवको में प्रणाम करता हूँ। जिनके द्वारा एक मोटे तथा बड़े दाँतसे निकाली गयी चिरस्थायिनी पृथ्वी सभी कुठ धारण करनेमें समर्थ है तथा जो समस्त संसारको अपनेमें स्थान देकर सोनेका खॉग धारण करते हैं, उन स्वयं ईश विष्णुको में प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने अपने अंशसे अदिनिके गर्भमें आकर महासुरोंके तेजका अपहरण कर लिया, उन समस्त संसाररूपी वृक्षके त्रिये कुठाररूप धारण करनेवाले अनन्त देवाधीश्वरको में प्रणाम करता हूँ। हे महासुरो ! जगत्की उत्पत्तिके स्थान वे ही मझाना देव अपने सोलहवें अशकी कगसे इन्द्रकी मानाके गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं और उन्होंने ही तुम लोगोंके शारीरिक बचको अयत्न कर लिया है ॥ २४-२८ ॥

बलिकथा

तात कोऽयं हरिर्नाम यतो नो भयमागतम् । सन्ति मे शतशो दैत्या वासुदेवलाधिकाः ॥ २९ ॥
 विप्रचित्तिः शिविः शंक्रुरयःशंक्रुस्तथैव च । हयशिरा अथशिरा भङ्गकारो महाहनुः ॥ ३० ॥
 प्रतापी प्रथगः शंभुः कुम्भकुराक्षथ दुर्जयः । एते चान्ये च मे सन्ति दैतेया दानवास्तथा ॥ ३१ ॥
 महाबला महावीर्यो भूभारधरणक्षमा । परामेकैकराः कृष्णो न वीर्याद्धेन संमितः ॥ ३२ ॥

बलिने कहा—तात ! जिनसे हम सनको डर है वे हरि कौन हैं ! हमारे पास वासुदेवसे अधिक शक्ति-शाली सैकड़ों दैत्य हैं; जैसे—विप्रचित्ति, शिव, शङ्कु, अय-शंक्रु, हयशिरा, अथशिरा, (विप्रतन करनेवाला-) भङ्गकार, महाहनु, प्रतापी, प्रथग, शम्भु, दुर्जय एवं कुम्भकुराक्ष । ये तथा अन्य भी ऐसे अनेक दैत्य एवं दानव हैं। ये सभी महाबलवान् तथा महापराक्रमी एवं पृथ्वीके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं। कृष्ण तो हमारे इन बलवान् दैत्योंमेंसे प्रथम-पृथक् एक-एकके आये बलके समान भी नहीं हैं ॥ २९-३२ ॥

लोमहर्षण उवाच

पौत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा प्रह्लादो दैत्यसत्तमः । सक्रोधश्च बलिं प्राह वैकुण्ठक्षेपवादिनम् ॥ ३३ ॥
 पिनाशामुपयास्यन्ति दैत्या ये चापि दानवाः । येषां त्वमोदशो राजा दुर्बुद्धिरपिविक्रमान् ॥ ३४ ॥
 देवदेवं महाभागं वासुदेवमजं विभुम् । त्वामृते पापसङ्कल्प कोऽन्य एवं वदिष्यति ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—अपने पौत्रको इस उक्तिको सुनकर दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद मुद हो गये और भगवान्की निन्दा करनेवाले बलिसे बोले—बलि ! तेरे-जैसे विवेकहीन एवं दुर्बुद्धि राजाके साथ ये सारे दैत्य एवं दानव मारे जायेंगे। हे पपको ही सोचनेवाले पापबुद्धि ! तुम्हारे सिवा एसा कौन है, जो दमरिदेव महाभाग अज एवं सर्वन्यापी वासुदेवको इस तरह कहेगा ॥ ३३-३५ ॥

य एते भवता प्रोक्ताः समस्ता दैत्यदानवाः । सप्रह्लादस्तथा देवाः स्यान्गान्ता विभूतयः ॥ ३६ ॥
 त्वं चाहं च जगच्चेदं सादिद्रुमनर्दायिनम् । ससमुद्रद्वीपलोकोऽयं यद्वेदं सचराचरम् ॥

यस्याभिवाद्यवन्द्यस्य ध्यायिनः परमात्मनः । एकांशांशकलाजन्म फस्तमेवं प्रवक्ष्यति ॥ ३८ ॥
 ऋते विनाशाभिमुखं त्वामेकमविवेकिनम् । दुर्बुद्धिमजितात्मानं वृद्धानां शासनातिगम् ॥ ३९ ॥

तुमने जिन-जिनका नाम लिया है, वे सभी दैत्य एवं दानव तथा ब्रह्माके साथ सभी देवता एवं चराचर-की समस्त विभूतियाँ, तुम और मैं, पर्वत तथा वृक्ष, नदी और वनसे युक्त सारा जगत् तथा समुद्र एवं द्रौपदीसे युक्त सम्पूर्ण लोक तथा चर और अचर जिन सर्ववन्द्य श्रेष्ठ सर्वव्यापी परमात्माके एक अंशकी अंशकलासे उत्पन्न हुए हैं, उनके विषयमें विनाशकी ओर चलनेवाले विवेकहीन, मूर्ख, इन्द्रियोंके गुलाम, वृद्धोंके आदेशोंका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारी अपेक्षा कौन ऐसा (कृया नामसे) कह सकेगा ? ॥ ३६-३९ ॥

शोच्योऽहं यन्म मे रोहे जातस्तव पिताऽधमः । यस्य त्वमीदृशः पुत्रो देवदेवावमानकः ॥ ४० ॥
 तिष्ठत्यनेकसंसारसंवातांघ्रिविनाशिनः । कृष्णे भक्तिरहं तावद्वेक्ष्यो भवता न किम् ॥ ४१ ॥
 न मे प्रियतरः कृष्णादपि देहोऽयमात्मनः । इति जानात्ययं लोको भवांश्च दितिनन्दन ॥ ४२ ॥
 जानन्नपि प्रियतरं प्राणेश्वोऽपि हरिं मम । निन्दां करोपि तस्य त्वमकुर्वन् गौरवं मम ॥ ४३ ॥
 विरोचनस्तव गुरुर्गुरुस्तस्याप्यहं घले । ममापि सर्वजगतां गुरुर्नारायणो हरिः ॥ ४४ ॥

मैं (ही सचमुच) शोचनीय हूँ, जिसके घरमें तुम्हारा अधम पिता उत्पन्न हुआ, जिसका तुम्हारे-जैसा देवदेव- (विष्णु-)का निरस्कार करनेवाला पुत्र है। जो अनेक संसारके समूहोंके प्रवाहका विनाश करनेवाले हैं, ऐसे कृष्णमें भक्तिके लिये तुम्हें क्या मेरा भी न्यान नहीं रहा। दितिनन्दन! मेरे विषयमें समस्त संसार एवं तुम भी यह जानते हो कि मुझे यह मेरी देह भी कृष्णसे अधिक प्रिय नहीं है। फिर यह समझते हुए भी कि भगवान् कृष्ण मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, फिर भी तुम मेरी गर्वादापर ध्यान न देकर ठेस पहुँचाते हुए उनकी निन्दा कर रहे हो। वृत्ति! तुम्हारा गुरु (पिता) विरोचन है, उसका गुरु (पिता) मैं हूँ तथा मेरे भी गुरु सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् नारायण श्रीहरि हैं ॥ ४०-४४ ॥

निन्दां करोपि तस्मिंस्त्वं कृष्णे गुरुगुरोर्गुरौ । यस्मात् तस्मादिद्वैव त्वमैश्वर्याद् अंशमेप्यसि ॥ ४५ ॥
 स देवो जगतां नाथो घले प्रभुर्जनार्दनः । नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते भक्तिमानत्र मे गुरुः ॥ ४६ ॥
 एतावन्मात्रमप्यत्र निन्दता जगतो गुरुम् । नापेक्षितस्त्वया यस्मात् तस्माच्छापं ददामिते ॥ ४७ ॥
 यथा मे शिरसश्छेदादिदं गुरुतरं घले । त्वयोक्तमच्युताक्षेपं राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ४८ ॥
 यथा न कृष्णादपरः परिव्राणं भवार्णवे । तथाऽचिरेण पश्येयं भवन्तं राज्यविच्युतम् ॥ ४९ ॥
 ॥ इति श्रीधामनपुराणे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

जिस कारण तुम अपने गुरु- (पिता विरोचन-)के गुरु (पिता मैं प्रहाद)के भी गुरु विष्णुकी निन्दा कर रहे हो, इस कारण तुम यही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाओगे। वृत्ति! वे प्रभु जनार्दनदेव जगत्के स्वामी हैं। इस विषयमें मेरा गुरु (कर्मात् मैं) भक्तिमान् हूँ, यह विचारकर तुसे मेरी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। जिस कारणसे जग्द्गुहारी निन्दा करनेवाले तुमने मेरी इतनी भी अपेक्षा नहीं की, इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूँ; क्योंकि वृत्ति! तुम्हारे द्वारा अच्युतके प्रति अपमानजनित ये वचन मेरे लिये सिर कट जानेसे भी अधिक घटानपी हैं, अतः तुम रागसे भ्रष्ट होकर गिर जाओ। भवसागरमें भगवान्को विष्णु छोड़कर दूसरा कोई रक्षक नहीं है, अतः नीध ही मैं तुम्हें रागसे भ्रष्ट हुआ देखूँगा ॥ ४५-४९ ॥

इति श्रीधामनपुराणमें एकोनविंशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

[अथ त्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

इति दैत्यपतिः श्रुत्या यचनं रौद्रमनियम् । प्रसाद्यामास गुहं प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥ १ ॥
तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका प्रह्लादको संतुष्ट करना, अदितिके गर्भसे यामनका प्राकट्य; महाद्वारा श्रुति, यामनका बलिके यहाँ जाने)

लोमहर्षणने कहा—दैत्यपति बलि प्रह्लादनी इस प्रकार बटोर एव अप्रिय उक्तिसे सुनकर उनके चरणोंमें

बार-बार सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए मनाने लगा ॥ १ ॥

बलिकयाच

प्रसीद तात मा कोपं कुरु मोहदत्ते मयि । यत्प्रलेपमूढेन मयैतद्वाक्यमोरितम् ॥ २ ॥

मोहापहतविज्ञानः पापोऽहं दितिजोत्तम । यच्छप्तोऽसि सुरचारस्तत्साधु भवता हृतम् ॥ ३ ॥

पञ्चभ्रंशं यशोभ्रंशं प्राप्स्यामिति ततस्त्वहम् । निपण्णोऽसि यथा तात तथैवायिनये हृते ॥ ४ ॥

श्रैलोक्यपराज्यमैदवर्यमन्यद्वा नातिदुर्लभम् । संसारे दुर्लभास्तात गुरयो ये भवद्विधाः ॥ ५ ॥

प्रसीद तात मा कोपं कर्तुमर्हसि दैत्यप । त्वत्कोपपरिदग्धोऽहं परितप्यं दिवानिराम् ॥ ६ ॥

बलिने कहा—तात । आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों, मैं मूढ़ हो गया था, मेरे ऊपर क्रोध न करें । बलके

वमण्डसे विवेकहीन होनेके कारण मैंने यह वचन कहा था । दैत्यश्रेष्ठ । मोहके कारण मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी

थी, मैं अधम हूँ । मैंने सदाचारका पालन नहीं किया, जिससे मुझ पापाचारीको आपने जो शाप दिया, वह बहुत

ठीक किया । तात । आप (यत्) मेरी उरण्डताके कारण बहुत दुःखी हूँ, अतः मैं राज्यसे श्रुत और अपनी

कीर्तिसे रहित हो जाऊँगा । तात । संसारमें तीनों लोकोंका राज्य, ऐश्वर्य अथवा अन्य किसी (वस्तु) का मिलना

बहुत कठिन नहीं है, परंतु आप-जैसे जो गुरुजन हैं, वे संसारमें दुर्लभ हैं । दैव्योक्ति रक्षा करनेवाले तात ।

आप प्रसन्न हों, क्रोध न करें । आपका क्रोध मुझे जथा रहा है, इसलिये मैं दिन-रात (आठों प्रहर) संतप्त हो

रहा हूँ ॥ २-६ ॥

प्रह्लाद उवाच

यत्स कोपेन मे मोहो जनितस्तेन ते मया । शापो दत्तो धिवेकश्च मोहेनापहतो मम ॥ ७ ॥

यदि मोहेन मे शानं नाक्षिप्तं स्याममहासुर । तत्कथं सर्वगं जानन् हरिं कच्चिच्छराग्यहम् ॥ ८ ॥

यो यः शापो मया दत्तो भवतो सुरपुंगव । भाव्यमेतेन नूनं ते तस्मात्त्वं मा विशोदपै ॥ ९ ॥

अद्यप्रभृति देवेशो भगवत्यच्युते हरौ । भवेया भक्तिमानोदो स ते प्राप्ता भविष्यति ॥ १० ॥

शापं प्राप्य च मे वीर देवेशः संस्मृतस्त्वया । तथा तथा यदिष्यामि ध्येयस्त्वं प्राप्स्यसे यया ॥ ११ ॥

प्रह्लाद बोले—यत्स । क्रोधके कारण हमें मोह उत्पन्न हो गया था और उसीने मेरी विचार करनेवाली

बुद्धि भी नष्ट कर दी थी, इसीसे मैंने तुम्हें शाप दे दिया । महासुर । यदि मोहवशा मेरा शान दूर नहीं हुआ

होता तो मैं भगवान्को सब जगद् विद्यमान जानता हुआ भी तुम्हें शाप कैसे देना । असुरश्रेष्ठ । मैंने तुम्हें जो

क्रोधवशा शाप दिया है, वह तो तुम्हारे लिये होगा, किंतु तुम दुःखी मन हो; बल्कि आजसे तुम उन देवोंके

भी ईश्वर भगवान् अच्युत हरिकी भक्ति करनेवाले बन जाओ—भक्त हो जाओ । वे ही तुम्हारे रक्षक हो

जायेंगे । वीर । मेरा शाप पाकर तुमने देवेश्वर भगवान्का स्मरण किया है, अतः मैं तुमसे बड़ी कर्तृत्व,

जिससे तुम कल्याणको प्राप्त करो ॥ ७-११ ॥

लोमहर्षणे उवाच

अदितिर्वग्मान्वाद्य सर्वकामनमृद्धिदम् । कामेण ह्यबुद्धे देवो बुद्धिं प्राप्नो महाप्रशाः ॥ १२ ॥
 ततो मासेऽथ दशमे काले प्रपद्य आगते । अजायत स गच्छिन्दो भगवान् वामनाकृतिः ॥ १३ ॥
 अथतीर्णं जगद्वाथे तग्मिन् सर्वाभेरेऽधरे । देवाश्च मुमुक्षुर्दुग्धं देवमानाऽदितिस्तथा ॥ १४ ॥
 चतुर्व्यानाः सुखरूपशी नीरजस्कमभूदासः । धर्मं च सर्वभूतानां तदा मतिरजायत ॥ १५ ॥
 नोद्दिग्धाप्यभूद् देहं मनुजानां द्विजांश्चमाः । तदा हि सर्वभूतानां धर्मं मतिरजायत ॥ १६ ॥
 तं जानशाचं भगवान् ब्रह्मा लोकपिनामहः । जानकर्मादिकां कृत्या क्रियां तुष्य च प्रभुम् ॥ १७ ॥

लोमहर्षणेने कथा—(उवाच) अदितिने सभी कामनाओंकी समृद्धि करनेवाले बरको प्राप्त कर दिया तब उसके उदरमें मशायशशी देव (भगवान्) धीरे-धीरे बहने लगे । इसके बाद दसवें महीनेमें जब प्रसवका समय थाया तब भगवान् गोविन्द वामनाकारमें उत्पन्न हो गये । संसारके स्वामी उन अखिलेश्वरके अवतार के लेंनेपर देवता और देवमाना अदिति दुःखसे मुक्त हो गये । फिर तो (संसारमें) आनन्ददायी वायु बहने लगी, गगन-मण्डल बिना धूँधका (खाल) हो गया एवं सभी जीवोंकी बुद्धि धर्म करनेमें लग गयी । द्विजोत्तमो ! उस समय मनुष्योंकी देहमें कोई बुरादाहट नहीं थी और तब समस्त प्राणियोंकी बुद्धि धर्ममें लग गयी । उनके उत्पन्न होते ही लोकपिनामह रूपाने उनकी तत्काल जानकर्म आदि क्रिया (संस्कार) सम्पन्न करके उन प्रभुकी स्तुति की ॥ १२-१७ ॥

ब्रह्मोवाच

जयाधीश जयाजेय जय विश्वगुणे हरि । जन्ममृत्युजगतानं जयानन्त जयाच्युत ॥ १८ ॥
 जयाजित जयाशेष जयाव्यक्तस्थित जय । परमार्थार्थ सर्वज्ञ ज्ञानक्षेयार्थनिःसृज ॥ १९ ॥
 जयाशेष जगन्साक्षिजगत्कर्तृजगद्गुणे । जगतोऽजगदन्तग स्थितौ पाळयंत जय ॥ २० ॥
 जयाविल जयाशेष जय सर्वहृदिस्थित । जयादिमध्यान्नमय सर्वज्ञानमयोत्तम ॥ २१ ॥
 मुमुक्षुभिर्गतिर्देव्य तिन्यहृष्ट जयेश्वर । योगिभिर्मुक्तिकामैस्तु दमादिगुणभूषण ॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले—अधीश ! आपकी जय हो । अजेय ! आपकी जय हो । विश्वके गुरु हरि ! आपकी जय हो । जन्म-मृत्यु तथा जगमें धर्तन असन्त ! आपकी जय हो । अच्युत ! आपकी जय हो । अजित ! आपकी जय हो । अशेष ! आपकी जय हो । अथवा स्थितिवाले भगवान् ! आपकी जय हो । परमार्थार्थकी (उत्तम प्रणितार्थी) पूर्णमें निहित ! जल और इसके अर्थके अथादक सर्वज्ञ ! आपकी जय हो । अशेष जगतके साक्षी ! जगतके कर्ता ! जगद्गुरु ! आपकी जय हो । जगत् (जग) एवं अजगत (अजग) के स्थिति, पाळन एवं प्रसारके स्वामी ! आपकी जय हो । अजित ! आपकी जय हो । अशेष ! आपकी जय हो । सभीके हृदयमें सर्वार्थके प्रणे ! आपकी जय हो । अदि, मध्य और अन्तस्वरूप ! समस्त ज्ञानकी पूर्ण, उत्तम ! आपकी जय हो । हे मुमुक्षुओंके दाग अतिर्देव्य, तिन्य-प्रसन्न ईश ! आपकी जय हो । हे मुक्तिकी कामना करनेवाले योगियोंके निमित्त, तब योगी मुक्ति विर्गुण प्रणित ! आपकी जय हो ॥ १८-२२ ॥

जयविमृद्धम मुनैः जय सृष्ट जगत्सव । जय सृष्टमानिसृष्टम त्वं जयानिन्द्रिय सेन्द्रिय ॥ २३ ॥
 जय वाजवायवामय देवसेवा जयेश्वर । सर्वकार्यप्रदानेन समुद्रतत्रमुंधार ॥ २४ ॥
 मुनेःपरिज नृगणतियःसमस्तविद्वान् । जगन्मते जय विश्वान् नारायणत प्रेराय ॥ २५ ॥
 नित्यजगत्परिनिष्ठ जगत्ताजंनार्जित । जयाविलय जयतेकस्वरूपकविध प्रभो ॥ २६ ॥
 सर्वज्ञः सर्वज्ञानं सर्वज्ञानप्रदो हरे । न्यन्देरा जगतामोशो नन्धिता धर्मपद्धतिः ॥ २७ ॥

हे अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले ! हे दुर्ज्ञेय (कठिनतासे समझमें आनेवाले) ! आपकी जय हो । हे स्पृष्ट और जगत्-मूर्ति ! आपकी जय हो । हे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभो ! आपकी जय हो । हे इन्द्रियोंसे रहित तथा इन्द्रियोंसे युक्त (नाथ) ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे योगमें स्थित रहनेवाले (स्वामी) ! आपकी जय हो । हे शेषकी शय्यापर सोनेवाले अविनाशी शेषशायी प्रभो ! आपकी जय हो । हे एक दौंतेक बरेनेपर पृथ्वीको उठानेवाले बराहरूपधारी भगवान् ! आपकी जय हो । हे देवताओंके शत्रु- (हिरण्यकशिपु-) के वध-स्वच्छको विदीर्ग करनेवाले वृसिंह भगवान् तथा विश्वकी आत्मा एवं अपनी मायासे बामनरूप धारण करनेवाले वैराव ! आपकी जय हो । हे अपनी भाषामें आवृत्त तथा संसारको धारण करनेवाले परमेधर ! आपकी जय हो । हे चिन्तन करनेसे परे अनेक स्वरूप धारण करनेवाले तथा एकत्रिंश प्रभो ! आपकी जय हो । हरे ! आपने प्रकृतिके भौतिक-भौतिके विचार बढ़ाये हैं । आपकी वृद्धि हो । जगत्की यह भ्रमप्रणाली आप प्रभुमें स्थित है ॥ २३-२७ ॥

न त्वामहं न चेशानो नेन्द्राद्याग्निदशा हरे । शत्रुर्मादा न मुनयः सनकाद्यान योगिनः ॥ २८ ॥
 त्वं मायापटसंवीनो जगत्पत्र जगत्पते । कस्त्यां चेत्यति सर्वेश त्वद्भसाद् विना नरः ॥ २९ ॥
 त्वमेवापधितो यस्य प्रसादसुमुखः प्रभो । स एव केवलं देवं वेत्ति त्वां नेतरो जनः ॥ ३० ॥
 तदीभ्यरेभ्यरेशान विभो यद्वत्स भावन । प्रभवायास्य विश्वस्य विश्वात्मन् पृथुलोचन ॥ ३१ ॥

हे हरे ! मैं, शंकर, इन्द्र आदि देव, सनकादि मुनि तथा योगिगण आपको जाननेमें असमर्थ हैं । हे जगद्गते ! आप इस संसारमें मायारूपी कलसे ढके हैं । हे सर्वेश ! आपकी प्रसन्नताके बिना कौन ऐसा मनुष्य है जो आपको जान सके । प्रभो ! जो मनुष्य आपको आराधना करता है और आप उसपर प्रसन्न होते हैं, वही आपको जानता है, अन्य नहीं । हे ईश्वरोंके भी ईश्वर ! हे ईशान ! हे विभो ! हे भावन ! हे विश्वात्मन् ! हे पृथुलोचन ! इस विश्वके प्रभन (उत्पत्ति—मृतिके कारण) विष्णु ! आपकी वृद्धि हो—जय हो ॥ २८-३१ ॥

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतो हर्षिकेशः स तदा धामनाह्वितः । महस्य भारगम्भीरमुयाचारुदसंपदम् ॥ ३२ ॥
 स्तुतोऽहं भवता पूर्वमिन्द्राद्यैः कदप्येत च । मया च घः प्रतिष्ठानमिन्द्रस्य भुवनप्रथम् ॥ ३३ ॥
 भूयद्वाहं स्तुतोऽदित्या तस्पादचापि मया ध्रुवम् । यथा दानाय दास्यामि प्रैलोचयं हतकण्टकम् ॥ ३४ ॥
 स्तोऽहं तथा करिष्यामि यद्येन्द्रो जगतः पतिः । भविष्यति सहस्राक्षः सत्यमेतद् ग्रामोमि वः ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार जब बामनरूपमें अवर्णीय भगवान्की स्तुति सम्पन्न हुई, तब हर्षिकेश भगवान् हैंसकर अभिप्रायपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त वाणीमें बोले—पूर्वजन्ममें आपने, इन्द्र आदि देवों तथा कश्यपने मेरी स्तुति की थी । मैंने भी आप लोगोंसे इन्द्रके छिये त्रिमुनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी । इसके बाद अदितिने मेरी स्तुति की तो उसमें भी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं वाधाओंसे रहित तीनों लोकोंको इन्द्रको दूँगा । अतः मैं ऐसा कर्त्तव्य कि जिससे हजारों नेत्रोंवाले (इन्द्र) सत्कारके स्वामी होंगे । मेरा यह कथन सत्य है ॥ ३२-३५ ॥

ततः कृष्णाजिनं ब्रह्मा हृषीकेशाय दत्तवान् । यशोपवीतं भगवान् ददौ तस्य वृहस्पतिः ॥ ३६ ॥
 आनादमद्दाद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः ।
 कामण्डलुं वसिष्ठश्च कौशं चोत्तमपाङ्गिराः । आसतं चैव पुलहः पुलस्त्यः पातजामनी ॥ ३७ ॥
 उपतस्थुश्च तं देवाः प्रणवस्वरभृग्जाः । शास्त्राप्यशोपाजि तथा सांख्ययोगीकयश्च याः ॥ ३८ ॥
 स धामनो जटी दण्डी शर्मा धृतकामण्डलुः । सर्वदेवमयो देवो ॥ ३९ ॥

(ह्योक्तेः भगवान्के इस प्रकार अपने वचनकी सत्यता वीरित करनेके बाद) ब्रह्माने ह्योक्तेको कृष्ण मृगचर्म समर्पित किया एवं भगवान् बृहस्पतिने उन्हें यज्ञोपवीत दिया । ब्रह्मपुत्र मरीचिने उन्हें पलाशदण्ड, वसिष्ठने कमण्डलु और अक्षिराने रेशमी वस्त्र दिया । पुलहने आसन तथा पुलस्त्यने दो पीले वस्त्र दिये । ओंकारके स्वरसे अलंकृत वेद, सभी शास्त्र तथा सांख्ययोग आदि दर्शनोंकी उक्तियाँ उनका उपस्थान करने लगीं । समस्त देवताओंके मूर्तिरूप वामनभगवान् जटा, दण्ड, छत्र एवं कमण्डलु धारण करके बलिकी यज्ञभूमिमें पधारे ॥ ३६-३९ ॥

यत्र यत्र पदं विप्रा भूभानो वामनो ददौ । ददाति भूमिर्विवरं तत्र तत्राभिपीडिता ॥ ४० ॥
स वामनो जडगतिर्मुहु गच्छन् सपर्वताम् । सावित्रीपर्वतो सर्वां चालयामास मेदिनीम् ॥ ४१ ॥
शृहस्पतिस्तु शनैर्कर्मोर्गं दर्शयते शुभम् । तथा क्रीडाविनोदार्थमतिजाड्यगतोऽभवत् ॥ ४२ ॥
ततः शेषो महानागो निःसृत्यासौ रसातलात् । साहाय्यं फल्पयामास देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ४३ ॥
तद्वापि च विख्यातमहेर्विलमनुत्तमम् । तस्य संदर्शनादेव नागेभ्यो न भयं भवेत् ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रिदशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ब्राह्मणों । पृथ्वीपर वामन भगवान् जिस-जिस स्थानपर उग रखते थे, वहाँकी दबी हुई भूमिमें दरार पड़ जाता या-गट्टा हो जाता था । गुरुभावसे धीरे-धीरे चलते हुए वामनभगवान्ने समुद्रों, द्वीपों तथा पर्वतोंसे युक्त सारी पृथ्वीको कँपा दिया । बृहस्पति भी शनैः-शनैः उन्हें सारे कल्याणकारी मार्गको दिखाने लगे एवं स्वयं भी क्रीडापूर्ण मनोरञ्जनके लिये अत्यन्त धीरे-धीरे चलने लगे । उसके बाद महानाग शेष रसातलसे ऊपर आकर देवदेव चक्रवर्ती भगवान्की सहायता करने लगे । आज भी वह श्रेष्ठ सर्पोंका विल विख्यात है और उसके दर्शनमात्रसे नागोंसे भय नहीं होता ॥ ४०-४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

[अथैकत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

सपर्यनयनासुषो एष्ट्रा संश्रुभितां बलिः । पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १ ॥
आचार्य क्षोभमायाति सावित्रिभूमिधरा महो । कस्ताव नासुरान् भागान् प्रतिगृह्णन्ति बह्वयः ॥ २ ॥
इति पृष्टोऽथ बलिना काव्यो वेदविदां वरः । उवाच दैव्याधिपतिं चिरं ध्यात्वा महामतिः ॥ ३ ॥
वयनीर्णां जगद्भ्योनिः कश्यपस्य गृहे हरिः । वामनेनेह रूपेण परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

इकतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामनद्वारा तीन पग भूमिकी याचना तथा विराटरूपसे तीनों लोकोंको तीन पगमें नाप लेना

और बलिका पातालमें जाना)

लोमहर्षण बोले—बलिने वनों और पर्वतोंके साथ सम्पूर्ण पृथ्वीको क्षोभसे भरी देखकर हाथ जोड़ करके शुकानार्यको प्रणाम कर पूछा—आचार्यदेव ! समुद्र तथा पर्वतोंके साथ पृथ्वीके क्षुब्ध होनेका क्या कारण है और अग्निदेव असुरोंके भागोंको क्यों नहीं प्रदण कर रहे हैं ! बलिके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् शुकानार्यने निश्चालत्क ध्यान लगाकर (और तथ्य समझकर) दैत्येन्द्रसे कहा—कश्यपके पगमें जगद्भ्योनि—संसारको उत्पन्न करनेवाले सनातन परमात्मा वामनके रूपमें अवतीर्ण हो गये हैं ॥ १-४ ॥

स नूनं यज्ञमायाति तत्र दानवपुंगव । तत्पादम्यासविज्ञोभादियं प्रचलिता मदी ॥ ५ ॥
कम्पन्ते गिरयश्चेमे क्षुभिता मकरालयाः । नेयं भूतपति भूमिः समया वोढुमीश्वरम् ॥ ६ ॥
सदेवासुरगन्धर्वा यश्रवाक्षसपन्नगाः ।

अनेनैव घृता भूमिरपोऽग्निः पवनो नभः । धारयत्यजित्वान् देवान् मनुष्यांश्च महासुरान् ॥ ७ ॥
इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरो । धार्यधारकभावेन यया संगीडितं जगन् ॥ ८ ॥

दानवश्रेष्ठ ! वे ही प्रभु तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं । उन्हींके पैर रखनेसे पृथ्वीमें विशोभ हो रहा है जिससे यह पृथ्वी काँप रही है, ये पर्वत भी काँप रहे हैं और म्निधुमें जोरोंकी लहरें उठ रही हैं । इस भूमिमें उन भूतपति भगवान्को बहन करनेकी शक्ति नहीं है । ये ही (परमात्मा) देव, असुर, गन्धर्व, देवों, मनुष्यों एवं महासुरोंको धारण करते हैं । जगत्को धारण करनेकाले भगवान् कृष्णकी ही यह गम्भीर (अचिन्त्य) माया है, जिस मायाके द्वारा यह ससार धार्यधारकभावसे क्षुब्ध हो रहा है ॥ ५-८ ॥

तत्संनिधानादसुरा न भागदाः सुरद्विपः । भुञ्जते नासुरान् भागानपि तेन त्रयोऽनयः ॥ ९ ॥
शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा हृष्टोमाऽप्रवीद् बलिः ।

धन्योऽहं कृतपुण्यश्च यन्मे यज्ञपतिः स्वयम् । यज्ञमभ्यागतो ब्रह्मन् मत्तः कोऽन्योऽधिकः पुमान् ॥ १० ॥
यं योगिनः सद्बोधुक्ताः परमात्मानमव्ययम् ।
द्रष्टुमिच्छन्ति देवोऽसौ ममाध्वरमुपैष्यति । यन्मयाचार्यं कर्तव्यं तन्ममादेष्टुमर्हसि ॥ ११ ॥

उनके संनिधान होनेके कारण देवाओंके शत्रु दैत्यलोग यज्ञ-भाग पानेके योग्य नहीं रह गये हैं, अतएव तीनों अग्निदेव भी असुरोंके भागको नहीं ले रहे हैं । शुक्राचार्यकी बात सुननेके बाद बलिके रोंगटे-बड़े हो गये । उसके बाद बलिके (शुक्राचार्यसे) कहा—ब्रह्मन् ! मैं धन्य एवं कृतकृत्य हो गया, जो स्वयं यज्ञके अग्निपति भगवान् खगातार मेरे यज्ञमें पधार रहे हैं । कौन दूसरा पुरुष मुझसे श्रेष्ठ है ! सदैव साधन रहनेवाले योगीलोग जिन नित्य परमात्माको देखना चाहते हैं, वे ही देव मेरे यज्ञमें (कृपाकर) पधार रहे हैं । आचार्य ! मुझे जो करना चाहिये, उसे आप आदिष्ट कीजिये ॥ ९-११ ॥

शुक्र वचन

यज्ञभागभुजो देवा वेदप्रामाण्यतोऽसुर । त्वया तु दानवा दैत्य यज्ञभागभुजः कृताः ॥ १२ ॥
अयं च देवः सत्त्वस्यः करोति स्थितिपालनम् । विरुष्टं च तथाऽयं च स्वयमसि प्रजाः प्रभुः ॥ १३ ॥
भयांस्तु बन्दी भविता नूनं विष्णुः स्थितौ स्थितः । विदित्वैयं महाभाग कुरु यत् ते मनोगतम् ॥ १४ ॥
त्वयाऽस्य दैत्याधिपते स्वल्पकेऽपि हि घस्तुनि । प्रतिशतैव योदध्या पाच्यं साम तथाऽफलम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यस्य देवस्य देवार्थं चैव ह्युर्वतः ।

अलं दद्यां धनं देवे त्वेतद्वाच्यं तु याचतः । कृष्णस्य देवभृत्यस्य प्रभूसस्य महासुर ॥ १६ ॥

शुक्राचार्य बोले—असुर ! वेदोंका निधान है कि यज्ञभागके भोक्ता देवता हैं । परतु दैत्य ! तुमने यज्ञभागका भोक्ता दानवोंको बना दिया है । (यह वेद-विगनके विपरीत किया है—विधानम उल्टहन किया है ।) ये ही देव सत्त्वगुणका आश्रय लेकर विश्वकी स्थिति और पालन करते हैं और ये ही सृष्टि भी करते हैं फिर ये ही प्रभु स्वयं प्रजाना (जीवोंका) अन्त भी करते हैं । विष्णु स्थितिके कार्यमें (कन्यागमय मर्यादाके स्थापनमें) तत्पर हो गये हैं । अतः आम्हो निश्चय ही बन्दी बना दे । महाभाग ! इसर विचारकर तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा हो वैसा करो । दैत्यपते ! (देखना) तुम बोधी-सी भी बरत देनेके लिये उनसे प्रतिज्ञा मत

व्ययकी कोमल और मधुर बतेशरना । मद्भाग्य ! कृतकृत्य, एवं देवताओंका कार्य पूरा करनेवाले तथा देवताओंके ऐश्वर्यके लिये प्रयत्नशील भक्तान् श्रीधर्याके वाचना करनेपर मैं देवताओंके हेतु प्रथम धन दूँगा ऐसा कहना ॥ १२-१६ ॥

बलिम्वाच

प्रथम कथमहं ब्रूयामन्येनापि हि वाचिनः । नास्तीति किमु देवस्य संसारान्प्रदायिणः ॥ १७ ॥
 व्रतोपवासैर्यथैवैतैः प्रसुगुणैस्ते हरिः । न मे वक्ष्यति देहीति गोविन्दः किमनोऽधिकम् ॥ १८ ॥
 यदयं मुमहारम्भा दमशोचमुष्णाग्निनैः । यथाः क्रियन्ते यदेषः स मे देहीति वक्ष्यति ॥ १९ ॥
 तन्माधु सुहृतं कामं तपः सुचरिणं च तः । यन्मां देहीति विश्वेशः स्वयमेव यदिष्यति ॥ २० ॥

बलि बोले—शुभ ! मैं दूमरोंके वाचना करनेपर भी 'नहीं है'—ऐसा कैसे कह सकता हूँ ? कि संसारके पापोंको दूर करनेवाले (तन) देवसे कहनेकी तो बात ही क्या है ? विविध प्रकारके व्रतों एवं उपासोंसे जो परमेश्वर प्रदण किये जाते योग्य हैं, वे ही गोविन्द मुझसे 'तो' इस प्रकार कहेंगे तो मुझे बड़कर (मेरे लिये) और (भाग्य) क्या छो सकता है ? जिनके लिये दम-शमादि शौच—भीतरी-बाहरी पवित्रता आदि गुणोंसे युक्त योग्य यत्नीय उपकरणों एवं मन्त्रलियोंको लगाने यज्ञ करने हैं, वे ही यवेश (यज्ञके स्वामी) यदि मुझसे 'तो' इस प्रकार कहेंगे तो मेरे लिये हुए सभी काम सफल हो गये और दमार्थ तपश्चरण भी मन्त्र हो गया; क्योंकि विश्वके स्वामी स्वयं मुझसे 'तो'—इस तरह कहेंगे ॥ १७-२० ॥

नास्तान्यहं गुरो वक्ष्ये नमभ्यागतयोश्चरम् । प्राणान्यागं करिष्येऽहं न तु नास्ति जने क्वचिन् ॥ २१ ॥
 नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि वाचनम् । वक्ष्यामि कथमायाते तदथ चामरेऽच्युते ॥ २२ ॥
 श्लाघ्य एव हि वागणां दानाच्चापन्नमागमः । न वाधाकारि यद्दत्तं तद्गच्छ यत्नत् स्मृतम् ॥ २३ ॥
 मद्राज्ये नासुर्या कश्चित् क्षत्रियो न चानुरः । न दुःखितो न चोद्विग्नो न रामादिविराजितः ॥ २४ ॥
 मृष्टन्तुष्टः सुगन्धो च तृप्तः सर्वनुस्त्वान्वितः । जतः सर्वो महाभाग किमुनाहं सदा सुखी ॥ २५ ॥

गुरुदेव ! क्या अपने यज्ञ (वाचकत्वमें) आपने तन परमेश्वरसे 'नहीं है'—मैं ऐसा कहूँ ? (यह तो उचित नहीं जंचना है) भले ही प्रायोंका त्याग कर दूँगा; किन्तु अन्य भी वाचक मनुष्यसे 'नहीं है'—यह नहीं कह सकता । दूमरोंके भी वाचना करनेपर जब मैंने 'नहीं है'—ऐसा नहीं कहा तो आज अपने यहाँ स्वयं पूर्ण परमेश्वरसे आ जानेपर मैं यह कैसे कहूँगा कि 'नहीं है' ? दानके कारण यदि कछिनाह आती है तो उसे हीर पुत्र प्रदांसनीय ही मानते हैं । क्योंकि दानका महत्व उससे और बड़ जाता है । गुरो ! (हाँ, साधारणतया यह मन्त्र आता है कि—) जो दान कथा श्रावनेवाला नहीं होता, वह तिसरवें ब्रह्मवाण कहा गया है । (पर ऐसा प्रयत्न नहीं आ सकता; क्योंकि) मेरे राज्यमें ऐसा कोई भी नहीं है जो सुखी न हो और न कोई गेगी का दुःखी ही है, न कोई किसीके द्वारा उद्विग्न किया गया है और न कोई शन आदि गुणोंसे रहित है । महाभाग ! सर्व लोभ दूर, वृष्ट, पुष्पान्ध-अपेरागवग तृप्त एवं सुखी हैं । अत्रिक क्या है ? मैं तो महा सुखी हूँ ॥ २१-२५ ॥

एतद्विनिश्चयार्थं दानयोगफलं तमे । विदितं मुनिगार्हपत्यं सर्वैतन् न्यमुखाच्छृतम् ॥ २६ ॥
 मयस्मादागतं नूनं यमेनागधितो ऋषिः । मम दासमत्रायामो पुष्पानि यदि देवताः ॥ २७ ॥
 एतद्द्विजशरो दानयोगं पतति चेद् गुरो । जनार्दने महापात्रे किं न शानं ततो मया ॥ २८ ॥
 विनिश्चयं मम तद्दानं परितुष्टय देवताः । उपभोगाच्छृतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् ॥ २९ ॥



भगवान् मायावामनका व्रजवासे १३७

मुनिशार्दूल ! आपके मुणसे सुनकर मुझे यह मायम हो गया कि मैं यहाँपर विद्विष्ट दानन्वृत्ती बीजका पुन फल प्राप्त कर रहा हूँ । वे हरि यदि मुझसे दान लेकर देनाओंकी पुष्टि करते हैं तो यज्ञसे आरामित वे (हरि) मुझपर निश्चय ही प्रसन्न हैं । यदि श्रेष्ठ वीन (एसा दान) मशान् (योग्य) पात्र, पूज्य जनार्दनको निउ गया तो फिर मुझे क्या नहीं मिला ! निश्चय ही मेरा यह दान विद्विष्ट गुणोंवाला है और देना मेरे ऊपर प्रमन्न है । दानके उपभोगकी अपेक्षा दान देना सौ-गुना सुख देनेवाला माना गया है ॥ २६-२९ ॥

मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनारधिनो हरिः । तेनाग्येति न संदेहो दर्शनदुपकारदत् ॥ ३० ॥
अथ कोपेन चाग्येति देवभागोपरोवनः । मां निदन्तुं तनो दि स्याद् वधः इत्यव्यतराऽच्युतान् ॥ ३१ ॥
एतज्ज्ञात्वा मुनिश्रेष्ठ दानविघ्नकरेण मे । नैव भाग्यं जगन्नाथे गोविन्दे समुपस्थितं ॥ ३२ ॥

यज्ञसे पूजे गये श्रीहरि निश्चय ही मेरे ऊपर प्रसन्न हैं । तभी तो निस्सन्देह मुझे दर्शन देकर मेरा कल्याण करनेवाले वे प्रभु आ रहे हैं, निश्चय ही यही बात है । देनाओंके देनागणी प्राप्तिके रुकावट होनेके कारण यदि वे क्रोधश मेरा नर करने भी आ रहे हों तो भी उन अच्युतसे होनेवाला मेरा वर भी प्रदासनीय ही होगा । मुनिश्रेष्ठ ! यह समझकर गोविन्दके यहाँ समुपस्थित होनेपर आप मेरे दानमें विघ्न न डालेंगे ॥ ३०-३२ ॥

लोकहर्षण उवाच

इत्येवं वदतस्तस्य प्राणस्तत्र जगद्गन । सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो मायागमनरूपधृक् ॥ ३३ ॥
तं दृष्ट्वा यज्ञवाटं तु प्रविष्टमसुराः प्रभुम् । जग्मुः प्रभाजनः क्षोभं तेजसा तस्य निष्प्रभाः ॥ ३४ ॥
जेपुश्च मुनयस्तत्र ये समेता महाकरे । वसिष्ठो गाधिज्ञो गर्गो धन्ये च मुनिसत्तमाः ॥ ३५ ॥
बलिद्वैवाखिलं जन्म मेने सफलमात्मनः । ततः संतोभमापन्नो न कश्चिन् किञ्चिदुक्तवान् ॥ ३६ ॥

लोकहर्षण बोले—जिस समय शुक्राचार्य और बलिमें इस प्रकार बात हो रही थी उसी समय सर्वदेवमय, अचिन्त्य भगवान् अपनी मायासे अपना वामनरूप धारण करके वहाँ पहुँच गये । उन प्रभुको यज्ञस्थानमें उपस्थित देवगण दैत्यलोग उनके प्रभावसे अशान्त और तीव्र तेजसे रक्षित हो गये । उस महायज्ञमें एकर (उपस्थित) वसिष्ठ, विद्यामित्र, गर्ग एव अन्य श्रेष्ठ मुनिजन अपना-अपना जप करने लगे । बलिने भी अपने सम्पूर्ण जन्मको सफल माना; किंतु उसके बाद (इधर) खलजली मच गयी और सधुग्ण होनेके कारण किसीने कुछ भी नहीं कहा ॥ ३३-३६ ॥

प्रत्येकं देवदेवेशं पूजयामास तेजसा । अथासुरपतिं प्रहं दृष्ट्वा मुनिवरान्ध तान् ॥ ३७ ॥
देवदेवपतिः साक्षाद् विष्णुर्नामनरूपधृक् ।
मुष्टय यं वह्निं च यजमानमथार्चितं । यत्रकर्माधिकारस्थानं सदम्यानं द्रव्यसंपदम् ॥ ३८ ॥
सदस्याः पात्रमखिलं धामनं प्रति तत्क्षणात् । यज्ञवाटस्थितं त्रिमाः साधु साधित्युदीरयन् ॥ ३९ ॥
स चार्घमादाय बलिः प्रोद्भूतपुलकस्तदा । पूजयामास गोविन्दं प्राह चेदं महासुतः ॥ ४० ॥

उनके देदीप्यमान तेजके कारण प्राचेरने देवाग्निदेवकी पूजा की । उनके बाद वामनरूपमें प्रयत्न प्रकट हुए विष्णु भगवान्ने लोगोंसे पूजित होनेके बाद एका दृष्टिसे (चारों ओर देवगण) उन त्रिनत्र दैत्यपति एव मुनियोंने देखा तथा यज्ञ, अग्नि, यजमान, यज्ञधर्ममें अस्मिन् सदस्यों एव द्रव्यकी सम्पन्निकी प्रदासा की । हे विप्रो ! तज्जल ही सभी सदस्यगण यज्ञमण्डपमें उपस्थित पात्रस्वरूप धामनके प्रति 'साधु-साधु' कहने लगे । उस समय हर्षमें बहुर होकर महासुत बलिने अर्प लिया और गोविन्दकी पूजा की तथा उनसे यह कहा ॥ ३७-४० ॥

बलिखवाच

सुवर्णरत्नसंघातो गजाद्वयसमितस्तथा । द्वित्रयो वत्त्राय्यलंकारान् गावो ग्रामाश्च पुष्कलाः ॥ ४१ ॥
सर्वे च सकला पृथ्वी भवतो वा यदीप्सितम् । तद् ददामि वृणुष्वेषु ममार्थाः सन्ति ते प्रियाः ॥ ४२ ॥
बलिने कदा—(वामनदेव !) अनन्त सुवर्ण और रत्नोंके ढेर तथा हाथी, घोड़े, स्त्रियाँ, वस्त्र, आभूषण, गाये और ग्रामसमूह—ये सभी वस्तुएँ, समस्त पृथ्वी अथवा आपकी जो अभिलाषा हो वह मैं देता हूँ । आप अपना अभीष्ट बतलायें । मेरे प्रिय लगनेवाले समस्त अर्थ आपके लिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना प्रीतिगर्भान्वितं वचः । प्राह सस्मितगर्भोरं भगवान् वामनाकृतिः ॥ ४३ ॥
ममाग्निशरणार्थाय देदि राजन् पदत्रयम् । सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥
दैत्यपति बलिके इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक उदार वचन कहनेपर वामनका आकार धारण करनेवाले भगवान् ने हँसते हुए दुर्बोध वाणीमें कहा—राजन् ! मुझे अग्निशालाके लिये तीन पग (भूमि) दे । सुवर्ण, ग्राम एवं रत्न आदि उनकी इच्छा रखनेवाले याचकोंको प्रदान करें ॥ ४३-४४ ॥

बलिखवाच

त्रिभिः प्रयोजनं किं ते पदैः पदवतां वर । शतं शतसहस्रं वा पदानां मार्गतां भवान् ॥ ४५ ॥
बलिने कदा—हे पदधारियोंमें श्रेष्ठ ! तीन पग भूमिसे आपका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा । सौ अथवा सौ हजार पग भूमि आप माँगिये ॥ ४५ ॥

श्रीवामन उवाच

पतावता दैत्यपते कृतकृत्योऽस्मि मार्गणे । अन्येषामर्थिनां वित्तमिच्छया दास्यते भवान् ॥ ४६ ॥
पतच्छ्रुत्वा तु गदितं वामनस्य महात्मनः । वाचयामास वै तस्मै वामनाय महात्मने ॥ ४७ ॥
पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूद्वामनः । सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥
चन्द्रसूर्यां तु नयने द्यौः शिरश्चरणौ क्षितिः । पादाङ्गुल्यः पिशाचास्तु हस्ताङ्गुल्यश्च गुह्यकाः ॥ ४९ ॥

श्रीवामनने कदा—हे दैत्यपते ! मैं इतना पानेसे ही कृतकृत्य हूँ । (मेरा स्वार्थ इतनेसे ही सिद्ध हो जायगा) आप दूसरे याचना करनेवाले याचकोंको उनके इच्छानुकूल दान दीजियेगा । महात्मा वामनकी यह वाणी सुनकर (बलिने) उन महात्मा वामनको तीन पग भूमि देनेके लिये वचन दे दिया । दान देनेके लिये हाथपर जल गिरते ही वामन अवामन (विराट्) बन गये । तत्क्षण उन्होंने उन्हें अपना सर्वदेवमय स्वरूप दिखाया । चन्द्र और सूर्य उनके दोनों नेत्र, आकाश सिर, पृथ्वी दोनों चरण, पिशाच पैरकी अँगुलियाँ एवं गुह्यका हाथोंकी अँगुलियों थे ॥ ४६-४९ ॥

विश्वेदेवाश्च जानुस्था जलध्वे साध्याः सुरोत्तमाः । यक्षा नखेषु सम्भूता रेखास्वप्सरसस्तथा ॥ ५० ॥
एष्टिर्भ्रूक्षाण्यशेषाणि केशाः सूर्याशवः प्रभोः । तारका रोमकूपणि रोमेषु च महर्षयः ॥ ५१ ॥
वाद्यो विदिशास्तस्य दिशः श्रोत्रे महात्मनः । अश्विनौ श्रवणे तस्य नासा वायुर्महात्मनः ॥ ५२ ॥
प्रसादे चन्द्रमा देवो मनो धर्मः समाश्रितः । सत्यमस्याभवद् वाणी जिह्वा देवी सरस्वती ॥ ५३ ॥

जानुओंमें विश्वेदेवगण, दोनों जह्वाओंमें सुरश्रेष्ठ साध्यगण, नखोंमें यक्ष एवं रेखाओंमें अप्सराएँ थीं । समस्त नक्षत्र उनकी दृष्टियों, सूर्यनिरागण प्रभुके केश, तारकाएँ उनके रोमकूप एवं महर्षिगण रोमोंमें स्थित थे । विदिशाएँ उनकी बाएँ, दिशाएँ उन महात्माके कर्ण, दोनों अधिनीकुमार, श्रवण एवं वायु उन महात्माके नासिका-स्थानपर थे । उनके प्रसादमें (गधुर शस्यच्छायां) चन्द्रदेव तथा मनो धर्म आश्रित थे । सत्य उनकी वाणी तथा जिह्वा सरस्वती देवी थी ॥ ५०-५३ ॥

प्रीवाऽदितिद्वयमाता विद्यास्तद्वलयस्तथा । स्वर्गद्वारमभूमैत्रं त्वया पूया च धै भ्रयो ॥ ५४ ॥
 मुखे वैश्वानरश्चास्य वृषणो तु प्रजापतिः । हृदयं च परं द्रष्टुं पुंस्यं धै कश्यपा मुनिः ॥ ५५ ॥
 पृष्ठेऽस्य वसतो देवा मरुतः सर्वसंधिपु । वक्षःस्थले तथा रुद्रो धैर्यं चास्य महार्णवः ॥ ५६ ॥
 उदरे चास्य गन्धवा मरुतश्च महानलाः । लक्ष्मीमैवा धृतिः कान्तिः सर्वविद्याश्च धै कटिः ॥ ५७ ॥

देवमाता अदिति उनकी प्रीवा, विद्या उनकी बन्धियाँ, स्वर्गद्वार उनकी गुदा तथा त्वया एवं पूया उनकी भौंहे धै । वैश्वानर उनके मुख तथा प्रजापति वृषण धै । परंब्रह्म उनके हृदय तथा कश्यप मुनि उनके पुंस्य धै । उनकी पीठमें वसु देवता, सभी सन्धियोंमें मरुद्रण, वक्षःस्थलमें रुद्र तथा उनके धैर्यमें महार्णव आश्रित धै । उनके उदरमें गन्धर्व एवं महाबली मरुद्रण स्थित धै । लक्ष्मी, मेवा, धृति, कान्ति एवं सभी विद्याएँ उनकी कटिमें स्थित थीं ॥ ५४-५७ ॥

सर्वज्योतींषि यानीह तपश्च परमं महत् । तस्य देवाधिदेवस्य तेजः प्रोद्भूतमुत्तमम् ॥ ५८ ॥
 तनौ कुक्षिपु वेदाश्च जानुनी च महामघाः । इष्टयः पशवश्चास्य द्विजानां चेष्टितानि च ॥ ५९ ॥
 तस्य देवमयं रूपं दृष्ट्वा विष्णोर्महोत्तमनः । उपसर्पन्ति ते दैत्याः पतङ्गा इव पायकम् ॥ ६० ॥
 चिक्षुरस्तु महादैत्यः पादाङ्गुष्ठं शृङ्गीतवान् । दन्ताभ्यां तस्य धै प्रीयामङ्गुष्ठेनाहनद्धरिः ॥ ६१ ॥

समस्त ज्योतिषों एवं परम महत् तप उन देवाधिदेवके उत्तम तेज धै । उनके शरीर एवं कुक्षियोंमें वेद धै तथा बड़े-बड़े यज्ञ इष्टियों थीं, पशु एवं ब्राह्मणोंकी चेष्टाएँ उनकी दोनों जानुएँ थीं । उन महात्मा विष्णुके सर्वदेवमय रूपको देखकर वे दैत्य उनके निरुद्ध उसी प्रकार जाते धै, जिस प्रकार अग्निके निकट पतिते जाते हैं । महादैत्य चिक्षुरने दाँतोंसे उनके पैरके अंगुष्ठोंको दबोच लिया । फिर भगवानने अंगुष्ठोंसे उसकी प्रीवापर प्रहार किया और— ॥ ५८-६१ ॥

प्रमथ्य सर्वानसुरान् पाददहस्तलैर्विभुः । कृत्वा रूपं महाकार्यं संजहापशु मेदिनीम् ॥ ६२ ॥
 तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे । नभो विक्रममाणस्य सक्रियदेशे स्थितानुभौ ॥ ६३ ॥
 परं विक्रममाणस्य जानुमूले प्रभाकरौ । विष्णोरास्तां स्थिनस्यैतौ देवपालनकर्मणि ॥ ६४ ॥
 जित्वा लोकत्रयं तांश्च हत्वा चासुरपुंगवान् । पुरंदरप्य ऋलोकत्रयं ददौ विष्णुरक्रमः ॥ ६५ ॥

अपने पैरों एवं हाथोंके तलवोंसे समस्त असुरोंको रगड़ डाला तथा विराट् शरीर धारण करके शीम ही उन्होंने पृथ्वीको उनसे छीन लिया । भूमिसे नापते समय चन्द्र और सूर्य उनके स्तनोंके मध्य स्थित धै तथा आकाशके नापते समय उनकी सक्रियप्रदेश (जाँव-) में स्थित हो गये एवं परम (ऊर्ध्व) लोकका अतिक्रमण करते समय देवताओंकी रक्षा करनेमें स्थित श्रीविष्णुके जानुमूल-(घुटनेके स्थान-)में चन्द्र एवं सूर्य स्थित हो गये । उरुक्रम (लंबी ढगोंवाले) विष्णुने तीनों लोकोंको जीतकर एव उन बड़े-बड़े असुरोंका वध कर तीनों लोक ह्दकों दे दिये ॥ ६२-६५ ॥

सुतलं नाम पातालमधस्ताद् पसुधातलात् । पलेर्दत्तं भगवता विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ६६ ॥
 अथ दैत्येश्वरं प्राह विष्णुः सर्वदैत्येद्वयतः । तत् स्वया सलिलं दत्तं गृहीतं पाणिना मया ॥ ६७ ॥
 कश्यप्रमाणं तस्मात् ते भविष्यत्यायुरुत्तमम् । धैवश्यते तथाऽनीते काले मन्वन्तरे तथा ॥ ६८ ॥
 सायणिके ॥ संप्राप्ते भयानिन्द्रो भविष्यति । इदानीं भुयनं सर्वं दत्तं शक्राय धै पुरा ॥ ६९ ॥
 चतुर्गुण्ययस्य च साधिका ह्येनसततिः । नियन्तप्या मया सर्वं ये तस्य परिपन्थिः ॥ ७० ॥

सुतलं नाम पातालमधस्ताद् पसुधातलात् । पलेर्दत्तं भगवता विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ६६ ॥
 अथ दैत्येश्वरं प्राह विष्णुः सर्वदैत्येद्वयतः । तत् स्वया सलिलं दत्तं गृहीतं पाणिना मया ॥ ६७ ॥
 कश्यप्रमाणं तस्मात् ते भविष्यत्यायुरुत्तमम् । धैवश्यते तथाऽनीते काले मन्वन्तरे तथा ॥ ६८ ॥
 सायणिके ॥ संप्राप्ते भयानिन्द्रो भविष्यति । इदानीं भुयनं सर्वं दत्तं शक्राय धै पुरा ॥ ६९ ॥
 चतुर्गुण्ययस्य च साधिका ह्येनसततिः । नियन्तप्या मया सर्वं ये तस्य परिपन्थिः ॥ ७० ॥

शक्तिशाली भगवान् विष्णुने पृथ्वीतलके नीचे स्थित सुतलनामक पातालको बलिके लिये दे दिया । तदनन्तर सर्वेश्वर विष्णुने दैत्येश्वरसे कहा—मैंने तुम्हारे द्वारा दानके लिये दिये हुए जलको अपने हाथमें ग्रहण किया है; अतः तुम्हारी उत्तम आयु कल्पप्रमाणकी होगी तथा मैवस्यत मन्वन्तरका काल व्यतीत होनेपर एवं सावर्णिक मन्वन्तरके आनेपर तुम इन्द्रपद प्राप्त करोगे—इन्द्र बनोगे । इस समयके लिये मैंने समस्त भुवनको पहले ही इन्द्रको दे रक्खा है । इन्द्रोत्तर चतुर्थीके कालसे कुछ अधिक कालतक जो समयकी व्यवस्था है अर्थात् एक मन्वन्तरके कालतक मैं उसके (इन्द्रके) विरोधियोंको अनुशासित करूँगा ॥ ६६-७० ॥

तेनाहं परया भक्त्या पूर्वमाराधितो बले । सुतलं नाम पातालं समासाद्य वचो मम ॥ ७१ ॥
 प्रसासुर ममादेशं यथावत्परिपालयन् । तत्र देवसुखोपेते प्रासादशतसंकुले ॥ ७२ ॥
 प्रान्फुल्लपद्ममगरि हृदशुद्धसरिद्वारे । सुगन्धी रूपसंपन्नो वराभरणभूषितः ॥ ७३ ॥
 न्नक्तृचन्दनादिदिग्भ्राजं नृत्यगीतमनोहरान् । उपभुञ्जन् महाभोगान् विविधान् दानवेश्वर ॥ ७४ ॥
 ममागत्या कालमिमं तिष्ठ खोदानसंवृतः । यावत्सुरैश्च विप्रैश्च न विरोधं गमिष्यसि ॥ ७५ ॥
 तावत् त्वं भुङ्क्ष्व संभोगान् सर्वकामसमन्वितान् ।
 यदा सुरैश्च विप्रैश्च विरोधं त्वं करिष्यसि । बन्धिष्यन्ति तदा पाशा वारुणा घोरदर्शनाः ॥ ७६ ॥

हे बलि ! पूर्वकालमें उसने बड़ी श्रद्धासे मेरी आराधना की थी, अतः तुम मेरे कहनेसे सुतल नामक पातालमें जाकर मेरे आदेशका भलीभाँति पालन करो तथा देवताओंके सुखसे भरे-पूरे सैकड़ों प्रासादोंसे पूर्ण विकसित कमलोंवाले समेशों, हृदय एवं शुद्ध श्रेष्ठ सरिताओंवाले उस स्थानपर निवास करो । हे दानवेश्वर ! सुगन्धिसे अनुल्लिप्त हो तथा श्रेष्ठ आभरणोंसे भूषित एवं मान्य और चन्दन आदिसे अलङ्कृत सुन्दर स्वरूपवाले तुम नृत्य और गीतसे युक्त विविध भाँतिके गान् भोगोंका उपभोग करते हुए सैकड़ों स्त्रियोंसे आवृत होकर इतने कालतक मेरी आज्ञासे वहाँ निवास करो । जबतक तुम देवताओं एवं ब्राह्मणोंसे विरोध न करोगे तबतक समस्त कामनाओंसे युक्त भोगोंकी भोगोंगे । किंतु जब तुम देवों एवं ब्राह्मणोंके साथ विरोध करोगे तो देखनेमें भयंकर वरुणके पाश तुम्हें बाँध लेंगे ॥ ७१-७६ ॥

बलिवराच

तद्भास्यतो मे पाताले भगवन् भवदाहया ।

किं भविष्यन्त्युपादानमुपभोगोपपादकम् । आप्यायितो येन देव स्मरेयं त्वामहं सदा ॥ ७७ ॥

बलिके पृच्छा—हे भगवन् ! हे देव ! आपकी आज्ञासे वहाँ पातालमें निवास करनेवाले मेरे भोगोंका साधन क्या होगा ! जिससे तृप्त होकर मैं सदा आपका स्मरण करूँगा ॥ ७७ ॥

भीमराजनुवाच

दानान्यविभिद्भ्रानि श्रादान्यथ्र्योघ्रियाणि च । हुतान्यथ्र्यया यानि तानि दास्यन्ति ते फलम् ॥ ७८ ॥

अर्द्धिपाप्तया यत्नाः कृत्याश्चाविभिन्ना ह्युताः । फलानि तत्र दास्यन्ति अधोतान्यव्रतानि च ॥ ७९ ॥

उर्द्धेन पिता पूजा विना श्रद्धेन या क्रिया । आज्येन च विना ह्यहं फलं दास्यन्ति ते बले ॥ ८० ॥

यद्देवैः स्वगमादिव्य क्रियाः फाधिन्करिष्यति । न तत्र चासुरो भागो भविष्यति कदाचन ॥ ८१ ॥

श्रद्धाश्रद्धेन मत्तपुण्ये तथा विष्णुपदे हृदे । ये च श्रादानि दास्यन्ति व्रतं नियममेव च ॥ ८२ ॥

किया कृता च या काचिद् विधिनाऽविधिनापि वा । सर्वं तदक्षयं तस्य भविष्यति न संशयः ॥ ८३ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकदश्यामुपोषिनः ।

ठावदयां वामनं दृष्ट्वा स्नात्वा विष्णुपदे हरे । दानं दत्त्वा यथाशक्त्या प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अविधिपूर्वक दिये गये दान, श्रेष्ठिय श्रद्धणमे रक्षित श्राद्ध तथा विना श्राद्धके किये गये जो हवन हैं, वे तुम्हारे भाग होंगे । दक्षिणागरित यज्ञ, अतिरि पूर्वक किये गये कर्म और क्तसे रक्षित अल्पतन तुम्हें फल प्रदान करेंगे । हे बलि ! जलकं विना की गयी पूजा, विना कुशरी की गयी क्रिया और विना शौके किये गये हवन तुमसे फल देंगे । इस स्थानका अश्रय कर जो मनुष्य किन्हीं भी क्रियाओंसे करेगा, उसमें कभी भी असुरोंका अधिकार न होगा । अल्पतन पवित्र ज्येष्ठाश्रम तथा विष्णुपद सरोवरमें जो श्राद्ध, दान, व्रत या नियम-पालन करेगा तथा विधि वा अविधिपूर्वक जो कोई क्रिया यहाँ की जायगी, उसके लिये वे सभी निःसन्देह अक्षय फलदायी होंगे । जो मनुष्य ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें एकादशीके दिन उपवास कर द्वादशीके दिन विष्णु-पदनामके सरोवरमें स्नान कर शमनका दर्शन करनेके बाद यथाशक्ति दान देगा, वह परम परकी प्राप्त करेगा ॥ ७८-८४ ॥

श्रीमद्वर्ण उवाच

यलेरंरमिमं दत्त्वा शक्राय च त्रिविष्टपम् । व्यापिना तेन रूपेण जगामादर्शनं हरिः ॥ ८५ ॥

शशास च यथापूर्वमिन्द्रस्त्रैलोक्यमूर्जितः । निन्दोपं च तदा कालं बलिः पातालमाभ्यतः ॥ ८६ ॥

इत्येतत् कथितं तस्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् । शृणुयाद्यो वामनस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८७ ॥

बलिप्रह्लादसंवादं मन्थिनं बलियुक्तयोः । यलेर्विष्णोश्च चरितं ये स्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ ८८ ॥

नाथ्यो व्याधयस्तेषां न च मोहाकुलं मनः । भविष्यति द्विजश्रेष्ठाः पुंसस्तस्य कदाचन ॥ ८९ ॥

च्युतराज्यो निजं राज्यमिष्टप्रप्तिं वियोगवान् । समाप्नोति महाभागा नरः श्रुत्वा कथामिमाम् ॥ ९० ॥

प्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो जयते महाम् ।

वैद्यो धनसमृद्धिं च शूद्रः सुखमवाप्नुयात् । वामनस्य च माहात्म्यं शृण्वन् पापैः प्रमुच्यते ॥ ९१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

श्रीमद्वर्णजो बोले—भगवान् उस सर्वपापी म्पने बलिसे यह वरदान तथा इन्द्रकी स्थापना प्रदान कर अन्तर्दित हो गये । तबसे बलशाही इन्द्र पहलेश्वरी भौति तीनों लोकोंका शासन करने लगे । और बलि मन्थिन, पत्न्यासे क्रियास करने लगे । इस प्रकार वन भगवान् (वामन) विष्णुका उत्तम माहात्म्य कहा गया; जो इसे (वामनमाहात्म्यको) सुनना है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । द्विजश्रेष्ठो ! बलि पद्म प्रह्लादके संवाद, बलि एक कुशरी मन्थना तथा बलि पय विष्णुके चरितना जो मनुष्य स्मरण करेंगे, उन्हें कभी कोई आर्ति एवं त्यागि न होगी तथा उनका मन भी मोहमे आकुल नहीं होगा । हे महाभागो ! इस कथासे सुनकर राजपुत्र व्यक्ति अपने राज्यको एवं श्रियोगी मनुष्य अपने श्रियको प्राप्त करता है । (इन्द्रकी सुननेमे) श्राद्धगर्भो वेदकी प्राप्ति होनी है, क्षत्रिय पृथ्वीकी जय प्राप्त करता है तथा वैश्यको वन मन्थि एवं शूद्रको सुक्की प्राप्ति होनी है । वामनका माहात्म्य सुननेसे पापोंसे मुक्ति होती है ॥ ८५-९१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें एकत्रिंशो अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

[अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः]

धूपय ऋचुः

फथमेया समुत्पन्ना नदीनामुत्तमा नदी । सरस्वती महाभागा कुरुक्षेत्रप्रवाहिनी ॥ १ ॥

फथं सरः समासाद्य कृत्वा तीर्थानि पादर्वतः ।

प्रयाता पश्चिमामाशां दृश्यादृश्यगतिः शुभा । पनद् विस्तरतो ब्रूहि तीर्थवंशं सनातनम् ॥ २ ॥

वत्सीसर्वा अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका वर्णन—उसका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना)

श्रुतियोंमें पृच्छा—(लोमहर्षणजी !) कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होनेवाली नदियोंमें श्रेष्ठ भाग्यशालिनी यह सरस्वती नदी कैसे उत्पन्न हुई ? सरोवरमें जाकर अगल-वगलमें (अपने दोनों तटोंपर) तीर्थोंकी स्थापना करती हुई दृश्य और अदृश्यरूपमें यह शुभ नदी किस प्रकार पश्चिम दिशाको गयी ? इस सनातन तीर्थ-वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

प्लक्षवृक्षान् समुद्भूता सरिच्छ्रेष्ठा सनातनी । सर्वपापशुक्लरी स्मरणादेव नित्यशः ॥ ३ ॥

सैषा शैलसदृशाणि विदार्थं च महानदी । प्रविश्या पुण्यतोयैवा वनं द्वैतमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥

तस्मिन् प्लक्षे स्थितां पृष्ठा मार्कण्डेयो मातामुनिः । प्रणिपत्य तदा मूर्ध्ना तुष्टावाथ सरस्वतीम् ॥ ५ ॥

त्वं देवि सर्वलोकानां माना देवाग्निः शुभा । सदग्मद् देवि यत्किञ्चिन्मोक्षदाय्यर्थवत् पदम् ॥ ६ ॥

तन् सर्वं त्वयि संयोगि योनिवद् देवि संस्थितम् ।

अक्षरं परमं देवि यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् । अक्षरं परमं ब्रह्म विश्वं चैतत् क्षरात्मकम् ॥ ७ ॥

लोमहर्षणने कला—(श्रुतियों !) स्मरण करने मात्रसे ही नित्य सभी पापोंको नष्ट करनेवाली यह सनातनी श्रेष्ठ (सरस्वती) नदी प्लक्षवृक्षमें उत्पन्न हुई है । यह पवित्र जलधारामयी महानदी हजारों पर्वतोंको तोड़ती-फोड़ती हुई प्रसिद्ध है वनमें प्रतिष्ठ हुई, ऐसी प्रतिष्ठि है । महामुनि मार्कण्डेयने उस प्लक्षवृक्षमें स्थित सरस्वती नदीको देखकर सिरसे (सिर झुकाकर नमनपूर्वक) प्रणाम करनेके बाद उसकी स्तुति की—देवि ! आप सभी लोकोंकी माता एवं देवोंकी शुभ धारिणी हैं । देवि ! समस्त सद्, असद्, मोक्ष देनेवाले एवं अर्थवान् पद, यौगिक क्रियासे युक्त पदार्थोंकी भाँति आपमें स्थितकर स्थित हैं । देवि ! अक्षर परमब्रह्म तथा यह विनाशशील समस्त संसार आपमें प्रतिष्ठित है ॥ ३-७ ॥

दाक्षय्यवन्धिसां वद्विभूमौ गन्धो यथा ध्रुवम् । तथा त्वयि स्थितं ब्रह्म जगच्चेदमशेषतः ॥ ८ ॥

अकाराक्षरसंस्थानं यत् नद् देवि स्थिरास्थिरम् । तत्र भावात्रयं सर्वमस्ति यद् देवि नास्ति च ॥ ९ ॥

प्रयो लोकात्मनो देवान्यैषियं पावनत्रयम् । त्रीणि ज्योतीषि वर्गाश्च प्रयो भर्मादयस्तथा ॥ १० ॥

प्रयो गुणात्मनो वर्णात्मनो देवान्तथा क्रमान् । त्रैलोक्यस्तथावस्थाः पितरश्चैवमादयः ॥ ११ ॥

एतन्मात्रात्रयं देवि तव रूपं सरस्वति । विगिह्यदर्शनागाथां ब्रह्मणो हि सनातनीम् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार तारमें आग एवं पृथिवीमें अग्नि निहित स्थिति होती है, उसी प्रकार तुम्हारे भीतर ब्रह्म और यह गन्धर्व जगत् नित्य (सदा) स्थित हैं । देवि ! जो बुद्ध भी स्थिर (अक्षर) तथा अस्थिर (चर) है, वह सब ओरपर आपमें अवस्थित है । जो बुद्ध भी अस्तित्वयुक्त है या अस्तित्वविहीन, उन सबमें अकारकी तीन मात्राएँ

(अनुसूय) हैं। हे सरस्वति ! भूः, भूरः, सः—ये तीनों लोक; ऋचः, यजुः, साम—ये तीनों वेद; आग्नेयिनी, प्रथी और वार्ता—ये तीनों विधाएँ; गृह्यप्य, आहनीय, दक्षिणाक्षि—ये तीनों अप्रियाँ; सूर्य, चन्द्र, अग्नि—ये तीनों ज्योतिषाँ; धर्म, अर्थ, काम—ये तीनों वर्ग; सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण; ब्रह्मण, श्रुतिय, धैर्य—ये तीनों वर्ग; तीनों देव, वान, पितृ, कर्तु—ये तीनों धातुएँ तथा जामत्, स्वाम, सुभूमि—ये तीनों अन्वयाँ एव मित्रा, मित्रामह, प्रश्रितामह—ये तीनों मित्र इत्यादि—ये सभी ओम्कारके मात्रात्रयस्वरूप आपके रूप हैं। आपके ब्रह्मरी विभिन्न रूपोंगली आद्या एवं सनातनी मूर्ति कहा जाता है ॥ ८-१२ ॥

सोमसंस्था हविःसंस्था याकसंस्था सनातनी । तास्यपुत्राणाणाद् देवि नियन्ते ब्रह्मादिभिः ॥ १३ ॥
अनिर्देश्यपदं त्वेतद्दर्शमाश्रितं परम् । अविकार्यक्षयं दिव्यं परिणामविर्जितम् ॥ १४ ॥
तयैतत् परमं रूपं यन्न शक्यं मयोदितम् । न चास्येन न वा जिह्वा ताल्लोप्रादिभिर्गृह्यते ॥ १५ ॥
स विष्णुः स ब्रह्मा चन्द्रार्कज्योतिरेव च । विष्वासासं विष्वरूपं विश्वामानमनोभ्यम् ॥ १६ ॥

देवि ! ब्रह्मरुदी लोग आपकी शक्तिसे ही उच्चारण करके सोम-संस्था, अग्नि-संस्था एवं सनातनी पात्रसंस्थानों सम्पन्न करते हैं। अर्चमात्रामें आश्रित आपका यह अनिर्देश्य पद अत्रिणागी, अक्षय, दिव्य तथा अपरिणामी है। यह आपका अनिर्देश्य पद परम रूप है, जिसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। न तो मुझसे ही इसका वर्णन हो सकता है और न जिह्वा, तालु, ओष्ठ आदिसे ही। तुम्हारा यह रूप ही विष्णु, ब्रह्म (धर्म), ब्रह्मा, चन्द्रमा, सूर्य एवं ज्योति है। उसीको विश्वासास, विश्वरूप, विश्वात्मा एवं अनीचर (सतत्त्व) कहते हैं ॥ १३-१६ ॥

सांप्यसिद्धान्तवेदोक्तं यद्गुणात्तास्विरुत्तमम् । अनादिमध्यनिर्गमं सद्सत्त्व संदेव तु ॥ १७ ॥
एकं त्वनेकधाप्येकभावेदेसमाश्रितम् । अनाद्यं पद्मगुणान्यं च यद्द्वार्यं त्रिगुणाश्रयम् ॥ १८ ॥
नानाशक्तिविभावसं नानाशक्तिविभावकम् । सुप्तात् सुप्तं महत्सौम्यं रूपं तत्त्रगुणात्मकम् ॥ १९ ॥
एवं देवि त्वया व्याप्तं सकलं निष्कलं च यत् । अद्वैतावस्थितं ब्रह्म यच्च द्वैते व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

आपका यह रूप सांख्य सिद्धान्त तथा वेदद्वारा वर्णित, (वेदोक्त) बहुत-सी शक्त्याओँद्वारा स्थिर किया हुआ, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, सत्-असत् अथवा एकमात्र सत् (ही) है। यह एक तथा अनेक प्रसरका, वेदोंद्वारा एकत्र भक्तिसे अवलम्बित, आख्या (नाम-) विहीन, ऐश्वर्य आदि पद्मगुणोंसे युक्त, बहुत नामोंवाला तथा त्रिगुणाश्रय है। आपका यह तत्त्वगुणामक रूप सुप्तमें भी परमसुप्त, महान् सुगन्ध, नाना शक्तियोंके विभाजनसे जानने-वाला है। देवि ! यह अद्वैत तथा द्वैतमें आश्रित 'निष्कल' तथा 'सकल ब्रह्म' आपके द्वारा व्यक्त है ॥ १७-२० ॥

येऽर्था नित्या ये विनश्यन्ति चान्ये येऽर्थाः स्थूला ये तथा सन्ति सूक्ष्मा ।

ये वा भूमौ येऽन्तरिक्षेऽन्यतो वा तेषां देवि त्वत्त पपोपलम्भिः ॥ २१ ॥

यद्वा मूर्ते यद्मूर्ते समस्तं यद्वा भूतेष्वेकमेकं च किञ्चित् ।

यच्च द्वैते व्यस्तभूतं च लक्ष्यं तत्सम्यङ् त्वत्स्वरैव्यं प्रनेक्ष ॥ २२ ॥

एवं स्तुता तदा देवी विष्णुर्जिता सरस्वती ।

प्रजुषाच महात्मानं मार्कण्डेयं महामुनिम् । यत्र त्वं नेप्यसे विप्र तत्र याम्याम्यतन्द्रिता ॥ २३ ॥

(सरस्वती) देवि ! जो पदार्थ नित्य हैं तथा जो विनष्ट हो जानेवाले हैं, जो पदार्थ स्थूल हैं तथा जो सूक्ष्म हैं, जो भूमिपर हैं तथा जो अन्तरिक्षमें हैं या जो इनसे भिन्न स्थानोंमें हैं, उन समस्त पदार्थोंकी प्राप्ति आपसे ही होती है। जो मूर्त या अमूर्त हैं, वह सब कुल और जो सब भूतोंमें एक रूपसे स्थित :

मात्र है और जो द्रवमें अलग-अलग रूपमें दिखलाई पड़ता है, वह सब कुछ आपके स्वर-व्यञ्जनोसे सम्बद्ध है। इस प्रकार स्तुति किये जानेपर विष्णुकी जीमरुशिषी सरस्वतीने महामुनि महात्मा मार्कण्डेयसे कहा—हे विप्र ! तू मुझे जहाँ ले जाओगे, मैं वहीं आत्म्य छोड़कर चली जाऊँगी ॥ २१-२३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आद्यं ब्रह्मसरः पुण्यं ततो रामहृदः स्मृतः ।

कुरुणा ऋषिणा कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम् । तस्य मध्येन वै गाढं पुण्या पुण्यजलावहा ॥ २४ ॥

इति श्रीवामनपुराणं द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

मार्कण्डेयने कहा—आरम्भमें (रसका) पवित्र नाम ब्रह्मसर था, फिर रामहृद प्रसिद्ध हुआ एवं उसके बाद कुरु ऋषिद्वारा कुरुक्षेत्र होनेसे कुरुक्षेत्र कहा जाने लगा। (अब) उसके मध्यमें अत्यन्त पवित्र जलवाली गहरी सरस्वती प्रवाहित हो ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें वत्सीसत्राँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

[अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः]

श्रीमार्कण्डेय उवाच

हन्यपूर्वेऽनमं श्रुत्या मार्कण्डेयस्य धीमतः । नदी प्रवाहसंयुक्ता कुरुक्षेत्रं विवेश ह ॥ १ ॥

तत्र सा रन्तुकं प्राप्य पुण्यतोया सरस्वती । कुरुक्षेत्रं समाप्लाव्य प्रयाता पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

तत्र तीर्थसततग्राणि ऋषिभिः सेवितानि च । तान्यहं कीर्तयिष्यामि प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥ ३ ॥

तीर्थानां स्मरणं पुण्यं दर्शनं पापनाशनम् । स्नानं मुक्तिकरं प्रोक्तमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ ४ ॥

तैत्तिरीयौ अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना और कुरुक्षेत्रमें निवास करने तथा तीर्थमें स्नान करनेका महत्त्व)

श्रीमार्कण्डेयने कहा—बुद्धिमान् मार्कण्डेय ऋषिके इस उपर्युक्त वचनको सुनकर प्रवाहसे भरी हुई सरस्वती नदी कुरुक्षेत्रमें प्रविष्ट हुई। वह पवित्ररूपिणी सरस्वती नदी वहाँ रन्तुकमें जाकर कुरुक्षेत्रको जलसे प्लावित करती हुई, जो पश्चिम दिशाकी ओर चली गयी। वहाँ (कुरुक्षेत्रमें) हजारों तीर्थ ऋषियोंमें सेवित हैं। परमेशी- (ब्रह्मा-)के प्रसादसे मैं उनका वर्णन करूँगा। ऋषियोंके लिये भी तीर्थोंका स्मरण पुण्यदायक, उनका दर्शन पापनाशक और स्नान मुक्तिदायक कहा गया है (पुण्यशालियोंके लिये तो कहासा ही क्या है) ॥ १-४ ॥

ये स्मरन्ति च तीर्थानि देवताः प्रीणयन्ति च । स्नान्ति च श्रद्धाधानाश्च ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥

अपवित्रः पवित्रो या सर्वोत्तमं गतोऽपि वा । यः सरोत् कुरुक्षेत्रं स ब्रह्माभ्यन्तरः शुचिः ॥ ६ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रं वत्सरायणम् । इत्येवं बानसुखद्वयं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

ब्रह्मनामं गयाध्याजे गोमणे मरणं तथा । वामः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरक्ता चतुर्विधा ॥ ८ ॥

ये भक्तपूर्वक तीर्थोंका स्मरण करते हैं और उनमें स्नान करने हैं तथा देवताओंको प्रसन्न करते हैं, वे परम गति (मोक्ष)को प्राप्त करते हैं। (मनुष्य) अपवित्र हो या पवित्र अथवा किसी भी अवस्थामें पड़ा हुआ हो, यदि कुरुक्षेत्रका स्मरण करे तो वह ब्रह्म तथा जीवनेमें (हर प्रकारसे) पवित्र हो जाता है। मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा तथा मैं वहाँ से ब्रह्म प्राप्त करूँगा—इस प्रकारका वचन कहनेसे (मैं) मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। वामोंके लिये ब्रह्मनाम, मरणमें आता, तैत्तिरीय अथवा कुरुक्षेत्र और कुरुक्षेत्रमें निवास—यह चार प्रकारकी मुक्ति

सरस्वतीदृष्टयोर्द्वययोर्दन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं प्रहायते प्रचक्षते ॥ ९ ॥
 दूरस्थोऽपि पुरुक्षेत्रे गच्छामि च यस्मान्महम् । एयं य. सानं वृथात् सोऽपि पापैः प्रमुच्यते ॥ १० ॥
 नम्रं चैव सरःस्तार्या सरस्वत्यास्तटे स्थितम् । तस्य प्रातं ब्रह्ममयमुपस्थिति न संशयः ॥ ११ ॥
 देवना ऋषयः सिद्धाः मेरुन्ते कुरजास्तम् । तस्य संसेवनादियं ब्रह्म चाग्नि पश्यति ॥ १२ ॥

सरस्वती और हरती—इन दो देव-नदियों बीच देव निर्मित देशों प्रसन्न करते हैं । दूर देशमें स्थित रहकर भी जो मनुष्य 'मं पुरुक्षेत्र जाऊँगा, वहाँ निवास करूँगा'—इस प्रकार निरन्तर (मनमें सततप करवा या) रहता है, वह भी सभी पापोंमें छूट जाता है । वहाँ सरस्वतीके तटपर रहते हुए सरोवरमें स्नान करनेवाले मनुष्यको निश्चित ब्रह्मज्ञान उपलब्ध हो जाता है । ईश्वर, अग्नि और मित्र लोग सदा कुरुक्षेत्र- (तीर्थ-) पर सेवन करते हैं । उन तीर्थका नियम सेवन करनेसे, (वहाँ नियम निवास करनेसे,) मनुष्य अपने भीतर ब्रह्म दर्शन करता है ॥ ९-१२ ॥

चञ्चलं हि मनुष्यं प्राप्य ये मोक्षवाक्षिणः । सेवन्ति नियन्तान्मानो अपि दुष्कृतकारिणः ॥ १३ ॥
 ते विमुक्ताश्च कलुषैरेकेकजन्मसम्भवैः । पश्यन्ति निर्मलं देशं हृदयस्य सनातनम् ॥ १४ ॥
 ब्रह्मोर्दि पुरुक्षेत्रं पुण्यं संनिहितं सतः । सेवमाना नरा निव्यं प्राप्नुयन्ति परं पदम् ॥ १५ ॥
 प्रहन्श्वनराणां कालेन पतनाद् भयम् । पुरुक्षेत्रे मृताता च पतनं नैव विधत्ते ॥ १६ ॥

जो भी पापी चञ्चल मानव जीवन पार कर जिनेन्द्रिय होकर मोक्ष प्राप्त करनेकी कामनासे वहाँ निवास करते हैं, वे अपने जन्मोंके पापोंमें छूट जाते हैं तथा अपने हृदयमें रहनेवाले निर्मल देव-सनातन (मन्-) का दर्शन करते हैं । जो मनुष्य ब्रह्मवेदी, पुरुक्षेत्र एवं पवित्र 'सनिहित सरोवर'का सदा सेवन करते हैं, वे परम पदको प्राप्त करते हैं । समयात् प्रह, नक्षत्र एव ताराओंके भी पतनका भय होता है, किंतु पुरुक्षेत्रमें मरनेवालोंका यही पतन नहीं होता ॥ १३-१६ ॥

यत्र ब्रह्मादयो द्वा प्रपद्य सिद्धयारणाः । गन्धर्वाप्सरसो यथा सेवन्ति स्थानमग्निम् ॥ १७ ॥
 गत्वा तु श्रद्धया युक्तः स्नात्वा म्याणुमहाह्वरे । मनसा चिन्तितं वारं लभते नाय संशयः ॥ १८ ॥
 नियमं च ततः दृष्ट्वा गत्वा सरं प्रदक्षिणम् । रन्तुर्न च समासाद्य क्षामयिन्वा पुनः पुनः ॥ १९ ॥
 सरस्वत्या नरा स्नात्वा यज्ञं दृष्ट्वा प्रणश्य च । पुण्यं धूपं च नैवेद्यं दत्त्वा वाचमुदीरयेत् ॥ २० ॥
 नमः प्रसादाद् यक्षेन्द्र यनाजे सरितश्च या । भ्रमिष्यामि य तीर्थानि भ्रजिष्यं कुर मे मदा ॥ २१ ॥

॥ इति धीकामनपुराण प्रथमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध आण गन्धर्व, अप्सारों और यज्ञ उत्तम स्थानकी प्राप्तिमें निचे वहाँ (पुरुक्षेत्रमें) निवास करते हैं । वहाँ जाकर साण नामक मन्सरोवरमें ब्रह्मार्पण स्नान करनेसे मनुष्य नि सदेह मनो-रन्ध्रित फल प्राप्त करता है । नियम-प्रणय होनेके पश्चात् मयोगरकी प्रदक्षिणा कर रन्तुमें जाकर सर-श्वर क्षमा-प्रार्थना करनेके बाद सरस्वती नदीमें स्नान कर यज्ञका दर्शन करे और उहाँ प्रणाम करे तथा पुण्य, धूप एवं नैवेद्य देकर इस प्रकार वचन करे—हे यज्ञ 'आपकी इच्छासे मैं यहाँ नदियों और तीर्थोंमें भ्रमण करूँगा, उमे साण सदा चिन्तित करे (मेरी यात्रासे किसी प्रकारका विघ्न न हो) ॥ १७-२१ ॥

इस प्रकार धीकामनपुराणमें नैनीस्यौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

[अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः]

अथ उचुः

धनानि स्मत् नो ब्रूहि नच नद्यश्च याः स्मृताः । तीर्थानि च नमन्त्राणि तीर्थस्नानफलं तथा ॥ १ ॥

येन येन विशनेन यम्य तीर्थस्य यन् फलम् । तन् सर्वं विस्तरेणेह ब्रूहि पौगणिकोत्तम ॥ २ ॥

चौतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रकं सात प्रसिद्ध वनों, नौ नदियों एवं सम्पूर्ण तीर्थोंका साहाय्य)

श्रुत्वायैते (लोमहर्षणजीने) कथा—पुराणनेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ (मुने ! आप) हमसे उन सात वनों, नौ नदियों, सात तीर्थों एवं तीर्थ-स्नानके फलका वर्णन करें । जिस-जिस विधानसे जिस तीर्थका जो फल होता है, उन सबको आप किन्तारपूर्वक बतलायें ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृणु स्मत् वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः । येषां नामानि पुण्यानि सर्वपापहराणि च ॥ ३ ॥

काम्यफलं च वनं पुण्यं तथाऽदितिवनं महान् । व्यासस्य च वनं पुण्यं फलकीवनमेव च ॥ ४ ॥

तत्र सूर्यधनस्थानं तथा मधुवनं महान् । पुण्यं शीतवनं नाम सर्वकलमपनाशनम् ॥ ५ ॥

धनान्येतानि चैव सम नदीः शृणुत मे क्रियाः । सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ॥ ६ ॥

आपगा च मातापुण्या गङ्गा मन्दाकिनी नदी । मधुञ्जवा वासुनदी कौशिकी पापनाशिनी ॥ ७ ॥

एषद्वन्ती मातापुण्या तथा हिरण्यती नदी । वर्षाकालवहाः सत्रा वर्जयित्वा सरस्वतीम् ॥ ८ ॥

लोमहर्षणने कथा—(श्रुतियो !) कुरुक्षेत्रके मध्यमें जो सात वन हैं, उनका मैं वर्णन करता हूँ, आपलोग उमे सुनें । उन वनोंके नाम सभी पापोंको नष्ट करनेवाले तथा पवित्र हैं । (उन वनोंके नाम हैं—) पवित्र काम्यक-वन, महान् अदिति-वन, पुण्यप्रद व्यास-वन, फलकीवन, सूर्यवन, महान् मधुवन तथा सर्वकलमपनाशक पवित्र शीतवन—ये ही सात वन हैं । हे द्विजों ! (अब) नदियों- (के नाम-) को मुझसे सुनो । (उनके नाम हैं) पवित्र सरस्वती नदी, वैतरणी नदी, महापवित्र आपगा, मन्दाकिनी गङ्गा, मधुञ्जवा, वासुनदी, पापनाशिनी कौशिकी, महा-पवित्र द्वाती (वरुण) तथा शिणती नदी । इनमें सरस्वतीके अनिष्टिक सभी नदियाँ वर्षाकालमें (ही) बहनेवाली हैं ॥ ३-८ ॥

एतास्मादुदकं पुण्यं प्रावृष्टकाले प्रकीर्तितम् ।

राजस्यलव्योमात्मां विद्यते न कदाचन । तीर्थस्य च प्रभावेण पुण्या होताः सरिद्धराः ॥ ९ ॥

शृण्वन्तु मुनयः श्रीवामनोर्ध्वस्नानफलं महान् । गमनं स्रग्णं चैव सर्वकलमपनाशनम् ॥ १० ॥

श्रुत्वा न नरो मद्रा कामपालं महाबलम् । यक्षं नमभिवार्यैव तीर्थयात्रां समाचरेत् ॥ ११ ॥

ततो मन्त्रेण विप्रन्द्रा नान्नाऽदितिवनं महान् । अदित्या यत्र पुत्रार्थं कृतं घोरं महत्तपः ॥ १२ ॥

जो कालमें इनका बड़ा पवित्र माना जाता है । इनमें कभी भी राजस्यलव्य दोष नहीं होता । तीर्थके प्रभावसे ये सभी श्रेष्ठ तीर्थ पवित्र हैं । मुनियों ! आपलोग (अब) प्रसन्न होकर तीर्थस्नानका महान् फल सुनें । वहाँ जाना करके उग्रवामन प्रसन्न होकर आपसे सात करनेवाला होता है । मन्त्रब्रह्मन् श्रुत्वा नामक द्वारपालका दर्शन करनेके बाद मन्त्रोंके प्रभाव से तीर्थयात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए । विप्रन्द्रो ! उसके बाद महान् अदिति-वनमें जाता जायें, जहाँ अदिति मुझे जिसे आपका कटोरे का चिह्न था ॥ १०-१२ ॥

तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च अदिनि देवमातरम् ।

पुत्रं जनयते शूरं सर्वशोषविनिर्जितम् । आदित्यरातमंशरां विमानं चाधिरोहति ॥ १३ ॥
 ततो गच्छेत् विम्रेन्द्रा विष्णोः स्थानमनुचमम् । सतनं नाम विष्णुशतं यत्र संनिहितो हरिः ॥ १४ ॥
 विमले च नरः स्नात्वा दृष्ट्वा च विमलेऽथरम् । निर्मलं स्वर्गमायाति रट्टलोचं च गच्छति ॥ १५ ॥
 हरिं च बलदेवं च एकश्रामसमन्वितौ । दृष्ट्वा मोक्षमयाप्नोति कल्पितममरभयै ॥ १६ ॥

वहाँ स्नानकर तथा देवमाता अदिनिरा दर्शनकर मनुष्य मनन दोरमें रहित (निर्मल) और पुत्र उत्पन्न करता है और सैन्यों मूयेंके समान प्रमादानन विमानपर धारण होना है। विम्रेन्द्रो इसके बाद 'सतन' नामसे विख्यात सर्वोत्तम विष्णु-स्थानको जाना चाहिये, जहाँ भगवान् हरि सदा समिहित रहते हैं। विमल तीर्थमें स्नानकर विमलेऽथरका दर्शन करनेसे मनुष्य निर्मल हो जाता है तथा रट्टनेमें जाना है। एक आसुनपर स्थित दृष्ट्वा और बलदेवका दर्शन करनेसे मनुष्य कल्पिके दुष्कर्मोंसे उरफन पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३-१६ ॥

तत्र पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च ब्रह्मणं वेदसंयुतम् ॥ १७ ॥
 ब्रह्मवेदफलं प्राप्य निर्मलं स्वर्गमाप्नुयात् ।
 तत्रापि संगमं प्राप्य कौशिक्यां तीर्थसम्भवम् । संगमे च नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १८ ॥
 धरण्यास्तीर्थमासाद्य सर्वपापविमोचनम् । क्षान्तिपुत्रो नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १९ ॥
 धरण्यामपराधानि कृतानि पुरपेष वै । सर्वाणि क्षमते तस्य स्नानमात्रस्य देहिनः ॥ २० ॥

उसके पश्चात् तीनों लोकमें विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करनेके पश्चात् वेदों-सहित ब्रह्मका दर्शन करनेसे अपवर्षदेवका ज्ञान प्राप्तकर निर्मल स्वर्गको प्राप्त करता है। जैशितरी-मग्न तीर्थमें जाकर स्नान कर मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है। समस्त पापोंसे मुक्त करनेवाले धरणीके तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे क्षमाशील मनुष्य परमपदकी प्राप्ति करता है। वहाँ स्नान करनेमात्रसे पृथ्वीर मनुष्यद्वारा किये गये समस्त अपराध क्षमा कर दिये जाते हैं ॥ १७-२० ॥

ततो दशश्रमं गत्वा दृष्ट्वा दक्षेश्वरं शिवम् । अथमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ २१ ॥
 ततः शालूकिनीं गत्वा स्नात्वा तीर्थं द्विजोत्तमा ।
 हरिं हरेण संयुक्तं पूज्य भक्तिस्समन्वितः । प्राणोत्थभिर्भक्तार्लोकान् सर्वपापविनिर्जितान् ॥ २२ ॥
 सर्पिर्दधि समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् । तत्र स्नानं नरः कृत्वा मुक्तो नागभयाद् भवेत् ॥ २३ ॥
 ततो गच्छेत् विम्रेन्द्रा द्वारपालं तु रत्नुकम् । तत्रोप्य रजनीमेकां स्नात्वा तीर्थं परे शुभे ॥ २४ ॥
 द्वितीयं पूजयेद् यत्र द्वारपालं प्रयत्नतः । ब्राह्मणान् भोजयित्वा च प्रणिपत्य क्षमाययेत् ॥ २५ ॥
 तत्र प्रसादाद् यक्षेन्द्र मुक्तो भवति किल्बिषैः ।
 सिद्धिर्मयाभिलषिता तथा साद्वै भगव्यहम् । एवं प्रसाद्य यक्षेन्द्रं तत्र पञ्चनदं व्रजेत् ॥ २६ ॥
 पञ्चनदाद्य रूद्रेण कृता क्षान्तवभीषणा । तत्र सर्वेषु लोकेषु तीर्थं पञ्चनदं स्मृतम् ॥ २७ ॥

उसके बाद दशश्रममें जाकर दक्षेश्वर शिवका दर्शन करनेसे मनुष्य अथमेय यज्ञका फल प्राप्त करता है। द्विजोत्तमो। तदनन्तर शालूकिनी तीर्थमें जाकर स्नान करनेके उपरान्त भक्तिपूर्वक हरमें मनुष्य हृदिना पूजन कर मनुष्य समस्त पापोंसे रहित इच्छाके अनुकूल स्वर्गको प्राप्त करता है। सर्पिर्दधि मानवको नागोंके उत्तम तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य नाग-भयसे मुक्त हो जाता है। विम्रेन्द्रो। तदनन्तर रत्नुक नामक द्वारपालके पश्चात्

एतन्निष्ठं विद्यमानं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी ।
 एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी ।
 एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी । एतन्निष्ठं कर्म तदा शक्यं तदागी ।

श्रोत्रिणीशोनि नष्टेण समाश्रय यतः स्थितम् । तेन वैशेष्यविरच्यतां कोटिनींश्च प्रचक्षते ॥ २८ ॥
 योनिन तौर्ये ततः श्लाघ्या दृष्ट्वा कोटिभ्यश्च हरम् । पञ्चयगतयाशोति नित्यं श्रद्धात्ममन्त्रिनः ॥ २९ ॥
 तौर्ये याम्बो देवः सर्वदेवैः प्रतिष्ठितः । तत्रापि च ततः श्लाघ्या दृष्टिप्रोमकरं लेभेत् ॥ ३० ॥
 श्रीधनोन्नीर्यमासाद्य श्रद्धायान्त यो जितेन्द्रियः रूपस्य भागी भवति यशस्वी च भवेत्पुनः ॥ ३१ ॥

कोटिनींश्च यो जितेन्द्रियः रूपस्य भागी भवति यशस्वी च भवेत्पुनः ॥ ३१ ॥
 तौर्ये याम्बो देवः सर्वदेवैः प्रतिष्ठितः । तत्रापि च ततः श्लाघ्या दृष्टिप्रोमकरं लेभेत् ॥ ३० ॥
 योनिन तौर्ये ततः श्लाघ्या दृष्ट्वा कोटिभ्यश्च हरम् । पञ्चयगतयाशोति नित्यं श्रद्धात्ममन्त्रिनः ॥ २९ ॥

यागहं तौर्येमाश्रयतं विष्णुना परिकीर्तितम् । तस्मिन् श्लाघ्या श्रद्धातः प्राप्नोति पद्मं पद्मम् ॥ ३२ ॥
 ततो गच्छेत् विमन्त्राः सोमनीर्यमनुचमन् । यत्र सोमस्तपस्वन्त्या व्याधिसुक्तोऽभवत्पुरा ॥ ३३ ॥
 यत्र सोमेश्वरं दृष्ट्वा श्लाघ्या तौर्ये मुनेः राजसूयस्य यदस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३४ ॥
 यत्रैश्वर्यं चित्तमुक्तः सर्वदोषविवर्जितः सोमलोभमयाशोति तौर्ये रमते चिरम् ॥ ३५ ॥

यत्रैश्वर्यं चित्तमुक्तः सर्वदोषविवर्जितः सोमलोभमयाशोति तौर्ये रमते चिरम् ॥ ३५ ॥
 यत्रैश्वर्यं चित्तमुक्तः सर्वदोषविवर्जितः सोमलोभमयाशोति तौर्ये रमते चिरम् ॥ ३५ ॥
 यत्रैश्वर्यं चित्तमुक्तः सर्वदोषविवर्जितः सोमलोभमयाशोति तौर्ये रमते चिरम् ॥ ३५ ॥

उसकी पुत्रि हो जाती है (-यह पतिर हो जाता है) । उसने बाद दुर्दिमान् महादेवक मुञ्जतर नामक तीर्थमें एक रात्रि निवास करके मनुष्य गाणप्य (गगनायकने पदको) प्राप्त करता है । वही विघ्न प्रसिद्ध महाप्रादी यक्षिणी है । वहाँ जाकर स्नान करनेके बाद यक्षिणीको प्रसन्न कर उपराग करनेमें महान् पातकोंका नाश होता है ॥ ३६-४० ॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं पुण्यवर्धनम् ।

प्रदक्षिणमुपावर्यं ब्राह्मणान् भोजयेत् नतः । पुष्करं च ततो गन्था अभ्यर्च्य पितृदेवताः ॥ ४१ ॥

जामदग्न्येन रामेण आहृतं तन्महात्मना । कृत्स्नद्वारयो भवेद् राज्ञा शययामोघं च विन्दति ॥ ४२ ॥

कन्यादानं च यस्तत्र कार्त्तिकयां वै करिष्यति । प्रसन्ना देवतास्तस्य दास्यन्त्यभिमतं फलम् ॥ ४३ ॥

कपिलश्च महायक्षो द्वारपालः स्वयं स्थितः । विघ्नं करोति पापानां दुर्गतिं च प्रचरुति ॥ ४४ ॥

पत्नी तस्य महायक्षी नाम्नोदृत्तलमेखला । आहत्य दुन्दुभिं तत्र भ्रमने निन्यमेव हि ॥ ४५ ॥

पुण्यकी वृद्धि करनेवाले कुरुक्षेत्रके उस विद्यालय द्वारकी प्रदक्षिणा कर भाग्यगोरो भोजन कराये । फिर पुष्करमें जाकर पितृदेवोंकी अर्चना करे । उस तीर्थका महात्मा जनदत्तनन्दन परशुरामजीने—निर्माग किया था । वहाँ (जाकर) मनुष्य सफल मनोस्थ हो जाता है और राजाको अरमेययज्ञके फलकी प्राप्ति होती है । कार्तिकी पूर्णिमाको जो मनुष्य वहाँ कन्यादान करेगा, उसने ऊपर देवता प्रसन्न होकर उसे मनोसन्तित फल देगे । वहाँ कपिल नामक महायक्ष स्वयं द्वारपालके रूपमें स्थित हैं, जो पापियोंके मार्गमें विघ्न उपस्थित कर उनकी दुर्गति करते हैं (जिससे वे पापाचरण न करें तथा धर्मकी मर्यादा स्थिर रहे) । उद्बलत्रमेवजनामक उनकी महायक्षी पत्नी दुन्दुभि बनाकर वहाँ नियम भ्रमण करती रहती है ॥ ४१-४५ ॥

सा ददर्श स्त्रियं चैयां सपुत्रां पापदेशजात् । तामुवाच तदा यक्षी आहत्य निशि दुन्दुभिम् ॥ ४६ ॥

युगन्धरे दधि प्रादथ उपित्वा चान्युतम्यले । तद्वद् भूतालये स्नात्वा सपुत्रा घम्मुमिच्छसि ॥ ४७ ॥

द्विधा मया ते कथितं रात्रौ भक्ष्यामि निश्चिनम् । एतच्छ्रुत्वा तु यद्यत्नं प्रणिपत्य च यक्षिणीम् ॥ ४८ ॥

उवाच शूनया याया प्रसादं कुरु भामिनि । ततः सा यक्षिणी तां तु प्रोवाच कृपयान्विता ॥ ४९ ॥

यदा सूर्यस्य ग्रहणं कालेन भविता वचिन् । मन्निहत्यां तदा स्नात्वा पूत स्यात् समिप्यसि ॥ ५० ॥

इति श्रीवामनपुराण चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

उस यक्षिणी पापवाले दशमें उष्ण पुत्रक माघ एव रात्रिमें खीनी देवनेके बाद दुन्दुभि बनाकर उसमें कहा—युगन्धरमें दही ग्याकर तथा अन्युतम्यले निवास करनेके बाद भूतालयमें स्नान कर तुम पुत्रके साथ निवास करना चाहती हो । मैंने दिनमें यह बात तुम्हने कही है । रात्रिमें मैं अरमेय तुमको दधि जाऊँगी । * उसकी यह बात सुननेके बाद यक्षिणीको प्रणाम कर उसने शून याणीमें उम्मे कहा—हे भामिनी ! मैंने ऊपर क्या रगे । फिर उस यक्षिणीने उम्मे कृपापूर्वक कहा—जय किमी स्नान सूर्यग्रहण होग्य, उस समय सन्निहत्या (गोरुर-)में स्नान करके पवित्र होकर तुम स्वर्ग चली जाओगी ॥ ४६-५० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौलीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

प्रदान करेंगे । विप्रो ! इस प्रकार वर देकर परशुरामके विर उनमें अनुमति लेकर प्रसन्नपूर्वक वही कन्तार्हित हो गये । इस प्रकार महात्मा परशुरामके ये रामहृद परम पवित्र हैं ॥ ९-१४ ॥

स्नात्वा हृदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुचिमतः । राममभ्यर्च्य धृष्ट्यान् विन्देद् षट् सुपर्णकम् ॥ १५ ॥

यंरामूलं समासाद्य तीर्थसेवी सुसंपतः । स्वयंदासिद्धये विप्राः स्नात्वा वै यंरामूलके ॥ १६ ॥

कायशोधनमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविभुतम् । शरीरशुद्धिमाप्नोति स्नानस्तस्मिन् न संशयः ॥ १७ ॥

शुद्धदेष्टुं तं याति यस्माद्भावते पुनः ।

गावद् भ्रमन्ति तीर्थेषु सिद्धास्तीर्थपरायणाः । यावन्न प्राप्नुयन्तीह तीर्थं तत्रायशोधनम् ॥ १८ ॥

श्रद्धालु पवित्रकर्मा व्यक्ति धनचर्यपूर्वक परशुरामजीके हृदोमें स्नान करनेके बाद परशुरामका अर्चन कर प्रचुर सुवर्ग प्राप्त करता है । बाण्यो ! तीर्थसेवी जितेन्द्रिय मनुष्य वंशमूलक नामक तीर्थमें जाकर प्रचुर उत्तम स्नान करनेसे अपने वशकी सिद्धि प्राप्त करता है । तीनों लोकोंमें विद्यमान कायशोशन नामक तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको निस्सदेह शरीरकी शुद्धि प्राप्त होती है और वह शुद्धदेही मनुष्य उस स्थानको जाता है, जहाँसे वह पुनः नहीं लौटता (जन्म मरणके चक्रमें नहीं पड़ता) । तीर्थपरायण सिद्ध पुरुष तीर्थोंमें तबत्रक धमण करते रहते हैं, जबत्रक वे उस कायशोशन नामक तीर्थमें नहीं पहुँचते ॥ १५-१८ ॥

तस्मिंस्तीर्थे च संश्लष्य कायं संयतमानसः । परं पद्मवाप्नोति यस्माद्भावते पुनः ॥ १९ ॥

ततो गच्छेत् विप्रेन्द्रास्तीर्थं त्रैलोक्यविभुतम् । लोका यत्रोद्भूताः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २० ॥

लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थस्मरणतत्परः । स्नात्वा तीर्थपरं तस्मिन् लोकान् पश्यति शाश्वतान् ॥ २१ ॥

यत्र विष्णुः स्थितो नित्यं शिवो देवः सनातनः । तौ देवौ प्रणिपातेन प्रसाद्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥

धीर्तीर्थं तु ततो गच्छेत् शालग्राममनुत्तमम् । तत्र स्नानस्य सांनिध्यं सदा देवी प्रयच्छति ॥ २३ ॥

मनको नियन्त्रित करनेवाला मनुष्य उस तीर्थमें शरीरको धोकर (प्रक्षालित कर) उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँसे उसे पुनः परार्थित नहीं होना पड़ना । विप्रयो ! उमके बाद तीनों लोकोंमें विष्णुना लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ सर्वसमर्थ विष्णुने समस्त लोकोंका उद्धार किया था । तीर्थका स्मरण करनेमें तपर मनुष्य लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे शाश्वत लोकोंका दर्शन प्राप्त करता है । वहाँ विष्णु एवं सनातनदेव शिव-ये दोनों ही स्थित हैं । उन दोनों देवोंको साक्षात् प्रणम्यद्वारा प्रसन्न कर फिर मुक्तिपत्र प्राप्त करता है । तदनन्तर अनुत्तम शालग्राम एवं श्रीतीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ स्नान करनेवालोंको भगवती (लक्ष्मी) अपने निकट निरास प्रदान करती हैं ॥ १९-२३ ॥

कपिलहृदमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविभुतम् । तत्र स्नानाच्छुचिण्या च देवैर्गच्छि पितृसंस्था ॥ २४ ॥

कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः । तत्र स्थितं महादेवं कपिलं वपुरास्थितम् ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति श्रुतिभिः पूजितं शिवम् । सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ २६ ॥

अर्चयित्वा पितृन् देवानुपवासासपरायणः । अग्निशोमयानोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ २७ ॥

सिद्धि त्रैलोक्यप्रसिद्ध कपिलहृद नामक तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेके पश्चात् उन्का तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिल गायकों दानका फल प्राप्त होता है । वहाँपर स्थित श्रुतिमें पूजित कपिल शरीरधारी महात्म शिवका दर्शन करनेसे मुक्तिपत्र प्राप्ति होती है । फिर अन्न करणरत्न एव उपवासपरायण व्यक्ति सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेके बाद तिनमें अर्चन करनेमें अग्निशोम पड़ना पड़ प्राप्त करता है एव सूर्यलोकको जाता है ॥ २४-२७ ॥

सहस्रविरणं देवं भातुं प्रेतोभयविश्रुतम् । उष्ट्रा मुक्तिमवाप्नोति नरो ज्ञानसमन्वितः ॥ २८ ॥
 भवानीयनमावाय नीर्यसेवा यथाक्रमम् । तत्राभिप्रेतं कुवाणो नासहस्रफलं लभेत् ॥ २९ ॥
 पिनामात्म्य विदन्तो जन्तुं पूर्वमेव हि । उष्ट्राणान् सुरभिर्जाना स्या च पातालमाश्रिता ॥ ३० ॥
 नय्याः सुरभयो जानाः तनया लोकमानसः । तामिस्तामरुलं व्याप्य पातालं सुनिरन्तरम् ॥ ३१ ॥

नीनो लोकमें विद्यात हलागे किरणोपदे मयंदेय भवनका दर्शन करनेसे मनुष्य ज्ञानसे युक्त होकर मुक्तिसे प्राप्त करता है । नीर्यसेवन करनेवाला मनुष्य क्रमशः भवानीयनमें जाकर वहां (भवानीका) अभिप्रेत करनेसे सहस्र संशानका फल प्राप्त करता है । प्राचीन कालमें अमृतपान करने हुए श्याके उष्टार (उष्टार) में सुरभिकी उरगति हुई और वह पाताल लोकमें बंधी गयी । उस सुरभिये लोकवाताई (सुरभिकी पुत्रियां) (नय्ये) उपज हुई । उनसे सुवन्त पाताल लोक व्याप्त हो गया ॥ २८—३१ ॥

पिनामात्म्य यजन्तो दक्षिणार्धमुपाहृताः । आहूता ब्रह्मणा तद्य विभ्रान्ता विचरेण हि ॥ ३२ ॥
 तस्मिन् विचरन्तं तु स्थितो भगवतिः सायम् । यं उष्ट्रा सकृत्प्राञ्च कामान् प्राप्नोति संयतेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
 सङ्गितो नु समावाय नीर्यं मुक्तिसवाश्रयम् । देव्यास्तोर्थं नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
 धनन्तां श्रियमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः । भोगांध विमुक्तान् भुज्ज्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३५ ॥

पिनामात्मके यह करने समय दक्षिणार्ध विधि करी गयी पूज करके श्राद्ध बुझायी ये कार्य विचरके कारण भटकने लगी । उस विचरके श्राद्ध रूप भगवति भगवान् मिले हैं । जितेन्द्रिय मनुष्य उनका दर्शन करके समस्त कामनाओंको प्राप्त करता है । मुक्तिके आश्रयस्वरूप देशीने संगितीनीर्यमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको सुष्टर स्नाती प्राप्ति होती है तथा वह स्नानकर्ता पुत्र पुत्रपौत्रसमन्वित होकर असन्त पंथवर्को प्राप्त करता है और विमुक्त भोगिका उपभोग कर परम पदको प्राप्त करता है ॥ ३२—३५ ॥

ब्रह्मायत्तं नरः स्नात्वा प्रदत्तानाममन्वितः । भवेत् नात्र संदोः प्राणान् मुञ्चति स्वच्छया ॥ ३६ ॥
 नतो गच्छेत्त विष्टेष्टा द्वारपालं नु रन्तुकम् । तस्य तीर्थं नरस्वय्यां यथेन्द्रिय महाभयतः ॥ ३७ ॥
 नत्र स्नात्वा महाभय उपवासपरायणः । यथस्य च प्रयादेन लभते कामिकं फलम् ॥ ३८ ॥
 नतो गच्छेत्त विष्टेष्टा ब्रह्मायत्तं मुनिस्तुतम् । ब्रह्मायत्तं नरः स्नात्वा ब्रह्म चाप्नोति निश्चितम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मायत्त नामक तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सिद्धिपद प्राप्त करे ही ही जाकर वह यथेन्द्रिय मुक्त होकर समस्त कामनाओंको प्राप्त करता है । विष्टेष्टे ! भगितीनीर्यके यह श्राद्ध स्नान करने जाय । उन महाभय विष्टेष्टा तीर्थ समझी गयी है । वहाँ स्नान करके उपवास-व्रतमें निरत भगवता शक्ति यथाक प्रयादेन ही परम पद प्राप्त करता है । हे विष्टे ! निः मुनियोगसे ब्रह्मायत्त प्राप्त ब्रह्मवर्त नीर्यमें जाना नहीये । ब्रह्मायत्त स्नान करनेसे मनुष्य विश्व ही प्रकरो प्राप्त करता है ॥ ३६—३९ ॥

नतो गच्छेत्त विष्टेष्टाः सुसंयतसमुत्तमम् । तत्र संनिष्ठितो नियं विदरो देवते नर ॥ ४० ॥
 तत्रोत्तमं सुसंयत विष्टेष्टावर्गेन स्यात् । अभ्यन्थमवाप्नोति विष्टेण भोजानि शाश्वतान् ॥ ४१ ॥
 तत्रोत्तमं सुसंयतं स्यात्तस्य यथाक्रमम् । तस्यैवस्य तीर्थं नु स्नात्वा ब्रह्मायत्तमन्वितः ॥ ४२ ॥
 यथाशक्ति संनिष्ठितो गच्छेत्त निर्दिष्टं भुवम् । साकृत्तीर्थं च तत्रैव यत् स्नानस्य भक्तिकः ॥ ४३ ॥
 ब्रह्म विष्टेष्टे विष्टेष्टावर्गे स्नात्वा विष्टेष्टम् । तत्र शीतवर्तं गच्छेत्तियतो नियतागतः ॥ ४४ ॥
 तीर्थे यत् स्नात्वा स्यात् महाभयतः सुसंयतः । पुनरिति यथेन्द्रिय श्राद्धं च विष्टेणाम् ॥ ४५ ॥

हे त्रिप्रेशो ! उसके बाद श्रेष्ठ मुनीर्षक नामके स्थानपर जाना चाहिये । उस स्थानमें देवताओंके साथ स्त्रियुग नित्य स्थित रहते हैं । शिवों एवं देवीओं के नामों लय गूने लय व्यक्ति वहाँ स्नानकर अथवा यज्ञका फल प्राप्त करता है तथा शकत शिवोंको प्रसन्न करता है । धर्मतः उसके बाद क्रमानुसार कानेश्वर तीर्थके अभ्युत्थानमें जाकर श्रद्धापूर्वक स्नान करनेमें मनुष्य सभी व्यर्थियोंमें श्रेष्ठकर निश्चय ही ब्रह्मकी प्राप्ति करण है । उनी स्थानमें स्थित मातृतीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेमें मनुष्यकी प्रजा- (स्वप्ति-)की कृप्य वृद्धि होती है तथा उसे अनन्त लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है । उसके बाद नियत आहार करनेवाला एवं जितेन्द्रिय शक्ति शीतल नामक तीर्थमें जय । हे महाशिवो ! यहाँ दण्डक नामक एक महान् तीर्थ है ; वह अत्यन्त दुर्लभ है । द्विजोत्तमो ! वह दण्डक नामका महान् तीर्थ दर्शनकरसे मनुष्यको पवित्र कर देता है ॥ ४०-४५ ॥

केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति पापतः । तत्र तीर्थवरं चान्यत् स्वानुलोमायनं महत् ॥ ४६ ॥
तत्र विप्रः ब्रह्ममात्रा विद्वांसस्तोत्रैरुत्तराः । स्वानुलोमायने तं विद्यास्त्रैलोक्यविभुने ॥ ४७ ॥
प्रणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः । पूतात्मानश्च ते विप्रः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४८ ॥
दशाश्वमेधिकं चैव तथ तीर्थं सुविश्रुतम् । तत्र स्नात्वा भक्तियुक्तस्तेषु लभते फलम् ॥ ४९ ॥
ततो गच्छेत् श्रद्धायान् मानुषं लोकविश्रुतम् । दर्शनात् तस्य तीर्थस्य मुक्तो भवति क्रिद्विपैः ॥ ५० ॥

उस तीर्थमें शंखोद्भि सुष्ठन करनेसे मनुष्य अपने पापोंमें मुक्त हो जाता है । यहाँ स्वानुलोमायन नामका एक दूसरा महान् तीर्थ है । हे द्विजोत्तमो ! यहाँ तीर्थसेन करनेमें नारा परमज्ञानी विद्वान् लोग रहते हैं । त्रिनेत्र-विद्वान् उस तीर्थमें वे प्राणायामोंके द्वारा अपने लोकोद्भा परित्याग करते हैं और वे पवित्रान्ना त्रिप्रणय परम गतिमें प्राप्त करते हैं । बहीर परमप्रसिद्ध दशश्वमेधिक तीर्थ है । भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करनेसे पूर्वोक फलकी ही प्राप्ति होती है । फिर श्रद्धालु मनुष्यको लोकप्रसिद्ध मानुषीर्षमें जाना चाहिये । उन तीर्थका दर्शन करनेसे ही पापोंसे मुक्ति हो जाती है ॥ ४६-५० ॥

पुरा कृष्णमुखास्तत्र ध्याधेन शरपांडिताः । विद्यात् तस्मिन् सर्गिन् मानुषत्वमुपागताः ॥ ५१ ॥
नतो ध्याधाश्च ते सर्वे तान्पूजन् द्विजोत्तमान् । मृगा अनेन वै याता अस्ताभिः शरपांडिताः ॥ ५२ ॥
निमग्नास्ते सरः प्राप्य क ते याता द्विजोत्तमाः । तेऽनुर्गस्तत्र ये पृष्ठा वयं ते च द्विजोत्तमाः ॥ ५३ ॥
अस्य तीर्थस्य माहात्म्यान्मानुषत्वमुपागताः । तस्माद् यूयं श्रद्धाधानाः स्नात्वा तीर्थे विमन्तराः ॥ ५४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्ता भविष्यथ न संशयः । ततः स्नात्वाश्च ते सर्वे शुद्धदेहा दिवं गताः ॥ ५५ ॥
पतत् तीर्थस्य माहात्म्यं मानुषस्य द्विजोत्तमाः । येऽभ्युपवित् श्रद्धाधानास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीवागनपुराणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

पूर्वात्म्ये व्यासद्वारा प्राणसे विद्वत्सामुग (मलय हरिण) उम सरोवरमें स्नानकर मनुष्यकी प्राप्ति हुए थे । उसके बाद उन सभी व्यर्थोंमें उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंमें पुत्र—द्विजोत्तमो ! हम लोकोद्भा वागने निर्दिष्ट मृग इस मार्गमें जाते हुए सरोवरमें निमग्न होकर वहाँ चले गये । उनके पूजनेपर उन्होंने उत्तर दिया—हम द्विजोत्तम वे (कृष्ण) मृग ही थे । इस तीर्थके माहात्म्यसे हम सब मनुष्य बन गये हैं । तत्र परमन्तमें रहित होकर श्रद्धापूर्वक इस तीर्थमें स्नान करनेमें तुम लोग निश्चय मन्त पावने विनिर्मुक्त हो जाओगे । फिर स्नान करनेमें शुद्ध देह होकर वे सभी (या) स्वर्ग चले गये । द्विजोत्तमो ! वे श्रद्धापूर्वक मानुषीर्षमें इस माहात्म्यसे मुक्त हैं, अभी तम गतिमें प्रथम रहते हैं ॥ ५१-५६ ॥

इस प्रकार वागमनपुराणमें पंचमोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

लोकमार्गण इत्यत्र

मानुष्यं तु पूर्वेण क्रोधमात्रे द्विजेत्तमाः । आपणा नाम विख्याता नदी द्विजनिषेचिता ॥ १ ॥
 श्यामाकं पयना मिलमाडयत् न परिश्रुतम् । ये प्रयच्छन्ति विप्रभ्यस्तेषां पापं न विद्यते ॥ २ ॥
 ये तु क्षात्रं कश्चिन्नित् प्राप्य तामापणां नदीम् । ते सर्वकामसंयुक्ता भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३ ॥
 शंसन्ति सर्वे पितरः स्वग्निं च पितामहाः । अस्माकं च कुले पुत्रः पौत्रो वापि भविष्यति ॥ ४ ॥
 य आपणां नदीं गत्वा तिलैः संवर्षिष्यति । तेन तृप्ता भविष्यामो यावत्कल्पशतं गतम् ॥ ५ ॥

छत्रीसर्वा अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रकं तीर्थकं माहात्म्य एवं कनका अनुकान्त वर्णन)

लोकमार्गण चोक्तं—द्विजोत्तमो ! मानुषीर्यकी पूर्व दिशामें एक कोत्तर द्विजेसे पूजित 'आपणा' नामकी एक विख्यात नदी है । वहाँ क्षत्रियके चावलको दूधमें सिद्धकर और उसमें घी मिलाकर जो ब्राह्मणोंको देते हैं, उनके पाप नहीं रह जाते । जो व्यक्ति उस आपणा नदीके तटपर जाकर श्राद्ध करेंगे, वे निःसंदेह समस्त (शुभ) कामलाभमें पूर्ण होंगे । सभी पितर कहते हैं तथा पितामह लोग स्मरण करते हैं कि हमारे कुटुम्बमें कोई ऐसा पुत्र या पौत्र उत्पन्न होगा, जो आपणा नदीके तटपर जाकर निरोग वर्णन करेगा, जिससे हम सभी सैकड़ों कल्पतक (अन्त कल्पतक) वृष रहेंगे ॥ १-५ ॥

नभस्य मामि सम्प्राप्ते क्षणापक्षे विशेषतः । चतुर्दश्यां तु मध्याह्ने पिण्डदानं मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ६ ॥
 ततो गच्छेत् विप्रन्द्रा व्रतणः स्नानमुत्तमम् । ब्रह्मोद्भवमिष्येत् सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ७ ॥
 तत्र प्रवर्षिष्येत्पु स्नानस्य द्विजसूतमाः । जमपीणां प्रसादेन सप्तसोमफलं भवेत् ॥ ८ ॥
 भगवाञ्च गौतमश्च जमदग्निश्च कश्यपः । विश्वामित्रो वसिष्ठश्च अत्रिश्च भगवानृषिः ॥ ९ ॥
 एतैः संसृत्य तदकुण्ठं कल्पितं भुवि दुर्लभम् । व्रतणा सेवितं यस्याद् ब्रह्मोद्भवरमुच्यते ॥ १० ॥

माहात्म्यके महीर्षिके, विप्रन्द्रा कृपाव्रतके, चतुर्दशी तिथिके मध्याह्न कालमें पिण्डदान करनेवाला मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है । विप्रन्द्रा ! उसके बाद तमन्त लोकमें 'ब्रह्मोद्भवर' नामसे प्रसिद्ध व्रतके श्रेष्ठ स्थानमें जाना चाहिये । द्विजधर्म ! वहाँ ब्रह्मर्षिकृतमें स्नान करनेवाले व्यक्तिके नमस्कारकी कृपासे सात सोमयज्ञोंका फल प्राप्त होता है । भगवान्, गौतम, जमदग्नि, कश्यप, विश्वामित्र, वसिष्ठ एवं भगवान् अत्रि (इन सात) ऋषियोंने मिलकर शृणुने दूर्लभ इस कुण्ठको बनाया था । ब्रह्मदान सेवित होनेके कारण यह स्नान 'ब्रह्मोद्भवर' कहलता है ॥६-१०॥

तस्मिन्तीर्थेरे स्नानो ब्रह्मणोऽप्यन्तजन्मतः । ब्रह्मलोकमवाप्नोति तत्र कार्या विचारणा ॥ ११ ॥
 देवान् पित्रान् समुद्दिश्य यो निमं भोजयिष्यति । पितरस्तान् सुखिना दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १२ ॥
 गतपीणं समुद्दिश्य पृथक् स्नानं समाचरेत् । ब्रह्मणो न प्रसादेन समलोकाधिपो भवेत् ॥ १३ ॥
 कश्चिच्छेतेति विख्यातं सर्वपातकनाशनम् । यस्मिन् स्थितः स्वयं देवो ब्रह्मकेदारसंघितः ॥ १४ ॥
 यश्च स्नानात्सर्वविद्यां न तद् दिष्टिदत्तमन्वितम् । अन्तर्गतमवाप्नोति शिवलोके स मोदते ॥ १५ ॥

आपणा जमरानी ब्रह्मके उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है । जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको भोजन करायेगा, उनके पितर सुखी होगे उसे संसारमें दुर्लभ वस्तु प्रदान करेंगे । सात ऋषियोंके उद्देश्यसे जो (व्यक्ति)

अलगसे स्नान करेगा, वइ श्रुतियोंके अनुग्रहमे मान लोभोंका मारी होगे । वहाँ सभी पापोंका निरास करनेवाला विद्याल कारिस्थान नामके तीर्थ है, जहाँ बृहदेदार नामके देव स्वय विद्यमान हैं । वहाँ स्नान करनेके बाद दिण्डिके साथ रुद्रदेवका अर्चन करेगेसे मनुष्यको अन्तर्मानकी शक्ति प्राप्त होनी है और वइ शिरोरुमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ११-१५ ॥

यस्तत्र तर्पणं कृत्वा पिबते चुलकप्रयम् । दिण्डिकेदेवं नमस्कृत्य केदारस्य फले लभेत् ॥ १६ ॥
यस्तत्र कुरुते श्राद्धं शिवमुद्दिश्य मानवः । चैत्रगुह्यचतुर्दश्यां प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १७ ॥
फलस्थां तु ततो गच्छेद् यत्र देवो स्वयं स्थिता । दुर्गा नार्यायनी भद्रा निद्रा माया सनातनी ॥ १८ ॥
कलस्यां च नरः स्नात्वा द्यूा दुर्गां तटे स्थिताम् । संसारगहनं दुर्गां निस्तरन्नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो व्यक्ति उम स्नानपर तर्पण करके दिण्डिके भगवान्को प्रणाम कर तीन चुन्द जठ पीता है, वइ केदारतीर्थमें जानेका फल प्राप्त करता है । जो व्यक्ति वहाँ शिवजीके उदेश्यसे चैत्र शुभ चतुर्दशी तिथिमें श्राद्ध करता है, वइ परमपद (मोक्ष)को प्राप्त कर लेता है । उमके बाद काशी नामके तीर्थमें जाना चाहिये जहाँ भद्रा, निद्रा, माया, सनातनी, कात्यायनीरूपा दुर्गादेवी स्वय अस्थित हैं । कलसी तीर्थमें स्नानकर उसके तीरपर स्थित दुर्गादेवीका दर्शन करनेवाला मनुष्य दुस्तर संसार-दुर्ग- (सासारिक भवबन्धन-)को पार कर जाता है । इसमें (तनिक भी) सदेह नहीं करना चाहिये ॥ १६-१९ ॥

ततो गच्छेत् सरकं प्रैलोपयम्यापि दुर्लभम् । कृष्णपक्षे ननुर्दश्यां द्यूा देवं महेश्वरम् ॥ २० ॥
लभते सर्वज्ञमांशु शिवलोकं स गच्छति । तिस्रः मोहयस्तु तीर्थानां सरके द्विजसत्तमाः ॥ २१ ॥
रुद्रकोटिस्तथा कूपे सरोमध्ये व्यवस्थिता । तस्मिन् सरे च यः स्नात्वा रुद्रकोटिं स्मरेत् ॥ २२ ॥
पूजिता रुद्रकोटिश्च भविष्यति न संशयः । रुद्राणां च प्रसादेन सर्वदोषविधाङ्गिनः ॥ २३ ॥
पेन्द्रशानेन संयुक्तः परं पदमवाप्नुयात् । इडास्पदं च तत्रैव तीर्थं पापभयापहम् ॥ २४ ॥

दुर्गादेवीके दर्शनके बाद तीनों छोरोंमें दुर्गेम सरकतीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ शृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको महेश्वरदेवका दर्शन करके मनुष्य (अपने) सभी मनोरथोंको प्राप्त करता और (अन्तमें) शिवलोकमें चला जाता है । द्विजश्रेष्ठों । सरकतीर्थमें तीन करोड़ तीर्थ विद्यमान हैं । सरके बीच कूपमें रुद्रकोटि स्थित है । उस सरमें यदि व्यक्ति स्नान कर रुद्रकोटिको स्मरण करता है तो नि सदेह (उसके द्वारा) रुद्रकोटि पूजित हो जाता है और रुद्रोंके प्रसादसे वइ व्यक्ति समस्त दोषोंसे छूट जाता है । पर इन्द्रसम्बन्धी शनसे पूरित होकर परम पदको प्राप्त कर लेता है । वहाँ पापों और मयोंको दूर करनेवाला इडास्पद नामका तीर्थ वर्तमान है ॥ २०-२४ ॥

अस्मिन् मुक्तिमवाप्नोति दर्शनादेव मानव । तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पिबेद्देवगणानपि ॥ २५ ॥
न दुर्गानिमवाप्नोति मनसा चिन्तितं लभेत् । केदारं च महातीर्थं सर्वकल्मषनाशनम् ॥ २६ ॥

तत्र स्नात्वा तु पुरयः सर्वदानफलं लभेत् ।

किरूपं च महातीर्थं तत्रैव भुवि दुर्लभम् । तस्मिन् स्नातस्तु पुरयः सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ २७ ॥
सरकस्य तु पूरणं तीर्थं प्रैलोपयविभ्रुतम् । अन्यजन्म सुविष्यतां सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २८ ॥

इस इडास्पद नामके तीर्थके दर्शनसे ही मनुष्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता है । वहाँ स्नान करके तितरों एवं देकोंका पूजन करनेसे मनुष्यको दुर्गति नहीं होनी और उसे मनोवन्धित बन्धु प्राप्त होपै है । सभी पापोंका

विद्यया चरन्नेव च कदा नापि नश्यति च । तौ चोक्त स्नान करनेमें मनुष्यको मही प्रवातके समान
 ५० प्रमत्त है । १ । स्नान करनेमें दुर्लभ विद्यया नामका (मी) जीव है । उसी स्नान करनेवाले मनुष्यको
 मही प्रवात के समान प्रमत्त ही है । अरुक्त पूर्वी जलो त्रेत्रिमें सुप्रसिद्ध संपूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला
 अन्यत्र नाम ही है ॥ २५, २६ ॥

साग्निदं तपुः कृत्वा ह्यथा क्षान्तवर्षिणाम् । तिर्यग्योनीं स्थितो विष्णुः त्रिभोषु रजितात्तुल्यम् ॥ २७ ॥
 ततो देवाः समभ्यर्च्य तपस्य यदुं जियम । उज्जुः प्रणवसर्गात्ता विष्णुंशुभ्रम् लभन्ते ॥ ३० ॥
 ततो देवो महासाधर्मो आरभं रूपमास्थितः ।

युद्धं च पराश्रयामास दिव्यं वर्षासंश्रयम् । सुप्रसातो तु तौ देवौ पत्नितौ समभ्यर्चतः ॥ ३१ ॥
 तस्मिन् समस्तं दिवि देवर्षिर्नोःसुः स्थितः । अथथसुश्रमाश्चर्य ध्यानस्थस्तौ वदुर्न च ॥ ३२ ॥
 विष्णुश्चर्मज्ञो ज्ञो विद्याकारः शिवः स्थितः । तौ स्या तत्र पुरतौ तुष्टव्य भक्तिभाक्तरिः ॥ ३३ ॥

नरकिका शरीर धारण कर शक्तिवादी ध्यान- (विष्णुवादा-) का बन करनेके बाद विष्णु पदयोनिमें स्थित
 किन्तु प्रेम करने लगे । उसके बाद कल्पवृक्षी साथ मही देखाओने चढ़ावा शिवही आगवाना कर साक्षात्
 प्रमाण बन हुए । त्रिभुमें पुन (२७) नामका करनेकी प्रार्थना की । उसके बाद (फिर) महादेवने
 प्रमत्त (मनुष्य) का स्नान पद (विष्णु-) का रूप नामका कृत (नरकिकमें) त्रिभुमें शिव- स्वीतिक युद्ध किया-
 प्रसन्न । देवो देवा (यममें) युद्ध करने हुए सोनेमें फिर पड़े । उस सोनेके तीसरा (स्थित) अक्षय
 (पीपल) उक्तकी नीचे शर्षी नामक ध्यान स्थान में है । उक्तोंमें उन दोनोंको देवा । (फिर तौ) विष्णु
 नर्पण रूपमें और शिव श्रुतियों (पार्वतीके) ही गये । उन दोनों पदों (देवों)को देवाकर उक्तोंमें शक्ति
 भावोंमें उनकी स्ती की ॥ २७, ३३ ॥

नमः शिवाय देवाय विष्णवे प्रार्थयन्तम् । इत्ये च उभाभवे स्थितिकात्तुभे नमः ॥ ३४ ॥
 दद्यात् यद्वरुपाय विष्टरुपाय विष्णवे । अथश्चराय सृष्टिदाय कृष्णाय दानंस्तने ॥ ३५ ॥
 अथोऽहं मुकुतो नित्यं यद् स्या पुरयोत्तमम् ।
 नमःसमिदं पुण्यं युवाभ्यां निमलीकृतम् । तत्राभूति त्रिलोचने श्रयजन्मनि विश्रुतम् ॥ ३६ ॥
 य इहात्म्य स्नातम् च पितृन् संतर्पयिष्यति । तस्य श्रद्धावियतरयेद दानमेन्द्रं भविष्यति ॥ ३७ ॥

[सायणनेरुति की]—तौ ही त्रिभुमें और त्रिभु है । प्रभाववादी विष्णुको नमस्कार है । शिवी (प्रजापत्य)
 स्नान के बाद ही त्रिभु है । त्रिभु में प्रमत्त उपाधी नामक शिवको नमस्कार है । नरु- पदार्थी शिव ही
 प्रमत्त पदार्थी विष्णु का शिवकी नमस्कार है । यमविद (पीपल) शिव एवं जलके मूढ कारण
 प्रमत्त का ही नमस्कार है । त्रिभु का नाम पुष्पलन है । यही मुझे (आज) आप मीनों (श्रेष्ठ)
 त्रिभु (३०) स्नान प्रमत्त का नाम देवो पुरोयमस शिव शिव देव देव यह अथम पुष्पलय ही
 प्रमत्त का नाम पीपल का नाम है । त्रिभु नामक प्रमत्त ही आयगा । त्रिभु शक्ति यदो अरु इस मीयमें स्नान
 का नाम प्रमत्त का नाम है । त्रिभु प्रमत्त का नाम प्रमत्त ही आयगा ॥ ३४- ३७ ॥

उभाभवे तु यमने सम नमः समाश्रयम् । अथव्यवदुं कृत्वा तमं गैर्दं न पश्यति ॥ ३८ ॥
 नतो वरुदेव त्रिभु नामस्य इदमुत्तमम् । पीपलर्षिके नमः स्नातव्य पुण्डरीकस्तले श्वमेम् ॥ ३९ ॥
 स्नातव्यं मुकुतो यद् अथस्य तु विद्योपतः । स्नानं ज्यं तथा श्राद्धं मुनिमार्गप्रदायकम् ॥ ४० ॥
 यमविष्णो मन्त्रेण त्रिभु स्तुतिर्निराम । तत्र यैतरेणा पुण्यं नर्षा पापप्रमोचनी ॥ ४१ ॥
 यद् स्नानं तदर्थेनियं च नृत्पारि पुष्पलनम् । यं यार्षाशुभ्रमा मरुत्तयेव परं नविस ॥ ४२ ॥

में पीपल वृक्षके मूलमें सदा निव्राम करेगा । उस अत्र-१- (पीपल वृक्ष-)को प्रणाम करनेवाला व्यक्ति भयंकर यमराजको नहीं देखेगा । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उमके बाद (उम तीर्थसेहीको) उत्तम नागद्वयमें जाना चाहिये । पीण्डरीकमें स्नान करके मनुष्य पुण्डरीक (एक प्रकारके यज्ञ-)का फल प्राप्त करता है । शुद्धशरीरी दशमी, त्रिदशमे चैत्र मासकी (शुक्ल) दशमी तिथिमें वहाँ किया गया स्नान, जप और ध्यात मोक्षपथकी प्राप्ति करानेवाला होता है । पुण्डरीकमें स्नान करनेके बाद देवताओंद्वारा पूजित 'त्रिविजय' नामक तीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ पापोंसे विमुक्त करनेवाली पवित्र वनरणी नदी है । वहाँ स्नानकर शूद्रादि वृषध्वज- (शिव-)की पूजा कर मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा विशुद्ध होकर निधय ही परमनिर्गो प्राप्त कर लेता है ॥ ३८-४२ ॥

ततो गच्छेत् विमेन्द्रा रभायसंमनुत्तमम् । तत्र स्नात्वा भक्तिभुक्तः सिद्धिमाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४३ ॥
चैत्रशुद्धचतुर्दश्यां तीर्थे स्नात्वा ह्यलेपके । पूजयित्वा शिवे तत्र पापलेपो न विद्यते ॥ ४४ ॥
ततो गच्छेत् विमेन्द्रा फलकीर्णमुत्तमम् ।

यत्र देवाः भगवन्वराः स्यात्वाश्च श्रुतयः स्थिताः । तपश्चरन्ति विपुलं दिव्यं पर्यसद्दृक्कम् ॥ ४५ ॥
दृषद्दश्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः । अग्निष्टोमनिराश्राभ्यां फलं विन्दति मानवम् ॥ ४६ ॥

त्रिप्रश्ने ! तत्रधात् सर्वश्रेष्ठ रसाकर्त (तीर्थ)में जाना चाहिये । वहाँ भक्तिमद्वित स्नान करनेवाला सर्वश्रेष्ठ सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है । चैत्रमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी (चौदस) तिथिको 'अलेपक' नामक तीर्थमें स्नान कर वहाँ शिवकी पूजा करनेसे पापसे छिन्न नहीं होता, पाप दूर भाग जाता है । त्रिप्रतो ! वहाँमें उत्तम फलकीर्णमें जाना चाहिये । वहाँ देवता, गन्धर्व, साध्य और ऋषि लोग रहते हैं एव दिव्य सहस्र वीणातक बहुतप करते हैं । श्यदती (कर्ग) नदीमें स्नानकर देवताओंका कर्षण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अत्रिपत्र नामक यज्ञोंसे मित्रनेवाले फलको प्राप्त करता है ॥ ४३-४६ ॥

सोमक्षये च सम्प्राप्ते सोमस्य च दिने तथा । यः धासं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४७ ॥
गयायां च यथा धासं पितृन् प्रीणाति नित्यदाः । तथा धासं च वर्तव्यं फलकीर्णमाश्रितैः ॥ ४८ ॥
मनसा स्मरते यस्तु फलकीर्णमुत्तमम् । तस्यापि पितरस्मृतिं प्रयास्यन्ति न संशयः ॥ ४९ ॥
तत्रापि तीर्थे सुमहत् मर्त्यद्वैरसंश्रुतम् । तस्मिन् स्नातस्तु पुरयो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥
पाणिखाते नरः स्नात्वा पितृन् मन्तव्यं मानवः । ब्रह्मण्युवाद् राज्ञस्यै सांख्यं योगं च विन्दति ॥ ५१ ॥

सोमरत्नके दिन चन्द्रमाक क्षीण हो जानेपर अर्घत् अमास्याको जो मनुष्य धास करत है, उमका पुण्यफल सुनो । जैसे गया-क्षेत्रमें किया गया धास विरोधो निय त्त करता है, वैसे ही फलकीर्णमें रहनेवालेको धास करनेसे पितरोंको वृषि होना है । जो मनुष्य मनसे फलकीर्णका स्मरण करता है, उमके भी पितर निःसदह वृषि प्राप्त करते हैं । वही मभी देखेसे सुशोभित एक 'सुमहत्-तीर्थ' है; उममें स्नान करनेवाला पुरा हजारों गोश्रोक दानका फल प्राप्त करता है । मानव पाणिखान तीर्थमें स्नान करके एवं त्रिदश्या तर्षण कर राजनूप-यज्ञ तथा सांख्य (ज्ञान) और योग- (कर्म-)के अनुष्ठान करनेसे हानिबन्ने फलको प्राप्त करता है ॥ ४७-५१ ॥

ततो गच्छेत् सुमहतीर्थे मिधक्मुत्तमम् । तत्र तर्पयति मुनिना मिथिगानि महात्मना ॥ ५२ ॥
व्यासेन मुनिशार्दूला दर्षीचर्ये महात्मना । मर्त्यतीर्थेषु स स्नाति मिथके स्नानि यो नरः ॥ ५३ ॥
ततो व्यासवर्तं गच्छेत्त्रियतो नियतारानः । मनोजये नरः स्नात्वा दद्याद्देवर्षिनि शिवम् ॥ ५४ ॥

मनसा चिन्तिते सर्वे निव्यते नम्र संशयः । नान्या मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ॥ ५५ ॥
नम्र स्नान्याऽर्चयेद् देवान् पितृश्च प्रयतो नरः । न देव्या समनुजातो यथा सिद्धिं लभेत्तरः ॥ ५६ ॥

प्राग्विष्णुके वाट विश्रवा नामक मठान् एवं श्रेष्ठ तीर्थमें जाना चाहिये । मुनिश्रेष्ठो ! वहाँ महात्मा व्यामदेवने दर्शीविश्रविके हेतु तीर्थको एकमें मिश्रित किया था । इस विश्रक तीर्थमें स्नान कर लेनेवाला मनुष्य (मानो) सभी तीर्थमें स्नान कर लेता है । नर संयमशील तथा नियमित आहार करनेवाला होकर व्यासवनमें जाना चाहिये । 'मनोजव' तीर्थमें स्नानकर 'देवनाग' शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्यको अभीष्ट-सिद्धिकी प्राप्ति होती है—इसमें संदेह नहीं । मनुष्यको देशिके मधुवटीनामक तीर्थमें जाकर स्नान करके संयत होकर देवों एवं वितरोंकी पूजा करनी चाहिये । ऐसा करनेवाला व्यक्ति देशिकी आज्ञाने (जैसी चाहता है, वैसी) सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५२-५६ ॥

कौशिक्याः संगमो यस्तु दृपद्वयां नरोत्तमः । स्तार्यात नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
ततो ध्यामन्पथो नाम यत्र ध्यासेन धीमता । पुत्रशोकाभिभूतेन देहत्यागय निश्चयः ॥ ५८ ॥
कुतो वैश्वेध विप्रश्चाः पुनरुत्थापितस्तदा । अभिगम्य स्थलीं तस्य पुत्रशोकं न विन्दति ॥ ५९ ॥
दिव्यं चूमाम्नाय निलप्रस्थं प्रदाय च । गच्छेत् परमां सिद्धिं ऋणमुक्तिमवाप्नुयान् ॥ ६० ॥
अहं च सुदिनं चैव हे तीर्थे सुवि दुर्लभे । तयोः स्नान्या विशुद्धात्मा सर्वलोकमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य 'कौशिकी' और 'दृपद्वती' (कनार) नदियोंके संगममें स्नान करता और नियत भोजन करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! 'ध्यासस्थली' नामका एक स्थान है, जहाँ पुत्रशोकसे दुर्गम होकर देहत्यागमें जाने शीलवागका निश्चय कर लिया था, पर देवोंने उन्हें पुनः जैनाल दिया । उसके बाद उस भूमिमें जानेवाले मनुष्यको पुत्रशोक नहीं होता । 'विटलकूप'में जाकर एक पसर (तीलका एक परिमाण) निकला दान करनेसे मनुष्य परमसिद्धि और अणुमें मुक्ति प्राप्त करता है । 'अह' एवं 'सुदिन' नामक ये दो तीर्थ पृथ्वीमें दुर्लभ हैं । इन दोनोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विशुद्धात्मा होकर सर्वलोकको प्राप्त करता है ॥ ५७-६१ ॥

एतज्जप्यं ततो गच्छेन् विषु त्योकेषु विशुत्तम् । तत्राभिषेकं कुर्यात् गङ्गायां प्रयतः स्थितः ॥ ६२ ॥
अर्चयित्वा महादेवमद्वयमेवकलं लभेत् । कोटितीर्थे च तत्रैव दृष्ट्वा कोटिद्वयं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तत्र स्नान्या ध्वजानः कोटियजकलं लभेत् । ततो वाहनकं गच्छेन् विषु त्योकेषु विशुत्तम् ॥ ६४ ॥
यत्र यामनकांग विष्णुना प्रभविष्णुना । वन्देत्पठन् राज्यमिन्द्राय प्रतिपादितम् ॥ ६५ ॥

उक्तो नार तीर्थो त्योकेमें प्रसिद्ध 'द्वयजप्य' नामके तीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ नियमपूर्वक संयत रहते हुए एकमें स्नान करना चाहिये । वहाँपर महादेवका पूजन करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है । वहाँपर कोटितीर्थ मिले है । परी अहमूर्तिर स्नानकर 'कोटिद्वय' नामका दर्शन करनेसे मनुष्य कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त कर लेता है । वहाँ वाट तीर्थो त्योकेमें प्रसिद्ध 'यामनका' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ प्रभावशाली विष्णुने यामनकप धारणकर सिद्धा नार हीन कर शत्रुको दे दिया था ॥ ६२-६५ ॥

तत्र विष्णुपते स्नान्या अर्चयित्वा च यामनम् । सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुत्योकाववाप्नुयान् ॥ ६६ ॥
ज्येष्ठाक्षरं च तत्रैव सर्वपापकृत्ताननम् । नं तु दृष्ट्वा नरो मुक्तिं संप्रयाति न संशयः ॥ ६७ ॥
ज्येष्ठे मासि मिते पक्षे पञ्चादश्यामुपैतितः । द्वादश्यां च नरः स्नान्या ज्येष्ठं च लभेत् नृपु ॥ ६८ ॥
तत्र प्रतिष्ठिता विश विष्णुना प्रभविष्णुना । दर्शनाप्रतिष्ठासंयुक्ता विष्णुप्रीणनतन्पराः ॥ ६९ ॥

वहाँ 'विष्णुपद' तीर्थमें स्नान कर वाहनदेवकी पूजा कर सुनस्त फलोंसे शुद्ध होकर (छुडकर) मनुष्य विष्णुके लोकरको प्राप्त कर लेना है। यहीफर सभी पापोंको नष्ट करनेवाला श्रेष्ठप्रथम नानका तीर्थ है, उसका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है—इसमें संदेह नहीं। श्रेष्ठ महीनेके शुरुआतकी एकादशी तिथिसे उत्सव कर द्वादशी तिथिके दिन स्नानकर मानव मनुष्योंमें श्रेष्ठता (बड़पन) प्राप्त करता है। यहाँ (सर्वाधिक) प्रभावशाली विष्णु भगवान्ने यज्ञदिमें दीक्षित (लगे हुए), प्रतिष्ठित एवं सम्प्राप्त तथा विष्णु भगवान्की आगमनामें परायण ब्राह्मणोंको सम्मानित किया था ॥ ६६-६९ ॥

तेभ्यो दत्तानि धाडानि दानानि विविधानि च । अक्षयाणि भविष्यन्ति यावन्न्यन्तरस्थितिः ॥ ७० ॥
तत्रैव कोटिर्तीर्थं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् । तस्मिंस्तोत्रेण नरा स्नात्वा कोटियज्ञफलं लभेत् ॥ ७१ ॥
कोटोश्वरं नगे दृष्ट्वा तस्मिंस्तोत्रे महेश्वरम् । महादेवप्रसादेन गाणपत्यमवाप्नुयान् ॥ ७२ ॥
तत्रैव सुमदन् तीर्थं सूर्यस्य च महात्मनः । तस्मिन् स्नात्वा भक्तियुक्तः सूर्यलोके मर्दायते ॥ ७३ ॥

उन्हें दिये गये (पात्रक) धात्र और अनेक प्रकारके दान अक्षय एवं मन्वन्तलक निर रहते हैं । वहाँ तीनों लोकोंमें मिलान 'कोटि-तीर्थ' है । उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य करोड़ों यज्ञोंके फल प्राप्त करता है । उस तीर्थमें 'कोटेश्वर' महादेवका दर्शन कर मनुष्य उन महादेवकी कृपासे गाणपत्य पद (गणनायकत्वकी उपाधि) प्राप्त करता है । और, वहाँ महात्मा सूर्यदेवका महान् तीर्थ है । उसमें भक्तिपूर्वक स्नानकर मनुष्य सूर्यलोकमें महान् माना जाता है ॥ ७०-७३ ॥

ततो गच्छेन विप्रेन्द्रास्तीर्थं कल्मषनाशनम् । कुलोत्तारणनामानं विश्वाना कल्पितं पुरा ॥ ७४ ॥
पर्णानामाधमाणां च तारणाय सुनिर्मलम् ।
ब्रह्मचर्यात्परं मोक्षं य इच्छन्ति सुनिर्मलम् । तेषु तर्थांमसाद्य पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७५ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च यानप्रस्थो यनिस्तथा । कुलानि तारयेत् स्नातः सत सत च सत च ॥ ७६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैद्याः शूद्रा ये तत्परायणाः । स्नाना भक्तियुताः सर्वे पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७७ ॥
दूरस्थोऽपि स्मरेद् यस्तु कुरुक्षेत्रं सवामनम् । सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति किं पुनर्निवसत्परः ॥ ७८ ॥
इति श्रीवामनपुराणे पट्टिर्वांशध्यायः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! कोटितीर्थके बाद पापका नाश करनेवाले 'कुलोत्तार' (गरीबोंमें जाना चाहिये, जिसे प्राचीनकालमें विष्णुने वर्गाग्रम-धर्मका पावन करनेवाले मनुष्योंको तारनेके श्रेष्ठ बनाया था) जो मनुष्य ब्रह्मचर्यासे निगूढ मुक्तिकी इच्छा करते हैं ऐसे लोग भी उस तीर्थमें जाकर परमपदका दर्शन कर लेंगे हैं । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, यानप्रस्थी और संन्यासी वहाँ स्नानकर अपने कुलके (७ + ७ + ७ = २१) इस्तीम पूरे पुरुषोंका उद्धार कर देते हैं । जो शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र उस तीर्थमें तीर्थपरायण होकर एवं भक्तिसे स्नान करते हैं, वे सभी परमपदका दर्शन करते हैं । और, जो दूर रहता हुआ भी वामनसहित कुरुक्षेत्रका स्मरण करता है, वह भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है; फिर वहाँ निवास करनेवालेका तो कहना ही क्या ! ॥ ७४-७८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

[अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः]

श्रीवामन उवाच

पवनस्य हवं स्नान्या हृष्टा इयं मोक्षधरम् । विमुक्तः कर्तुषैः सवैः शैवं पदमवाप्नुवान् ॥ १ ॥
 पुत्रगोपेन पयसो रश्मिन्दीप्तो यमूय ह । ततः सन्नद्धकैर्देवैः प्रसाद्य प्रकर्टाहृतः ॥ २ ॥
 अतो गच्छेत्त शम्भुं स्थानं तच्छुद्धपापिनः । यत्र देवैः सगन्धर्वैः हनुमान् प्रकर्टाहृतः ॥ ३ ॥
 तत्र तीर्थं नरः स्नान्या शनूतान्वयमानुवान् । कृत्योच्चारणमास्ताय तीर्थसेवां त्रिजोत्तमः ॥ ४ ॥
 कृत्यानि ताग्येन् सर्वान् मातामहपितामहान् । शान्तिदोषस्य राजपेन्मीथं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ५ ॥
 तत्र स्नान्या विमुक्तस्तु कर्तुषुर्देहसंभयैः । श्रीकृष्णं तु सरस्वत्यां तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ६ ॥
 तत्र स्नान्या नरो भनया अग्निशोभाफलं लभेन् । ततो नैमिषकुष्णं तु समास्ताय नरः शुचिः ॥ ७ ॥
 नैमिषस्य च स्नानेन यत् पुण्यं तत् समाप्नुवान् । तत्र तीर्थं महाख्यातं वेदव्या निरूपितम् ॥ ८ ॥

श्रीवामनोऽध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोके माहात्म्ये श्रीवामनोऽध्याय प्रारम्भे)

श्रीवामन उवाच—तत्रोक्तं हृदये, पवन पुत्रशोक (हनुमान्जी) कृष्णके कारणेन निमग्नोवर्तते लीन हो गये थे, स्नान करने, मोक्षधरस्य दर्शनकर मनुष्य समस्त पापोंसे विमुक्त हो शिवपदको प्राप्त करता है । उसके बाद कुरुक्षेत्रके स्थानीय देवोंसे मिलकर उन्हें प्रसन्न एवं प्रबुद्ध प्रकट किया । यहाँसे शूड्यागि (भगवान् शंकर)के शम्भुनामक स्थानमें गया जायिये, वहाँ शम्भुके साथ देवताओंसे हनुमान्जीको प्रकट किया था । उस तीर्थसे स्नान करनेसे मनुष्य शम्भुस्योपासना करता है । शिवानुसार तीर्थका श्रेष्ठ करनेवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण (कृत्योच्चारण) तीर्थमें जाकर अपने मातापिता और पितामहके समस्त यज्ञोपासना कर देना है । तीनों तीर्थोंमें प्रसिद्ध शान्तिदोषके तीर्थमें स्नान कर मुक्ति मनुष्य शान्तिदोष पापोंसे सर्वथा छूट जाता है । तत्रोक्तं शान्तिदोषके तीर्थों तीर्थोंमें प्रसिद्ध श्रीकृष्णनामक तीर्थ है । उन्हीं भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य अग्निशोभा फल प्राप्त कर लेता है । मनुष्य यहाँ नैमिषकुष्णतीर्थमें जाकर पवित्र हो जाता है और नैमिषारण्यतीर्थमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, उसे प्राप्त कर लेता है । यहाँपर शिवकीर्तनसे निरूपित बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है ॥ १—८ ॥

शान्तिदोष शूड्यागिः शिवोपु विजयनमसाः । तद्व्याजय नसा प्राज्ञान् सुमुखे शोककर्तरीना ॥ ९ ॥
 शोभा शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे ॥ १० ॥
 मा हृष्टा शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे ॥ ११ ॥
 शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे ॥ १२ ॥
 विमुक्तः कर्तुषैः सवैः शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे ॥ १३ ॥
 तत्र शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे शान्तिदोषे ॥ १४ ॥

श्रीवामन उवाच—तत्रोक्तं हृदये, पवन पुत्रशोक (हनुमान्जी) कृष्णके कारणेन निमग्नोवर्तते लीन हो गये थे, स्नान करने, मोक्षधरस्य दर्शनकर मनुष्य समस्त पापोंसे विमुक्त हो शिवपदको प्राप्त करता है । उसके बाद कुरुक्षेत्रके स्थानीय देवोंसे मिलकर उन्हें प्रसन्न एवं प्रबुद्ध प्रकट किया । यहाँसे शूड्यागि (भगवान् शंकर)के शम्भुनामक स्थानमें गया जायिये, वहाँ शम्भुके साथ देवताओंसे हनुमान्जीको प्रकट किया था । उस तीर्थसे स्नान करनेसे मनुष्य शम्भुस्योपासना करता है । शिवानुसार तीर्थका श्रेष्ठ करनेवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण (कृत्योच्चारण) तीर्थमें जाकर अपने मातापिता और पितामहके समस्त यज्ञोपासना कर देना है । तीनों तीर्थोंमें प्रसिद्ध शान्तिदोषके तीर्थमें स्नान कर मुक्ति मनुष्य शान्तिदोष पापोंसे सर्वथा छूट जाता है । तत्रोक्तं शान्तिदोषके तीर्थों तीर्थोंमें प्रसिद्ध श्रीकृष्णनामक तीर्थ है । उन्हीं भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य अग्निशोभा फल प्राप्त कर लेता है । मनुष्य यहाँ नैमिषकुष्णतीर्थमें जाकर पवित्र हो जाता है और नैमिषारण्यतीर्थमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, उसे प्राप्त कर लेता है । यहाँपर शिवकीर्तनसे निरूपित बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है ॥ १—८ ॥

मारनेके बाद विभीषणको (लहङ्गके राज्यपर) अभिषिक्त कर राम सीताको वैश्वी ही पर लैया लये, (जिनैन्द्रिय) जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिको प्राप्त करता है । उनके तीर्थमें स्नान कर मनुष्य कल्पवृक्ष (कल्यादान-) का फल एवं समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त करता है । उस वेदवर्नीतीर्थमें बाद ब्रह्मके उत्तम और महान् स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ स्नान करनेसे अमर-वर्गीय व्यक्ति (जन्मन्तमें) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण विमुक्त शक्तःकरणवाला होकर परमपदकी प्राप्ति करता है ॥ ९-१४ ॥

ततो गच्छेन सोमस्य तीर्थं शैलोक्यदुर्लभम् । यत्र सोमस्तपस्तप्या द्विजराग्यमनामुपाय ॥ १५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च स्वपितृन् देवतानि च । निर्मलः स्वर्गमायानि कार्त्तिक्यां चन्द्रमा यया ॥ १६ ॥
सतसरस्वते तीर्थे शैलोक्यस्यापि दुर्लभम् । यत्र सत सरस्वत्य एकीभूता यदन्ति च ॥ १७ ॥
सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला मानसहारा । सरस्वत्योयनामा च सुयेशुर्विमलोदका ॥ १८ ॥

उस महाके तीर्थ स्थलपर जानेके बाद तीनों छोरोंमें दुर्लभ 'सोमतीर्थ'में जाना चाहिये, जहाँ चन्द्रनामे तपस्या करके द्विजराज-वपदको प्राप्त किया था । वहाँ स्नानकर अपने पिता और देवताओंकी पूजा करनेमें मनुष्य कार्त्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान निर्मल होकर स्वर्गको प्राप्तकर लेता है । तीनों छोरोंमें दुर्लभ 'स्नात्वास्नानानकर एक तीर्थ है, जहाँ सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मानसहारा, सरस्वती, ओषधी, विनयोदर्य एवं सुयेशु नामकी सातों सरस्वतियाँ (नदियाँ) एकत्र मिलकर प्रकटित होती हैं ॥ १५-१८ ॥

पितामहस्य यजनः पुष्करेषु स्थितस्य ह । अशुभं शृणुयः सर्वे नाऽयं यशो महाकलः ॥ १९ ॥
न दृश्यते सरिच्छ्रेष्ठा यस्मादिह सरस्वती । तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सस्वाराय सरस्वतीम् ॥ २० ॥
पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु ये । सुप्रभा नाम सा देवी तत्र स्थिता सरस्वती ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा मुनयः प्रीता येगयुक्तां सरस्वतीम् । पितामहं मानयन्तीं ते तु तां यद् मेनिरे ॥ २२ ॥

पुष्करतीर्थमें स्थित ब्रह्मजीके यज्ञके अनुष्ठानमें लग जानेपर सभी श्रुतियोंमें उनमें कहा—आपका यह यज्ञ महाफलजनक नहीं होगा; क्योंकि यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती (नदी) नहीं दिखायी पड़ रही है । उसे मुनकर भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक सम्प्रतीका स्मरण किया । पुष्करमें यज्ञ कर रहे ब्रह्मजीका आहूत की गयी 'सुप्रभा' नामकी देवी वहाँ सरस्वती नामसे प्रसिद्ध हुईं । ब्रह्मजीका मान करनेवाली उस वेदवती मरुत्कीको देखकर मुनिजन प्रसन्न हो गये और उन सन्ने उनका अधिक सम्मान किया ॥ १९-२२ ॥

यद्यमेया सरिच्छ्रेष्ठा पुष्करस्या सरस्वती । समानीता कुरुक्षेत्रे मद्भोजेन महात्मना ॥ २३ ॥
नैमिषे मुनयः स्थित्वा शौनकाद्यास्तपोधनाः । ते पृच्छन्ति महात्मानं पौषाणं छोमहर्षणम् ॥ २४ ॥
कथं यज्ञफलोऽस्माकं यन्तां सन्ध्ये भवेत् । ततोऽप्रयोज्यमहाभागः प्रणम्य शिरसा शृणोन् ॥ २५ ॥
सरस्वतीं स्थिता यत्र तत्र यज्ञफलं महत् । एनच्छ्रुत्वा तु मुनयो नानास्वाध्यायवेदिनाः ॥ २६ ॥
समागम्य ततः सर्वे ससहस्ते सरस्वतीम् । सा तु ध्याता ततस्तत्र श्रुतिभिः सप्रयाजिभिः ॥ २७ ॥
समागता प्लावनार्थं यजे तेषां महात्मनाम् । नैमिषे काञ्चनाक्षी तु स्मृता मद्भोजकेन सा ॥ २८ ॥
समागता कुरुक्षेत्रं पुण्यतोया सरस्वती । गम्य यजमानस्य गयेष्वेय महाकृतम् ॥ २९ ॥
आहूता च सरिच्छ्रेष्ठा गपयते सरस्वती । विशालां नाम तां मादुर्भृणयः संदिनप्रताः ॥ ३० ॥

इस प्रकार पुष्करतीर्थमें स्थित एय नदियोंमें श्रेष्ठ इन सरस्वतीकी महाना मद्भोज कुरुक्षेत्रमें दये ।

एतद् मया नैविकारणम् कर्मैवाके नव्याके भती शीतक आदि मुनियोंने पुत्रागोके ज्ञाना महात्मा लोमहर्षणसे पूत्र — मयाभगमी ह्यम श्रेणोत्तै यदा क्व वैने प्राप्त तौण ! (—स्मे कृपाकर समझाइये ।) उसके बाद महानुभाव लोमहर्षणसे मुनियोंको मिलसे प्रणाम कर कर्म कि कृपियों ! जहाँ सरस्वती नदी अवस्थित है, वहाँ (सरस्वती) यदा क्व मया क्व प्राप्त शोका है । उसके मुनिकर विविध वेदोंका स्वाध्याय करनेवाके मुनियोंने एतद् लोह सरस्वतीक समया जित्त । दीर्घकालिक यद् करनेवाके उन कृपियोंके ध्यान (स्मरण) करनेपर ये (सरस्वती) वहाँ नैविकारणम् उन महात्माओंके यत्नमें प्रयत्न करनेके लिये कात्रनाभी नामसे उपस्थित हो गयी । वेही प्रसिद्ध नदी महानुभावके द्वारा कृत होनेपर पवित्र-सत्य सरस्वतीके रूपमें बुरुक्षेत्रमें (भी) आयी और मया क्व कृपियोंने मया-क्षेत्रमें मयाकृपा अनुष्ठान करनेवाके मयाके यत्नमें आहुत की गयी उन श्रेष्ठ सरस्वती नदीके विनायकके नामसे मया जिया ॥ २३-३० ॥

मरिचु या हि समाहता महामेन महात्मना । कुरुक्षेत्रं समायाता प्रविष्टा च महानदी ॥ ३१ ॥
 उत्तरे कोणत्याभागे पुण्ये देवर्षिसंविने । उदात्तकेन मुनिना तत्र ध्याता सरस्वती ॥ ३२ ॥
 आत्रगात मरिच्छ्रेष्ठा नं देवां मुनिकारणान् । पूज्यमाना मुनिगणैर्वलक्याजिनसंबुतैः ॥ ३३ ॥
 मनोहरेति विख्याता सर्वपापक्षयावता ।

आहता सा कुरुक्षेत्रं महामेन महात्मना । प्रपुंः संमाननार्थाय प्रविष्टा तीर्थमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
 सुधेमुक्ति विख्याता केदारं या सरस्वती । सर्वपापक्षया देया ऋषिबिद्धतिपेविता ॥ ३५ ॥

महानुभाव महानु कृपिणा मयाकृत की गयी वही नदी बुरुक्षेत्रमें आकर प्रवेश कर गयी । (फिर) उदात्तक मुनियोंके श्रेष्ठ कर्तृ सरस्वती नदी उन क्षेत्रमें आ गयी एवं क्व क्वकल तथा मृगचर्मको धारण करनेवाके मुनियोंद्वारा पूजित हुई । तत्र मरुच्य श्रेष्ठोंका मिलना करनेवाकी क्व 'भनोदगा' नामसे विख्यात हुई । फिर क्व महात्मा महानु-
 द्वारा कृत लोह कृपियोंके समकथित करनेके लिये बुरुक्षेत्रके उत्तर तीर्थमें प्रविष्ट हुई । केदारतीर्थमें जो सरस्वती नदी का नामसे प्रसिद्ध है, वह कृपियों और मुनियोंके द्वारा मेविक तथा सर्वपापनाशक रूपसे जानी जाती है ॥ ३१-३५ ॥

सापि केदार मुनिना धारण्य परमेश्वरम् । प्रारंभानामुपकारार्थं कुरुक्षेत्रं प्रवेदिता ॥ ३६ ॥
 केदार यदा सापि गङ्गाक्षरे सरस्वती । विमल्येदा भगवती दधेण प्रकटीकृता ॥ ३७ ॥
 समाहता यदा तत्र महामेन महात्मना । कुरुक्षेत्रे तु कुरुणा यजिता च सरस्वती ॥ ३८ ॥
 सराक्षये समानाता मार्कण्डेयन ध्येयता । अतिपट्टय महाभागां पुण्यतोयां सरस्वतीम् ॥ ३९ ॥
 यत्र महामया विद्यः सततारणते स्थितः । नृप्यमानध देवेन शंकरेण तिवारितः ॥ ४० ॥

हृषि भीषामनपुत्राय नमस्तस्मैऽप्यायः ॥ ३० ॥

लोकतरी कात्रका क्व उन मुनिये उमे (सुधेमुनिये) भी कृपियोंका उद्वार करनेके लिये हम बुरुक्षेत्रमें प्रविष्ट करवा । मयाक्षेत्रमें क्व क्व रहे कर्तव्य भित्तयेता नामसे भगवती सरस्वतीको प्रकट किया । बुरुक्षेत्रमें कुरुद्वारा कृपिये मयाको महामेन मुनियोंके लोह कर्तव्य परी करी । फिर बुद्धिमान मार्कण्डेयजी उन पवित्र जलवाली महाभागा मयाक्षेत्रमें क्व क्व उमे मयाक्षेत्रके लोह क्व क्व । वही मयासरस्वत तीर्थमें उपस्थित एवं कृत्य करने का लोह कुरुक्षेत्रमें मया कर्तव्ये शंकरसेन के लोह था ॥ ३६-४० ॥

ह्यम मया श्रीधरामनपुत्रायै नैविकारणं अध्याय समान मुद्रा ॥ ३७ ॥

[अथ अष्टात्रिंशोऽध्यायः]

अथ उचुः

कथं मङ्गलकः सिद्धः कस्माज्जातो महात्तुषिः । नृत्यमानस्तु देवेन किमर्थं स निवारितः ॥ १ ॥

अद्वीतीसर्वा अध्याय प्रारम्भ

(मङ्गलक-प्रसङ्ग, मङ्गलकया शिरस्तयन और उनकी अनुकूलता प्राप्ति)

प्रतिपत्तौ कथा—(प्रभो !) मङ्गलक किस प्रकार सिद्ध हुए ! वे महान् ऋषि किमसे उत्पन्न हुए थे !

नृत्य करते हुए उन मङ्गलकको महादेवने क्यों रोका ! ॥ १ ॥

लोकहर्षण उवाच

फलयपस्य सुतो जज्ञे मानसो मङ्गलो मुनिः । स्नानं कर्तुं व्ययसिनो गृह्णीया घटकलं द्विजः ॥ २ ॥

तत्र गता ह्यप्सरसो रम्भाद्याः प्रियदर्शनाः । स्नायन्ति रुचिगः स्निग्धास्तेन सार्धमनिन्दिताः ॥ ३ ॥

ततो मुनेस्तदा क्षोभाद्रेतः स्क्रन्तं यदम्भसि । तद्रेतः स तु जग्राह कल्पो ये महानयाः ॥ ४ ॥

सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह । तत्रपर्यः सप्त जाता विदुर्यान् मरुतां गणान् ॥ ५ ॥

वायुवेगो वायुबलो वायुहा वायुमण्डलः । वायुज्जालो वायुरेतो वायुचक्रद्वय पर्ययान् ॥ ६ ॥

यते ह्यपत्यास्तस्यर्षोऽप्यन्ति चराचरम् । पुरा मङ्गलकः सिद्धः कुशाभ्रेणेति मे श्रुतम् ॥ ७ ॥

शतः किल करे विप्रास्तस्य शाकरसोऽध्वयत् । स धै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रवृत्तान् ॥ ८ ॥

लोकहर्षणे कथा—(ऋषियो !) मङ्गलकमुनि महर्षि कल्पपके मानसपुत्र थे । (एक

समय) वे ब्राह्मण देवता वक्रत-वक्र लेखर स्नान करने गये । वहाँ रम्भा आदि सुन्दरी अस्फारि भी गयी थी ।

अनिन्द्य, कोमल एवं मनोहर (स्नायन्ति रुचिगः स्निग्धास्तेन सार्धमनिन्दिताः) आउठें उनके साथ (ही) स्नान करने लगीं । उसके

बाद मुनिके मनमें विद्विषि हो गयी; फलतः उनका शुरु जलमें स्खलित हो गया । उस रेतसे उन महानपत्नीने

उत्पन्न घड़ेमें रख लिया । वह मलशय्य (रेत) सात भागमें विभक्त हो गया । उससे सात ऋषि उत्पन्न हुए, जिन्हें

मङ्गलक कहा जाता है । (उनके नाम हैं—) वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्जाल, वायुरेत एवं

वीर्यवान् वायुचक्र । उन (मङ्गलक) ऋषिके ये सात पुत्र वराचक्रों धारण करते हैं । ब्राह्मणो ! मैंने यह सुना है कि

प्राचीन कालमें मित्र मङ्गलकके हाथमें कुशकें अग्रभागमें छिद्र जानेके कारण घात हो गया था; उससे शाकरस

निरुद्धने लगा । वे (अपने हाथसे निरुद्धते हुए उस) शाकरसको देवपर प्रसन्न हो गये और नाचने लगे ॥२-८॥

ततः सर्वं प्रवृत्तं च स्वयं जह्मं च यत् । प्रवृत्तं च जगद् दृष्ट्वा तेजसा तम्य मोहितम् ॥ ९ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरैस्तत्र ऋषिभिर्द्वय तपोधनैः । विहसतो धै महादेवो मुनेरयं द्विजोत्तमः ॥ १० ॥

नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि । ततो देवो मुनि दृष्ट्वा हर्षाविष्टमनीय हि ॥ ११ ॥

सुराणां दितकामार्थं महादेवोऽभ्यभारत ।

हर्षस्थानं किमर्थं च तवेदं मुनिसत्तम । तपस्विनो धर्मरथे स्थितस्य द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

हमसे उनके (नृत्य करनेमें उनके साथ) सम्पूर्ण वचर-चर जगत् भी नाचने लगा । उनके तेजसे मोहित

जगत्को नाचते देखकर ब्रह्मा आदि देव एवं तपस्वी ऋषिगोंने मुनिके (द्विके) द्विजे महादेवसे कहा—देव !

आप ऐसा (कार्य) करें, जिससे ये नृत्य न करें (उन्हें नृत्यसे विलत करनेका उपपन्न करें) । उसके बाद हमसे

अधिक मान उन मुनिके देवपर एवं देवोंके द्विजरी श्चालते महादेवने कहा—मुनिमत्तम ! ब्राह्मणभ्रेतु ! क्या तो

तपस्वी एवं धर्मरथमें स्थित रहने लगे हैं । फिर आपके इस हर्षण कारण क्या है ! ॥ ९-१२ ॥

प्रथिरवाच

किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं ज्ञुतम् । यं दृष्ट्वाऽहं प्रवृत्तां वै ह्येण महताऽन्वितः ॥ १३ ॥
 नं प्रहृम्याज्जबोद् देवो मुनि गणेन मोहितम् । अहं न विस्मयं विप्र गच्छामीह प्रपश्यताम् ॥ १४ ॥
 एषमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं देवदेवो महाद्युतिः । अद्भुत्येण विमन्त्राः स्वाङ्गुष्ठं ताडयद् भवः ॥ १५ ॥
 ततो भस्म धत्वात्, तस्मान्निर्गतं तिम्रमन्निभम् । तद् दृष्ट्वा शीङ्घितो विप्रः पादयोः पतितोऽववोत् ॥ १६ ॥

प्रथिने कथा—ब्रह्मन् ! क्या आप नहीं देखते कि मेरे हाथसे शाकका रस चू रहा है; जिसे देखकर मैं अचानक अतन्त्रमान होकर कृप का रस चू रहा हूँ। महादेवजीने हँसकर आसक्तिसे मोहित हुए उन मुनिसे कहा—
 विप्रवर ! मुझे आश्चर्य नहीं हो गया है। (किंतु) आप इधर देखें। विमन्त्रो ! श्रेष्ठ मुनिसे ऐसा कहकर प्रदीपानात ब्रह्मन् देवविदेव महादेवने अपनी अंगुलिके अग्रभागसे अपने अंगुठेका ठीक किया। उसके बाद उस नीचे दिग्बुज्य (लक्ष्म) भस्म निकालने लगे। उसे देखनेके बाद द्रवण लज्जित होकर (महादेवके) चरणोंमें गिर पड़े और बोले— ॥ १३-१६ ॥

तान्यं देवादाहं मय्ये शूलपाणेर्महान्मनः । चराचरस्य जगतो वरस्त्वमसि शूलधृक् ॥ १७ ॥
 तद्वाध्यादाह दृश्यन्ते मुखा प्राणादयोऽनघ । पूर्वस्त्वमसि देवानां कृत्वा कारयिता महत् ॥ १८ ॥
 त्वाप्रमादात् मुखाः मय्ये मोदन्ते तद्गुणोभयाः । एवं स्तुत्या महादेवमृषिः स प्रणतोऽववोत् ॥ १९ ॥
 भगवन्स्त्वप्रमादात् तपो मे न क्षयं वजेत् । ततो देवः प्रसन्नान्मा तस्मृषि चाप्यमववोत् ॥ २० ॥

मैं महात्मा शूलपाणि महादेवके अनिष्टिके किस्तीको नहीं मानता। शूलपाणे ! मेरी दृष्टिमें आप ही चराचर तत्त्वसंसारमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्ध ! प्रथम आदि देवता आपके ही आश्रित देखे जाते हैं। आप ही देवताओंमें प्रथम हैं और आप (सब कुल) करने एवं करानेवाले तथा महत्त्वरूप हैं। आपकी कृपासे सभी देवताएँ अपने लोका मोदमान होती रहते हैं। ऋत्विने इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करनेके बाद उन्हें प्रणतकर कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे तपका क्षय न हो। तब महादेवजीने प्रसन्न होकर उन ऋत्विसे यह वचन कहा— ॥ १७-२० ॥

इति उवाच

मय्ये कर्षसां विप्र मत्प्रमादात् साहस्रधा । प्रादत्ते वेदं धरम्यामि त्वया सार्द्धमहं सदा ॥ २१ ॥
 ततस्तारुण्ये स्नाय्या यो मामर्षिण्ये ततः । न तस्य तुल्यं किंचिद्विह लोके परत्र च ॥ २२ ॥
 मायम्यं च तं त्वेवं मर्षिण्यति न संशयः । दिवाप्य न प्रमादेत् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २३ ॥

इति श्रीधामनपुराणे अर्षिकोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

(सप्तविंश) इत्यमने कथा—विप्र ! मेरी कृपासे तुम्हारी तपस्या साहस्रों प्रकारसे बढ़े। मैं तुम्हारे साथ इस लोकासे सब विद्वान् करूँगा। जो मनुष्य इस लोकासे कर्षसां स्नान करके मेरी पूजा करेगा, उसे इस लोक और अर्षिकोमें तुम्हारे दर्शन करनी पड़ेगा। पर किमर्षिण्ये उक्त सारुण्यदेवको मय्यत् एवं (मुझ) शिष्यके अनुप्रवृत्ते कर्षसां प्रथम करेगा ॥ २१-२३ ॥

इति अर्षिकोऽध्यायः अर्षिकोऽध्यायः अर्षिकोऽध्यायः अर्षिकोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

[अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

ततस्व्यौरानसं तीर्थं गच्छेत्तु धृष्ट्यान्यितः । उग्राना यत्र संसिञ्जो प्रहरं च सम्रातयान् ॥ १ ॥
तस्मिन् स्नात्वा विमुक्तस्तु पातकैर्जन्मसम्भ्रैः । ततो यानि परं ब्रह्म यस्मादायतेते पुनः ॥ २ ॥
रहोदरो नाम मुनिर्यत्र मुक्तो बभूव ह । महता शिरसा प्रस्तप्तोऽप्यमाहात्म्यदर्शनात् ॥ ३ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंका अनुष्ठान पर्वण)

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) सनमारक्षत्रके बाद ध्रुवामे युक्त होकर 'औरानस' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ शुक सिद्धि प्राप्तकर प्रह्वरको प्राप्त हो गये । उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य अनेक जन्मोंमें किये हुए पातकोंसे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त करता है, जहाँमें पुनः (जन्म-मरणके चक्रमें) लौटना नहीं पड़ता । (यह तीर्थ ऐसा है) जहाँ तीर्थ-दर्शनकी महिमासे भारी सिरसे जड़ड़े हुए रहोदर नामके एक मुनि उससे मुक्त हो गये थे ॥ १-३ ॥

श्रापय ऋषुः

कथं रहोदरो प्रस्तः कथं मोक्षमयातयान् । तीर्थस्य तस्य माहात्म्यमिच्छामः श्रोतुमादरान् ॥ ४ ॥
ऋषियोंने कहा (पूछा)—रहोदर मुनि सिरसे प्रस्त कैसे हो गये थे ? और, वे उससे मुक्त कैसे हुए ? हम लोग उस तीर्थके माहात्म्यको आदरके साथ सुनना चाहते हैं (जिसकी महिमासे ऐसा हुआ ।) ॥ ४ ॥

लोमहर्षण उवाच

पुरा वै वृण्डकारण्ये राघवेण महात्मना । घसता द्विजसार्धैर्ला राक्षसास्तत्र हिसिताः ॥ ५ ॥
तत्रैकस्य शिरसिच्छन्नं राक्षसस्य दुरात्मकः । क्षुरेण शिखारेण तत्र पपात महात्मे ॥ ६ ॥
रहोदरस्य तल्लग्नं जङ्घायां वै पटच्छया । पने विचरत्तस्तत्र अस्मि भित्वा विपेरा ह ॥ ७ ॥
स तेन हग्नेन तदा द्विजातिर्न शशाक ह । अभिगन्तुं महाग्नस्तोऽर्धोऽन्यायतनानि च ॥ ८ ॥

लोमहर्षणजी बोले—द्विजश्रेष्ठो ! प्राचीन कालमें वृण्डकारण्यमें (इतने हुए सुवंशी महात्मा गनवन्दने बहुतसे राक्षसोंको मारा था । वहाँ एक दुरात्मा राक्षसता सिर तीक्ष्णशरके क्षुर नामक धागमे पटकर उस महात्मनमें गिरा । (सिर वह) सवोषण वनमें विचरग करते हुए रहोदर मुनिजी जङ्घमें उनकी हड्डीको तोड़कर उससे निश्ट गया । महाप्राज्ञ वे प्राप्रगेर (जवेकी दूरी हड्डीमें) उस मन्त्रके छग जलनेके कारण तीर्थों और देवाल्योंमें नहीं जा पाते थे ॥ ५-८ ॥

स पुनिता विस्मयता घेदनात्तौ महामुनिः । जगाम सत्यनोयानि पृथिव्यां यानि षानि च ॥ ९ ॥
ततः स कथयामास ऋषीणां भाषितामनाम् । तेषुबुधन् ऋषयो विप्रं प्रयाहौरानसं प्रति ॥ १० ॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम स रहोदरः । ततस्व्यौरानसे तीर्थं तस्योपस्मृतस्तदा ॥ ११ ॥
तच्छिष्टश्चरणं मुक्त्या पपातान्तर्जले द्विजाः । ननः स विरजो भूया पताम्ना घातकल्पयः ॥ १२ ॥

आजगामाथमं प्रीतः कथयामास धारिलम् ।

ते श्रुत्वा श्रापयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् । कपालमोचनमिति नाम वधुः समागताः ॥ १३ ॥

वे महामुनि दुर्गपर्य्य युक्त पीन आदि बहनेके करग्रतया वेदनामे अकृत दुःखी (इतने थे) वृष्टीकेजिन जिन्दी सभी तीर्थोंमें वे गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने पवित्राना ऋषियोंसे (अपना दुःख) कहा । ऋषियोंने उन विप्रमें कहा—
आक्षयदेव ! आप औरानस- (तीर्थ-) में जायें । (लोमहर्षणने कहा—) द्विजे ! उनका पर बचकर

गोश्वर मुनि वहाँमें औशनसतीर्थमें गये । वहाँ उन्होंने तीर्थ-जलका स्पर्श किया । उनके द्वारा (जलका) स्पर्श होते ही वह मन्त्रक उनमें (जल) को छोड़कर जलमें गिर गया । उसके बाद वे मुनि पापसे रहित निर्मल त्र्योशुभां रयिः अन्तरु पवित्रात् प्रोक्ता प्रसन्नतापूर्वक (अपने) आश्रममें गये और उन्होंने (ऋषियोंसे) सारी आशीर्षां प्राप्ता सुनायी । फिर तो उन आये हुए सभी ऋषियोंने औशनसतीर्थके इस उत्तम माहात्म्यको सुनकर उत्साह नाम 'कपालमोचन' रख दिया ॥ ९-१३ ॥

तत्रापि मुमहर्त्तयि विश्वामित्रस्य विश्रुतम् । ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १४ ॥
 तन्निस्तीर्थवरे स्नान्वा ब्राह्मण्यं लभते ध्रुवम् । ब्राह्मणस्तु विशुद्धात्मा परं पद्मवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
 ततः पृथूदकं गच्छेत्प्रियते नित्यनाशनः । तत्र सिद्धस्तु ब्रह्मर्षो रूपद्रुर्नाम नामतः ॥ १६ ॥
 जानिसरयो रूपद्रुस्तु गङ्गाद्वारे सदा स्थितः ।

अन्तकालं ततो दृष्ट्वा पुत्रान् वचनमब्रवीत् । इह श्रेयो न पश्यामि नयध्वं मां पृथूदकम् ॥ १७ ॥
 विनाय तस्य तद्भयं रूपद्रुस्ते तपोधनाः । तं वै तीर्थे उपातिन्युः सरस्वन्यास्तपोधनम् ॥ १८ ॥

पत्नी (कपालमोचन तीर्थमें ही) महामुनि विश्वामित्रका बहुत बड़ा तीर्थ है, जहाँ विश्वामित्रने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया था । उन श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको निश्चय रूपसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है और वह ब्राह्मण सिद्धकाल गोश्वर व्रतके शम पदको प्राप्त करता है । कपालमोचनके बाट पृथूदक नामके तीर्थमें जाय और नियमपूर्वक नियम मात्रमें अहार करे । वहाँ रूपद्रुनामके ब्रह्मर्षिने सिद्धि पायी थी । सदा गङ्गाद्वारमें स्थित रहते हुए पूर्वजन्मके कृतान्तको स्मरण करनेवाले रूपद्रुने (अपना) अन्तकाल आया देखकर (अपने) पुत्रोंसे कहा कि यहा (मैं) अनाथ कल्याण नहीं देगा रहा है । मुझे पृथूदक (तीर्थ) में ले चलो । रूपद्रुके उस भायको जलकर ने तपोधन (पुत्र) उन तपके धर्मीको सरस्वतीके तीर्थमें ले गये ॥ १४-१८ ॥

त तैः पुत्रैः समानीतः सरस्वत्यां समाप्युतः । स्मृत्या तीर्थगुणान् सर्वान् प्राहेदमृषिसत्तमः ॥ १९ ॥
 समान्युत्तरो तीर्थे यन्मयजेदात्मनस्तनुम् । पृथूदकं जप्यपरो नूतं चामरतां व्रजेत् ॥ २० ॥
 तत्रैव ब्रह्मयोग्यस्ति ब्राह्मणा यत्र निर्मिता । पृथूदकं समाश्रित्य सरस्वन्यास्तटे स्थितः ॥ २१ ॥
 धातुर्गर्भस्य सृष्टार्यमात्मज्ञानपरोऽभवत् । तस्याभिध्यायतः सृष्टिं ब्रह्मणो व्यक्तजन्मतः ॥ २२ ॥
 मुहूर्तां ब्राह्मणा ज्ञाना धातुर्भ्यां धन्वियान्तथा । ऊरुभ्यां वैद्यज्ञानीयाः पद्भ्यां शूद्रास्तनोऽभवन् ॥ २३ ॥

इस पुत्रेष्टाम लगे लगे उन ऋषियोंने स्नानतीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् उस तीर्थके सब गुणोंका स्मरण कर यह प्रमाण — 'समा-नीतः उचारयी अंशु रि न पृथूदक नामके तीर्थमें अपने शरीरका त्याग करनेवाला जपरागण मनुष्य के धर्मके श्रेष्ठमें प्राप्त होय है ।' वही ब्रह्मप्राप्त 'निर्मितप्रत्ययानि तीर्थ' है, जहाँ मास्वतीके किनारे अवस्थित पृथूदकमें सिद्ध योग्य तथा ब्रह्मप्राप्त सृष्टिक विदे जानकारमें लीन हुए थे । सृष्टिक विषयमें अत्यक्तजन्मा ब्रह्मके चिन्तन करनेवा उनका मुहूर्तकाल मुहूर्तमें क्षत्रिय, दोनों ऊरुओंसे वैश्य और दोनों पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए ॥ १९-२३ ॥

धातुर्गर्भे ततो दृष्ट्वा आधमरयं तवस्तनः । एवं प्रतिष्ठितं तौर्वं ब्रह्मयोनोति संजितम् ॥ २४ ॥
 तत्र स्यात्त मुनिराजसः पुनर्योनि न पश्यति । तत्रैव तीर्थे विरचानमवकीर्णोति नामतः ॥ २५ ॥
 योमिहतीर्थे परो ब्राह्मणो धृतराष्ट्रमतरंजम । जुहाय वाहनैः सार्धं तत्राबुध्यन् ततो नृपः ॥ २६ ॥

इसके बाद उन्होंने अपने तीर्थमें स्थित आश्रममें स्थित हुआ देखा । इस प्रकार ब्रह्मयोनिनामक तीर्थकी प्रतिष्ठा करनेवा, सृष्टिक कालका स्मरणकरा सृष्टिक विदे स्नान करनेमें पुनर्जन्म नहीं देखता । वहाँ अवकीर्णनामक एक तीर्थके तीर्थ भी है, जहाँ ब्रह्मप्राप्त, स्नान कर प्रतिष्ठित गोत्रमें उत्पन्न) ब्रह्मनामक ऋषिने क्रौवी धृतराष्ट्रको अपने शरीरके अन्तः-काल कर दिया था, वही गणपती (अने किये कर्मा) जन्म हुआ था ॥ २४-२६ ॥

कथं प्रतिष्ठितं तीर्थमवकीर्णंति नामतः । धृतराष्ट्रेण राज्ञा च स किमर्थं प्रमादितः ॥ २७ ॥
 ऋषियाने पृष्टा—अवकीर्णनामक तीर्थं कस्मै प्रतिष्ठितं दृष्ट्वा एवं राजा धृतराष्ट्रेण उच्यते (यद्वा दान्यमुनि)
 को वयो प्रसन्न क्रिया या ! ॥ २७ ॥

लोकदर्शन उवाच

धृतराष्ट्रो नैमिषेया ये दक्षिणार्थं ययुः पुरा । तत्रैव च यको दालयो धृतराष्ट्रमयाचत ॥ २८ ॥
 तेनापि तत्र निन्दार्थमुक्तं पदवचनं तु यत् । ततः क्रोधेन मदता मांसमुत्कृत्य तत्र ह ॥ २९ ॥
 पृथुदके महातीर्थे अवकीर्णंति नामतः । जुहाय धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेस्ततः ॥ ३० ॥
 ह्यमाने तदा राष्ट्रे प्रभृते यज्ञकर्मणि । अशीयत ततो राष्ट्रं नृपतेर्दुष्कृतेन वै ॥ ३१ ॥
 लोकदर्शने कदा—प्राचीन वार्त्तमें नैमिषारण्यनिकासी जो ऋषि दक्षिणा करनेके लिये (राजा धृतराष्ट्रके यहाँ) गये थे, उनमेंसे दक्षिणार्थी यज्ञ ऋषिने धृतराष्ट्रसे (धनसी) याचना की। उन्होंने (धृतराष्ट्रने) भी निन्दार्थपूर्ण मन्त्र और असय वाच बहरी। उसके बाद वे (यज्ञदान्य) अपना क्रुद्ध होकर पृथुदकमें स्थित अवकीर्णनामक तीर्थमें जा करके मांस कूट-काटकर धृतराष्ट्रके राष्ट्रके नाम हनन करने लगे। तब यज्ञमें राष्ट्रमा हनन प्रारम्भ होनेपर राजाके दुष्कर्मके कारण राष्ट्रमा क्षय होने लगा ॥ २८-३१ ॥

ततः स चिन्तयामास ब्राह्मणस्य विचेष्टितम् । पुरोहितेन संयुक्तो रत्नान्यादाय स्वयं ॥ ३२ ॥
 प्रसादनार्थं विप्रस्य ह्यवकीर्णं ययौ तदा । प्रसादितः स राजा च नृपः प्रोषा च नं नृपम् ॥ ३३ ॥
 ब्राह्मणा नावमन्तव्याः पुरोणेण विज्ञानता । अथनानो ब्राह्मणस्तु हन्यान् विपुरणं बुलम् ॥ ३४ ॥
 एवमुक्त्या स नृपतिं राज्येन यशसा पुनः । उद्यापयामास ततस्तस्य राजे हिते स्थितः ॥ ३५ ॥
 (राष्ट्रको क्षीण होने देव) उसने विचार किया और यह इसे ब्राह्मणों के विकर्म जानकर (उन ब्राह्मणों) प्रसन्न करनेके लिये समस्त गन्धर्वोंके देकर पुरोहितके साथ अवकीर्ण तीर्थमें गया (और उस) राजाके उन्हें प्रसन्न कर दिया। प्रसन्न होकर उन्होंने राजासे कहा—(राजन् !) विद्वान् मनुष्यको ब्राह्मणों का मान नहीं करना चाहिये। अपमानित हुआ ब्राह्मण मनुष्यके बुद्धके तीन पुरुषों (पीड़ियों) का विनाश कर देना है। ऐसा कष्टकर उन्होंने पुनः राजाको राज्य एवं यज्ञके साथ सम्पन्न कर दिया और वे उस राजाके हितकारी हो गये ॥ ३२-३५ ॥

तस्मिन्तीर्थे तु यः स्नानि श्रद्धधानो जितेन्द्रियः । स प्राप्नोति नरो नित्यं मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३६ ॥
 तत्र तीर्थे सुविख्यातं यावानं नाम नामतः । यन्नेह यजमानस्य मधु मुखाय वै नदी ॥ ३७ ॥
 तस्मिन् घातो नरो भक्त्या मुच्यते स्वर्गकिल्बिषैः । फलं प्राप्नोति यज्ञस्य अश्वमेधस्य मानवः ॥ ३८ ॥
 मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थे पुण्यतमं द्विजाः । तस्मिन् स्नान्वा नरो भक्त्या मधुना नर्पयेत् पितृन् ॥ ३९ ॥
 तथापि मुमहस्योर्धं यन्मिष्टोद्गाहसंशितम् । तत्र स्नानो भक्तियुक्तो घासिष्टं लोकमानुष्यान् ॥ ४० ॥
 इति श्रीब्रह्ममन्वन्तरे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

उस (अवकीर्ण) तीर्थमें जो जितेन्द्रिय मनुष्य श्रद्धापूर्वक स्नान करता है, वह नित्य मनोऽभिर्चित फल प्राप्त करता है। यहाँ 'यावान' (यवाविका तीर्थ) नामने सुविख्यात तीर्थ है, जहाँ यह करनेकरके नित्य नदीने मधु बहाया गा। उसमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है एवं उसे अश्वमेधयाग फल प्राप्त होता है। द्विजे ! यहाँ 'मधुस्रव' नामक पवित्र तीर्थ है। उसमें मनुष्यको भक्तिपूर्वक स्नान कर मधुमे स्नितोया तरंग करना चाहिये। यहीं 'यन्मिष्टोद्गाह' नामक सुन्दर मशान् तीर्थ है, यहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने व्यक्ति मर्त्ति बन्धनके लोकमें प्राप्त करता है ॥ ३६-४० ॥

इस प्रकार श्रीब्रह्ममन्वन्तरे अन्तालीसवर्षी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

[अथ चत्वारिंशोऽध्यायः]

मत्पय ऊचुः

यस्मिष्टस्यापवातोऽस्ती कथं धै सम्भभूय ए । क्तिर्यं सा सरिच्छ्रेष्ठा तन्मृषिं प्रत्यवाहयत् ॥ १ ॥

चालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वसिष्ठापवाह नामक तीर्थका उत्पत्ति-प्रसङ्ग)

श्रुत्वापि योने कथा (पुत्रा)—महाराज ! वह वसिष्ठापवाह कैसे उत्पन्न हुआ ! उस श्रेष्ठ सरिताने उन ऋषिको क्यों अपने प्रवाहमें बहा दिया था ! ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

विश्वामित्रस्य राज्ञोर्वसिष्ठस्य महात्मनः । भृशं वैरं यभूवेह तपःस्पर्शाकृते महत् ॥ २ ॥

आश्रमो धै वसिष्ठस्य स्थाणुतीर्थं यभूय ह । तस्य पश्चिमदिग्भागे विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ३ ॥

यत्रेद्वा भगवान् स्नायुः पूजयिष्या सरस्वतीम् । स्थापयामास देवेशो लिङ्गाकारं सरस्वतीम् ॥ ४ ॥

यस्मिष्टस्तत्र तपसा घोररूपेण संश्रितः । नस्येह नपसा हीनो विश्वामित्रो यभूय ह ॥ ५ ॥

लोमहर्षण बोले—(ऋषियो !) राजर्षि विद्यामित्र एवं महात्मा वसिष्ठमें तपस्याके विषयमें परस्पर चुनौती होनेके कारण बड़ी भारी शत्रुता हो गयी । वसिष्ठका आश्रम स्थाणुतीर्थमें था और उसकी पश्चिम दिशामें बुद्धिमान् विश्वामित्र ऋषिको आश्रम था; जहाँ देवाधिदेव भगवान् शिवने यज्ञ करनेके बाद सरस्वतीकी पूजा कर मूर्तिके रूपमें सरस्वतीकी स्थापना की थी । वसिष्ठजी वही घोर तपस्यामें संलग्न थे । उनकी तपस्यासे विद्यामित्र (प्रजापति) हीन-में होने लगे ॥ २-५ ॥

सम्पत्त्यां समाहृत्य इदं वचनमब्रवीत् । यस्मिष्टं मुनिशार्दूलं स्वेन वेगेन आनय ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा तं द्विजश्रेष्ठं तन्निष्यामि न संशयः । एतच्छुश्रुवा तु वचनं व्यथिता सा महानदी ॥ ७ ॥

गता तां व्यथितां दृष्ट्वा धैरमानां महानदीम् । विश्वामित्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वसिष्टं शोघ्रमानय ॥ ८ ॥

ततो गत्वा सरिच्छ्रेष्ठा यस्मिष्टं मुनिसत्तमम् । कथयामास रुदो विश्वामित्रस्य तद् वचः ॥ ९ ॥

(एक अध्याय) विश्वामित्रने सरस्वतीको बुलकाए वह वचन कहा—सरस्वति ! तुम मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको अपने वेगेसे बहा लओ । मैं उन द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठको यहां मारूँगा—इसमें संदेहकी बात नहीं है । इस- (सरस्वती) नदीको सुनकर वह महानदी दुःखित हो गयी । (पर) विद्यामित्रने उस प्रजापति दुःखित एवं व्यथित हुए उस महानदीको बोलकर कोमें बतकर कहा कि वसिष्ठसे शीघ्र लओ । उसके बाद उस श्रेष्ठ नदीने मुनिश्रेष्ठको तम बतकर उनमें लेने हुए विद्यामित्रकी उस बातको कहा ॥ ६-९ ॥

सर्वशिव्याधिर्गतां च भृशं नोपासमन्विताम् । उवाच स सरिच्छ्रेष्ठां विश्वामित्राय मां वद ॥ १० ॥

यद्य मद् वचनं श्रुत्वा ह्यनामोलम्ब्य सा सरित् । चालयामास तं स्थानान् प्रयाहेणाम्बसस्तदा ॥ ११ ॥

स च दृष्ट्वाभयान्तेन मित्रावरुणयोः सुतः । उद्यमानश्च तुष्टाव तदा देवीं सरस्वतीम् ॥ १२ ॥

विद्यामित्रस्य सरसः प्रवृत्ताऽसि सरस्वति । व्यातं त्वया जगत् सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः ॥ १३ ॥

उस वसिष्ठकी कथनमें दुर्बल रूप अविश्वसनेक-परमित्र उस श्रेष्ठ सरिताने—(सरस्वती-) ने कहा— (तुम) विश्वामित्रने मत्त सुने वहा ले चओ । उन वचनके उस वचनके सुनकर उस सरस्वती सरिताने जलके (तेज) प्रवाहमें उसे उम भावसे बहावा प्रारम्भ किया । चित्तमें ले जाये जानेके कारण वहने हुए मित्रावरुणके पुत्र

वसिष्ठऋषि प्रसन्न होकर देवी सरस्वती की स्तुति करने लगे—सखिनि ! आप प्रजाके सरोवरसे निकली हैं । आपने अपने उत्तम जलसे समस्त जगत्को व्याप्त कर दिया है ॥ १०-१३ ॥

त्वमेवाकाशगम्य देवी मेघेषु खड्गसे पयः । सर्वास्वापस्वमेवेति त्वत्तां पयमधीमहे ॥ १४ ॥
पुष्टिर्घृतिस्तथा कीर्त्तिः सिद्धिः कान्तिः क्षमा तथा । स्वधा स्वाहा तथा याणी तथापत्तमिर्न जगत् ॥ १५ ॥
त्वमेव सर्वभूतेषु याणीरूपेण संस्थिता । एवं सरस्वतो तेन स्तुता भगवता मया ॥ १६ ॥
सुपेनोवाह तं विप्रं विश्वामित्राधमं प्रति । न्ययेत्पत्तया त्रिधा विश्वामित्राय तं मुनिम् ॥ १७ ॥

‘आप ही आकाशगमिनी देवी हैं और मेघोंमें जलको उत्पन्न करती हैं । आप ही सभी जलोंके रूपमें वर्तमान हैं । आपकी ही शक्तिसे हम लोग अन्नपान करते हैं । आप ही पुष्टि, धृति, कीर्त्ति, सिद्धि, कान्ति, क्षमा, स्वधा, स्वाहा तथा सरस्वती हैं । यह पूरा विश्व आपके ही अंगन है । आप ही समस्त प्राणियोंमें काणीरूपसे स्थित हैं ।’ वसिष्ठजीने भगवती सरस्वतीकी इस प्रकार स्तुति की और सरस्वती नदीने उन निरदेवको विद्यामित्रके आश्रममें सुखपूर्वक पहुँचा दिया और विन होकर उन मुनिको विद्यामित्रके त्रिये निवेदित कर दिया ॥ १४-१७ ॥

तमानीतं सरस्वत्या दृष्ट्वा कोपसमन्वितः । अघान्वितपत् प्रहरणं वसिष्ठान्तकरं तदा ॥ १८ ॥

न तु क्षुद्रमभिप्रेक्ष्य प्रसहत्याभयाद्भ्रवी ।
अपोवाह वसिष्ठं तं मय्ये वैशाम्भसस्तदा । उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम् ॥ १९ ॥
ततोऽपवाहितं दृष्ट्वा वसिष्ठमृषिसत्तमम् । अग्रवात् क्रोधरक्ताक्षो विश्वामित्रो महातपाः ॥ २० ॥
यसान्नां सरितां ध्रेष्ठे वञ्चयित्वा विनिर्गता । शोणितं पद कल्याणि रक्षोषामणिसंयुता ॥ २१ ॥

उसके बाद सरस्वतीद्वारा बहानर लये गये वसिष्ठको देवप्रद विद्यामित्र क्रोधसे भर गये और वसिष्ठका अन्त करनेवाला शत्रु ढूँढ़ने लगे । उन्हें क्रोधसे भर हुआ देवप्रद ब्रह्महत्याके भयसे डरती हुई वह सरस्वती नदी गाधिपुत्र विद्यामित्रको वञ्चित कर दोनोंकी बानोंका पावन करती हुई उन वसिष्ठको जलमें (पुनः) बहा ले गयी । उसके बाद ऋषिप्रवर वसिष्ठको (अपवाहित होने) देखकर महान्तपस्वी विद्यामित्रके नेत्र क्रोधसे टाट हो गये । फिर विद्यामित्रने कहा—ओ श्रेष्ठ नदी ! मन तुम मुझे वञ्चितकर चली गयी हो, कन्यागि ! अन् श्रेष्ठ राक्षसोंमें संयुक्त होकर तुम शोणितका बहन करो—तुम्हारा जल रक्तसे युक्त हो जाय ॥ १८-२१ ॥

ततः सरस्वता शता विश्वामित्रेण धीमता । अयद्वच्छोणितोन्मिथं तोषं संयत्तरं तदा ॥ २२ ॥

अपर्ययञ्च देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तदा । सरस्वतीं तदा दृष्ट्वा यभूयुर्भूतानुजिताः ॥ २३ ॥

तस्मिन्स्तोत्रधरे पुण्ये शोणितं समुपायहत् । ततो भूतपिरावाच्य राक्षसाश्च मन्मागताः ॥ २४ ॥

ततस्ते शोणितं सर्वं पिबन्तः सुखमाप्नुते ।

एताश्च सुभूशं तेन सुखिता विगतज्वराः । नृत्यन्तश्च हस्तन्तश्च यया स्वर्गजितस्तथा ॥ २५ ॥

उसके बाद बुद्धिमान् विद्यामित्रसे इस प्रकार शाप प्राप्तकर सरस्वतीने एक बर्तन रक्तमें मित्रे हुए जलको बहाया । उसके पश्चात् सरस्वती नदीको रक्तसे मिश्रित जलका देवप्रद ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सरों अथवा दुःखित हो गयी । (पतः) उस पत्रि श्रेष्ठ तीर्थमें रजि ही बहने लगी । अन् वहाँ भूत, राक्षस, राक्षस एकत्र होने लगे । वे सभी रक्तका पान करते हुए वहाँ अन्तर्दूषक रहने लगे । वे उसमें अन्न तम सुयी एवं निश्चित होकर इस प्रकार नाचने एवं हँसने लगे, मानो उन्होंने स्वर्गको जीत लिया हो ॥ २२-२५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य ऋषयः सतपोधनाः। तीर्थयात्रां समाजग्मुः सरस्वत्यां तपोधनाः ॥ २६ ॥
तां दृष्ट्वा राक्षसैर्घोरैः पीयमानां महानदीम्। परित्राणे सरस्वत्याः परं यत्नं प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥
ते तु सर्वे महाभागाः समागम्य महाव्रताः। आहूय सरितां श्रेष्ठामिदं वचनमनुवन् ॥ २८ ॥
किं कारणं सरिच्छ्रेष्ठे शोणितेन हृदो ह्ययम्। पवमाकुलतां यातः श्रुत्वा वेत्स्यामहे वयम् ॥ २९ ॥

कुछ समय बीतनेपर तपस्याके धनी ऋषिलोग तीर्थयात्रा करते-करते सरस्वतीके तटपर पहुँचे। (वहाँ) भयानक राक्षसोंके द्वारा पीती जाती हुई महानदी सरस्वतीको देखकर वे उसकी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न करने लगे। और महान् व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले उन महाभागोंने श्रेष्ठ नदीको (पास) बुलाकर उससे यह वचन फिर कहा—श्रेष्ठ सरिते ! हम सब आपसे यह जानना चाहते हैं कि यह जलशय रक्तसे भरकर ऐसा क्षुब्ध कैसे हुआ है ? ॥ २६-२९ ॥

ततः सा सर्वमाचष्ट विश्वामित्रविचेष्टितम्।

ततस्ते मुनयः प्रीताः सरस्वत्यां समानयन्। अरुणां पुण्यतयौघां सर्वदुष्कृतनाशनीम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्या राक्षसा दुःखिता भृशम्। ऊचुस्तान् वै मुनीन् सर्वान् दैन्ययुक्ताः पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
वयं हि क्षुधिताः सर्वे धर्महीनाश्च शाश्वताः। न च नः कामकारोऽयं यद् वयं पापकारिणः ॥ ३२ ॥
युष्माकं चाप्रसादेन दुष्कृतेन च कर्मणा। पक्षोऽयं वर्धतेऽस्माकं यतः सो ब्रह्मराक्षसाः ॥ ३३ ॥

तब उसने विश्वामित्रके समस्त विकर्मोंका (उनके सामने ही) वर्णन किया। उसके पश्चात् प्रसन्न हुए मुनिजन सरस्वती तथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाली अरुणा नदीको ले आये (जिससे सरस्वती-हृदका शोणित पवित्र जल हो गया) (पर) सरस्वतीके जलको (इस प्रकार शुद्ध हुआ) देखकर राक्षस बहुत दुःखित हो गये। वे दीनतापूर्वक उन सभी मुनियोंसे बार-बार कहने लगे कि हम सभी सदा भूखे एवं धर्मसे रहित रहते हैं। हम अपनी इच्छासे पापकर्म करनेवाले पापी नहीं बने हुए हैं, अपितु आप लोगोंकी अकृपा एवं अशोभन कर्मोंसे ही हमारा पक्ष बढ़ता रहता है; क्योंकि हम सभी ब्रह्मराक्षस हैं ॥ ३०-३३ ॥

एवं वैदयाश्च शूद्राश्च क्षत्रियाश्च विकर्मभिः। ये ब्राह्मणान् प्रद्विपन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ ३४ ॥
योपितां चव पापानां योनिदोषेण वर्द्धते। इयं संततिरस्माकं गतिरेषा सनातनी ॥ ३५ ॥
शक्ता भवन्तः सर्वेषां लोकानामपि तारणं। तेषां ते मुनयः श्रुत्वा कृपाशीलाः पुनश्च ते ॥ ३६ ॥
ऊचुः परस्परं सर्वे तप्यमानाश्च ते द्विजाः। श्रुतकीटावपन्नं च यच्चोच्छिष्टाशितं भवेत् ॥ ३७ ॥
केशापवन्नमाधूतं मारुतश्वासदूषितम्। एभिः संसृष्टमन्नं च भागं वै रक्षसां भवेत् ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं वे (ऐसे ही) विकर्म करनेके कारण राक्षस हो जाते हैं। पापिनी लियोंके योनिदोषसे हमारी यह संतति बढ़ती रहती है। यह हमारी प्राचीन गति है। आप लोग सभी लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। (लोमहर्षणजी कहते हैं—) द्विजो ! वे कृपालु मुनि उन सदाकी रीति ब्रह्मराक्षसोंके इन वचनोंको सुनकर बहुत दुःखी हुए और परस्पर परामर्शकर उनसे बोले—(ब्रह्मराक्षसो !) ठीक तथा कीटक समुहसे दूषित, उच्छिष्ट भोजन, केशयुक्त, निरस्तृत एवं स्वासवायुसे दूषित अन्न तुम राक्षसोंका भाग होगा ॥ ३४-३८ ॥

तस्माज्जात्वा सदा विद्वान् अन्नान्येतानि वर्जयेत्। राक्षसानामस्तौ भुङ्क्ते यो भुङ्क्तेऽन्नमोदशम् ॥ ३९ ॥
शोधयित्वा तु तत्तीर्थमृषयस्ते तपोधनाः। मोक्षार्थं रक्षसां तेषां संगमं तत्र कल्पयन् ॥ ४० ॥
अरुणायाः सरस्वत्याः संगमे लोकविश्रुते। त्रिरात्रोपोषितः स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ४१ ॥

प्राप्ते कलियुगे घोरे अधर्मे प्रव्युपस्थिते । अरुणासंगमे स्नात्वा मुक्तिमान्नोति मानवः ॥ ४२ ॥
ततस्ते राक्षसाः सर्वे स्नाताः पापविर्वाजिताः । दिव्यमाल्याभ्यरधराः स्वर्गमितिष्मन्विताः ॥ ४३ ॥
इति धीयामनपुराणे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(पुनः लोमहर्षणजी बोले—) ऋणियो ! इससे जानकर विद्वान् पुरुषको चाहिये कि इस प्रकारके

अनोंको त्याग दे । इस प्रकारका अन्न पानेवाला व्यक्ति राक्षसोंका भाग गया है । उन तपोवन ऋणियोंने उन तीर्थमें शुद्धकर उन राक्षसोंकी मुक्तिके लिये वहाँ एक सङ्गमरी रचना की । [उमरा कथ इस प्रकार है—] लोक-प्रसिद्ध अरुणा और सरस्वतीके सङ्गममें तीन दिनोंका प्रचूरक स्नान करनेवाला (व्यक्ति) सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । (आगे भी) घोर कलियुग आनेपर तथा परमेश अधिक प्रसार हो जानेपर मनुष्य अरुणाके सङ्गममें स्नान करके मुक्ति प्राप्त कर लेंगे । इससे सुननेके बाद उन सभी राक्षसोंने उसमें स्नान किया और वे विष्णुप हो गये तथा दिव्य माल्य और वस्त्र धारणकर स्वर्गमें विद्यमाने लगे ॥ २९--४३ ॥

इस प्रकार धीयामनपुराणमें चालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥



[अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

समुद्रास्तत्र चत्वारो र्द्विगा आहताः पुरा । प्रत्येकं तु नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १ ॥
यत्किंचित् क्रियते तस्मिन्स्नानस्तोयं द्विजोत्तमाः । परिपूर्णं हि नन्मयेमपि दुष्टलक्ष्मणः ॥ २ ॥
शतसाहस्रिकं तीर्थं तथैव शक्तिकं द्विजाः । उभयोर्हि नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३ ॥
सोमतीर्थं च तथापि सरस्वत्यास्तटे स्थितम् । यस्मिन् स्नानस्तु पुराणो राजसूयफलं लभेत् ॥ ४ ॥

एकचालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थो-शतसाहस्रिक, शक्तिक, रेणुका, ऋणमोचन, ओजस, भविहृति, प्राची मारवती;
पञ्चरट, कुरुतीर्थ, अवरवतीर्थ, शम्भुवन आदिका वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—प्राचीन कालकी बात है मर्षिं दर्षिं वहाँ चार समुद्रोंको ले आये थे । उनमेंसे प्रत्येक समुद्रमें स्नान करनेसे मनुष्योंको हजार गोडाल करनेका फल प्राप्त होता है । द्विजोत्तमो ! उस तीर्थमें जो तपस्या की जाती है, वह पानीढाल की गयी होनेपर भी सिद्ध हो जाती है । द्विजो ! वहाँ शतसाहस्रिक एवं शक्तिक नामके दो तीर्थ हैं । उन दोनों ही तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य हजार गोडाल करनेका फल प्राप्त करता है । वहाँ सरस्वतीके तटपर सोम तीर्थ भी स्थित है, जिसमें स्नान करनेसे पुरा राजसूयजज्ञा फल प्राप्त करता है ॥ १-४ ॥

रेणुकाधममासाय धृष्टानो जितेन्द्रियः । मातृभक्त्या च यत्पुण्यं कथलं मानुषाभारः ॥ ५ ॥
ऋणमोचनमासाय सर्वं प्रदत्तनिषिद्धम् ।
श्रुत्वा मुक्तो भयेन्द्रियं देवर्षिरिवृत्सम्भवैः । कुमारस्यागितेके च भोजसं नाम विधुनम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् स्नातस्तु पुराणो यशसा च समन्वितः । कुमारपुरमानोति कृत्वा धादं तु मानवः ॥ ७ ॥
चैत्रपष्ठ्यां सिते पक्षे यस्तु धादं करिष्यति । गयाधादे च यत्पुण्यं तत्पुण्यं ॥ ८ ॥

माताकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्य-फलको इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य रेणुकातीर्थमें जाकर प्राप्त कर लेता है और ब्रह्माद्वारा सेवित ऋगमोचननामके तीर्थमें जाकर देव-ऋग, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋणसे छूट जाता है। कुमार (कार्तिकेय) का अभिषेकस्थल ओजसनामसे विख्यात है; उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है और वहाँ श्राद्ध करनेसे उसे कार्तिकेयके लोककी प्राप्ति होती है। चैत्रमासकी शुक्ल पष्ठी तिथिमें जो मनुष्य वहाँ श्राद्ध करेगा, वह गयामें श्राद्ध करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्यको प्राप्त करता है ॥ ५-८ ॥

संनिहत्यां यथा श्राद्धं राहुग्रस्ते दिवाकरे । तथा श्राद्धं तत्र कृतं नात्र कार्यं विचारणा ॥ ९ ॥
ओजसे ह्यक्षयं श्राद्धं वायुना कथितं पुरा । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं तत्र समाचरेत् ॥ १० ॥
यस्तु स्नानं श्रद्धधानश्चैत्रपष्ठ्यां करिष्यति । अक्षय्यमुदकं तस्य पितृणामुपजायते ॥ ११ ॥
तत्र पञ्चवटं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । महादेवः स्थितो यत्र योगमूर्तिधरः स्वयम् ॥ १२ ॥

राहुद्वारा सूर्यके ग्रस्त हो जानेपर (सूर्यग्रहण लगनेपर) सन्निहति तीर्थमें किये गये श्राद्धके समान वहाँका श्राद्ध पुण्यप्रद होता है; इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। पूर्वसमयमें वायुने कहा था कि ओजसतीर्थमें किये गये श्राद्धका क्षय नहीं होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक वहाँ श्राद्ध करना चाहिये। चैत्र मासके शुक्लपक्षकी पष्ठी तिथिके दिन जो उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेगा, उसके पितरोंको अक्षय (कभी भी क्षय न होनेवाले) जन्मकी प्राप्ति होगी। तीनों लोकोंमें विख्यात एक 'पञ्चवट' नामका तीर्थ है, जहाँ स्वयं भगवान् महादेव योगसाधना करनेकी मुद्रामें विराजमान हैं ॥ ९-१२ ॥

तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च देवदेवं महेश्वरम् । गाणपत्यमचामोति दैवतैः सह मोदते ॥ १३ ॥
कुरुतीर्थं च विख्यातं कुरुणा यत्र वै तपः । तप्तं सुघोरं क्षेत्रस्य कर्षणार्थं द्विजोत्तमाः ॥ १४ ॥
तस्य घोरेण तपसा तुष्ट इन्द्रोऽब्रवीद् वचः । राजपं परितुष्टोऽस्मि तपसाऽनेन सुव्रत ॥ १५ ॥
यद्वां ये च कुरुक्षेत्रे करिष्यन्ति शतकतोः । ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान् पापविचर्जितान् ॥ १६ ॥
अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिविवं प्रभुः । आगम्यागम्य चैवेनं भूयो भूयो वहस्य च ॥ १७ ॥

शतक्रतुरनिर्विण्णाः पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह ।

यदा तु तपसोप्रेण चकर्षं देहमात्मनः । ततः शक्रोऽब्रवीत् प्रीत्या ब्रूहि यत्ते चिकीर्षितम् ॥ १८ ॥

उस (पञ्चवट) स्थानपर स्नान करके देवाग्निदेव महादेवकी पूजा करनेवाला मनुष्य गणपतिका पद और देवताओंके साथ आनन्द प्राप्त करता हुआ प्रसन्न रहता है। श्रेष्ठ द्विजो! 'कुरुतीर्थ' विख्यात तीर्थ है, जिसमें कुरुने कीर्तिकी प्राप्तिके लिये धर्मकी खेती करनेके लिये तपस्या की थी। उनकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर इन्द्रने कहा—सुन्दर वनोंके करनेवाले राजर्षि! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं सन्तुष्ट हूँ। (सुनो) इस कुरुक्षेत्रमें जो लोग इन्द्रका यज्ञ करेंगे, वे लोग पापरहित हो जायेंगे, और पवित्र लोकोंको प्राप्त होंगे। इतना कहकर इन्द्रदेव मुस्काराकर स्वर्ग चले गये। बिना विनम्र हुए इन्द्र बारंबार आये और उपहासपूर्वक उनसे (उनकी योजनाके सम्बन्धमें कुछ) पूछ-पूछकर चले गये। कुरुने जब उग्र तपस्याद्वारा अपनी देहका कर्मग किया तो इन्द्रने प्रेमपूर्वक उनसे कहा—'कुरु! तुम्हें जो कुछ करनेकी इच्छा हो उसे कहो' ॥ १३-१८ ॥

कुरुवाच

ये श्रद्धधानास्तीर्थेऽस्मिन् मानवा निवसन्ति ह । ते प्राप्नुवन्तु सदनं ब्राह्मणः परमात्मनः ॥ १९ ॥
धन्यत्र कृतपापा ये पञ्चपातकदूषिताः । अस्मिस्तीर्थे नराः स्नात्वा मुक्ता यान्तु परां गतिम् ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्रे पुण्यनमं कुरुक्षेत्रं द्विजोत्तमाः । सं दृष्ट्वा पापमुक्तस्तु परं पद्मयानुयात् ॥ २१ ॥
 कुरुक्षेत्रं नरः ज्ञानो मुक्तो भवति किलियैः । कुरुणा समनुदानः प्राप्नोति परमं पद्मम् ॥ २२ ॥

कुरुने कथा—इन्द्रदेव ! जो श्रद्धालु मानव इस तीर्थमें निवास करते हैं, वे परमात्मरूप परमपदके लोभसे प्राप्त करते हैं । इस स्थानसे अन्यत्र पाप करनेवालों एवं पद्मपातकोंसे दूषित मनुष्य भी इस तीर्थमें स्नान करनेसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त करता है । (लोभहर्षणने कहा—) श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रमें कुरुक्षेत्रीय सर्वाधिक पवित्र है । उसका दर्शन कर पापात्मा मनुष्य (भी) मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा कुरुक्षेत्रीयमें स्नानकर पापोंमें छूट जाता है एवं कुरुक्षेत्री आत्मापे पद्मपद् (मोक्ष)को प्राप्त करता है ॥ १९-२२ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेच्छिष्यद्वारे व्यपस्थितम् । तत्र स्नानात् शिष्यद्वारे प्राप्नोति परमं पद्मम् ॥ २३ ॥
 ततो गच्छेद्वनरकं तीर्थं शैलौष्यविश्रुतम् । यत्र पूर्वं स्थितो धत्ता दक्षिणे तु महेश्वरः ॥ २४ ॥
 रुद्रपत्नी पश्चिमतः पद्मनाभोत्तरे स्थितः । मध्ये अनरकं तीर्थं शैलौष्यम्यापि दुर्लभम् ॥ २५ ॥

शिर (कुरुक्षेत्रीयमें स्नान करनेके बाद) शिष्यद्वारमें शिव स्वर्गद्वारको जाय (और स्नान करे) ; क्योंकि वहाँ (शिष्यद्वारमें) स्नान करनेमें मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है । शिष्यद्वार जानेके पश्चात् तीनों क्षेत्रोंमें विद्यमान अनरक नामके तीर्थमें जाय । उस अनरकके पूर्वमें ब्रह्मा, दक्षिणमें महेश्वर, पश्चिममें रुद्रक्षेत्री एवं उत्तरमें पद्मनाभ और इन सबके मध्यमें अनरक नामका तीर्थ स्थित है ; वह तीनों क्षेत्रोंके त्रिये भी दुर्लभ है— ॥ २३-२५ ॥

यस्मिन् स्नातस्तु मुच्येत पापकैर्यपातकैः । वैशाखे च यद्वा पष्ठी मङ्गलस्य दिग् भयेत् ॥ २६ ॥
 नदा स्नानं तत्र ह्यस्या मुच्ये भवति पातकैः । यः प्रच्छेत्त करकांक्षतुरो भक्षयसंयुताम् ॥ २७ ॥
 कलशं च नवा दद्याद् रूपैः परिशीलितम् । देवताः प्राणयेत् पूर्वं करकैरुत्पन्नसंयुतैः ॥ २८ ॥
 ततस्तु कलशं दद्यात् सर्वपातकनाशनम् । अनेनैव विज्ञानेन यस्तु स्नानं समाचरेत् ॥ २९ ॥
 स मुक्तः कलुषैः सर्वैः प्रदाने परमं पद्मम् । अन्यत्रापि यद्वा पष्ठी मङ्गलेन भविष्यति ॥ ३० ॥

जिस (अनरकतीर्थ)में स्नान करनेवाला मनुष्य छेदे-बड़े राभी पापोंसे छूट जाता है । जब वैशाखमासकी पष्ठी तिथिमें मङ्गल दिन हो तब वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य पापोंमें छूट जाता है । (उम दिन) मध्य पदार्थमें सयुक्त चार करक (करवे या कमण्डलु) एवं मालजुओं आदिमें सुरोभित कण्टारक दान करे । पक्षमें अश्वमे युक्त करकोंसे देवताकी पूजा करे, फिर सम्पूर्ण पापोंके नाश करनेवाले कण्टारक दान करे । जो मानव इस विधानसे स्नान करता है वह सम्पूर्ण पापोंमें छूट जायगा और परमपदको प्राप्त करेगा । इस अतिशुद्ध (वैशाखके सिवा) अन्य समयमें भी मङ्गलके दिन पष्ठी तिथि होनेपर उम तीर्थमें ही दृष्टं पूर्णक क्रिया मुक्ति देनेवाली होगी ॥ २६-३० ॥

तत्रापि मुक्तिफलदा क्रिया तस्मिन् भविष्यति । तीर्थे च सर्वनैत्यानां यस्मिन् स्नानो द्विजोत्तमाः ॥ ३१ ॥
 सर्वदेवैरनुमतः परं पद्मयानुयात् । काम्यकं च यत्नं पुण्यं सर्वपातकनाशनम् ॥ ३२ ॥
 यस्मिन् प्रविष्टमात्रस्तु मुक्तो भवति किलियैः । यमाश्रित्य यत्नं पुण्यं सयिता प्रकटाः स्मिताः ॥ ३३ ॥

पूजा नाम द्विजश्रेष्ठा दर्शनाभ्युक्तिप्राप्त्यात् ।
 आदित्यस्य दिने प्राप्ते तस्मिन् स्नानस्तु मानवः । विनुस्येदेहो भवति मनसा चिन्तितं लभेत् ॥ ३४ ॥
 इति धीवाहनपुराणे एकव्यसःविंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठ द्विजो ! वही समस्त पापोंका विनाश करनेवाला तीर्थ-शिरोमणि काम्यकवन नामका एक तीर्थ है । जो मनुष्य उसमें स्नान करता है, वह सभी देवोंकी अनुमतिसे परमपदको प्राप्त करता है । इस वनमें प्रवेश करनेसे ही मनुष्य अपने समस्त पापोंसे छूट जाता है । इस पवित्र वनमें पूषा नामके सूर्यभगवान् प्रत्यक्ष रूपसे स्थित हैं । द्विजश्रेष्ठो ! उन सूर्यभगवान्के दर्शनसे मुक्ति प्राप्त होती है । रविवारके दिन उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य त्रिशुद्ध-देह हो जाता है और अपने मनोरथको प्राप्त करता है ॥ ३१-३४ ॥

इस प्रकार श्रीचामनपुराणमें एकतालोसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

[अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः]

प्रथम उच्युः

काम्यकस्य तु पूर्वेण कुञ्जं देवैर्निषेचितम् । तस्य तीर्थस्य सम्भूतिं विस्तरेण ब्रवीहि नः ॥ १ ॥

वयालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(काम्यकवन-तीर्थका प्रसङ्ग, सरस्वती नदीकी महिमा और तरसम्बद्ध तीर्थोंका वर्णन)

ऋषियोंने पूछा—(लोमहर्षणजी !) काम्यकवनके पूर्वमें स्थित कुञ्जका आश्रयण देवताओंने किया था, पर उस काम्यकवन तीर्थकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसे आप हमें विस्तारसे बतलाइये ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

ऋष्यन्तु मुनयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् । ऋषीणां चरितं श्रुत्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ २ ॥

नैमिषेयाश्च ऋषयः कुरुक्षेत्रे समानताः । सरस्वत्यास्तु स्नानार्थं प्रवेशं ते न लेभिरे ॥ ३ ॥

ततस्ते फलप्रयामासुस्तीर्थे यज्ञोपवीतिक्रमम् । शेषास्तु मुनयस्तत्र न प्रवेशं हि लेभिरे ॥ ४ ॥

रन्तुकस्याश्रमात्तावद् यावत्तीर्थं सचक्रकम् । ब्राह्मणैः परिपूर्णं तु दृष्ट्वा देवी सरस्वती ॥ ५ ॥

दितार्थं सर्वचिप्राणां कृत्वा कुञ्जानि सा नदी । प्रयाता पश्चिमं मार्गं सर्वभूतहिते स्थिता ॥ ६ ॥

लोमहर्षणजी बोले—(उत्तर दिया)—मुनियो ! आप सभी लोग इस तीर्थके श्रेष्ठ माहात्म्यको सुनें । ऋषियोंके चरित्रको सुननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है । (एक बारकी बात है) नैमिषारण्यके निवासी ऋषि सरस्वती नदीमें स्नान करनेके लिये कुरुक्षेत्र आये । परंतु वे सरस्वतीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश न पा सके । तब उन्होंने यज्ञोपवीतिक नामक एक तीर्थकी कल्पना कर ली । (पर फिर भी) शेष मुनिलोग उसमें भी प्रवेश न पा सके । सरस्वतीने देखा कि रन्तुक आश्रममें सचक्रकृतक जितने भी तीर्थस्थल हैं, वे सबके-सब ब्राह्मणोंसे भर गये हैं । इसलिये सभी ब्राह्मणोंके कल्याणके लिये उस सरस्वती नदीने कुञ्ज बना दिया और सभी प्राणियोंकी भलाईमें तत्पर होकर वह पश्चिम मार्गको (पश्चिमवाहिनी बनकर) चल पड़ी ॥ २-६ ॥

पूर्वप्रवाहं यः स्नाति गङ्गास्नानफलं लभेत् । प्रवाहं दक्षिणे नस्या नर्मदा सरितां वरा ॥ ७ ॥

पश्चिमे तु दिशाभागे यमुना संश्रिता नदी । यदा उत्तरतां याति सिन्धुर्भवति सा नदी ॥ ८ ॥

एवं दिशाप्रवाहेण याति पुण्या सरस्वती । तस्यां स्नातः सर्वतीर्थे स्नातो भवति मानवः ॥ ९ ॥

ततो गच्छेद् द्विजश्रेष्ठा मदनस्य महात्मनः । तीर्थं त्रैलोक्यविख्यातं विहारं नाम नामतः ॥ १० ॥

जो मनुष्य सरस्वतीके पूर्वी प्रवाहमें स्नान करता है, उसे गङ्गामें स्नान करनेका फल प्राप्त होता है । उसके दक्षिणी प्रवाहमें सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा एवं पश्चिम दिशाकी ओर यमुना नदी संश्रित है । किंतु जब वह

उत्तर दिशाकी ओर बढ़ने लग्नी है तो वह सिंधु हो जाती है । इस प्रकार विभिन्न दिशाओंमें वह पवित्र सरस्वती नदी (भिन्न भिन्न रूपोंमें) प्रवाहित होती है । उस सरस्वती नदीमें स्नान करनेवाला मनुष्य मानो सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है । द्विजश्रेष्ठो ! सरस्वती नदीमें स्नान करनेके बाद तीर्थसेही तो तीनों क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध मशाना मदनके 'विहार' नामक तीर्थमें जाना चाहिये ॥ ७-१० ॥

यत्र देवाः समागम्य शिवद्वारं क्राडिन्मणः । समागता न चापद्यन् देयं देव्यात्मन्यितम् ॥ ११ ॥
ते स्तुवन्तो महादेवं नन्दितं गणनायकम् । ततः प्रसन्नो नन्दोद्यः कथयामास घेंचित्रम् ॥ १२ ॥
भयस्य उमया सार्धं विहारे क्रीडितं महत् । तच्छ्रुत्वा देवतास्तत्र पत्नीराहूय क्रीडिताः ॥ १३ ॥
तेषां क्रीडाविनोदेन तुष्टः प्रोवाच शंकरः । योऽस्मिन्तीर्थे नरः स्नानि विहारे श्रद्धयान्वितः ॥ १४ ॥
धनधान्यप्रियैर्युक्तो भवते नात्र संशयः । दुर्गातीर्थे नतो गच्छेद् दुर्गाया सेवितं महत् ॥ १५ ॥

जहाँपर भगवान् शिवके दर्शनमिलानी देवता आये, पर वे उमासहित शिवका दर्शन न कर पाये । वे लोग गणनायक महादेव नन्दीकी स्तुति करने लगे । इससे नन्दीस्वर प्रसन्न हो गये और (उन्होंने) उमाके साथ की जा रही शिवकी महती विहार-क्रीडाका वर्णन किया । यह सुनकर देवताओंने भी अपनी पत्नियोंके बुझावा और उनके साथ (उन लोगोंने भी) क्रीडा की । उनके क्रीडा-विनोदसे शंकर प्रसन्न हो गये और बोले—इस विहार-तीर्थमें जो श्रद्धाके साथ स्नान करेण, वह निःसंदेह धन-धान्य एवं प्रिय मन्त्रिषोंमें सम्पन्न होय । उमा-शिवके विहार-स्थलकी यात्राके बाद दुर्गमें प्रतिष्ठित उस मशान् दुर्गातीर्थमें जाना चाहिये— ॥ ११-१५ ॥

यत्र ज्ञात्वा पितृन् पुत्र्य न दुर्गतिमवाप्नुयात् । तत्रापि च सरस्वत्याः शूपं प्रैत्येकप्रयिधुनम् ॥ १६ ॥
दर्शानामुक्तिमामोनि सर्वपातकपरिजितः । यत्तत्र तपंयेद् देवान् पितृन् श्रद्धयान्वितः ॥ १७ ॥
मङ्गल्यं लभते सर्वं पितृतीर्थे निशिष्यते । मातृहा पितृहा यच्च प्रजाहा शुक्ललागः ॥ १८ ॥
ज्ञात्वा शुक्तिमवामोनि यत्र प्राची सरस्वती । देवमार्गं प्रविश्या च देवमार्गं निःशुता ॥ १९ ॥

जहाँ ज्ञानरत्न वितरणकी पूजा करनेसे मनुष्यको दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होती । उसी स्थानपर तीनों क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध सरस्वतीका एक रूप है । उसका दर्शन करनेवाले ही मनुष्य सभी पापोंसे रहित हो जाता है और मुक्ति प्राप्त करता है । जो वहाँ श्रद्धापूर्वक देवता और वितरण तथा करता है, वह व्यक्ति समस्त अधर्म्य (कभी भी नष्ट न होनेवाले) पदार्थोंको प्राप्त करता है । निर्दोषकी शिरोन मरुता है । उस तीर्थमें गता, पिता और माताका धातक तथा गुरुपत्नीगामी भी स्नान करनेसे (ही) शुद्ध हो जाता है । वही पूर्ण दिशाकी ओर बढ़नेवाली सरस्वती देव-मार्गमें प्रविष्ट होकर देवमार्गसे ही निकली हुई है ॥ १६-१९ ॥

प्राची सरस्वती पुण्या अपि दुष्कृतकर्मणाम् । विरायं ये करिष्यन्ति प्राचीं प्राप्य सरस्वतीम् ॥ २० ॥
न तेषां दुष्कृतं किंचिद् देहमाश्रित्य तिष्ठति । नरनापयणी देवो प्रजा व्याणुस्तया रषिः ॥ २१ ॥
प्राचीं दिशं निषेयन्ते सदा देवाः सवासवाः । ये तु धादं करिष्यन्ति प्राचीमाश्रित्य मानवाः ॥ २२ ॥
तेषां न दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च । तस्मात् प्राचीं सदा सेव्या पञ्चम्यां च निर्दोषतः ॥ २३ ॥
पञ्चम्यां सेवमानस्तु लक्ष्मोपाञ्जायते नरः । तत्र तीर्थमीशानसं प्रैजोपयन्त्यापि दुर्लभम् ॥ २४ ॥
उदात्ता यत्र संसिद्ध आराध्य परमेश्वरम् । प्रथमयेषु पूज्यते तस्य तीर्थस्य सेवनात् ॥ २५ ॥

पूर्वादिनी सरस्वती दुष्कर्मियोंके लिये भी पुण्य देनेवाली है । जो प्राची सरस्वतीके किन्तु उत्तर दिशाका करता है, उसके शरीरमें कोई पाप नहीं रह जाता । नर और नासयन—ये दोनों देव, इन्द्र, ब्रह्मा, इत्यादि सर्व

एवं इन्द्रसहित सभी देवता प्राची दिशाका सेवन करते हैं। जो मानव प्राची सरस्वतीमें श्राद्ध करेंगे, उन्हें इस लोक तथा परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। अतः प्राची सरस्वतीका सर्वदा सेवन करना चाहिये—विशेषतः पञ्चमीके दिन। पञ्चमी तिथिको प्राची सरस्वतीका सेवन करनेवाला मनुष्य लक्ष्मीवान् होता है। वहीं तीनों लोकोंमें दुर्लभ औशनस नामका तीर्थ है, जहाँ परमेश्वरकी आराधना कर शुक्राचार्य सिद्ध हो गये थे। उस तीर्थका सेवन करनेसे ग्रहोंके मध्य उनकी पूजा होती है ॥ २०—२५ ॥

एवं शुक्रेण मुनिना सेवितं तीर्थमुत्तमम् । ये सेवन्ते श्रद्धधानास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ २६ ॥
यस्तु श्राद्धं नरो भक्त्या तस्मिंस्तोयं करिष्यति । पितरस्तारितास्तेन भविष्यन्ति न संशयः ॥ २७ ॥
चतुर्मुखं ब्रह्मतीर्थं सरो मर्यादाया स्थितम् । ये सेवन्ते चतुर्दश्यां सोपवासा वसन्ति च ॥ २८ ॥
अष्टम्यां कृष्णपक्षस्य चैत्रे मासि द्विजोत्तमाः । ते पश्यन्ति परं सूक्ष्मं यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ २९ ॥
स्थाणुतीर्थं ततो गच्छेत् सहस्रलिङ्गशोभितम् । तत्र स्थाणुवटं दृष्ट्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ ३० ॥
इति श्रीवामनपुराणे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार शुक्रमुनिके द्वारा सेवित उत्तम तीर्थका जो श्रद्धापूर्वक (स्वयं) सेवन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। उस तीर्थमें भक्तिपूर्वक जो व्यक्ति श्राद्ध करेगा, उसके द्वारा उसके पितर निःसन्देह तर जायँगे। द्विजोत्तमो। जो सरोवरकी मर्यादासे स्थित चतुर्मुख ब्रह्मतीर्थमें चतुर्दशीके दिन उपवास-व्रत करते हैं तथा चैत्रमासके कृष्णपक्षकी अष्टमीतक निवास करके तीर्थका सेवन करते हैं, उन्हें परम सूक्ष्म- (तत्त्व-) का दर्शन प्राप्त होता है; जिससे वे पुनः संसारमें नहीं आते। ब्रह्मतीर्थके नियम पालन करनेके बाद सहस्रलिङ्गसे शोभित स्थाणुतीर्थमें जाय। वहाँ स्थाणुवटका दर्शन प्राप्त कर मनुष्य पापोंसे विमुक्त हो जाता है ॥ २६—३० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें वयालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः]

श्रुणु कच्चुः

स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं वटस्य च महामुने । सांनिहत्यसरोत्पत्तिं पूरणं पांशुना ततः ॥ १ ॥
लिङ्गानां दर्शनात् पुण्यं स्पर्शनेन च किं फलम् । तथैव सरमाहात्म्यं ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ २ ॥
तैतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और सांनिहत्य सरोवरके सम्बन्धमें प्रश्न और ब्रह्माके हवालेसे लोमहर्षणका उत्तर)

(स्थाणुतीर्थमें जाने तथा स्थाणुवटके दर्शनसे मुक्ति-प्राप्ति होनेकी बात सुननेके बाद) ऋषियोंने पूछा—
महामुने ! आप स्थाणुतीर्थ एवं स्थाणुवटके माहात्म्य तथा सांनिहत्य सरोवरकी उत्पत्ति और इन्द्रद्वारा उसके धूलसे भरे जानेके कारणका वर्णन करें। (इसी प्रकार) लिङ्गोंके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा स्पर्शसे होनेवाले फल और सरोवरके माहात्म्यका भी पूर्णतः वर्णन करें ॥ १—२ ॥

लोमहर्षण उवाच

श्रुण्वन्तु मुनयः सर्वे पुराणं वामनं महत् । यच्छ्रुत्वा मुक्तिमाप्नोति प्रसादाद् वामनस्य तु ॥ ३ ॥
सनत्कुमारमासीनं स्थाणोर्वटसमीपतः । ऋषिभिर्बालखिल्याद्यैर्ब्रह्मपुत्रैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥
मार्कण्डेयो मुनिस्तत्र विनयेनाभिगम्य च । पप्रच्छ सरमाहात्म्यं प्रमाणं च स्थितिं तथा ॥ ५ ॥

लोमहर्षणजी बोले—मुनिषो ! आपलोग महान् वामनपुराणको श्रवण करें, जिसका श्रवण कर मनुष्य वामनभगवान्‌की कृपासे मुक्ति पा लेता है । (एक समय) ब्रह्माके पुत्र सनकुमार महान्ना वाग्दिव्य आदि ऋषियोंके साथ स्थाणुवटके पास बैठे हुए थे । महर्षि मार्कण्डेयने उनके निकट जाकर नमनपूर्वक मरोघरके माहात्म्य, उसके विस्तार और स्थितिके विषयमें पूछा—॥ ३-५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मपुत्र महाभाग सर्वशास्त्रविशारद । ब्रूहि मे सरमाहात्म्यं सर्वपापशुचयहम् ॥ ६ ॥
 कानि तीर्थानि दृश्यानि गुह्यानि द्विजसत्तम । लिङ्गानि ह्यतिपुण्यानि स्थाणोर्वानि समीपनः ॥ ७ ॥
 येषां दर्शनमात्रेण मुक्तिं प्राप्नोति मानवः । घटस्य दर्शनं पुण्यमुत्पत्तिं कथयस्व मे ॥ ८ ॥
 प्रदक्षिणायां यत्पुण्यं तीर्थस्नानेन यत्कालम् । गुह्येषु चैव दृष्टेषु यत्पुण्यमभिजायते ॥ ९ ॥
 देवदेवो यथा स्थाणुः सरोजये व्यवस्थितः । किमर्थं पांशुना शक्रस्तोत्रे पूरितयान् पुनः ॥ १० ॥
 स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं चक्रतीर्थस्य यत्कालम् । सूर्यतीर्थस्य माहात्म्यं सोमतीर्थस्य ब्रूहि मे ॥ ११ ॥
 शंकरस्य च गुह्यानि विष्णोः स्थानानि यानि च । कथयस्व महाभाग सरस्वत्याः सविस्तारम् ॥ १२ ॥
 ब्रूहि देवाधिदेवस्य माहात्म्यं देव तत्त्वतः । विरिञ्चस्य प्रसादेन यिदितं सर्वमेव च ॥ १३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा (पूछा)—सर्वशास्त्रविशारद महानाग ब्रह्मपुत्र (सनकुमार) ! आप मुझसे सभी

पापोंके नष्ट करनेवाले सरोवरके माहात्म्यको कहिये । द्विजश्रेष्ठ ! स्थाणुतीर्थके पास कौन-कौन-से तीर्थ दृश्य हैं और कौन-कौन-से अदृश्य और कौन-से लिङ्ग अत्यन्त पवित्र हैं, जिनका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है । मुने ! आप स्थाणुवटके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा उसकी उत्पत्तिके विषयमें भी कहिये—बनाइये । इनकी प्रदक्षिणा करनेसे होनेवाले पुण्य, तीर्थमें स्नान करनेसे मिटनेवाले फल एवं गुप्त तीर्थों तथा प्रकट तीर्थोंके दर्शनसे मिलनेवाले पुण्यका भी वर्णन करें । प्रभो ! सरोवरके मध्यमें देवाधिदेव स्थाणु (शिव) किम प्रकार स्थित हुए और किस कारणसे इन्द्रने इस तीर्थको पुनः धूमिसे भर दिया ? आप स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, चक्रतीर्थका फल एवं सूर्यतीर्थ तथा सोमतीर्थका माहात्म्य—इन सबको मुझसे कहिये । महाभाग ! सरस्वतीके निकट शंकर तथा विष्णुके जो-जो गुप्त स्थान हैं उनका भी आप विस्तारपूर्वक वर्णन करें । देव ! देवाधिदेवके माहात्म्यको और नयीमूर्ति बनाइये; क्योंकि ब्रह्माजी कृपासे आपको सब कुछ विदित है ॥ ६-१३ ॥

लोमहर्षण उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्या ब्रह्मात्मा स महामुनिः । अतिभक्त्या तु तीर्थस्य प्रवर्णाटितमानसः ॥ १४ ॥
 पर्यङ्गं शिथिलोक्त्या नमस्कृत्या महेश्वरम् । कथयामास तत्सर्वं यत्पुत्रं ब्रह्मणः पुत्र ॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेयके वचनको सुनकर ब्रह्मक्षर्य्य महामुनिक मन उस तीर्थके प्रति अत्यन्त भक्ति-प्रवण होनेसे गद्गद हो गया । उन्होंने आसन्से उठकर भगवान् शंकरको प्रणाम किया तथा प्राचीनकालमें ब्रह्मासे इसके विषयमें जो कुछ सुना था उन सबका वर्णन किया ॥ १४-१५ ॥

सनकुमार उवाच

नमस्कृत्या महादेवमीशानं पर्यङ्गं शिथिलम् । उत्पत्तिं च प्रपश्यामि तीर्थानां प्रायभाषिताम ॥ १६ ॥
 पूर्वमेकाग्रं धारे नष्टे स्वधरजङ्गमे । बृहद्वन्द्वमभूदेकं प्रजानां पीतमम्भयम् ॥ १७ ॥
 तस्मिन्प्रण्डे स्थितो ब्रह्मा शयनायोपचक्रमे । राहभ्रवुगपयन्तं सुप्त्या स प्रपशुष्यत ॥ १८ ॥
 सुप्तोत्थितस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमपश्यत । ह्ये चिन्तयत्तत्तमा रजसा मोहितस्य च ॥ १९ ॥

सनत्कुमारने कहा—मैं कल्याणकर्ता, वरदानी महादेव ईशानको नमस्कार कर ब्रह्मासे कहे हुए तीर्थकी उत्पत्तिके विषयमें वर्णन करूँगा । प्राचीन कालमें जब महाप्रलय हो गया और सर्वत्र केवल जल-ही-जल हो गया एवं उसमें समस्त चर-अचर जगत् नष्ट हो गया, तब प्रजाओंके बीजस्वरूप एक 'अण्ड' उत्पन्न हुआ । ब्रह्मा उस अण्डमें स्थित थे । उन्होंने उसमें अपने सोनेका उपक्रम किया । फिर तो वे हजारों युगोंतक सोते रहे । उसके बाद जगे । ब्रह्मा जब सोकर उठे, तब उन्होंने संसारको शून्य देखा । (जब उन्होंने संसारमें कुछ भी नहीं देखा) तब रजोगुणसे आविष्ट हो गये और सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे ॥ १६-१९ ॥

रजः सृष्टिगुणं प्रोक्तं सर्वं स्थितिगुणं विदुः । उपसंहारकाले च तमोगुणः प्रवर्तते ॥ २० ॥
गुणातीतः स भगवान् व्यापकः पुरुषः स्मृतः । तेनेदं सकलं व्याप्तं यत्किञ्चिज्जीवसंक्षितम् ॥ २१ ॥
स ब्रह्मा स च गोविन्द ईश्वरः स सनातनः । यस्तं वेदं महात्मानं स सर्वं वेदं मोक्षवित् ॥ २२ ॥
किं तेषां सकलैस्तीर्थैराश्रमैर्वा प्रयोजनम् । येषामनन्तकं चित्तमात्मन्येव व्यवस्थितम् ॥ २३ ॥

रजोगुणको सृष्टिकारक तथा सत्वगुणको स्थितिकारक माना गया है । उपसंहार करनेके समयमें तमोगुणकी प्रवृत्ति होती है । परंतु भगवान् वास्तवमें व्यापक एवं गुणातीत हैं । वे पुरुष नामसे कहे जाते हैं । जीव नामसे निर्दिष्ट सारे पदार्थ उन्हींसे ओतप्रोत हैं । वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं और वे ही सनातन महेश्वर हैं । मोक्षके ज्ञानी जिस प्राणीने उन महान् आत्माको समझ लिया, उसने सब कुछ जान लिया । जिस मनुष्यका अनन्त (बट्टमुखी) चित्त उन परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित है, उनके लिये सारे तीर्थ एवं आश्रमोंसे क्या प्रयोजन ? ॥ २०-२३ ॥

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलसमाधियुक्ता ।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ २४ ॥
पनत्रधानं पुरुषस्य कर्म यदात्मसम्बोधसुखे प्रविष्टम् ।
तेषां तदेव प्रयदन्ति सन्तस्तत्राप्य देहा विजहाति कामान् ॥ २५ ॥
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति चित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीले स्थितिर्दण्डविधानवर्जनमक्रोधनश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ २६ ॥

पतद् ब्रह्म समासेन मयोक्तं ते द्विजोत्तम । यज्ज्ञात्वा ब्रह्म परमं प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥ २७ ॥
इदानीं शृणु चोत्पत्तिं ब्रह्मणः परमात्मनः । इमं चोदाहरन्त्येव श्लोकं नारायणं प्रति ॥ २८ ॥

यद् आत्मास्त्री नदी शील और समाप्तिसे युक्त है । इसमें संयमरूपी पवित्र तीर्थ है, जो सत्यरूपी जलसे परिपूर्ण है । जो पुण्यात्मा इस (नदी)में स्नान करता है, वह पवित्र हो जाता है, (पिये जानेवाले सामान्य) जलसे अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं होती । इसलिये पुरुषका मुख्य कर्तव्य है कि वह आत्मज्ञानरूपी सुखमें प्रविष्ट रहें । महात्मा लोग अभी तो 'हेया' कहते हैं । शरीर धारण करनेवाला देही जब उसे पा लेता है, तब सभी इच्छाओंको छोड़ देता है । ब्राह्मणके लिये एकता, समता, सत्यता, मर्यादामें स्थिति, दण्ड-विधानका त्याग, क्रोध न करना एवं (सांसारिक) विवाहोंसे विराग ही धन है, इनके समान उनके लिये कोई अन्य धन नहीं है । द्विजोत्तम ! मैंने थोड़ी मात्रामें तुमसे यह जो ज्ञानके विषयमें कहा है, इसे जानकर तुम निःसंदेह परम ब्रह्मको प्राप्त करोगे । अब तुम परमात्मा ब्रह्मकी उपाधिके विषयमें सुनो । उस नागगणके विषयमें लोग इन श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं— ॥ २४-२८ ॥

आपो नारा वै तनय इत्येवं नाम शुभम् । तासु दोने स पसास्य तेन नारायणः स्मृतः ॥ २९ ॥
 विबुद्धः सलिले तस्मिन् विशायान्तर्गतं जगत् । अण्डं विभेद भगवांस्तस्मादोमिषजायत ॥ ३० ॥
 ततो भूतभवत् तस्माद् भुय इत्यपरः स्मृतः । सः शब्दश्च धर्मायोऽमृद् भूर्भुवः स्येति संश्रितः ॥ ३१ ॥
 तस्मात्तेजः समभवत् तत्सवितुर्वरेण्यं यत् । उदकं शोषयामस यत्तेजोऽण्डविनिःसृतम् ॥ ३२ ॥

'आप्' (जल) ही को 'नार', (एवं परमात्मा) को 'तनु'—ऐसा हमने सुन रखा है । 'वे' (परमात्मा) उसमें शयन करते हैं, जिसमें वे (शब्दयुगतिसे) 'नारायण' शब्दसे स्मरण किये गये हैं । जलमें सोनेके बाद जाग जानेपर उन्होंने जगत्को अपनेमें प्रविष्ट जानकर अण्डको तोड़ दिया, उससे 'उ' शब्दकी उत्पत्ति हुई । इसके बाद उससे (पहली बार) भूः, दूसरी बार भुवः एवं तीसरी बार स्व.की उत्पत्ति (चानि) हुई । इन तीनोंका नाम क्रमशः मिलकर 'भूर्भुवःस्वः' हुआ । उस सक्ति देवताका जो वरेण्य तेज है, वह उसीमें उपज हुआ । अण्डसे जो तेज निकल, उसने जलको सुखा दिया ॥ २९-३२ ॥

तेजसा शोषितं शेषं कललत्वमुपागतम् । कललाद् बुद्बुदं शेषं ततः काठिन्यतां गतम् ॥ ३३ ॥
 काठिन्याद् धरणां श्रेया भूतानां धारिणी हि सा । यस्मिन् स्थाने स्थितं षण्डं तस्मिन् संनिहितं सारम् ॥ ३४ ॥
 यदार्यं निःसृतं तेजस्तस्मादादित्य उच्यते । अण्डमध्ये समुत्पद्यो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ३५ ॥
 उद्वं तस्याभयन्मेरुर्जरायुः पर्यताः स्मृताः । गर्भोदकं समुद्राश्च तथा नद्यः सहस्रदाः ॥ ३६ ॥
 नाभिस्थाने यदुदकं ब्रह्मणो निर्मलं महान् । महत्सरस्तेन पूर्णं विमलेन पराम्भसा ॥ ३७ ॥

तेजसे जलके सोखे जानेपर शेष जल कललकी आकृतिमें बदल गया । कललसे बुद्बुद हुआ और उसके बाद वह कठोर हो गया । कठोर हो जानेके कारण वह बुद्बुद भूनीके धारण करनेवाली धरणी बन गया । जिस स्थानपर अण्ड स्थित था, वही संनिहित नामका सरोवर है । तेजके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण उसे 'आदित्य' नामसे कहा जाता है । फिर सारे संसारके पितामह ब्रह्मा अण्डके मध्यमें उत्पन्न हुए । उस अण्डपर उद्व (गर्भेश्वर आवरण) मेरु पर्वत है एवं अन्य पर्वत उसके जरायु (सिद्धि) माने जाते हैं । समुद्र एवं सहस्रों नदियाँ गर्भके जल हैं । ब्रह्माके नाभि-स्थानमें जो विशाल निर्मल जल रहता है, उस स्वच्छ श्रेष्ठ जलमें महान् सरोवर भाग्य हुआ ॥ ३३-३७ ॥

तस्मिन् मध्ये स्थाणुरूपो वटवृक्षो महामनाः । तस्माद् विनिर्याता वर्णा प्रासज्याः क्षत्रिया विशाः ॥ ३८ ॥
 शूद्राश्च तस्मादुत्पन्नाः शुभ्रपार्थ द्विजन्मनाम् ।

तत्रध्विन्तयतः सृष्टिं ब्रह्मणोऽप्यकजन्मनः । मनसा मानसा ज्ञानाः सनकाद्या महर्षयः ॥ ३९ ॥
 पुनर्ध्विन्तयतस्तस्य प्रजाकामस्य धीमतः । उत्पन्ना ऋषयः सप्त ते प्रजापतयोऽभवन् ॥ ४० ॥
 पुनर्ध्विन्तयतस्तस्य रजसा मोहितस्य च । धाल्यदित्या नमुत्पन्नास्तपःसाध्यायनत्पराः ॥ ४१ ॥

उस सरोवरके मध्यमें स्थाणुके आकारका महान् विशाल एक वटवृक्ष है । प्राज्ञग, भ्रष्ट्रिय और वंश्य—ये तीनों वर्ग उससे निकले और द्विजोंकी शुद्धी करनेके लिये उसीसे शूद्रोंकी भी उत्पत्ति हुई । (इस प्रकार चारों वर्गोंकी सृष्टि सरोवरके मध्यमें स्थाणुरूपसे स्थित वटवृक्षसे हुई) । उसके बाद सृष्टिकी चिन्ता करते हुए अत्यक-जन्मा ब्रह्माके मनसे सनकादि महर्षियोंकी उत्पत्ति हुई । फिर प्रजाकी इच्छासे चिन्तन कर रहे महिमान् ब्रह्मसे सात ऋषि उत्पन्न हुए । वे प्रजापति हुए । रजोगुणसे मोहित होकर ब्रह्मने जब पुनः चिन्तन किया, तब तब एवं साध्यायने परायण बालकिये ऋषियोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ३८-४१ ॥

ते सदा स्नाननिरता देवार्चनपरायणाः । उपवासैर्व्रतैस्तीव्रैः शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४२ ॥
 वानप्रस्थेन विधिना अग्निहोत्रसमन्विताः । तपसा परमेणेह शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४३ ॥
 दिव्यं वर्षसहस्रं ते कृशा धमनिसंतताः । आराधयन्ति देवेशं न च तुष्यति शंकरः ॥ ४४ ॥
 ततः कालेन महता उमया सह शंकरः । आकाशमार्गेण तदा दृष्ट्वा देवीं सुदुःखिता ॥ ४५ ॥
 प्रसाद्य देवदेवेशं शंकरं प्राह सुधृता । क्लिश्यन्ते ते मुनिगणा देवदारुवनाश्रयाः ॥ ४६ ॥
 तेषां श्लेशक्षयं देव विधेहि कुरु मे दयाम् । किं वेदधर्मनिष्ठानामनन्तं देव दुष्कृतम् ॥ ४७ ॥
 नाद्यापि येन शुद्ध्यन्ति शुष्कस्ताव्यस्थिशोपिताः ।

तच्छ्रुत्वा वचनं देव्याः पिनाकी पातितान्धकः । प्रोवाच प्रहसन् मूर्ध्नि चारुचन्द्रांशुशोभितः ॥ ४८ ॥

वे सर्वदा स्नान (शुद्धि) करनेमें निरत तथा देवताओंकी पूजा करनेमें विशेषरूपसे लगे रहते तथा उपवासों एवं तीव्र व्रतोंसे अपने शरीरको सुखाये जा रहे थे । अग्निहोत्रसे युक्त होकर वानप्रस्थकी विधिसे वे उत्कृष्ट तपस्या करते और अपने शरीर सुखाते जाते थे । वे लोग अत्यन्त दुर्बल एवं कंकाल-काय होकर सहस्र दिव्य वर्षोंतक देवेशकी उपासना करते रहे; परंतु भगवान् शंकर प्रसन्न न हुए । उसके बहुत दिनोंके बाद उमाके साथ भगवान् शंकर आकाश-मार्गसे भ्रमण कर रहे थे । धार्मिक कार्योंको करनेवाली उमा (बालखिल्योंको) इस प्रकारकी दशा (कंकालमात्र) देखकर दुःखी हो गयीं और दुःखी होकर देवदेवेश शंकरको प्रसन्नकर कहने लगीं—देव ! देवदारु वनमें रहनेवाले वे मुनिगण क्लेश उठा रहे हैं । देव ! मेरे ऊपर दया करें । आप उनके क्लेशका विनाश करें । देव ! वैदिक धर्ममें निष्ठा रखनेवाले इन (तपस्वियों) के कौन ऐसा अनन्त दुष्कृत है, जिससे ये कङ्कालमात्र होनेपर भी अबतक शुद्ध नहीं हुए ? अधकको मार गिरानेवाले, चन्द्रमाकी मनोहर किरणोंसे सुशोभित सिरवाले पिनाकधारी शंकरजी उमाकी बातको सुनकर हँसते हुए बोले—॥ ४२-४८ ॥

श्रीमहादेव उवाच

न वेत्सि देवि तत्त्वेन धर्मस्य गहना गतिः । नैते धर्मं विजानन्ति न च कामचिवर्जिताः ॥ ४९ ॥
 न च क्रोधेन निर्मुक्ताः केवलं मूढबुद्धयः । एतच्छ्रुत्वाऽव्रवाद् देवी मा मैत्रं शंसितव्रतान् ॥ ५० ॥
 देव प्रदर्शयात्मानं परं कौतूहलं हि मे । स इत्युक्त उवाचेदं देवीं देवः स्मिताननः ॥ ५१ ॥
 तिष्ठ त्वमत्र यास्यामि यत्रैते मुनिपुंगवाः । साधयन्ति तपो घोरं दर्शयिष्यामि चेष्टितम् ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—देवि ! धर्मकी गति गहन होती है । तुम उसे तत्त्वतः नहीं जानती । ये लोग न तो धर्मज्ञ हैं और न कामशून्य । ये क्रोधसे मुक्त भी नहीं हैं और विचार-रहित हैं । यह सुनकर उमादेवीने कहा—नहीं, व्रत धारण करनेवाले इन लोगोंको ऐसा मत कहिये; (प्रत्युत) देव ! आप अपनेको प्रकट करें । निश्चय ही मुझे बड़ा कौतूहल है । उमाके ऐसा कहनेपर शंकरने मुस्कराकर देवीसे इस प्रकार कहा—अच्छ, तुम यहाँ रको । ये मुनिश्रेष्ठ जहाँ घोर तपस्याकी साधना कर रहे हैं, वहाँ जाकर मैं इनकी चेष्टा कैसी है, उसे दिखलाता हूँ ॥ ४९-५२ ॥

इत्युक्त्वा तु ततो देवीं शंकरेण महात्मना । गच्छस्वैः प्राह मुदिता भर्तारं भुवनेश्वरम् ॥ ५३ ॥
 यत्र ते मुनयः सर्वे फाटलोष्ठसमाः स्थिताः । अधीयाना महाभागाः कृताग्निसदनक्रियाः ॥ ५४ ॥
 तान् विलोष्य ततो देवो नग्नः सर्वाङ्गसुन्दरः । वनमालाकृतापीडो युवा भिक्षाकपालभृत् ॥ ५५ ॥
 आश्रमे पर्यटन् भिक्षां मुनीनां दर्शनं प्रति । देहि भिक्षां ततश्चोक्त्वा ह्याश्रमादाश्रमं ययौ ॥ ५६ ॥

जब महात्मा शररने देवी उमासे इस प्रकार कहा तब उमादंड प्रसन्न हो गयीं और मुन्नोंके पात्र करनेवाले मुन्नेश्वर शिखे बोलीं—अच्छा, जिस स्थानपर लकड़ी आर मिट्टी के टेलके सनान निग्नेट, अग्निहोत्री एवं अध्ययनमें लगे हुए मुनिगण रहते हैं, उस स्थानपर आप जायें । (तिर उमाद्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जानेपर शंकरजी मुनिमण्डलीकी ओर जानेके त्रिये प्रस्तुत हो गये) तिर संरुने उम मुनिमण्डलीको देखकर बतमात्र धारण कर लिया । तब वे सर्गाङ्गसुन्दर (पर) नग्न-सुडौल देह धारण कर युवाके रूपमें हो गये और भिक्षा-मात्र हाथमें लेकर मुनियोंके सामने भिक्षाके लिये धमका करते हुए 'भिक्षा दो' यह कहने हुए एक आश्रममें दूसरे आश्रममें जाने लगे ॥ ५३-५६ ॥

तं विलोक्याश्रमगतं योषितो ब्रह्मवादिनाम् । सर्कातुकस्याभावेन तस्य रूपेण मोहिताः ॥ ५७ ॥
 प्रोक्षुः परस्परं नार्यं पदि पश्याम भिक्षुकम् । परस्परमिति चोक्त्या गृह्य मूलफलं बहु ॥ ५८ ॥
 गृहाण भिक्षाम्बुक्षुस्तासं देवं मुनिशोषितः । स तु भिक्षाकपालं तं प्रसार्य बहु स्मादरम् ॥ ५९ ॥
 देहि देहि दिवं योऽस्तु भवतीत्यस्तपोवने ।

हसमानस्तु देवेशस्तत्र देव्या निरीक्षितः । तस्मै दारयै तां भिक्षां पमच्युस्त्वं सरानुगः ॥ ६० ॥

एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें घूम रहे उन नग्न युवाको देखकर ब्रह्मवादिनोंकी बिर्यो उमुन्नतने मय स्वभाववशा उनके रूपसे मोहित हो गयीं और परस्परमें कहने लगीं—आओ, भिक्षुको देना जाय । अपनमें इस प्रकार कहकर बहुत-सा मूल-फल लेकर मुनि-पत्नियोंने उन देरसे कहा—अप भिक्षा ग्रहण करें । उन्होंने भी अत्यन्त आदरसे उस भिक्षापात्रको फैलाकर (सामने दिखाकर) कहा—नगोनरामिनियो ! (भिक्षा) दो, दो ! आप सक्ता कल्याण हो । पार्वतीजी यहाँ हैंसने हुए धारणो उम रनी थीं । कानातुर मुनिपत्नियोंने उस नग्न युवाको भिक्षा देकर उनमें पूजा ॥ ५७-६० ॥

नाम कुतु

कांडसां नाम वनविधित्त्वया तापम संयतं ।

यत्र नग्नेन लिङ्गेन धनमालाविभूषितं । भवान् वै तापमो हृद्यो हृद्यः स्या यदि मन्यसे ॥ ६१ ॥
 इत्युक्तस्तापसीभिस्तु प्रोवाच हसिताननः । इदमीदम् वने किंचिन्न रहस्यं प्रकाशयते ॥ ६२ ॥
 शृण्वन्ति बहवो यत्र तत्र व्याख्या न श्रियते । अस्य धनस्य सुभगा इति मया गमिष्यथ ॥ ६३ ॥
 पथमुकास्तदा तेन ता प्रन्यूचुस्तदा मुनिम् । रहस्ये हि गमिष्यामो मुने न कौतुकं महत् ॥ ६४ ॥

मुनिपत्नियोंने पूछा—तापस ! आप किस वनेके विगानका पात्रन कर रहे हैं, त्रिमने बतमात्रने विभूषित हदपहारी तपस्वीम सुन्दर स्वरूप धारण कर नग्न-सुति बनना पड़ा है ! आप हमारे हदपर आनन्दप्रद नाम हैं, यदि आप मानें तो हम भी आपकी मनोसुडौल प्रिया हो मरती हैं । उन्होंने तपस्वियोंके इस प्रकार कहनेपर हैंसते हुए कहा—यह वन ऐसा है कि इसका कुतु भी रहस्य प्रकट नहीं किया जा सकता । सौभाग्यशक्तिनियो ! जहाँ बहुत-से सुननेवाले हो वहाँ इस वनकी व्याख्या नहीं की जा सकती । इमत्रिये यह बातकर आप सभी चली जायें । उनके ऐसा कहनेपर उन्होंने मुनिमें कहा—मुने ' हम सब (यह जाननेके त्रिये) पञ्चान्तमें चलेंगी ; (क्योंकि) हमें मरान् रौतुहल हो रहा है ॥ ६१-६४ ॥

इत्युक्त्वा तास्तदा तं वै जगृहुः पाणिपल्लवैः । काचित् कण्ठे सक्न्दर्या बह्म्यामपगस्तथा ॥ ६५ ॥
 जानुभ्यामपरा नार्यः केदोषु ललितापराः । अपरास्तु कटीरन्ध्रे अपराः पादयोरपि ॥ ६६ ॥
 क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमेषु स्वयोपिताम् । हन्यतामिति संभाष्य बाह्यपागल्लवाजयः ॥ ६७ ॥
 पातपन्ति स देयस्य लिङ्गमुद्गृह्य भरणम् । पानिते तु तनो लिङ्गे मनोऽन्तर्धानमाभ्यन् ॥ ६८ ॥

यद् कष्टकर उत मभीने उनको अपने क्रोमठ हाथोंसे पकड़ लिया । कुछ क्रमसे आतुर होकर कण्ठसे त्रिपट गर्गी और कुञ्जने उन्हें भुजाओंमें बाँध लिया; कुछ स्त्रियोंने उन्हें घुटनोंसे पकड़ लिया; कुछ सुन्दरी स्त्रियों उनके केश झूने लगीं; और कुछ उनकी कमरसे त्रिपट गर्गी एवं कुञ्जने उनके पैरोंको पकड़ लिया । मुनियोंने आश्रममें अपनी स्त्रियोंकी अधीरता देख 'मारो-मारो'—इस प्रकार कहते हुए हाथोंमें डंडा और पत्थर लेकर शिवके लिङ्गको ही उल्थाड़कर फेंक दिया । लिङ्गके गिरा दिये जानेपर भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये ॥ ६५-६८ ॥

देव्या न भगवान् रुद्रः कैलासं नगमाश्रितः । पतिते देवदेवस्य लिङ्गे नष्टे चराचरे ॥ ६९ ॥
श्लोभो वसूय सुमहान्प्रयोगां भाषितात्मनाम् । एवं देवे तदा तत्र वर्तन्ति व्याकुलीकृते ॥ ७० ॥
उवाचैको मुनिवरस्तत्र बुद्धिमतां वरः । न वयं विद्मः सद्भावं तापसस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥
विरिञ्चि शरणं यामः न हि प्राप्नुवन्ति चेष्टितम् । पवसुन्ताः सर्व एव ऋषयो लज्जिता भृशम् ॥ ७२ ॥

वे भगवान् रुद्र उमादेवीके साथ कैलास पर्वतपर चले गये । देवदेव शंकरके लिङ्गके गिरनेपर प्रायः समस्त चर-अचर जगत नष्ट हो गया । इसमें आत्मनिष्ठ मर्षिपर्याको व्याकुलता हुई । इसी प्रकार देवके (भी) व्याकुल हो जानेपर एक अत्यन्त बुद्धिमान् श्रेष्ठ मुनिने कहा—हम उन महात्मा तापसके सद्भाव (सदाशय)को नहीं जानते । हम ब्रह्माकी शरणमें चले । वे ही उनकी चेष्टा (गृह्य) समझ सकेंगे । ऐसा कहनेपर सभी ऋषि अत्यन्त लज्जित हो गये ॥ ६९-७२ ॥

ब्राह्मणः सदनं जग्मुर्देवैः सह निषेधितम् । प्रणिपत्याथ देवेशं लज्जयाऽश्रोमुखाः स्थिताः ॥ ७३ ॥
अथ तान् दुःखितान् दृष्ट्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् । अहो सुग्धा यदा यूयं क्रोधेन कलुषीकृताः ॥ ७४ ॥
न धर्मस्य क्रिया फाचिज्जायते मूढबुद्धयः । श्रूयतां धर्मसर्वस्वं तापसाः क्रूरचेष्टिताः ॥ ७५ ॥
विदित्वा यद् बुधः क्षिप्रं धर्मस्य फलमाप्नुयात् । योऽस्मावात्मनिदेहेऽसिन् विभुर्नित्यो व्यवस्थितः ॥ ७६ ॥
सोऽनादिः स महास्थानुः पृथक्च परिस्सूचितः । मणिर्यथोपवानेन यत्ते वणोज्ज्वलोऽपि वै ॥ ७७ ॥
तन्मयो भवन्ते तद्ददात्माऽपि मनसा कृतः । मनसो भेदमाश्रित्य कर्मभिश्चोपचीयते ॥ ७८ ॥
ततः कर्मवशाद् भुङ्क्ते संभोगान् स्वर्गनारकान् । तन्मनः शोभयेद् धीमाब्जानयोगाद्युपकमैः ॥ ७९ ॥

फिर, वे लोग देवताओंमें उपासित ब्रह्माके लोकमें गये । वहाँ देवेश (ब्रह्मा)को प्रणाम कर लज्जासे मुग्ध नीचा फल पड़े हो गये । उसके बाद ब्रह्माने उन्हें दुःखी देखकर यह वचन कहा—अहो, क्रोध करनेसे तुम सबका मन कलुषित हो गया है, इसलिये मूढ़ हो गये हो । मूढ़ बुद्धिवालो ! तुम सब धर्मकी कोई वास्तविक क्रिया नहीं जानते । अप्रिय कर्म करनेवाले तापसो ! धर्मके सारभूत रहस्यको सुनो, जिसे जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही कर्मका फल प्राप्त करता है । हम सबके इस शरीरमें रहनेवाला जो नित्य विभु (परमेश्वर) है, वह आदि-अन्त-रहित एवं महा स्थानु है । (विचार करनेपर) वह (देही) इस शरीरसे अलग प्रतीत होना है । जिस प्रकार उष्णतल वर्णकी मणि भी आश्रयके प्रभावसे उसी रत्नकी भासती है, उसी प्रकार आत्मा भी मनसे संयुक्त होकर मनके भेदका आश्रय कर कर्मोंसे दूरा जाता है । उसके बाद कर्मवश वह स्वर्गीय तथा नारकीय भोगोंको भोगता रहता है । बुद्धिमान् शक्तिको चाहे कि ज्ञान तथा योग आदि उपायोंद्वारा मनका शोधन करे ॥ ७३-७९ ॥

तस्मिन्शुद्धे तन्तरात्मा स्वयमेव निराकुलः । न शरीरस्य संक्षेत्रैरपि निर्दहनात्मकैः ॥ ८० ॥
शुद्धिमाप्नोति पुरुषः संशुद्धं यस्य नो मनः । क्रिया हि नियमार्थीय पातकेभ्यः प्रकीर्तिताः ॥ ८१ ॥
यस्माद्ग्यागितं देवं न शोघं शुद्ध्यते किल । तेन लोकेषु मार्गोऽयं सत्यथस्य प्रवर्त्तितः ॥ ८२ ॥
यत्ताश्रमभिभागोऽयं लोकाव्यवहेन केनचित् । निर्मितो मोक्षमाहात्म्यं चिदं चोचमभागिनाम् ॥ ८३ ॥

मनक शुद्ध होनेपर अन्तरामा अपने आप निर्मल हो जाता है। जिसका मन शुद्ध नहीं है, ऐसा पुरख शरीरको सुखानेवाले श्लेशोक द्वारा शुद्ध नहीं होता। पणोंसे बचनेके लिये ही (धर्म) क्रियाधर्म विधान हुआ है, अन अप्यन्त पापपूर्ण शरीर (सत) शीघ्र शुद्ध नहीं होता। इसीलिये लोचन सप्त।—शास्त्रविहित क्रियाओंका यन् मार्ग प्रवर्तित हुआ है। त्रिमी दिव्यद्रष्टा गण-स्वामीने उत्तम भाग्यवर्त्तक निमित्त मो-माहात्म्य प्रतीकनक्षत्र इस वर्णाश्रम विभाषका निर्माण किया है ॥ ८०-८३ ॥

धनत प्रोथकामाभ्यामभिभूताधमे शिवा । शान्तिनामाधमो वेदम अनाधमप्रयोगिनाम् ॥ ८४ ॥
क च यस्तसमस्तेच्छा क च भार्गवयो ध्रम । क क्रोधमादरा घोर येनामान न जानथ ॥ ८५ ॥

यप्रोधनो यजति यच्च ददाति निय यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।

प्राप्नोति नैव किमपीह फल हि लोके मोघ फल भयति तस्य हि प्रोथनम्य ॥ ८६ ॥

इति श्रीवामनपुराण त्रिचवार्दिशाऽध्याय ॥ ४३ ॥

आप लोग आश्रम रहते हुए भी क्रोध तथा जामक बसोभूत हैं। ज्ञानियोंके लिये पर ही आश्रम है और अपयोगियों- (अज्ञानियों) के लिये आश्रम भी अनाश्रम है। नहीं सपस्त ममनाओंका त्याग और कहाँ नारीमप यह ध्रम जात। (कहाँ तप बार) कहा तो इस प्रकारका क्रोध निस्से तुम लोग अपने आत्म (हित)को नहीं पहचान पाते। क्रोधी पक्ष लोचमें जो सत्ता बत करता है जो दान देता है अथवा जो तप या हथन करता है उसका कोई फल उसे नहीं मित्रता उस क्रोधीक मभी फल बर्ध होते हैं ॥ ८४-८६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें त्रैनालात्म्यौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

[अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय]

मनकमार उवाच

ब्रह्मणा वगत भुवा ऋषय स्वरे पय ते । पुनरेय च पप्रच्छुर्जगत धेयकारणम् ॥ १ ॥

चौवालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ऋषियौसहित ब्रह्माज्ञाका शकरजीकी शरणमें जाना और स्तवन म्याणवीधरप्रसन्न और हस्तिना

शकरका स्तुति एवं लिङ्गम सनिधान)

सन कुमारने कहा—उन मभी ऋषियाने ब्रह्माज्ञा का शरीरका सुनकर समारक कन्यागर्भ पुन उपाय पूछा ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

गच्छाम शरण देव शूलपाणि त्रिलोचनम् । प्रसादाद् दन्देवस्य भविष्यथ यथा पुरा ॥ २ ॥

इयुक्ता ब्रह्मणा सार्धं कैलास गिरिमुत्तमम् । ददन्नुस्त म्मासानमुमया सहित हरम् ॥ ३ ॥

तत स्नोतु समारब्धो ब्रह्मा गेकपिनामह । दनाधिदेव यद् प्रैलोक्यस्य प्रभु निगम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मने कहा—(उत्तर लिय) (आजो) हम सभी लोग हाथमें शूल धारण करनेके लिये त्रिनेत्ररी मन् शरकी शरणमें चके । तुम सब लोग नहीं स्वैक प्रमात्रमें पहले-जैसे हो जाओगे। ब्रह्मके देना कहनेपर वे लोग उनका साथ श्रम पर्वत कैलासपर चके गए और यहाँ उन लोचने उमा- (पार्वती) के लक्ष्मी देना प्रसन्न दर्शन किया। उसका बात समारक पितामह ब्रह्मके लोचने इच्छेय तीनों लोचने देना प्रसन्न शरकी शरणमें लुत्ति करने आरम्भ की— ॥ २ ४ ॥

ब्रह्मवाच

अनन्ताय नमस्तुभ्यं वरदाय पिनाकिने । महादेवाय देवाय स्थाणवे परमात्मने ॥ ५ ॥
 नमोऽस्तु भुवनेशाय तुभ्यं तारक सर्वदा । ज्ञानानां दायको देवस्त्वमेकः पुरुयोत्तमः ॥ ६ ॥
 नमस्ते पद्मगर्भाय पद्मेशाय नमो नमः । घोरशान्तिस्वरूपाय चण्डकोध नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
 नमस्ते देव विश्वेश नमस्ते सुरनायक । शूलपाणे नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वभावन ॥ ८ ॥

विनाक धागण करनेवाले वरदानी अनन्त महादेव ! स्याणुस्वरूप परमात्मदेव ! आपको मेरा नमस्कार है । भुवनोंके धामी भुवनेश्वर तारक भगवान् ! आपको नमः नमस्कार है । पुरुयोत्तम ! आप ज्ञान देनेवाले अद्वितीय देव हैं । आप कमलगर्भ एवं पद्मेश हैं । आपको वारम्बार नमस्कार है । (प्रचण्ड) घोर-स्वरूप एवं शान्तिमूर्ति ! आपको नमस्कार है । विश्वके शासकदेव ! आपको नमस्कार है । सुरनायक ! आपको नमस्कार है । शूलपाणि शंकर ! आपको नमस्कार है । (संसारके रचनेवाले) विश्वभावन ! आपको मेरा नमस्कार है ॥ ५-८ ॥

एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्मणा ऋषिभिस्तदा । उवाच मा भैर्व्रजत लिङ्गं वो भविता पुनः ॥ ९ ॥
 क्रियतां महच्चः शीघ्रं येन मे प्रीतिरुत्तमा । भविष्यति प्रतिघ्रायां लिङ्गस्यात्र न संशयः ॥ १० ॥
 ये लिङ्गं पूजयिष्यन्ति मामकं भक्तिमाश्रिताः । न तेषां दुर्लभं किञ्चिद् भविष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
 सर्वपापेषु पापानां कृतानामपि जानता । शुद्धयन्ते लिङ्गपूजायां नात्र कार्या विचारणा ॥ १२ ॥

ऋषियों और ब्रह्मणे जब इस प्रकार शंकरकी स्तुति की तब महादेव शङ्करने कहा—भय मत करो; जाओ (तुम लोगोंके कल्याणार्थ) लिङ्ग फिर भी (उत्पन्न) हो जायगा । मेरे वचनका शीघ्र पालन करो । लिङ्गकी प्रतिष्ठा कर देनेपर निस्सन्देह मुझे अत्यन्त प्रमन्नता होगी । जो व्यक्ति भक्तिके साथ मेरे लिङ्गकी पूजा करेंगे उनके लिये कोई भी पदार्थ कभी दुर्लभ न होगा । जानकर किये गये ममस्तु पापोंकी भी शुद्धि लिङ्गकी पूजा करनेमें हो जाती है; इमें किसी प्रकारका अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ९-१२ ॥

युष्माभिः पानितं लिङ्गं स्मरन्ति महात्सरः । सांनिहत्यं तु चिन्त्यातं तस्मिन्प्रशीघ्रं प्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥
 यथाभिलषितं कामं ततः प्राप्स्यथ ब्रह्मणाः । स्थाणुर्नाम्ना हि लोकेषु पूजनीयो दिवोकसाम् ॥ १४ ॥
 स्थाण्वीश्वरे स्थितो यस्मान्स्थाण्वीश्वरस्ततः स्मृतः । ये स्मरन्ति सदा स्थाणुं ते मुक्ताः सर्वकिल्बिषैः ॥ १५ ॥
 भविष्यन्ति शुद्धदेहा दर्शनान्मोक्षगामिनः । इत्येवमुक्त्वा देवेन ऋषयो ब्रह्मणा सह ॥ १६ ॥
 तस्माद् दारुचनलिङ्गं नेतुं समुपचक्रमुः । न तं चालयितुं शक्तास्ते देवा ऋषिभिः सह ॥ १७ ॥

तुम लोगोंने लिङ्गको गिग दिया है, इसलिये शीघ्र ही उमे उठाकर प्रसिद्ध महान् सांनिहत्य-सरोवरमें स्थापित करो । ब्राह्मणो ! ऐसा करनेमें तुमलोग अपने इन्द्रानुकूल मनोरथोंको प्राप्त करेंगे । सारे संसारमें उस लिङ्गकी प्रसिद्धि स्थाणु नाममें होगी । देवताओद्वारा (भी) वह पूज्य होगा । वह लिङ्ग स्थाण्वीश्वरमें स्थित रहनेके कारण स्थाण्वीश्वर नामसे स्मरण किया जायगा । जो स्थाण्वीश्वरको सदा स्मरण करेंगे, उनके सारे पाप कट जायेंगे और वे पवित्र-देह लेकर मोक्षकी प्राप्ति करेंगे । जब शंकरने ऐसा कहा तब ब्रह्मणके सहित ऋषिलोग लिङ्गको उस शहरमें ले जानेका उद्योग करने लगे । किंतु ऋषियोंसहित वे सभी देवगण उसे हित्थान-डुलानेमें समर्थ न हो सके ॥ १३-१७ ॥

धमेण महता मुक्ता ब्रह्मणं शरणं ययुः । तेषां धर्माभितमातामिदं ब्रह्माऽब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥
 किं वा धमेण महता न ययं वहनःसमाः । स्वच्छया पानितं लिङ्गं देवदेवेन शूलिना ॥ १९ ॥
 तस्मात् नमेष शरणं याम्यामः नतिताः सुराः । प्रसन्नश्च महादेवः स्वयमेव नयिष्यति ॥ २० ॥
 इत्येवमुक्त्वा प्रारयो देवाश्च ब्रह्मणा सह । कैलासं गिरिमासेद् रुद्रदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २१ ॥

(फिर) वे बहुत परिश्रम करके ब्रह्माकी शरणमें गये । ब्रह्मने परिश्रमसे श्रान्त-व्याप्त (सतन) हुए उन लोगोंसे यह वचन कहा—देवताओ ! अत्यन्त कष्टों पर परिश्रम करनेसे क्या लाभ ! तुमज्जैग इमे उग्रमेंमें समर्प नहीं हो । देवादिदेव भगवान् शंकरने अपनी इच्छासे इस छिद्रको गिराया है । अतः हे देवो ! हम सब एक साथ उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरणमें चले । महादेव सन्तुष्ट होकर अपने आप ही (छिद्रको) गिरायेगा । इस प्रकार ब्रह्माके कहनेपर सभी ऋषि और देवता ब्रह्माके साथ शंकरजीके दर्शनकी अभिलाषासे शरणमें पर पहुँचे ॥ १८-२१ ॥

न च पश्यन्ति तं देवं ततश्चिन्तासमन्विताः । ब्रह्माण्मूचुर्मुनयः क्व न देवो महेश्वरः ॥ १८ ॥
 ततो ब्रह्मा चिरं ध्यात्वा शान्त्वा देवं महेश्वरम् । हस्तिरूपेण तिष्ठन्तं मुनिभिर्मानवैः स्तुतम् ॥ १९ ॥
 अथ ते ऋषयः सर्वे देवाश्च ब्रह्मणा सह । गता महत्सरः पुण्यं यद्य देवः स्वर्गं विभ्र ॥ २० ॥
 न च पश्यन्ति न देवमन्विष्यन्तस्तनस्तनः । ततश्चिन्ताम्विता देवा ब्रह्मणा मन्विताः ॥ २१ ॥
 पश्यन्ति देवीं सुरातां कमण्डलुचिभूषिताम् । प्रीयमाणा तदा देवीं र्दं वचनमवादी ॥ २२ ॥

वहाँ उन लोगोंने शंकरजीको नहीं देखा । तब वे चिन्तित हो गये । फिर उन्होंने कहा—हे देवो ! तू (शंकर) वे महेश्वरकहाँ हैं ? उमके बाद ब्रह्मने चिरकालक ध्यान किया और देवों से स्तुति-करणसे स्तुत महेश्वर देव हाथीके आकारमें स्थित हैं । उसके पश्चात् वे ऋषि और देवों ने देखा उस पावन महान् सरोवरपर गये जहाँ भगवान् शंकर स्वयं उपस्थित थे । वे लोग वहाँ पहुँचने के लिये उन्हीं पहुँचने लगे, फिर भी शङ्करजीका दर्शन न पा सके । ब्रह्माके साथ दर्शन न पाकर वे बहुत दुःखी-चिन्तित हो गये । उमके बाद उन्होंने कमण्डलुमें सुरोभित देवीको अत्यन्त प्रमत्त देखा । उन देवीके रूपमें हुई देवी उनसे यह वचन बोली— ॥ २२-२६ ॥

अथेन मद्गता युक्ता अन्विष्यन्तो महेश्वरम् ।

प्रीयताममृतं देवास्ततो ब्रह्मण्य शङ्करम् । एतच्छ्रुत्वा तु यवने भक्त्या मन्विष्यन् ॥ २३ ॥
 सुखोपविश्यास्ते देवाः पपुस्तदमृतं शुचि । अन्तरं सुषामानाः पश्यन्तु पश्यन्तः ॥ २४ ॥
 क स देव इहायानो हस्तिरूपधरः स्थितः । दर्शितश्च तदा देव्या मन्विष्यन् ॥ २५ ॥
 दृष्ट्वा देवं हर्षयुक्ताः सर्वे देवाः सहस्रिभिः । प्रजाणमवतत ॥ २६ ॥

महेश्वरको पहुँचने हुए तुमज्जैग अत्यन्त श्रान्त हो गये हो । देवो ! तुम सब ब्रह्मणसे शरणमें शङ्करको जान सकोगे । भक्तानीद्वारा वहाँ हुई हम यणीको शरणमें वे देवों के साथ-साथ देवों के लिये पवित्र अमृतको पी सिका । उससे बाद सुगन्धर्वक घंटे हुए उन देवोंके लिये देवों के लिये देवों के लिये धारण किये हुए भक्तान् शङ्कर देव यहाँ निम्न स्थानपर आगे हुए हैं ! देवोंके लिये देवों के लिये देवों के लिये सरोवरके बीचमें स्थित ब्रह्मणसे उन्हीं छिद्रको गिराया । ऋषियोंके साथ मुने देवों के लिये देवों के लिये देवों के लिये गये और देवाको आगे कर शंकरजीमें वे स्तवन बोले— ॥ २३-२६ ॥

त्वया त्यक्तं मद्गद्वयं विद्धुं श्रेयोऽक्षयमिन्दुमम् । तथा शान्तये नान्यं ॥ २३ ॥
 इत्येवमुक्त्वा भगवान् देवं ब्रह्मादिभिर्देवैः । जगाम ऋषिभिः सर्वैः ॥ २४ ॥
 तत्र गत्वा मठादिके हस्तिरूपधरो हरः । केषु जगाम सर्वैः ॥ २५ ॥
 तमादाय महेश्वरः स्तुतयान्तो महसिभिः । निबन्धमानाय च ॥ २६ ॥
 ततो देवाः सर्वे पद्य श्रुत्वाश्च नगोभवाः । शास्त्रं सत्यं ॥ २७ ॥

महेश्वर ! आपने तीनों लोकोंमें वन्दित जिस लिङ्गको जोड़ दिया है, उसे ले आनेमें दूसरे किसीकी शक्ति नहीं है, उसे कोई दूसरा उठा नहीं सकता । इस प्रकार ब्रह्मा आदि देवताओंने जब भगवान् शंकरसे कहा, तब देवदेव शिवजी ऋषियोंके साथ देवदारावनके आश्रममें चले गये । वहाँ जाकर हारीका रूप धारण करनेवाले महादेव शिवने गोल-खेलों (लिङ्गको) अपने सँझमें पकड़कर उठा लिया । शङ्करजी महर्षियोंके द्वारा स्तुति किये जाने हुए उस लिङ्गको लेकर सरोवरके पास पश्चिम दिशामें स्थापित कर दिया । उसके बाद सभी देवता एवं तपस्वी ऋषियोंने अपनेको सफल समझा और वे भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगे ॥ ३१-३५ ॥

नमस्ते परमात्मन् अनन्तयोने लोकसाक्षिन् परमेष्ठिन् भगवन् सर्वज्ञ क्षेत्रज्ञ परावरदा ज्ञानज्ञेय सर्वेश्वर महाविरिञ्च महाविभूते महाक्षेत्रज्ञ महापुरुष सर्वभूतावास मनोनिवास आदिदेव महादेव सदाशिव ईशान दुर्विज्ञेय दुरागम्य महाभूतेश्वर परमेश्वर महायोगेश्वर इत्यम्बक महायोगिन् परब्रह्मन् परमज्योतिः ब्रह्मविदुत्तम ओंकार वपट्टकार स्वादाकार स्वप्नाकार परमकारण सर्वगत सर्वदर्शिन् सर्वशक्ते सर्वदेव अज सदस्सार्चिः पूषार्चिः सुधामन् हरधाम अनन्तधाम सर्वत्र संकर्षण वदधानल अग्नीषोमात्मक पवित्र महापवित्र महागोष महामायाधर महाकाम कामहन् हंस परमहंस महाराजिक महेश्वर महाकामुक महाहंस भवशयकर सुरसिद्धार्चि हरिण्यवाह हरिण्यरेतः हरिण्यनाभ हरिण्याघ्रकेत मुञ्जकेशिन् सर्वलोकवरप्रद सर्वानुग्रहकर कमलेशय कुशेशय हृदयेशय ज्ञानोदधे शम्भो विभो महायज्ञ महाप्राज्ञिक सर्वयज्ञमय सर्वयज्ञहृदय सर्वयज्ञसंस्तुत निराशय समुद्रेशय अत्रिसम्भव भक्तानुकम्पिन् अभययोग योगधर वासुकि-महामणि विद्योत्तिविविप्र हरितनयन त्रिलोचन जटाधर नीलकण्ठ चन्द्रार्धधर उमाशरीर्षधर गजचर्मधर दुस्तरसंसारमहासंहारकर प्रसीद भक्तजनवरसल ।

एवं स्तुतां देवगणैः सुभक्त्या सन्नतासुरैश्च पितामहेन ।
व्यक्त्या तदा पस्तिरूपं महात्मा लिङ्गे तदा संनिधानं चकार ॥ ३६ ॥
इति श्रीधरवामनपुराणं पञ्चमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

परमात्मन् ' अनन्तयोने ' लोकसाक्षिन् ! परमेष्ठिन् ! भगवन् ! सर्वज्ञ ! क्षेत्रज्ञ ! हे पर और अवरके ज्ञाना ! ज्ञानज्ञेय ! सर्वेश्वर ! महाविरिञ्च ! महाविभूते ! महाक्षेत्रज्ञ ! महापुरुष ! हे सब भूतोंके निवास ! मनोनिवास ! आदिदेव ! महादेव ! सदाशिव ! ईशान ! दुर्विज्ञेय ! दुरागम्य ! महाभूतेश्वर ! परमेश्वर ! महायोगेश्वर ! इत्यम्बक ! महायोगिन् ! परमब्रह्मन् ! परमज्योति ! ब्रह्मविद् ! उत्तम ! ओंकार ! वपट्टकार ! स्वादाकार ! स्वादाकार ! परमाकारण ! सर्वगत ! सर्वदर्शिन् ! सर्वशक्ति ! सर्वदेव ! अज ! सदस्सार्चि ! पूषार्चि ! सुधामन् ! हरधाम ! अनन्तधाम ! सर्वत्र ! संकर्षण ! वदधानल, अग्नि और सोमदात्मक ! पवित्र ! महापवित्र ! महागोष ! महामायाधर ! महाकाम ! कामहन् ! हंस ! परमहंस ! महाराजिक ! महेश्वर ! महाकामुक ! महाहंस ! भवशयकर ! हे देवों और सिद्धोंसे पूजित ! हरिण्यवाह ! हरिण्यरेतः ! हरिण्यनाभ ! हरिण्याघ्रकेत ! मुञ्जकेशिन् ! सर्वलोकवरप्रद ! सर्वानुग्रहकर ! कमलेशय ! कुशेशय ! हृदयेशय ! ज्ञानोदधे ! शम्भो ! विभो ! महायज्ञ ! महाप्राज्ञिक ! सर्वयज्ञमय ! सर्वयज्ञहृदय ! सर्वयज्ञसंस्तुत ! निराशय ! समुद्रेशय ! अत्रिसम्भव ! भक्तानुकम्पिन् ! अभययोग योगधर ! हे वासुकि, और महामणिसे पुनिमान् शिव ! हरितनयन ! त्रिलोचन ! जटाधर ! नीलकण्ठ ! चन्द्रार्धधर ! उमा-शरीर्षधर ! गजचर्मधर ! दुस्तरसंसारका महासंहार करनेवाले महाप्रवर्धकर शिव ! हमारा आपको नमस्तस्मै है । भक्तजनवरसल शङ्कर ! आप हम सबपर प्रसन्न हों ।

इस प्रकार विनामह ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवगणोंके साथ भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर उन महामाने
हस्तिरूपका त्यागकर लिङ्गमें सन्निधान (निवास) कर लिया ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौचालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पद्मचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्कुमार उवाच

अयोवाच मददिव्या देवान् ब्रह्मपुरोगमान् । प्रप्रेषणा चैव प्रत्यक्ष तार्थमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १ ॥
एतत् सानिहितं श्रेष्ठ सर पुण्यतम महत् । मयोपसेवितं यस्मात् तस्मान्मुक्तिप्रदायकम् ॥ २ ॥
इह ये पुरुषा केचिद् ब्राह्मणा क्षत्रिया विश । लिङ्गस्य दर्शनादेव पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥
अहन्यहनि तीर्थानि आसमुद्रसरासि च । स्थाणुतीर्थे समेप्यन्ति मध्य माते दिवाकरे ॥ ४ ॥

पैतालीसर्वा अध्याय प्रारम्भ

(सानिहितसर—स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और स्थाणुलिङ्गका माहात्म्य वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—उत्तक बाद महादेवने ऋषियोंके सामने (ही) ब्रह्मा आदि देवोंसे परमश्रेष्ठ तीर्थके
माहात्म्यको कहा । ऋषियो ! यह सानिहित नामक सरोवर अत्यन्त पवित्र एवं महान् कहा गया है । यत्
मेरे द्वारा यह सेविता किया गया है, जत यह मुक्ति प्रदान करनेवाग है । यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी
वर्गोंके पुरुष लिङ्गका दर्शन कर ही परम पदका दर्शन करते हैं । समुद्रसे लेकर सरोवर तक तीर्थ प्रतिदिन
भगवान् सूर्यक आकाशक मध्यमें आ जानेपर (दोहरमें) स्थाणु तीर्थमें आ जाने हैं ॥ १-४ ॥

स्तोत्रेणानेन च नरो यो मा स्तोष्यति भक्तिना । तस्याह सुलभो नित्यं भविष्यामि न सदाय ॥ ५ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् रद्रो ह्यन्तर्धान गत प्रभु । देवाश्च ऋषय सर्वे सानि स्थानानि भेजिरे ॥ ६ ॥
ततो निरन्तरं स्वर्गं मानुषैर्मिश्रित कृतम् । स्थाणुलिङ्गस्य माहात्म्यदर्शनात् स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ७ ॥
ततो देवा सर्व एव ब्रह्माण शरण ययु । तानुवाच तदा प्रह्ला किमर्थमिदं चागता ॥ ८ ॥

जो मनुष्य इस स्तोत्रसे भक्तिपूर्वक मेरा स्तन करेगा, उसक कृपे में सदा सुख होऊँगा—इसमें कोई
सदेह नहीं है । यह कहकर भगवान् शम्बर अदरय हो गये । सभी देवता तथा ऋषिगण अपने-अपने स्थानको
चले गये । उसक बाद पूरा—सारा-वा-सारा स्वर्ग मनुष्योंसे भर गया, क्योंकि स्थाणुलिङ्गका यह माहात्म्य है
कि उसका दर्शन करनेसे ही स्वर्ग प्राप्त हो जाता है । किन्तु सभी देवता ब्रह्मकी शरणमें गये तब ब्रह्मने
उनसे पूछा—देवताओ ! आप लोग यहाँ किस कार्यसे आये हैं ॥ ५-८ ॥

ततो देवा सर्व एव इदं वचनमब्रुवन् । मानुषेभ्यो भयं नात्र श्वास्ताक पितामह ॥ ९ ॥
तानुवाच तदा प्रह्ला सुरास्त्रिदशनायक । पाशुना पूर्वना शीघ्र सर शने दितं कुम् ॥ १० ॥
ततो वच्यं भगवान् पाशुना पाकशासन । सत्ताह पूर्यामास सर्वे देवैस्तदा ह्वा ॥ ११ ॥
त इष्ट्वा पाशुवर्षं च देवदेवो महेश्वर । करण धारयामास लिङ्ग तीर्थं परं तदा ॥ १२ ॥

तब सभी देवताओंने यह वचन कहा—विनामह हम लोगोंको मनुष्योंसे बड़ा भय हो रहा है ।
आप हम सबकी रक्षा करें । उसक बाद देवताओंके नेता ब्रह्मने उन देवोंसे पूछा—सर्व देवताओंके

धृष्टिसे पाट दो और इस प्रकार इन्द्रका कल्याण करे। ब्रह्माके इस प्रकार समझानेपर पाक नामके राक्षसको मारनेवाले (पाकशामन) भगवान् इन्द्रने देवताओंके साथ सात दिनतक धृष्टिको वर्षा की और सरोंवरको धृष्टिसे पाट दिया। देवदेव महेश्वरने देवताओंद्वारा बरमायी गयी इस धृष्टिकी वर्षाको देखकर लिङ्ग और तीर्थचटको अपने हाथमें ले लिया ॥ ९-१२ ॥

तस्मान् पुण्यतमं तीर्थमाद्यं यत्रोदकं स्थितम् । तस्मिन् स्नातः सर्वतीर्थैः स्नातो भवति मानवः ॥ १३ ॥
यस्तत्र कुर्वते श्राद्धं चटलिङ्गस्य चन्तारं । तस्य प्रीताश्च पितरौ दाम्प्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १४ ॥
पूरितं च ततो दृष्ट्वा ऋषयः सर्व एव ते । पांडुना सर्वगात्राणि स्पृशन्ति श्रद्धया युताः ॥ १५ ॥
तेऽपि निर्धूतपापास्ते पांडुना मुनयो गताः । पूज्यमानाः सुरगणैः प्रयाता ब्रह्मणः पदम् ॥ १६ ॥

इसलिये पहले जिस स्थानपर जल था, वह तीर्थ अत्यन्त पवित्र है। उसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सभी तीर्थोंमें स्नान करनेका फल प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य वट और लिङ्गके बीचमें श्राद्ध करना है उसके पितर उसपर संतुष्ट होकर उसे पृथ्वी- (भू)-में दृष्टम वस्तु मुलभ कर देते हैं—ऐसा मुनकार वे सभी ऋषि धृष्टिसे भरे हुए सर्गोंवरको देखकर श्रद्धासे अपने मनो अङ्गोंमें धृष्टि मलने लगे। वे मुनि भी धृष्टि मलनेके कारण निष्पाप हो गये और देवताओंसे पूजित होकर ब्रह्मलोक चले गये ॥ १३-१६ ॥

ये तु सिद्धा महात्मानस्ते लिङ्गं पूजयन्ति च । व्रजन्ति परमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ १७ ॥
एवं श्राद्धा नदा ब्रह्मा लिङ्गं जैलमयं नदा । श्राद्धलिङ्गं नदा स्थाप्य तस्योपरि दधार तन् ॥ १८ ॥
ततः फालेन महता तेजसा तस्य रञ्जितम् । तस्यापि स्पर्शनान् सिद्धः परं पदमवाप्नुयान् ॥ १९ ॥
ततो देवैः पुनर्ब्रह्मा विजसो द्विजसत्तम । एते यास्ति परां सिद्धिं लिङ्गस्य दर्शनाक्षराः ॥ २० ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रधा देवानां हितकाम्यया । उपयुपरि लिङ्गानि मत्त तत्र चकार ह ॥ २१ ॥

जो सिद्ध महात्मा पुरुष लिङ्गकी पूजा करते वे आवागमनसे रक्षित होकर परमसिद्धिको प्राप्त करने लगे। ऐसा जानकर तब ब्रह्माने उस आदिलिङ्गको नीचे रख उसका ऊपर पाषाणमय लिङ्गको स्थापित कर दिया। फलतः समय बीत जानेपर उसके (आद्य लिङ्गके) तेजसे (वा पाषाणसूनि-लिङ्ग भी) रञ्जित हो गया। सिद्ध-समुदाय उनका भी स्पर्श करनेसे परमपदको प्राप्त करने लगा। द्विजश्रेष्ठ ! तबथात् देवताओंने पुनः ब्रह्माको धनदाया ब्रह्मण ! ये मनुष्य लिङ्गका दर्शन करके परम सिद्धिको प्राप्त करनेका व्याम उठा रहें हैं। देवताओंसे यह मुनिकर ब्रह्माने ब्रह्माने देवताओंके संगठकी इच्छासे एकके ऊपर एक इस प्रकार सात लिङ्गोंको स्थापित कर दिया ॥ १७ २१ ॥

ततो ये मुक्तिकामाश्च सिद्धाः शमपरायणाः । सेव्यं पांडुं प्रयत्नेन प्रयाताः परमं पदम् ॥ २२ ॥
पांडुवोऽपि कुर्वधेन वायुना समुद्गर्गिनाः । महादुःकृतकर्माणं प्रयान्ति परमं पदम् ॥ २३ ॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो यापि स्त्रियो वा पुरुषस्य वा । नश्यते दुःकृतं सर्वं स्थाणुतीर्थप्रभावतः ॥ २४ ॥
लिङ्गस्य दर्शनान्मुक्तिः स्पर्शनाच्च वटस्य च । तस्मैतिथौ जले स्नात्वा प्राप्नोत्यभिमतं फलम् ॥ २५ ॥
पितृणां तपसां यन्तु जले तस्मिन् करिष्यन्ति । विन्दां विन्दां तु तोयस्य अनन्तफलभागभवेत् ॥ २६ ॥

उसने वट मुक्तिकर्मान्तरागे मन (दमर्दि)-में लगे रहनेवाले सिद्धगण यन्पूर्वक धृष्टिका सेवनकर परमपदको प्राप्त करने लगे। (यन्तु) कुर्वधेन वायु न चलनेसे उड़ी हुई धृष्टि भी बड़े-बड़े पापियोंको मुक्ति दे देती है। सिद्धि स्त्री या पुरुषके चले जानेसे या अज्ञाननेसे प्राप्त किया हो तो उसके मांसे पाप-स्थानु-तीर्थके प्रभावसे

नष्ट हो जाते हैं। लिङ्गका दर्शन करनेसे और बटन्न सार्स करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है और उसके निम्न जलमें स्नान करनेसे मनुष्य मनचाहे फलको प्राप्त करता है। उस जलमें तिनगोंका तीर्ण करनेवाला व्यक्ति जलके प्रायेक विन्दुमें अवन्त फलको प्राप्त करता है ॥ २२-२६ ॥

यस्तु कृष्णतिलैः सार्द्धं लिङ्गस्य पश्चिम स्थितः। तर्पयेच्छूद्रद्वया युक्तः स प्रीणाति युगध्वयम् ॥ २७ ॥
 यावन्मन्वन्तरं प्रोक्तं यावद्विङ्गस्य संस्थितिः। तावत्प्रतीक्षाश्च पितृभ्यः पितृभिः जलमुत्तमम् ॥ २८ ॥
 हुते युगे साधिद्वयं श्रेतायो वायुसंश्रितम्। कलिङ्गापरयोर्मध्ये कूर्पं मद्रहृदं स्मृतम् ॥ २९ ॥
 चैत्रस्य कृष्णपक्षे च चतुर्दश्यां नरोत्तमः। स्नात्वा मद्रहृदे तौर्ये परं पद्मवाप्नुयात् ॥ ३० ॥
 यस्तु यदे स्थितो रात्रिं ध्यायते परमेश्वरम्। स्थाणोर्वेदप्रसादेन मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीसामनपुराणे पञ्चब्रह्मवार्त्तिकोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

लिङ्गसे पश्चिम दिशामें काले तिनगोंसे श्रद्धापूर्वक तीर्ण करनेवाला व्यक्ति तीन गुणैक (तिनगोंको) प्राप्त करता है। जबतक मन्वन्तर है और जबतक लिङ्गकी संस्थिति है, तबतक तिनगण संतुष्ट होकर उत्तम जलका पान करते हैं। सत्ययुगमें 'साधिद्वय' सर, श्रेतामें 'वायु' नामका हृद, कलि एवं द्वापरमें 'कृष्णहृद' नामके कूप सेस्तीय माने गये हैं। चैत्रके कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन 'मद्रहृद' नामका तीर्थमें स्नान करनेवाला उत्तम पुरुष परमपद— मुक्तिको प्राप्त करता है। रात्रिके समय बटके नीचे रहकर परमेश्वरका ध्यान करनेवालेको स्थाणुस्टके अनुपह— (दया-)से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है ॥ २७-३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाचनपुराणमें पैतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

[अथ पट्वत्वारिंशोऽध्यायः]

यनकुमार उवाच

स्थाणोर्वेदस्योत्तरतः शुक्रतीर्थं प्रकोर्तितम्। स्थाणोर्वेदस्य पूर्वेण सोमतीर्थे लिङ्गोत्तमम् ॥ १ ॥
 स्थाणोर्वेदं दक्षिणतो दक्षनार्थमुदाहृतम्। स्थाणोर्वेदात् पश्चिमतः स्वन्दतीर्थं प्रनिष्ठितम् ॥ २ ॥
 पत्नानि पुण्यतीर्थानि मध्ये स्थाणुरिति स्मृतः। तस्य दर्शनमात्रेण प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३ ॥
 अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यस्त्वेतानि परिक्रमन्। पदे पदे यत्फलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ४ ॥

लियालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणु-लिङ्गके समीप असंख्य लिङ्गोंकी स्थापना और उनके दर्शन-अर्चनका माहात्म्य)

सनकुमारने कहा—द्विजोत्तर ! स्थाणुस्टको उत्तर दिशामें 'शुक्रतीर्थ' और स्थाणुस्टकी दूर दिशामें 'सोमतीर्थ' कहा गया है। स्थाणुस्टके दक्षिण 'दक्षनार्थ' एवं स्थाणुस्टके पश्चिममें 'स्वन्दतीर्थ' स्थित है। इन परम पारन तीर्थोंके बीचमें 'स्थाणु' नामका तीर्थ है। उसका दर्शन करनेमात्रमें परमपद (मोक्ष)की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अष्टमी और चतुर्दशीको इनकी प्रदक्षिणा करता है, वह एक-एक पगार यज्ञ करनेका फल प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ १-४ ॥

पत्नानि मुनिभिः साध्यैवादिष्यैवंसुभिस्तदा। मलदूभिर्द्विभिर्द्वैरैव सेधिनानि प्रयत्नतः ॥ ५ ॥
 अन्ये ये प्राप्तिनः केचित् प्राप्तिनः स्थाणुमुत्तमम्। सर्वेषामपिनिर्मुक्तः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६ ॥
 अस्ति तत्संनिधौ लिङ्गं देवदेवस्य शूलिनः। उमा च लिङ्गरूपेण ह्यपादयं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

तस्य दर्शनमात्रेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः । वटस्य उत्तरे पार्श्वे तक्षकेण महान्मना ॥ ८ ॥
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वकामप्रदायकम् । वटस्य पूर्वदिग्भागे विश्वकर्मकृतं मघत् ॥ ९ ॥
लिङ्गं प्रत्यङ्मुखं दृष्ट्वा सिद्धिमाप्नोति मानवः । तत्रैव लिङ्गरूपेण स्थिता देवी सरस्वती ॥ १० ॥

मुनियों, साध्यों, आदित्यों, वसुओं, मरुतों एवं ऋणियोंने इन तीर्थोंका यत्नपूर्वक सेवन किया है । जो भी अन्य कोई प्राणी उस उत्तम स्थाणुतीर्थमें प्रवेश करते हैं वे भी सभी पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करते हैं । उसीके निकट त्रिशूल धारण करनेवाले देवदेव भगवान् शंकरका लिङ्ग है । उमादेवी वहाँपर लिङ्गरूपमें रहनेवाले शंकरजीके पासमें ही रहती हैं; वे उनकी बगलसे अलग नहीं होतीं । उस लिङ्गके दर्शन करनेमात्रसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है । वटके उत्तरी भागमें महात्मा तक्षकने सभी कामनाओंको सिद्ध करनेवाले महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है । वटके पूर्वमें विश्वकर्माके द्वारा निर्मित किया गया महान् लिङ्ग है । पश्चिमकी ओर रहनेवाले लिङ्गका दर्शन कर मानवको सिद्धि प्राप्त होती है । वहाँपर देवी सरस्वती लिङ्गरूपसे स्थित हैं ॥ ५-१० ॥

प्रणम्य तां प्रयत्नेन बुद्धिं मेधां च विन्दति । वटपार्श्वे स्थितं लिङ्गं ब्रह्मणा तत् प्रतिष्ठितम् ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा चंदेश्वरं देवं प्रयाति परमं पदम् । ततः स्थाणुवटं दृष्ट्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ १२ ॥
प्रदक्षिणीकृत्वा तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा । स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे नकुलीशो गणः स्मृतः ॥ १३ ॥
तमभ्यर्च्य प्रयत्नेन सर्वपापैः प्रमुच्यते । तस्य दक्षिणदिग्भागे तीर्थं रुद्रकरं स्मृतम् ॥ १४ ॥

मनुष्य उन्हें प्रयत्न- (श्रद्धा-विधि-) पूर्वक प्रणाम कर बुद्धि एवं तीव्र मेधा प्राप्त करता है । वटकी बगलमें ब्रह्माके द्वारा प्रतिष्ठित वटेश्वर-लिङ्गका दर्शन करके मनुष्य परम पदको प्राप्त करता है । तत्पश्चात् जिसने स्थाणुवटका दर्शन और प्रदक्षिणा कर ली उसकी वह मानो सातों द्वीपवाली पृथिवीकी की हुई प्रदक्षिणा हो जाती है । स्थाणुकी पश्चिम दिशाकी ओर 'नकुलीश' नामके गण स्थित हैं । विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला मनुष्य सभी प्रकारके पापोंसे छूट जाता है । उनकी दक्षिण दिशामें 'रुद्रकरतीर्थ' है ॥ ११-१४ ॥

तस्मिन् ज्ञानः सर्वतीर्थं ज्ञानो भवति मानवः । तस्य चोत्तरदिग्भागे रावणेन महात्मना ॥ १५ ॥

प्रतिष्ठितं महालिङ्गं गोकर्णं नाम नामतः ।

आषाढमासे या कृष्णा भविष्यति चतुर्दशी । तस्यां योऽर्चति गोकर्णं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १६ ॥
कामतोऽकामतो चापि यत् पापं तेन संचितम् । तस्माद् विमुच्यते पापात् पूजयित्वा हरं शुचिः ॥ १७ ॥
कौमारब्रह्मचर्येण यत्पुण्यं प्राप्यते नरैः । तत्पुण्यं सकलं तस्य अष्टम्यां योऽर्चयच्छिवम् ॥ १८ ॥

जिसने उस- (रुद्रकरतीर्थ-)में ज्ञान कर लिया मानो उसने सभी तीर्थोंमें ज्ञान कर लिया । उसकी उत्तर दिशाकी ओर महात्मा रावणने गोकर्ण नामका प्रसिद्ध महालिङ्ग स्थापित किया है । आषाढमासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिमें जो गोकर्णकी अर्चना करता है उसके पुण्यफलको सुनो । यदि किसीने अपनी इच्छा या अनिच्छासे भी पारसंचय कर लिया है तो वह भगवान् शंकरकी पूजा करके पवित्र हो जाता है और वह संचित पापसे छूट जाता है । जो अष्टमी तिथिमें शिवका पूजन करता है उसे कौमार-अवस्था- (जन्मसे १६ वर्षकी अवस्था-)में ब्रह्मचर्य-पाठनसे जो फल प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण पुण्य-फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५-१८ ॥

यदोच्छेत् परमं रूपं सौभाग्यं धनसंपदम् । कुमारेश्वरमाहात्म्यात् सिद्धयते नात्र संशयः ॥ १९ ॥

तस्य चोत्तरदिग्भागे लिङ्गं पूज्य विभीषणः । अजरअमरश्चैव कल्पयित्वा बभूव ह ॥ २० ॥

आषाढस्य तु मासस्य शुक्ला या नाष्टमी भवेत् । तस्यां पूज्य सोपवाम्नो ह्यमृतत्वमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

धरंण पूजितं लिङ्गं तस्मिन् स्थाने द्विजोत्तम । तं पूजयित्वा यत्नेन सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

यदि मनुष्य उत्तम सौन्दर्य, सौभाग्य या धन-सम्पत्ति चाहता है तो (उसे कुमारेश्वरकी आराधना करनी चाहिये; क्योंकि) कुमारेश्वरके माहात्म्यसे उसे निस्तपदेह उन समस्त सिद्धि प्राप्त होती है । उन (कुमारेश्वर-)के उत्तर भागमें विभीरुगने शिव-लिङ्गको स्थापित कर उसकी पूजा की, जिससे वे अजर और अमर हो गये । आर्य महर्षिनेके शुक्राक्षरकी अष्टमी तिथिको उपवास रहकर उसकी पूजा करनेवाला मनुष्य देव्य प्राप्त कर लेता है । द्विजोत्तम । खरने बहोपर लिङ्गकी पूजा की थी । उस लिङ्गकी विधिपूर्वक पूजा करनेवालेकी सभी कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥ १९-२२ ॥

दृषणस्त्रिदशरश्चैव तत्र पूज्य महेश्वरम् । यथाभिलषितान् कामानापनुस्तौ मुदाप्स्यते ॥ २३ ॥
 चैत्रमासे सिते पक्षे यो नरस्तात्र पूजयेत् । तस्य तौ वरदौ देवौ प्रयच्छन्तेऽभियाञ्छितम् ॥ २४ ॥
 स्थाणोर्वटस्य पूर्वेण हस्तिपादेभ्यः शिवाः । तं हृष्ट्वा मुञ्चते पापैरन्यजन्मनि संभवे ॥ २५ ॥
 तस्य दक्षिणतो लिङ्गं हारीतस्य श्रूयेः स्थितम् । यत् प्रणम्य प्रयत्नेन सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ॥ २६ ॥

दृषण एवं त्रिदशरने भी बहों महेश्वरकी पूजा की और वे प्रसन्न हो गये । उन दोनोंने अभियाञ्छित मनोरथ प्राप्त कर लिये । चैत्र महर्षिनेके शुक्राक्षरमें जो मनुष्य बहों पूजन करता है, उसकी समस्त इच्छाएँ वे दोनों देव पूरी कर देते हैं । 'हस्तिपादेश्वर' शिव स्थाणुश्रीकी पूर्व दिशामें हैं । उनका दर्शन करके मनुष्य अन्य जन्ममें बने पापोंसे छूट जाता है । उसके दक्षिणमें हारीत नामके श्रुतिद्वारा स्थापित किया हुआ लिङ्ग है जिसकी विधिपूर्वक प्रणाम करनेसे (ही) मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ २३-२६ ॥

तस्य दक्षिणपादेषु तु वापीतस्य महात्मनः । लिङ्गं त्रैलोक्यविषयात् सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥
 कदाचलरूपिणा चापि यद्रेण सुमहात्मना । प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २८ ॥
 मुक्तिर्दं मुक्तिर्दं प्रोक्तं सर्वविदिग्गपनाशनम् । लिङ्गस्य दर्शनाच्चैव अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ २९ ॥
 तस्य पश्चिमदिग्भागे लिङ्गं सिद्धमतिष्ठितम् । सिद्धेश्वरं तु विषयात् सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥ ३० ॥

उसके निकट दक्षिण भागमें महात्मा वापीतके द्वारा सन्नामित सभी पापोंका हरण करनेवाला कल्याणकर्ता लिङ्ग है जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । कदाचलके रूपमें रहनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रने भी समस्त पापोंका नाश करनेवाला महालिङ्ग प्रतिष्ठित किया है । महात्मा रुद्रद्वारा प्रतिष्ठापित वह लिङ्ग मुक्ति एवं मुक्तिकर देनेवाला तथा सभी पापोंको नष्ट करनेवाला है । उस लिङ्गका दर्शन करनेसे ही अग्निष्टोम यज्ञके फलकी प्राप्ति हो जाती है । उसकी पश्चिम दिशामें सिद्धेश्वरद्वारा प्रतिष्ठित सिद्धेश्वर नामसे विख्यात लिङ्ग है । वह सर्वसिद्धिप्रदाना है ॥ २७-३० ॥

तस्य दक्षिणदिग्भागे मृकण्डने महात्मना । तत्र प्रतिष्ठितं लिङ्गं दर्शनात् सिद्धिदायकम् ॥ ३१ ॥
 तस्य पूर्वे च दिग्भागे आदित्येन महात्मना । प्रतिष्ठितं लिङ्गेश्वरं सर्वकिल्बिषनाशनम् ॥ ३२ ॥
 चित्राङ्गदस्तु गन्धर्वो रम्भा चापसरसां यथा । परस्परं सानुपगौ स्थाणुदर्शनकामिणी ॥ ३३ ॥
 हृष्ट्वा स्थाणुं पूजयित्वा सानुपगौ परस्परम् । आराध्य वरदं देवं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम् ॥ ३४ ॥

उसकी दक्षिण दिशामें महात्मा मृकण्डने (शिव-) लिङ्गकी स्थापना की है । उस लिङ्गके दर्शन करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है । उसके पूर्व भागमें महात्मा आदित्यने सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया है । अपसरजोंमें श्रेष्ठ रम्भा और चित्राङ्गद नामके गन्धर्व—इन दोनोंने परस्परमें प्रेमपूर्वक स्थाणु भगवान्के दर्शन किये; फिर उनका पूजन किया और तब बरदानी देवकी स्थापनाकर आराधना की । (उनसे स्थापित लिङ्गोंका नाम हुआ चित्राङ्गद और रम्भेश्वर) ॥ ३१-३४ ॥

चित्राङ्गदेश्वरं दृष्ट्वा तथा रम्भेश्वरं द्विज । सुभगो दर्शनीयश्च कुले जन्म समाप्नुयात् ॥ ३५ ॥
 तस्य दक्षिणतो लिङ्गं वज्रिणा स्थापितं पुरा । तस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३६ ॥
 परादारेण मुनिना तथैवाराध्य शंकरम् । प्राप्तं कवित्वं परमं दर्शनाच्छंकरस्य च ॥ ३७ ॥
 वेदव्यासेन मुनिना आराध्य परमेश्वरम् । सर्वज्ञत्वं ब्रह्मज्ञानं प्राप्तं देवप्रसादतः ॥ ३८ ॥

द्विज ! चित्राङ्गदेश्वर एवं रम्भेश्वरका दर्शन करके मनुष्य सुन्दर और दर्शनीय (रूपवाला) हो जाता है एवं सत्कुलमें जन्म ग्रहण करता है । उसके दक्षिण भागमें इन्द्रने प्राचीन कालमें लिङ्गकी स्थापना की थी । इन्द्रद्वारा प्रतिष्ठापित लिङ्गके प्रसादसे मनुष्य मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है । उसी प्रकार पराशर मुनिने शंकरकी आराधना की और भगवान् शंकरके दर्शनसे उत्कृष्ट कवित्वको प्राप्त किया । वेदव्यास मुनिने परमेश्वर-(शंकर-) की आराधना की और उनकी कृपासे सर्वज्ञता तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया ॥ ३५-३८ ॥

स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे वायुना जगदायुना । प्रतिष्ठितं महालिङ्गं दर्शनात् पापनाशनम् ॥ ३९ ॥
 तस्यापि दक्षिणे भागे लिङ्गं हिमवतेश्वरम् । प्रतिष्ठितं पुण्यकृतां दर्शनात् सिद्धिकारकम् ॥ ४० ॥
 तस्यापि पश्चिमं भागे कार्तवीर्येण स्थापितम् । लिङ्गं पापहरं सद्यो दर्शनात् पुण्यमाप्नुयात् ॥ ४१ ॥
 तस्याप्युत्तरदिग्भागे सुपाद्व्यं स्थापितं पुनः । आराध्य हनुमांश्चाप सिद्धिं देवप्रसादतः ॥ ४२ ॥

स्थाणुके पश्चिम भागमें जगत्के प्राण-स्वरूप (जगत्प्राण) वायुने महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है, जो दर्शनमात्रसे ही पापका विनाश कर देता है । उसके भी दक्षिण भागमें हिमवतेश्वर लिङ्ग प्रतिष्ठित है । पुण्यात्माओंने उसे प्रतिष्ठित किया है । उसका दर्शन सिद्धि देनेवाला है । उसके पश्चिम भागमें कार्तवीर्यने (एक) लिङ्गकी स्थापना की है । (यह लिङ्ग) पापका तत्काल हरण करनेवाला है । (इसके) दर्शन करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है । उसके भी उत्तरकी ओर त्रिलुल निकट स्थानमें (एक) लिङ्गकी स्थापना हुई है; हनुमान्ने उस लिङ्गकी आराधना कर शंकरकी कृपासे सिद्धि प्राप्त की ॥ ३९-४२ ॥

तस्यैव पूर्वदिग्भागे विष्णुना प्रभविष्णुना । आराध्य वरदं देवं चक्रं लब्धं सुदर्शनम् ॥ ४३ ॥
 तस्यापि पूर्वदिग्भागे मित्रेण चरुणेन च । प्रतिष्ठितौ लिङ्गयोरौ सर्वकामप्रदायकौ ॥ ४४ ॥
 एतानि मुनिभिः साय्यैरादित्यैर्वसुभिस्तथा । सेवितानि प्रयत्नेन सर्वपापहराणि वै ॥ ४५ ॥
 स्वर्णलिङ्गस्य पश्चात् ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते ॥ ४६ ॥
 तथा उत्तरतस्तस्य यावदोघवती नदी । सहस्रमेकं लिङ्गानां देवपश्चिमतः स्थितम् ॥ ४७ ॥

उसके भी पूर्वी भागमें प्रभावशाली विष्णुने वरदाता महादेवकी आराधना कर सुदर्शन चक्र प्राप्त किया था । उसके भी पूर्वी भागमें मित्र एवं चरुणने सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेवाले दो लिङ्गोंकी स्थापना की है । ये दोनों लिङ्ग सभी प्रकारके पापोंका विनाश करनेवाले हैं । मुनियों, साय्यों, आदित्यों एवं वसुओंद्वारा इन लिङ्गोंकी उक्त-पूर्ण सेवा की गयी है । तत्त्वदर्शी ऋषियोंने स्वर्णलिङ्गके पीछेकी ओर जिन लिङ्गोंको प्रतिष्ठित किया है, उनकी संख्या नहीं गिनी जा सकती । उसी प्रकार स्वर्णलिङ्गके उत्तर ओरवती नदीतक पश्चिमकी ओर महादेवके एक हजार लिङ्ग स्थित हैं ॥ ४३-४७ ॥

तस्यापि पूर्वदिग्भागे यालितिल्यैर्महात्मभिः । प्रतिष्ठिता रुद्रकोटिर्याचन्संनिहितं सरः ॥ ४८ ॥
 दक्षिणेन तु देवस्य गन्धर्वैर्यक्षकिररैः । प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते ॥ ४९ ॥
 तिस्रः षोडशोऽर्षोऽष्टौ च लिङ्गानां वायुरप्रवीत् । असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः स्थाणुमाधिताः ॥ ५० ॥
 एतज्जगत्स्य रुद्राणां स्थाणुलिङ्गं समाधेयम् । यन्प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ५१ ॥

उस- (नदी) के पूर्वी भागमें महामा बालविक्रमोंने सन्निहित सगेरतक बगोड़ों रुड़ोंनी स्थापना की है गन्धर्वों, यक्षों एव विन्नरोंने दक्षिण दिशानी ओर भगवान् शक्रर अमह्य जिह्नोंनी स्थापना की है। कपुन कटना है कि साढ़े तीन करोड़ जिह्नोंनी स्थापना हुई है। स्थाणुतीर्थमें अनन सद्यः रुद्र जिह्ना विद्यमान हैं मनुष्यको चाहिये कि श्रद्धाक साथ स्थाणु जिह्ना आश्रय ले। इसमें स्थाणु जिह्नोंनी दयामें मनोवाञ्छित फ मिलता है ॥ ४८-५१ ॥

अकामो वा स्वकामो वा प्रविष्टः स्थाणुमन्दिरम् । विमुक्त पातकैर्वरैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ५२ ॥
 चैत्रमासे त्रयोदश्या दिव्यनक्षत्रयोगतः शुभार्चनस्ययोगे दिने पुण्यतमे शुभे ॥ ५३ ॥
 प्रतिष्ठितं स्थाणुलिङ्गं ब्रह्मणा लोकधारिणा । ऋषिभिर्देवसर्वैश्च पूजितं शाश्वतं समा ॥ ५४ ॥
 तस्मिन् काले निराहारा मानवा श्रद्धयाग्निना । पूजयन्ति शिवं ये वै ते यान्ति परमं पदम् ॥ ५५ ॥
 तदारूढमिदं घात्या ये कुर्वन्ति प्रदक्षिणाम् । प्रदक्षिणीहता तैस्तु सततं वा यमुन्धरा ॥ ५६ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे षट्षात्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य निष्काम वा सकामभावमें स्थाणु-मन्दिरमें प्रवेश करता है, वह धीरे धीरे सदाशिव पारर परम पदको प्राप्त करता है। जब चैत्र महीनेनी त्रयोदशी तिथिमें दिव्य नक्षत्रोंन योग हुआ औ उसमें शुक्र, सूर्य, चंद्रका (शुभ) संयोग हुआ तब अतीव पवित्र शुभ दिनमें जगत्का धारण और पोषण करनेवाले ब्रह्मने स्थाणु लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया। ऋषियों एव देवताओंक द्वारा अनन्त वर्षोंतक अर्थात् सदैव इसनी अर्चना होती रहेगी। जो मनुष्य उस समय निराहार रहते हुए व्रत करके श्रद्धासे शिवनी पूजा करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है। जिन मनुष्योंने स्थाणु-लिङ्गको शिवमें आग्द (निष्ठ) मानकर उसकी प्रदक्षिणा की, उन्होंने मानो सात हीमानी पृथिवीनी प्रदक्षिणा कर ली ॥ ५२-५६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥



[अथ सप्तत्वारिंशोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

स्थाणुतीर्थप्रभाव तु श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने । केन सिद्धिरयं प्राप्ता सर्वपापभयागता ॥ १ ॥

मैतालीसर्गो अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थके सन्दर्भमें राजा वनवा चरित, पृथु जम और उनका अभियेक, वेनके उच्चारके लिये पृथु प्रयत्न और वेनकी शिष्य स्तुति)

मार्कण्डेयर्तने कथा—मुने । अब मैं आपसे स्थाणुतीर्थके प्रभावमें सुनना चाहता हूँ। इस तीर्थमें किसने सभी प्रकारके पापों एव भयोंको दूर करनेवाली सिद्धि प्राप्त की ? ॥ १ ॥

सनाकुमार उवाच

ऋणु सर्वभद्रोपेण स्थाणुमहात्म्यमुत्तमम् । यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानव ॥ २ ॥

एवापार्थे जगत्पस्मिन् नष्टे स्वावरजज्ञे ।

विष्णोर्नाभिसमुद्भूतं पद्ममध्यजं मनः । तस्मिन् प्रसादात्समुद्भूतं सर्वलोचपितामह ॥ ३ ॥

तस्मान्मरीचिरभवामरीचेः कश्यपः सुतः । कश्यपाद्भवद् भास्वास्तस्मान्मनुरजायत ॥ ४ ॥
 मनोस्तु भ्रुवतः पुत्र उत्पन्नो मुखसंभवः । पृथिव्यां चतुरन्तायां राजासीद् धर्मरक्षिता ॥ ५ ॥
 तस्य पत्नी बभूवाय भया नाम भयावहा । मृत्योः सकाशादुत्पन्ना कालस्य दुहिता तदा ॥ ६ ॥

सनत्कुमारने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेय ! तुम स्थाणुके उत्तम माहात्म्यको पूर्णतया सुनो, जिसको सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे बिल्कुल छूट जाता है । इस अचर-सचर संसारके प्रलयकालीन समुद्रमें विलीन हो जानेपर अन्न्यक्तजन्मवाले विष्णुकी नाभिसे एक कमल उत्पन्न हुआ । उससे समस्त लोकोंके पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए । उनसे मरीचि हुए और मरीचिके पुत्र हुए कश्यप । कश्यपसे सूर्य उत्पन्न हुए एवं उनसे उत्पन्न हुए मनु । मनुके लीकनेपर उनके मुँहसे एक पुत्रकी उत्पत्ति हुई । वह सारी पृथ्वीके धर्मकी रक्षा करनेवाला राजा हुआ । उस राजाकी भया नामकी पत्नी हुई, जो (सचमुच) भय उत्पन्न करनेवाली थी । वह कालकी कन्या थी और मृत्युके गर्भसे उत्पन्न हुई थी ॥ २-६ ॥

तस्यां समभवद् वेनो दुरात्मा वेदनिन्दकः । स हृष्ट्वा पुत्रवदनं क्रुद्धो राजा वनं ययौ ॥ ७ ॥
 तत्र हृत्वा तपो घोरं धर्मेणावृत्य रोदसी । प्राप्तवान् ग्रहासदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ८ ॥
 वेनो राजा समभवत् समस्ते क्षितिमण्डले । स मातामहदोषेण तेन कालात्मजात्मजः ॥ ९ ॥
 घोषधामास नगरे दुरात्मा वेदनिन्दकः । न दातव्यं न यष्टव्यं न होतव्यं कदाचन ॥ १० ॥

(फिर तो) उससे वेनने जन्म लिया जो दुरात्मा था तथा वेदोंकी निन्दा करनेवाला था । उस पुत्रके मुस्कको देखकर राजा क्रुद्ध हो गया और वनमें चला गया । उसने वहाँ घोर तपस्या की तथा पृथ्वी एवं आकाशके बीचके स्थानको धर्मसे व्याप्तकर नहीं छोड़नेवाले स्थान उस ऋष्यलोकको प्राप्त कर लिया । (और इधर) वेन सम्पूर्ण भूमण्डलराज राजा हो गया । अपने नानाके उस दोषके कारण कालकन्या भयाके उस दुरात्मा वेद-निन्दक पुत्रने नगरमें यह घोषणा करा दी कि कभी भी (कोई) दान न दे, यज्ञ न करे एवं हवन न करे—(दान, यज्ञ, हवन करना अपराध माना जायेगा) ॥ ७-१० ॥

महमेकोऽहं वै पन्थ्यः पृथ्व्योऽहं भयतां सदा । मया हि पालिता यूयं निधस्रग्धं यथासुखम् ॥ ११ ॥
 तन्मत्तोऽग्न्यो न देवोऽस्ति शुष्माकं यः परायणम् । पतच्छ्रुत्वा तु वचनमृषयः सर्व एव ते ॥ १२ ॥
 परस्परं समागम्य राजानं धापयमब्रुवन् । श्रुतिः प्रमाणं धर्मस्य ततो यतः प्रतिष्ठितः ॥ १३ ॥
 यगैर्विना नो प्रीयन्ते देवाः स्वर्गनिवासिनः । अप्रीता न प्रयच्छन्ति वृष्टिं सम्यस्य वृद्धये ॥ १४ ॥
 नन्माद् यगैः देवैः धार्यते सगराचरम् । पतच्छ्रुत्वा क्रोधच्छिपिनः प्राह पुनः पुनः ॥ १५ ॥

इस संसारमें एतन्मात्र ही ही आर लोकोका बन्दीय और पूजनीय हैं । आप लोग मुझसे रक्षित रहकर आनन्दपूर्णतया विकास करें । मुझसे भिन्न कोई दूसरा देवता नहीं है, जो आप लोगोंका उत्तम आश्रय हो सके । वेदोंके इस पद्यको सुननेके पश्चात् सभी ऋषियोंने आपसमें मिठकर (निधय क्रिया और) राजासे यह वचन कहा—राजन् ! धर्मके सिद्धमें वेद (शास्त्र) ही प्रमाण हैं । जहाँसे यह विदित हैं, प्रतिष्ठित हैं—विष्णु-रूपमें मान्य हैं । (उस) पद्यके किये दिना स्वर्गमें रहनेवाले देवता सन्तुष्ट नहीं होते और बिना सन्तुष्ट हुए वे बरती वृष्टिके बिना वर्षाकी वृष्टि नहीं करते । अतः विष्णुमय यज्ञों और देवताओंसे ही चर-अचर समस्त संसारका भरण और पोषण होता है । यह सुनकर वेन क्रोधसे लोंगे लालकर बार-बार कहने लगा—॥११-१५॥

न यद्व्यं न दानव्यमित्याह प्रोधमूर्च्छितः । ततः क्रोधसमाविष्टा श्रुपयः सर्वं एष ते ॥ १६ ॥
 निजधनुर्मन्त्रपूतैस्ते बुधैर्भ्रजसमन्वितैः । ततस्त्वराजके लोके तमसा संवृते तदा ॥ १७ ॥
 दस्युभिः पीड्यमानास्तान् श्रुपौस्ते शरणं ययुः । ततस्ते श्रुपयः सर्वे ममन्पुस्तम्य ये वारम् ॥ १८ ॥
 सर्व्यं तस्मात् समुत्तस्यौ पुरयो द्वसद्वशानः । तमूचुश्श्रुपयः सर्वे निर्योदतु भवानिति ॥ १९ ॥

क्रोधसे झण्डाकर (निडमिटाकर) उसने 'न यद् दान देना दोगा और न दान देना दोगा'—ऐसा कहा । उसके बाद श्रुपियोंने भी क्रुद्ध होकर, मन्त्रद्वारा वरमय बुधोंसे उसे मार डाला । उसके (मर जानेके) बाद (राजासे रहित) संसारमें अराजकता छा गयी, जिसमें सर्वत्र अशान्ति फैल गयी । चौरों-डाकुओंने लोकाजनोंको पीडित कर डाला । दस्युदशोंसे श्रद्धा जनवर्ग उन श्रुपियोंकी शरणमें गया, जिस श्रुपिकोंने उस वेनको मार डाला था । उसके बाद उन सभी श्रुपियोंने उसके बायें हाथको मथित किया । उससे एक पुरुष निकला जो छोट्य बौना दोग रहा था । सभी श्रुपियोंने उससे कहा—'निर्योदतु भवान्' अर्थात् आप बैठे ॥ १६-१९ ॥

तस्माद्रिपादा उत्पन्ना येनकल्मषसंभयाः । ततस्ते श्रुपयः सर्वे ममन्पुर्दक्षिणं वारम् ॥ २० ॥
 मय्यमाने करे तस्मिन् उत्पन्नः पुरयोऽपरा । वृद्धस्तालप्रतीकारो दिव्यलक्षणलक्षणः ॥ २१ ॥
 धनुर्याणाङ्घ्रिकरश्चक्रध्वजसमन्वितः । तमुत्पन्नं तदा दृष्ट्वा सर्वे देवाः सवासयाः ॥ २२ ॥
 मय्यपिश्वन्नं पृथिव्यां तं राजानं भूमिपालकम् । ततः स रज्जवामास धमेण पृथिवीं तदा ॥ २३ ॥

उस बायें हाथके मथनेसे निकले हुए बौने पुरुषसे श्रुपियोंद्वारा 'निर्योदतु भवान्' कहनेके कारण 'निर्योदतु' के आधारपर निपादोंकी उत्पत्ति हुई जो वेनकी पापभूमि थे । इसके बाद उस बौने पुरुषसे राक्षसार्थ-संवाचनमें अनुपयुक्त समझकर उन सभी श्रुपियोंने (पुनः मरे हुए) वेनके बायें हाथको मथा । उस हाथके मथे जानेपर बड़े शालवृक्षकी भाँति और दिव्य लक्षणोंसे युक्त एक दूसरा पुरुष निकला । उसके हाथमें धनुष, बाण, चक्र और ध्वजाकी रेखाएँ थीं । उस समय उसे उत्पन्न हुआ देखकर इन्द्रके सहित सभी देवताओंने उससे पृथ्वीमें भूलोकका पालन करनेवाले राजाके रूपमें (राजपदपर) अभितिक कर दिया । उसके बाद उसने पृथिवीसर्वमूर्धक रक्षण किया—प्रजाको प्रसन्न रखा ॥ २०-२३ ॥

पित्राऽपरञ्जिता तस्य तेन सा परिपालिता । तत्र यजेतिशाम्भोऽस्य पृथिव्या रक्षनाद्भुव् ॥ २४ ॥
 स राज्यं प्राप्य तेभ्यस्तु चिन्तयामास पार्थिवः । पिता मम अर्धमिष्टो यज्ञस्युच्छित्तिकारकः ॥ २५ ॥
 कथं तस्य क्रिया कार्या परलोकसुखायहा । इत्येयं चिन्तयानम्य नारदोऽस्याजगाम ॥ २६ ॥
 तस्मै स चासन्नं इत्या प्रणिपत्य च पूष्टवान् । भगवन् सर्वलोकस्य जानासि त्वं शुभानुभम् ॥ २७ ॥
 पिता मम दुराचारो देवग्राहणनिन्दकः । स्वकर्मरहितो विप्र परलोकमवाप्तवान् ॥ २८ ॥

उसके तिताने जिस जनताको अपने कुकृत्योंसे अपरागवाली बना दिया था उसी जनतासे उसने मर्त्यमौलित शक्ति किया । सारी पृथ्वीसर्व रक्षण करनेके कारण ही उसे यथार्थरूपमें 'राजा' शब्दमें सम्बोधित किया जाने लग्य । वह पृथ्वीपति राजा उनसे राज्य प्राप्त कर चिन्तन करने लग्य कि मेरे पिता अधर्मी, पाप-मति और यज्ञस्य विरोधक उच्छेद करनेवाले थे । इसलिये कौन-सी क्रिया की जाय जो उन्हें परलोकमें सुख देनेवाली हो । (उसी समय) इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसके पास नारदजी आ गये । उसने उन नारदजीको बैठनेके लिये आसन दिया और साष्टाङ्ग प्रणाम कर पूजा—भगवन् ! आप सारे संसारके प्राणिपोंके शुभ और अनुभवे जानते हैं; (देखें,) मेरे पिता देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाले दुराचारी थे । विप्रदेव ! वे अपने कर्मस्य कर्मसे रहित थे और अब वे परलोक चले गये हैं (उनकी गतिके लिये मुझे कौन-सी क्रिया करनी चाहिये ?) ॥ २४-२८ ॥

नतोऽग्र्योन्नाग्दन्तं । त्वया दिव्येन चक्षुषा । स्मृच्छ्रमये समुत्पन्नं श्रयकुटुम्बमन्वितम् ॥ २९ ॥
 तच्छ्रम्या वचनं त्वम नाग्दन्त्य महात्मनः । चिन्तयामास दुग्धान्तः कार्यं कार्यं मया भवेत् ॥ ३० ॥
 इत्येवं चिन्तयानस्य मतिर्ज्ञाना महात्मनः । पुत्रः स कथ्यते लोकैः यः पितृन्व्यायने भवान् ॥ ३१ ॥
 एवं स्मोऽन्वय स तदा नाग्दं पृष्टवान् मुनिम् । नाग्दं मन्विनुन्मस्य मया कार्यं कार्यं मुने ॥ ३२ ॥

उत्तरे बाद नाग्दमगमन करनी दिव्य दृष्टिसे देखकर उत्तरे बोले—गजन ! तुम्हारे पिता स्मृच्छ्रमके बीचमें जन्मे हैं । उन्हें श्रमोंग और कुटुम्बों हो गया है । महात्मा नाग्दके ऐसे वचनको सुनकर वह राजा दुग्धी हो गया और विचारने लगा कि अथ मुझे क्या करना चाहिये । इस प्रकार सोचने-विचारने उस महात्मा राजाको बुद्धि उत्पन्न हुई कि मैंमामें पुत्र उत्पन्नो कहने हैं जो पितृमैको नरकके भयसे नार दे । इस प्रकार विचार करके उस राजाने नाग्दमुक्तिसे पूछा—मुने ! मेरे उस दिव्यत पिताके उद्धारके लिये मुझे क्या करना चाहिये ? ॥ २९-३० ॥

नाग्द दवाच

गच्छ स्वं तस्य नं वेदं तोषिषु कुरु निर्मलम् । यत्र व्यासोमंदकांथे सरः नन्निहितं प्रति ॥ ३३ ॥
 एतच्छ्रम्या नृ वचनं नाग्दस्य महात्मनः । मन्त्रिये राज्यमाश्रय राजा स तु जगाम ह ॥ ३४ ॥
 स गन्ध गोबर्ग भूमि स्मृच्छ्रमये वदन् ह । कुटुम्बेण महात्मा श्रयणं च समन्वितम् ॥ ३५ ॥
 नतः शोषेन महात्मा संतप्तो वाक्यमप्रयोत् । हं स्मृच्छ्रा नोमि पुत्रसंभवज्ञं च नयाम्यहम् ॥ ३६ ॥

नाग्दवाचि वचन — तुम म्यायु मयातके महान तीर्थमन्त्र मन्त्रित नरके, मंगलकी और जाधो एवं उत्तरी उस वे को तीर्थमें कुछ करो । यह राजा महात्मा नाग्दकी यह बात सुन करके, मन्त्रीके ऊपर राज्य-मार मीपण करी वदना म । उत्तरे उत्तर विचारमें राजा स्मृच्छ्रम बीच : बाद कुछ और श्रममेंगमे पीड़ित अपने पिताको । वह नाग्द राजा शोषे मन्त्रय होकर उत्तरे कहा कि स्मृच्छ्र ! मैं इस पुत्रको प्रणाम करता हूँ और मेरे लिये नरके जाया । ॥ ३३-३६ ॥

नराशंसने निगदं परिधिं याद मन्त्रय । तथेति नये ते स्मृच्छ्राः पुत्र्यं नं द्यापणम् ॥ ३७ ॥
 कच्छुः श्रवणसर्वादा यथा जज्ञामि नरदुर । नत आनीय पुत्रनाम्निथिकायादतोचितान ॥ ३८ ॥
 कथा शुभं च विद्युत्तं सुगंन नयत द्विजम् । नतः श्रुत्वा नृ वचनं तस्य गडो द्यावतः ॥ ३९ ॥
 गृहीत्या विप्रिनो विप्रं मुनेमेव यान्ति ते । तत्र नोप्या व्याणुनाथे श्रवतार्यं च ते गताः ॥ ४० ॥

उत्तरे नाग्द, उत्तरे मयासे मेरे इस पुत्रको वचन के जाकर गेगने मुन करके । वे मधी स्मृच्छ्र उस वदना पुत्रको गता जगाम मने ह । उत्तरे—तीर्थ है : महा मन्त्री, देव जग । उत्तरे बाद उत्तरे महात्मा शोषे मन्त्रय पुत्रको कुछकर और उन्हें दुग्धी मन्त्रितिक देकर गया—इस द्विजको मुन्दबुद्धि से नरके । इस वदना नाग्दो नाग्दुत्तर के लिये पादकी उद्धार जोप्रमने दुग्धेय होत हूँ म्याशुनाथमें ले जाया शोषे मने । उत्तरे मने मने) उत्तरे मने ॥ ३७-४० ॥

ततः स गन्ध गोबर्ग भूमि स्मृच्छ्रमये वदन् ह । ततो वासुगन्त्रिक्षे इदं वचनमप्रयोत् ॥ ४१ ॥
 मा ताव मपश्यं मासीमर्थे ह्यप्रयत्नतः । कार्यं पापेन शोषेण श्रमाय परिचोषितः ॥ ४२ ॥
 वेदविदा मन्त्रयानं परमार्थे नैव मन्त्रयन्ते । सोऽनं स्नाताप्रदक्षार्थं नागाधिपति तद्वशात् ॥ ४३ ॥
 एतान् शोषेनानामस्य दुग्धीनं दुग्धेयतः । परः शोषेन पापेन श्रमाय परिचोषितः ॥ ४४ ॥

उत्तरे नाग्द, उत्तरे मयासे मेरे इस पुत्रको वचन के जाकर गेगने मुन करके । वे मधी स्मृच्छ्र उस वदना पुत्रको गता जगाम मने ह । उत्तरे—तीर्थ है : महा मन्त्री, देव जग । उत्तरे बाद उत्तरे महात्मा शोषे मन्त्रय पुत्रको कुछकर और उन्हें दुग्धी मन्त्रितिक देकर गया—इस द्विजको मुन्दबुद्धि से नरके । इस वदना नाग्दो नाग्दुत्तर के लिये पादकी उद्धार जोप्रमने दुग्धेय होत हूँ म्याशुनाथमें ले जाया शोषे मने । उत्तरे मने मने) उत्तरे मने ॥ ३७-४० ॥

स्याणु तीर्थमें पहुँचनेपर जब वह राजा स्नेह्यैने घोर उपवास हुआ एवं क्षय और व्युत्थोगसे आज्ञान्त अपने पिताकी देहको मग्याह कालमें स्नान कराने लगा तो अन्तरिक्षमें गायुत्ससे देवताओंने यह वचन कहा कि तात ! इस प्रकारका साहस मत करो । तीर्थकी प्रथमपूर्वक स्नान करो । यह वचन शोर पाप पर चुम्ब है, (इसका) रोम रोम पापसे मत्त है, गिरा है । वेदकी निन्दा करना महान् पाप है, जिसका अन्त नहीं होता । अतएव यह स्नान नरक इस महान् तीर्थको तन्वात्र नष्ट कर देगा । गायुत्सी देवताओंन इस वचनको सुनकर दुःखी एवं शोकमें सन्तत हुए राजाने कहा—देवताओ ! यह घोर पापसे अत्यन्त परित्राप्त है ॥ ४१—४४ ॥

प्रायश्चित्तं करिष्येऽहं यद्बुद्धिप्यन्ति देवता । ततस्तथा देवताः सर्वा इदं वचनमब्रुवन् ॥ ४५ ॥
 स्नात्वा स्नात्वा च तीर्थेषु अभिषिञ्चस्व वारिणा । भोजनया चुलुङ्गं वायन् प्रतिकूले सरस्वतीम् ॥ ४६ ॥
 स्नात्वा मुक्तिमवाप्नोति पुरुष धृद्वयान्वित । एष स्वपोषणपणे देवदूषणनपर ॥ ४७ ॥
 ब्राह्मणैश्च परित्यक्तो नैव शुद्धयति कर्हिचित् । नस्मादेनं समुद्दिश्य स्नात्वा तीर्थेषु भक्ति ॥ ४८ ॥
 अभिषिञ्चस्व तोयेन तत पूनो भविष्यति । इत्येतद्बचनं श्रुत्वा हृत्वा तम्याश्रमं तन ॥ ४९ ॥
 तीर्थयात्रा ययौ राजा उद्दिश्य जनकं स्वकम् । स तेषु प्लाननं कुर्वन्तीर्थेषु च दिने दिने ॥ ५० ॥
 अभ्यषिञ्चत् स्वपितरं तीर्थतोयेन नित्यदा । एतस्मिन्नेव काले तु सारमेयो जगाम ह ॥ ५१ ॥
 स्थाणोमंठे कौलपतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता । परिग्रहस्य द्रव्यस्य परिपालयिता मदा ॥ ५२ ॥
 प्रियश्च सर्पलोकेषु देवकार्यपरायण । तस्यैवं यत्समानस्य धर्ममार्गं स्थितस्य च ॥ ५३ ॥
 कालेन चलिता बुद्धिर्देवद्रव्यस्य नाशने । तेनाधर्मेण युक्तस्य परलोकगतस्य च ॥ ५४ ॥
 दृष्ट्वा यमोऽग्रवाद् वाक्यं श्वयोनिं व्रज मा चिरम् । तद्वाक्यानन्तरं जात भ्या वै सौगन्धिके वने ॥ ५५ ॥

(परन्तु) देवग ' आप लोग इसक लिये जो प्रायश्चित्त नदेंगे, उसे मैं नरुँगा । उमक ऐसा कहनेपर उन सभी देवताओंने यह बात कही—तीर्थमें बार-बार स्नान नरक तीर्थ-जलद्वारा इसे बार-बार सींचो । सरस्वतीके तटपर 'ओजसतीर्थ'से 'चुलुङ्ग'पर्यन्त हर-एक तीर्थमें स्नान करनेका श्राद्ध पुरुष मुक्तिको प्राप्त करता है । यह अपना ही पावन-योग करनेमें लगा रहता था पर देवताओंकी निन्दा करनेमें तपर रहता था । ब्राह्मणोंने इसको पाप करनेक कारण त्याग दिया था । यह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता । इसलिये (इसकी यदि शुद्धि चाहते हो तो) इसके उद्देश्यसे तीर्थमें जाकर भक्तिपूर्वक स्नान नरक तीर्थ नरसे इने अभितिक करो । इससे यह पवित्र हो जायगा । उसके बाद राजा देवताओंक इन वचनोंक सुनकर बाद वहाँ अपने पिताके लिये एव आश्रमका निर्माण करानेपर उसके उद्देश्यसे तीर्थयात्रा करने चला गया । न प्रनदिन उन तीर्थमें स्नान करते हुए तीर्थजलसे अपने पिताको अभितिक करने लगा । इसी समय वहाँ एव बुत्ता आ गया । (बुत्तेका इतिहास इस प्रकार है—) पूर्व कालमें वह बुत्ता स्थाणुनीर्यमें स्थित मठमें देव-द्रव्योंकी रक्षा करनेकाग—दानमें प्राप्त द्रव्यका सारा पावन करनेका—सर्पजनप्रिय एव देवकृत्यमें रत कौलपति नामका महन्त था । इस प्रकार वह अपना जीवनयापन कर रहा था । एक बार धर्म-मार्गमें स्थित रहते हुए भी उस कौलपतिकी बुद्धि कुछ समयक बाद धर्ममार्गमें हट गयी । वह देवद्रव्यका नाश (दुरुपयोग) करने लगा । वह अधर्मी (दना) कौलपति जब मरकर परलोकमें गया, तब यमराजने उसे (उसके कर्मविशालको) देखकर कहा—तुम बुत्तेकी योनिमें जाओ, देर मत करो । उनके कहनेके पश्चात् वह महन्त सौगन्धिक वनमें बुत्तेकी योनिमें उपास हुआ ॥ ४५—५५ ॥

ततः खलेन महता श्वयूधपरिवारितः । परिभूतः सरमया दुःखेन महता : ॥ ५६ ॥
 त्यक्त्वा द्वैतवर्गं पुण्यं सान्निहत्यं ययौ सरः । तस्मिन् प्रविष्टमात्रस्तु स्थाणोरेव प्रसादतः ॥ ५७ ॥
 कर्ताव तृपया युक्तः सरस्वत्यां ममज्ज ह । तत्र संप्लुतदेहस्तु विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ५८ ॥
 आहारलोभेन तदा प्रविवेश कुटोरकम् । प्रविशन्तं तदा दृष्ट्वा श्वानं भयसमन्वितः ॥ ५९ ॥
 स तं पस्पर्शं शनकैः स्थाणुतीर्थं ममज्ज ह । पततः पूर्वतीर्थेषु विप्रुषैः परिपिञ्चतः ॥ ६० ॥
 शुनोऽस्य गावसम्भूतैरब्धिविन्दुभिः स सिञ्चितः । विरक्तदृष्टिश्च शुनः क्षेपेण च ततः परम् ॥ ६१ ॥
 स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यात् स पुत्रेण च तारितः ।

नियतस्तत्क्षणाज्जातो दिव्यदेहसमन्वितः । प्रणिपत्य तदा स्थाणुं स्तुतिं कर्तुं प्रचक्रमे ॥ ६२ ॥

उसके बाद बहुत समय व्यतीत होनेतक वह कुत्ता कुत्तोंके झुंडसे बिरा रहता था; फिर भी कुतियासे अपमानित होनेके कारण अत्यन्त दुःखित रहता था । इसलिये वह द्वैतवमको छोड़कर पवित्र सान्निहत्य-सरोवरमें चला गया । उसमें प्रवेश करते ही स्थाणु भगवान्की ही कृपासे अत्यन्त प्यासा होकर उसने सरस्वती नदीमें डूबकी लगायी । उसमें स्नान करनेसे ही वह समस्त पापोंसे विमुक्त हो गया । उसके बाद आहारके लोभसे उसने कुत्तीमें प्रवेश किया । उस कुत्तेको प्रवेश करते देखकर भयभीत होकर उस- (वेन-)ने उसका धीरेसे स्पर्श किया । स्पर्श करनेके बाद स्थाणुतीर्थमें उसने स्नान किया । पूर्वतीर्थमें स्नान करनेके बाद तीर्थके जलविन्दुओंसे सिद्धि वरनेवाले पुत्रसे एवं उस कुत्तेके शरीरसे निकले जल-विन्दुओंसे सिद्धि होने तथा कुत्तेके भयसे स्थाणुतीर्थमें गिर जानेके कारण स्नान हो जानेके माहात्म्यसे उसकी दृष्टि विरक्त हो गयी । पुत्रने स्थाणुतीर्थके माहात्म्यसे अपने गिताका उद्धार कर दिया और संयतेन्द्रिय होकर उसने तत्काल दिव्य देह धारण कर भगवान् स्थाणुको प्रणाम किया और स्तुति वरना प्रारम्भ किया ॥ ५६-६२ ॥

वेन उवाच

प्रपद्ये देवमीशानं त्वामजं चन्द्रभूषणम् । महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ६३ ॥
 नमस्ते देवदेवेश सर्वशशुनिपूदन । देवेश बलिविष्टम्भ देवदैत्यैश्च पूजित ॥ ६४ ॥
 विरूपाक्ष राष्ट्रनाक्ष त्र्यक्ष यक्षेश्वरप्रिय । सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ ६५ ॥
 सर्वतः श्रुतिमहोषेः सर्वमावृत्य तिष्ठसि । शङ्कर्कर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ६६ ॥

वेन स्तुति करने लगा— मैं अज्ञाना चन्द्रमाके शिरोभूषणवाले, ईशानदेव, महात्मा, सारे संसारका पावन करनेवाले आप महादेवकी शरण ग्रहण करता हूँ । देवदेवेश ! समस्त शत्रुओंके निपूदन ! देवेश ! बलिको निरस्त करनेवाले ! जेठे एवं दैत्योंसे पूजित ! आपको नमस्कार है । हे (विरूप आँखवाले) विरूपाक्ष ! हे (हजारों आँखवाले) राष्ट्रनाक्ष ! हे तीन नेत्रवाले ! हे यक्षेश्वरप्रिय ! हे चारों ओरसे (हाथ-पैरवाले) पाणिपादशुभ ! हे चारों ओर आँव एवं मुखवाले ! आपको नमस्कार है । आप सर्वत्र सुन सकनेवाले और सभी स्वतन्त्र व्याप्त हैं । संसारमें आपने सभीको आवृत कर (ढक) रखा है । हे शङ्कर्कर्ण ! हे महाकर्ण ! हे कुम्भकर्ण ! हे समुद्र-निवासी ! आपको नमस्कार है ॥ ६३-६६ ॥

गणेश्वरकर्म गोकर्णं पाणिकर्णं नमोऽस्तु ते । शतजिह्वं शतायतं शतोदरं शतानन ॥ ६७ ॥
 गायन्ति त्वां गायत्रिणो ह्यर्चयन्त्यहोमर्चिणः । प्रक्षालं त्वा शतकृतो उद्वंशमिव मेनिरे ॥ ६८ ॥
 मूर्त्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राभ्युपसक्तया । देवताः सर्वे पवात्र गोष्ठे गाव इवासते ॥ ६९ ॥
 शतैः नव पश्यन्ति सोममर्षि जलेभ्यरम् । नापायणं तथा सूर्यं प्रक्षालं च गृहस्पतिम् ॥ ७० ॥

हे गणैरुक्तं ! हे गोकर्ण ! हे पानिकर्ण ! हे कणजिह ! हे कणावर्ण ! हे कसोदर ! हे कतानन ! आर्यो नमस्कार है । गणमीकर जप करनेवाले विद्वान् आपकी ही मद्दिना करते हैं । सूर्यकी पूजा करनेवाले सूर्यरूपसे आर्यकी ही पूजा करते हैं । आपकी ही सनी लोग इन्दिसे श्रेष्ठ बंधावाला ब्रह्मा मानते हैं । महात्मने ! आर्यकी मूर्तिमें स्मृत्, मेघ और समस्त देवता ऐसे स्थित हैं जैसे गेशालने नीचे रहती हैं । मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, मारुत, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको देख रहा हूँ ॥ ६७-७० ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रियाकरणमेव तत् । प्रभवः प्रत्ययश्चैव सदसच्चापि वैवर्तम् ॥ ७१ ॥
 नमो भवाय शर्याय परदायोमरुपिणे । अन्धकामुररुहने च पशुनां पतये नमः ॥ ७२ ॥
 त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिदालासकपालये । श्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुररुज्ज नमोऽस्तु ते ॥ ७३ ॥
 नमो मुण्डाय चण्डाय अण्डायोत्पत्तिहेतवे । द्विष्टिमासकहस्ताय द्विष्टिमुण्डाय ते नमः ॥ ७४ ॥

आप भगवान्, कारण, कार्य, क्रियाके कारण, प्रभव, प्रत्यय, सत्, असत् एवं वैवर्त हैं । भव, शर्व, वरद, वम-रूप धारण करनेवाले, अन्धकामुरको मारनेवाले और पशुओंके प्रति पशुवतिको नमस्कार है । हे त्रिपुरनाराक ! तीन जटावाले, तीन शिरवाले, हाथमें त्रिशूल लिये रहनेवाले एवं त्रिनेत्र (बहुरेखनेवाले) आर्यो नमस्कार है । हे मुण्ड, चण्ड और अण्डकी उत्पत्तिके हेतु, द्विष्टिभगाणि एवं द्विष्टिमुण्ड ! आपको नमस्कार है ॥ ७१-७४ ॥

नमोऽर्धवेनाशुंष्टाय शुष्काय विहृताय च । धूम्रलोहितकृष्णाय नीलमीषाय ते नमः ॥ ७५ ॥
 नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिषाय च । सूर्यमालाय सूर्याय शरूपध्वजमालिने ॥ ७६ ॥
 नमो मानातिमानाय नमः पट्टनराय ते । नमो गणेंद्रनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने ॥ ७७ ॥
 संक्रन्धनाय चण्डाय पर्णधारपुंदाय च । नमो हिरण्यवर्जाय नमः कनकवर्चसे ॥ ७८ ॥

हे अर्धवेना, अर्धदंष्ट्र, शुष्क, विहृत, धूम्र, रोहित, कृष्ण एवं नीलमीष ! आपको नमस्कार है । अमृतीरूप, विरूप, शिष, सूर्यमाल, सूर्य एवं शरूपध्वजमालीको नमस्कार है । मानातिमानको नमस्कार है । आप पट्टनको नमस्कार है । गणेंद्रनाथ, वृषस्कन्ध एवं धन्वीको नमस्कार है । संक्रन्दन, चण्ड, पर्णधारपुंदा एवं हिरण्यवर्जाको नमस्कार है । कनकवर्चसको नमस्कार है ॥ ७५-७८ ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तुतिस्त्रयाय नमोऽस्तु ते । सर्वाय सर्वभज्ञाय सर्वमृतशरीरिणे ॥ ७९ ॥
 नमो होत्रे च हव्रे च सितोद्गमपताकिने । नमो नम्याय नम्राय नमः कटकटाय च ॥ ८० ॥
 नमोऽस्तु कृत्वानाशाय शयितापोत्थिताय च । स्थिताय धावमानाय मुण्डाय कुटिलाय च ॥ ८१ ॥
 नमो नर्त्तनशीलाय लयवादिशरालिने । नाट्योपहारलुग्धाय मुरव्यादिशरालिने ॥ ८२ ॥

स्तुत किये गये तथा स्तुतिके योग्य (आप) को नमस्कार है । स्तुतिमें स्थित, सर्व, सर्वभय एवं सर्वभूतशरीरी आर्यको नमस्कार है । होत्रा, हव्ता तथा सक्केर और ऊँची पतकावात्रिको नमस्कार है । नमन करनेयोग्य एवं नम्रको नमस्कार है । आप कटकटको नमस्कार है । कृत्वानाश, शयित, स्थित, धावमान, मुण्ड एवं कुटिलको नमस्कार है । नर्त्तनशील, लय वाद्यशास्त्री, नाट्यके उपहारके योगी एवं मुराँमें वम-वम-जैसे मुँहसे बोले जानेवाले वाच-श्रेमीको नमस्कार है ॥ ७९-८२ ॥

नमो ह्येष्टाय धेष्टाय बलानियलघातिने । कालनाशाय कालाय संसारक्षयकरिणे ॥ ८३ ॥
 हिमवद्बुधितुः चान्त भौरयाय नमोऽस्तु ते । शम्प्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशग्राहये ॥ ८४ ॥
 चितिभस्त्रियायैव कपालासकपालये । विभीषनाय भीष्माय भीमव्रतधरपय च ॥ ८५ ॥
 नमो विहृतवज्राय नमः पूनोमहृष्टये । पञ्चवामनांसुग्धाय दुग्धिवीष्णुश्रियाय ॥ ८६ ॥

श्रेष्ठ, श्रेष्ठ, ब्रह्मान्तमे भी ब्रह्मान्तको नष्ट करनेवाले, बालनाश, कालव्यय एवं संसारक्षयस्वरूप आर्यको नमस्कार है । हे दिगालयकी पुत्रीके पति—पार्वतीपति ! आप भैरवको नमस्कार है और उग्ररूप आपको नित्य नमस्कार है । दस बाहुओंवाले (शिव) को नमस्कार है । चित्तके भग्मको प्रिय माननेवाले, कपाल्यागि, अत्यधिक भयंकर भयंकर (भीम) एवं व्रतधर—(आप-)को (नमस्कार है) । विकृत मुँहवाले—(आप-)को नमस्कार है । पवित्र नेत्रखिनी दृष्टिवाले, कच्चे-पक्के फलके गूदेको प्रिय माननेवाले, तुम्ही एवं बीणाको प्रिय माननेवालेको नमस्कार है ॥ ८३-८६ ॥

नमो वृषाद्बुधाय गोवृषाभिन्ने नमः । कटकट्टाय भीमाय नमः परपराय च ॥ ८७ ॥
नमः सर्ववर्णिनाय वराय वग्दायिने । नमो विरक्तरक्ताय भावनायाक्षमालिने ॥ ८८ ॥
विभेदभेदभिराय छायायै तपनाय च । अघोरघोररूपाय घोरघोरनगाय च ॥ ८९ ॥
नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्तनमाय च । बहूनेत्रकपालाय एकमूर्ते नमोऽस्तु ते ॥ ९० ॥

वृषाद्बुधको नमस्कार है । गोवृषाभिन्नको नमस्कार है । कटकट्ट, भीम एवं परले भी परको नमस्कार है । सर्ववर्णि, वर एवं वग्दायीको नमस्कार है । विरक्त एवं रक्तरूप, भावन एवं अक्षमालीको नमस्कार है । विभेद एवं भेदमेतिल, छाया, तपन, अघोर तथा घोररूप एवं घोरघोररूपको नमस्कार है । शिव एवं शान्तको नमस्कार है । शान्तनम, बहूनेत्र एवं कपाल्यागीको नमस्कार है । हे एकमूर्ति ! आपको नमस्कार है ॥ ८७-९० ॥

नमः क्षुद्राय लुब्धाय यदाभागप्रियाय च । पञ्चालाय सिताक्षाय नमो यमनियामिने ॥ ९१ ॥
नमश्चित्रोक्तवण्टाय वण्टावण्टनिघण्टिने । सहस्रशनवण्टाय वण्टामालाविभूषिणे ॥ ९२ ॥
प्राणसंवट्टवर्गो नमः किलिकिलिप्रिये । हुंकाराय पाराय हुंकारप्रियाय च ॥ ९३ ॥
नमः समसमे नित्यं गृहवृक्षनिकेतिने । गर्भमांसशृगालाय तारकाय नगाय च ॥ ९४ ॥

क्षुद्र, लुब्ध, यदाभागप्रिय, पञ्चाल एवं सिताक्षको नमस्कार है । यमके नियमनकर्ताको नमस्कार है । चित्रोक्तवण्ट, वण्टावण्टनिघण्टीको नमस्कार है । सहस्रशनवण्ट एवं वण्टामालाविभूषितको नमस्कार है । प्राणसंवट्टवर्ग, किलिकिलिप्रिय, हुंकार, पार एवं हुंकारप्रियको नमस्कार है । समसम, गृहवृक्षनिकेती, गर्भमांसशृगाल, तारक एवं तारको नित्य नमस्कार है ॥ ९१-९४ ॥

नमो यसाय यजिने हृताय प्रहृताय च । यदावाहाय हव्याय तथ्याय तपनाय च ॥ ९५ ॥
नमस्तु पयसे तुभ्यं तुष्टानां पतये नमः । अत्रदायान्तपतये नमो नानावभोजिने ॥ ९६ ॥
नमः सहस्रशोषाय सहस्रचरणाय च । सहस्रोद्यनशूलाय सहस्राभरणाय च ॥ ९७ ॥
वायानुचरकोष्ठे च वायशीलाविलामिने । नमो वायव्य बुद्धाय क्षुब्धाय शोभणाय च ॥ ९८ ॥

यस, यजमान, हृत, प्रहृत, यदावाह, हव्य, तथ्य और तपनको नमस्कार है । पयसस्वरूप आपको नमस्कार है । तुष्टानों के पतियों को नमस्कार है । अत्रद, अत्रपति एवं अनेक प्रकारके अन्नभोजीको नमस्कार है । हजारों सिरवाले, हजारों चरणवाले, हजारों शूलको उद्योते हुए और हजारों आभूषणवालेको नमस्कार है । वायानुचरकी रक्षा करनेवाले, वायशीलमे नित्य करनेवाले, वाय, बुद्ध, क्षुब्ध एवं शोभणको नमस्कार है ॥ ९५-९८ ॥

पञ्चालवृक्षभेदाय मुखकेनाय चै नमः । नमः पटकर्मनुश्राय त्रिकर्मनिरताय च ॥ ९९ ॥
नमनमानाय चण्डाय कृणाय स्नातनाय च । धर्मार्थकाममोक्षाणां कथ्याय कथनाय च ॥ १०० ॥
साङ्ख्येयसाङ्ख्यसुश्रयाय साङ्ख्ययोगसुश्रयाय च । नमो विधरध्याय चतुष्पथरथाय च ॥ १०१ ॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्याल्यदोषपर्वानिने ।
वक्त्रसंभानवंशाय हरिद्वेद नमोऽस्तु ते । त्र्यम्बिताऽप्यिकनायाय व्यक्ताव्यक्ताय चैवमे ॥ १०२ ॥

गङ्गाद्विजिता और मुञ्जवशात् नमस्कार है । उ कामि सगुण तथा तीन कामि गौ रहनवात्रे (अप) वी नमस्कार है । नग्नप्राण, चण्ड, क्रुश, स्तोत्र तथा धर्म, अर्थ, धर्म और मातृ कर्म और कपनको नमस्कार है । साध्य, साध्यसुख, साध्ययोगसुख, विपरिथ्य तथा चतुष्पथयया नमस्कार है । कठे युगार्थके उत्तरीयवात्रे, सौपरु जनऊवात्रे, उक्त्रसधानकश, अन्विजगन्धिरनाय, दृश्य एव अदृश्य और वेगवत्स्य इ हरिकश । आपना नमस्कार है ॥ ००-१०० ॥

कामकामदकामन्य वृत्तात्मनश्चरिणः । नम सर्वं पापञ्च कलामत्ययिचारिणः ॥१०३॥
 महासत्य महासाहो महावलय नमोऽस्तु ते । महामेघ महाप्रथय माकाठ महागुने ॥१०४॥
 मेघावसं युगावसं चन्द्रार्णपतये नमः । त्वमप्रमत्तभोक्ता च पञ्चभुक् पात्रनोत्तम ॥१०५॥
 जरायुजाण्डजादरैव स्वदनोद्भिद्भिजाश्च ये । त्वमेव देवदयता भूतप्राप्तधनुर्विद्य ॥१०६॥

ह काम ! ह कामद ! ह कामनो नष्ट करनवात्रे ! आप तू सं और आत्मनिवारना नमस्कार है । ह सर्वद ! ह पाप दूर करनवात्रे ! आप कल्पसंयाचिचारीको नमस्कार है । ह महाप्रथ ! हे महागङ्गा ! ह महावलय ! हे महामेघ ! ह महाप्राय ! ह महागज एव ह महागुनि ! अपना नमस्कार है । ह मारवर्त ! हे युगावसं ! आप चन्द्रार्णपतिना नमस्कार है । आप हा अन्न, अन्न माता, पञ्चभुक् एव पत्रिनोत्तम श्रेष्ठ है । हे देवदेवेश ! आप ही जरायुज, अण्डज, स्वेदन, उद्भिज—चतुर्विं भूतसमुदाय हैं ॥ १०३-१०६ ॥

स्रष्टा चराचरस्यास्य पाता हन्ता तथैव च । चासाष्टांश विद्यासो भ्रम भ्रमविदा गतिम् ॥१०७॥
 मनस परमज्योतिस्त्व घायुज्योतिषामपि । हसत्कृश मधुकरमादुस्वया भ्रमवादिन ॥१०८॥
 यजुर्मयो ऋद्धमयस्त्वामाहु सामभयस्तथा । पछ्यसे स्तुतिभिर्नि य देवोपनिषदा गणे ॥१०९॥
 प्राद्वणा क्षत्रिया यैद्या शूद्रा यणोवराद्यथ । त्वमत्र मेवसमाद्य विद्युताऽऽनिर्गणितम् ॥११०॥

आप इस चराचरकी सृष्टि करनेवाले, पालन करनेवाले एव महाश करनवात्रे हैं । विद्वज्जन आपका भ्रम एव ज्ञानियोंकी (वैश्य) गति कहते हैं । आप मनसा परमयानि हैं और ज्ञानियोंके (धरण करनवात्रे) वायु हैं । ब्रह्मदाशन आपको हसत्कृश रहनवात्रे अन्न कहते हैं । व आपका यजुस्य, ऋष्य एव सामभय कहते हैं । वेद और उपनिषदोंके समस्त स्तुतियोंद्वारा आपका ही निय पत्र करत हैं । आप ही प्राजा, श्रेष्ठिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अन्न वर्ग, भयसम्, विद्युत् तथा भगवान् भी हैं ॥ १०७-११० ॥

सवत्सरस्त्वमृत्वो मासा मासाधमव च । युगा निमय ऋष्टाश्च नभश्चाणि प्रष्टा कृणु ॥१११॥
 वृक्षाणा बहुभाऽसि र गिरणा हिमवान् गिरि । ध्याता सृगाणा पनता ताक्ष्योऽन नभश्चानि ॥११२॥
 क्षारादोऽस्युदर्शाना च धराणा धनुरव च । यत्र प्रहजाना च धनाना सन्त्यव च ॥११३॥
 त्वमेव द्वेष इच्छा च रागा माह क्षमाशम । व्यरसताय घृतिर्गैभ क्षान्त्यै ज्ञानि ॥११४॥

आप युग, नक्षत्र प्रह सारना सृष्टि मम पञ्च निमय करत हैं । अन्न कृषि यजुस्य वृक्ष, पर्वतोंमें हिमालय, पशुओंमें व्याज, पक्षियोंमें गृह्य और संतोंमें ज्ञान हैं । अन्न सृष्टियों की संख्या, यज्ञोंमें धनुर, आयुधोंमें वज्र और जनोंमें सत्य हैं । आप ही दृग्, श्रुत्, स्पर्श, रस, शब्द, अस्पर्श, शून्य, ज्ञान, काम, क्रोध, तप और पराजय हैं ॥ १११-११४ ॥

त्व शप त्व गदा चापि खट्वाक्षा च शरामनी । ऐक्येनेन सृष्टिं विमता मेता सत्पत् ॥११५॥
 इक्षलक्षणसंयुतो धर्मोऽर्थे काम एव च । स्वस्तिं करो महा पर्याय च ॥११६॥

लतावल्ल्यस्तृणौपध्यः पशवो मृगपक्षिणः । द्रव्यकर्मगुणारम्भः कालपुष्पफलप्रदः ॥ ११७ ॥
 आदिश्चान्तश्च वेदानां गायत्री प्रणवस्तथा । लोहितो हरितो नीलः कृष्णः पीतः सितस्तथा ॥ ११८ ॥
 कटुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा । स्वर्णश्चाप्यवर्णश्च कर्त्ता हर्त्ता त्वमेव हि ॥ ११९ ॥

आप चाण धारण करनेवाले, गदा धारण करनेवाले, खट्वाङ्ग धारण करनेवाले एवं धनुर्वारी हैं । आप विदारण करनेवाले, प्रहार करनेवाले, अवबोधन (सतर्क) करनेवाले, प्राप्त करनेवाले और सनातन हैं । आप दस लक्षणोंसे संयुक्त धर्म, अर्थ एवं काम तथा समस्त समुद्र, नदियाँ, गङ्गा, पर्वत एवं सरोवर हैं । समस्त ज्यौष, वृद्धियों, तृण, ओषधियों; पशु, मृग, पक्षी; पृथ्वी, अप् आदि नवों द्रव्यों; उल्क्षेपण-आक्षेपण आदि पाँच कर्मों; रूप, रस, गन्ध आदि चौबीस गुणोंके आरम्भक भी आप ही हैं । आप ही समयपर फूल एवं फल देनेवाले हैं । आप वेदोंके आदि और अन्त हैं, गायत्री तथा प्रणव भी आप ही हैं । आप ही लोहित, नील, कृष्ण, पीत, सित, कटु, कपिल, कपोत, मेचक, स्वर्ण, अवर्ण, कर्त्ता एवं हर्त्ता हैं ॥ ११५-११९ ॥

स्वप्निन्द्रश्च यमश्चैव घरुणो धनदोऽनिलः । उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुभानुरेव च ॥ १२० ॥
 शिक्षाश्रीत्रं त्रिसौपर्णं यजुषां शतरुद्रियम् । पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥ १२१ ॥
 तिन्दुको गिरिजा वृक्षो मुद्गां चाखिलजीवनम् । प्राणाः सत्त्वं रजश्चैव तमश्च प्रतिपत्पतिः ॥ १२२ ॥
 प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च । उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुत्तं जम्भितमेव च ॥ १२३ ॥

आप इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, पवन, उपप्लव, चित्रभानु, स्वर्भानु एवं भानु हैं । आप शिक्षा, होत्र, त्रिसौपर्ण, यजुर्वेदका शतरुद्रिय, पवित्रोंमें पवित्र एवं मङ्गलोंमें मङ्गल हैं । आप तिन्दुक, शिलाजतु, वृक्ष, मुद्ग, सत्त्वं जीवन, प्राण, सत्त्व, रज, तम तथा प्रतिपत्पति हैं । आप ही प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष, क्षीत एवं ऊर्ध्व हैं ॥ १२०-१२३ ॥

लोहितान्तर्गतो दृष्टिर्महावस्त्रो मत्तोदरः । शुचिरोमा हरिश्मश्रुर्ध्वकेशश्चलाचलः ॥ १२४ ॥
 गौतवादिप्रलून्यशो गौतवादिप्रकप्रियः । मत्स्यो जालो जलौकाश्च कालः केलिकला कलिः ॥ १२५ ॥
 अकालश्च विकालश्च दुष्कालः फाल एव च । मृत्युश्च मृत्युकर्त्ता च यक्षो यक्षभयंकरः ॥ १२६ ॥
 संवर्त्तकोऽन्तकश्चैव संवर्त्तकयटाहकः । घण्टा घण्टी महाघण्टी चिरी माली च मातलिः ॥ १२७ ॥

आप लोहितके अन्तःस्थित, दृष्टि, बड़े मुँहवाले, भारी पेटवाले, पवित्र रोमावलीवाले, हरिश्मश्रु, ऊर्ध्वकेश एवं चल तथा अचल हैं । आप गाने, बजाने, नृत्यकलाक विद्वान् हैं तथा गाना-बजाना करनेवालोंके भी आप प्रिय हैं । आप मत्स्य, जाल, जलौका, काल तथा केलि-कला एव काल हैं । आप अकाल, विकाल, दुष्काल और कालस्वरूप हैं । आप मृत्यु, मृत्युकर्त्ता, यक्ष तथा यक्षको भी भय देनेवाले हैं । आप संवर्त्तक, अन्तक एवं संवर्त्तकनामक बादल हैं । आप घण्ट, घण्टी, महाघण्टी, चिरी, काली और मातलि भी हैं ॥ १२४-१२७ ॥

प्रलालयपगमिनां दण्डी मुण्डी त्रिमुण्डभृक् । चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्त्तकः ॥ १२८ ॥
 चातुराधम्यनेना च चातुर्यर्ष्यकरस्तथा । नित्यमक्षप्रियो धूर्त्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ॥ १२९ ॥
 एतन्माल्यान्तरधरो गिरिको गिरिकप्रियः । शिल्पं च शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्त्तकः ॥ १३० ॥
 भगनेनाहुशब्दधरः पूष्णो दन्तविनाशनः । स्वाहा स्वधा वपट्कारो नमस्कारो नमो नमः ॥ १३१ ॥

आप प्रलालय, पगमिनां, दण्डी, मुण्डी एवं त्रिमुण्डधारी हैं । आप चतुर्युग, चतुर्वेद एवं चातुर्यर्ष्यके प्रवर्त्तक हैं । आप चारों आधमोंके नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं । आप नित्यमक्षप्रिय,

(धर्म्य) पूर्णके भी प्रयोक्ता, गगाव्यञ्ज और गगोंके स्वामी हैं। आप लाल माला और लाल वस्त्र धारण करनेवाते हैं तथा गिरिक, गिरिकधिय, शिव्य, शिल्पिश्रेष्ठ तथा हर प्रकारके शिल्पोंके प्रवर्तक हैं। आप भगनेन्द्रादुस, चण्ड एव पूजाके दोतोंके विनाशन हैं। आप साहा, स्या, वटवृक्ष और नमस्कर हैं। आपको आम्हार नमस्कर है ॥ १२८-१३१ ॥

गूढमनो गुह्यतपास्तारकास्तारकामयः । धाना विधाना संघाना पृथिव्या धरणीऽधरः ॥ १३२ ॥
 मझा नपञ्च सत्यं च व्रतचर्यमथार्जवम् । भूतात्मा भूतकृद् भूतिभूतभयभयोद्भवः ॥ १३३ ॥
 भूमुंथः स्वर्ध्वं चैव ध्रुवो दान्तो मदेध्वरः । दीक्षितोऽदीक्षितः कान्तो दुर्दान्तो दान्तसम्भरः ॥ १३४ ॥
 चन्द्रावर्त्ता युगावर्त्तः संवर्त्तरूपवर्त्तरः । सिन्दुः कामो ह्यणुः स्थूलः कर्णिकारक्षत्रजमियः ॥ १३५ ॥

आप गूढजनकाले, गुप्तपस्याकाले, तारक और तारकामय हैं। आप धाना, विधाना, सगला और पृथिवीके श्रेष्ठ धारण और योग करनेवाते हैं। आप मझा, तप, सत्य, व्रत-चर्या और सत्य एवं शुद्ध हैं। आप (पञ्च) भूतरूप ऐश्वर्य और प्राणियोंके उत्पत्ति-स्थान हैं। आप भूः, भुवः, स्वः, प्रकः, भुव कोनठ तथा मदेध्वर हैं। आप दीक्षित, अदीक्षित, कान्त, दुर्दान्त (उग्र) और दान्तसे उत्पन्न हैं। आप चन्द्रावर्त, युगवर्त, सवर्तक और प्रवर्तक हैं। आप सिन्दु, वाम, अणु, स्थूल तथा कनेखी मालाके प्रेमी हैं ॥ १३२-१३५ ॥

नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखस्तथा । द्विरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगावर्तिर्विराट् ॥ १३६ ॥
 अधर्मदा महादेवो दण्डधारो गणोत्कटः । गोनर्दो गोप्रतारक्ष गोवृषेभ्रवाहनः ॥ १३७ ॥
 त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गो मार्ग पय च । स्थिरः श्रेष्ठश्च स्थणुश्च विमोहः फोडा पय च ॥ १३८ ॥
 दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुर्तिक्रमः । दुर्दर्शो दुष्प्रकारश्च दुर्दर्शो दुर्जयो जयः ॥ १३९ ॥

आप नन्दीमुख, भीममुख, सुमुख तथा दुर्मुख हैं। आप द्विरण्यगर्भ, शकुनि, महासंपत्ति तथा विराट् हैं। आप अधर्मका नाश करनेवाले महादेव, दण्डधार, गणोत्कट, गोनर्द, गोप्रतार तथा गोवृषेभ्रवाहन हैं। आप त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द, गोमार्ग तथा मार्ग हैं। आप स्थिर, श्रेष्ठ, स्थणु, विमोह तथा फोडा हैं। आप दुर्वारण, दुर्विषह, दुःसह, दुर्तिक्रम, दुर्धर, दुष्प्रकार, दुर्दर्श, दुर्जय तथा जय हैं ॥ १३६-१३९ ॥

शशाङ्गानलशोतोष्णः क्षुत्क्षुण्णः च निरामयः । आधयो व्याधयदक्षैव व्याधिदा व्याधिनाशनः ॥ १४० ॥
 समूहश्च समूहस्य हन्तो देवः सनातनः । सिण्ण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकरूपनालयः ॥ १४१ ॥
 प्रयस्यको दण्डधारश्च उषदंष्ट्रः शुलान्तकः ।

विरावहः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुपते । अमृतादी जगन्नाथो देवदेव गणेभ्यः ॥ १४२ ॥
 मधुदन्वुतानां मधुपो ब्रह्मणाक् त्वं घृतच्युत । सर्वलोकस्य भोक्ता त्वं सर्वलोकविरामहः ॥ १४३ ॥

आप चन्द्र, जनक, शीत, उष्ण, क्षुधा, वृष्णा, निरामय, आग्निव्यापि, व्याग्निहन्ता एवं व्याग्निदोके नष्ट करनेवाले हैं। आप समूह हैं और समूहके हन्ता तथा सनातन देव हैं। आप सिण्ण्डी, पुण्डरीकरूप तथा पुण्डरीकरूपके आश्रय हैं। मरुपति । दे देवदेव । आप तीन नेत्रवाले, दण्डधारी, मर्दकर दौतवाले, पुण्डके बल करनेवाले, विरको नष्ट करनेवाले, सुरश्रेष्ठ, सोमरस पीनेवाले, अमृताशी, जगत्के स्वामी तथा गणेश हैं। आप मधुसंभ्र करनेवालेमें मधुप, आग्निदोके ब्रह्मणाक्, घृतच्युत, जनक लोकके पञ्च-योग और वरसंहार करनेवाले एवं सर्वलोकके विनाह हैं ॥ १४०-१४३ ॥

हिरण्यगन्ताः पुरुषस्त्वमेवः त्वं श्री पुमांस्यं हि नपुंसकं च ।
 वालो युवा स्वविरो देवदंष्ट्रा त्वजो गिरिविश्वहृद् विश्वहर्ता ॥ १४४ ॥
 त्वं धै धाता विश्वकृतां चरेण्यस्त्वां पूजयन्ति प्रणताः सदैव ।
 चन्द्रादित्यौ चक्षुरी ने भवान् हि त्वमेव चाग्निः प्रपितामहश्च ।
 आगव्य त्वां सरस्वतीं चतुर्भन्ते अतोरात्रे तिमिपोनोपकर्त्ता ॥ १४५ ॥

न ब्रह्मा न न गोविन्दः पौराणा प्रपयो न ते । माताम्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन शंकर ॥ १४६ ॥
 पुंसां शतमन्त्राणि यत्समाचुत्य तिष्ठति । मदनस्ताम्रः पारं गोता मन्ता भवान् सदा ॥ १४७ ॥

आप िरण्यगेना तथा त्रितीय पुरुष हैं । आप श्री, पुरुष तथा नपुंसक भी हैं । आप ही वायक, युवा, वृद्ध, देवदंष्ट्रा, गिरि, संगमरके रचयिता तथा संगमरके संहार करनेवाले भी हैं । आप विश्व रचनेवालोंमें वरणीय धाता हैं । तिनयी जन सर्वत्र आपकी पूजा करते हैं । चन्द्रना एवं सूर्य आपके नेत्रस्वरूप हैं । आप ही अग्नि एवं प्रपितामह हैं । सम्बन्धीस्वरूप आपकी आराधना कर लोग (प्राजाप्य) वाणीकी प्राप्ति करते हैं । आप दिन और रात्रि हैं और निमेष एवं उन्मेषके कर्त्ता हैं । हे शंकर ! ब्रह्मा, गोविन्द तथा प्राचीन ऋषि भी आपकी परिभाषा ठीक-ठीक नहीं जान सकते । आप (अपनेमें) लक्ष्यों पुरुषोंको समावृत्त कर स्थित हैं । आप सदा महान् तमसे परे करनेवाले परम रक्षक एवं (सबके) अधीनकारक हैं ॥ १४४-१४७ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्तथाः संयतेन्द्रियाः । ज्यातिःपश्यन्ति युजानास्तस्मै योगामने नमः ॥ १४८ ॥
 या मूर्तेयश्च मृष्टामने न शक्या या निर्दर्शितुम् । नाभिर्मां स्वनं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४९ ॥
 रक्ष मां रक्षणांथोऽष्टं तयानन नमोऽस्तु ते । भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चादं सदा त्वयि ॥ १५० ॥
 जटिने दण्डिने तिन्यं लम्बोदरशरीरिणे । कर्मण्डलुनियज्ञाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ १५१ ॥

निद्राहित (अतः सप्त जाणक), आसप्त विजय प्राप्त करनेवाले, सत्वगुणोंमें सदा स्थित एवं संयतेन्द्रिय योगिन जिस योंकी दशन करते हैं, उन योगामक, (-आप-)को नमस्कार है । मूढम होनेके कारण आपकी जो मूर्तिया प्रदर्शित नहीं की जा सकती उनको शाय आप सदा मेरी इस प्रकार रक्षा करें जैसे पिता अपने छोटे पुत्रकी रक्षा करता है । पुण्यात्मन् ! आप मेरी रक्षा करें । मैं आपका रक्षणीय हूँ । आपको नमस्कार है । आप भक्तपर अनुपम करनेवाले भवान् हैं; मैं सदा आपका भक्त हूँ । जटी, दण्डी, लम्बोदरशरीरी तथा कर्मण्डलुनियज्ञ रुद्रात्मको नमस्कार है ॥ १४८-१५१ ॥

यस्य कंदोपु जीमूता नयः सर्वाङ्गरुचिषु । कुक्षौ समुद्राध्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ १५२ ॥
 संभार्य संभ्रूनाति युगान्ते पर्युपस्थिते । यः शंते जलमध्यस्थस्त्वं प्रपञ्चोऽस्तुजायितम् ॥ १५३ ॥
 प्रविश्य यद्वं सतोर्गः शोभं पिबेत् तिसि । प्रसव्यकं च मर्भान् रक्षितस्तव तेजसा ॥ १५४ ॥
 ये वात पविता र्भा रुद्रमध्यव्य रक्षणे । नमस्तेऽस्तु न्यधा म्वाता प्राप्नुवन्ति तदद्भुते ॥ १५५ ॥

जिनके कंदोपु जीमूता नयः सर्वाङ्गरुचिषु । कुक्षौ समुद्राध्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ १५२ ॥
 संभार्य संभ्रूनाति युगान्ते पर्युपस्थिते । यः शंते जलमध्यस्थस्त्वं प्रपञ्चोऽस्तुजायितम् ॥ १५३ ॥
 प्रविश्य यद्वं सतोर्गः शोभं पिबेत् तिसि । प्रसव्यकं च मर्भान् रक्षितस्तव तेजसा ॥ १५४ ॥
 ये वात पविता र्भा रुद्रमध्यव्य रक्षणे । नमस्तेऽस्तु न्यधा म्वाता प्राप्नुवन्ति तदद्भुते ॥ १५५ ॥

जिनके कंदोपु जीमूता नयः सर्वाङ्गरुचिषु । कुक्षौ समुद्राध्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ १५२ ॥
 संभार्य संभ्रूनाति युगान्ते पर्युपस्थिते । यः शंते जलमध्यस्थस्त्वं प्रपञ्चोऽस्तुजायितम् ॥ १५३ ॥
 प्रविश्य यद्वं सतोर्गः शोभं पिबेत् तिसि । प्रसव्यकं च मर्भान् रक्षितस्तव तेजसा ॥ १५४ ॥
 ये वात पविता र्भा रुद्रमध्यव्य रक्षणे । नमस्तेऽस्तु न्यधा म्वाता प्राप्नुवन्ति तदद्भुते ॥ १५५ ॥

येऽद्भुष्टमात्राः पुराणा देवस्याः सर्वदेहिनाम् । रक्षन्तु ते दि मां नित्यं ते मामाप्याययन्तु वै ॥ १५१ ॥
 ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च । वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारगदनेषु च ॥ १५७ ॥
 चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु सभासु च । हस्त्यभ्वरथशाखासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥ १५८ ॥
 ये च पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च । चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥ १५९ ॥
 रसातलगता ये च ये च तस्मात् परं गताः । नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यश्च नित्यशः ॥ १६० ॥

सभी देहागियोंकी देहमें स्थित अद्भुष्टमात्रमें निवास करनेवाले जो पुरुष हैं, वे नित्य मेरी रक्षा करें तथा वे मुझे सर्वदा संतुष्ट करें । जो नदियों, समुद्रों, पर्वतों, गुहाओं, वृक्षकी जड़ों, गधोंके रहनेके स्थानों, घने जंगलों, पौरादों, गच्छियों, चबूतरों, सभाओं, ह्यसारां, घुड़सारां और रथशाखाओं, जीर्ण बाग-बगीचों, आठ्यों, पञ्चभूतों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं एवं अग्निभोग, नैर्ऋत्यभोग, वायव्यभोग एवं ईशानभोगोंमें स्थित हैं । जो चन्द्र और सूर्यके बीचमें रहनेवाले, चन्द्र तथा सूर्यकी किरणोंमें स्थित, रसानलमें रहनेवाले एवं वससे भी आगे पहुँचे हुए हैं, उनको नित्य आरम्भार नमस्कार है; नमस्कार है; नमस्कार है ॥ १५६-१६० ॥

येनां न विद्यते संपत्त्या प्रमाणं रूपमेव च । असंख्येयगणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥ १६१ ॥
 प्रसीद मम भद्रं ते तव भावगतस्य च । त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मनिस्ययि ॥ १६२ ॥
 स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम द्विजोत्तमः ॥ १६३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तचावार्तिशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

जिनकी कोई संपत्त्या नहीं है और न प्रमाण तथा रूप ही है, उन अनगिनत रुद्रगणोंसे सदा नमस्कार है । आपका कल्याण हो । आपके भक्तिभारमें स्थित मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों । हे देव ! आपहीमें मेरा हृदय, मेरी बुद्धि एवं मति है । द्विजोत्तमने इस प्रकार महादेवकी स्तुति करके विराम ले लिया ॥ १६१-१६३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सैतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

[अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः]

वनपुराण उवाच

अप्येनमप्रयोद् देवस्रैलोक्याधिपतिर्भवः । आध्यासनकरं चास्य वाक्यविद् यानयमुत्तमम् ॥ १ ॥
 अहो तुष्योऽसि ते राजन् सत्वेनानेन सुमत । यद्वृणाऽत्र किमुक्तेन मत्समीपे पसिष्यसि ॥ २ ॥
 उपित्या सुचिरं कालं मम गात्रोद्भवः पुनः । अक्षुषे ह्यन्धको नाम भविष्यसि सुरान्तच्छत ॥ ३ ॥
 हिरण्याक्षगृहे जन्म प्राप्य वृद्धिं गमिष्यसि । पूर्वार्धमेव घोरैण वेदनिन्दाहतेन च ॥ ४ ॥

अइतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वन-शत शिव-स्तुति एवं स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, वेन आदिकी सुगविद्य वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—इसके बाद किसीकी किसी प्रकारकी भी उक्तिके अभिप्रायको भलीभाँति जाननेवाले तीनों लोकोंके स्वामी शंकरभगवान्ने उस- (वन-) को आधासन देनेवाला उत्तम वचन कहा—राजन् ! सुमत ! तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं संतुष्ट हूँ । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है; तुम मेरे निकट (मैं ही सदा) निवास करोगे । बहुत दिनोंतक निवास करनेके बाद तुम फिर देवोंको नष्ट करनेवाले अन्धक नामक असुर होकर मेरे शरीरसे उभय होओगे और वेदकी निन्दा करनेसे पूर्वजन्तिक प्रचण्ड पापके कारण पुनः हिरण्याक्षके घरमें तपन होकर बड़े होगे—सपत्ने होगे ॥ १-४ ॥

साभिलाषो जगन्मातुर्भाषिष्यसि यदा नदा । देवं शूल्येन हृत्वाऽं पावयिष्यामि समारुदम् ॥ ५ ॥
 तत्राप्यकलमयो भृश्या स्तुत्या मां भक्तिः पुनः । स्यातो गणाधिपो भूत्वानान्ता भृत्तिरितिः स्मृतः ॥ ६ ॥
 मत्प्रभ्राने शिष्या त्वं नतः सिद्धिं गमिष्यसि । तेनप्रोक्तं स्तनमिमं कीर्तयेत् यः शृणोति च ॥ ७ ॥
 नात्रुभं प्राप्नुयान् किञ्चिद् दीर्घमायुरद्यानुवात् । यथा सर्वेषु देवेषु विशिष्टो भगवाञ्छिवः ॥ ८ ॥
 तथा स्तन्यां यन्निष्टोऽयं स्तन्यातां तेन निर्मितः । यतो राज्यसुखैः पर्यधनमानाय कर्त्तितः ॥ ९ ॥

जब तुम जगन्माता (पार्वती)-की अभिलाषा करोगे तब मैं शूलद्वारा तुम्हारी देहका हनन करके
 दस करोड़ वर्षोंतकके लिये (तुम्हें) पवित्र करूँगा । उसके बाद वहाँ पापसे रहित होकर पुनः मेरी स्तुति करोगे
 और तब तुम गृह्णिरिति नामसे प्रसिद्ध गणाधिप बनोगे । फिर मेरी संनिधिमें रहकर तुम सिद्धिको प्राप्त करोगे ।
 जो मनुष्य मेरेके द्वारा कही हुई इस स्तुतिका कीर्तन करेगा या इसे सुनेगा वह कभी अशुभ-(अकल्याण)-को
 नहीं प्राप्त होगा और दीर्घ आयु प्राप्त करेगा । जैसे सभी देवताओंमें भगवान् शिवकी विशिष्टता है, जैसे
 ही वेनसे निर्मित यह स्तन सभी स्तनोंमें श्रेष्ठ (विशिष्ट) है । इसका कीर्तन भय, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, धन एवं
 मानका देनेवाला है ॥ ५-९ ॥

धोतव्यां भक्तिमास्थाय त्रियाकारैश्च यत्नतः । व्याधितो दुःखितो दीनश्चौरराजभयान्वितः ॥ १० ॥
 राजकार्यसिमुक्तो वा मुच्यते मदनो भयान् । अनेनैव तु देवेन गणानां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥ ११ ॥
 तेजसा यथामा नैव युक्तो भवति निर्मलः । न राजसाः पिशाचा वा न भूता न चिनायकाः ॥ १२ ॥
 यिच्चं कुर्युर्गुणैः तत्र यथायं पठ्यते स्तनैः । शृणुयाद् या स्तन्यं नारी अनुज्ञां प्राप्य भर्तुतः ॥ १३ ॥
 मातृपक्षे पितुः पक्षे पूज्या भवति देववत् । शृणुयाद् यः स्तन्यं दिव्यं कीर्तयेद् वा समाहितः ॥ १४ ॥
 तस्य स्वर्गाणि कार्याणि सिद्धिं गच्छन्ति नित्यशः । मनसा चिन्वितं यत्र यत्र चाचाऽनुवर्तितम् ॥ १५ ॥
 सर्वे स्वप्नघाते तस्य स्तन्यनस्यानुकीर्त्तनात् ।

मनसा पार्षणा चाचा शूनमनो यिनदयति । परं वरय भद्रं ते यत्तया मनसेप्सितम् ॥ १६ ॥

विश्वकी इत्यादि समस्तदेवताओं के श्रद्धासहित यत्नपूर्वक इस स्तुतिको सुनना चाहिये । व्याधिते प्रसन्न, दुःखित,
 दीन, चोर या राजासे भयभीत अथवा राजकार्यसे अलग किया गया पुरुष (इस स्तुतिके द्वारा) महान् भयसे मुक्त होकर
 इसी देहमें गणोंमें श्रेष्ठता प्राप्त करता है एवं निर्मल होकर नेत्र एवं यज्ञमें शुद्ध होता है । जिस गृहमें इस स्तवका
 पाठ होता है उसमें राजस, पिशाच, भूत या विनायकमय तिन नहीं रहते । पवित्री आज्ञा प्राप्त कर इस
 स्तवका स्तन्य करने लखे नारी मातृपक्ष एवं पितृपक्षमें देवताके समान पूजनीया हो जाती है । जो मनुष्य समाहित
 होकर इस दिव्य स्तनको सुनेगा या कीर्तन करेगा, उसके सभी कार्य नित्य सिद्ध होंगे । इस स्तवका कीर्तन करनेवाले
 मनुष्यके मनमें निर्मित तथा वचनके द्वारा कथित सभी कार्य सफल होने जायेंगे और मानसिक, वाचिक तथा
 कार्मिक—सबसे बड़ा फल हो जायेंगे । मुझसे मनमें जो प्रतीति हो उस वरको मांग लो; तुम्हारा कल्याण
 ही ॥ १०-१६ ॥

धन उपाय

अस्य सिद्धयः साक्षात्प्राप्य तथा सिद्धयः दर्शनात् । सुक्तोऽहं पावकैः सर्वैस्तव दर्शनतः किल ॥ १७ ॥
 यदि तुष्टोऽसि मे देव यदि देवो यथा मया । देवस्तवभक्त्याऽजानं श्रयोनां तव स्तवकम् ॥ १८ ॥
 एतन्मया प्रसादं त्वं कर्तुं नर्हसि शकतः । एतन्मयापि भयान्मये सरसोऽहं निमज्जितः ॥ १९ ॥
 देवैर्निर्वाणैः पूरे नीरैर्ऽसिन्नु ज्ञानधाम्नात् । अयं शूनोपकारश्च एतदर्थं कृणोम्याहम् ॥ २० ॥

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा तुष्टः शोचान् शंकरः । एषोऽपि पापनिर्मुक्तो भविष्यति न संशयः ॥ २१ ॥
 प्रसादान्मे महाशक्तो शिवलोकं गमिष्यति । तथा स्वयमिमं श्रुत्वा मुच्यते सर्वगान्तैः ॥ २२ ॥
 कुरुक्षेत्रस्य महाशक्त्यं सरसोऽस्य महापते । मम लिङ्गस्य चोत्पत्तिं श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

येनने कदा—इस लिङ्गके माहात्म्यसे, इसके तथा आपके दर्शनसे मैं समस्त पापोंसे निश्चिन्त हूँ। देव ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो हे शङ्कर ! अपने उस सेनागर बना कर जो देवद्वयका मशग करनेके कारण कुचेकी योनिमें उत्पन्न हुआ है । पहले इस तीर्थमें स्नान करनेके छिपे देवोंके मना करनेपर भी इस (कुचे) के भयसे मैंने सरोवरमें स्नान किया । इसने मेरा उरस्तर क्लिप्त है । अतएव मैं इसके छिपे वर माँगता हूँ । उस-(वेन-)के इस वचनको सुनकर शंकर सन्तुष्ट होकर बोले—महाशक्त ! यह भी मेरी कृपासे निःस्पन्दह सभी पापोंसे विन्तुल छूट जायगा और शिवलोकमें प्राप्त करेगा । इस सारमें सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जायगा । राजन् ! इस कुरुक्षेत्र तथा इस सरोवरका माहात्म्य और मेरे लिङ्गकी उत्पत्तिक वर्णन सुननेसे मनुष्य पापसे विन्तुल छूट जाता है ॥ १७-२३ ॥

सनत्कुमार वचाच

इत्येवमुक्त्वा भगवान् सर्वलोकमस्मृतः । पश्यतां सर्वलोकानां तत्रैवात्तरधायत ॥ २४ ॥
 स च श्वा ताक्षणादेव स्मृत्वा जन्म पुरातनम् । दिव्यमूर्त्तिवपे श्रुत्वा तं राजानमुपस्थितः ॥ २५ ॥
 कृत्वा स्नानं ततो येन्यः पितृदर्शनलासः । स्यागुतीर्थे कृत्वां श्रुत्वां शोकसमन्वितः ॥ २६ ॥
 दृष्ट्वा येनोऽप्रवीद् धाम्यं हर्षेण महताऽन्वितः । सत्युपेण त्वया यत्स श्रोतोऽहं नरकान्गन्तु ॥ २७ ॥

सनत्कुमारने कदा— इस प्रकार कहकर समस्त लोकोंद्वारा नमस्कृत भगवान् सभी लोकोंके देगने हुए बड़ी अन्तर्हित हो गये । यह वृत्ता भी उसी समय पूरजन्मका स्मरण करके दिव्य शरीर धारणकर उस राजाके सामने उपस्थित हुआ । उसके बाद वेनका पुत्र पृथु स्नान करके गितृदर्शनकी अभिकायसे स्वागुनीर्यमें आनेपर पुदीकी सूनी देख चिन्तित हो गया । वेन उसे देखकर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बोला—यन ! तुमने नरक-भागमें जानेसे मेरी रक्षा कर ली, अतः तुम सत्यु निद्र हुए ॥ २४-२७ ॥

त्पवाभिषिद्धितो नित्यं तीर्थस्य पुष्टिने स्थितः । अस्य साधोः प्रसादेन ग्याणोदयस्य दर्शनान् ॥ २८ ॥
 मुक्तपापश्च स्वलोकं चास्ये यत्र दिशः स्थितः । इत्येवमुक्त्वा राजानं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम् ॥ २९ ॥
 स्यागुतीर्थे ययौ सिद्धिं तेन पुत्रेण तारितः । स च श्वा परमां सिद्धिं स्यागुनीर्यमभाषयः ॥ ३० ॥
 विमुक्तः कलुषैः सर्वजंगाम भवमन्दिरम् । राजा पितृश्रेणैमुक्तः परिपाल्य घमुत्तराम् ॥ ३१ ॥
 पुत्रानुत्पाद्य धर्मेण कृत्वा यत्र निरगलम् । इत्या कामांश्च विनेष्यो भुक्त्वा भोगान् पूयगिबान् ॥ ३२ ॥

तीर्थके तटपर रहने एवं तुम्हारे द्वारा नित्य अभिषिद्धित होनेके कारण तथा इस साधुके अत्युत्तर एवं स्यागुदेवके दर्शन करनेसे मैं पापोंसे छूटकर उस सर्वलोकको जा रहा हूँ, जहाँ शिवजी (स्वयं) स्थित हैं । राजा पृथुसे ऐसा कहनेके पश्चात् उस पुत्रद्वारा (पापनिर्मुक्त) तारित वेनने स्यागुनीर्यमें महेश्वरको प्रतिष्ठापित करके सिद्धि प्राप्त कर ली । स्यागुनीर्यके प्रभावसे वह कुत्ता भी पापमें रहित होकर परम सिद्धिको प्राप्त हुआ और शिवलोकको चला गया । राजा पृथु गितृ-श्रेणसे मुक्त हो गये और पूर्वोक्त पात्रन करने हुए उन्होंने धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके बाधारहित होकर यज्ञ (यज्ञानुष्ठान) किया । उन्होंने श्राद्धोंको मनोऽभिष्टिति पदार्थोंका दान दिया तथा मूर्त्ति-भक्तिके भोगोंका उपभोग किया ॥ २८-३२ ॥

सृष्टांशुश्च शृणुमुंशुश्च कामैः संतर्प्य च त्रियः । अभिषिच्य सुतं राज्ये कुरुक्षेत्रं ययौ नृपः ॥ ३३ ॥
तत्र तप्या तपो घोरं पूजयित्वा च शङ्करम् । आत्मेच्छया तनुं त्यक्त्वा प्रयातः परमं पदम् ॥ ३४ ॥
पतत्रभावं तीर्थस्य स्थाणुतीर्थः शृणुयात्तरः । सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमां गतिम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टावर्षिकोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

मित्रोंको (भी) श्रद्धासे मुक्त तथा क्रियोके मनोरथोंको संतुष्टि प्रदान करनेके पश्चात् पुत्रको राज्यपर
अभिषिक्त कर पृथु राजा कुरुक्षेत्रमें चले गये । वहां घोर तपस्या तथा शङ्करका पूजन करके अपनी इच्छासे शरीरका
त्याग कर उठेने परमपदको प्राप्त किया । जो मनुष्य स्थाणुतीर्थके इस प्रभावको सुनेगा, वह सभी पापोंसे छूट
जायगा और परम गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३३-३५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अष्टतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

[अर्थकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

चतुर्मुखात्मसुत्पत्तिं विस्तरेण ममानघ । तथा ब्रह्मेश्वराणां च श्रोतुमिच्छा प्रवर्तते ॥ १ ॥
उन्चासर्वो अध्याय प्रारम्भ

(चार मुखोंकी उत्पत्ति-कथा, ब्रह्म-रुद्र शिवकी स्तुति और स्थाणुतीर्थका साहाय्य)

मार्कण्डेयने कहा—निष्पाप ! चार मुखों और ब्रह्मेश्वरोंकी उत्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा
हो रही है (अतः आप उन्ने सुनानेकी कृपा करें) ॥ १ ॥

मनश्शुमार उवाच

शृणु सर्वमदोषेण कथयिष्यामि तेऽनघ । ब्रह्मणः स्रष्टुकामस्य यद् वृत्तं पद्मजन्मनः ॥ २ ॥
उत्पन्न एव भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । ससर्ज सर्वभूतानि श्यावरणि चरणि च ॥ ३ ॥
पुनामिन्तयतः सृष्टिं जमे कन्या मनोरमा । नीलोत्पलदलद्वयामा तनुमध्या सुलोचना ॥ ४ ॥
तां पट्टाभिमतं ब्रह्मा मैथुनायाजुदाय ताम् । तेन पापेन मवृत्ता शिरोऽशीर्यत वेधसः ॥ ५ ॥

मनश्शुमार बोले—अनघ ! सृष्टिकी कथना करनेवाले एवं कामरुसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माका जो वृत्तान्त
है, उन्ने मैं तुम्हें पूर्णतः बतला दूँ, सुनो । लोक-पितामह भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न होते ही पहले अचर और चर-
रूप सङ्घर्ष भूतोंकी रचना की । पुनः उन्ने सृष्टिकी चिन्ता करनेपर एक नीले कमल-दलके समान श्याम, पतले
रूप भगवती, सुलोचना, मन-मोहनी कन्या उत्पन्न हुई । उस मनोहर कन्याको देखकर ब्रह्माने उन्ने संतानोत्पत्ति-
द्वेष सुगण । (अन्ध,) उन्ने भगवान् पापने ब्रह्मका मन्त्रक गिर गया ॥ २-५ ॥

तेन शोणितं स ययौ तीर्थं प्रेत्योन्मयविभ्रुणम् । साक्षिहृत्यं मरः पुण्यं सर्वपापक्षयावहम् ॥ ६ ॥

तत्र पुण्यं स्थाणुतीर्थं श्रुपिमिलनिपदिने । सरस्वत्युत्तरे तीरे प्रतिष्ठाप्य चतुर्मुखम् ॥ ७ ॥

आयश्चानास तदा धूपैर्नन्धैर्मनोरमैः । उपहारैस्तथा हृद्यै रौद्रसूक्तैर्दिने दिने ॥ ८ ॥

गन्धैः भाग्यसुकान्त्य शिवपूजापरम्य च । न्ययमेवाजगामाय भगवान् नीललोहितः ॥ ९ ॥

भगवान् शिवं दत्त्वा ब्रह्मा लोकपितामहः । प्रणम्य शिरसा भूमौ स्तुतिं तस्य चकार ह ॥ १० ॥

(अन्धकी) उस दिने मन्त्ररुद्रने देकर सभी पापोंका विनाश करनेवाले नीलो लोकोमें विद्वयात्
सर्वपापको क्षमाके रूपमें शिवः श्रुति और सिद्धिसे भेजित उस भक्ति स्थाणुतीर्थमें साक्षरीके उत्तरी तटपर



चतुर्मुख ब्रह्मा

स्रष्टव्योऽथ ऋणमुंषन्वा कामैः संतप्य च स्त्रियः । अभिषिच्य सुतं राज्ये कुब्जक्षेत्रं यथौ नृपः ॥ ३३ ॥
 तत्र नष्ट्वा तपो घोरं पूजयित्वा च शङ्करम् । आत्मच्छया तनुं त्यक्त्वा प्रयातः परमं पदम् ॥ ३४ ॥
 एतत्प्रभावं तीर्थस्य स्थाणोर्थः शृणुयाच्चरः । सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमां गतिम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टाध्यायः ॥ ४८ ॥

निर्गोकों (भी) अग्रामे मुक्त तथा स्त्रियोंके मनोरथोंको संतुष्टि प्रदान करनेके पश्चात् पुत्रको राज्यपर
 अभिषिक्त कर पृथु राजा कुब्जक्षेत्रमें चले गये । वहाँ घोर तपस्या तथा शङ्करका पूजन करके अपनी इच्छासे शरीरका
 त्याग कर उन्होंने परमपदको प्राप्त किया । जो मनुष्य स्थाणुतीर्थके इस प्रभावको सुनेगा, वह सभी पापोंसे दूट
 जाएगा और परम गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३३-३५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें आठवालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

[अर्थकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

चतुर्मुंषानामुत्पत्तिं विन्तरेण ममानघ । तथा ब्रह्मेश्वराणां च श्रोतुमिच्छा प्रवर्तते ॥ १ ॥

उनचारसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चार मुनोंकी उत्पत्ति-कथा, ब्रह्म-रुद्र शिवकी स्तुति और स्थाणुतीर्थका माहात्म्य)

मार्कण्डेयने कहा—निष्पाप ! चार मुनों और ब्रह्मेश्वरोंकी उत्पत्तिको विन्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा
 हो गयी है (अतः आप उसे सुनानेकी कृपा करें) ॥ १ ॥

मनसुमार उवाच

शृणु सर्वमशेषेण कथयिष्यामि तेऽनघ । ब्रह्मणः स्रष्टुकामस्य यद् वृत्तं पञ्चजन्मनः ॥ २ ॥

उत्पद्य एव भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । ससर्ज सर्वभूतानि स्यावराणि चराणि च ॥ ३ ॥

पुनर्निधत्तयतः सृष्टिं जगो कन्या मनोरमा । नीलोत्पलद्वलद्रवामा तनुमध्या सुलोचना ॥ ४ ॥

नां पट्टाभिमतां ब्रह्मा मैथुनायाजुष्टाय ताम् । तेन पापेन महता शिरोऽशीर्यत वेधसः ॥ ५ ॥

मनसुमार बोले—अनघ ! सृष्टिकी कामना करनेवाले एवं कामलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माका जो वृत्तान्त
 है, उसे मैं तुममें पूर्णतः कहता हूँ, सुनो । लोक-पितामह भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न होते ही पहले अचर और चर-
 सब संपूर्ण भूतोंकी रचना की । पुनः उनके सृष्टिकी विन्ता करनेपर एक नीले कामल-दलके समान श्याम, पतले
 कन्या नामरूपी, सुलोचना, मन-मोहिनी कन्या उत्पन्न हुई । उस मनोहर कन्याको देखकर ब्रह्माने उसे संतानोत्पत्ति-
 हेतु चुना । (अतः) उस समय पापसे ब्रह्माका मलक गिर गया ॥ २-५ ॥

गेन शोषेन स यथा तीर्थं प्रैलोक्यविश्रुताम् । साक्षिद्वयं सरः पुण्यं सर्वपापक्षयावहम् ॥ ६ ॥

तत्र पुण्यं स्थाणुतीर्थं प्रपिमिद्वनिर्पवित्रं । सरस्वत्युत्तरे तीरे प्रतिष्ठाप्य चतुर्मुखम् ॥ ७ ॥

भाग्यश्यामानं तदा धूर्पैर्गन्धैर्मनोरमैः । उपहारैस्तथा हृद्यै रौद्रसूक्तैर्दिने दिने ॥ ८ ॥

गर्भयैर्भक्तियुक्तस्य शिवपूजापरस्य च । स्वयमेवाजगामाथ भगवान् नीललोहितः ॥ ९ ॥

गमागमं तिरं पद्मं ब्रह्मा लोकपितामहः । प्रणम्य शिरसा भूमौ स्तुतिं नम्य चकार ह ॥ १० ॥

(अर्थ)—उस निरे समस्तको केवल सभी शरीरका विनाश करनेवाले तीनों लोकोंमें विद्यमान
 सर्वपापको नाश करनेवाले : शक्ति और सिद्धि देने से फिर उस पवित्र भाग्यश्यामों ब्रह्मनेके उत्पत्ती ब्रह्मा

चतुर्मुख- (चार मुखवाले शिवलिङ्ग) की स्थापित कर प्रतिदिन मनोस धूप, माला, सुन्दर उपाशों एवं हस्त-मालोंसे उसकी उपासना करने लगे । उनके इस प्रकार भक्तिपूर्ण शिवरूजमें तन्मय हो जानेपर भगवान् नीलकण्ठि (शम्भुजी) स्वयं ही वहाँ आ गये । लोकविनाश करने उन आये हुए शिवको देखकर भिन्न श्रुतकर प्रणाम किया और पुनः वे (ब्रह्माजी) उन- (शिव-)की स्तुति करने लगे ॥ ६-१० ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्तेऽस्तु महादेय भूतभव्य भवाश्रय । नमस्ते स्तुतिनिन्याय नमस्त्रैलोक्यपालिने ॥ ११ ॥
 नमः पवित्रदेहाय सर्वकल्पनारिणि । चराचरगुणे गुहागुहानां च प्रकाशहृत् ॥ १२ ॥
 रोगा न यान्ति भिषजैः सर्वरोगविनाशन । रौर्याग्निनसंयोज पीतशोक नमोऽस्तु ते ॥ १३ ॥
 पारिकूलोलसंक्षुब्धमहाशुद्धिविद्यद्विने । त्वत्पामजापिनो देव न भयन्ति भयाधया ॥ १४ ॥

ब्रह्माने कहा—भूत, भव्य तथा भवके आश्रयस्वरूप महादेवजी ! आपको नमस्कार है । नित्य-स्तुति किये जानेवाले और तीनों लोकोंके रक्षक ! आपको नमस्कार है । सभी पापोंको नष्ट करनेवाले एवं पवित्र देहवाले ! आपकी नमस्कार है । चर और अचरके गुरु ! आप रहस्योंके भी रहस्यको (गुप्तमे गुप्त तरासे) प्रकाश करनेवाले हैं । वैद्योंकी दवाओंसे दूर न होनेवाले, सभी, रोगोंका विनाश करनेवाले ! रुद्रगुणवर्धनारी ! शोकसे रहित शिव ! आपको नमस्कार है । जलकी उचाउ तरङ्गोंमें महाशुद्धिके विद्यन करनेमें (स्वयं भी) सभुग्ग देव । आपके नामना जप करनेवाले प्राणी ससारमें नहीं पड़ते ॥ ११-१४ ॥

नमस्ते ; नित्यनिन्याय नमस्त्रैलोक्यपालन । शंकरायाप्रमेयाय श्यामीनां शमनाय च ॥ १५ ॥
 परायापरिमेयाय सर्वभूतप्रियाय च । योगेदयस्य देवाय सर्वपापक्षयाय च ॥ १६ ॥
 नमः श्यामने सिद्धाय सिद्धघन्दिस्तुताय च । भूतसंसाप्तुर्गाय विद्यरूपाय ते नमः ॥ १७ ॥
 फणीन्द्रोक्तमहिम्ने ते फणीन्द्राहृद्धारिणे । फणीन्द्रावरहाराय भास्कराय नमो नमः ॥ १८ ॥

नित्यके भी नित्य आपको नमस्कार है । तीनों लोकोंके पादक 'कन्यागमरी' (निक्षयनिना मुद्रिने भी अगम्य) अप्रमेय शारीरिक-मानसिक रोगोंके नाश करनेवाले आपको नमस्कार है । सबसे परे, आरिण्य (मारमें न आने योग्य), सभी प्राणियोंके प्रिय देव एवं सभी पापोंके क्षय करनेवाले योगेश्वर आपको नमस्कार है । (आप) श्यामस्वरूप सिद्ध एवं सिद्धों तथा बन्धियोंके दाता स्तुत आपको नमस्कार है । सत्कारके प्रतिपक्षके विप्रे दुर्ग बने हुए आप निश्चलकर किये नमस्कार है । सर्वराजके द्वारा बलवती गयी मदिमागने, सर्वराजके बाहबंद एवं माला धारण करनेवाले भास्करस्वरूप आपको बरम्भार नमस्कार है ॥ १५-१८ ॥

पयं स्तुतो महादेवो ब्रह्माणं प्राह शङ्करः । न च मनुष्यस्या कायो भावित्यर्थे कदाचन ॥ १९ ॥
 पुरा यदाहकृत्ये ते यन्मयाऽपहृतं शिरः । चतुर्मुखं च तद्भूतं च द्वाचिप्रशिष्यनि ॥ २० ॥
 असिन् स्वशिधिते तांयं लिङ्गानि मम भक्तिः । प्रतिष्ठाय विमुक्तस्य सर्वपापैर्भक्षिष्यनि ॥ २१ ॥
 सृष्टिकामेन च पुरा त्वयाऽहं प्रेरितः किल । तेनाहं त्वां तथेयुक्त्या भूतातां देवापचित्तयन् ॥ २२ ॥
 दीर्घकालं तपस्तपया मम संनिधिते स्थितः । सुमहात्तं ततः कालं ग्यं प्रतोक्षां प्रमाक्योः ॥ २३ ॥

इस प्रकार स्तुति किये जानेपर शम्भुने ब्रह्माने कहा—ब्रह्मन् ! जो कर्षण अचरकभारी है उसके विरुद्धमें आपको कभी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । पहले बराह-कल्पमें मैंने आपको जो महात्मा बना दिया था वही चार मुख हो गया । अब वह कभी चिन्त नहीं होग्य । इस सन्निधिनि नीर्यमें मन्त्रिकृत गये निम्नोकी प्रतिष्ठा

करके आर सभी प्राणोंमें दृष्ट जायेंगे । प्राचीनकालमें सृष्टि रचनेकी इच्छासे आपने मुझे अनुप्रेरित किया था, अतः मैं 'प्रेसा ही होगा' यह कहकर भूतोंके देवोंमें रहनेवालेकी भाँति दीर्घकालतक तप करके संनिहितमें विलीन होकर स्थित रहा । उसके बाद आपने बहुत दिनोंतक मेरी प्रतीक्षा की ॥ १९-२३ ॥

अथारं सर्वभूतानां मनसा कल्पितं त्वया । सोऽप्रवात् त्वां तदा दृष्ट्वा मां मग्नं तत्र चाम्भसि ॥ २४ ॥
यदि मे नाग्रजस्त्वन्यस्ततः न्रक्ष्याम्यहं प्रजाः । त्वयैवोक्तश्च नैवास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ॥ २५ ॥
म्याणुरेव जलं मग्नो विवशः कुरु मद्धितम् । स सर्वभूतानसृजद् दक्षादींश्च प्रजापतीन् ॥ २६ ॥

किर आपने अपने मनमें सभी प्राणियोंकी सृष्टि करनेवालेका ध्यान किया । तब उन्होंने मुझे वहाँ जलमें विद्यमान देखकर आपसे कहा कि यदि मुझसे अन्य कोई बड़ा पहले हुआ न माना जाय तो मैं प्रजाकी सृष्टि करूँगा । आपने कहा—आपके द्वारा कोई दूसरा अग्रज पुरुष नहीं है । ये स्याणु जलमें विलीन तथा विवश पड़े हैं । आप भेदा कल्याण करें । फिर उन्होंने दक्ष आदि प्रजापतियों तथा सगस्त भूतोंकी सृष्टि की ॥ २४-२६ ॥

यैगिं प्रकरोत् सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् । ताः सृष्ट्वा प्राः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम् ॥ २७ ॥
विभक्षयिष्यो ग्रामन् सद्यसा प्राद्रवंस्तथा । स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवत् ॥ २८ ॥
अथासां च प्राणानुत्तिः प्रजानां संविधीयताम् । दत्तं ताभ्यस्त्वया ह्यन्नं स्यावराणां महौषधीः ॥ २९ ॥
जन्मानि च भूतानि दुर्बलानि घलीयसाम् । विहिताग्नाः प्रजाः सर्वाः पुनर्जगमुर्ययागतम् ॥ ३० ॥

(इस तरह) जिन्होंने इस चार प्रकारके प्राणि-समुदायको उत्पन्न किया, सृष्टि होते ही वे सभी प्रजाएँ क्षुधित हो गयीं और प्रजापतिको पानेकी इच्छासे उन्हींपर टपकपड़ी । जब उन्होंने उन्हींका भक्षण करनेकी चेष्टा की, तब प्राण पानेकी इच्छासे वे पितामहके पास दौड़कर गये और उनसे बोले—प्रजाओंकी जीविकाका विधान कीजिये । फिर आपने उन्हें अन्न (जीवन-साधन) प्रदान किया । अच्छ प्राणियोंकी गहौपवियाँ और निर्बल चल प्राणी शक्तिशाली प्राणियोंके अन्न (प्राणन-शक्ति) देने । इस प्रकार जीवन-निर्वाहके लिये प्राणन-शक्तिका विधान हुआ । फिर सभी प्रजाएँ अपने स्थानको लौट गयीं ॥ २७-३० ॥

तानां पशुरिरे सर्वाः प्रीतियुक्ताः परस्परम् । भूतग्रामे विवृजे तु तुष्टे लोकगुरौ त्वयि ॥ ३१ ॥
ममुनिप्र उल्लान् तस्मान् प्रजाः संदृष्टवानसम् । ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा विहिताः स्वेन तेजसा ॥ ३२ ॥
मोक्षेन महता युक्तो लिङ्गमुपाद्रव चाक्षिपम् । तत् क्षिप्तं सरसो मध्ये उर्ध्वमेव यदा स्थितम् ॥ ३३ ॥
तदा प्रभृति लोकेषु स्याणुरित्येव विधुतः । मरुद् दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ३४ ॥
प्रयाति मोक्षं परमं यस्मात्प्रावर्तते पुनः । यश्चेह तीर्थे नियसेत् कृष्णाष्टम्यां समाहितः ॥ ३५ ॥
स मुक्तः पातकैः सर्वैरगम्यागमनोद्भवैः । इत्युक्त्वा भगवान् देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

फिर तो वे सब शरार प्रेक्षार्थक रहकर बहने लगे । प्राणि-समुदायके बहने एवं लोकके गुरु आपके दर्शन होनेपर भी उम जलमें निरलस्य प्रजाओंके देव । उसके बाद अपने तेजसे उत्पन्न हुई उन प्रजाओंको देखकर भी मोक्षमें भगवान् भी लिङ्गको उपाद्रव फेंक दिया । ताटावके बीचमें फेंका गया वह (लिङ्ग) ऊपर स्थित हो गया । सर्वमें यह (लिङ्ग) संसारमें 'शक्यु' नामसे प्रसिद्ध हो गया । इस- (लिङ्ग) का एक बार भी दर्शन करनेमें मनुष्यकी पदोंमें लुप्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है; जहाँमें वह स्थित नहीं लौटता । कृष्णाष्टमीके दिन मरुतोंके देव—अपरीत पर इस तीर्थमें नियत करनेवाला व्यक्ति अगम्यागमनसे होनेवाले सभी पापोंसे दृष्ट होता है—प्रेसा कल्याण अथवा मोक्ष ही अर्जित हो गये ॥ ३१-३६ ॥

प्रला विशुद्धपापस्तु पूज्यं देवं चतुर्भुजम् । लिङ्गानि देवदेवस्य सगृह्ये सरमप्यतः ॥ ३७ ॥
 धार्यं प्रह्लादरः पुण्यं हृदिपादौ प्रतिष्ठितम् । दिनायं प्रह्लाददत्तं स्वर्गाय शाश्वतं हृतम् ॥ ३८ ॥
 तस्यैव पूर्वदिग्भागे कृत्यायं च प्रतिष्ठितम् । चतुर्थे प्रह्लाता लिङ्गं सरमयास्तटे हृतम् ॥ ३९ ॥
 एतानि प्रपत्तोर्यानि पुण्यानि पावनानि च । ये पश्यन्ति निगदाहास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ४० ॥

पापके शोभन हो जानेके कारण प्रह्लादने भी चतुर्भुज महादेवता पूजन कर तन्पश्चात् वीचने देवाग्निदेव-
 (शिव)-के लिङ्गोंकी सृष्टि की। पहले तो उन्होंने हरिजी बगलमें प्रह्लादको स्थिति किया और दूसरा अपने
 आश्रममें प्रथमदहनका निर्माण किया। उन्नीसों वर्ष दिशामें रहने तृतीय छिद्रको एव सार्वभौमी नदीके तटपर चतुर्थ
 छिद्रको प्रतिष्ठित किया। जो प्राणी उपासक-वर्तक इन पवित्र और पावनसक प्रपत्तियोंका दर्शन करते हैं, वे
 परम गतिमें प्राप्त करते हैं ॥ ३७-४० ॥

हृते युगे हरेः पादौ प्रेतायां प्रह्लादाश्रमे । द्वारमे तस्य पूर्वे सरसयास्तटे कृतौ ॥ ४१ ॥
 एतानि पूजयित्वा च हृष्टा भक्तिमन्विताः । विमुक्ताः कलुषैः सर्वैः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४२ ॥
 सृष्टिकाले भगवता पूजितस्तु महेश्वरः । सरसतुत्तरे तीरे नास्ति स्थानधनुर्भुजः ॥ ४३ ॥
 तं प्रणम्य धर्माधानो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः । छोलामंकरसंभूतैस्तथा वैभगसङ्घर्षैः ॥ ४४ ॥

सप्तयुगमें हरिजी बगलमें, प्रेतामें प्रपाके आश्रममें, द्वारमें उसके पूर्व तथा कल्पमें सार्वभौमीके तटपर
 स्थित छिद्रोंका भक्तिपूर्वक पूजन एवं दर्शन करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे हृष्टतर परम गतिमें प्राप्त करते हैं। सृष्टि
 करनेके समय सरस्वतीके उत्तरी तटपर सगदन् रहनेसे अर्चित सगदन् महेश्वर चतुर्भुज नामसे विद्वान् हुए।
 मनुष्य उनको धर्माक साय प्रणाम कर छेलेसङ्घर्ष (चंचलसे उत्पन्न वर्गमंकर) तथा वैभगसङ्घर्षमें उपास
 सभी पापोंसे मुक्त हो जात है ॥ ४१-४४ ॥

तथैव द्वारमे प्राते स्वाधमे पूज्यं शङ्करम् । विमुक्तो राजसैर्भार्यैर्जंसंकरसम्भवेः ॥ ४५ ॥
 ततः कृष्णचतुर्दश्यां पूजयित्वा तु मानवः । विमुक्तः पातकैः सर्वैरभोज्यम्यात्रसम्भवेः ॥ ४६ ॥
 फलिबाले तु संयाते यसिष्ठाश्रममादिभ्यः । चतुर्भुजं स्थापयित्वा ययौ सिद्धिमनुत्तमाम् ॥ ४७ ॥
 तथापि ये निराहारा धर्माधाना जितेन्द्रियाः । पूजयन्ति महादेयं ते यान्ति परमं पदम् ॥ ४८ ॥
 इत्येतत् श्यामूर्तार्थस्य माहात्म्यं कवित्वं तव । यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ ४९ ॥
 ॥ इति श्रीशामनपुराणे एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

उन्नी प्रकार द्वारशुभके आनेपर अपने आश्रममें शङ्करका पूजन कर मन् वर्गसङ्घर्षमें उत्पन्न होनेकी
 रजोगुणके भावोंसे मुक्त हुए। मनुष्य कृष्णचतुर्दशी तिथिमें वहाँ शङ्करजीका पूजन कर अन्यत्र अन्तकं भक्षण
 करनेसे होनेवाले समस्त पापोंसे विमुक्त हो जात है। कलिबल आनेपर कलिआश्रममें स्थित होकर रहने चतुर्भुज-
 (शङ्कर)-की स्थापना की तथा उत्तम सिद्धि प्राप्त की। जो ऐसे वहाँ निराहार, धनुर्भुज और जितेन्द्रिय
 होकर महादेवकी पूजा करेंगे वे परमादको प्राप्त करेंगे। इन प्रकार मैंने अपने श्यामूर्तार्थका महात्म्य बताया,
 जिसे सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जात है ॥ ४५-४९ ॥

इस प्रकार श्यामनपुराणमें उनचामरी अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

[अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

देवदेव उवाच

पदं पृथूदको देवाः पुण्यः पापभयापहः । तं गच्छध्वं महातीर्थं यावत् संनिधिवोधितम् ॥ १ ॥
 यदा मृगशिराम्रक्षे शशिसूर्यौ वृहस्पतिः । तिष्ठन्ति सा तिथिः पुण्या त्वङ्गया परिगोयते ॥ २ ॥
 नं गच्छध्वं सुरश्रेष्ठा यत्र प्राचीं सरस्वती । पितृनाराधयध्वं हि तत्र श्राद्धेन भक्तितः ॥ ३ ॥
 ततो गुणारियन्त्रं ध्रुवा देवाः सचासवाः । समाजग्मुः कुरुक्षेत्रे पुण्यतीर्थं पृथूदकम् ॥ ४ ॥

पचासवां अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके पृथूदक-तीर्थके नन्दर्भगे अक्षय-वृत्तीयाके महत्स्वकी कथा)

देवदेव-(महादेव-)ने कहा—देवताओं ! इस प्रकार पृथूदक-तीर्थ पाप-भयको नष्ट करनेवाला और पवित्र है । गुणद्वेग 'सन्निहित' तादात्म्यक (उस) ज्ञात (न्याप्त) होनेवाले महातीर्थमें जाओ । जिस तिथिमें चन्द्रमा, सूर्य एवं वृहस्पति—ये तीनों प्रथम मृगशिरा नक्षत्रमें स्थित होते हैं, उस पवित्र तिथिको 'अक्षया' तिथि कहते हैं । श्रेष्ठ देवताओं ! जहाँ सरस्वती नदी पूर्व दिशामें बह रही है, वहाँ जाकर भक्ति-श्रद्धासे श्राद्ध करके पितरोंकी क्षमापना करो । भगवान्का निर्देश सुनकर इन्द्रके सहित सभी देवता कुरुक्षेत्रमें विद्यमान पृथूदक नामवाले पवित्र तीर्थमें गये ॥ १-४ ॥

तत्र स्नात्वा सुराः सर्वे वृहस्पतिमचोदयन् ।

विश्राय भगवन् प्रक्षमिमं मृगशिरं कुरु । पुण्यां तिथिं पापहरां तव कालोऽयमागतः ॥ ५ ॥

प्रपन्नने गविस्तत्र चन्द्रमाऽपि विश्रायसौ । त्वद्वायत्तं गुरो कार्यं सुराणां तत् कुरुष्व च ॥ ६ ॥

इत्येवमुक्तो देवैस्तु देवाचार्योऽब्रवीद्विदम् ।

यदि पराधिरोऽहं स्यां ततो याम्यामि देवताः । वाढमूचुः सुराः सर्वे ततोऽसौ प्राक्रमन्मृगम् ॥ ७ ॥

यहाँ स्नान करके सभी देवताओंने वृहस्पतिसे कहा—भगवन् ! इस मृगशिरा नक्षत्रमें आप प्रविष्ट होकर पितृनिवाशिनी पवित्र तिथिका निर्माण (विधान) करें । आरका यह (निर्दिष्ट) समय आ गया है । सूर्य उस क्षणका भिन्न है तथा चन्द्रमा भी उसमें प्रविष्ट हो गये हैं । हे वृहस्पति ! देवताओंका कार्य आपके अधीन है, आप उसे पूरा करें । देवताओंके इस प्रकार कामेपर देवोंके गुरु वृहस्पतिने यह कहा—देवताओं ! यदि मैं वर्ष-भरकी सर्वे को (मृगशिरा नक्षत्रपर) जाऊँगा । सभी देवोंने कहा—ठीक है । तब उन्होंने (वृहस्पतिने) मृगशिरा नक्षत्रमें प्रवेश किया ॥ ५-७ ॥

भार्यां मानि मार्गशं चन्द्रक्षयतिथिर्हि या । तस्यां पुरन्दरः प्रीतः पिण्डं पितृषु भक्तितः ॥ ८ ॥

माहात् मिलतमूर्ध्निधं ह्यिरयान्नं कुरुष्वथ । ततः प्रीतास्तु पितरस्तां प्राहुस्तनयां निजाम् ॥ ९ ॥

मेनां देवाद्य शैलाय हिमयुक्ताय वै षडुः ।

मां मेनां हिमयोऽप्या प्रनाशाद् द्रव्येणैषथ । प्रीतिमानभवन्नासौ स्वाम च यथेच्छया ॥ १० ॥

ततो हिमाद्रिः पितृकन्यया मनं समर्पयन् वै विषयान् चयेष्टम् ।

अर्शोऽनन्तं सा तनयाद्य निर्रो रूपानियुक्ताः सुरयोपितोपमाः ॥ ११ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

भगवद्दर्शने प्रसन्नः नक्षत्रमें चन्द्रक्षय (अणुकन्या) तिथिके आ जानेपर इन्द्रने प्रसन्न होकर कुरुक्षेत्रके पवित्र तिथिके श्रेष्ठ और भद्रमें स्थित हुआ ह्यिन्द्राकका पिण्ड प्रदान किया । तब पितरोंने

देवोंको अपनी मेना नमनी कल्प दी । देवजनोंने उसे हिनाउदको हीन दिन । देवोंके अन्तर्हने उन मेनाको पाकर वे हिनाउद प्रमत्त हो गये और इच्छासुकृष्ट विनीत-विचारमें लग गये । हिनाउद निर्गोदगु दी गयी उस कन्याके साथ दास्यत्वसुखमें बसक हो गये । तिर उस मेनेने भी सुन-दिनेके सुनन अन्तर्ह कल्पनी तीन कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ८-११ ॥

इस प्रकार अध्यायनपुराणमें पंचमोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

[अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

इत्यथ उवाच

मेनायाः कन्यकालिप्तो ज्ञाना रुग्णान्मान्निताः । सुनाम इति च कथयन्नुत्सवरोऽभवत् ॥ १ ॥
 रत्नाङ्गो रत्ननेत्रा च रत्नान्तरविभूतिना । रागिणी नाम संज्ञता ज्येष्ठा मेनासुता मुने ॥ २ ॥
 शुभाङ्गो पद्मपञ्चाङ्गो नीलकुञ्जितमूर्ध्निजा । दशमनान्यान्नाश्रया कुटिला नाम चारुता ॥ ३ ॥
 नीलाञ्जनचयप्रक्या नीलेन्द्रोत्पल्येचना । करेणसुतना कथ्यते जन्मना मेनकासुता ॥ ४ ॥

इत्यथोवाच अध्याय द्वाग्म्भ

(मेनाकी तीन कन्याओंका जन्म, कुटिला और रागिणीके शाप, उपासी दास्य, मित्रद्वारा उपासी परीक्षा एवं चन्द्रगवतार मनन)

पुलस्त्यजीशोले—मेनाको स्वर और गुणोंने सुनन तीन कन्याएँ उत्पन्न हुई और चैप सुनाम नामने विद्वान्त पुत्र उत्पन्न हुआ । मुने ! मेनाकी जेठी कन्य 'रागिणी' नामकी थी जो छोट अङ्गें रूप काल आँखोंवाली थी । वह छोट कर्णमें सुशोभित रहती थी । दूसरी कुटिला नामकी कन्य थी जो सुन्दर शरीरवाली, कलकटस्थानना, नीले पत्र पुत्रराते बालोंवाली थी तथा उत्पन्न मन्त्र और उत्पन्न कथ धारण किने रहती थी । मेनाकी तीसरी कन्याका नाम था 'पद्मनी' । उसका रंग नीले अञ्जनके देरके सुनन और अँभे नीले कन्धके जैसी थी । वह अश्वत्थ सुन्दर थी ॥ १-४ ॥

जन्मास्ताः कन्यकालिप्तः पदध्यात् परतो मुने । कर्तुं तत्रः प्रजातास्ता देवता ददन्तु शुभा ॥ ५ ॥
 ततो दिगर्करैः सर्वैरनुभिद्य नराभिनी । कुटिला ब्रह्मद्वोकं तु नीता शक्तिरुत्पन्ना ॥ ६ ॥
 अथोत्तुर्देवताः सर्वाः किं निवयं जननिभ्यति । पुत्रं महिदहन्तारं ब्रह्मन् व्यख्यातुमर्हसि ॥ ७ ॥
 ततोऽप्यथोत्तुं सूरपतिर्नर्यं जन्म तपस्विनी । शर्व धारयितुं देवो धरणी सुव्यतां विवन् ॥ ८ ॥

मुने ! वे तीनों कन्याएँ जन्मने छ । सर्वके बट तपन्य करने चजे गयीं । देवजनोंने उन सुन्दरी कन्याओंको देखा, तिर आदित्य तथा वसुधा चन्द्रमनी किराँके सुनन कालिवाली तपस्विनी (मन्थना कन्य) कुटिलाको ब्रह्मद्वोरमें ले गये । उसके बट सभी देवजनोंने ब्रह्मने ब्रह्म कि ब्रह्म ! जन्म बटजने कि कथ यह कन्या महिदहापुत्रको मारनेवाले पुत्रको जनेगी । तब सुव्यतिने कहा—यह बेवगी तपस्विनी शिवका नेत्र धरणा करनेमें सतर्प नहीं है । उसे त्रेंद्र दो ॥ ५-८ ॥

ततस्तु कुटिला ब्रह्मा ब्रह्मानं प्राइ नारद । तथा धनिने भगवत् यथा शर्व सुवर्द्धम् ॥ ९ ॥
 धारयिष्याम्यहं तेजस्तथैव ग्णु सप्तम । तपसार्हं सुततेन सनापञ्च उतर्द्धम् ॥ १० ॥
 यथा हरष्य मूर्ध्नि नमसिष्ये विनामह । तथा देव कथिष्यति सर्वं सर्वं मनेदिनम् ॥ ११ ॥

नाम् ! उसके बाद कुशित होकर कुटिलाने ब्रह्मसे कहा—भगवन् ! शङ्करके दुर्धरणीय नेत्रको जैसे भाग्य कर लूँ, मैं वैसा उपास करूँगी । सखाम ! आप मुझे, कठिनतर नान्यासे जनार्दन भगवान्की उत्तम उपासना करनेके मैं उसके नेत्रको देने ही कारण करूँगी जिससे शङ्करका सिर नत कर दूँ । वितामद् देव ! मैंने जो कहा है वह सत्य है, सत्य है; मैं वैसा ही करूँगी ॥ १-११ ॥

पुत्रस्य वचाच

ततः पितामहः क्रुद्धः कुटिल्यां प्राह क्षण्णाम् । भगवानादिहृद् ब्रह्मा सर्वेशोऽपि महामुने ॥ १२ ॥

पुत्रस्यजी बाले—महामुने ! उसके बाद आदिवर्ता सबके उपास्य पितामह भगवान् ब्रह्माने उप-
वभाववाची कुटिल्यासे कुशित होकर कहा— ॥ १२ ॥

ब्रह्मवाच

यस्मान्महत्त्वं पापे न क्षान्तं कुटिले त्वया । तस्मान्मच्छापनिर्देशा स्वर्गो आपो भविष्यति ॥ १३ ॥

इत्यं ब्रह्मणा शमा हिमवद्दुहिता मुने । आपोमयो ब्रह्मलोकं ग्लाययामास चेतिनी ॥ १४ ॥

नामुद्वृत्तजग्यां दृष्ट्वा प्रवचन्थ पितामहः । श्रुत्वासाधार्ययजुर्भिवाङ्मयैर्वन्धनैर्दृढम् ॥ १५ ॥

सा यदा संश्रिता ब्रह्मन् तत्रैव निरिक्तन्यका । आपोमयो ग्लाययन्तो ब्रह्मणो विमला जटाः ॥ १६ ॥

ब्रह्मने कहा—शरिणी कुटिले ! जिस कारण तुमने मेरे वचनको सहन नहीं किया, उसी कारण मेरे शापसे तुम निर्देश होकर पूर्णतः जलमयी हो जाओगी । मुने ! इस प्रकार ब्रह्मसे अभिराप्त हिमालय-पुत्री (कुटिल) जलमयी होकर (अपने) नेत्रसे ब्रह्मके जलसे आन्वित करने लगी । पितामहने उसके उमड़कर बढ़ते हुए जलकी धाराको देखाकर शङ्क, शम, अथर्व और यजुर्की स्तुतिको पाठ करके उसे स्तुतिद्वारा दृढ़तापूर्वक बाँध दिया । ब्रह्मन् ! जलमयी यह पवनपुत्री ब्रह्मकी विमल जटाको भिगेनी हुई बड़ी बद्ध (अवरुद्ध) हो गयी ॥ १३-१६ ॥

या सा रागयतां नाम स्नापि नाना सुरैर्दिवम् । ब्रह्मणे नां निवेद्यैवं तामप्याह प्रजापतिः ॥ १७ ॥

स्नापि दृष्ट्वाऽप्रयान्नुतं तथा तपस्ये महत्तपः । यथा मत्तामसंयुक्तो महिषपन्नो भविष्यति ॥ १८ ॥

तामप्यवाशरद् ब्रह्मा मन्वया पापे भविष्यति । या मद्वापयमल्लङ्घ्यं वै सुरैर्लङ्घयसे यत्नात् ॥ १९ ॥

स्नापि ज्ञाता मुनिधेष्ट संख्या रागयती ततः । प्रतोच्छन् कृत्तिकायोगं शैल्यो विप्रहं दृढम् ॥ २० ॥

जो रागयती (गलिणी) नाम रागी थी उसे भी देवतागण स्वर्गमें ले गये और उन्होंने ब्रह्मको उसे समर्पित कर दिया । उसने भी ब्रह्मने उसी प्रकार कहा । उसने भी क्रुद्ध होकर कहा—मैं निश्चय ही ऐसी कठिन तपस्या करूँगी, जिससे मेरे नामसे मन्वद् पुर भविष्यते मानेकाय होगा । ब्रह्मने उसे भी शाप दिया—पापे ! देवोंसे भी अनुपेय मेरे वचनको उल्लंघनया न करनेमें तुम मन्वया हो जाओगी । मुनिधेष्ट ! उसके बाद वह शैल्यतनया रागयती भी मन्व हो गयी और मन्व शरीर धारण कर कृत्तिकायोगकी प्रतीक्षा करने लगी ॥ १७-२० ॥

तपो मते धन्यदे हे शाल्या मेना तपसिनी । तपसो वाग्यामास उमेत्येवावधीच सा ॥ २१ ॥

तस्य माता जानाम्नाशंते पिशुमुया शुभा । उमेत्येव हि कन्यायाः सा जगाम तपोवतम् ॥ २२ ॥

ततः सा मत्ताया कथं नृत्तपानि पृथ्व्यजम् । नर्त्तं येनानि संवाय तपसनेपं सुद्रुधकरम् ॥ २३ ॥

ततो मत्ताऽप्रवीद् देवान् मत्तायां दिनयसुवाम् । दक्षतपस्यं तां काल्यो तपस्यन्ती दिवालये ॥ २४ ॥

(२१ प्रश्न) जो कन्याके ही शरीरको तपस्य करनेसे (कृत्तिका कन्या करीको) तपस्या करनेसे होता । उसने उपासना शुरू किया । जिसके ही पुरी, कन्या रागी नाम (मेना) ने कन्याका बड़ी ही अक्षुण्ण संयुक्त कन्या का नाम रखा । उस ही कन्याके ही शरीरको । उसने तप उन्ने मन्वो इत्यादीं कृत्तिका कन्याका ध्यानकर

कठिन तपस्या की। फिर ब्रह्मने देवताओंसे कहा—देवताओ! तुमनेगे हिमाडपर तप करती हुई हिमालयकी पुत्री काठीके पास जाओ और उसे यहाँ लिखा लखो ॥ २१-२४ ॥

ततो देवाः समाजमुर्द्ध्वयुः शैलनन्दिनीम् । तेजसा विजिनास्तस्या न शुकुरूपसर्पितुम् ॥ २५ ॥
इन्द्रोऽमरगणैः सार्द्धं निर्द्वन्द्वेजसा तया । प्रहणोऽधिकतेजोऽस्या विनिवेच प्रतिष्ठिनः ॥ २६ ॥
ततो ब्रह्माऽमवोत् सा हि ध्रुवं शङ्करचल्लभा । यूयं यत्तेजसा नूनं विक्षितास्तु हतमभाः ॥ २७ ॥
तस्माद् भजध्वं स्वं स्वं हि स्थानं भो विगतज्वराः । सतारकं हि महिषं विदुष्वं निदतं रणे ॥ २८ ॥

उसके बाद देवगण (हिमालयपर) आये और (उन लोगोंने) शैलनन्दिनीको देख। परंतु उसके तेजसे व्यग्र (व्याकुल) हो जानेंके कारण वे उसके निकट न जा सके। देवताओंके साथ इन्द्र भी उसके तेजसे कान्तिहीन-से हो गये। वे ब्रह्मसे उसके तेजका आधिक्य बतलाकर खड़े हो गये। उसके बाद ब्रह्मने कहा—यह निरचय ही शङ्करकी पत्नी होगी; क्योंकि उसके तेजसे तुम सब आकुल और प्रमाहीन हो गये हो। अतः देवताओ! तुम लोग चित्ता छोड़कर अपने-अपने स्थानको जाओ। अब समझ लो कि युद्धमें तारकके साथ महिष मारा (ही) गया ॥ २५-२८ ॥

इत्येवमुक्त्वा देवेन प्रहणा सेन्द्रकाः सुराः । जग्मुः स्वान्येव धिष्यन्ति सजो वै विगतज्वराः ॥ २९ ॥
उमामपि तपस्यन्तीं हिमवान् पर्वतेश्वरः । निवर्त्य तपसस्तस्मात् सदायै धनयद्गृहान् ॥ ३० ॥
देवोऽप्याश्रय तद्रौद्रं व्रतं नाम्ना निराश्रयम् । विचचार महाशैलान् मेक्षयाप्यान् महामतिः ॥ ३१ ॥
स कदाचिन्महाशौळं हिमवन्तं समागतः । तेनार्चितः श्रद्धयाऽसौ तां रात्रिमवसद्धत् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ब्रह्मने जब इन्द्रके साथ सभी देवताओंसे कहा तब देवगण चित्तारहित होकर उसी समय अपने-अपने स्थानपर चले गये। फिर पत्नीसहित पर्वतराज हिमवान् तपश्रयोमें लगी हुई उमाको भी उस तपश्रयोसे हृद्यकर उसे घर ले आये। महाज्ञानी महादेव भी निराश्रय नामके उस कठिन (रौद्र) व्रतका आश्रय लेकर मेरु आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर भ्रमण करने लगे। वे कभी पर्वतराज हिमाचलपर गये। हिमालयने उनकी ब्रह्मसे पूजा की। उस रात उन्होंने वही निवास किया ॥ २९-३२ ॥

द्वितीयेऽह्नि गिरिदेवेन महादेवो निमन्त्रितः । इहैव तिष्ठस्व किमो तपःसाधनकारणात् ॥ ३३ ॥
इत्येवमुक्त्वा गिरिणा हरश्चक्रे मतिं च ताम् । तस्यायाश्रममाश्रित्य तपस्या चारुं निराश्रयम् ॥ ३४ ॥
यस्ततोऽप्याश्रमे तस्य देवदेवस्य शूलिनः । तं देवामगमत् कालो गिरिराजसुना शुभा ॥ ३५ ॥
तामागतां हरौ दृष्ट्वा भूयो जातां गियां सतीम् । स्वागतेनाभिसम्पूज्य तस्यौ योगरतो हरौ ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन पर्वतराज-(हिमालय)ने महादेवको निमन्त्रित किया (और) कहा—हे प्रभो! आप तपस्या करनेके लिये यहीं रहें। हिमालयके इस प्रकार बहनेपर शङ्करने भी वही विचार किया और बिना बरका रहना छोड़कर आश्रममें रहने लगे। देवाभितेव त्रिशूलगरी शङ्करके आश्रममें रहनेपर गिरिराजकी कन्यागी कन्या काठी उस स्थानपर आयी। अपनी छिया सुतीको पुनः हिमननया उमाके रूपमें उपज हुई और (अपने) सामने आयी देखकर शङ्करने उनके आनेका अभिनन्दन तो किया, पर वे फिर योगमें लीन हो गये ॥ ३३-३६ ॥

सा चारुण्येव वरापेक्षा कृताञ्जलिपरिग्रहा । धवन्ने चरणौ शैवौ सखीभिः सद् भामिनी ॥ ३७ ॥
ततस्तु सुचिराच्छनः समोक्ष्य गिरिकन्यकाम् । न युक्तं चैवमुक्त्वाऽप्य सगणोऽन्तर्धे ततः ॥ ३८ ॥
साऽपि शर्ववचो रौद्रं श्रुत्वा शान्तसन्निता । अन्तर्दुःखेन दहन्ती पितरं प्राह पार्वती ॥ ३९ ॥
तत यास्ये महारण्ये तप्तुं घोरं महत्तपः । वाराधनाय देवस्य शङ्करस्य पिनाकिनः ॥ ४० ॥

छद्म शरीरवाले त्रिमसुक्तने वहाँ जानेके बाद दोनों हाथ जोड़कर सरोत्रियेके साथ शिवके दोनों धरनोंमें अभिवादन (प्रणाम) किया । उसके बाद शङ्करने देवतक शिषिकृत्याज्ञा देखा और कहा—यह उचित नहीं है । ऐसा काङ्कर शङ्कर अपने गणोंके साथ निरोद्धि हो गये (छिप गये) । भय उभय करनेवाले शङ्करके धननयो सुभयार आन्तरिक दृष्टिमें जल्दी हुई ज्ञानिनी उन पार्वतीने भी अपने पितामें कहा—तात ! बिनाक धारण करनेवाले शङ्करदेवकी आराधना एवं उच्यत तथा महान् तप करनेके लिये मैं विशाल मनमें जाऊँगी ॥ ३७-४० ॥

तन्मेयुनां यथा पित्रा पादे तस्यैव विस्वते । ललितारथा तपस्तेपे एगाराधनकार्यया ॥ ४१ ॥
 तम्याः मन्त्रयस्तदा देव्याः परिचर्यां तु कुर्वते । समित्कुशाफलं चापि मूलाहरणमादितः ॥ ४२ ॥
 विनोदनायै पार्वत्या मृन्मयः शूलशुभ्रं हरः । कृतस्तुनेजसा युक्तो भद्रमस्त्विति साऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥
 पूजां करोति तस्यैव तं पश्यति सुहृमुहः । ततोऽस्यास्तुष्टिमगमाच्छङ्कया त्रिपुरान्तकत् ॥ ४४ ॥

पिताने वजा—ठीक है । उसके बाद शङ्करकी आराधनाकी इच्छामें ललिता (पार्वती) उसी (त्रिमसुक्त) पार्वतीके सिद्ध कलाटीमें तप करने लगी । उस समय उनकी सचरियों सगिधा, कुशा, फल-मूल आदि पत्थर डेरीकी सेवा करने लगी । (उन सचरियोंमें) पार्वतीके विनोदक लिये तेजनी विशूलधारी शङ्करकी भित्री ही मूर्ति बनायी । पार्वतीने भी कहा—सगियों ! ठीक है । (फिर तो) ने (पार्वतीजी) उसी मूर्तिकी पूजा करती और धारण उसे निरालगी रहती थीं । उसके बाद उनकी धरामें त्रिपुरानुरको मारनेवाले शङ्कर प्रसन्न हो गये ॥ ४१-४४ ॥

पटुरूपं समाधाय आराधो मुञ्जमेखली । यतोपवीती छत्रां च गृगाजिनधरस्तथा ॥ ४५ ॥
 कामण्डलुन्यप्रफारो भस्मारगिनविग्रहः । प्रत्याश्रमं पर्यटन् स तं कालयाश्रममागतः ॥ ४६ ॥
 समुत्थाय तदा काटीं सखीभिः नद्य नारद । पूजयित्वा यथान्यायं पर्यपृच्छद्विदं ततः ॥ ४७ ॥

उमने काट पत्थरका दण्ड, मुञ्जकी मेखला, यतोपवीती छत्रां च गृगाजिनधरस्तथा ॥ ४५ ॥
 कामण्डलुन्यप्रफारो भस्मारगिनविग्रहः । प्रत्याश्रमं पर्यटन् स तं कालयाश्रममागतः ॥ ४६ ॥
 समुत्थाय तदा काटीं सखीभिः नद्य नारद । पूजयित्वा यथान्यायं पर्यपृच्छद्विदं ततः ॥ ४७ ॥

उत्सवाद्य

कामाद्गारभ्यो भिक्षो वृष स्यात् तयाश्रमः । ए च न्यं प्रतिगन्तानि मम शीघ्रं निवेद्य ॥ ४८ ॥

उमने वजा (पूजा)—उधे भिक्षुज ! आप शीघ्र मुझे वज्रके कि आप कामसे आ रहे हैं ? आपका अश्रम कहाँ है एवं आप कबसे आरामे ! ॥ ४८ ॥

भिक्षुकाय

ममभस्मार्दं यतं पाराशर्यं मुञ्जियते । जगत्सर्वापानायां गमिष्यामि पृथ्वकम् ॥ ४९ ॥

भिक्षुने वजा—देव ! मैंने अपने पिता ! मेरा अश्रम कामगरीमें है । अब मैं यहाँमें तीर्थयात्रामें पृथ्वकम् आरामे ॥ ४९ ॥

देवुकाय

किं वृषं तत्र शिष्टं सत्प्राप्तं न्यं पृथ्वते । परि स्नातेन च फले केषु किं लब्धयानसि ॥ ५० ॥

देवने वजा—देव ! कबसे आपने अश्रममें शीघ्र पुरा प्राप्त होकर ! काममें मिल-मिल तीर्थोंमें अश्रम करनेसे क्या शीघ्र शीघ्र प्राप्त होकर आ रहे हैं ! ॥ ५० ॥

मिश्रुह्वाच

मया स्नानं प्रयागे तु कृतं प्रथममेव हि । ततोऽथ तीर्थं कुम्भाक्ष्रे जयन्ते चण्डिकेद्वरे ॥ ५१ ॥
 बन्धुवृन्दे च कर्णन्धे तीर्थे कनकले तथा । सरस्वत्यामग्निकुण्डे भद्रायां तु त्रिविष्टपे ॥ ५२ ॥
 कोनटे कोदितार्थे च कुम्भके च कृशोदरि । निष्कामेन कृतं स्नानं ततोऽध्यागां तवाश्रमम् ॥ ५३ ॥
 इहस्यां त्वां समाभाष्य गमिष्यामि पृथ्वकम् । पृच्छामि यद्वहं त्वां वै तत्र न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ५४ ॥

मिश्रुने कहा—कृशोदरि ! मैंने पहले प्रयागमें स्नान किया, उसके बाद कुम्भाक्ष्रे, जयन्त, चण्डिकेश्वर, बन्धुवृन्द, कर्णन्ध, कनकवस्त्रीर्थ, सरस्वती, अग्निकुण्ड, भद्रा, त्रिविष्टप, कोनट, कोदितार्थ और कुम्भकेमें निष्काम-भासे स्नान कर मैं तुम्हारे आश्रममें आया हूँ । यहाँपर स्थित रहनेवाली तुमसे वार्ता करनेके बाद मैं पृथ्वक तीर्थमें आऊँगा । मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसपर क्रोध न करना ॥ ५१-५४ ॥

अहं यत्तपसाग्मानं शोषयामि कृशोदरि । याल्येऽपि संयततनुस्तु इलाप्यं द्विजन्मनाम् ॥ ५५ ॥
 किमर्थं भयतो रौद्रं प्रथमे वयसि स्थिता । तपः समाधिता भीरु संशयः प्रतिभाति मे ॥ ५६ ॥
 प्रथमे वयसि स्त्रीणां सह भर्तौ विलासिनि । मृभोगा भोगिताः काले व्रजन्ति स्थिरयौवने ॥ ५७ ॥
 तपसा यान्छयन्तीह गिरिजे सचराचराः । रूपाभिजनमैश्वर्यं तच्च ते विद्यते बहु ॥ ५८ ॥
 तद् किमर्थमप्राप्त्यैतानलंकारान् जया धृताः । चीनांशुकं परित्यज्य किं त्वं बलकधारिणी ॥ ५९ ॥

कृशोदरि ! मैं बचपनमें भी शरीरको सयत कर तपस्यासे जो अपनेको सुखा रहा हूँ वह तो ब्राह्मणोंके लिये प्रशंसनीय है । परतु भीरु ! तुम इस प्रथम अस्थामें ही क्यों उम्र तप कर रही हो ? (इसमें मुझे) शका हो रही है । अपि स्थिरयौवने ! अपि विलासिनि ! प्रथम अस्थामें स्त्रियों पतिके साथ सुन्दर भोगोंका भोग करती हैं । परंतुपुत्रि ! चर और अचर सभी प्राणी तपस्यासे संसारमें रूप, उत्तम बुल और सम्पत्ति चाहते हैं, सो तो तुम्हें अपिरूपसे-अधिक मात्रामें उपलब्ध हैं ही; फिर सौन्दर्य-सागरनोंको छोड़कर तुमने जटा क्यों धारण कर ली है ? तुमने देशी वस्त्र छोड़कर वस्त्र क्यौं पहन लिया है ? ॥ ५५-५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु तपसा वृद्धा देव्याः सोमप्रभा सखी । भिक्षवे कथयामास यथावत् सा हि तारद ॥ ६० ॥
 पुलस्त्यजी बोले—तारद ! उसके बाद तपस्यामें बढ़ी हुई पार्वतीकी सोमप्रभा नामकी सब्चरीने उन मिश्रुसे वस्तुस्थिति कही ॥ ६० ॥

सोमप्रभोवाच

तपश्चर्यां द्विजश्रेष्ठ पार्वत्या येन हेतुना । तं शृणुष्व त्वियं कालो हरं भर्तारमिच्छति ॥ ६१ ॥
 सोमप्रभाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! पार्वती जिस हेतुसे तपस्या कर रही हैं, उसे सुनिये । ये काली (तपस्याके बलसे) शिवको अपना पति बनाना चाहती हैं ॥ ६१ ॥

पुलस्त्य उवाच

सोमप्रभाया वचनं श्रुत्या संकम्प्य वै शिरः । विदस्य च महादासं मिश्रुराह घञसिचदम् ॥ ६२ ॥
 पुलस्त्यजी बोले—सोमप्रभाकी बात सुनकर मिश्रुने सिर हिलाते हुए बड़े जोरसे हँसकर यह वचन कहा—॥ ६२ ॥

भिधुन्वाच

वदामि ते पार्वति वाक्यमेवं केन प्रदत्ता तव बुद्धिरेषा ।
 कथं करः पल्लवकोमलस्ते समेष्यते शार्चकरं ससर्पम् ॥ ६३ ॥
 तथा दुकूलाभ्यर्णशालिनी त्वं मृगारिचर्माभिवृतस्तु रुद्रः ।
 त्वं चन्दनाका स च भस्मभूषिनी न युक्तरूपं प्रतिभाति मे त्विदम् ॥ ६४ ॥

भिधुक्ने कहा—पार्वति ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ; तुमको यह बुद्धि किसने दी ! पल्लवके सदृश तुमको कोमल कर शङ्करके सर्पयुक्त हाथसे कैसे मिलेगा ! कहाँ तुम सुन्दर वन धारण करनेवाली और कहाँ व्याघ्रचर्म धारण करनेवाली ये रुद्र ! कहाँ तुम चन्दनसे चर्चित और कहाँ भस्मसे भूषित शङ्कर ! अतः मुझे यह भेल अनुत्पन्न नहीं प्रतीत होता ॥ ६३-६४ ॥

पुनरन्य उवाच

एवं यादिनि विवेन्द्र पार्वति भिक्षुमद्रवोत् । मा मैवं वद् भिक्षो त्वं हरः सर्वगुणाधिकः ॥ ६५ ॥
 शिषो वाप्यधवा भीमः सधनो निर्धनोऽपि वा । अलङ्कृतो वा देवेशस्तथा वाप्यनलङ्कृतः ॥ ६६ ॥
 यादृशस्तादृशो चापि स मे नाथो भविष्यति ।
 निवार्यतामयं भिक्षुर्धिवद्भुः स्रुगिनाधरः । न तथा निन्दकः पापी यथा शृण्वञ्छशिप्रभे ॥ ६७ ॥

पुनरन्यजो बोले—विवेन्द्र ! भिक्षुके इस प्रकार करनेपर पार्वतीने उससे कहा—भिक्षुक ! तुम ऐसी बात मत बोले । शङ्कर सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं । वे देवेश चाहे मङ्गलमूर्ति हों या भयङ्कर रूप, धनी हों या निर्धन तथा अलङ्कार-रहित हों अथवा अलङ्कार-विधीन—ने जैसे-तैसे ही क्यों न हों—पर वे ही मेरे स्वामी होंगे । (मन्त्रवादी तो निर्धन कर) शशिप्रभे ! इसे (भिक्षुकेको) मना करो । यह पुनः कुछ कहना चाहता है; क्योंकि इससे अष्ट पादक रहे हैं । देखो, निन्दा करनेवाला व्यक्ति वैसा पापी नहीं होता जैसा कि निन्दाकी बात सुननेवाला होता है ॥ ६५-६७ ॥

पुनरन्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा यदा समुप्यातुमयच्छत । ततोऽन्यजद् भिक्षुरूपं स्वरूपस्योऽभवच्छिवः ॥ ६८ ॥
 भूषोवाच शिष्य गच्छ स्वमेव भवतं पितुः । तवार्याय प्रदद्यामि महर्षान् हिमवद्गृहे ॥ ६९ ॥
 पत्न्येह कर्मज्ञान्या नृन्यदशेऽधरः कृतः । असीं भद्रेऽधरेण्येवं द्यातो लोके भविष्यति ॥ ७० ॥
 देयदातवगन्धसो यथाः किंपुरुषांरणाः । पूजयिष्यन्ति सततं मानवाश्च शुभेप्सवः ॥ ७१ ॥

पुनरन्यजो (पुनः) बोले—इस प्रकार कथकर यदादिनी पार्वतीने (ज्यों ही) वहाँसे उठकर जाना चाहा त्यों ही शङ्कर (वनासी) भिक्षुकासे लौटकर अपने वान्तविक स्वयं ही गये । वे अपने वान्तविक रूपमें आनेपर बोले—शिष्ये ! अपने गृह जाओ । मैं हिमवतके घर तुम्हारे शिष्य महर्षियोंको भेजूँगा । रुद्रकी कामना करनेवाली तुमसे पत्नी विना पार्वति काटने ईश्वर जाना है, वे संसारमें भद्रेश्वर नामसे प्रसिद्ध होंगे । देव, दानव, मानव, राक्ष, विकार, उग्र-एव मनुज जो भी कन्याणर्त्री कामना करनेवाले होंगे, वे सदा उनकी पूजा करेंगे ॥ ६८-७१ ॥

इत्येवमुक्त्वा शेषेण निरिगञ्जसुता मुने । जगामाभ्यर्णमाविद्य स्वमेव भवतं पितुः ॥ ७२ ॥

शङ्करोऽपि महतोऽपि निरुत्पन्न निरिगन्धकात् । पृथुदके जगामाथ स्नानं चक्रे विधानतः ॥ ७३ ॥

शङ्करो देवमरणो महेश्वरः पृथुदके स्नानमपालककल्पयः ।

शङ्करा मर्दान्दः स्वगतः स्वपारतो महागिरिं मन्दरमाजगाम ॥ ७४ ॥

आयाति त्रिपुरान्तके सह गणैर्ब्रह्मर्षिभिः सप्तभिरारोहत्पुलको कर्म गिरिवरः संहृद्यचित्तः क्षणान् ।
 चमो दिव्यकलेर्जलेन शुचिना मूलेश्च कन्दार्द्रिभिः पूजां सर्वगणेश्वरैः सह विभोरद्विखिनेनस्य तु ॥ ७१ ॥
 ॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

मुने ! शङ्करके इस प्रकार कहनेपर हिमालय-पुत्री पार्वतीजी आकाशमार्गसे अपने निकले घर चली गयी । महातेजसी शङ्कर भी परमराजकी कन्याको विदाकर पृथूदक नामके तीर्थमें चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने यथाविधि स्नान किया । उसके बाद देवीमें प्रधान मद्देश्वर पृथूदक-तीर्थमें स्नान करके पापसे निमुक्त होकर नन्दी, गणो एवं वाहनके सहित महान् मन्दर गिरिपर आ गये । सप्त ब्रह्मर्षियों (स्मर्षियों) तथा अपने गणोंके साथ त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्करके आ जानेपर परमश्रेष्ठ मन्दर क्षगभरमें ही प्रसन्नचित्त हो गया । परमराजने दिव्य फलों, मूलों, कन्दों एवं पत्रिजलसे समस्त गणेश्वरोंके साथ भगवान् शङ्करकी पूजा की ॥ ७१-७५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इत्यादिबर्णना अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

—५१—

[अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

तत्रः सम्भूजितो रुद्रः शैलेन प्रतिमानमूत् । सस्मरत् च महर्षीस्तु अरुन्धत्या समं ततः ॥ १ ॥
 ते संस्मृतास्तु ऋषयः शङ्करेण महान्मना । सम्राजमुर्महाराजैर्लं मन्दरं चारुकन्दारम् ॥ २ ॥
 तानागतान् समीक्ष्यैव द्वात्रिपुरनाशनः । अम्बुध्यायाभिर्भूष्यैतानिर्दं वचनमप्रोत् ॥ ३ ॥
 धन्योऽयं परमश्रेष्ठः श्लाघ्यः पूज्यश्च देवतैः । धूतपापस्तथा जातो भवनां पादपङ्कजैः ॥ ४ ॥
 स्थोयतां विस्तृते रम्ये गिरिप्रस्थे समे शुभे । शिलासु पद्मपर्णसु श्लक्ष्णासु च मृदुष्वपि ॥ ५ ॥

वाचनार्थं अध्याय प्रारम्भ

(शिवजीका महर्षियोंको स्मृतकर उन्हें हिमवानके यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवानसे निकले किये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीडति और सप्तर्षियोंद्वारा शिवको स्वीडति-सूचना)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद परमराजा सत्यम् रूपसे पूजित होकर भगवान् रुद्र बहुत प्रसन्न हुए । उसके बाद शङ्करने अरुन्धतीसहित सप्त महर्षियोंका स्मरण किया । महात्मा शङ्करके द्वारा स्मृत किये गये वे ऋषिगण सुन्दर कन्दारोंवाले महान् शैल मन्दरपर आ गये । उन-(ऋषियों)-को आये हुए देखकर त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले महादेवने अम्बुध्यातकर उनका पूजन किया; फिर यह वचन कहा—प्रभो ! यह परमश्रेष्ठ देवताओंद्वारा प्रशस्तनीय एवं पूजनीय होनेसे धन्य है, (और आज यह) आपके चरणरुमजोंकी अनुकम्पासे निष्पाप हो गया । अब आपलोग इस विल्लुत, सम, रम्य तथा शुभ परमशिवपर बैठें । इसी शिखर कमठ-वर्गकी तथा चिकनी एवं कोमल हैं ॥ १-५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येयमुक्त्वा देवेन शङ्करेण मद्रर्षयः । सममेव त्वरुन्धत्या त्रिविधुः शैलसानुभिः ॥ ६ ॥
 उपविष्टेषु ऋषिषु नन्दो देवगणाप्रणीः । अर्घ्यादिना समभ्यर्च्य स्थितः प्रयत्नमानसः ॥ ७ ॥
 ततोऽप्रवीच्य सुरुपतिर्धर्म्यं धार्यं हितं मुपत् । वातमनो यदातो वृक्षैः सप्तर्षीन् विनयान्वितान् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी (किर) बोले—भगवन् शङ्करके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर महर्षिगण अरुन्धतीके साथ शैलश्यामपर बैठ गये । श्रुतियोंके बैठ जानेपर देवताओंमें अप्रती तथा संयत-चित्तवाले नदी अर्था आदिसे उनकी पूजा कर लड़े ही गये । उसके बाद सुरपालक शिवने विनयसे युक्त सप्तर्षियोंसे अपने यशकी वृद्धि तथा देवताओंके कल्याणके लिये धर्मसे युक्त वचन कहा—॥ ३-८ ॥

इत उवाच

कश्यपाय चाकण्य गांधेय शृणु गौतम । भरद्वाज शृणुष्व त्वमङ्गिरस्त्वं शृणुष्व च ॥ ९ ॥
ममार्साद् दक्षतनुजा प्रिया सा दक्षकोपतः । उत्ससर्ज सतीप्राणान् योगदृष्ट्या पुरा किल ॥ १० ॥
साऽप्य भूयः समुद्रता शैलराजसुता उमा । सा गदर्थाय शैलेन्द्रो याच्यतां द्विजसत्तमाः ॥ ११ ॥

शङ्करजीने कहा—जय्य ! अत्रि ! ब्रह्मिष्ठ ! विश्वामित्र ! गौतम ! भरद्वाज ! अङ्गिर ! आप सभी लोग सुनें—
प्राचीन कालमें दक्षकी आत्मज सती मेरी प्रिया थी । उसने दक्षके ऊपर कुपित होकर योगदृष्टिसे अपने प्राणोंका त्याग कर दिया । वही आज किर उमा नामसे गिरिराज हिमालयकी कन्या हुई है । द्विजसत्तमो ! आपलोग मेरे लिये पत्न्यराज्ञी उसकी याचना करें ॥ ९-११ ॥

पुलस्त्य उवाच

सतर्पयस्त्वेवमुक्ता वादमित्यनुवन् वचः । ॐ नमः शङ्करयेति प्रोक्त्वा जग्मुर्हिमालयम् ॥ १२ ॥
ततोऽप्यगन्धर्वा शयः प्राह गच्छन्त सुन्दरि । पुरन्धरोहि पुरन्धीणां गति धर्मस्य वै विदुः ॥ १३ ॥
इत्येवमुक्ता दुर्लभ्यं त्यक्त्वाचारं त्यक्त्यती । नमस्ते रुद्र इत्युपन्या जगाम पतिना सह ॥ १४ ॥
गत्या हिमाद्रिशिखरमोपधिप्रस्थमेव च । दृष्टुः शैलराजस्य पुरीं सुरपुरीमिव ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शङ्करजीके ऐसा करनेपर सप्तर्षियोंने 'बहुत अच्छा'—यह वचन कहा एवं 'ॐ नमः शङ्कराय' कावच ने हिमालयके पर्वों गये । उसके पश्चात् शङ्करने अरुन्धतीसे कहा—'सुन्दरि ! तुम भी जाओ । श्रियोंके धर्मकी गतिमें श्रियां ही जानती हैं ।' शङ्करके इस प्रकार करनेपर लोकाचारको दुर्लभ्य प्रतिपादित करनेवाली अरुन्धती अपने धर्मके साथ 'नमस्ते रुद्र' ऐसा कावच हिमालयपर गयी । उन लोगोंने ओपधियोंसे भरे हिमालयकी शिखर गकर सुरपुरीके समान हिमालयकी पुरीकी देखा ॥ १२-१५ ॥

ततः सगृह्यमानास्ते शैलयोगिद्विरादरात् । सुनाभादिभिरव्यग्रैः पूज्यमानास्तु पर्वतैः ॥ १६ ॥
गन्धर्वैः पितृभ्यश्चैवैवन्नाभ्यान्त्यैस्तपुरस्तरैः । विविशुर्भवन्तं गम्यं हिमाद्रेर्हाटकौज्ज्वलम् ॥ १७ ॥
ततः सर्वे महाभ्रान्तमनसा शौनकात्मजाः । समासाय महाद्वारं संतस्थुर्द्वाःस्थकारणात् ॥ १८ ॥
कामस्तु गतिकोऽभ्यासाद् दाम्भ्योऽद्रिर्गन्धमादनः । धारयन् वै करे दृष्टं पदारगमयं महत् ॥ १९ ॥

ततः शङ्करने पर्वतोंकी शिखरों, शक्तिविनयसे सुनाभादि पर्वतों, गन्धर्वों, कित्तियों, यक्षों एवं अन्य दूतोंसे भी पूजा (महापूजा) होकर भवती गति प्रकृतकाल हिमालयके सुन्दर भवनमें प्रविष्ट हुए । किर तबस्या करनेसे शिवने हुए वे सभी महाभ्रान्तमनसा शौनकात्मजा शङ्करके निकट रुक गये । उसके बाद द्वारपर स्थित गन्धमादन नाम महाभ्रान्तके बड़े शिखर शङ्करके लक्षमें आग्य किये हुए शीघ्र उनके पास गता ॥ १६-१९ ॥

तदासगृह्यमानो गत्या शैलपतिं शुभम् । निवेदयान् सन्प्रातान् महत्कार्यार्थिनो वयम् ॥ २० ॥
इत्येवमुक्ताः शैलेन्द्रो धामिभिर्गन्धमादनः । जगाम तत्र यत्रास्ते शैलराजो द्विभिवृत्तः ॥ २१ ॥
विपत्तौ भुवि जगद्भ्यां हत्या हन्तो मुने गिरिः । दृष्टं निक्षिप्य कक्षायामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उसके बाद मुनियोंने उससे कहा—द्वारपाल ! तुम श्रीमान् शैलपतिसे जानर यह शुभ समाचार निवेदित करो कि हम सब विशेष कार्यके लिये यहाँ आये हैं । ऋषियोंके ऐसा कहनेपर शैलेन्द्र गन्धमादन, पर्वतोंसे विरे हुए शैलराजके पास गया और पृथ्वीपर घुटनोंके बल बैठ गया । फिर दण्डको कौलमें दबाकर एन दोनों हाथ मुखके निकट ले जाकर उसने यह वचन कहा—॥ २०-२२ ॥

गन्धमादन उवाच

इमे हि ऋषयः प्राप्ताः शैलराज तपार्थिनः । द्वारे स्थिताः कार्यिणस्ते तप दर्शनलाभसाः ॥ २३ ॥

गन्धमादनेने कहा—शैलराज ! ये ऋषिगण किसी कार्यकी याचनाके हेतु आपसे भेंट करनेकी इच्छावाले होकर आये हैं और द्वारपर स्थित हैं ॥ २३ ॥

पुलस्त्य उवाच

द्वाःस्वर्गाभ्यं समाकर्ष्यं समुत्थायाचलेश्वरः । स्वयमभ्यागमद् द्वारि समादायार्च्यमुत्तमम् ॥ २४ ॥

तानर्च्यार्च्यदिना शैलः समार्तपि सभातलम् । उवाच चाभ्यं चाभ्यस्रः कृतासनपरिग्रहान् ॥ २५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—द्वारपालकी बात सुननेके बाद पर्वतराज उठकर स्वय उत्तम अर्घ्य लेकर द्वारपर आये । अर्घ्य आदिसे उन ऋषियोंका अर्चन करनेके बाद उन्हें समास्थानमें ठिवा डये । फिर उनके यथायोग्य आसन ग्रहण कर लेनेपर वक्ताके अभिप्रायकी स्पष्टतः समझनेवाले शैलराजने उन ऋषियोंसे यह वाक्य कहा—॥ २४-२५ ॥

हिमवानुवाच

अनध्रुष्टिः किमियमुताहो कुसुमं फलम् । अतपर्यमचिन्त्यं च भवदागमनं त्विदम् ॥ २६ ॥

अग्रभृति धन्योऽसि शैलराड्य सत्तमः । संगुह्रदेहोऽस्म्यद्यैव यद् भवन्तो ममाजिरम् ॥ २७ ॥

आत्मसंसर्गसंगुह्रं हृतयन्तो द्विजोत्तमाः । दधिपूतं पदाक्रान्तं तीर्थे सारस्वतं यथा ॥ २८ ॥

वासोऽहं भयतां विमाः हृतपुण्यश्च साम्मतम् । येनार्थिनो हि ते यूयं तन्ममानुमर्हय ॥ २९ ॥

सदारोऽहं समं पुषैर्भृत्यैर्नृभिरव्ययाः । किंकरोऽसि स्थितो युष्मदाशाकारी तदुच्यताम् ॥ ३० ॥

हिमयान्ने कहा—(ऋषियो) मेरे लिये) आपलोगोंका यहाँ पधारना ऐसा ही है जैसे बिना बादलकी वृष्टि तथा बिना फूलके फलना उद्गम; यह अतर्क्य एव अचिन्त्य है । परमपूज्यो ! आजसे मैं धन्य हो गया । आज ही मैं (अन्वयर्क) शैलराज हुआ । आज ही मेरा शरीर शुद्ध हुआ; क्योंकि आप लोगोंने आज मेरे आँगनको पवित्र किया है । द्विजोत्तमो ! जिस प्रकार सारशत तीर्थका जल पवित्र कर देता है, उसी प्रकार आपलोगोंने चरण रखकर तथा अपनी पवित्र दृष्टिसे देखकर हमें पवित्र कर दिया है । ब्राह्मणो ! मैं आप लोगोंका दास हूँ । इस समय मैं पुण्यवान् हुआ हूँ । जिस उद्देश्यसे आपलोग अर्था—याचना करनेवाले—हूए हैं, उसके लिये मुझे आज्ञा दें । महर्षियो ! मैं स्त्री, पुत्र, नानी और भृत्योंके साथ आपका आश्रकारी सेवक हूँ; अतः आदेश दीजिये ॥ २६-३० ॥

पुलस्त्य उवाच

शैलराजवचः श्रुत्वा ऋषयः संशितप्रताः । ऊचुरङ्गिरसं वृद्धं कार्यमद्रौ निवेद्य ॥ ३१ ॥

इत्येवं चोदितः सर्वैर्ऋषिभिः कश्यपादिभिः । प्रत्युवाच परं चाभ्यं गिरिराजं तमद्गिराः ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—गिरिराजकी बात सुनकर प्रशस्तव्रती ऋषियोंने वृद्ध अङ्गिरा मुनिसे कहा—(मुने !) आप हिमवान्को कार्यरत निवेदन करें । इस प्रकार कश्यप आदि ऋषियोंसे प्रेरणा प्राप्तकर अङ्गिरा मुनि उन गिरिराज हिमालयसे (उनके अनुरोधके उत्तरमें) यह श्रेष्ठ वचन बोले—॥ ३१-३२ ॥

भद्रिता उवाच

श्रूयतां पर्वतश्रेष्ठ येन वार्धेण वै चयम् । समागतास्त्वत्सदनमरुन्धत्या समं गिरि ॥ ३३ ॥
 योऽग्ना महाग्ना सर्वाग्ना दक्षयन्क्षयहरः । शङ्करः शूलधृक् शर्वस्त्रिनेत्रो वृषवाहनः ॥ ३४ ॥
 त्रिमूर्तकृतुः शत्रुघ्नो यदाभोक्ता स्वयं प्रभुः । यमोद्वरं चदन्त्येके शिवं स्थाणुं भवं हरम् ॥ ३५ ॥
 भीममुग्रं महेशानं महादेवं पशोः पतिम् । वयं तेन प्रेषिताः स्मस्त्वत्सकारां गिरीश्वर ॥ ३६ ॥

भद्रिगणने कहा—पर्वतराज ! हमलोग अरुन्धतीके साथ आपके घर जिस कार्यके लिये आये हैं, उसे (आर) सुनें । गिरीश्वर ! जिन महाग्ना सर्वाग्ना, दक्षयन्के विनाशक, शूलधारी, शर्व, त्रिनेत्र, वृषवाहन, त्रिमूर्तकृतु, शत्रुघ्न, यदाभोक्ता, स्वयंप्रभु ईश्वरको शूल लोग शिव, स्थाणु, भव, हर, भीम, उग्र, महेशान, महादेव एवं पशुपति कान्हे हैं, उन्होंने ही हमलोगोंको आपके पास भेजा है ॥ ३३-३६ ॥

इयं या न्यस्युता काली सर्वलोकेषु सुन्दरी । तां प्रार्थयति देवेशस्तां भवान् दानुमर्हति ॥ ३७ ॥
 न एव धन्यो हि पिता यन्पु पुत्रो शुभं पतिम् । रूपाभिजनसम्यस्या प्राप्नोति गिरिसत्तम ॥ ३८ ॥
 यावन्तो जहामागम्या भूताः शूलं चतुर्विधाः । तेषां माता त्वियं देवी यतः प्रोक्तः पिता हरः ॥ ३९ ॥
 प्रणम्य शङ्करं देवाः प्रणमन्तु तुतां तव । कुरुष्व पादं शत्रूणां मूर्ध्नि भस्मपरिप्लुतम् ॥ ४० ॥
 याचिनातो वयं शर्वो वरो दाना न्यमभ्युमा । वधूः सर्वजगन्माता कुरु यच्छ्रेयसे तव ॥ ४१ ॥

[धान गड ई ति—] आसकी यह 'काली' कन्या समस्त लोकोंमें सुन्दर है । इसके लिये देवेश (भगवान्-शङ्कर) प्रार्थना कर रहे हैं । आपको उन्हें उतना दान दे देना चाहिये । गिरिश्रेष्ठ ! वही पिता धन्य है, जिसकी पुत्री कनकन, निरालस, कुलीन और श्रीगान् शुभ पतिको प्राप्त करती है । शूल ! ये देवी चार प्रकारके चिकने जट-जह्म प्राणी हैं उनकी गाना (हो जानी) हैं; क्योंकि शङ्करजी सबके पिता कहे गये हैं । (हम सबका निर्देहन ई ति) सबका देवता शङ्करको प्रणामकर तुम्हारी पुत्रीको भी प्रणाम करें; इसलिये इसे समर्पित कर दें । (और इस प्रकार था) अपने शत्रुओंके सिरपर अपना भस्मयुक्त चरण रमें (शत्रुओंको विजित करें) । हमलोग याचना करनेवाले हैं, शङ्कर का हैं, आप दाना हैं और समस्त संसारकी जननी उमा वधू हैं । आपको जो कल्याणकारी करें, उसे करें ॥ ३७-४१ ॥

पुलस्त्य उवाच

मदुस्तोऽङ्गिरसः श्रुत्वा कालीं तन्भावभोमुखी । हर्षमागम्य सहसा पुनर्देन्यमुपागता ॥ ४२ ॥
 ततः शैलपतिः प्राह पर्वतं गन्धमादनम् । गच्छ शैलानुपामन्य सर्वाभागान्तुमर्हसि ॥ ४३ ॥
 ततः शोभनारः शैल्यं गृह्याद् गृह्यतगाज्ययी । मेवादीन् पर्वतश्रेष्ठानाजुहाव समन्ततः ॥ ४४ ॥
 मेऽप्यजगामुन्मयावलाः कार्यं मया महत्तदा । विधिगुर्विगमयाविष्टाः सौवर्णैव्यासनेषु ते ॥ ४५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—अङ्गिरसजी का कर्ण सुनकर कर्णने (लज्जामें) अपना मुख नीचे झुका दिया । सहसा वे प्रसन्न होकर पुनः उठकर ही गयीं । उसके बाद गिरिशङ्कर गन्धमादन पर्वतसे कहा—(गन्धमादन !) गच्छ ! शैली पर्वतको अपने लिये आमन्त्रित कर आओ । उसके पश्चात् वेगशाली पर्वत- (गन्धमादन-) ने चारों ओर शैलपर्वत पर-पर जाकर मेरे आदि सभी श्रेष्ठ पर्वतोंको आनेके लिये निमन्त्रण दे दिया । वे सभी पर्वत भी शङ्करके प्रणाम समन्ततः शैलपर्वतसे आ गये और स्वर्णमय असनोंपर लक्ष्मणतापूर्वक बैठ गये ॥ ४२-४५ ॥

उद्यो हेमकूटश्च रम्यको मन्दरस्तथा । उदालको वादणश्च पराहो गण्डासनः ॥ ४६ ॥
 शुकिमान् वेगस्तानुश्च ददश्टोऽथ शृङ्गवान् । चित्रकूटश्चिद्रूटश्च तथा मन्दरकाचलः ॥ ४७ ॥
 विन्ध्यश्च मलयश्चैव पारियात्रोऽथ दुर्दरः । कैलासाद्रिमेहन्द्रश्च निपद्योऽञ्जनपर्वतः ॥ ४८ ॥
 पते प्रधाना गिरयस्तथाऽन्ये क्षुद्रपर्वताः । उपविष्टाः सभार्या वै प्रणिपत्य श्रृंगैश्च तान् ॥ ४९ ॥

उद्य, हेमकूट, रम्यक, मन्दर, उदालक, वादण, पराह, गण्डासन, शुकिमान्, वेगस्तानु, ददशृङ्ग, शृङ्गवान्, चित्रकूट, चिद्रूट, मन्दरकाचल, विन्ध्य, मलय, पारियात्र, दुर्दर, कैलास, महेन्द्र, निपद्य, अञ्जन—ये सभी प्रमुख पर्वत तथा छोटे-छोटे अन्य पर्वत उन ऋषियोंको प्रणाम कर सभामें बैठ गये ॥ ४६-४९ ॥

ततो गिरिषाः स्वां भार्यां मेनामाहूतयोश्च सः । समागच्छन् कल्याणीं समं पुत्रेण भाग्निनी ॥ ५० ॥
 साऽभियन्थ श्रृंगीणां हि चरणांश्च तपस्विनी । सर्वांश्च धातीन्समाभाष्य विरिषा सस्रुता ततः ॥ ५१ ॥
 ततोऽद्रिषु महाशैल उपविष्टेषु नारद । उवाच यास्यं चाप्यश्वः सर्वांनाभाष्य सुखरम् ॥ ५२ ॥

उसके पश्चात् उन गिरीशने अपनी भार्या मेनाको बुलाया । (वे) कल्याणी भाग्निनी अपने पुत्रके साथ आयी और तब उन साध्वीने ऋषियोंके चरणोंमें प्रणाम किया एवं समस्त ज्ञानियोंसे अनुज्ञा लेकर वे पुत्रके साथ बैठ गयीं । नारदजी ! उसके बाद सभी पर्वतोंके भी बैठ जानेपर उनकी अनुमति लेकर उनके अभिप्रायके विज्ञाता महाशैलने मधुर वचन कहा—॥ ५०-५२ ॥

हिमवानुवाच

इमे सत्तपयः पुण्या याचितारः सुतां मम । महेश्वरार्यं कन्यां तु तन्नायेचं भवत्सु वै ॥ ५३ ॥
 तद् वदथ्वं यथाशक्तं ज्ञातयो यूयमेव मे । नोऽहृद्य युष्मान् दास्यामि तत्क्षमं यस्नुमह्यं ॥ ५४ ॥

हिमवान्ने नियेदन किया—(उपस्थित सज्जनों !) ये पुण्यात्मा सत्तपि भगवान् शङ्करके लिये मेरी कन्याकी याचना कर रहे हैं । शङ्करके लिये कन्या देनेका प्रस्ताव है—यही आपलोगोंसे निवेदन करना है । आप लोग ही मेरे ज्ञाति-बन्धु हैं, अतः अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दें । आप- (के मन-)का उल्लेखन कर मैं (कन्याका) दान नहीं करूँगा; अतः आप लोग उचित परामर्श दें ॥ ५३-५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

हिमवद्भ्रमं ध्रुवा मेवांघाः स्थायरोत्तमाः । सर्वे एवातुवन् यास्यं स्थिताः स्वेष्यासनेषु ते ॥ ५५ ॥
 याचितारश्च मुनयो वरलिपुरहा हरः । दीयतां शैल कालीयं जामाताऽभिमनो हि नः ॥ ५६ ॥
 मेनाप्ययाह भर्तारं शृणु शैलेन्द्र मद्बचः । पितृनाप्यथ देवैस्तेर्दत्ताऽनेनैव हेतुना ॥ ५७ ॥
 यस्त्वस्यां भूतपतिना पुत्रो जातो भविष्यति । स हनिष्यति दैत्येन्द्रं महिषं तारकं तथा ॥ ५८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिमवान्के प्रस्तावकी बात सुनकर मेह आदि सभी श्रेष्ठ गिरिवरोंने अपने-अपने आसनपर आसीन होते हुए ही कहा—(गिरिराज !) याचना करनेवाले सत्तपि हैं और त्रिपुरासुरका वध करनेवाले शङ्कर वर हैं । शैलराज ! इस कालीको आप उनके लिये प्रदान करें । जामाता हमलोगोंके मनपसंद हैं । उसके बाद मेनाने अपने पतिसे कहा—शैलेन्द्र ! मेरी बात सुनिये । सितरोंकी आराधना करनेके बाद उन देवोंने (इस कन्याको) मुझे इसीलिये दिया या कि भूतपति- (शिव) द्वारा इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह दैत्येन्द्र महिष एव तारकका वध करेगा ॥ ५५-५८ ॥

इत्येवं मेनया प्रोक्तः शैलेः शैलेद्वरः सुताम् । शोवाच पुत्रि दत्ताऽसि शर्षाप त्वं मयाऽधुना ॥ ५९ ॥
 श्रृंगीणुवाच कालीयं मम पुत्री तपोधनाः । प्रणामं शङ्करवधूर्भक्तिनम्रा करोति वः ॥ ६० ॥

ततोऽप्यकल्प्यां कार्यामहमतांश्च चाटुर्धैः । यत्प्रजमानां समाश्वान्य दृग्नामोदितैः शुभैः ॥ ६१ ॥
 मत्तः समर्थैः प्रोक्तुः शैल्यगद निरुत्तय । तस्मिन्महामुत्तमैस्तुतां निर्यथैः पुत्र्यां सुमश्रुताम् ॥ ६२ ॥
 उग्रप्रसन्नस्वरिणोऽहं हृत्तोऽर्थैः किदांमुमाह । तस्मिन्प्रयति न तपोनां सुहृत्तां मैत्रतामकः ॥ ६३ ॥

मेरा तब बलिने इस प्रथम कार्यका विषयवने प्रणी प्रत्यसे यका—सुत्रि ! अब मैंने
 प्रजापति के दिया । जिस उग्रदे प्रसिद्धिसे यका—उं तपोनां ! पर मेरी पुत्री तथा साहजकी क्यू काली भक्ति
 सीव विमल-नामो उग्र प्रोक्तो प्रसन्नवाली है । उसके बाद अकल्पनीये तस्मिन् ह्यं तपो कारीकां (अग्रणी
 प्रोक्तो उग्रप्रसन्नस्वरिणे प्रोक्तो सुम नामके उग्रप्रसन्ने उमे मर्कभक्ति आश्रयत किया । उसके बाद सतर्पितो
 यका—श्रीधराय ! (उग्र प्रसन्न) तस्मिन् (मत्तः समर्थी सुहृता) सुमसे संयुक्त महत्प्रथम पक्षि निर्यथैः सुनिवे
 (अग्रणी) मर्कभक्ति विमल उग्रप्रसन्नस्वरी तस्मिन्महामुत्तमैः । उमे मैत्र तावत् सुहृत्तं कर्तते है ॥ ५९-६३ ॥

तस्यां विद्यां हरः पानि प्रशोचयति समस्तकम् । तत्र पुत्र्या त्रयं वामन्तदनुगतुमर्हति ॥ ६४ ॥
 मत्तः समर्थैः विप्रिना पत्यमूढविभिः शुभैः । विरजयामास शनैः शैल्यगदं च्छरिपुत्रवान् ॥ ६५ ॥
 तेषां प्रसन्नस्वरिणोऽहं भवान् भर्ताऽद्विजा ययुः । मन्त्रप्रकाशयो लोपा द्रव्यन्ति घनवाहनम् ॥ ६७ ॥

उन विधिसे उग्र प्रसन्नस्वरी प्रणी सुहृत्तं तस्मिन्प्रयति करेंगे । अब अनुजति है ; (अब) ह्यं यौग
 य मर्क है । उसके बाद शैल्यगदमे उन प्रसिद्धिसे सुम नामके उग्र प्रसन्नो प्र-मश्रुत । उन मर्कभक्तिसे पुनः प्रोक्तो
 प्रोक्तो मर्कभक्तिसे उग्र प्रोक्तो सुम नामके उग्र प्रसन्नस्वरी तस्मिन्महामुत्तमैः निर्यथैः पुत्र्यां सुमश्रुताम् किदा किया । वे
 यका—श्रीधराय ! अब तब मेरी विधि क्यू है । उसके बाद अकल्पनीये तस्मिन् ह्यं तपो कारीकां (अग्रणी)
 यका (अग्रणी) मर्कभक्ति करेंगे ।—मेरी मन्त्री कर्तते है ॥ ६४-६७ ॥

ततो मर्कभक्तः प्रोक्तो सुमोत्तमं त्रयाननुत्तमान् । पूजयामास विप्रिना अकल्प्या नमं हरः ॥ ६८ ॥
 मत्तः समर्थैः विप्रिना पत्यमूढविभिः शुभैः । विरजयामास शनैः शैल्यगदं च्छरिपुत्रवान् ॥ ६९ ॥
 तेषां प्रसन्नस्वरिणोऽहं भवान् भर्ताऽद्विजा ययुः । मन्त्रप्रकाशयो लोपा द्रव्यन्ति घनवाहनम् ॥ ७० ॥
 ततो मर्कभक्तः प्रोक्तो सुमोत्तमं त्रयाननुत्तमान् । पूजयामास विप्रिना अकल्प्या नमं हरः ॥ ७१ ॥

६८ । श्रीधराय नमस्तस्मै उग्रप्रसन्नस्वरिणे ५

[अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

समागतान् सुरान् दृष्ट्वा नन्दिराप्यातवान् विभोः । अथोत्थाय हरिं भक्त्या परिप्यथ्य न्यपीडयत् ॥ १ ॥
 प्रह्लाणं शिरसा नत्वा समाभाष्य शनक्रतुम् । बालोपयान्यान् सुरगणान् संभाषयत् स शङ्करः ॥ २ ॥
 गणाश्च जय देवेति वीरभद्रपुरोगमाः । शैवाः पाण्डुपनायाश्च विधिगुमन्त्राचलम् ॥ ३ ॥
 ततस्तस्मान्महाशैलं कैलासं सह दैवतैः । जगाम भगवान् शर्वः फर्तुं वैवाहिकं विधिम् ॥ ४ ॥

तिरपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(हिमालय-पुत्री उमाका भगवान् शिवके साथ विवाह और बालरितियोंकी उत्पत्ति)

पुलस्त्यजी बोले—नन्दोने आये हुए सभी देवताओंको देखकर शङ्करको ब्रथाया । शङ्करने उठकर भक्ति-
 पूर्णक विष्णुका गद आलिङ्गन किया । उन शङ्करने ब्रह्माको सिरसे (शुककर) प्रणाम किया एवं इन्द्रसे कुशल-
 समाचार पूछा तथा अन्य देवोंकी ओर देवकर उनका आदर किया । वीरभद्र आदि शैव एवं पाण्डुपनगण 'जय देव'
 कहते हुए मन्दराचलमें प्रविष्ट हुए । उसके बाद भगवान् शिव वैवाहिक विधि सम्पन्न करनेके लिये देवताओंके साथ
 महान् कैलास पर्वतपर गये ॥ १-४ ॥

ततस्तस्मिन् महाशैले देवमाताऽदितिः शुभा । सुरभिः सुरसा चान्याश्चकुर्मण्डनमाकुलाः ॥ ५ ॥
 महास्थिरेश्वर्यो चारुरोचनातिलको हरः । सिंहाजिनी चालिनीलमुज्ज्वलतकुण्डलः ॥ ६ ॥
 महादिरत्नचलयो हारकेयूरनूपुरः । समुन्नतजटाभागे वृषभस्थो विराजते ॥ ७ ॥
 तस्याप्रतो गणाः स्वैः स्वैरारूढा यान्ति याह्नैः । देवाश्च पृष्टतो जग्मुहुतारानपुरोगमाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उस महान् पर्वतपर कल्याणी देवमाता अदिति, सुरभि, सुरसा एवं अन्य स्त्रियोंने शीघ्रतासे
 शङ्करका शृङ्गार किया । (गलेमें) मुण्डमाल धारण किये, कटिमें व्याघ्रचर्म, कानोंमें अमरके समान नीले
 (बाले) सर्पका कुण्डल, (कटाईमें) महान् सर्पोंका रत्नरूपी कङ्कण पहने, कण्ठमें हार, बाहुओंमें
 मुजबंद, पैरोंमें नूपुर धारण किये, सिरपर ऊँची जटा बाँधे, ललाटपर गौरीचनका तिलक लगाये हुए भगवान्
 शङ्कर वृषभर विराजमान हुए । शङ्करके आगे अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठे उनके गण एवं उनके पीछे
 अग्नि आदि देवता (वाराण) चले ॥ ५-८ ॥

वैततेयं समाकूढः सह लक्ष्म्या जताईनः । प्रयाति देवपादार्थस्थो हंसेन च पितामहः ॥ ९ ॥
 गजाधिरूढो देवेन्द्रदुश्चक्रं शुकुपटं विभुः । धारयात्मास विततं शक्या सह सहस्रदक्षः ॥ १० ॥
 यमुना सरितां श्रेष्ठा बालभ्यजनमुत्तमम् । श्वेतं प्रगृह्य हस्तेन कच्छुपे संस्थिता ययौ ॥ ११ ॥
 हंसकुन्द्रेन्दुसंकाशं बालभ्यजनमुत्तमम् । सरस्वतीं सरिच्छ्रेष्ठा गजारूढा समादधे ॥ १२ ॥

शङ्करकी बगलमें लक्ष्मीके साथ गरुडपर बैठे हुए विष्णु एवं हंसपर आरूढ ब्रह्मा चलने लगे । शचीके साथ
 ऐरावत हस्तीपर चढ़कर सहस्र नेत्रकारी इन्द्रने श्वेत वज्रके बने विशाल उग्ररु धारण किया । (एक ओर)
 नदियोंमें श्रेष्ठ यमुना कच्छुपर सवार होकर अपने हाथमें उत्तम श्वेत चक्र लेकर डुबाने लगी और
 (दूसरी ओर) सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती भी हाथीपर आरूढ होकर हंस, कुन्द एवं इन्द्रके सम्पन्न उत्तम चक्र
 लेकर डुबाने लगी ॥ ९-१२ ॥

प्रत्ययः पट् समाशय इन्द्रुमं गन्धसंयुतम् । पञ्चवर्षे मदेशानं जग्मुस्ते कामचारिणः ॥ १३ ॥
 मन्मथैर्गव्यनिभं गजमाका वेगवान् । अनुलेपनमादाय ययौ तत्र पृथूदकः ॥ १४ ॥
 गन्धर्वाङ्गुमृगमुवा गायन्तो मधुरस्वरम् । अनुजमुर्मदेशानं वादयन्तश्च किलरराः ॥ १५ ॥
 गन्धर्व्याऽप्यन्यत्रैव स्तुवन्तो मुनयश्च तम् । गन्धर्वा यान्ति देवेशं त्रिनेत्रं शूलपाणिनम् ॥ १६ ॥

गजमाका काः कर्तृ, पंचवर्षे सुगन्धित पुण्योको त्रिकर शङ्करके साथ चढने लगीं । ऐरावतके समान मतवाले मन्मथ काकर पृथूदक अनुलेपन त्रिकर चक्र । मुमुक्षु आदि गन्धर्व मधुर स्वरसे गते एवं किलर वाजा बजाते पर शङ्करके पीछे पीछे चले । गव्य कानी हूँ अस्मदें तथा शृंगगणि किलेवन देवेशको स्तुति करते हुए मुनि और गन्धर्व (मनुष्यकी शक्तिकारि) चले ॥ १३-१६ ॥

पश्चाद्गम्य तत्र कोट्यो रत्नानां तत्र वै ययुः । हादशैवादितेयानामथै कोट्यो वसूतपि ॥ १७ ॥
 कनकध्वजतया कोट्यो गणानामृषिभक्तम् । चतुर्विंशत् तथा जग्मुर्ध्रुवीणामूर्ध्वरेतसाम् ॥ १८ ॥
 अस्त्रेभ्यानानि वृथानि यथाकिपरदसाम् । अनुजमुर्मदेशानं विवाहाय समाकुलाः ॥ १९ ॥
 ततः ध्वजं देवेशः क्षमाभगधिपतस्तलम् । संनानास्त्वागमन् शैलाः कुञ्जरस्थाः समन्ततः ॥ २० ॥

सुगन्धित ! कनक कोटि रत्न, वाह्य कोटि अद्विष्य, आठ कोटि वयु, सहस्रठ कोटि गग एवं चौबीस (चोटी) उपलोक धरिणेने (भी माय ही) प्रस्थान किया । मंदेशके पीछे यक्ष, किलर एवं राक्षसोंके अनगणित हुए त्रिकरके लिये उन्मत्तपूर्वक चले । तपश्चात् देवेश (भगवान् शङ्कर) क्षमाभक्तमें पर्वतराज हिमाव्ययर पहुँच गये । ततः ध्वजे धरिणों ने बैठ पर्वत उनके पास इकट्ठे हो गये ॥ १७-२० ॥

ततो गताम भगवन्निनेयः ग्वावगधिपम् । शैलाः प्रणसुरीशानं ततोऽसौ मुदितोऽभवत् ॥ २१ ॥
 यतं सुरुः पार्वतेश चियेन वृषकेतनः । नन्दिना दर्शिते मार्गे शैलराजपुरं महत् ॥ २२ ॥
 शैलपर्वतपुरायात ह्येयं नगरत्रियः । निजं कर्म परित्यज्य दर्शनव्यापृताभवत् ॥ २३ ॥
 भाव्यतमन्या आदाय कंठधरेण भामिनी । देवपारां हिर्नायिन महूरभिमुखी गता ॥ २४ ॥

उत्तरे काटि लियेकर भगवत् शङ्करने पर्वतगन्धर्वों प्रणाम किया । उसके पश्चात् अन्य पर्वतोंने भी शिवजीको प्रणाम किया लियेके ये प्रत्यक्ष हो गये । मन्दीराग शिलाये गये मार्गसे देवताओं एवं पार्वतोंके साथ वृषकेतु शङ्कर के पश्चात् तपस्य पुण्ये प्रविष्ट हुए । नन्दिनोत् शङ्करको आज्ञा हुआ जायकर नगरको लियो (स्वाम्तके उल्लासमें लगी शिव ही गयी है) उन्मत्त कर्म छोड़कर उल्लेखित लगी । एक की एक हाथमें आधी माला और दूसरे हाथमें कर्णों केवलतायों परती हुए शङ्करकी और शीघ्र गयी ॥ २१-२४ ॥

पश्चात्तपसापराधं पादं कृत्वाहृषेक्षणा । अनलकर्मकेकं हि परं द्रष्टुमुपागता ॥ २५ ॥
 हृषेक्षणायां लोकीर धुमरा भीममुपागतम् । साङ्गतां च प्रकृगान्या शलाकां मुष्टु थावति ॥ २६ ॥
 तस्य सवसां यतः पाणिनादार मुद्वर्ग । उन्मत्तैवागमलला हरदशनलायता ॥ २७ ॥
 तस्यस्यैवाप्येयं धुमरा मन्मथगण्डना । भक्तिदत्त मया याला यौवनं च्यं कुरोदरी ॥ २८ ॥

पश्चात् तपसे लगी अपराधी पाद कर्णों केवलतायों तथा कर्णोंके बिना मन्मथ कर्णसे शङ्करको देखने लगी । शैलपर्वतकी शङ्करकी आज्ञा सुनकर तपस्य लगी । साङ्गतां च प्रकृगान्या शलाकां मुष्टु थावति । तस्य सवसां यतः पाणिनादार मुद्वर्ग । उन्मत्तैवागमलला हरदशनलायता ॥ २७ ॥ तस्यस्यैवाप्येयं धुमरा मन्मथगण्डना । भक्तिदत्त मया याला यौवनं च्यं कुरोदरी ॥ २८ ॥

एतं स नगरखीणां क्षोभं संजनयन् हरः । जगाम वृषभारूढो दिव्यं श्वशुरमन्दिरम् ॥ २९ ॥
 ततः प्रविष्टं प्रसमीक्ष्य शम्भुं शैलेन्द्रचेदमन्ययलां ह्वयन्ति ।
 स्थाने तपो दुश्चरमग्निकायाश्चीर्णं महानेप सुरस्तु शम्भुः ॥ ३० ॥
 स एप येनाहमनङ्गतां कृतं कन्दर्पनाम्नः पुसुमायुधस्य ।
 कतोः क्षयो दक्षविनाशकर्ता भगाक्षिहा शूलधरः पिनाकी ॥ ३१ ॥
 नमो नमः शङ्कर शूलपाणे मृगारिचमोभ्यर बालशत्रो ।
 महाहिहाराङ्कितकुण्डलाय नमो नमः पार्वतिवल्लभाय ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नगरकी महिलाओंको क्षुभित करते हुए बैल्यर चढ़े शङ्कर अपने श्वशुरके दिव्य महलमें गये । तदनन्तर घरमें प्रविष्ट हुए शम्भुको देखकर घरमें आयी हुई स्त्रियों स्रष्ट कहने लगीं कि पार्वतीद्वारा किया गया कठिन तप सर्पया उचित है; क्योंकि ये शङ्कर महान् देव हैं । ये वही हैं, जिन्होंने कन्दर्प नामके कामदेवके शरीरको भस्म कर दिया । ये ही क्रतुक्षयी, दक्षयज्ञविनाशक, भग्नसिंहन्ता, शूङ्कर एव पिनाकी हैं । (फिर वे उन्हें बार बार नमन करने लगीं—) हे शङ्कर ! हे शूद्राणो ! हे व्याघ्रचर्मधारिन् ! हे कालशत्रो ! हे महान् सर्पोंका हार और कुण्डल धारण करनेवाले पार्वती-वल्लभ ! आपकी बार-बार नमस्कार है ॥ २९-३२ ॥

एतं संस्तूयमानः सुरपतिविद्युतेनातपत्रेण शम्भुः सिद्धैर्वेद्यः सयशैरिहिकृतबलयो चारुभसोपलितः ।
 अप्रस्थेनाग्रजेन प्रमुदितमनसा विष्णुना चानुगेन वैवाहो मङ्गल्यलब्धां हुतयहमुदितामारुरोहाय वेदीम् ॥ ३३ ॥
 आयाते शिपुरान्तके सहचरैः सार्धं च सप्तपिभिर्न्यम्रोऽभूद्गिरिराज्येऽमनि जनः काल्याः समालङ्कृतौ ।
 व्याकुल्यं समुपागताश्च गिरयः पूजादिना देवताः प्रायो व्याकुलिता भवन्ति सुहृद्दः कन्याधियाहोत्सुकाः ॥ ३४ ॥
 प्रसाध्य देवीं गिरिजां ततः स्त्रियो दुकूलशुक्लभिर्वृताङ्गयष्टिकाम् ।
 भ्रात्रा सुनाभेन तदोत्सवे कृते सा शङ्कराभ्याशमयोपपादिता ॥ ३५ ॥
 ततः शुभे हर्म्यतले हिरण्मये स्थिताः सुराः शङ्करकालिचेष्टितम् ।
 पदयन्ति देवोऽपि समं ह्यराद्रया लोकानुजुष्टं पदमाससाद् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार सस्तुत तथा इन्द्रके द्वारा धारण किये छत्रसे युक्त, सिद्धों एव यज्ञोंद्वारा बन्दीय, सर्पका ककण पहने, सुन्दर भस्म रमाये, प्रह्लादी आगे किये हुए एवं निष्पुद्रा अनुगत क्षीन मङ्गलमयी अग्निरोमित विवाह-मण्डपकी वेदीपर गये । सहचरों और सप्तपियोंके साथ त्रिपुरात्मक शिवके आ जानेपर हिमवान्के घरके लोग कालीका शृङ्गार करनेमें एव आये हुए पर्वत-देवताओंकी पूजा और सन्कार करनेमें व्यस्त हो गये । कन्याके विवाहमें उज्ज्वल भस्म पहनाकर अलङ्कृत कर दिया एव भाई सुनाभने वैवाहिक उत्सवके लिये उसे शङ्करके पास पहुँचाया । उसके बाद सोनेके बने महलके अंदर बैठे हुए देवगण शङ्कर और पार्वतीकी विवाह-विधि देखने लगे और महादेवजीने भी दुबले-पतले शरीरवाली पार्वतीके साथ जगद्गुरु स्थानको प्राप्त कर लिया ॥ ३३-३६ ॥

यत्र क्रीडा विचित्रा सुदुसुमतरयो धारिणो विन्दुपातै-
 र्गन्धाङ्गैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलमवनी गुण्डितौ गुण्डिकायाम् ।
 मुकादामैः प्रकामं हरगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽन्त-
 पथात् सिन्दूरपुञ्जैरविरतविततैश्चक्रतु इमां सुरकाम् ॥ ३७ ॥
 एवं क्रीडा हरः कन्या समं च गिरिकन्यया । आगच्छद् दक्षिणां वेदिमृपिभि सेवितां ददाम् ॥ ३८ ॥

भूयः प्राह विभोर्यङ्गमीशस्वेति पितामहः । लज्जया साऽपि हृष्टेति शनैर्ब्रह्माणमप्रवीत् ॥ ४९ ॥
 समं गिरिजया तेन हुताश्लिः प्रदक्षिणम् । कृतो लाजाश्च हविया समं क्षिता हुताराने ॥ ५० ॥
 ततो हराङ्घ्रिमालिन्या गृह्णीतो दायकारणात् । किं याचसि च दास्यामि मुञ्चस्वेति हरोऽप्रवीत् ॥ ५१ ॥
 मालिनी शङ्करं प्राह मत्सपत्या देहि शङ्कर । सौभाग्यं निजगोत्रोयं ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥ ५२ ॥
 पितामहने फिर कहा—विमुक्त मुख देखो । अब उसने भी लज्जापूर्वक धीरेसे ब्रह्मसे कहा—देख
 लिया । (इसके बाद) गिरिजाके साथ उन्होंने अश्विनी तीन प्रदक्षिणा की एवं अश्विमें हवियके साथ लाजाकी आहुति
 दी । तत्पश्चात् मालिनीने दाय- (नेत्र-) के लिये शङ्करका पैर पकड़ लिया । शङ्करने कहा—क्या माँगी हो ?
 मैं दूँगा । पैर छोड़ दो । मालिनीने शङ्करसे कहा—हे शङ्करजी ! मेरी सखीको अपने गोत्रका सौभाग्य दीजिये,
 तभी छुटकारा मिलेगा ॥ ४९-५२ ॥

अथोवाच महादेवो दत्तं मालिनि मुञ्च माम् । सौभाग्यं निजगोत्रायं योऽस्यास्तं शृणु वचिन् ते ॥ ५३ ॥
 योऽसौ पीताम्बरधरः शङ्खशृङ्गधुसूदनः । एतदीयो हि सौभाग्यो हि दत्तोऽसद्गोत्रमेव हि ॥ ५४ ॥
 इत्येवमुक्ते पचने प्रमुमोच वृषध्वजम् । मालिनी निजगोत्रस्य शुभवारिभ्रमालिनी ॥ ५५ ॥
 यदा हरो हि मालिन्या गृह्णीतधरणे शुभे । तदा कालोमुखं ब्रह्मा ददर्श दक्षिणेऽधिकम् ॥ ५६ ॥

उसके बाद महादेवने कहा—मालिनी ! तुम जो माँगी हो उसे मैं दे दिया । मुझे छोड़ो । इसका
 जो गोत्रीय सौभाग्य होगा उसे मैं तुम्हें बतलाता हूँ । तुम सुनो ! ये जो पीताम्बर पहनने और शङ्ख धारण
 करनेवाले मधुसूदन हैं मेरा गोत्र इनका सौभाग्य ही है; उसे मैं दे दिया । इस प्रकार शङ्करके कहनेपर अपने कुल्की
 शुभ सचरित्रनाकी माला धारण करनेवाली मालिनीने शङ्करको छोड़ दिया । जब मालिनीने शङ्करके दोनों चरण
 पकड़ रखे थे, तब ब्रह्माने कालीके चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर मुखको देखा ॥ ५३-५६ ॥

तद् दृष्ट्वा शोभमगमच्छुक्रच्युतिमयाप च । तच्छुक्रं बालुकार्यां च खिलौचक्रे ससाध्यसः ॥ ५७ ॥
 ततोऽप्रवीद्धरो ब्रह्मन् न द्विजान् हन्तुमर्हसि । असौ महर्षयो धन्या वालखिल्याः पितामह ॥ ५८ ॥
 ततो महेशवाक्यान्ते समुत्स्युस्तपसिनः । अष्टशतिसहस्राणि घालयित्वा इति स्मृताः ॥ ५९ ॥
 ततो विवाहे निवृत्ते प्रविष्टः कौतुकं हरः । रेमे सहोमया रात्रिं प्रभाते पुनरुत्थितः ॥ ६० ॥
 ततोऽद्रिपुत्रीं समवाप्य शम्भुः सुरैः समं भूतगणैश्च हृष्टः ।
 सम्पूजितः पर्वतपार्थिवेन स मन्दरं शीघ्रमुपाजगाम ॥ ६१ ॥
 ततः सुरान् ब्रह्महरीन्द्रमुख्यान् प्रणम्य सम्पूज्य ययाविभागम् ।
 विसर्ज्य भूतैः सहितो महीध्रमभ्यायसन्मन्दरमष्टमूर्तिः ॥ ६२ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

उसको देखकर वे क्षुब्ध हो गये । उनका शुक च्युत हो गया । भयवश उन्होंने उस शुकको बालुकरने
 लिया दिया । उसके बाद शङ्करने कहा—ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंका वध मन कीजिये । पितामह ! ये सभी बालखिल्य
 महर्षि हैं, जो बड़े ही धन्य हैं । फिर शङ्करके कहनेके बाद अठ्ठासी हजार वालखिल्य नामक तपस्वी उठ
 हुए । उसके बाद विवाह ही जानेपर शङ्कर कौतुकागार (कोहबर) में गये । उन्होंने रात्रिने पर्वतके
 विनोद किया । पुनः प्रातःकाल उठे । उसके बाद पर्वतको प्राप्तकर प्रसन्न हुए शङ्कर पर्वतवाते
 बाद देवों एवं भूतगणोंके साथ तुरन्त ही मन्दराचलपर आ गये । उसके बाद अष्टमूर्ति शङ्करने
 आदि देवनाओंका यथोचित पूजन किया तथा उन्हें प्रणाम कर विदा किया । फिर स्वयं अपने
 पर्वतपर रहने लगे ॥ ५७-६२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरपनयी अध्याय समाप्त हुआ

[अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

गृहस्थ उवाच

ततो गिरौ यमन मूढः स्वच्छया विचरन् मुने । विश्वकर्माणमाह्वय प्रोवाच कुरु मे गृहम् ॥ १ ॥
 ततश्चकार शर्वस्य गृहं स्वस्तिकलक्षणम् । योजनानि चतुःषष्टिः प्रमाणेन हिरण्यमयम् ॥ २ ॥
 मृत्तनोरुणनिर्व्यूहं मुक्ताजालान्तरं शुभम् । शुद्धरुद्रिकसोपानं वैदूर्यकृतरूपकम् ॥ ३ ॥
 सप्तकक्षं मृधिमूर्ध्नि सर्वैः समुद्रितं गुणैः । ततो देवपतिशक्ते यत्नं गार्हस्थ्यलक्षणम् ॥ ४ ॥
 चौवनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् शिवं त्रिये मन्दरपर विश्वकर्माद्वारा गृहनिर्माण, शिवका यज्ञकर्म करना, पार्वतीकी वरप्राप्ति प्रयास वर देना, त्रियेदेवते स्थापना, शिवके प्राद्वगमे अग्नि-प्रवेग, देवोंकी प्रार्थना आदि और गणपतकी उपासि)

गृहस्थको शोभे—मुने ! मन्दरगिरिपर रहते हुए और इच्छानुसार भ्रमण करते हुए शङ्करने विश्वकर्माको आनन्दित कर कहा—विश्वकर्मान् ! मेरे त्रिये गृह बना दो । उसके बाद विश्वकर्माने शङ्करके त्रिये चौंसठ योजन विस्तृत शर्वनिर्मित तथा मृत्तिक चित्तसे युक्त गृहका निर्माण किया । उसमें हाथीके दाँतोंके तोरण तथा मोरिफोंकी सुन्दर शरणें लगी हुई थी और वैदूर्यमणिसे जड़ित शुद्ध-रुद्रिककी सीढ़ियाँ थीं । सप्त कक्षोंवाला वह मृत्तनोर्णुण का सुधी गुणोंसे भरा-पूरा था । यह वर जानेके बाद देवाधिदेवने गृहस्थ आश्रमके उपयुक्त गृहकर्म समाप्त किया ॥ १-४ ॥

नं पूर्वन्तरितं मार्गमनुयाति स्म शङ्करः । तथा मन्त्रिनेत्रस्य महान् कालोऽभ्यगान्मुने ॥ ५ ॥
 पालः सह पार्वत्या भर्मापत्नी जगन्पतिः । ननः फट्चान्निर्गमार्थं कालीन्युक्ता भवेत् हि ॥ ६ ॥
 पार्वत्या मन्मुनाधिष्ठा शङ्करं वाचयमवर्षान् ।
 मंगोद्वीपुला विदं यत् पश्यन्ना हतम् । वान्ना दुरक्तं दौर्भक्तं न प्रनोदति वाक्क्षतम् ॥ ७ ॥
 वाक्क्षतपत्ता यदनाशिष्यतन्ति नैराहतः शोचन्ति रात्र्यरात्रि ।
 न मान विमुञ्चन्ति हि पण्डितो जनस्तमस भर्मा चित्तभं न्वया कृतम् ॥ ८ ॥

शङ्कर स्वामन् पार्वतीके श्रेष्ठ मार्गद्वारा आश्रमि (भर्मा) यशका अनुसन्ध करके लगे । मुने ! त्रिनेत्रके इस प्रकार लगे हुए वरदा मन्त्रादि वरदा । पार्वतीके साथ भर्माके अनुसन्ध प्रकार करने हुए जगन्स्वामी शङ्करने किसी समय कालीदेवसे कालीदेवके स्वरूप का विचार । जोश्रमे मन्त्र पार्वतीने शङ्करसे कहा—(देविये प्रभु !) तू के लिए हुए वरदा वरदा है और कालीदेवसे कहा हुआ वह पुनः वरदा-भग दे जाता है; किंतु वाणीसे विचार करके देवदेव के वरदा वरदा की वरदा । मुने ! शिवके हुए शङ्करकोसे वाक्क्षत प्राणी दिन-रात चिन्ता करके रहते हैं; उन पण्डितोंकोसे मुने ! दुरक्त—(दौर्भक्त—दौर्भक्त) नहीं प्रसूक्त करना चाहिये । आज आरने हम वरदा देवके वरदा वरदा ॥ ५-८ ॥

कालीन् शङ्करान् देवता मन्त्रानुसन्धयाम् । तथा यतिश्रे न यथा भवान् कालीनि वक्ष्यति ॥ ९ ॥
 शिवमन्त्रकाली विदित्वा काली न मोहयत्य । अनुसन्धता त्रिनेत्रेण शिवमेवोत्पपात ह ॥ १० ॥
 मन्त्रानुसन्ध न मोहयति शिवमन्त्रिणां शिवम् । दुराचरितं प्रकथ्येत् विधाया निर्मितं यथा ॥ ११ ॥
 तत्र शङ्करो मन्त्रानुसन्धयाम् कालीनि वरदा । यजन्तः न मन्त्रानुसन्धयाम् कालीनि वरदा ॥ १२ ॥



मङ्गलायतन भगवान् विनायक

देवेधर ! इसलिये मैं सर्वोत्तम तपस्या करने जा रही हूँ । मैं नटोर परिश्रम करके ऐसा उपाय करूँगी जिससे आप फिर मुझे 'काली'—ऐसा न रहेंगे । इस प्रकार कहनेके बाद हिमनग (पार्वती-) ने शङ्करको प्रणाम किया एव उनसे आदेश लेकर आकाशमें चली गयी और वे उडकर मङ्गलमय हिमालयकी चोटीपर पहुँचीं । वह हिमालयकी चोटी ऐसी थी जैसे विगताने प्रयनपूर्वक टॉकीसे काटकर निर्माण किया हो । (आनाशसे पर्वतपर) उतरकर (उन्होंने) जया, विजया, जयन्ती, तथा चौथी महापुण्या अपराजिताका स्मरण किया ॥ ९-१२ ॥

ता संस्मृताः समाजगमुः कालो द्रष्टुं हि देवताः । अनुशातास्तथा देव्या शुभ्र्यां चकिरे शुभाः ॥ १३ ॥
ततस्तपसि पार्वत्यां स्थितायां हिमवद्भ्रानात् । समाजगाम तं देशं व्याघ्रो दंष्ट्रानयायुधः ॥ १४ ॥
एकपादस्थितायां तु देव्यां व्याघ्रस्यचिन्तयत् । यदा पतिष्यते चेयं तदादास्यामि वै अहम् ॥ १५ ॥
इत्येवं चिन्तयन्नेव दसदष्टिर्मृगाधिपः । पश्यमानस्तु यदनमेकदष्टिर्जायत ॥ १६ ॥

(पार्वतीके) स्मरण करते ही वे (आहत) देवियाँ कालीको देखनेके लिये आ गयीं । (और) वे कल्याणकारिणी सखियाँ देवीकी आज्ञा पाकर उनकी सेवा करने लगीं । उसके बाद पार्वतीके तपस्यामें लग जानेपर हिमालयके वनसे आयुधके काममें आनेवाले दाँतों और नखोंके आयुधवाला एक बाघ उस स्थानपर आया । पार्वतीको एक पैरपर खड़ी देखकर बाघने सोचा कि जब यह गिरेगी तो मैं अपश्य ही इसे पा जाऊँगा । इस प्रकार सोचता हुआ वह मृगोंका स्वामी पार्वतीके मुखको एकटक देखने लगा ॥ १३-१६ ॥

ततो धर्षशतं देव्यां गृणन्ती ब्रह्मणः पद्मम् । तपोऽतप्यत् ततोऽभ्यागाद् ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ॥ १७ ॥
पितामहस्ततोवाच देवीं प्रीतोऽसि शाश्वते । तपसा धूतपापाऽसि धरं वृणु यथेप्सितम् ॥ १८ ॥
अयोवाच यचः काली व्याघ्रस्य कमलोद्भव । यत्नो भव तेनाहं यास्ये प्रीतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥
ततः प्रादाद् धरं ब्रह्मा व्याघ्रस्याद्भुतकर्मणः । गाणपत्यं विभौ भक्तिमजेयत्वं च धर्मिताम् ॥ २० ॥

उसके बाद सौ वर्षोत्तम ब्रह्ममन्त्रका जाप करती हुई देवीने तपस्या की । तब स्वर्ग, पृथ्वी तथा पातालके स्वामी ब्रह्मा उपस्थित हुए । ब्रह्माने देवीसे कहा—सनातनि ! मैं प्रसन्न हूँ । तुम तपस्या करके निष्पाप हो गयी हो । इच्छानुकूल वर माँगो । इसके बाद कालीने कहा—हे कमलजन्मा (ब्रह्माजी) ! इस व्याघ्रको आप वर दें । इससे मैं उत्तम सुख प्राप्त करूँगी । तब ब्रह्माजीने उस अलौकिक कर्म करनेवाले व्याघ्रको गगनायक हो जाने, शङ्करकी भक्ति प्राप्त करने एव किसीसे न जीते जाने और धार्मिक हो जानेका वर दिया ॥ १७-२० ॥

वरं व्याघ्राय दत्त्वं शिवकान्तामयाऽप्रकीत् । कृणीष्व वरमन्यथा वरं इत्ये तदाऽम्बिके ॥ २१ ॥
ततो वरं गिरिसुता प्राह देवीं पितामहम् । वरः प्रदीयतां मह्यं वर्णं कनकसन्निभम् ॥ २२ ॥
तथेत्युक्त्वा गतो ब्रह्मा पार्वती चामभवत् ततः । कोशं कृष्णं परित्यज्य पद्मकिञ्चलकसन्निभा ॥ २३ ॥
तस्मात् कोशाच्च संजाता भूयः काल्यायनी मुने ।

तामभ्येत्य सदस्त्राशः प्रतिजग्राह दक्षिणाम् । प्रोवाच गिरिजां देवो वास्यं स्वार्थाय वासव ॥ २४ ॥

इस प्रकार व्याघ्रको वर देकर (उन्होंने) शिवकान्ता- (पार्वती-) से कहा—अम्बिके ! तुम (भी) शान्त चित्तसे वर माँगो । मैं तुम्हें (भी) वर दूँगा । उसके बाद गिरिनन्दिनी पार्वती देवीने विनामहसे कहा—ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये कि मेरा वर्ण सुवर्णके समान हो जाय । ब्रह्मा 'ऐसा ही हो' कहकर चले गये । पार्वती भी अपने शरीरका जालपन त्यागकर कमलक केसरके समान हो गयीं । मुने ' उम कृष्ण कोशमे फिर काल्यायनी

उत्पन्न इति । अथार श्रौतैकान्ते इत्यने इत्ये तस्य अथार दक्षिणा प्रथम की और अने त्रिये मित्रिजासे यह
यत्न गता—॥ २१-२२ ॥

अथ उवाच

इयं प्रदीयतां मां भगिनी मेऽस्तु पौत्रिणी । मन्त्रकोशमन्त्रभया चैयं श्रौतिका कौशिकोऽप्यहम् ॥ २५ ॥
तां प्रादादिति संश्रुय श्रौतिकां स्वस्वयुताम् । मन्त्रास्तोऽपि तां शृणु विन्ध्यं वेगाज्जगाम च ॥ २६ ॥
मन्त्र गत्या स्वयोज्याय विष्टयाय मन्त्रादले । पूज्यमाना मुनेनास्मा ग्याताव्यं विन्ध्यवामिनी ॥ २७ ॥
मन्त्र गत्या हरिश्चैव दद्यात्तितं च पाहनम् । भयाभ्यागिहन्त्रांस्तु कस्या र्गर्गसुपागमन् ॥ २८ ॥

इत्यने गता—अथ इमे मेरे त्रिये ३ दे । मन्त्र कौशिकी मेरी अरुन अनेगी । आथके कौशिके अथार होनेके
कारण यह श्रौतिका इति और भी भी कौशिक हुआ । उमे मेरे के दिया—हम् (प्रतिज्ञा-यचन)को सुननेके बाद
मन्त्र गत्या कौशिकी मेरे मन्त्र देवताय अथ शौचार्थक विचारनार चले गये । इसके बाद वर्ग जाकर (उभोंने
उसके) गता—गताये ! तुम यमारी । देवाश्रौतार अर्गाय होनी हुई तुम विन्ध्यवामिनी नामसे प्रसिद्ध होगी ।
इत्यने उवाच—मन्त्र गत्याय उवाच अथारके त्रिये (उठे) मित्र दे दिया और तुम देवताओंके शत्रुओंको मारने-
वाली गयी—इस प्रकार मेरी अने गये ॥ २५-२८ ॥

मन्त्राणि मे परं तस्यै मन्त्रं पुनरेव च । प्रपश्य च मन्त्रानं न्यता स्वविनयं मुने ॥ २९ ॥
मन्त्रोऽनन्तमुः श्रीधरान् पार्वत्या सहितोऽप्यथः । तस्यां वर्षमहस्रं हि मन्त्रामोहनके मुने ॥ ३० ॥
मन्त्रामोहन्यते मन्त्रे भुवनाऽनेन्दुलक्षणाः । बहुभुः सागराः सत देवाश्च भयमागमन् ॥ ३१ ॥
मन्त्रः सृष्टाः मन्त्रोऽपि मन्त्राः सद्मं गताः । मन्त्रम्योचुर्मोहमानं जगत् क्षुब्धं तु किं न्विदम् ॥ ३२ ॥

इति ! उवाचि की उमे उवाचि प्रथम अने मन्त्र पर्यन्त चली गयी और मन्त्रानो प्रणाम कर विनीतभावसे
उवाचि गयी । इति ! उवाचि अथ ! पार्वतिके साथ श्रीधर, अथार देवगुरु एक हजार वर्षोंके मन्त्रामोहनके (सुस्त-
हीनेके) मित्र गये । मन्त्रोऽनेन्दुलक्षणा मन्त्र अथार मोहन विवक्षित हो गये । मन्त्रो सागर
मन्त्रामोहन्यते मन्त्रे भुवनाऽनेन्दुलक्षणा मन्त्र अथार मोहन इत्यने मन्त्र इत्यने गये और मन्त्रामोहन-
की मन्त्रामोहन्यते मन्त्रे भुवनाऽनेन्दुलक्षणा मन्त्र इति—इति उवाचि अथ ! ॥ २९-३२ ॥

सागराश्च भयं सूर्यं मन्त्रामोहनके मित्राः । मेमादात्मनिन्दे लोका जगमुःशोभं दुर्गम्ययम् ॥ ३३ ॥
इत्यने मन्त्रोऽप्यथ सूर्या मन्त्रोऽप्यथः । मन्त्रोऽप्यथ मन्त्रामोहनके यावन् मन्त्र मन्त्रामोहनके ॥ ३४ ॥
मन्त्रामोहनके मन्त्रो मन्त्रो मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके । मन्त्रो देवगुरु मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके ॥ ३५ ॥
मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके । मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके मन्त्रामोहनके ॥ ३६ ॥

ततः शकः सुरैः सार्धं वह्निना च सहस्रहृक् । जगाम मन्दरगिरिं तच्छृष्ट्रे न्यविशत्ततः ॥ ३७ ॥
 अशकाः सर्व एषैते प्रयेष्टुं तद्भवयाजिरम् । चिन्तयित्वा तु सुचिरं पावकं ते व्यसज्जयन् ॥ ३८ ॥
 स चाभ्येत्य सुरश्रेष्ठो दृष्ट्वा द्वारे च नन्दिनम् । दुष्प्रवेशं च तं मत्वा चिन्तां यद्धिः परां गतः ॥ ३९ ॥
 स तु चिन्तार्णवे मग्नः प्रापश्यच्छम्भुसत्वमनः । निष्कामन्तीं महापर्णिकं हंसानां विमलां तथा ॥ ४० ॥

तब हजार आँखवाले इन्द्र अग्नि और देवताओंके साथ मन्दर पर्वतपर गये एव उस पर्वतकी ऊँची चौदीपर बैठ गये; परंतु वे सभी महादेवके भवनमें प्रवेश न पा सके । अधिक समयतक आपसमें विचार-विमर्श कर उन लोभोंने अग्निदेवको (उनके पास) भेजा । सुरश्रेष्ठ अग्निदेव वहाँ गये और द्वारपर नन्दीको देखकर एव वहाँ प्रवेश पाना कठिन समझकर चिन्ता-सागरमें डूब गये । शोक-सागरमें डूबे हुए उन्होंने शम्भुके भवनसे निकल रही हंसोंकी विमल लम्बी कतार देखी ॥ ३७-४० ॥

असाक्षुपाय इत्युक्त्वा हंसरूपो हुताशनः । पञ्चयित्वा प्रताहारं प्रविशेश हराजिरम् ॥ ४१ ॥
 प्रविश्य सूक्ष्ममूर्तिश्च शिपेदेशो कपर्दिनः । प्राह प्रहस्य गम्भीरं देवा द्वारि स्थिता इति ॥ ४२ ॥
 तच्छ्रुत्वा सहस्रोत्थाय परित्यज्य गिरेः सुताम् । विनिष्कान्तोऽजिराच्छ्रयो वह्निना सह नारद ॥ ४३ ॥
 विनिष्कान्ते सुरपती देवा मुदितमानसाः । शिरोभिर्यनीं जग्मुः सेन्द्रार्कशशिपायकाः ॥ ४४ ॥
 ततः प्रीत्या सुरानाह यद्भ्यं कार्यमाप्नु मे । प्रणामायनतानां यो दास्येऽहं पत्मुत्तमम् ॥ ४५ ॥

यही उपाय है—ऐसा कहकर वे अग्निदेव द्वारपालकी मुञ्जना देकर महादेवके गृहमें हंसरूपमें प्रतिष्ठ हो गये । प्रवेश करनेके पश्चात् सूक्ष्म शरीर धारण करनेवाले अग्निदेवने महादेवके सिरके पास हँसने हुए गम्भीर स्वरमें कहा—(प्रभो !) देवतालोग दरानेपर खड़े हैं । (पुष्टस्वजी बोले) नारदजी! महादेवजी उम वातको सुनकर उसी समय सहस्रा उठे और हिमालयश्री कन्याको छोड़कर अग्निके साथ आँगनसे निकल आये । सुरपति शङ्करके निकल जानेपर इन्द्रसहित चन्द्र, सूर्य और अग्नि आदि सभी देवताओंने हर्षित मनवाले होकर पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया । उसके बाद (भगवान् महादेवने) प्रेमपूर्वक देवताओंसे कहा—देवताओ ! आपलोग मुझे शीघ्र अपना कार्य बतायें । मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करनेवाले आपलोगोंको उत्तम वर दूँगा ॥ ४१-४५ ॥

देवा उचुः ।

यदि तुष्टोऽसि देवानां वरं दातुमिहेच्छसि । तदिदं त्यज्यतां तावन्महामैयुनमोदयत् ॥ ४६ ॥

देवताओंने कहा—ईश्वर ! यदि आप प्रसन्न हैं और हम देवताओंको वर देना चाहते हैं तो आप इस महासुरललीलान्तर परित्याग कर दें ॥ ४६ ॥

ईश्वर उवाच

ब्रह्मं भवतु संतुष्टो मया भावोऽप्ररोक्तया । ममेदं तेज उद्रिकं कदिचद् देवः प्रतोच्छतु ॥ ४७ ॥

ईश्वरने कहा—देवश्रेष्ठो ! ऐसा ही होगा । मैंने आसक्ति छोड़ दी । किंतु कोई देवता मेरे हम बदे हुए तेज (शुक्र)को ग्रहण करे ॥ ४७ ॥

पुत्रस्य उवाच

इत्युक्ताः शम्भुना देवाः सेन्द्रचन्द्रद्वियाकराः । असीदन्त यथा मग्ना पङ्के घुन्दारका इव ॥ ४८ ॥

सीदन्सु दैवतेष्वेवं हुताशीऽभ्येत्य शङ्करम् । प्रोवाच मुञ्ज तेजस्यं प्रतोच्छाग्येय शङ्कर ॥ ४९ ॥

ततो मुमोच भगवांस्तद्व्रैतः स्कन्नमेव तु । जलं घृणान्ते वै यद्द्वयं तैलपानं पिपासितः ॥ ५० ॥

ततः पति तेजसि वै शार्धं देवेन वह्निना । स्वस्याः सुराः समामन्थ्य हरं जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥

हजार हुई । हजार अंगोंवाले इन्द्रने उनके पास जाकर दक्षिणा प्रश्न की और अपने लिये गिरिजासे यह पवन का—॥ २१-२२ ॥

एन्द्र उवाच

इयं प्रदीयतां मां भगिनी मेऽस्तु कौशिकी । न्यकोशमभवाचेयं कौशिकी कौशिकोऽप्यहम् ॥ २५ ॥
तां प्राणदिति संकृत्य कौशिकीं रूपसंयुताम् । महत्प्राणोऽपि तां गृण विन्ध्यं वेगाज्जगाम च ॥ २६ ॥
तत्र गत्वा न्यधोवाच निष्ठयात्र महाबले । पूज्यमानासुरैर्नाम्ना ग्यातात्वं विन्ध्यवासिनी ॥ २७ ॥
तत्र श्वाय हरिद्वेषीं दत्त्वा निहं च घाहन्म् । भयामगरिहन्त्रोऽयुन्वा स्वर्गसुपागमत् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कथा—आप हमे मेरे लिये दे दे । यह कौशिकी मेरी बहुत बनेगी । आपके कोशसे उत्पन्न होनेके कारण यह 'कौशिकी' हुई और मैं भी कौशिक हुआ । उमे मैंने दे दिया—इस (प्रतिज्ञा-वचन)को सुननेके बाद सब स्वामी कौशिकीको लेकर देवगत इन्द्र जीप्रतार्थक विन्यवर्षतार चले गये । इसके बाद वहाँ जाकर (उन्होंने उमसे) कथा—न गम्भी ! तुम यज्ञ गये । ईश्वरअज्ञान आगमि होती हुई तुम 'विन्ध्यवासिनी' नामसे प्रसिद्ध होगी । इन्द्रने देवियों वहाँ स्थापितकर उनके वाहनके लिये (उल्लं) सिंह दे दिया और तुम देवताओंके शत्रुओंको मारने-कली कली—ऐसा करकर मे लक्ष्मी बनो गये ॥ २५-२८ ॥

प्राणदिति मे परं तस्या मन्दरं पुनरेव च । प्रणम्य च महेशानं स्थिता सविनयं मुने ॥ २९ ॥
ततोऽमरगुरुः श्रीमान् पार्वत्या सतिनोऽप्ययः । तस्यै चरसनक्षत्रं हि महामोहनके मुने ॥ ३० ॥
महामोहनचित्तं सृष्टे भुयनाप्येष्टुक्तवाः । धुश्रुभुः सागराः सत देवाश्च भयमागमन् ॥ ३१ ॥
सतः सूर्यः सोऽर्येण प्रणतः सदनं गताः । प्रणम्योऽनुमीहानं जगत् क्षुब्धं तु किं न्विदम् ॥ ३२ ॥

मुने ! उमादेवी जी उम लक्ष्मी प्राप्त करने मन्दर पर्वतपर चली गयी और महेश्वरको प्रणाम कर विनीतभावसे अपने लक्ष्मी । मुने ! उमसे प्रणाम करनेके साथ श्रीमान्, अथर्व देवगुरु एक हजार वर्षतक नगमोहनक (सुरत-लीला) किया गये । इन्द्रने महेश्वरसे मिल होनेपर महत्त भुयन क्षुब्ध होकर विवर्धित हो गये । सानों सागर महामोहन उल्लं और उमसे स्थापित हो गये । तब देवता जोग इन्द्रके साथ दक्षत्रोक गये और महेश्वर-(ब्रह्मा-) को प्रणाम करने लगे—यज्ञ मार करने उमसे मे लक्ष्मी है—यह क्या बात है ! ॥ २९-३२ ॥

प्राणदिति महेश्वरं नृपं मागमेहनं विवः । ततोऽप्यल्लान्घियमे लोका जग्मुः क्षोभं दुरत्ययम् ॥ ३३ ॥
इन्द्रो वा सोऽमरकं दत्त्वा ततोऽयुन्तु सुरु हरिम् । प्राणच्छ शक्र गच्छामो यावत् तत्र समाप्यते ॥ ३४ ॥
प्राणाने मोहने प्राणे यः समुत्सर्गोऽप्ययः । स नृपं देवराजस्य पदमेन्द्रं हरिष्यति ॥ ३५ ॥
सर्वं प्रणम्योऽमरान् विदितो वल्लभितः । भयान्तानं ततो नष्टं भायिकर्मप्रचोदनात् ॥ ३६ ॥

हूँ कि आपसे (अवस्य) पुत्र होगा, ऐसा महादेवने गणपति नदीसे कहा था। वृशोदरि! उसे सुनकर (स्मरण कर) आज मुझे हँसी आ गयी है, क्योंकि दक्षनाओंन शङ्करको पुत्रक लिये इच्छा करतेसे रोक दिया है। इस बातका सुनकर देखीने (किर) वहाँ निमिपूर्वक स्नान किया ॥ ६०-६३ ॥

स्नात्वाचर्य शङ्कर भक्त्या समभ्यागाद् गृह प्रति। तत शम्भु समागत्य तस्मिन् भद्रासने त्वपि ॥ ६४ ॥
स्नातस्तस्य ततोऽथस्तात् स्थित म मल्पपूरुष। उमास्वेद् भवस्वेद् जलभूतिसमन्वितम् ॥ ६५ ॥
तत्सम्पकोत् समुत्तस्यौ फूल्लत्य करमुत्तमम्। अपत्य हि विदित्वा च प्रातिमान् भुजनेद्वर ॥ ६६ ॥
त चादाय हरो नन्दिमुवाच भगनेजहा। रद्र स्नात्वाचर्य देवादीन् याग्भिरङ्घ्रि पितृनपि ॥ ६७ ॥

स्नान करनेके बाद भक्तिसे शङ्करकी अर्चना कर करी करकी और चली। उसके बाद महादेवने भी आकर उसी पवित्र आसनपर स्नान किया। उसी आसनके नीचे वह मैलसे बनाया पुरुष पड़ा था। उमाके स्वेद एव जल तथा भस्मसे युक्त शङ्करके स्वेदना सम्मिश्रण होनेसे वह उत्तम गुणसे ऋकार करत हुए उठा। उसे अपना पुत्र जानकर भुजनेद्वर प्रसन्न हो गये। भगनेत्रको नष्ट करनेवाले महादेवने उसे लेकर नन्दासे कहा— (यह मेरा पुत्र है)। स्नान करनेके बाद क्षिपने स्तुतियोंसे दक्षनाओंकी तथा जलसे (निय) गिराओंकी भी अर्चना की ॥ ६४-६७ ॥

जपत्वा सहस्रनामानमुमापादर्यमुपागत। समेत्य देवीं विहसन् शङ्कर शूलधृग् च ॥ ६८ ॥
प्राह त्वं पदय शैलेयि स्वसुत गुणसयुतम्। इत्युक्ता पर्वतसुता समेत्यापदयदद्भुतम् ॥ ६९ ॥
यत्तद्गमलादिव्य वृत गन्धमुस नरम्। तत प्राता गिरिसुता त पुत्र परिष्वजे ॥ ७० ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाधाय तत शर्वोऽत्रवादुमाम्। नायकेन विना देवि तव भूतोऽपि पुत्रक ॥ ७१ ॥
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायक। ण्य विघ्नसहस्राणि सुरादीना हरिष्यति ॥ ७२ ॥

वे सहस्रनामका नप कर उमाके निम्न गये। देवीके निकट जाकर शूल धारण करनेवाले शङ्करन हँसते हुए यह वचन कहा—शैलेने! तुम अपने गुणवान् पुत्रको देखो। इस प्रकार कहे जानेपर पार्वतीने जाकर यह आश्चर्य देखा कि उनके शरीरके मलसे अलौकिक सुन्दर हाथीके मुखवाला पुरुष ही गया है। उसके बाद गिरिनाने प्रसन्नतापूर्वक उस पुत्रको आलिङ्गित किया। उसके मिरको सूँघकर शम्भुने उमासे कहा—देवि! तुम्हारा यह पुत्र विना नायकके उत्पन्न हुआ है, अतः 'समा' नाम 'विनायक' होगा। यह देवदिकोंके सहस्रों विघ्नोंका हरण करेगा ॥ ६८-७२ ॥

पूजयिष्यन्ति चैवास्य लोका देवि चराचरा। इत्येयमुक्त्वा देव्यास्तु दत्त्वास्तनयाप हि ॥ ७३ ॥
सहाय तु गणश्रेष्ठ नाम्ना ख्यात घटोदरम्। तथा मातृगणा घोरता भूता विघ्नकराश्च ये ॥ ७४ ॥
ते सर्वे परमेशेन देव्या प्रीत्योपपादिता। देवो च स्वसुत दृष्ट्वा परा मुदमवाप च ॥ ७५ ॥
रेमेऽथ शम्भुना सार्धं मन्दरे चारुफन्दरे।

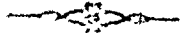
एव भूयोऽभवद् देवो इय कात्यायनी विभो। या जवान महादैत्यौ पुरा शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ७६ ॥
एतत् तयोक्त धवन शुभास्य यथोद्भव पर्वततो मृडान्या।
सर्ग्ये यदास्य च तथाचहारि आख्यानमूर्जस्करमद्रिपुष्या ॥ ७७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५४ ॥

देवि! सारा चर और अचर जगत् इसकी पूजा करेगा। देवीसे इस प्रकार कहकर उन्होंने पुत्र विनायकके लिये घटोदर नामके श्रेष्ठ गणको द दिया। फिर देवीके प्रेमसे घोर मातृगणों तथा विघ्नकारी भूतोंको अधीनतामें बाँधे

जनेकाका बना दिया—समेशने उन सबकी सृष्टि की। अपने पुत्रको देवहर पार्वती देवीको भी परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। इनके बाद देवी प्रसन्नके साथ सुन्दर कन्दराओंको मन्दराचन्द्रर पिचरण करने लगी। विभो ! यह देवी फिर काल्याणी हुई, जिन्होंने प्राचीन कालमें शुम्भ और निशुम्भ नामके दो महान् दैत्योंका विनाश किया। (पुत्रस्यैव प्रहृत प्रसन्नका उरसं उर करते हुए करते हैं कि—) मृदानी जैसे पर्वतसे उत्पन्न हुई, उस शुम्भ का कण्ठको भीने आसने कला। पर्वतचन्द्रिका का आख्यान स्वर्ग एवं यशसों देनेवाला, पापका हरण करनेवाला एवं लोकाधी है ॥ ७३-७७ ॥

इतन प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौवनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥



[अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुत्रस्य उवाच

कथयाम्य दनुर्नाम भार्यानाम् द्विजसत्तम । तस्याः पुत्रत्रयं चासीत् सद्भ्रातृणां बलाधिकम् ॥ १ ॥
 उग्रहः शुम्भ इति ख्यातो निशुम्भाश्तामोऽसुरः । कर्णोऽप्यो नमुचिर्नाम महाबलसमन्वितः ॥ २ ॥
 योऽप्यो नमुचिर्गोत्रेण ख्यातो दनुस्तनोऽसुरः । न हन्तुमिच्छति हरिः प्रमृष्ट्य कुन्दिशं करे ॥ ३ ॥
 द्विदिवंसं समाप्यासं नमुचिराद्भयादय । प्रविंशं स्थं भानोस्तनो नाशकश्च्युतः ॥ ४ ॥

पंचपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवीद्वारा नर्मदारा का, शुम्भ-विशुम्भ का पृथक्, भूमलोचनका का, देवीका चण्ड-मुण्डसे युद्ध और असुरसैन्य-सहित चण्ड-मुण्डका विनाश)

पुत्रस्यैवो पत्ने—द्विजसत्तम ! कथ्याती दनु नामकी पत्नी थी। उसके इन्द्रसे अधिक बलशाली तीन पुत्र थे। उनमें उग्रह नाम था शुम्भ, महाबल नाम निशुम्भ और महाबलशाली तृतीय पुत्रका नाम नमुचि था। इन्द्रने इनमें का भयमान नमुचि नामसे विद्वक्त (उग्र) दनुपुत्र असुरको मारना चाहा; तब नमुचि इन्द्रको लगे से कर उभरे नामसे मूर्खों, स्वयं प्रोश कर गया। इनसे इन्द्र उभे मार न सके ॥ १-४ ॥

दनुर्जनेनाय समस्यं पत्ने सह महात्मना । अथव्यत्यं वरं प्रादाच्छत्रैस्त्रैश्च नारद ॥ ५ ॥
 कर्णोऽप्ययमनामार दारुणाद्भ्रातृ नारद । संयज्य भास्करस्थं पाताल्मुपयादथ ॥ ६ ॥
 स निरुत्तरायां पत्ने ससुदं फेनमुजामम् । ददते दानपपनिस्तं प्रमृष्टं दमवयीत् ॥ ७ ॥
 पदुर्न देवविता कामपेन पत्नोऽस्तु ननु । अयं स्पृशतु मां फेनः फलाभ्यां मृष्टा दानवः ॥ ८ ॥
 शुभ्रवर्णादिपत्नीर्दत्त सन्ममार्त्तं यदेच्छया । नमिच्छन्तोऽस्तुत्तद् यन्नमन्तर्दितमपीश्वरः ॥ ९ ॥

तेनासौ भङ्गनासास्यः पपात च ममार च । समये च तथा नष्टे ब्रह्महत्याऽस्पृशदरिम् ॥ १० ॥
 स वै तीर्थे समासाद्य स्नातः पापादमुच्यत । ततोऽस्य भ्रातरी वीरौ कुञ्जी शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ११ ॥
 उद्योगं सुमहत्कृत्या सुरान् याधितुमागतौ । सुपास्तेऽपि सहस्राक्षं पुरस्कृत्य विनियंयुः ॥ १२ ॥
 जितास्त्वाक्रम्य दैत्याभ्यां खयलाः सपदानुगाः । शकस्याहृत्य च गर्जं याम्यं च महिपं वलात् ॥ १३ ॥
 वरुणस्य मणिच्छुभ्रं गदां वै मास्तस्य च । निधयः पद्मशङ्खाद्या हृतास्त्वाक्रम्य दानवैः ॥ १४ ॥

उससे उसकी नाक और मुख भग्न हो गये और वह गिर पड़ा तथा मर गया । प्रतिज्ञाके भङ्ग हो जानेसे इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा । (फिर) वे तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे पापमुक्त हुए । उसके बाद (नमुचिके मर जानेपर) शुम्भ और निशुम्भ नामके उसके दो वीर भाई अत्यन्त क्रुशित हुए । वे दोनों बहुत बड़ी तैयारी कर देवताओंको मारनेके लिये चढ़ आये । (फिर तो) वे सभी देवता भी इन्द्रकी आगे कर निकल पड़े । उन दोनों दैत्योंने धावा बोलकर सेना और अनुचरोंके साथ देवताओंको पराजित कर दिया । दानवोंने आक्रमणकर इन्द्रके हाथी, यमके महिष, वरुणके मणिमय छत्र, वायुकी गदा तथा पद्म और शङ्ख आदि निरर्थकोंको भी छीन लिया ॥ १०-१४ ॥

चैलोभ्यं यदागं चास्ते ताभ्यां नारद सर्वतः । तदाजगमुर्मर्हीपृष्ठं दृश्यस्ते महासुरम् ॥ १५ ॥
 रक्तवीजमयोचुस्ते को भवानिति सोऽप्रयात् । सचाहदैत्योऽस्मि विभो सचिवो महिषस्य तु ॥ १६ ॥
 रक्तवीजेति विख्यातो महावीर्यो महाभुजः । अमात्यो रुचिरी वीरौ चण्डमुण्डाविति ध्रुवौ ॥ १७ ॥
 तायास्तां सलिले मग्नौ भयाद् देव्या महाभुजौ । यस्त्वासीत् प्रभुरसाक्रं महिषो नाम दानवः ॥ १८ ॥
 निहतः स महादेव्या विन्ध्यशैले सुविस्तृतः ।

भवन्तौ कस्य तनयौ को या नाम्ना परिश्रुतौ । किंवीर्यौ किंप्रभावौ च पतच्छंसितुमर्हथ ॥ १९ ॥

नारदजी ! उन दोनोंने तीनों लोकोंको अपने अधीन कर लिया । तब वे सभी (देवतायोग) पृथ्वीतलपर आ गये तथा उन लोगोंने रक्तबीज नामके एक महान् असुरको देखा और उससे पूछा—आप कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—विभो ! मैं महिषासुरका मन्त्री एक दैत्य हूँ । मैं रक्तबीज नामसे विद्याय महापराक्रमी एवं विशाल भुजाओंवाला (दैत्य) हूँ । सुन्दर, श्रेष्ठ और विशाल भुजाओंवाले चण्ड और मुण्ड नामसे विख्यात, महिषके दो मन्त्री देवीके डरसे जलमें छिप गये हैं । महादेवीने सुविस्तृत विन्ध्यपर्वतपर हमारे स्वामी महिष नामके दानवको मार डाला है । फिर (देवताओंने पूछा—) आपयोग (हमें) यह बतलावें कि आप दोनों किसके पुत्र हैं तथा आपयोग किस नामसे विद्यायत हैं ? (और आप दोनों यह भी बतलावें कि) आपदोगोंमें कितना बल एवं प्रभाव है ? ॥ १५-१९ ॥

शुम्भनिशुम्भावधः

अहं शुम्भ इति ख्यातो जनोः पुत्रस्तथौरसः । निशुम्भोऽयं मम भ्राता कनीयान् शशुपुत्रहा ॥ २० ॥
 अनेन बहुशो देवाः सेन्द्ररुद्रद्विषाकराः । समेत्य निर्जिता वीरा येऽन्ये च बलवधराः ॥ २१ ॥
 तदुच्यतां कया दैत्यो निहतो महिषासुरः । यावत्तां घातयिष्यावः स्वसैन्यपरिवारितौ ॥ २२ ॥
 इत्थं तयोस्तु वदतोर्ममदायास्तटे मुने । जलयासाद् विनिष्कान्तौ चण्डमुण्डौ च दानवौ ॥ २३ ॥

शुम्भ और निशुम्भने कहा—(पहले शुम्भ बोला—) मैं दनुका औरस पुत्र हूँ और शुम्भ नामसे प्रसिद्ध हूँ । यह मेरा छोटा भाई है । इसका नाम निशुम्भ है । यह शशुसमूहका विनाश करनेवाला (वीर) है । इसने इन्द्र, रुद्र, दिवानर आदि देवताओं तथा अन्य अनेक अत्यन्त बलशाली वीरोंको भी (बहुत बार चढ़ाई करके) पराजित कर दिया है । अब तुम बतलाओ कि किस देवीने दैत्य महिषासुरको मार दिया है ? हम दोनों अपनी सेनाओंको साथ लेकर उस देवीका

जोतना का दिव—यस्येभ्यो उत मयत्री मृष्टिः की । अतः पुत्रको देवहर पार्वती देवीको भी परम प्रसन्नता प्राप्त हुई । इसने वह देवी मनुके साथ सुन्दर कन्दराओंवाले मन्दाचन्द्रर विचरण करने लगी । विभो ! वह देवी फिर जातकी हुई, जिसने प्राचीन कालमें दुम्भ और निशुम्भ नामके दो महान् देवोंका विनाश किया । (पुत्रभारती प्रश्न प्रसन्नता उदयंकर काले दूर करते हैं कि—) मृष्टानी जैसे पर्वतसे उतल हुई, उस दुम्भ कापण्यमें भी अतः काल । पर्वततटिनीत कट आश्रयान् मर्ग एवं यशसो देनेवाला, पापका हरण करनेवाला ही जोतकी है ॥ ७३-७७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौथनवों अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥



[अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुत्रस्य उवाच

कन्दरस्य दनुर्नाम भार्यामीदं किञ्चसत्तम । तस्याः पुत्रप्रयं चासीत् सद्दत्ताक्षान् बलाधिकम् ॥ १ ॥
 श्रेष्ठः दुम्भ इति ख्यातो निशुम्भाधारणेऽसुरः । तृतीयो नमुचिर्नाम महाबलसमन्वितः ॥ २ ॥
 श्रेष्ठो नमुनिर्गिर्यं ख्यातो दनुस्तुतोऽसुरः । तं हन्तुमिच्छति हरिः प्रगृह्य फुल्लिशं करे ॥ ३ ॥
 त्रिदिशो मत्पापानं नमुनिस्तद्भयादय । प्रविशेत् स्थं भानोस्ततो नाशकश्च्युतः ॥ ४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः प्रारम्भ

(देवें द्वारा मनुके पास, दुम्भ-भार्याका वृत्तान्त, भूजलौचनका कथ, देवीका चण्ड-मुण्डसे युद्ध और असुरसैन्य-संहार चण्ड-मुण्डका विनाश)

पुत्रस्य उवाच—श्रीवामन ! कन्दरकी दनु नामकी पत्नी थी । उसके इन्द्रसे अधिक बलशाली तीन पुत्र थे । इनमें श्रेष्ठ नाम या दुम्भ, मन्दाचन्द्र नाम निशुम्भ और मन्दाबलशाली तृतीय पुत्रका नाम नमुचि था । इसने श्रेष्ठ पर अत्यन्त मनुषि नामसे विद्वान् (उस) दनुपुत्र असुरको मारना चाहा; तब नमुचि इन्द्रको खोजे कि वह कन्दा नामकी मूर्ति स्थले प्रवेश कर सके । इसने इन्द्र उमे मार न सके ॥ १-४ ॥

कन्दरस्यैव सप्तमं पदं सद्यः महात्मना । धवप्यत्वं परं प्रादाच्छत्रैस्त्रैश्च नारद ॥ ५ ॥
 ततोऽप्युपयान्तानां शत्रुदशानां नाम् । संन्यस्य भास्करस्य पातालमुपयादथ ॥ ६ ॥
 स विमलवर्णः सौम्यः ससुहृद् फेणसुखमम । दृष्टो दानवपतिस्तं प्रगृहोद्भवर्षात् ॥ ७ ॥
 कन्दरं देवार्जुना कर्णवैत पत्नोऽन्तु मय । त्वयं कृशन्तु मां फेनः करान्यां गृह्य दानवः ॥ ८ ॥

(उमने षड्) हँसनी हूँ उमने मुग्धे कडा कि सुधीर ! मेरी वन सुनो । तुमने पर हीक कहा है कि तीनों लोभोंका स्वामी शुभ ललक अर्द्ध (उपयुक्त) है । परतु नानुर ! मुव अतिनाटक हरपनी पर अभिप्राई कि बुद्धमें मुझे पर्गा त वरनेपत्र ही मेरा पत्र हो । उरगमें (तव) मैंने (उमने) कहा कि तुम्हें धमण्ड ही मना है । नग विन जमुग्धे सरे दमनों और राक्षसोंको पराजित कर अपने अधीन कर लिया है पर तुम्हें क्या नहीं पराजित कर देगा ? स्मृतिमें ऐसे श्लोक हैं । तुम उगी—उन मन हो । उनके वर उमने मुनसे कहा—मैं क्या करूँ ? विना विचार किये ही मैंने इस प्रकार प्रणम कर लिया है । उन (मुन) जानर शुभमें मेरी उत कथे । कल्प महासुर ! उमक इस प्रकार कल्पनेम मैं अपने निरुद्ध आ गया हूँ । पर जल्दी ठुई आगला जैनी मंति नेत्रिनी है, यह वनका अत्र नैना उचित हो, वैना कार्य करें ॥ ३५-३९ ॥

दुःख उवाच

इति सुधीरवचनं निशम्य स महासुरः । प्राह हृषिकेन शुभो दानं धूम्रलोचनम् ॥ ४० ॥

पुलस्त्यज्ञो गोल्ले—सुधीरजी इस वचनको सुनकर उन महासुर अमुग शुभने कुछ दूरपर खड, धूम्रजेवन दानमें कहा ॥ ४० ॥

शुभ उवाच

धूम्राक्ष गच्छ तां दुष्टा केशारुर्षणविद्वलाम् । सापरागं यथा दासो हृवा शौचमिदधानय ॥ ४१ ॥

यथास्या पञ्चदन् बन्धिद् भविष्यति महासुर । स हन्तव्योऽरिचार्यैव यदि हि स्यात्पितामहः ॥ ४२ ॥

स पवसुक शुभमेत धूम्राक्षोऽशौहिणीराज्ञे । वृनः पदभिमंहानेजा विन्ध्यं गिरिसुपाद्रघव ॥ ४३ ॥

स तत्र दृष्ट्वा तां दुर्गा भ्रान्तिदृष्टिपराच ह ।

पहोहि मूढे भर्तारं शुभमिन्द्रस्य कौशिकी । न चेद्वलान्तरिष्यामि केशारुर्षणविद्वलाम् ॥ ४४ ॥

शुभने कडा—यूवाक्ष ! तुम जाओ । उन दुष्टको नगविनी दामोद्री तरह कडा खीचनेसे व्यकुल बनाकर यहाँ शीघ्र ले आओ । यदि कोई परमनी उनका पत्र ले तो तुम विना विचार उमे मार डालना—चढ़े ब्रह्मा ही क्यों न हो । शुभक इस प्रकार कहनेपर उन महासुर नेकनी धूम्राक्षने छ सौ अर्द्धरिणी* सेनाके साथ विन्य परनेपर चडाई कर दी । किन्तु यहाँ उन दर्शनो देखकर दृष्टि चँभिय जानेसे उमने कडा—मूढे ! आनो, आनो ' जैलिकि ' तुम शुभको अपना पति माननेकी इच्छा करो, अन्यथा मैं ब्रह्मरूक तुम्हारे केश परडपर तुम्हें धनोडना हूँ, गडुल रूपमें (पकसे) वे नजैग ॥ ४१-४४ ॥

शुभ उवाच

प्रेषितोऽसाह शुभमेत बलान्तेनुं हि मा निल । तत्र किंहायला कुयाद् ययेच्छसितगडुर ॥ ४५ ॥

शुभने कडा—शुभने तुमको मुझे ब्रह्मरूक ले जानेक विधे निश्चयही नेजा है तो उन विराममें एक अवकाश क्या करोगे ! तुम जैना चाडो वैना मगे ॥ ४५ ॥

दुःख उवाच

पयसुनो विभाज्या बलान् धूम्रलोचन । समभ्य गान्त्वरेतो गदामादाय धार्यवान् ॥ ४६ ॥

तमापतन्तं सगडं हुरोलेष कौशिकी । मरलं भस्मसाधके शुक्तमग्निरिवेधमम् ॥ ४७ ॥

ततो हादाकृतमभू जग यस्मिन्धराधरे । मरलं भस्मसाधनं कौशिक्या धंश्य दानवम् ॥ ४८ ॥

* एष अशौहिणी सेना १०९३० पैदल सिपाही, ६६०० सुडवार, २०८०० रथ और २१८०० गजपैदी रहते हैं ।

(उसके बाद) हैंनी हुई उमने मुझे कहा कि सुमीन ! मेरी बात सुनो । तुमने यह ठीक कहा है कि तीनों लोकोका स्वामी शुम्भ उनके अर्ह (उपयुक्त) है । परंतु नगपुर ! मुझ अतिशयके हृदयकी यह अनिच्छा है कि तुझमें मुझे पराजित करनेवाला ही मेरा पति हों । उत्तरमें (तब) मैंने (उमने) कहा कि तुम्हें धमक हो गया है । नला चिम अनुमने सारे देवताओं और राजसौंनों पराजित कर अपने अधीन कर दिया है वह तुम्हें क्यों नहीं पराजित कर देगा ! इन्द्रिये अये शीवराय ! तुम उद्यो—रत मन लो । उसके बाद उमने मुझसे कहा—मैं क्या करूँ ? बिना विचार किये ही मैंने इस प्रकारका पंग कर लिया है । अतः (तुम) जानकर शुम्भसे मेरी बात कटो । फलतः महासुर ! उसके इस प्रकार कहनेपर मैं आपके निकट आ गया हूँ । वह जल्दी हुई अगस्त्य लौकी भौंति नेत्रविनी है ; यह जानकर जान जैसा उचिन हो, वैसा कार्य करो ॥ ३५—३९ ॥

पुत्रस्य उवाच

इति सुभ्रायवचनं निशम्य स महासुरः । प्राह दूरस्थं शुम्भो दानं धूम्रलोचनम् ॥ ४० ॥

पुत्रस्यजो बोले—सुमीनकी इस बातकी सुनकर उम महान् असुर शुम्भने कुछ दूरपर खड़े, धूम्रलोचन दानवसे कहा ॥ ४० ॥

शुम्भ उवाच

धूम्राक्ष गच्छ तां दुष्टां केशाकर्षणविद्वलाम् । सायरायां यथा दासो कृत्वा शीघ्रनिदानय ॥ ४१ ॥
यथास्याः पक्षकृन् कश्चिद् भविष्यति महापलः । स हन्तव्योऽत्रिचार्यैव यदि हि स्वावपितामहः ॥ ४२ ॥
स पयमुक्तः शुम्भेन धूम्राक्षोऽक्षौहिणीदातैः । वृतः पद्भिमंदातेजा विन्ध्यं गिरिमुपाद्रव ॥ ४३ ॥
स तत्र दृष्ट्वा तां दुष्टां भ्रान्तेदृष्टिवाच ह ।

एषेहि मूढे भर्तारं शुम्भमिच्छस्व कौशिकी । न चेद्दलान्त्वपिप्यामि केशाकर्षणविद्वलाम् ॥ ४४ ॥

शुम्भने कहा—धूम्राक्ष ! तुम जाओ । उम दुष्टासे अराजिनो दामीनी तरह केश खींचनेसे व्याकुल बनाकर यहाँ शीघ्र ले आओ । यदि कोई पराक्रमी उमका पक्ष ले तो तुम बिना विचारे उमे मार डालना—चाहै तथा ही क्यों न हो । शुम्भके इस प्रकार कहनेपर उस महान् तेजस्वी धूम्राक्षने छः सौ अक्षौहिणी* सेनाके साथ विन्ध्य पर्वतपर चढ़ाई कर दी । किन्तु वहाँ उन दुर्गको देखकर दृष्टि चींभिया जानेसे उमने कहा—मूढ़े ! आओ, आओ ' शोभिकि ! तुम शुम्भको अपना पति बनानेकी इच्छा करो; अन्यथा मैं बटपूरक तुम्हारे केश परकडकर तुम्हें घनीटना हुआ शकुल रूपमें (यहाँसे) ले जाऊँगा ॥ ४१—४४ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्रेपिनोऽसाह शुम्भेन बलान्तेतुं हि मां क्रिल । तत्र किंहावत्वा कुर्याद् यथेच्छसितया कुरु ॥ ४५ ॥

श्रीदेवीने कहा—शुम्भने तुमको मुझे बटपूरकले जानेके लिये निश्चयही मेजा है तो उस विषयमें एक अवज्ञा क्या करोगे ! तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ४५ ॥

पुत्रस्य उवाच

पयमुक्तो विभायर्था बलवान् धूम्रलोचनः । समभ्यवाचत् त्वरितो गदामादाय धीर्यवान् ॥ ४६ ॥
तमापतन्तं सगदं हुंकारेणैव कौशिकी । सपलं भस्मसाचके शुक्रमग्निरिवेक्ष्मन् ॥ ४७ ॥
तत्र तत्र कौशिकी कौशिक्या बंध्य दानयम् ॥ ४८ ॥

एकं जग्राह केशेषु श्रीवायामपरं तथा । पादेनात्रम्य चैवान्यं प्रेययामास मृग्यवे ॥ ६१ ॥
ततस्तु तद् बलं देव्या भक्षितं मरुत्वाधिपम् । रुद्रेण प्रदुद्राव तं चण्डो दृष्टो स्वयम् ॥ ६२ ॥
आजयानाथ शिरसि एतद्वाहनेन महासुरम् । न पपात हतो भूम्यां छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ६३ ॥

अम्बिका देवी चर्म, अङ्गुश, मुद्रा, धनुष, बटियो और यन्त्रके साथ हाथियोको अपने मुग्धमें झोरले लगी और चक्र तथा सारथी, घोडे और योद्धाने साथ क्रूरसे युक्त रथको अपने मुग्धमें डारकर वे चगाने लगी । फिर उन्होंने किमीको मिरके केश पकड़कर, किमीको गत्र पकड़कर और अन्य किमीको पँतोंमें गंड-गौडकर मृग्युके समीप पहुँचा दिया । उसके बाद मेनापतिके साथ उस मेनाको देवीद्वारा भक्षण किया जाता हुआ देखकर रुद्रे दौड पडा । चण्डने स्वयं उमे देवा और म्वशाहने उम महान् असुरक मिरफ आघात कर दिया । वह मरकर जडमे कटे हुए वृत्तक समान पृथ्वीपर (गडामसे) गिर पडा ॥ ५९-६३ ॥

ततस्तं पतितं दृष्ट्वा पशोरिव विभाजरी । कोशमुन्कर्तयामास र्णाद्विचरणान्तिक्मम् ॥ ६४ ॥
सा च कोशं समादाय वरुन्ध विमला जयाः । एका न वन्धमगमत् तामुत्पाट्याक्षिपद् भुवि ॥ ६५ ॥
सा जाना सुनरां रौद्री तैलाभ्यक्तशिरोरुहा । कृष्णाधर्मर्धशुक्लं च धारयन्ती स्वकं वपुः ॥ ६६ ॥
साऽप्रवीद् वरमेकं तु मारयामि महासुरम् । तस्या नाम तदा चक्रे चण्डमारीणि विधुतम् ॥ ६७ ॥

देवीने उसे जमीनपर गिरा हुआ देखकर पशुके समान उसका जानसे पैरतन्का कोश काट दिया— उसको चमडी उधेड ली । उस कोश (चमडी-)को लेकर उन्होंने अपनी निर्मल जटाओंको बाँध लिया । उनमें एक जटा नहीं बाँधी गयी । उसे उपाडकर उन्होंने जमीनपर फेंक दिया । वह जटा एक भयावनी देवी हो गयी । उसके मिरके बाट तेजसे मिक (सने) थे एव वह आग काल तथा आग सफेद वर्णका शरीर धारण किये हुए थी । उमने कहा—मैं एक भारी महासुरको मारूँगी । तब देवीने उसका चण्डमारी—यह प्रसिद्ध नाम रख दिया ॥ ६४-६७ ॥

प्राह गच्छस्व सुभगे चण्डमुण्डविहानय । स्वयं हि मारयिष्यामि तावानेतुं त्वमर्हसि ॥ ६८ ॥
ध्रुवैश्च वचनं देव्याः साऽभ्यद्रवत् नातुभो । प्रदुद्रुवनुर्भयात्तौ दिशमाश्रित्य दक्षिणाम् ॥ ६९ ॥
ततस्तापि वेगेन प्राधावत् न्यक्तवाससौ । साऽधिरुह महावेगं रामभं गरडोपमम् ॥ ७० ॥
यतो गतौ च तौ दैत्यौ तत्रैवानुययौ शिवा । सा ददर्श तदा पौण्ड्रं महिषं वै यमस्य च ॥ ७१ ॥

देवीने कहा—सुभगे ! तुम जाओ और चण्ड-मुण्डको यहाँ पकड लओ ! उन्हें पकड लनेमें तुम समर्थ हो । मैं स्वयं उन्हें मारूँगी । इस प्रकार देवीक उस क्रमको सुनकर वह उन दोनोंकी ओर दौड पडी । वे दोनों भयसे दुरी होकर दक्षिण दिशाकी ओर भाग गये । तब चण्डमारी गरडके समान वेगवान् गरदहेपर समर होकर वेगसे भगनेके कामग प्रवृत्त हुए उन दोनोंक पीठे दौड पडी । (फिर तो) जहाँ-जहाँ चण्ड और मुण्ड दोनों दैत्य गये, वहाँ-वहाँ उनक पीठे शिवा भी पहुँचती गयी । उस समय उन्होंने यमराजक पाण्डूनामक महिषको देवा ॥ ६८-७१ ॥

सा तस्योत्पाटयामास विषाणं भुजगाकृतिम् । तं प्रगृह्य करणैव दानवावन्वगाञ्जयात् ॥ ७२ ॥
तौ चापि भूमिं संत्यज्य जग्मतुर्गगनं तदा । वेगेनाभिरुता सा च गसमेन महेश्वरी ॥ ७३ ॥
ततो दृदर्श गरुडं पन्नगेन्द्रं क्षिपादिषुम् । ककौटकं न दृष्ट्वैव ऊर्ध्वरीमा व्यजायत ॥ ७४ ॥
भयान्मार्याश्च गरुडो मांसपिण्डोपमो यभौ । न्यपतंतस्तस्य पत्राणि रोद्राणि हि पतत्रिण- ॥ ७५ ॥

यतः आपने चण्ड और मुण्डके सिमेंका शुभ आभूषण धारण किया है, अतः आप लोकमें चासुण्डा नामसे प्रख्यात होंगी । चण्ड और मुण्डकी माला धारण करनेवाली उन देवीसे त्रिनेत्राने इस प्रकार कहकर दिग्भ्रमसे कहा—तुम अपने इन शत्रुसैनिकोंका निनाश करो । ऐसा कहनेपर बहुत तेज गतिवाले गोकुल के साम बहू देवी सौम्यी नोकसे उग्र शत्रु सेनाके दलोका संहार करनी हुई विचरग करने लगी और (इस प्रकार) असुरोंको चमत्कृत कर दी । उसके बाद अम्बिकाकी अनुगामिनियो—चर्ममुण्डा, मारी, सिंह एव भृगुगणोद्वारा मारे जा रहे थे महा-दानव अपने नायक शुम्भकी शरणमें गये ॥ ८५-८८ ॥

इस प्रकार धीवामनपुराणमें पंचपनचा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

[अथ षट्षष्ट्याशतमोऽध्यायः]

दुर्लभ उवाच

चण्डमुण्डो च निहतौ दृष्ट्वा संभं च विद्रुतम् ।

समादिदेशात्प्रियं रक्तबीजं महासुरम् । अर्क्षोहिणीनां त्रिदशभिः काटिभिः परिघारितम् ॥ १ ॥

तमापतन्तं दैत्यानां बलं दृष्ट्वैव चण्डिका । मुमोच मिन्दानां चै ताभ्यां मद महेश्वरी ॥ २ ॥

निन्दन्त्यास्ततो देव्या ब्रह्माणी मुखतोऽभयत् । हंसयुक्तविमानस्था सासस्रजकमण्डलुः ॥ ३ ॥

माहेश्वरी त्रिनेत्रा च वृषारूढा त्रिशूलिनी । महाहिवलया रौद्रा जाता कुण्डलिनी क्षणात् ॥ ४ ॥

छप्पनचौ अध्याय प्रारम्भ

(चण्डिकासे मातृकाओंकी उत्पत्ति, असुरोंसे उनका युद्ध, रक्तबीज निशुम्भ-शुम्भ वध, देवताओंके द्वारा देवीकी स्तुति, देवीद्वारा वरदान और भविष्यमें प्रादुर्भावका वचन)

दुर्लभजी बोले—(नादजी !) शुम्भन चण्ड और मुण्डको मृत कर । सैनिकोंको भगा हुआ देवकार अत्यन्त बलवान् महान् अथ रक्तबीजको (लडनेके लिये) आज्ञा दी । उसके बाद महेश्वरी चण्डिकाके त्रयोनी तीम करोड अर्क्षोहिणीवाली उस सेनाको आनी हट्ट दपर उन दानो देवियाक साम सिंहक समान गर्जन किया । उमर बाद सिंहके समान निनाद (हुकार) करती हट्ट देवीक मुण्डसे, हंसक विमानपर बेठी हुई तम जलमय और कमण्डलु लिये ब्रह्मणी उत्पन्न हो गयी । क्षणभरमें ही वृषार आरूढ त्रिशूलधारिणी महामर्षक वन पडने और कुण्डल धारण किये हुए तान नत्रोरानी माहेश्वरी भी उ पन्न हो गयी ॥ १-४ ॥

कण्ठाद्य च कौमारी चर्हिपरा च शक्तिनां समुद्रता च देवर्षे मयूरचक्राहना ॥ ५ ॥

बाहुभ्यां गरुडारूढा शङ्खत्रयशक्तिनां शङ्खेण प्रया जाता त्रैलोक्य रूपशालिनी ॥ ६ ॥

महोद्यमशला रौद्रा दशोत्क्रियितभूतला । वाराहा पृथुता जाता शेषनागापरि स्थिता ॥ ७ ॥

वज्राङ्कुतोद्यतकरा नानाशङ्खारभूयिता । जाता गजेन्द्रपृष्ठस्था माहेंद्री स्तनमण्डलात् ॥ ८ ॥

देवीने मारुतकी मोरपखमें सुशोभित, शक्तिरिणी एव श्रेष्ठ मोरके गहनपर आरूढ 'रौमारी' देवीके कण्ठसे उत्पन्न हुई । गरुडपर सवार, शङ्ख, चक्र, गदा, तन्त्रा एव धनुष-त्राग धारण करनेवागी मण्डयशालिनी 'वैष्णवी' शक्ति देवीकी दोनो भुजाओंसे उत्पन्न हुई । मारी मयङ्कर मूसड लिये, दाडोसे पृथ्वीको गोदनेवागी, शेषनागके ऊपर स्थित 'वाराही' शक्ति देवीकी पीठसे उत्पन्न हुई । हायमें वज्र और अङ्कुलको भौत-भौतिक आभूषणोंसे निर्भूषित, गजराजकी पीठपर बेठी हुई 'माहेंद्री' शक्ति उनके स्तन-मण्डलमें ॥ ८ ॥

युद्ध में प्रचण्ड पराक्रमशास्त्रिणी उस महेश्वरीने भी श्रेष्ठ धनुषमें निरुद्धे बाणोंमें असुरोंके शस्त्रोंको उनकी मुजाओंसहित काट दिया एव मँकड़ों बाणोंसे अन्य असुरोंको मानके घाट उनार दिया । मार्गने विश्वात्म्ये बहनोंको मारा, कांशिकीने श्वत्पाङ्कक प्रहाणसे बहुतोका मर किया तथा राक्षसोंने जन्मदि फेंककर दूसरे बहनोंमें असुरोंको प्रभाहीन कर दिया । माहेश्वरीने शूलमें बहुत से असुरोंकी शरीरों छेदकर जर्जर कर दिया । वेगरीने मूढोंको जय कर भस्म कर डाला । कुमारीने शक्तिसे, ऐन्द्रीने वज्रमें, गौरीने मुखमें एव चक्रमें असुरोंका महार किया । रामहिर्हीने नगोंके प्रहारसे देवोंको चीर डाला, शिकन्द्रीने अट्टहाससे, मन्दने विश्वात्म्ये एव विनायकने कर्मकी मारसे अन्य असुरोंको विनष्ट कर दिया ॥ १९-२२ ॥

एवं हि देव्या विधिधैस्तु रूपैर्निपात्यमाना दनुपुङ्गवास्ते ।
 पेतुः पृथिव्यां भुवि चापि भूतैस्ते भक्ष्यमाणाः प्रलयं प्रजग्मुः ॥ २३ ॥
 ते ध्यमानास्वथ देयताभिर्महासुरा मातृभिराकुलाश्च ।
 विमुक्तकंदास्तरलेक्षणा भयात् ते रक्तबीज शरणं हि जग्मुः ॥ २४ ॥
 स रक्तबीजः सहसाभ्युपेत्य वराहमादाय च मातृमण्डलम् ।
 विद्रावयन् भूतगणान् समन्ताद् विंशतिं कौपात् स्फुरिताधरश्च ॥ २५ ॥
 तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य मातरः शखैः शिताग्रैर्द्विजं वचसुः ।
 यो रक्तविन्दुर्न्यपतत् पृथिव्यां स तत्रमाणस्वसुरोऽपि जहे ॥ २६ ॥

इम प्रकार देवीक बहुतमें स्वयं द्वारा संहार किये जाते हुए दानव धराशायी होने लगे । भूतगण पृथ्वीपर (गिरे हुए) उन दानवोंको खा-खाकर उन्हें नष्ट करने लगे । देवताओं और मातृशक्तियोंद्वारा संहार किये जा रहे एव व्याकुल किये गये वे सारे महान् असुर खुले बालों एव भयसे इधर-उधर देउते हुए रक्तबीजकी शरणमें गये । क्रोधसे ओठको फड़कवाते हुए रक्तबीज तेज धारजाले अश्वोंको लेकर एकाएक आ धमका एव भूतगणोंको इधर-उधर खदेडते हुए मातृभ्यूहमें प्रवेश कर गया । उसको आते हुए देखकर मातृशक्तियोंने उम असुरपर अपने तेज शखोंकी वींजार की । (उनक शरीरसे) रक्तकी जो बूँदें पृथ्वीपर गिती थीं उनसे उनमें ही वज्रान् असुर उत्पन्न हो जाते थे ॥ २३-२६ ॥

ततस्तदाश्चर्यमयं निरीक्ष्य सा कोशिकी केशिनिमभ्युवाच ।
 पिबस्व चण्ड रुधिरं त्वरातेर्वितत्य वस्त्रं घटघानलाभम् ॥ २७ ॥
 सा त्यधमुक्त्वा वरदाऽम्बिका हि धितत्य वस्त्रं विकरालमुग्रम् ।
 ओष्ठं नभस्पृक्तुं पृथिवीं स्पृशन्तं कृत्वाऽधरं तिष्ठति चर्ममुण्डा ॥ २८ ॥
 ततोऽम्बिका केशविकरणाकुलं कृत्वा रिपुं प्राक्षिपत् स्ववस्त्रं ।
 विभेद् शूलेन तथाऽप्युरस्तः क्षतोद्भयान्ये न्यपतंश्च वस्त्रे ॥ २९ ॥
 ततस्तु शोषं प्रजगाम रक्तं रक्तक्षये हीनबलो यभूत् ।
 तं हीनवीर्यं शतधा चकार चनेण चामाकरभूपितेन ॥ ३० ॥

उसके बाद उस अद्भुत दृश्यको देखकर कोशिकीने रुदिनीसे कहा—चण्डिक ! पडजानल- (समुद्रकी आग) की भौंति अपने मुखको फलाकर शत्रुका रक्त पी डाले । एसा कहनेपर रत्नायिनी अम्बिकाने अपना विशाल भयङ्कर मुँह फलाया । ऊपरी ओठसे आकाश एव निचले ओठसे पृथ्वीका स्पर्श करती हुई चामुण्डा सामने खड़ी हो गयी । उसके बाद अम्बिकाने शत्रुके बालोंको पकड़ करके उसे घसीटकर व्याकुल कर दिया और उसे

महेश्वरेण संत्यक्तं निर्देहेद् भुवनान्यपि । तस्मात् प्रतीच्छ पुत्रोऽथं तव धन्यो भविष्यति ॥ ६ ॥
 इत्यग्निना सा कुटिला स्मृत्वा स्वमतमुत्तमम् । प्रक्षिपत्यामभिम मम ग्राहं वर्द्धि महापगम् ॥ ७ ॥
 ततस्त्वधारयद्देवी शार्वं तेजस्त्वपुपुत् । हृत्नाशनेऽपि भगवान् कामचागी परिभ्रमन् ॥ ८ ॥
 पञ्चवर्षसहस्राणि धृतवान् हव्यमुक्त् ततः । मांसमस्थोनि रुधिरं मेदोऽग्रेतसौ स्वचः ॥ ९ ॥
 रोमश्मश्वक्षिकेशाद्याः सर्वे जाता हिरण्मया । हिरण्यरेता लोकेषु तेन गीतश्च पावकः ॥ १० ॥

शङ्करके द्वारा त्यागा गया (यह तेज समस्त) लोकोंको दग्ध कर देगा, अतः तुम इसे ग्रहण कर ले । इससे तुम्हें एक भाग्यशाली पुत्र होगा । अग्निके इस प्रकार कहनेपर अपने उत्तम मनोरथका स्मरणकर महानदी कुटिलाने अग्निसे कहा—इसे मेरे जलमें छोड़ दें । (ऐसा करनेपर) उसके बाद वह देवी शङ्करके तेजको ग्रहणकर उसका पालन पोषण करने लगी । भगवान् अग्निदेव भी इच्छाके अनुसार विचारण करने लगे । अग्निने उस तेजको पाँच हजार वर्षोंतक धारण किया था । इसप्रिये अग्निके मांस, हड्डी, रक्त, मेदा, आँत, रेतस, रचचा, रोम, दाढ़ी, मूँछ, नेत्र एवं केश आदि सभी सुवर्णमय बन गये । इसीसे संसारमें अग्निको 'हिरण्यरेता' कहा जाने लगा ॥ ६-१० ॥

पञ्चवर्षसहस्राणि कुटिला ज्वलनोपमम् । धारयन्तो तदा गर्भं ब्रह्मणः स्थानमागता ॥ ११ ॥
 तां दृष्टवान् पद्मजन्मा संतप्यन्तीं महापगाम् । दृष्ट्वा पप्रच्छ केनायं तव गर्भः समाहितः ॥ १२ ॥
 सा चाह शङ्करं यत्तच्छुक्रं पीतं हि यद्विना । तदशक्रेन तेनाद्य निक्षिप्तं मयि सत्तम ॥ १३ ॥
 पञ्चवर्षसहस्राणि धारयन्त्याः पितामह । गर्भस्य वर्तते कालो न पपात च कर्हिचित् ॥ १४ ॥

तब अग्निके समान उस गर्भको पाँच हजार वर्षोंतक धारण करती हुई कुटिला ब्रह्माके स्थानपर गयी । कमलजन्मा ब्रह्माने उस महानदीको स्तनपत्ती होती देखकर पूछा—तुम्हारा यह गर्भ किसके द्वारा स्थानित है ? उसने उत्तर दिया—सत्तम ! अग्निने मिये हुए शङ्करके उस शुक्रको अपनेमें धारण करनेकी शक्ति न होनेके कारण मुझमें त्याग दिया । पितामह ! गर्भ धारण किये हुए मेरा पाँच हजार वर्षोंका समय बीत गया; परंतु किसी प्रकार यह बाहर नहीं निकल रहा है ॥ ११-१४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह गच्छ त्वमुदयं गिरिम् । तत्रास्ति योजनशतं रौद्रं शरवणं महत् ॥ १५ ॥
 तत्रैनं क्षिप सुश्रोणि विस्तीर्णं गिरिमानुनि । दशवर्षसहस्रान्ते ततो बालो भविष्यति ॥ १६ ॥
 सा श्रुत्वा ब्रह्मणो वाक्यं रुषिणी गिरिमागता । आगत्य गर्भं तत्याज मुखेनैवाद्रिनन्दिनी ॥ १७ ॥
 सा तु संत्यज्य तं बालं ब्रह्मणं सहसागमत् । आपोमयी मन्त्रयशात् संजाता कुटिला सती ॥ १८ ॥

उसको सुनकर भगवान् ब्रह्माने कहा—तुम उदयाचलपार जाओ । वहाँपर सौ योजनमें फैला हुआ सरपतोका विशाल घनघोर वन है । अथि सुन्दर कटिगाली ! उस विस्तृत पर्वतकी ऊँची चोटीपर इसे छोड़ दो । यह वन हजार वर्षोंके बाद बालक हो जायगा । ब्रह्माकी धात सुननेके बाद वह गिरिनन्दिनी सुन्दरी पर्वतपर गयी एवं मुझसे ही (उसने) गर्भका परित्याग कर दिया । वह उस (जन्म लेनेवाले) बालकको छोड़कर शीघ्र ही ब्रह्माके समीप चली गयी । सती कुटिली मन्त्र (शाप)के कारण जन्मग्रहणमें ही गयी ॥ १५-१८ ॥

तेजसा चापि शार्वेण रौक्मं शरवणं महत् । तन्निवासरताश्चान्ये पाद्पा मृगपक्षिणः ॥ १९ ॥
 ततो दशसु पूर्णेषु शरद्दशशनेष्वथ । बालार्कदापिनः संजातो बालः कमललोचनः ॥ २० ॥
 उत्तानशायी भगवान् दिव्ये शरवणे स्थितः । मुखेऽद्भुष्टं समाक्षिप्य हरोद् घनराडिव ॥ २१ ॥
 एतस्मिन्नन्तरे देव्यः कृत्स्निफाः पट् सुतेजसा । ददृशुः स्वेच्छया यान्त्यो बालं शरवणे स्थितम् ॥ २२ ॥

... तस्यै देवतायेन सा विष्णुः प्रकाशाय विदुः । वे सन्ती सः
... अस्मिन्नेव, कुट्टिका और कुत्तिकाओं
... आपने, देवीने

तद्विषयं तन्नामोऽयं नोर्ध्वनीकप्रमत्तयम् । कुन्दक्षेत्रे स्वस्वन्व्यामभिपिञ्चाम पण्डुररम् ॥ ५१ ॥
मेलायाः पतिरस्त्वोऽयं देवतान्-वर्षकित्तयाः । मष्टिपं गानपत्येर तारकं च सुदारुणम् ॥ ५२ ॥
... महाकृतम् ॥ ५३ ॥
... सह ॥ ५४ ॥

... कुन्दक्षेत्रे चत्वर सरस्वती (नदी) में
... और गद्वि तथा भयंकर
... उठें और कुमारके साथ महान्
... उस कुमारके

महाफलेन ।
गुणमञ्जुतायाः ॥ ५५ ॥
नचतुध्यान्मंगणाः ॥ ५६ ॥
सूच्यंजिन्नमुमुमुदुः ॥ ५७ ॥
देवमाताऽदितिः पुरा ॥ ५८ ॥

... मनुष्योंके तथा) माता मनुष्योंके मिलकर बर्देवाकी
... गुणका (सेनापतिके पदपर)
... और वे बार-बार उनके
... प्रकियामें) मृगवी हुई पावती

... ॥ ५९-६० ॥
... ॥ ६१ ॥
... ॥ ६२ ॥

स्थायुं ब्रह्मा गणं प्रादाद् विष्णुः प्रादाद् गणप्रथम् । संक्रमं विक्रमं चैव कृतार्थं च पराक्रमम् ॥ ६३ ॥
 उक्तेरां पद्भजं शक्रो रविदण्डकपिह्वलयौ । चन्द्रो मणि वसुमणिप्रधिवनौ यमनन्दिनौ ॥ ६४ ॥
 ज्योतिर्हस्ताशनः प्रादाज्ज्वलजिह्वं तथापरम् । कुन्दं मुकुन्दं कुसुमं धौन धाताऽनुवगरं ददौ ॥ ६५ ॥
 चनानुचक्रौ त्वष्टा च वेधातिस्त्रिगुम्बिरी । पाणिलयजं कालरुद्रं प्रादान् पूषा महागन्धौ ॥ ६६ ॥

ज्ञाने अपने गण स्थायुको दिया और विष्णुने संक्रम, विक्रम और पराक्रम नामके तीन गणोंको दिया ।
 इन्द्रे उक्तेरा और पद्भजको, रविने दण्डक और पिह्वलको, चन्द्रमाने मणि एवं वसुमणिको, अश्विनीकुमारोंने
 यम और नन्दीको दिया । अग्निने ज्योति तथा दूमरे नरजिह्वको दिया । धातने कुन्द, मुकुन्द तथा कुसुम
 नामके तीन अनुचक्रोंको दिया । त्वष्टाने चक्र और अनुचक्रको, वेदाने अतिस्त्रि और गुम्बिको एवं पूषाने
 महागन्धगौ पाणिलयज तथा कालरुद्रको दिया ॥ ६३-६६ ॥

स्वर्णमालं घनाहं च विमवान् प्रमथोत्तमौ । प्रादोरेवोच्छिन्नो निन्ध्यमरनिष्टुहं च पार्यदम् ॥ ६७ ॥
 सुपर्चसं च वरुणः प्रददौ चानिवर्चसम् । संग्रहं विग्रहं चाग्निनांगा जयमहाजयी ॥ ६८ ॥
 उन्मादं शङ्कुकर्णं च पुण्ड्रननं तथाऽभ्यन्त । घसे चाग्निचमं वापुः प्रादादनुचरागुभौ ॥ ६९ ॥
 परिधं चट्टकं भीमं दहनिदहनौ तथा । प्रददौऽनुमान् पञ्च प्रमथान् पण्मुपाय हि ॥ ७० ॥

हिमालयने प्रमथोंमें श्रेष्ठ स्वर्णमाल और घनाहको तथा ऊँने क्रियाचक्रे अतिशुद्ध नामक पार्यदको दिया ।
 वरुणने सुपर्चा एवं अनिवर्चको, ममुद्रने मंत्रह तथा विग्रहको एवं नागने जय तथा महाजयको दिया । अभ्यन्तने
 उन्माद, शङ्कुकर्ण और पुण्ड्रनको तथा पयने यम और अनियस नामके दो अनुचक्रोंको दिया । अनुमानने
 पदाननको परिध, चट्टक, भीम, दहनि तथा दहन नामके पाँच प्रमथोंको दिया ॥ ६७-७० ॥

यमः प्रमाथमुन्माथं बालसेनं महामुखम् । नालपरं नाडिजहं पडेवानुचरान् ददौ ॥ ७१ ॥
 सुप्रभं च सुकर्मणं ददौ धाता गणेश्वरैः । सुवतं सत्यसन्धं च मित्रः प्रादाद् द्विजोत्तम ॥ ७२ ॥
 अनन्तः शङ्कुपीठं निरुम्भः कुमुदोऽम्बुजः । एताश्च कुन्दो चक्षुः किराटी कलशोदरः ॥ ७३ ॥
 सूचीवक्त्रः कोकन्दः प्रहासः प्रियकोऽच्युत । गन्ताः पञ्चदशैते हि यक्षैर्दत्ता मुहस्य तु ॥ ७४ ॥

यमगजने प्रमाथ, उन्माथ, बालसेन, महामुख, तालपर और नाडिजह नामके छः अनुचक्रोंको दिया ।
 द्विजोत्तम ! धाताने सुप्रभ और सुकर्मा नामके दो गणेश्वरोंको तथा मित्रने सुवत तथा सत्यसन्ध नामके दो अनुचक्रोंको
 दिया । यक्षोंने अनन्त, शङ्कुपीठ, निरुम्भ, कुमुद, अम्बुज, एताश्च, कुन्द, कुन्द, किराटी, कलशोदर, सूचीवक्त्र,
 कोकन्द, प्रहास, प्रियक एत अच्युत—इन पन्द्रह गणोंको कार्तिकेयको दे दिया ॥ ७१-७४ ॥

कालिन्ध्याः कालरुद्रश्च नर्मदाया रणोरुद्रः । गोदारयाः सिद्धयात्रस्तमसायाद्रिकम्पकः ॥ ७५ ॥
 महस्त्राहूः सीताया वञ्जुलायाः स्त्रितोदरः । मन्दाकिन्यास्तथा नन्दो विपारायाः प्रियंकरः ॥ ७६ ॥
 ऐरावत्याश्चतुर्दशैः षोडशाशो वितस्तथा । मार्जारं कौशिकी प्रादान् फथकौञ्ची च गौतमां ॥ ७७ ॥
 यादृदा शतशोर्षे च याहा गौतन्दनन्दिनौ । भीमं भीमगथी प्रादाद् वेगारि सरयुर्ददौ ॥ ७८ ॥

कालिन्धीने कालरुद्रको, नर्मदाने रणोरुद्रको, गोदारिने सिद्धयात्रको एत तमसाने अद्रिकम्पकको दिया ।
 सीताने महस्त्राहूको, वञ्जुलाने स्त्रितोदरको, मन्दाकिनीने नन्दको एत विपाराने प्रियंकरको दिया । ऐरावतीने
 चतुर्दशको, वितस्ताने षोडशाशको, कौशिकीने मार्जारको एत गौतमीने क्रम और गौतमीको दिया । बाहूदाने
 शतशोर्षको, याहाने गौतन्द और नन्दिनको, भीमरानीने भीमको और सरयुने वेगारिको दिया ॥ ७५-७८ ॥

सोपानीयां मदी प्रादाच्छालिनां मानसो हृदः । शतवृष्टां शतानन्दां तयोत्पलमेखलाम् ॥ ९५ ॥
 पद्मावतीं माधवीं च द्वादी वदरिकाश्रमः । सुप्रमानेरुचूडां च देवीं धमधमां तथा ॥ ९६ ॥
 उत्कलयनीं वेदमित्रां केदारो मातरौ ददौ । सुनक्षत्रां कद्रुलां च सुप्रभानां सुमङ्गलाम् ॥ ९७ ॥
 देवमित्रां चित्रसेनां ददौ रुद्रमहालयः । कोटरामूर्ध्ववेणीं च श्रीमतीं बहुपुत्रिकाम् ॥ ९८ ॥
 पलित्वां कमलाक्षीं च प्रयागो मातरौ ददौ । सूरलां मधुकुम्भां च ख्यातिं पद्मदहां पराम् ॥ ९९ ॥
 प्रादात् खट्वन्दां चान्यां सर्वपापविमोचनः । संतापिकां विकलिकां क्रमश्चत्वरयामिनीम् ॥ १०० ॥

महीने सोपानीयाको, मानसहृदने शालिकाको एवं वदरिकाश्रमने शतवृष्टा, शतानन्दा, उत्पलमेखला, पद्मावती और माधवीको प्रदान किया । केदारतीर्थने सुप्रमा, एकचूडा, धमधमादेवी, उक्ता मनी तथा वेदमित्रा नामक मातृकाओंको दिया । रुद्रमहालयने सुनक्षत्रा, कद्रुला, सुप्रभाना, सुमङ्गला, देवमित्रा और चित्रसेनाको दिया । प्रयागने कोटरा, ऊर्ध्ववेणी, श्रीमती, बहुपुत्रिका, पञ्चिता तथा कमलाक्षी नामकी मातृकाओंको अर्पित किया । सर्वपापनिमोचनने मूपला, मधुकुम्भा, ख्याति, दहदहा, परा और खट्वन्दाको समर्पित किया । क्रमने सन्तानिका, विकलिका और चत्वरयामिनीको प्रदान किया ॥ ९५-१०० ॥

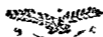
जलेद्वरौ कुम्भुटिकां सुदामां लोहमेखलाम् ।

यपुष्पल्युत्सुकाक्षी च कोकनामा महाशानी । रौद्रा कर्कटिका तुण्डा श्वेततीर्थो ददौ त्रिमाः ॥ १०१ ॥
 पतानि भूतानि गणांश्च मातरौ दद्याद् महात्मा विनतातनूजः ।
 ददौ मयूरं स्वसुतं महाजवं तथाऽरुणस्ताम्रचूडं च पुत्रम् ॥ १०२ ॥
 शक्तिं हुतासोऽद्रिसुता च वरुणं दण्डं गुरुः सा कुटिला कमण्डलुम् ।
 मालां हरिः शूलधरः पताकां कण्ठे च द्वारं मधयानुरस्तः ॥ १०३ ॥
 गणैर्वृतो मातृभिरन्वयातो मयूरसंस्थो वरशक्तिपाणिः ।
 सैन्याधिपत्ये स हृतो भवेत् रराज स्यैव महावपुष्मान् ॥ १०४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

श्वेततीर्थने तो जलेद्वरी, कुम्भुटिका, सुदामा, लोहमेखला, मृष्पिनी, उल्मुकाक्षी, कोकनामा, महाशानी, रौद्रा, कर्कटिका और तुण्डा-इन अनुचरियोंको दिया । इन भूतों, गणों और मातृकाओंको देवपर विनतापुत्र महात्मा गुरुने अपने पुत्र महावेगशाली मयूरको समर्पित किया और अरुणने अपने पुत्र ताम्रचूडको प्रदान कर दिया । अग्निने शक्ति, पार्ष्णीने धनु, वृहस्पतिने दण्ड, उस कुटिलने कमण्डलु, विष्णुने मात्रा, शङ्करने पताका तथा इन्द्रने अपने हृदयका द्वार कार्तिकेयके कण्ठमें अर्पित कर दिया । गणोंसे युक्त, मातृकाओंसे अनुसरित, मयूरपर बैठे एवं श्रेष्ठ शक्तिको हाथमें लिपे हुए महाशरीरगरी वे कुमार (कार्तिकेय) शरके द्वारा सैन्याधिराजके पदपर अभिविक्त होकर (और उपहार पाकर) मयूरके समान प्रकाशित होने लगे ॥ १०१-१०४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥



नारद उवाच

यत्तत् स्वस्थयन पुण्य वृत्तवान् गरुडध्वज । शिखिध्वजाय विप्रैर् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

नारदने कहा—विप्रर् ! गरुडध्वज विष्णुने मयूरध्वज कार्तिभयक क्रिये जिस पवित्र स्वस्थयनका पाठ किया, उसे आप मुझसे कहें ॥ १३ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणु स्वस्थयन पुण्य यत्प्राह भगवान् हरि । इन्द्रस्य विजयायां महिषस्य वधाय च ॥ १४ ॥

स्वस्ति ते कुरुता ब्रह्मा पद्मयोनी रजोगुण । स्वस्ति चक्राङ्कितकरो विष्णुस्ते विद्वाचज ॥ १५ ॥

स्वस्ति ते शङ्करो भक्त्या सपत्न्या वृषध्वज । पात्रक स्वस्ति तुभ्य च करोतु शिखिवाहन ॥ १६ ॥

दिवाकर स्वस्ति करोतु तुभ्य सोम सभौम सद्युधो गुरुश्च ।

काव्य सदा स्वस्ति करोतु तुभ्य शनैश्चर स्वस्थयन करोतु ॥ १७ ॥

पुलस्त्यजीं बोले—(नारदजी) स्वर्गकी विजय एवं महिषक वधके लिये भगवान् विष्णुद्वारा कहे गये मङ्गलमय स्वस्तिनाचन—स्वस्थयनको सुनिये । (विष्णुने जो स्वस्थयन-पाठ किया, वह इस प्रकार है—) रजोगुणसे सम्पन्न कमल्योनि ब्रह्मा तुम्हारा कल्याण करें । हाथमें चक्र धारण करनेवाले अज ना विष्णु तुम्हारा मङ्गल करें । पत्नीमन्त्रित वृषभध्वज शङ्कर प्रमपूर्वक तुम्हारा मङ्गल करें । मयूरवाहन ! अग्निदेव तुम्हारा कल्याण करें । सूर्य तुम्हारा मङ्गल करें, भौमसहित सोम तथा बुधसहित बृहस्पति तुम्हारा मङ्गल करें । शुक सदैव तुम्हारा मङ्गल करें तथा शनैश्चर तुम्हारा मङ्गल करें ॥ १४-१७ ॥

मरीचिरनि पुलह पुलस्त्य क्रतुर्वसिष्ठो भृगुरङ्गिराश्च ।

मृरुण्डुजस्ते कुरुता द्वि स्वस्ति स्वस्ति सदा सत महर्षयश्च ॥ १८ ॥

विद्वेश्विनौ साध्यमरुद्गणाम्नयो दिवाकरा शूलधरा महेश्वरा ।

यथा पिशाचा वसवोऽथ किन्नरास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सद्बोधतास्त्वमी ॥ १९ ॥

नाग सुपणा सरित सरासि तीर्थानि पुण्यायतना समुद्रा ।

महानला भूतगणा गणेन्द्रास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सदा समुद्यता ॥ २० ॥

स्वस्ति द्विपादिकेभ्यस्ते चतुष्पादेभ्य एव च । स्वस्ति ते बहुपादेभ्यस्वपादेभ्योऽप्यनामयम् ॥ २१ ॥

मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु, अङ्गिरा, मार्कण्डेय—ये ऋषि तुम्हारा मङ्गल करें । सप्तर्षिगण तुम्हारा सदा मङ्गल करें । विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, साय, मरुद्गण, अग्नि, सूर्य, शूलर, महेश्वर, यक्ष, पिशाच, रघु और किन्नर—ये सब तत्परतासे सदा तुम्हारा मङ्गल करें । नाग, पक्षी, नदियाँ, सरोवर, तीर्थ, पवित्र दवस्थान, समुद्र, महानलशाली भूतगण तथा विनायकगण सदा तपर होकर तुम्हारा मङ्गल करें । दो पैरवालों एवं चार पैरवालोंसे तुम्हारा मङ्गल हो । ऋतु पैरवालोंद्वारा तुम्हारा मङ्गल हो एवं विना पैरवालोंसे तुम्हारी स्वस्थता जनी रहे—तुम नीरोग बन रहो ॥ १८-२१ ॥

प्राचीं दिग् रक्षता घञी दक्षिणा दण्डनायक । पारी प्रतोचीं रक्षतु रक्षमाशु पातु चोत्तराम् ॥ २२ ॥

पद्भिर्दक्षिणपूर्वा च कुजेने दक्षिणापराम् । प्रताचीमुत्तप वायु पूर्वोत्तरामपि ॥ २३ ॥

उपरिष्ठाद् ध्रुव पातु अधस्ताच्च धरावर । मुसली लाङ्गली चनी धनुष्मानन्तरेषु च ॥ २४ ॥

पाराहोऽम्बुनिधौ पातु दुर्गे पातु नृकेसरी । सामवेदध्वनि धौमान् सर्वत पातु माधव ॥ २५ ॥

वज्र धारण करनेवाले (इन्द्र) पूर्व दिशाकी, दण्डनायक (यम) दक्षिण दिशाकी, पाराधारी (वरुण) पश्चिम दिशाकी तथा चन्द्रमा उत्तर दिशाकी रक्षा करें । अग्नि अग्नि (पूर्व-दक्षिण) कोणकी, कुवेर नैर्ऋत्य

शरसंभिन्नजुषुध भयात् तस्य महाजय । प्रणष्ट आश्रमात् नस्त्रात् स च मां पृथुनोऽन्वगात् ॥ ३९ ॥
 तुष्टप्रसुरनिर्घोषः शून्ये परमोऽसुर ।

निष्ठ निःश्रेणि यदस्तस्म्य शून्ये पृथत् । तद्भयादसि जर्धधि मन्मानो दक्षिणार्णवम् ॥ ४० ॥

पातालवेतुने कहा—**शैलेश्वर !** मैं गलबते आश्रममें गया था और उमको बलपूर्वक नष्ट करनेका उद्योग करने लगा । गजन् ' मैंने मूकके रूपमें जैसे ही उस आश्रममें प्रवेश किया, जैसे ही पत् नड़ी, किन्तु मनवने मेरे ऊपर बाण छोड़ दिया । गगने हँसगोत्रे दूट जानेका मैं उमके भयके कारण अश्रममें तुम्हें भाग । पर उमने मेरा पीछा किया । 'सुर' मेरे पीछेपीछे था रहे 'रुको रुको' कहनेवत्ने उम करके बड़ेरी श्रवका महान् शब्द सुनायी पड़ गया था, उमके भयने मैं जउनिगि दक्षिण समुद्रमें आ गया ॥ ३७-४० ॥

यावत्पश्यामि तत्रभ्यान् नानादेयाकृन्तान् नपान् । केचिद् गर्जन्ति ननयत् प्रणिगर्जन्ति चाररे ॥ ४१ ॥
 अन्ये चोच्चुर्यं नूनं निघ्नानो महिषासुरम् । तागर्धं धानयामोऽद्य घटन्यकथे सुतेजसः ॥ ४२ ॥
 तच्छ्रुत्वा सुतर्गं प्रासौ मम जातोऽसुरेश्वर । महाहर्षं पग्नित्यय पतिनोऽसि भयातुरः ॥ ४३ ॥
 धमण्यां धितुं गर्भं स मामन्वपनत् वन्दे । तद्भयात् समरित्यं व हिरण्यपुरमाजनः ॥ ४४ ॥
 तपान्तिकमनुयात प्रसादं कर्तुमर्हसि । तच्छ्रुत्वा चान्धको वाजः प्राद मेघध्वनं वन्दे ॥ ४५ ॥

वहाँ मैंने अनेक प्रकारके पहनावे तथा आकृतिवाते मनुष्योंको देखा । उनमें कुछ तो बड़लकी मौँति गर्जन कर रहे थे और कुछ दूसरे उमी प्रकारकी प्रतिपत्ति कर रहे थे । दूसरे कह रहे थे कि हम महिषासुरको निश्चय ही मार देंगे और अति तेजस्वी दूसरे लोग कह रहे थे कि आज हम तरकरो मारेंगे । अनुरेश्वर ! उसे सुनकर मुझे बहुत डर हो गया और मैं विगत समुद्रको छोड़कर भयभीत हो पृथ्वीके नीचे विस्तृत गड्ढे (सुरग)के रूपमें बने हुए गुप्त भागमें गया । तब भी उस बलशालीने मेरा पीछा किया । उसके डरसे मैं अपना हिरण्यपुर त्यागकर अपने नाम आ गया हूँ । आप मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये । यह वन सुनकर अन्धकने बड़लकी गर्जनप्रतिपत्ति यह वचन कहा—॥ ४१-४५ ॥

न मेतन्य त्वया तस्मात् स्वयं गोताऽसि दानव । महिषस्त्रारकधोभी वागश्च बलिनां यः ॥ ४६ ॥
 धानास्यायैव ते वागस्तन्धरं महिषाद्य । स्वपरिग्रहसंयुक्ता भूमि युञ्जाय निर्ययुः ॥ ४७ ॥
 यम ते द्राग्णाकारा गणाश्चतुर्मुखास्त्रनम् । तत्र दैव्या समाजग्मुः सायुजा सत्रला मुने ॥ ४८ ॥
 दैत्यानापततां दृष्ट्वा कर्तिकेयगास्ततः । धम्यद्रवन्त सहसा स घोषो मानृमण्डलः ॥ ४९ ॥

दानव ' तुम्हें उमने डरना नही चाहिये । मैं तुम्हारा मन्त्रा रक्षक हूँ । उमके बाद महिष और तरक—
 ये दोनों तथा उमनामों श्रेष्ठ बाण—ये सभी अस्त्ररूपे विना पृष्ठ ही अपने अनुगमियोंके साथ युद्ध करनेके लिये शूरीर निरुत्त आये । मुने ' विम स्थानपर भयकर आकाररूपे गग गर्जन कर रहे थे, उली स्थानपर हथियारोंसे मजेधने दलबलके साथ दैत्य भी आ गये । उनके बाद दैत्योंको आक्रमण करते हुए देखकर कर्तिकेयके गग तथा उम मानृकारण (उनपर) सरमा दूट पड़ी ॥ ४६-४९ ॥

तेषां पुरस्सर म्यागु प्रपृष्ट परिधं बली । निपूद्यत् परवलं कुञ्जो रद्रः पशुनि ॥ ५० ॥
 न निप्रन्नं महादेवं निरीक्ष्य कलशोदरः । कुटारं पणिनाशय हन्ति सर्वान् महासुपत्न ॥ ५१ ॥
 ज्वालामुक्तो भयकरः करेणाशय चासुरम् । सरयं सगजं सादवं विस्तृते यदनेऽसिपत्न ॥ ५२ ॥
 दण्डकश्चापि संकुन्द प्रासपाणिर्नवासुरम् । सवाहनं प्रतिपत्ति समुपादय मन्त्रनिवे ॥ ५३ ॥

शरसंभिद्रज्जुष्य भयात् तस्य महाजय । प्रणष्ट आश्रमात् तस्मान्म च मां पृथुतोऽन्वगात् ॥ ३९ ॥
 तुरङ्गपुरनिर्घोषः श्रूयते परमोऽसुर ।

तिष्ठ निष्ठेति वदतस्तन्मय शूरस्य प्रष्टन । तद्भयादसि जलधिं मग्नातो दक्षिणाणवम् ॥ ४० ॥

पातालकेतुने कहा—दैत्येश्वर ! मैं गालवके आश्रममें गया था और उमको बलपूर्वक नष्ट करनेका ठसोफ करने लगा । राजन् ! मैंने मूकने के रूपमें जैसे ही उम आश्रममें प्रवेश किया, मैंने ही पना नहीं, किम मानवने मेरे ऊपर बाण छोड़ दिया । बाणमें हँसनेके दृष्ट जानेपर मैं उमके भयके कारण अश्रममें तुरत भागा । पर उमने मेरा पीछा किया । 'सुर' मेरे पीछेपीछे आ रहे 'रुको रुको' कहनेवाले उम वीरके बोड़ेकी टापका महान् शब्द सुनायी पड़ रहा था । उमके भयमें मैं जलनिधि दक्षिण समुद्रमें आ गया ॥ ३७-४० ॥

यावत्पदयामि तत्रस्थान् मानानेपाकृतान् नरात् । केचिद् गर्जन्ति वनजम् प्रतिगर्जन्ति चापरे ॥ ४१ ॥
 अन्ये चोचुर्ययं नूनं निष्तामो महिषासुरम् । तान् दं घानयामोऽद्य वदन्त्यन्ये सुतेजसः ॥ ४२ ॥
 तच्छ्रुत्वा सुतरां प्रासो मम जातोऽसुरेदवर । महाहर्षं परित्यज्य पत्नितोऽसि भयातुरः ॥ ४३ ॥
 ध्रुण्यां विद्युतं गर्तं स मामन्यपतद् बली । तद्भयात् सम्परित्यज हिरण्यपुरमात्मनः ॥ ४४ ॥
 तथान्तिकमनुभातः प्रसादं कर्तुमर्हसि । तच्छ्रुत्वा चान्धको घोरः प्राह मेघस्वनं चन्द्रः ॥ ४५ ॥

हाँ मैंने अनेक प्रकारके पहनावे तथा आकृतियाले मनुष्योंको देखा । उनमें कुछ तो बादलकी भाँति गर्जन कर रहे थे और कुछ दूसरे उसी प्रकारकी प्रतिध्वनि कर रहे थे । दूसरे कह रहे थे कि हम महिषासुरको निश्चय ही मार डालेंगे और अनि तेजस्वी दूसरे लोग कह रहे थे कि आज हम तारकको मारेंगे । असुरेश्वर ! उसे सुनकर मुझे बहुत डर हो गया और मैं विगत समुद्रको छोड़कर भयभीत हो पृथ्वीके नीचे विस्तृत गड्ढे (सुरग) के रूपमें बने हुए गुप्त मार्गमें भागा । तब भी उस बलशालीने मेरा पीछा किया । उसके डरसे मैं अपना हिरण्यपुर त्यागकर आपने पास आ गया हूँ । आप मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये । यह बात सुनकर अन्धकने बादलकी गर्जनध्वनिमें यह वचन कहा—॥ ४१-४५ ॥

न भेतव्यं त्वया तस्मात् सत्यं गोप्ताऽस्मि दानव । महिषस्तारकश्चोभौ वाणश्च घलिनां वरः ॥ ४६ ॥
 अनारत्यायैव ते घोरारुच्यन्धरं महिषादयः । स्वपरिग्रहसंयुक्ता भूमिं युद्धाय निर्ययुः ॥ ४७ ॥
 यत्र ते दारणाकाटा गणाश्चक्रुर्महाखनम् । तत्र दैत्या समाजग्मुः सायुधा सयला मुने ॥ ४८ ॥
 दैत्यानापततो दृष्ट्वा कार्तिकेयगणास्ततः । अभ्यद्रवन्त सहसा स चोभो मातृमण्डलः ॥ ४९ ॥

दानव ! तुम्हें लमने डरना नहीं चाहिये । मैं तुम्हारा सच्चा रक्षक हूँ । उसके बाद महिष और तारक—
 ये दोनों तम प्रजानोंमें श्रेष्ठ बाण—ये सभी अग्निसे बिना पूछे ही अपने अनुष्मियोंके साथ युद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर निकल आये । मुने । जिम स्थानपर भयकर आकारवाले गण गर्जन कर रहे थे, उसी स्थानपर हथियारोंसे सजे-धजे दल-बलके साथ दैत्य भी आ गये । इसके बाद दैत्योंको आक्रमण करते हुए देवकर कार्तिकेयने गण तथा उग्र मातृकाणें (उनपर) सहसा दृष्ट पड़ी ॥ ४६-४९ ॥

तेषां पुरस्सर स्थाणु मृष्टा परिधं बली । निपूदयत् परबलं कुन्दो द्र पशुनिष ॥ ५० ॥
 नं निम्नन्तं महादेवं निरीक्ष्य बलशोदरः । तुभारं पाणिनादाय हन्ति सर्वान् महासुरान् ॥ ५१ ॥
 ज्जालासुरो भयम् करेणादाय चासुरम् । सरथं सगजं सादयं विस्तृते यदनेऽक्षिपत् ॥ ५२ ॥
 शण्डकश्चापि शंक्रुद्धः प्रासपाणिर्हासुरम् । सयाहनं प्रतिपत्ति समुपाटय महाहर्षे ॥ ५३ ॥

उनके पुरस्सर स्थाणु मृष्टा परिधं बली । निपूदयत् परबलं कुन्दो द्र पशुनिष ॥ ५० ॥
 नं निम्नन्तं महादेवं निरीक्ष्य बलशोदरः । तुभारं पाणिनादाय हन्ति सर्वान् महासुरान् ॥ ५१ ॥
 ज्जालासुरो भयम् करेणादाय चासुरम् । सरथं सगजं सादयं विस्तृते यदनेऽक्षिपत् ॥ ५२ ॥
 शण्डकश्चापि शंक्रुद्धः प्रासपाणिर्हासुरम् । सयाहनं प्रतिपत्ति समुपाटय महाहर्षे ॥ ५३ ॥

उद्दिष्टं विना तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।
यद् भवेत्प्राज्ञा तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।
यद् भवेत्प्राज्ञा तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।

वसन्तु मेलावनिर्मलं शान्तिना ते हंसवचनमुक्ता गणेश्वराः ।
समादायतानि पराशिता रसां स्तब्धं भयार्ताः शर्णां प्रपेक्षिरे ॥ ८२ ॥
भगवान् भगवान् योग्यं मण्डपगन्धर्वान् तारकं शान्तिनमारतन्तम् ।
हृद्यं शक्या हृद्यं विभेदं स भित्तमगां न्यपतद् पृथिव्याम् ॥ ८३ ॥
शान्तिवते ध्यातारि भक्तद्वेषो भयानुरोऽभून्महियो महर्षे ।
संशयस्य संशयशिरः दुःखमा जगाम जैलं स हिमान्मन्त्राण्यम् ॥ ८४ ॥
वालेऽपि शीरं निहंत्य तारकं मत्तं हिमाद्रिं महिरे भवार्त्तं ।
भयाद् विस्मयोममपां निधत्तं गणैर्वले वधयति स्वापराये ॥ ८५ ॥

उक्तं च तस्मात्प्राज्ञा तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।
यद् भवेत्प्राज्ञा तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।
यद् भवेत्प्राज्ञा तत्रैव कदाचिद् भवेत् । तस्मात्प्राज्ञा तस्मिन् लोक एव यद् भवेद्भक्तं सर्वत्रापि सतीत्येव च ।

हृद्यं हृद्यं गणेश्वरिणं तारकं प्रगृह्य शक्तिं महता जवेन ।
सयूरभारता शिवरुद्रमहिम्नं यथा निहन्तुं महिषानुराग्यम् ॥ ८६ ॥
स गृह्यतः प्रेरय शिवरुद्रकृतं समापतन्तं धरुक्तिपाणिनम् ।
हीनान्मुनयश्च हिमाचलं तथा कौञ्चं समभ्येत्य गुप्तं विवेश ॥ ८७ ॥
द्वेषं प्रपिष्टं स पिनाशिसुनुर्गुणोप यन्नाद् भगवान् गुह्योऽपि ।
सयूरभारता भविता कदां सारं संनिवृत्तयन्नेव ततः म्बितोऽभूत् ॥ ८८ ॥
गणेश्वरगणं गुणसम्भवस्तु हरो मुनिरिन्द्रोऽपि प्रथमः ।
भयंभयं चोत्सर्गिणं सजैलं भिन्द्यन् शक्यां कुरु देवकार्यम् ॥ ८९ ॥

तत् कार्तिकेयः प्रियमेव तथ्यं श्रुत्वा पचः प्राह सुपत्न विदस्य ।
 कथं हि मातामहन्पृक्तं वधे स्वधानरं भ्रातृसुतं च मातुः ॥ ९० ॥
 एषा श्रुतिश्चापि पुरातनी किल गायन्ति यां वेदविदो महर्षयः ।
 कृत्वा च यस्या मतमुत्तमायाः स्वर्गं व्रजन्ति त्यतिपापिनोऽपि ॥ ९१ ॥
 गां ब्राह्मणं वृद्धमयाप्तवाक्यं बालं स्ववधुं ललनामदुष्टाम् ।
 कृतापराधा अपि नैव घष्या आचार्यमुष्या गुरुचस्तथैव ॥ ९२ ॥
 पर्यं जानन् धर्ममध्यं सुरेन्द्रा नाहं हन्यां भ्रातरं मातुलेयम् ।
 यदा दैत्यो निर्गमिष्यद् गुहान्तः तदा शम्भ्या घातयिष्यामि शत्रुम् ॥ ९३ ॥

इस प्रिय-तथ्य वचनको सुनकर हँसते हुए कार्तिकेय देवनाओंसे बोले—मैं नानासे नाती, माताक
 भनीजे और अपने ममेरे भाईको कैसे मारूँ । (इस नियममें) यह (इनको न मारनेकी) प्राचीन श्रुति भी है, जिसे
 वेदज्ञाता महर्षिगण गाया करते हैं । (इसी प्रकार) गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, कर्षार्थवका, बालक, अपना सम्बन्धी,
 दोषरहित स्त्री तथा आचार्य आदि गुरुजन अपराध करनेपर भी अन्ध होते हैं । इस उक्तम श्रुतिके अनुसार
 आचरण करनेवाले महान् पापी भी स्वर्गलोभको जाते हैं । सुरश्रेष्ठो ! मैं इस श्रेष्ठ धर्मकी जानते हुए (ऐसी
 दशामें—गुहामें चित्री अश्रयामें) अपने भाईको नहीं मार सकूँगा । जब दैत्य गुहान्तें मीनरसे बाहर
 निकलेगा तब मैं शक्तिसे उस (देव-शत्रुका सहार करूँगा (तब हमें धर्मब्रथा नहीं होगी) ॥ ९०-९३ ॥

श्रुत्वा कुमारवचनं भगवान्महर्षे कृत्वा मतिं स्वहृदये गुहमाह शक्रः ।

मत्तो भवान् न मतिमान् पश्ये किमर्थं धाक्यं शृणुष्व हरिणा गदितं हि पूर्वम् ॥ ९४ ॥

नैकस्यायं घहन् हन्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः । एकं हन्याद् बहुभ्योऽर्थं न पापी तेन जायते ॥ ९५ ॥

पतच्छ्रुत्वा मया पूर्वं समयस्थेन चाग्निजः निहतो नमुचिः पूर्वं सोऽदोऽपि भगवानुजः ॥ ९६ ॥

तस्माद् यद्गनामर्थाय सक्रौञ्चं महिषासुरम् । घातयस्व पराक्रम्य शम्भ्या पावकदत्तया ॥ ९७ ॥

महर्षे ! कुमारका वचन सुननेके बाद इन्द्रने अपने हृदयमें विचारकर गुहसे कहा—आप मुझसे अधिक
 मतिमान् नहीं हैं । आप (ऐसा) क्यों बोल रहे हैं । पहले समयमें भगवान् श्रीब्रह्मी कही हुई बातको सुनिये । शास्त्रोंमें
 यह निश्चय किया गया है कि एक व्यक्तिकी रक्षाके लिये बहुतोंका सहार नहीं करना चाहिये । परतु बहुतोंके
 कल्याणके लिये एकका नर करनेमें मनुष्य पापी नहीं होता । अग्निपुत्र ! इस शास्त्रनिर्णयको सुनकर पहले समयमें
 मेने मेल रहनेपर भी अपने सहोदर श्रेष्ठे भाई नमुचिको मार दिया । अब बहुतोंके कल्याणके लिये तुम
 शौचसहित महिषासुरका सहार अग्निद्वारा दी हुई शक्तिसे बलपूर्वक कर डालो ॥ ९४-९७ ॥

पुरन्दरवचनं श्रुत्वा क्रोधादारकलोचनः । कुमारः प्राह वचनं कम्पमानः शतत्रुतम् ॥ ९८ ॥

मूढ किं ते चलं बालोः शारीरं चापि वृत्रहन् । येनाधिक्यपसे मां स्वं धुवं न मतिमानसि ॥ ९९ ॥

तमुवाच सहस्राक्षस्वसोऽहं बलवान् गुह । तं शुभः प्राह पशोहि युद्धयस्व बलवान् यदि ॥ १०० ॥

शक्रः प्राहाय बलवान् शयते कृत्तिकासुत । प्रदक्षिणं शीघ्रतरं यः कुर्यात् शौचमेव हि ॥ १०१ ॥

इन्द्रकी बान सुनकर कुमारकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयी । आवेशमें कँपते हुए कुमारने इन्द्रसे कहा—मूढ़ बृत्रह !
 तुम्हारी बाहुओं और शरीरमें कितनी शक्ति है, जिसके बलपर तुम मेरे ऊपर (मतिमन्द कष्टकर) अज्ञेय कर रहे हो ।
 तुम निश्चय ही बुद्धिमान् नहीं हो । हजार आँखोंवाले इन्द्रने उनसे कहा—गुह ! मैं तुमसे इच्छित ही हूँ ।

तत्र कार्त्तिकेयं विनये तस्यं सुखं च तत्र सुखं विदुः ।
कथं हि मत्तानन्दनन्दकं वरं सत्त्वतः सुखं च सुखं ॥ १० ॥
एषा ध्रुविश्यापि पुष्पलं हितं मन्त्रिणं च वेदितो नृपते ।
नृणां च यन्ना ननु सुखं नृणां भवति तत्रैव नृपते ॥ ११ ॥
एतद्गुरुः वृद्धनागवत्सलः सत्यं सत्त्वधुं त्वत्तान्मुमुक्षुम् ।
हृत्कारान् प्रीतिं चैव दत्त्वा नाचार्यमुखा गुरुष्वलयाव ॥ १२ ॥
एव जनद धर्मोत्सवं सुतेन्द्रा नाद हन्ना भ्रातरं मत्तुलेयम् ।
यदा दैव्यो निर्गमितश्च सुदाम्नि तदा शक्या वाक्पिपासि शशुम् ॥ १३ ॥

इमं विनयेन वचनयो सुन्दर ईदृशं ह्य कार्त्तिकेय दक्षयज्ञे वेदे— नाना नदी, सदा
भूमिं और यान मनो मर्त्तयो कर्म नन्ते । (इमं विनये) एव (इन्को न नारनेकी) प्राचीन कृति भी है, विते
कदम्बना मर्त्तिका यान नरत है इती प्रकार) वै ब्रह्मा, बृह्म परार्थवत्, ब्रह्म याना स्वकी,
दोषरहित की तथा अचय नहि सुदृशं अर्था करणेर भी अचय होते हैं । इत उत्तम कृतिके अनुसार
भावरण नरनका मडाग यथा ना बालकतो जात है । सुतेन्द्रो ! दे इत श्रेष्ठ धर्मको जानते हुए (देती
दशमं—गुणान् विना अवस्थाम) यान मर्त्तको नवी नर सङ्ग । जब दैव गुराके भीतरसे बाहर
निकलेने के न न शक्तिम यम (वच) शुकुना सशर कर्मण्य (तव हों धर्मवाधा नही होगी) ॥ १०—१३ ॥

ध्रुवा कुमारवचन भगवान्महर्षे हृत्वा मति स्वहृदये सुवमाह शक ।
मत्तो भवान् न मतिमान् यदसे किमर्थं धाक्य शृणुष्व हरिणा गदितं हि पूर्वम् ॥ १४ ॥
नैकशायं यह्य हन्यादिति शास्त्रेषु निश्चय । एक हन्याद् बहुभ्योऽप्येव पापी तेन जायते ॥ १५ ॥
पतच्छ्रुत्या मया पूर्वं समयस्थेन चाग्निज । निहतो नमुचि पूर्वं सोदरऽपि ममाजुषीः ॥ १६ ॥
नसाद् वहनामर्थाय समीञ्च महिषासुरम् । घातयस्व पराक्रम शक्या पावकदत्तया ॥ १७ ॥

महर्षि कुमारना वचन सुननेक बाद श्रुत्वा अपन हृदयमें निजका गुणसे कहा—आप मुझसे अधिक
मान नरत हैं । आप (पेमा) स्यो योल रहे है । पहले समयम भगवा श्रीविवा कडी है बाकको धुमिय । शाश्वती
नक्षय मया ग्य ह प्र एव यक्तिवा म्भास लिय बहुतेका क्षीर नदी काना बरषय गत बुद्धिके
न ह्य एवना य श्रमने मनुष्य पापी नही हाता अमुचि न मम को सुन्दर बुने म्भासे
एहनर भी अपन महान् यो नार नमुचिने म विप न न देव न देव न देव न देव
त महिषासुरका सहाय यमनद्र ग न देव गाकमे लूक न

यथ ध्रुवा काथादात्मनराचन कुमार शह उच्यते ॥ १८ ॥
न तल गाहा शारार चापि वृत्रहव यनाधिपतिम् ॥ १९ ॥
सहस्रा त्स्वच्छाऽह यन्मान् गृह नगुडं गह वपुः ॥ २० ॥
गाहाय यन्नाम वायत कान्तकामुत शक्तिम् ॥ २१ ॥
मी वान सुनय कुमार ॥ २२ ॥
ने अप श्रीम ॥ २३ ॥
। बुद्धिमान नही है ॥ २४ ॥

तद् कार्तिकेयः प्रियमेव तथ्यं श्रुत्या वचः प्राह सुपान् विहस्य ।
 कथं हि मातामहन्पृष्टं यद्ये स्वभ्रातरं भ्रातृसुतं च मातुः ॥ १० ॥
 एषा श्रुतिश्चापि पुरातनी किल गायन्ति यां वेदविदो महर्षयः ।
 कृत्या च यस्या मतमुत्तमायाः स्वर्गे प्रजन्ति स्वतिपापिनोऽपि ॥ ११ ॥
 गां ब्राह्मणं वृद्धमथाप्तवान्म्यं यालं स्वयन्पुं ललनामदुष्टाम् ।
 कृतापराधा अपि नैव यस्या आचार्यमुख्या गुरवस्तथैव ॥ १२ ॥
 पर्यं जानन् धर्ममर्थ्यं सुरेन्द्रा नादं हन्यां भ्रातरं मातुलेयम् ।
 यदा दैत्यो निर्गमिष्यद् गुहान्तः तदा शक्त्या घातयिष्यामि शत्रुम् ॥ १३ ॥

इस प्रिय-तथ्य वचनको सुनकर हँसते हुए कार्तिकेय देवताओंसे बोले—मैं नानाके, नानी, माताके भतीजे और अपने गमेरे भाईको कैसे मारूँ ? (इस प्रियमें) यह (इनको न मारनेकी) प्राचीन श्रुति भी है, जिसे वेदज्ञाना महर्षिगण गाया करते हैं । (इसी प्रकार) गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, यथार्थवक्ता, बालक, अपना सम्बन्धी, दोरहित स्त्री तथा आचार्य आदि गुरुजन अपराध करनेपर भी अपत्य होते हैं । इस उत्तम श्रुतिके अनुसार आचरण करनेवाले महान् पापी भी स्वर्गलोभको जाते हैं । सुरश्रेष्ठो ! मैं इस श्रेष्ठ धर्मको जानते हुए (ऐसी दशमों—गुणमों शिष्टी अस्वामों) अपने भाईको नहीं मार सकूँगा । जब दैत्य गुहाके भीतरसे बाहर निकलेगा तब मैं शक्तिसे उस (देव-शत्रु)ना संहार करूँगा (तब हमें धर्मशान्ता नहीं होगी) ॥ १०-१३ ॥

श्रुत्या कुमारवचनं भगवान्महर्षे कृत्या मतिं स्वहृदये गुहमाह शक्रः ।

मत्तो भवान् न मतिमान् यदसे किमर्थं वाक्यं शृणुष्य हरिणा गदितं हि पूर्वम् ॥ १४ ॥

नैकस्यायं बहून् हन्यादिति शारंगेषु निश्चयः । एकं हन्याद् बहुभ्योऽप्येन पापी तेन ज्ञायते ॥ १५ ॥

पतच्छ्रुत्या मया पूर्वं समयस्थेन चाग्निज्ज । निहतो नमुचिः पूर्वं सोद्वेदोऽपि ममानुजः ॥ १६ ॥

तस्माद् बहूनामर्थाय नम्रौञ्चं महिषासुरम् । घातयस्व पराक्रम्य शक्त्या पावकदत्तया ॥ १७ ॥

महर्षे ! कुमारका वचन सुननेके बाद इन्द्रने अपने हृदयमें विचारपर गुहसे कहा—आप मुझसे अधिक मतिमान् नहीं हैं । आप (ऐसा) क्यों बोल रहे हैं । पहले समयमें भगवान् श्रीइषिकी कही हुई बातको सुनिये । शारंगोंमें यह निश्चय किया गया है कि एक व्यक्तिकी रक्षाके लिये बहुतेका संहार नहीं करना चाहिये । परंतु बहुतेके बन्ध्यागण लिये एकका वध करनेसे मनुष्य पापी नहीं होता । अग्निपुत्र ! इस शास्त्रनिर्णयको सुनकर पहले समयमें मैंने मेले रहनेपर भी अपने सहोदर छोटे भाई नमुचिको मार दिया । अतः बहुतेके कल्याणके लिये तुम शौचसहित महिषासुरका संहार अग्निद्वारा दी हुई शक्तिसे बलपूर्वक कर डालो ॥ १४-१७ ॥

पुरन्दरपचः श्रुत्या क्रोधादारकलोचनः । कुमारः प्राह वचनं कम्पमानः शतक्रतुम् ॥ १८ ॥

मूढ किं ते यलं यादोः शारंगं चापि वृथहन् । येनाधिशिष्यसे मां त्वं ध्रुवं न मतिमानसि ॥ १९ ॥

तमुवाच सहस्राक्षस्यचोऽहं बलवान् गुह । तं गुहः प्राह पशोदि युद्धयस्व बलवान् यदि ॥ २० ॥

शक्रः प्राहाय बलवान् शायते कृत्तिकासुत । प्रदक्षिणं शोभनरं यः पुर्यात् प्रौञ्जमेव हि ॥ २१ ॥

इन्द्रकी वान सुनकर कुमारकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं । आवेशमें कौंपते हुए कुमारने इन्द्रसे कहा—मूढ़ वृत्रारि ! तुम्हारी बाहुओं और शरीरमें कितनी शक्ति है, जिसके बलपर तुम मेरे ऊपर (मतिमन्द कहकर) आक्षेप कर रहे हो । तुम निश्चय ही बुद्धिमान् नहीं हो । हजार आँखोंवाले इन्द्रने उनसे कहा—गुह ! मैं तुमसे शक्तिशाली हूँ ।

गर्म निःचास छोड़ा । वह सर्वथा अनुपम था । उसके बाद आकाशसे एक सुन्दर घोड़ा गिरा और अशरीरिणी वाणी—आकाशावाणी हुई कि यह बलवान् अथवा एक दिनमें हजारों योजन जा सकता है । शत्रुसे सजे हुए उस राजा श्रुतध्वजको वह घोड़ा सौंपकर वे महर्षि (पुनः) तपस्या करने लगे । उसके बाद राजपुत्रने दैत्यके पास जाकर उसे बाणमे घायल कर दिया ॥ ५-८ ॥

भारद उवाच

केनाम्बरत्तलाद् वाजी निष्पद्ये घट सुमत । धाक् कस्याऽदेहिनी जाता परं कौतूहलं मम ॥ ९ ॥
भारदने कहा (पुनः पूछा)—सुवन ! आप यह बतलायें कि किसने आकाशसे इस अशरीरिणी गिराया था एवं आकाशावाणी किमकी थी ? (इस नियममें) मुझे बड़ी उत्सुकता है ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वामसुर्नाम महेन्द्रगतयतो गन्धर्वराजो बलवान् यशस्वी ।
निष्पद्यवान् भूयस्ये तुष्टं श्रुतध्वजस्यैव सुतार्थमाशु ॥ १० ॥
पुलस्त्यजी बोले—महेन्द्रका गुणगान करनेवाले ब्रह्माष्टी विश्वामसु नामके यशस्वी गन्धर्वराजने अपनी पुत्रीके लिये श्रुतध्वजके हेतु उस समय अजको पृथ्वीपर गिराया था ॥ १० ॥

भारद उवाच

कोऽर्थो गन्धर्वराजस्य येनाप्रैर्योमहाह्वरम् । राजः कुचलयाध्वस्य कोऽर्थो नृपसुतस्य च ॥ ११ ॥
भारदने कहा (फिर पूछा)—महान् वेगवाली इस अश्वको भेजनेमें गन्धर्वराजका क्या उद्देश्य था तथा राजपुत्र राजा कुचलयाध्वका इसमें क्या लाभ था ? (कृपया इसे भी बतलायें ।) ॥ ११ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वामसोः शीलगुणोपपन्ना धार्सीपुत्रं धीषु वरा त्रिलोके ।
लावण्यपाशिः शशिसान्वितुल्या मशालसा नाम मशालसैव ॥ १२ ॥
तां नन्दने देवर्षिपुस्तस्वी संकोडतां रूपवतीं ददतां ।
पातालकेतुस्तु जहार तन्वीं तस्यायतः सोऽध्ववरः मत्तः ॥ १३ ॥
इत्वा च दैत्यं नृपतेस्तनूजो लब्ध्वा वषेरूमपि संस्थितोऽभूत् ।
दृष्टो यथा देवपतिर्महेन्द्रः शच्या तथा राजसुतो मृगादया ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विश्वामसुकी मदसे अलमायीसी मशालसा नामकी एक (भोजीवाली) कन्या थी । वह शील और गुणसे सम्पन्न, त्रिलोककी विद्वानें उचन, सुन्दरताकी खानि और चन्द्रमाकी कान्तिके समान (कोमलकिरती) थी । नन्दननमें क्रीडा कर रही उस सौन्दर्यशालिनीको देवताओंके मनु पाताउनेतुने देखा और तुलत उसे उठा ले गया । उसीके कारण वह श्रेष्ठ घोड़ा दिया गया था । दैत्यको मारनेके बाद श्रेष्ठ ऊरुवाली भीको पाकर राजपुत्र निश्चित हो गये । राजपुत्र (उस) मृगवन्तीके साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे शचीके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ १२-१४ ॥

भारद उवाच

एवं निरस्ते मक्षिणे तारके च महासुरे । दिरण्याशसुतो धीमात्र किमचेष्टत वै पुनः ॥ १५ ॥
भारदने पुनः पूछा—इस प्रकार मशान् असुर तारक और मक्षिणके निरस्त—सगाप्त हो जानेपर दिरन्डके बुद्धिमान् पुत्र- (अन्धकार) ने पुनः क्या किया ? ॥ १५ ॥

द्वैतेय ! बाह्यमयी गौपर प्रमत्त सेनाको देखकर गधिराजने समस्त जगत्के त्रिये कल्याणकारी, सत्य एवं उचित जो श्लोक कहा है क्या उसे आपने नहीं सुना है ! (उन्होंने कहा है—) प्राणोंका छोड़ देना अच्छा है, परंतु चुगुलबोरोंकी व्रतमें दिलचस्पी लेना उचित नहीं । मौन रहना अच्छा है, किंतु अस्तव्य बोधना ठीक नहीं । नर्पुंसक होकर रहना ठीक है, परंतु परखीमन उचित नहीं । भोग मॉगना अच्छा है, किंतु बार-बार दूसरेके धनका उपयोग करना उचित नहीं । प्रह्लादका वचन सुननेके बाद काम-पीड़ित अन्धक क्रोधसे अथा होकर 'यह वही शत्रुकी जननी है'—यह कहते हुए दौड़ पड़ा । उसके बाद दूसरे और दानव भी यन्त्रसे छूटे हुए पत्थरकी शेलीके समान उसके पीछे दौड़ चले । परंतु अव्यय मन्टोने हाथमें वज्र उठाकर बलपूर्वक उन सबको रोक दिया ॥ २८-३१ ॥

मयतारपुरोगास्ते चारिणा द्राघितास्तस्याः कुलिशोनाहतास्त्रुर्णं जग्मुर्भौता विशो दश ॥ ३२ ॥

तानर्दितान् रणे दृष्ट्वा नन्दिनाऽन्धकदानवः परिषेण समाहृत्य पातयामास नन्दिनम् ॥ ३३ ॥

शैलादि पतितं दृष्ट्वा धायमानं तथान्धकम् । शतरूपाऽभवद् गौरी भयात् तस्य दुरात्मनः ॥ ३४ ॥

ततः स देवोंगणमध्यस्थितः परिभ्रमन् भाति महाऽसुरेन्द्रः ।

यथा वने मत्तकरी परिभ्रमन् करेणुमध्ये मदलोलदृष्टिः ॥ ३५ ॥

वज्रकी मारसे रोक दिये गये और भगाये जाते हुए वे मय एवं तारक आदि सभी दैत्य डरकर दसों दिशाओंमें भाग गये । सामानमें अन्धकासुरने उन सभीको नन्दीद्वारा पीड़ित देखकर नन्दीको परिषे मारकर गिरा दिया । नन्दीको गिरा हुआ और अन्धकको दाइकर आते हुए देखकर गौरी उस दुष्टमात्रके भयसे सैकड़ों रूपवाली हो गयी । उसके बाद देवियोंके बीच घूमता हुआ (वह) दैत्य ऐसा लग रहा था जैसा कि वनमें हथिनियोंके बीच घूमता हुआ मदसे चञ्चल दृष्टिवाला मतवाला हाथी सुशोभित होता है ॥ ३२-३५ ॥

न परिभ्रान्वास्त्रन का तु सा गिरिफन्यका । नात्राश्रयं न पश्यन्ति चत्वारोऽपि सदैव हि ॥ ३६ ॥

न पश्यतीह जात्यन्धो रागाण्धोऽपि न पश्यति ।

न पश्यति मद्रोन्मत्तो लोभाक्रान्तो न पश्यति । सोऽपश्यमानो गिरिजां पश्यन्नपि तदान्धकः ॥ ३७ ॥

प्रहारं नाद्रद्त् तासां युवत्य इति चिन्तयन् । ततो देव्या स दुष्टात्मा शतायुर्या निराकृतः ॥ ३८ ॥

कुट्टितः प्रवरैः शस्त्रैर्नैपपात महानले । वीक्ष्यानन्धकं निपतितं शतरूपा विभाचरी ॥ ३९ ॥

तस्मात् स्थानादपाकस्य गनाऽन्तर्धानमन्त्रिका । पतितं चान्धकं दृष्ट्वा दैत्यदानवयूथपाः ॥ ४० ॥

कुर्वन्तः सुमहाशम्भं प्रादघन्त रणार्थिनः । तेषामापततां शब्दं श्रुत्वा तस्यै गणेश्वरः ॥ ४१ ॥

(पर) वह नहीं समझ रहा था कि उनमें वे गिरिनन्दिनी कौन हैं ? इसमें (उसके न सापशनेमें) कोई आश्रय नहीं है; क्योंकि सप्तारमें ये चार प्रकारके यक्ति सदा ही (ठीक-ठीक) नहीं देख पते । जन्मना अन्ध नदी देवता, प्रेममें अन्ध हुआ नहीं देखता, मद्रोन्मत्त नहीं देखना एव लोभसे पराभूत भी नहीं देखना है । अतः अन्धक उस समय देखते हुए भी गिरिजाको नहीं देख पा रहा था । उस दानवने उन सभीको युवती समझकर उनपर आघात नहीं किया, किन्तु तो शतायुरीदेवोने (ही) उस दुष्टमात्र पर आघात कर दिया । उच्छ्रित कोष्ठिके शस्त्रोंसे विचरत वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । अन्धकको गिरा हुआ देखकर शतरूपवाली विभाचरी अस्त्रियुक्त उस स्थानसे हटकर अन्तर्हित हो गयी । अन्धकको गिरा हुआ देख दैत्यों एवं दानवोंके सेनापति युद्धके त्रिये लड़कारते हुए दौड़ पड़े । आक्रमण करनेवाले उन-दैत्यों-के शब्दको सुनकर गणेश्वर खड़े हो गये ॥ ३६-४१ ॥

करनेके त्रिये निश्चय किया । उन व्यापक शक्तिमें मनुजका निर्गम करनेके बाद अश्विनको धर्म धारण करना और वे शैठ आदि- (नदी) को उनकी रक्षाके लिये नियुक्त कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे । उन्होंने मन्त्रोंके तन्त्रानुसार महामुद्रा पढ़न ली । मन्त्रानांकि कुण्डल एव कमलमें महाशङ्करा नीकेतु परग नर ली ॥ २-५ ॥

कपालं दक्षिणे हस्ते सत्ये गृह्य नमस्कृत्यम् । एनाहवाली वृत्ते हि शैठमानुनशीपत्रम् ॥ ६ ॥
 स्थानं त्रैलोक्यमास्थय मूलाहागेऽप्युभोजनः । वाय्वाहात्मना तप्ये नमस्यदानं क्रमात् ॥ ७ ॥
 ततो घांटां मुने त्रिप्य निरुच्छ्रयालोऽभयम् यतिः । निरुत्ते हिमरगृष्टे रम्ये समशिश्रुते ॥ ८ ॥
 ततो घांटा निदायैव कपालं परमेष्ठिनः । सार्धिभक्त्या जयमप्यान्तिरणा धरणीतले ॥ ९ ॥

दाहिने हाथमें कपाल एव बायें हाथमें कण्डक लेकर वे वृत्तोंके नीचे (नदी) पडे रहते, कभी पडाईकी चौष्टियोंपर तथा नदियोंके तटपर चकर लगते रहते । प्रथम (आरम्भमें) मूद्रा-पठ कर फिर जप पीनर, उसने बाद वायु पीनर (यम-नियन्त्र) जप पठन करनेवाले उन्होंने नमस्स तीनों लेशोंमें नौ सौ वर्ष की व्यतीत किये । उसके बाद उन्होंने दिनालयके ऊपर लगीयतमा सनक परनीय चशमर असल बना दिया और अपने मुखमें काष्ठकी कनी गुन्डी डालकर स्वाम सेतु किया—कुम्भक प्राणायाम कर दिया । उसने बाद शक्तिके जगत्को पराङ्कन व्याग्रमयी यह गुन्डी (उनकी) जगत्के बीचसे निकलकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६-९ ॥

घांटया तु पतन्त्याऽद्विद्वारितः क्ष्मासमोऽभयत् । जातलतीर्थपरः पुष्यः केदार इति विभुनः ॥ १० ॥
 ततो ह्ये वरं प्रादात् केदारय वृषभ्यजः । पुत्रवृद्धिकरं ब्रह्म पापघ्नं मोक्षसाधनम् ॥ ११ ॥
 ये जलं तानके तीर्थे पीया संयमिनो मयाः । मनुमांसनिवृत्त्या ये ब्रह्मचाप्तिने स्त्रियाः ॥ १२ ॥
 पानासाद् धारयिष्यन्ति निवृत्त्याः परपात्रतः । तेषां ह्यपद्रवेष्वेव मल्लिङ्गं भविता ध्रुवम् ॥ १३ ॥

उस गुन्डीके गिरनेसे परत दूट-कूटकर पृथ्वीके समान (समतल) हो गया और वहाँ केदार नामक प्रसिद्ध तीर्थ बन गया । ब्रह्मन् ! उसके बाद वृषभच महादेवने केदारको पुत्रकी वृद्धि करनेवाले एवं पात्रके विनाश करनेवाले और मोक्षके साधनका ग दिया तथा यह भी वर दिन कि जो मयनी मनुष्य पराङ्गभोजनको त्यागकर तथा नमस्सकृत धारणकर तुम्हारा जप पीने हर यहाँ उ म्हीनेकर निवृत्त करेंगे उनके हृदयकमलमें निश्चय ही मेरे छिद्रकी सत्ता प्राप्त प्रकट होगी ॥ १०-१३ ॥

न चाम्य पापाभित्तिर्भविष्यति कदाचन । पितृणामक्षयं श्राद्धं भविष्यति न संशयः ॥ १४ ॥
 स्नानदानतपांसीह होमजप्यादिना । त्रिषाः । भविष्यन्त्यजया नृणां मृतानामपुनर्भयः ॥ १५ ॥
 पतद् वरं ह्यपत् तीर्थे प्राप्य पुष्यानि देवताः । पुनाति पुंसां केदारस्त्रिनेत्रचरने यथा ॥ १६ ॥
 केदाराय वरं दत्त्वा जगाम त्रिगतो हरः । स्नातुं भानुसुनां देवीं सन्निधिं पावनानिर्गताम् ॥ १७ ॥

उन्हें कभी पापमें अमिहृत्ति नहीं होगी तथा उनसे किया गया विगमोका श्रद्ध अक्षय होग—इसमें कोई संदेह नहीं है । मनुष्योंद्वारा यहाँ की गयी स्नान, दान, तपस्या, देन एवं जप आदिकी छियाई अक्षय होगी तथा इस स्थानपर मनुष्योंके मरनेपर उनका पुनर्जन्म नहीं होगा । महादेवने इस प्रकारका वर पात्र पर केदारतीर्थ लियेन मन्त्रिके वचनके अनुकूल प्राणियोंको पतिर एव देना तैसा पोरग करने लगे । केदारतीर्थको वर देकर महादेव पावनानिर्गता रविनका देवी कालिन्दी (यमुना) में स्नान करनेके लिये शीघ्र चले गये ॥ १४-१७ ॥

तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा जगामाय सख्यतीम् । वृतां तीर्थानैः पुष्यैः प्लज्जां पावनानिर्गताम् ॥ १८ ॥
 अचनीर्णस्तान् ज्ञातुं निमग्नश्च महाभक्तिः । द्रुपदां न

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! मुर असुरके विनाशकी कथा बहुत है, यह पापका विनाश करनेवागी और पवित्रकारीणी है; मैं उसे कहूँगा; तुम सुनो । दत्तकी कोखमें कश्यपका औरस पुत्र मुर उपन्य हुआ । उसने श्रेष्ठ देवोंद्वारा संग्राममें दैत्योंको पराजित देया । उसके बाद मृत्युसे भयभीत होकर उसने बहुत वरोंकर तपस्या करने हुए व्यापक अजेय ब्रह्माकी आराधना की । उसके बाद उसके ऊपर सतृप्त होकर रहाने लगा—वस ! तू माँगो । उस दैत्यने विनामहसे यह श्रेष्ठ वर माँगा—॥ २९-३२ ॥

यं यं करतलेनाहं स्पृशेयं समरे विभो । स समद्रस्तसंस्पृष्टस्त्वमरोऽपि मरुततः ॥ ३३ ॥
वाढमित्याह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । ततोऽन्यानामहतेजा मुरः सुरगिर्गि यत्नी ॥ ३४ ॥
समेत्याह्वयते देवं यंक्षं किन्नरमेव या । न कश्चिद् युयुधे तेन स्वमं दैत्येन नारद ॥ ३५ ॥
ततोऽमरावर्णा मुद्भः स गत्या शक्रमाह्वयत् । न चास्य सह योद्धुं वै मनि चक्रे पुंरुदरः ॥ ३६ ॥

विभो ! युद्धमें मैं जिसे हाथसे छू दूँ वह मेरे हाथसे छूते ही अमर (देवता) होनेपर भी मृत्युको प्राप्त हो जाय । लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने कहा—बहुत ठीक; ऐसा ही होगा । उमक बाद महानेवकी वरञ्जागी मुर देवगिर्गि-पर जा पहुँचा । [पुलस्त्यजी कहते हैं कि] नारदजी ! वहाँ पहुँचकर उसने देवता, यक्ष, किन्नर आदिनो युद्धके त्रिये लड़कारा, किंतु किन्तीने भी उसका साथ युद्ध नहीं किया । उसका बाद क्रुद होकर वह अमरावर्णीकी ओर चला गया और इन्द्रकी सभाम करनेके त्रिये लड़कारने लगा । किंतु इन्द्रने भी उसके साथ युद्ध करनेका निचार नहीं किया ॥ ३३-३६ ॥

ततः स करमुद्यम्य प्रविशेदामरावतीम् । प्रविशन्ते न तं कश्चिन्निवारयितुमुन्सहत् ॥ ३७ ॥
स गत्या शक्रसदनं प्रोवाचेन्द्रं मुरस्तद्रा । देहि सुद्धं सहस्राभ नो चेत् स्वर्गं परित्यज ॥ ३८ ॥
इत्येवमुक्तो मुरुणा ब्रह्मन् हरिह्वयस्तदा । स्वर्गराज्यं परित्यज्य भूचरः समजायत ॥ ३९ ॥
ततो गजेन्द्रकुलिशी हृत्वा शक्रस्य शयुणा । समलभो महातेजा सह दैवैः सुतेन च ॥ ४० ॥
कालिन्द्या दक्षिणे कूले निवेश्य स्वपुरं स्थितः । मुद्यथापि महाभोगान् युयुजे स्वर्गसंस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके बाद हाथ उठाये हुए उसने अमरावतीमें प्रवेश किया । परतु किन्तीने भी प्रवेश करते हुए उसको रोक्नेका साहस नहीं किया । उसके बाद इन्द्रके भवनमें जाकर मुरने इन्द्रसे कहा—सहस्राभ ! मुझसे मगान करो, अन्यथा स्वर्गमें छोड़ दो । शयन ! मुझे इस प्रकार कहनेपर इन्द्र (युद्ध न कर) स्वर्गका राज्य छोड़कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे । उसके बाद (उस) शकुने इन्द्रके गजराज (ऐरावत) आर वक्रको छीन लिया । महातेजकी इन्द्र अपनी पत्नी, पुत्र और देवताओंके साथ कालिन्दीके दक्षिण तटपर अपना नगर बसाकर रहने लगे और मुर स्वर्गमें रहते हुए महान् भोगोंका उपभोग करने लगा ॥ ३७-४१ ॥

शानवाध्यापरे रौद्रा मयतारपुुरोगमाः । मृत्मासाय मोदन्ते स्वर्गे सुहृत्तितो यया ॥ ४२ ॥
स कदाचिन्महीपृष्ठं समायातो महासुरः । पराको बुञ्जराकृदः सरयूं निम्नगां प्रति ॥ ४३ ॥
स सरथ्यास्तटे घोरं राजानं सूर्यवंशजम् । दृढशो रघुनामानं दीक्षितं यमकर्मणि ॥ ४४ ॥
तमुपेत्यात्रावोद् दैत्यो युद्धं मे दीयतामिति । नो चेन्नियन्तां यनो नेष्ट्या देवतास्त्वया ॥ ४५ ॥

मय और तारक आदि दूसरे भयङ्कर दानव भी मुझे निरुद्ध पहुँचकर स्वर्गमें पुण्यात्माओंके समान आनन्द-प्रमोद करने लगे । वह महान् असुर किसी समय पृथ्वीपर आया और अकेला ही हाथीपर चढ़कर सरयू नदीके तटपर उपस्थित हुआ । उसने सरयूके किनारे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए एव यमकर्ममें दीक्षित रघु नामके पुत्रको

दैत्वोंमें श्रेष्ठ मुने यमराजसे कहा—यम ! नद कहाँ रहता है, जिसे कठिणतासे जीता जा सकता है ? उसका समयन करनेके लिये मैं तैयार होकर वहाँ स्थ जाऊँगा । यमराजने उससे कहा—तुम क्षीरसागरमें जाओ । वहाँ लोकायामी जग्गमूर्ति भगवान् विष्णु रहते हैं । मुने उनकी बात सुनकर कहा—मरान ! मैं कदावक पास जा रहा हूँ, परंतु तुम तत्रक मनुष्योंका नियमन मत करना । उम (मुर-) ने कहा—तुम जाओ । तत्रक मैं तुम्हारे नियामकनो जैसे भी हो जीतनेका प्रयत्न करूँगा । उसके बाद तुम पुन रुक करना । इतना कहकर मुर या मुर दैत्व क्षीरसागरमें जा पहुँचा । वहाँ (जाकर उसने देखा कि) चतुर्भुजांगरी जनार्दन अनन्त नागकी शय्यापर (पड़े हुए) हैं ॥ ५८-६२ ॥

नारद उवाच

चतुर्भुक्तिः कथं विष्णुरेक एव निगद्यते । सर्वगतवात् कथमपि अव्यक्तवाच तद्वद ॥ ६३ ॥
नारदजीने पूछा—आप (वृषया) यह बतलायें कि विष्णु एक होनेपर भी चतुर्भुक्ति क्यों मड़े जाते हैं । क्या सर्वगत एव अव्यक्त होनेके कारण तो नहीं कहा जाता ! (आप) उसे कहें ॥ ६३ ॥

पुलस्त्य उवाच

अव्यक्तः सर्वगोऽपीह एक एव महासुने । चतुर्भुक्तिर्जगन्नाथो यथा ब्रह्मस्तथा शृणु ॥ ६४ ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं शुक्लं शान्तं परं पदम् । वासुदेवव्यमव्यक्तं स्मृतं द्वादशपत्रकम् ॥ ६५ ॥
पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! अव्यक्त एव सर्वव्यापी होनेपर भी वे एक ही हैं । जिस कारणसे जगन्नाथ चतुर्भुक्ति कहे जाते हैं, उसे बताना हूँ, सुनो । वासुदेव नामक श्रेष्ठ पद (तर्क या अनुमानद्वारा अज्ञेय) एव निर्देश किये जानेमें अशक्य, शुक्ल (शुद्ध), शान्तियुक्त, अव्यक्त (अप्रकट) एव द्वादशपत्रक (३० नमो भगवते वासुदेवाय—) द्वादशाक्षर मन्त्रवाला) कहा गया है ॥ ६४-६५ ॥

नारद उवाच

कथं शुकं कथं शान्तमप्रतर्क्यमनिन्दितम् । फान्यस्य द्वादशैवोक्ता पत्रका तानि मे वद ॥ ६६ ॥
नारदजीने पुनः पूछा—जिस प्रकार वे शुक्ल, शान्त, अप्रतर्क्य एव अनिन्दित हैं ! मुझे बतलाइये कि उनके कथित द्वादशपत्रक कौन हैं ॥ ६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व गुरुं परमं परमेष्ठिप्रभाषितम् । श्रुतं सनत्कुमारेण तेनाख्यातं च तन्मम ॥ ६७ ॥
पुलस्त्यजी बोले—प्रितामह ब्रह्मने जिस परम गुण वचनको कहा है, उसे सुनिये । सनत्कुमारने उसे सुनाया और उन्होंने मुझसे कहा था ॥ ६७ ॥

नारद उवाच

कोऽयं सनत्कुमारेति यत्योक्तं ब्रह्मणा स्वयम् । तवापि तेन गदितं वद मामनुपूर्वशः ॥ ६८ ॥
नारदजीने फिर कहा—इस विषयमें स्वयं ब्रह्मने जिनसे कहा है, वे सनत्कुमार कौन हैं ? और उन्होंने भी आपसे जो कहा है उसे क्रमशः मुझसे कहें ॥ ६८ ॥

पुलस्त्य उवाच

धर्मस्य भार्याहिंसाप्या तस्यां पुत्रचतुष्टयम् । संजातं मुनिशार्दूल योगशास्त्रविचारकम् ॥ ६९ ॥
ज्येष्ठः सनत्कुमारेऽभूद् द्वितीयश्च सनातनः । तृतीयः सनको नाम चतुर्थश्च सनन्दन ॥ ७० ॥
सांख्यवेत्तारम्परं कपिलं वोढुमामुरिम । द्रष्टा पञ्चशिरसं श्रेष्ठं योगयुक्तं ॥ ७१ ॥

यदा तु लोकविद्विष्टं दुष्टं कर्म करिष्यति । प्रैलोक्ष्यजननीं चापि धमिवाञ्छिउष्यतेऽधमः ॥१०॥
घातयिष्यति वा विषं यदा प्रक्षिप्य चासुरान् । तदास्य स्वयमेवाहं करिष्ये कायशोधनम् ॥११॥
एवमुक्त्वा गतः शम्भुः स्वस्थानं मन्दराचलम् । त्वत्पिताऽपि समभ्यागात् स्वामादाय रस्तानलम् ॥१२॥
पतेन कारणेनाभ्या शैलेषु भविता तव । सर्वस्वापाहं जगतो गुरुः शम्भुः पिता ध्रुवम् ॥१३॥

(किंतु) यह अधम जब सत्सारेके विरोधमें गुरा कर्म करेगा तथा प्रैलोक्ष्य-जननीको चाह करेगा अथवा असुरोंको भेजकर जब यह विप्रोंका वर करायेंगा, तब मैं स्वयं इसके शरीरकी शुद्धि करूँगा । ऐसा कहकर शम्भु अपने स्थान मन्दराचलपर चले गये और तुम्हारे पिता तुमको लेकर रस्तानलमें चले आये । इसी कारण शैलपुत्री तुम्हारी माता एवं समस्त जगत्के गुरु शम्भु निश्चय ही तुम्हारे पिता हैं ॥ १०-१३ ॥

भवानपि तपोयुक्तः शास्त्रवेत्ता गुणाद्भुतः । नेदशे पापसंकल्पे मतिं कुर्याद् भवद्विधः ॥ १४ ॥
प्रैलोक्ष्यप्रभुरव्यक्तो भवः सर्वैर्नमस्कृतः । अजेयस्तस्य भार्येयं न त्वमहोऽमरादंन ॥ १५ ॥
न चापि शक्तः प्राप्तुं तां भवाञ्छौलनृपात्मजाम् । अजित्वा सगणं रुद्रं स च कामोऽथ दुर्लभः ॥ १६ ॥
यस्तरेत् सागरं दोर्भ्यां पानयेद् भुवि भास्करम् । मेरुमुपाटयेद् यापि स जयेच्छूलपालिनम् ॥ १७ ॥

आप भी तपस्या करनेवाले एवं शास्त्रके ज्ञाता तथा अनेक अलौकिक गुणोंसे भूषित हो । अतः आप-जैसे पुरुषको इस प्रकारके पाप करनेमें मानसिक निश्चय भी नहीं करना चाहिये । देवनाथोंको कष्ट देनेवाले, तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले और सबसे बन्दित अव्यक्त भगवान् शङ्कर (सर्वथा) अजेय हैं । उमकी ये भार्या हैं । तुम न तो इनके योग्य हो और न समर्थ ही । गणोंके सहित शङ्करको बिना जीते तुम उन पर्वतराजकी कन्याको प्राप्त करना चाहते हो, सो तो यह मनोरथ पूरा होना कठिन है । शूलराजि शङ्करको बंधी जीत सकता है, जो अपनी मुञ्जाओंसे समुद्रको पार कर जाय अथवा मूर्धको पृथ्वीपर गिरा दे या मेरु-पर्वतको उखाड़ दे ॥ १४-१७ ॥

उताहोस्विदिमाः शक्याः क्रियाः कर्तुं नरैर्यत्नात् । न च शक्यो हरो जेतुं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ १८ ॥
किं त्वया न ध्रुवं दैत्य यथा दण्डो महोपनिः । परशोक्तामवान् मूढः सपाशे नाशमाप्तवान् ॥ १९ ॥
आसीद् दण्डो नाम नृपः प्रभूतबलवाहनः । स च यत्रे महातेजाः पौरोहित्याय भार्गवम् ॥ २० ॥
इंजे च विविधैर्यज्ञैर्नृपतिः शुक्रपालितः । शुक्रस्यालोष दुहित्वा अरजा नाम नामनः ॥ २१ ॥

उपर्युक्त सभी कार्य भले ही मनुष्य बलसे कर ले, किंतु शङ्कर नहीं जीते जा सकते; यह मैंने सच-सच कह दिया है । दैत्य ! क्या तुमने यह नहीं सुना है कि परश्वीकी अभिलाषा करनेवाला दण्ड नामका मूर्ख राजा अपने राष्ट्रके साथ विनष्ट हो गया । (सुनीं, प्राचीन कालमें) प्रचुर सेना एवं वाहनोंसे भरा-पूरा दण्ड नामका एक राजा था । उस महातेजस्वीने पुरोहितके स्थानपर शुक्राचार्यको वृत्त किया था । शुक्राचार्यके निर्देशनमें उस राजाने भौति-भौतिके यज्ञोंका अनुष्ठान किया । शुक्राचार्यकी अरजा नामकी एक कन्या थी ॥ १८-२१ ॥

शुक्रः कदाचिदगमद् वृषपक्षिणमासुरम् । तेनार्वितश्चिरं तत्र तस्यौ भार्गवसत्तमः ॥ २२ ॥
अरजा मयूहे यद्वि शुभ्रपत्नीं महासुरम् । अतिष्ठत सुचार्येणो ततोऽभ्यागमराधिरः ॥ २३ ॥
स पमच्छ क्व शुकेति तमूचुः परिचारिकाः । गतः स भगवान् शुक्रो यात्रनाय दनोः सुतम् ॥ २४ ॥
पमच्छ नृपतिः का तु तिष्ठते भार्गवाभ्रमे । तास्तमूचुर्गुरोः पुत्री संतिष्ठत्यरजा शृप ॥ २५ ॥

किसी समय शुक्राचार्य वृषपर्वा नामके असुरके पास गये हुए थे । भार्गव वंशमें श्रेष्ठ वे (शुक्र) उससे पूजित—संस्कृत होकर बहुत समयतक वहीं रुके रह गये । महासुर ! सुन्दरी अरजा अपने घरमें अग्निकी सेवा—हवनदि कार्य करती हुई रह गयी थी । इतनेमें एक दिन राजा दण्ड वहाँ पहुँच गया । उसने पूछा—शुक्राचार्य कहाँ हैं ? घरकी सेविकाओंने उससे कहा—वे भगवान् शुक्र दनुनन्दन-(वृषपर्वा-)के यहाँ यज्ञ कराने गये हैं । राजाने पूछा—शुक्राचार्यके आश्रममें (यह) कौन स्त्री रह रही है ? उन लोगोंने उत्तर दिया—राजन् ! (यह) गुरुजीकी कन्या अरजा है ॥ २२-२५ ॥

तामाश्रमे शुक्रसुतां द्रष्टुमिच्छाकुनन्दनः । प्रविशेश महाबाहुर्ददर्शारजसं ततः ॥ २६ ॥
तां दृष्ट्वा कामसंतप्तस्तक्षणादेव पार्थिवः । संजातोऽन्धक दण्डस्तु कृतान्तबलचोदितः ॥ २७ ॥
ततो विसर्जयामास भृत्यान् भ्रातृन् सुहृत्तमान् । शुक्रशिष्यान्पि बली एकाकी नृप आव्रजत् ॥ २८ ॥
तमागतं शुक्रसुता प्रत्युत्थाय यशस्विनी । पूजयामास संदृष्ट्वा भ्रातृभावेन दानव ॥ २९ ॥

महाबाहु इच्छाकुनन्दन (दण्ड) शुक्राचार्यकी उस कन्याको देखनेके लिये आश्रममें प्रविष्ट हुआ और उसने अरजाको देखा । अन्धक ! कालबलसे प्रेरित होकर राजा उसे देखकर तत्काल ही कामसे पीड़ित हो गया । उसके बाद बलवान् राजाने भृत्यों, भाइयों, वनिष्ठ मित्रों एवं शुक्राचार्यके शिष्योंको भी (वहाँसे) हटा दिया और (वहाँ) अकेला आ गया । शुक्राचार्यकी यशस्विनी कन्याने आये हुए उस राजाका भ्रातृभावेसे प्रसन्नतापूर्वक स्वागत-सस्कार किया ॥ २६-२९ ॥

ततस्तामाह नृपतिर्बाले कामाग्नितपितम् । मां समाह्लादयस्वाद्य खपरिष्वङ्गवारिणा ॥ ३० ॥
साऽपि प्राह नृपश्रेष्ठ मा विनीनश आतुरः । पिता मम महाक्रोधोत्तु ज्जिदशानपि निर्दहेत् ॥ ३१ ॥
मूढबुद्धे भवान् भ्राता ममासि त्वनयाप्लुतः । भगिनी धर्मतस्तेऽहं भवाञ्छिष्यः पितुर्मम ॥ ३२ ॥
सोऽब्रवीद् भीरु मां शुक्रः कालेन परिधक्ष्यति । कामाग्निर्निर्दहेति मामद्यैव तनुमध्यमे ॥ ३३ ॥

उसके बाद राजाने उससे पूछा—बाले ! मैं कामाग्निसे संतप्त हूँ । आज तुम अपने आलिङ्गनरूपी जलसे मुझे आनन्दित करो । वह (अरजा) बोली—नरपतिप्रवर ! (कामसे) अधीर होकर अपनेको विनष्ट मत करो । मेरे पिता अपने महान् क्रोधसे देवताओंको भी भस्म कर सकते हैं । मूढ-बुद्ध ! तुम मेरे भाई हो । परंतु अनीतिसे ओतप्रोत हो गये हो । मैं धर्मसे तुम्हारी बहन हूँ; क्योंकि तुम मेरे पिताके शिष्य हो । उस (दण्डक) ने कहा—भीरु ! शुक्र (भविष्यमें) किसी समय मुझे जला देंगे; परंतु कुशोदरि ! कामकी आग तो मुझे आज ही (अभी) जलाये जा रही है ॥ ३०-३३ ॥

सा प्राह दण्डं नृपतिं सुहृत् परिपालय । तमेव याचस्व गुहं स ते दास्यत्यसंशयम् ॥ ३४ ॥
दण्डोऽब्रवीत् सुतन्याङ्गि कालक्षेपो न मे क्षमः । च्युतावसरकर्तृत्वे विध्नो जायेत सुन्दरि ॥ ३५ ॥
ततोऽब्रवीच्च विरजा नाहं त्वां पार्थिवात्मज । दातुं शक्ता स्वमात्मानं स्वतन्त्रा न हि योषितः ॥ ३६ ॥
किं वा ते बहुनोक्तेन मा त्वं नाशं नराधिप । गच्छस्व शुक्रशापेन सभृत्यज्ञातिवान्धवः ॥ ३७ ॥

उस- (अरजा-)ने राजा दण्डसे कहा—राजन् ! एक क्षण प्रतीक्षा करो । तुम उन गुरुसे ही याचना करो । वे तुम्हें निःसन्देह मुझको दे देंगे । दण्डने कहा—सुन्दरि ! मैं समयकी प्रतीक्षा करनेमें असमर्थ हूँ । बहुधा अवसर चूक जानपर कार्यमें विघ्न हो जाया करता है । उसके बाद अरजाने कहा—राजपुत्र ! मैं स्वयं अपनेको तुम्हें अर्पित करनेमें समर्थ नहीं हूँ; क्योंकि स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होतीं । अथवा नरपते ! तुमसे अधिक कहनेसे

क्या (लाम), (वम में इतना ही रुझती हूँ कि इस असत् प्रस्तावक कारण—) तुम शुकाचार्यक शरणसे
भय, जाति और बन्धुओंके साथ अपना विनाश मत करा ॥ ३४-३७ ॥

ततोऽप्रवीन्नरपति सुतनु शृणु वेष्टितम् । चित्राङ्गदाया यद् वृत्तं पुरा देवयुगे नुमे ॥ ३८ ॥
विश्वकर्मसुता साध्वी नाम्ना चित्राङ्गदाऽभवत् । रूपयौवनसम्पन्ना पद्मार्हतेव पथिनी ॥ ३९ ॥
सा कदाचिन्महारण्य सप्तोभि परिवारिता । जगाम नैमिष नाम स्नातु कमललोचना ॥ ४० ॥
सा स्नातुमघनीर्णा च अथाभ्यागन्तेश्वर ।

सुदेवतनयो धीमान् सुरयो नाम नामन । ता ददर्श च तन्वयज्ञौ नुभाङ्गो मदनानुर ॥ ४१ ॥

उसके बाद राजान कहा—सुन्दरि । प्राचीन कालमें—एक दिन देवयुगमें घटित चित्राङ्गदाका एक वृत्तान्त
सुनो । विश्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामकी एक साध्वी कन्या थी । वह रूप और यौवनसे सम्पन्न मानो कमलसे रहित
कमलिनी थी । जन्मज समान नश्रोंवाली यह किसी समय अपनी सखियोंसे विरि हृष्ट—सखियोंके साथ नैमिष
नामके महारण्यमें स्नान करनेके लिये गयी । वह स्नान करनेके लिये जलमें जैसे ही उतरी, वैसे ही सुदेवक
पुत्र बुद्धिमान् राजा सुरथ वहाँ पहुँचे । उन्होंने उस कृशाङ्गीको देखा । सुन्दर शरीरवाले वे उसे देखकर
कामातुर हो गये ॥ ३८-४१ ॥

न दृष्ट्वा सा सर्वापह वचन सत्यसयुतम् । असौ नराधिपसुतो मद्नेन कदृष्यते ॥ ४२ ॥
मदं च नाम मऽस्य स्वप्रदानं सुररूपिण । सख्यस्नानमुच्यन् बालान प्रगल्भाऽसि सुन्दरि ॥ ४३ ॥
अस्वातन्त्र्यं तयास्तीह प्रदाने स्वात्मनोऽनघे । पिता तयास्ति धर्मिष्ठ सर्वशिल्पविशारद ॥ ४४ ॥
न ते युक्तमिहात्मानं दातुं नरपते स्वयम् । पतसिन्नन्तरे राजा सुरथ सत्यवाक् सुधी ॥ ४५ ॥
समभ्येत्याऽप्रवीन्देना कन्दर्पशरपोडित । त्व मुग्धे मोहयसि मा दृष्यैव मदिरेक्षणे ॥ ४६ ॥

उनको देखकर उस (चित्राङ्गदा) ने अपनी सखियोंसे सत्य (ठिपारहित) वचन कहा—यह राजपुत्र
मेरे ही लिये नामकीड़ित होकर क्या पा रहा है । अत मुझे यह उचित (प्रतीत होता) है कि इस सौन्दर्यशाली
अक्तिना मैं अपनेको समर्पित कर दूँ । उसको 'बाला' सहेत्रियों उससे कहा कि सुन्दरि ! तुम सपानी (बध्न्या)
नहीं हो । निष्पाप प्राणिक स्वयंसे दान करनेमें तुम्हें स्वतन्त्रता नहीं है, तुम्हारे पिता परम धर्मिष्ठ हैं और
सभी शिल्पकर्मोंमें परम निपुण हैं, वसलिये यहाँ तुम्हें अपनेको राजाके लिये (दान) दे दना ठीक नहीं है । इसी
बीच कामवाग्ने में पाड़ित सययत्ता बुद्धिमान् सुरथने उसका पास आकर कहा—मुग्धे ! मदिरेभगे ! तुम अपनी
दृष्टिसे ही मुझ माहित कर रही हो ॥ ४२-४६ ॥

त्वद्दृष्टिशरणपतेन स्मरेणाभ्येय ताडित । तन्मा बुचतले तत्प अभिशायितुमर्हसि ॥ ४७ ॥
नोचेत् प्रथक्षयते कामो भूयो भूयोऽतिदर्शनात् । तत सा चारुसर्वाङ्गी रामो राजीवलोचना ॥ ४८ ॥
वार्थमाणा सखीभिस्तु प्रादादात्मानमात्मना । पत्रं पुरा तथा तन्व्या पत्रिञ्चाल स भूपति ॥ ४९ ॥
तस्मान्नामपि सुश्रोणि त्वं परित्रातुमर्हसि । अरजस्काऽप्रवीद् दण्डं तस्या यद् वृत्तमुच्यते ॥ ५० ॥
किं त्वया न परिहात तस्मात् ते कथयाम्यहम् । तदा तथा तु तन्वयज्ञया सुरथस्य महीपते ॥ ५१ ॥
आत्मा प्रदत्त स्वातन्त्र्यात् ततस्तामशपत् पिता । यस्माद् धर्मं परित्यज्य खीभावान्मन्दवेनसे ॥ ५२ ॥
आत्मा प्रदत्तस्तस्माद्दि न विवाहो भविष्यति । विवाहरहिता नैव सुखं लप्स्यसि भर्तृ ॥ ५३ ॥

राजदेवने उपस्थित होकर तुम्हारी दृष्टिरूपी बाणसे मुझे धायकर दिया है । इसलिये तुम मुझे अपने
बुचनलम्बी शय्यापर सुनानेकी शोभा हो । ऐसा न करनेपर तार-तार तुम्हारे देवनेसे ना नाम मुझे जला ही डालेगा ।

तथाऽन्या गुह्यकसुता नन्दयन्तीति विश्रुता ।

अञ्जनस्यैव तत्रापि समेष्यन्ति तपस्विना । तथाऽपरा वेदवती पर्जन्यदुहिता शुभा ॥ ८० ॥

यदा तिलः समेष्यन्ति सप्तगोदावरे जले । हाटकस्थे महादेवे तदा संयोगमेष्यसि ॥ ८१ ॥

इत्येवमुक्त्वा मुनिना बाल चित्राङ्गदा तदा । सप्तगोदावरं तीर्थमगमत् त्वरिता ततः ॥ ८२ ॥

सम्प्राप्य तत्र देवेशं पूजयन्ती त्रिलोचनम् । समध्यास्ते शुचिपरा फलमूलाशनाऽभवत् ॥ ८३ ॥

स त्रिपिण्डानसम्पन्नः श्रीकण्ठायतनेऽलिखत् । श्लोकमेकं महाख्यानं तस्याश्च प्रियकाम्यया ॥ ८४ ॥

न सोऽस्ति कश्चित् त्रिदशोऽसुरो वा यक्षोऽथ मत्स्यो रजनीचरो वा ।

इदं हि दुःखं मृगशावनेऽन्या निर्मार्जयेद् यः स्वपराक्रमेण ॥ ८५ ॥

इत्येवमुक्त्वा स मुनिर्जगाम द्रष्टुं विभुं पुष्करनाथमीड्यम् ।

नदीं पयोष्णीं मुनिवृन्दवन्द्यां संचिन्तयन्नेव विशालनेत्राम् ॥ ८६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिपिण्डितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इसके सिवाय वहीपर अञ्जन नामक गुह्यककी प्रसिद्ध नन्दयन्ती नामकी तपस्विनी पुत्री तथा वेदवती नामक पर्जन्यकी कल्याणमयी पुत्री भी आयेगी । जब वे तीनों हाटकेश्वर महादेवके पास सप्तगोदावरमें आयेंगी उस समय तुम उनसे मिलोगी । मुनिके इस प्रकार कहनेपर बाल चित्राङ्गदा वहाँसे शीघ्र सप्तगोदावर नामके तीर्थमें गयी । वहाँ जानेके बाद वह देवाधिदेव त्रिलोचनकी पूजा तथा फल-मूलका भक्षण करती हुई पवित्रता-पूर्वक रहने लगी और उन ज्ञानसम्पन्न ऋषिने उसकी हित-कामनासे प्रेरित होकर श्रीकण्ठके मन्दिरमें महान् आख्यानसे युक्त एक श्लोक लिखा—‘ऐसा कोई देवता, असुर, यक्ष, मनुष्य या राक्षस नहीं है, जो अपने पराक्रमसे इस मृगनयनीका दुःख दूर कर सके । इस प्रकार श्लोक कहने-(लिखने-)के बाद उस विशालाक्षीके धियममें सोच-विचार करते हुए वे मुनि पूज्य विभु पुष्करनाथका दर्शन करनेके लिये मुनिवृन्दसे वन्ध पयोष्णी नदीतः तटपर चले गये ॥ ८०-८६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

—६३—

[अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः]

दण्ड उवाच

चित्राङ्गदायास्त्वयंजे तत्र सत्या यथासुखम् । स्मरन्त्याः सुरथं वीरं महान् कालः समभ्यगात् ॥ १ ॥

विश्वकर्माऽपि मुनिना शान्तं धानरतां गतः । न्यपतन्मेरुशिखराद् भूपृष्ठं विधिचोदितः ॥ २ ॥

वनं घोरं सुयुत्माह्वयं नदीं शालकिनीमनु । शाल्वेयं पर्वतश्रेष्ठं समावसति सुन्दरि ॥ ३ ॥

तत्रासताऽस्य सुचिरं फलमूल्यान्यथादनतः । फालोऽत्यगाद् वरारोहे बहुवर्षगणो वने ॥ ४ ॥

चौसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चित्राङ्गदा-सन्दर्भ, विश्वकर्माका बन्दर होना, वैदपती आदिका उपाख्यान, जाबालिका वन्दन-मोचन)

दण्डने कहा—अरे ! वहाँ वीर सुरथका स्मरण करते हुए आनन्दपूर्वक चित्राङ्गदाका लंबा समय व्यतीत हो गया । मुनिद्वारा स्थापित ही जानेके कारण विश्वकर्मा भी बन्दर हो गये । होनहारवश वे मेरुकी ऊँची शिखर पर पहुँच गये । सुन्दरि । (पार) ने शालकिनी नदीके निकट घने झुरमुटोंसे भरे भयङ्कर पर्वतश्रेष्ठ शाल्वेयपर रहने लगे । वरारोहे । उस वनमें फल-मूल खाकर रहते हुए उनके बहुत

एकदा दैत्यराजैः कन्दराख्यः सुतां प्रियाम् । प्रतिश्रुत् समभ्यागात् क्यातां देववतीमिति ॥ ५ ॥
 नां च तद् वनमायान्तां समं पित्रा घराननाम् । ददर्श वानरश्रेष्ठः प्रजप्राह यत्नात् करे ॥ ६ ॥
 ततो गृहीतां कपिना स दैत्यः स्वसुतां शुभे । कन्दरो वीक्ष्य संवृद्धः खड्गमुद्यम्य चाद्रवत् ॥ ७ ॥
 तमापतन्तं दैत्येन्द्रं दृष्ट्वा शाखासृगो वली । तथैव सह चार्वङ्गया दिमाचलमुपागतः ॥ ८ ॥

एक समय कन्दर नामका दैत्य वीर 'देववती' नामसे प्रसिद्ध अपनी प्रिय पुत्रीको साथ लेकर वहाँ आया । उसके बाद पित्तके साथ वनमें आ रही उस सुन्दरीको उस वानरश्रेष्ठने देखा, (उसने) बलपूर्वक उसका हाथ पकड़ लिया । शुभे ! दैत्य कन्दर अपनी कन्याको बन्दरसे पकड़ी गयी देवकन अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और तलवार उठाकर दौड़ पड़ा । बलशाली बन्दर (अपने पीछे) उस दैत्येन्द्रको आते देखकर उस सुन्दरी कन्याको साथ लिये हिमालयपर चला गया ॥ ५-८ ॥

ददर्श च महादेवं श्रीकण्ठं यमुनातटे । तस्याद्विदूरे गहनमाश्रमं ऋषिवर्जितम् ॥ ९ ॥
 तस्मिन् महाश्रमे पुण्ये स्थाय देववतीं कपिः । न्यमञ्जत स कालिन्ध्यां पश्यतो दानवस्य हि ॥ १० ॥
 सोऽजानत् तां मृतां पुत्रीं समं शाखासृगेण हि । जगाम च महातेजाः पातालं निलयं निजम् ॥ ११ ॥
 स चापि वानरो देव्या कालिन्ध्या वेगतो हृतः । नीतः शिवाति विषयातं देशं शुभजनाद्युतम् ॥ १२ ॥

उसने यमुनाके तटपर महादेव श्रीकण्ठका दर्शन किया । (उसने) उससे थोड़ी दूरपर ऋषियोंसे रहित एक दुर्गम आश्रम भी देखा । उस पवित्र महाश्रममें देववतीको रखकर वह बन्दर दैत्य कन्दरके देवने-देवने कालिन्दी- (के जल-) में डूब गया । उस कन्दरने बन्दरके साथ पुत्रीको (डूबकर) मरी हुई समझ लिया । अतः (निराश होकर) वह महातेजस्वी पातालमें स्थित अपने वरमें चला गया और वेगपूर्वक उस बन्दरको भी देवी कालिन्दी भी शुभजनोसे व्याप्त शिवि नामसे प्रसिद्ध स्थानमें बहाकर ले गयी ॥ ९-१२ ॥

ततस्तूर्वाऽथ वेगेन स कपिः पर्यन्तं प्रति । गन्तुकामो महातेजा यत्र न्यस्ता सुलोचना ॥ १३ ॥
 अथापश्यत् समायान्तमञ्जनं गुह्यकोत्तमम् । नन्दयन्त्या समं पुत्र्या गत्वा जिगमिषुः कपिः ॥ १४ ॥
 तां दृष्ट्वाऽमन्यत श्रीमान् सेयं देववती ध्रुवम् । तन्मे वृथा ध्रुवो जातो जलमञ्जनसम्भवः ॥ १५ ॥
 इति संचिन्तयन्नेव समाद्रवत सुन्दरीम् । सा तद्गयाच्च न्यपतप्रार्थी चैव हिरण्यतीम् ॥ १६ ॥

उसके बाद महातेजस्वी उस बन्दरने तेजीसे तैरकर उसे पार करके बाद उस पर्यन्तपर जानेकी इच्छा की, जहाँ वह सुनयना रखी गयी थी । उसके बाद उसने नन्दयती नामकी पुत्रीके साथ आते हुए श्रेष्ठ गुणक अञ्जनको देखा । जानकी इच्छा करनेवाला वह बन्दर (उमक) निकट गया । उसे देवकन श्रीमान् कपिने सोचा कि सचमुच यह वही देववती है । अतः जलमें डूबनेका मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया । इस प्रकार सोचता हुआ वह बन्दर उस सुन्दरीकी ओर दीड़ा । उसके भयसे वह कन्या हिरण्यती नदीमें कूद पड़ी ॥ १३-१६ ॥

गुह्यको वीक्ष्य तनयां पतितामरगाजले । दुःखशोकसमाकान्तो जगामाञ्जनपर्यन्तम् ॥ १७ ॥
 तत्रासी तप आस्थाय मौनघतधरः शुचिः । समास्ते वै महातेजाः संवन्मरणान् वहन् ॥ १८ ॥
 नन्दयन्त्यपि वेगेन हिरण्यव्याऽपवाहिता । नीता देशं महापुण्यं कौशलं साधुभिर्युतम् ॥ १९ ॥
 गच्छन्तो सा च रुदती दृढो यटपादपम् । प्ररोहमावृततनुं जटारुनिवेश्वरम् ॥ २० ॥

कन्याको नदीके जलमें कूदती हुई देवकन गुह्यक दुःख और शोकसे विद्वल होना हुआ अञ्जन पर्यन्तपर चला गया । वह महातेजस्वी वहाँ पवित्रतापूर्वक मौनव्रत धारण करके बहुत वर्षोंतक तप करता रहा । हिरण्यती भी (जटारुके) वेगसे नन्दयतीको भी बहा ले गयी और सञ्जनोंसे सेवित्र महापवित्र कौशल देशमें बने पर्वत

नदीके भीषण प्रवाहसे मैं इस निर्जन देशमें आ गयी हूँ । जाबालिने उसकी कही हुई बातको सुनकर कहा—
सुन्दरि ! तुम यमुनाके किनारे श्रीकण्ठके पास जाओ । वहाँ मेरे पिताजी मध्याह्नमें शिवजीकी पूजा करनेके लिये
आते हैं । तुम वहाँ जाकर उनको अपना समाचार सुनाओ । इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ४५-४८ ॥

ततस्तु त्वरिता काले नन्दयन्ती तपोनिधिम् । परित्राणार्थमगमद्विमाद्रेर्यमुनां नदीम् ॥ ४९ ॥
सा त्वदीर्घेण कालेन कन्दमूलफलाशना । सम्प्राप्ता शङ्करस्थानं यत्रागच्छति तापसः ॥ ५० ॥
ततः सा देवदेवेशं श्रीकण्ठं लोकचन्द्रितम् । प्रतिबन्ध ततोऽपश्यदक्षरांस्तान्महामुने ॥ ५१ ॥
तेषामर्थं हि विज्ञाय सा तदा चारुहासिनी । तज्जावाल्युदितं श्लोकमलिखच्चान्यमात्मनः ॥ ५२ ॥

उसके बाद नन्दयन्ती अपनी रक्षाके लिये शीघ्रतापूर्वक हिमाचलसे चल पड़ी और यमुनाके तीरपर स्थित
तपोनिधि-(ऋतव्यज-) के पास पहुँच गयी । कन्द-मूल-फल खाती हुई वह कुछ ही समयमें शङ्करके (भी)
उस स्थानपर पहुँची जहाँ तपस्वी आया करते थे । महामुने ! उसके बाद उसने विश्वचन्द्रित देवाधिदेव श्रीकण्ठकी
पूजाकर उन (लिखे) अक्षरोंको देखा । उनका अर्थ जानकर मधुर मुस्कान करती हुई उसने जाबालिद्वारा कथित
श्लोक तथा अपना एक अन्य श्लोक लिखा—॥ ४९-५२ ॥

मुद्गलेनासि गदिता राजपत्नी भविष्यति । सा चावस्थामिमां प्राप्ता कश्चिन्मां त्रातुमीश्वरः ॥ ५३ ॥
इत्युल्लिख्य शिलापट्टे गता स्नानुं यमस्वसाम् । दृदशे चाश्रमवरं मत्तकोकिलनादितम् ॥ ५४ ॥
ततोऽमन्यत सात्रर्पिर्नूनं तिष्ठति सत्तमः । इत्येवं चिन्तयन्ती सा सम्प्रविष्टा महाश्रमम् ॥ ५५ ॥
ततो दृदर्श देवाभां स्थितां देववतीं शुभाम् । संशुष्कास्यां चलन्नेत्रां परिम्लानामिवाब्जिनीम् ॥ ५६ ॥

‘महर्षि मुद्गलने कहा था कि मैं राजपत्नी होऊँगी, किंतु मैं इस अवस्थामें आ गयी हूँ । क्या कोई मेरा
उद्धार करनेमें समर्थ है ?’ शिलापट्टपर यह लिखकर वह स्नान करनेके लिये यमुनाके किनारे चली गयी और उस
स्थानपर मनवाली कोकिलोंके खरों (काकद्दी)से निनादित एक सुन्दर आश्रम देखा । उसने सोचा—इस स्थानपर
श्रेष्ठ ऋषि अवश्य रहने होंगे । ऐसा सोचती हुई उस महान् आश्रममें प्रविष्ट हुई । उसके बाद उसने दैवी
शोभासे युक्त, मुर्झायी हुई कमलिनीके समान मूखे मुख एवं चञ्चल नेत्रोंवाली देववतीको वहाँ बैठी हुई देखा
॥ ५३-५६ ॥

सा चापतन्ती दृदशे यक्षजां दैत्यनन्दिनी । केयमिरयेव संचिन्त्य समुत्थाय स्थिताभवत् ॥ ५७ ॥
ततोऽन्योन्यं समालिङ्ग्य गाढं गाढं सुहृत्तया । पप्रच्छतुस्तथान्योऽन्यं कथयामासतुस्तदा ॥ ५८ ॥
ते परिज्ञानतत्त्वार्थं अन्योन्यं ललनोत्तमे । समासीने कथाभिस्ते नानारूपाभिरादरात् ॥ ५९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः श्रीकण्ठं स्नानुमादरात् । स तत्त्वज्ञो मुनिश्रेष्ठो अक्षराण्यवलोकयन् ॥ ६० ॥

देववतीने यक्षपुत्रीको आती हुई देखा और यह कौन है—ऐसा विचारकर वह उठ खड़ी हुई । उसके बाद
सखीभावसे उन दोनोंने आपसमें गाढ आलिङ्गन किया—वे एक दूसरेके गले लगीं तथा परस्पर पूछ-ताछ और
बातचीत करने लगीं । वे दोनों उत्तम ललनाएँ एक दूसरीकी सब्धी घटनाओंको जानकर बैठ गयीं एवं आदरपूर्वक
अनेक प्रकारकी कथाएँ कहने लगीं । इसी बीच वे तत्त्वज्ञाता मुनिश्रेष्ठ श्रीकण्ठके निकट स्नान करनेके लिये आये
और उन्होंने परस्पर लिखे हुए अक्षरोंको देखा ॥ ५७-६० ॥

स हृष्टा वाचयित्वा च तमर्थमधिगम्य च । मुहुर्ते ध्यानमाभ्यास्य व्यजानाच्च तपोनिधिः ॥ ६१ ॥
 ततः सम्पूज्य देवेशं त्वरया स भ्रूतव्यजः । अयोध्यामगमत् त्रिभुवद्रुमिद्व्याकुमोभ्वरम् ॥ ६२ ॥
 तं हृष्टा नृपतिश्रेष्ठं तापसो वाचयमज्जयात् । श्रूयतां नरशार्दूल विद्वत्तिर्मम पार्थिव ॥ ६३ ॥
 मम पुत्रो गुणैर्युक्तः सर्वशास्त्रविशारदः । उद्यद्दः कपिना राजन् विगचान्ते तवैरहि ॥ ६४ ॥

उन्हें देव और पदकर तथा उनका अर्थ समझकर वे तपोनिधि एक क्षणमें ध्यान लयकर (सब कुछ टीन-टीक) जान गये । उनके बाद महर्षि ऋतव्यज शीघ्रतासे देवेशरकी पूजाकर राजा इक्ष्वाकुम दर्शन करनेके लिये तुरंत ही अयोध्या चले गये । श्रेष्ठ नरपतिका दर्शन करके तबही ऋतव्यजने कहा—नरशार्दूल ! राजन् ! मेरी निवृत्ति (वाचिका) सुनिये । राजन् ! आपके ही राक्षसी सीतलमें एक बन्दरने सर्वशास्त्रों निपुण, अच्छे गुणोंसे युक्त मेरे पुत्रको बाँध रखा है ॥ ६१-६४ ॥

तं हि मोचयितुं नान्यः शकस्त्वत्तनयादते । शकुनिर्नाम राजेन्द्र स ह्यखविधियारगः ॥ ६५ ॥
 तन्मुनेर्वाचयमाकुर्ये पिता मम कशोदरि । आदिदेश नियं पुत्रं शकुनिं तापसान्वये ॥ ६६ ॥
 ततः स प्रहितः पित्रा भ्राता मम महाभुजः । सम्प्राप्तो बन्धनोद्देशं समं हि परमर्षिणा ॥ ६७ ॥
 हृष्टा न्यमोधमत्युच्चं प्ररोहास्त्वनदिङ्मुखम् । ददर्श वृक्षशिखरे उद्यद्दमृषिपुत्रकम् ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र ! अब-सिगमें पाएकृत आपके शकुनि नामक पुत्रके सिवाय दूसरा कोई उसे छुड़ा नहीं सकता । कशोदर ! मुनिके उस बचनको सुनकर मेरे पिताने अपने पुत्र (मेरे भाई) शकुनिको उन तपस्वीके पुत्रके (बन्धन छुड़ानेके) सम्बन्धमें उचित आदेश दिया । उसके बाद पितृके द्वारा भेजा गया वह शक्तिशाली मेघ भाई उन श्रेष्ठ ऋषिके साथ ही बन्धनके स्थानपर आया । चारों ओर बरौहोंसे ढके हुए अत्यन्त ऊँचे वटवृक्षको देखनेके बाद उसने वृक्षकी ऊँची चोटीपर बँधे हुए ऋषिके पुत्रको (बँध हुआ) देखा ॥ ६५-६८ ॥

तांश्च सर्वोत्तनापाशान् दृष्टवान् स समन्ततः । हृष्टा स मुनिपुत्रं तं सज्जरासपत्नं घटे ॥ ६९ ॥
 धनुस्पादा यलवानधिर्बन्धं स चकार ह । लाववाटिपुत्रं तं रक्षंश्चिच्छेद मागणैः ॥ ७० ॥
 कपिना यत् कृतं सर्वं लतापाशं चतुर्दिशम् । पञ्चवर्षशते फाले गतं शकस्तदा शरैः ॥ ७१ ॥
 लताच्छन्नं ततस्पूर्णमाद्यरोह मुनिर्वटम् । शतं स्वपितरं हृष्टा जाबान्तिः संयतःऽपि सन् ॥ ७२ ॥
 आद्रयात् पितरं भूर्जां यवन्दे तु विधानतः । सम्परिध्वज्य स मुनिर्मूर्ध्याप्राय सुतं ततः ॥ ७३ ॥

(फिर) उसने (फँसे हुए) उन समस्त एतानालोंको चारों ओरसे (अच्छी तरह) देखा एवं बँधके पैड़में एवं अपनी जटाओंसे बँधे मुनिपुत्रको देखकर उस पराक्रमीने धनुस्पादा उसको प्रत्यक्षा (डोरी) चढ़ायी एवं वह ऋषि-पुत्रकी रक्षा करते हुए निपुणतासे बाणोंद्वारा एतानालोंको काटने लगा । पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर चारों ओर बन्दरके द्वारा बनाया गया एतानाल बाणोंमें जब काट दिया गया तब ऋषि ऋतव्यज एतानालोंसे ढके उस वटवृक्षपर शीघ्र चढ़ गये । जाबान्तिने अपने पिताको आया देखकर बँधे रहनेपर भी अत्यन्त आदरके साथ यथाविधि मिरसे (मिर झुझकर) प्रणाम किया । उस मुनिने (पुत्रका) मलक सूँघकर उसको अच्छी तरह गले लगाया ॥ ६९-७३ ॥

उन्मोचयितुमारब्धो न शशाक सुसंयतम् । ततस्पूर्णं धनुर्व्यव्य बाणांश्च शकुनिर्वली ॥ ७४ ॥
 आहरोह वटं तूर्णं जया मोचयितुं तदा । न च शक्नोति संच्छन्नं वटं कपिवरेण हि ॥ ७५ ॥
 यथा न शक्तिरास्तेन सम्प्रमोचयितुं जयाः । तदाऽवतारणः शकुनिः सन् ॥ ७६ ॥

जग्राह च धनुर्वाणांश्चकार शर्मण्डपम् । लाघवादर्च्यन्द्रेस्तांशाखां चिच्छेद् स त्रिधा ॥ ७७ ॥
 शाखया कृत्तया चार्षां भारवाही तपोधनः । शरसोपानमार्गेण श्वर्तुणांश्च पादयात् ॥ ७८ ॥
 तस्मिंस्तदा स्वे तनये ऋतध्वजत्वाते तरेन्द्रस्य सुतेन धन्विना ।
 जावालिनो भारवहेन संयुतः समाजगामाथ नदीं स सूर्यजाम् ॥ ७९ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

फिर वे वन्धन खोलने लगे; परंतु आयत दृढ़ बन्धनको वे खोल न सके । तब पराक्रमी शकुनि शीघ्र ही धनुष और बाणोंको रखकर जग खोलनेके लिये बरगदके पेड़पर चढ़ गया । पर (वह भी) कपिद्वारा दृढ़तापूर्वक बनाये गये बन्धनको न खोल सका । जब वह जगओंको नहीं खोल सका, तब श्रेष्ठ ऋषिके साथ शकुनि नीचे उतर आया । फिर उसने धनुष एवं बाण लिया तथा एक शर्मण्डप बनाया । उसके बाद उसने हल्के हाथ अर्द्धचन्द्राकार बाणोंसे उस शाखाको तीन टुकड़ोंमें काट दिया । कटी हुई शाखाके साथ ही भारवाही तपोधन बाणकी सीढ़ियोंके मार्गसे वृक्षके नीचे उतर आये । राजाके धनुर्धारी पुत्रद्वारा अपने पुत्रकी रक्षा हो जानेके बाद ऋतध्वज भारवाही जावालिके साथ सूर्यपुत्री (यमुना) नदीके तटपर गये ॥ ७७-७९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

[अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः]

दण्डक उवाच

एतस्मिन्नन्तरे बाले यक्षासुरसुते शुभे । समागते हरं द्रष्टुं श्रीकण्ठं योगिनां वरम् ॥ १ ॥
 ददृशाति परिम्यानसंयुक्तकुसुमं विभुम् । बहुनिर्माल्यसंयुक्तं गते तस्मिन् ऋतध्वजे ॥ २ ॥
 ततस्तं बोध्य देवेशं ते उभे अपि कन्यके । स्नापयेतां विशानेन पूजयेतामहर्निशम् ॥ ३ ॥
 ताभ्यां स्थिताभ्यां तत्रैव ऋषिर्भ्यागमद् वनम् । द्रष्टुं श्रीकण्ठमच्यक्तं गालवो नाम नामतः ॥ ४ ॥

पँसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(गालव-प्रसन्न, चित्राङ्गदा-वेदवती-वृत्तान्त, कन्याओंकी खोज, वृताची-वृत्तान्त, जावालिकी जटाओंसे मुक्ति, विद्वकर्मकों शाप-मुक्ति, इन्द्रधुम्नादिक्षा सप्तगोदावरमें आना, शिव-स्तुति, सप्तगोदावरमें सम्मेलन, कन्याओंका विवाह)

दण्डकने कहा—बाले ! इसी बीच यक्ष और असुरकी दोनों कन्याएँ योगेश्वर श्रीकण्ठ महादेवका दर्शन करनेके लिये आयीं । उन ऋतध्वजके चले जानेपर उन दोनोंने महादेवके चारों ओर मुर्चाये तथा सूखे हुए फूल और निसर्जनके बाद समर्पित की गयी अन्य बहुत-सी वस्तुएँ पड़ी हुई देखीं । उसके बाद उन देवेशका दर्शन कर वे दोनों कन्याएँ विधिसे दिन-रात श्रीकण्ठ भगवान्को स्नान कराती एवं उनका पूजन करती थीं । उसी स्थानपर उन दोनोंके रहते हुए गालव नामके ऋषि अव्यक्तस्वरूपवाले श्रीकण्ठका दर्शन करनेके लिये इस वनमें आये ॥ १-४ ॥

स दृष्ट्वा कन्यकाद्युगलं करुण्यमिति चिन्तयन् । प्रविशेश शुचिः स्नात्वा कालिन्या विमले जले ॥ ५ ॥
 ततोऽनुपूजयामास श्रीकण्ठं गालवो मुनिः । गायेते सुस्वरं गीतं यक्षासुरसुते ततः ॥ ६ ॥
 ततः स्वरं समाकर्ण्य गालवस्ते अजानत । गन्धर्वकन्यके चैते संदेहो नात्र विद्यते ॥ ७ ॥
 सम्पूज्य देवमीशानं गालवस्तु विशानतः । कृतजप्यः समध्यास्ते कन्याभ्यामभिवाहितः ॥ ८ ॥

उन्होंने उन दोनों कन्याओंको देगकर 'ये कितनी कन्याएँ हैं'—इस प्रकार सोचते विचारते हुए काठिन्दीके निमग्न जलमें प्रवेश किया। गालव ऋषिने स्नान करनेके बाद पत्रि होकर श्रीकण्ठ महादेवकी पूजा की। उसके बाद यज्ञ और जपुरकी दोनों कन्याओंने मरुत खरसे गीत गाया। तब (उनके) खरको सुनकर गालवने यह जान लिया कि ये दोनों निस्पर्द्धा नववैकी ही कन्याएँ हैं। गालवने विभिन्ने श्रीकण्ठदेवकी पूजा कर जब किया। उनके बाद दोनों कन्याओंसे अभिप्रदिन होकर वे घैठ गये ॥ ५-८ ॥

ततः पप्रच्छ स मुनिः कन्येके कस्य कथ्यताम् । कुलद्वारकरणे भक्तियुक्ते भयस्य हि ॥ ९ ॥
 तमृतमुनिश्रेष्ठं याथावथ्यं शुभानने । जातो विदितवृत्तान्तो गालवस्तपतां घरः ॥ १० ॥
 ममुप्य तं रजनीं ताभ्यां सम्भूजितो मुनिः । प्रातरुत्थाय गौरिदां सम्भूज्य च विधानतः ॥ ११ ॥
 ते उपेत्यात्रवाद्यास्ये पुष्करारण्यसुप्तम् । आमन्त्रयामि यां कन्ये समनुशातुमर्हथ ॥ १२ ॥

उनके बाद उन मुनिने उन दोनों कन्याओंसे पूछा—कन्याओ ! तुम दोनों यह जगओ कि शङ्करमें भक्ति करनेवाली कुलकी शोभा रूपा तुम दोनों कितनी कन्याएँ हो ! शुभानने। उन दोनों कन्याओंने उन मुनिश्रेष्ठसे सच बातें बतलाई। तब तमिन्यामें श्रेष्ठ गालवने सम्पूर्ण वृत्तान्त (पूजातः) जान लिया। उन दोनोंसे सख्त होकर मुनिने वहाँ रात्रिमें निवास किया और प्रातःकाल उठकर विभिपूर्वक गौरिनि शङ्करका पूजन किया। उसके बाद उन दोनोंके पास जाकर उन्होंने कहा—वै पद्म उत्तम पुष्कर वनमें जाऊँगा। मैं तुम दोनोंसे अनुरोधकर विदा लेना चाहता हूँ। तुम दोनों मुझे अनुज्ञा (अनुमति) दो ॥ ९—१२ ॥

ततस्ते ऊचनुर्नहन् दुर्लभं दर्शनं तव । किमर्थं पुष्करारण्यं भवान् यास्यत्यवादपत् ॥ १३ ॥
 ते उवाच महातेजा महानार्यसमन्वितः । कार्तिको पुण्यदा भाविमासान्ते पुष्करेषु हि ॥ १४ ॥
 ते ऊचतुर्वयं यामो भवान् यत्र गमिष्यति । न त्वया स विना ब्रह्मसिंह स्यातुं हि शक्नुवः ॥ १५ ॥
 वाढमाह ऋषिश्रेष्ठस्ततो नाया महेश्वरम् । गते ते ऋषिणा साङ्गे पुष्करारण्यमादपत् ॥ १६ ॥

उसके बाद उन दोनोंने कहा—ब्रह्मन् ! आपका दर्शन दुर्लभ है। किस कारण आप पुष्करारण्यमें जा रहे हैं। इसके बाद धार्मिक कृत्य करनेवाले महातेजस्वी (मुनि) ने उन दोनोंसे आदर्शपूर्ण कहा—आगे महीनेके अन्तमें पुष्करमें पुण्यशक्ति कार्तिकी पूर्णिमा होगी। उन दोनोंने कहा—(तो) आप जहाँ जायेंगे, वही हम भी चलेगी। ब्रह्मन् ! आपके बिना हम दोनों यहाँ नहीं रह सकती। ऋषिश्रेष्ठने कहा—ठीक है। उसके बाद आदर्शपूर्ण महेश्वरको प्रणामकर ऋषिके साथ वे दोनों (कन्याएँ) पुष्करारण्य चली गयी ॥ १३—१६ ॥

तथाऽन्ये ऋषयस्तत्र समायाताः सहस्रशः । पार्विना जातपद्याश्च मुक्यैर्कं तमृतव्यजम् ॥ १७ ॥
 ततः स्नाताश्च कार्तिन्ध्यामृषयः पुष्करेष्वथ । राजानश्च महाभागा नाभोगेक्ष्यातुसंयुताः ॥ १८ ॥
 गालवोऽपि समं ताभ्यां कन्यकाभ्यामवातरत् । स्नातुं स पुष्करं तीर्थं मध्यमे धनुषाकृतौ ॥ १९ ॥
 निमग्नश्चापि दृष्टो महामन्स्यं जलेशयम् । यहाँभिर्मन्स्यकन्याभिः प्रीयमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

वहाँ केवल उन ऋषिवृन्दके सिवाय अन्य हजारों ऋषि, राजा एवं जनपद निवासी भी जायें। उसके बाद ऋषियो एव नाभाग तथा श्वेतकु आदि महाभाग्यवान् राजाओंने कार्तिकी पूर्णिमाके दिन पुष्कर तीर्थमें स्नान किया। गालव भी उन दोनों कन्याओंके साथ धनुषी आश्रितवाले मन्थन पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके लिये उतरे। (जलमें) निमग्न होनेपर उन्होंने देखा कि एक जलचर महामन्स्य जलमें स्थित है और अनेक मन्थन-कन्याएँ उसे पुन-पुनः प्रसन्न करनेमें लगी हुई हैं ॥ १७—२० ॥

स ताश्चाह तिमिर्मुग्धाः यूयं धर्मं न जानथ । जनापवादं घोरं हि न शकः सोढुमुत्थणम् ॥ २१ ॥
तास्तमूचुर्महामत्स्यं किं न पश्यसि गालवम् । तापसं कन्यकाभ्यां वै विचरन्तं यथेच्छया ॥ २२ ॥
यद्यसावपि धर्मात्मा न विभेति तपोधनः । जनापवादात् तत्किं त्वं विभेपि जलमध्यगः ॥ २३ ॥
ततस्ताश्चाह स तिमिर्नैव वेत्ति तपोधनः । रागान्धो नापि च भयं विजानाति सुवालिशः ॥ २४ ॥

उस मत्स्यने उन (मछलियों)से कहा—भोली प्रकृति होनेके कारण तुम सभी लोक-धर्म नहीं जानती हो । मैं जनताद्वारा किये जानेवाले कठोर अपवाद (निन्दा) सहन नहीं कर सकता । (तब) उन सभी-(मछलियों-)ने कहा—क्या तुम खच्छदतासे विचरते हुए तपस्वी गालवको दो कन्याओंके साथ नहीं देख रहे हो ? यदि धर्मात्मा एवं तपस्वी होते हुए भी वे लोक-निन्दासे नहीं डरते तो जलमें रहनेवाले तुम क्यों डर रहे हो ? उसके बाद उस तिमि-(मत्स्य-)ने उनसे कहा—तपस्वी लोक-निन्दाको नहीं जानते एवं प्रेममें अन्धा होनेसे प्रचण्डमूर्ख बनकर लोक-निन्दाके भयको भी नहीं समझते ॥ २१-२४ ॥

तच्छ्रुत्वा मत्स्यवचनं गालवो व्रीडया युतः । नोत्तत्तारनिमग्नोऽपि तस्यौ स विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
स्नात्वा ते अपि रम्भोरु समुत्तोर्यं तटे स्थिते । प्रतीक्षन्त्यौ मुनिवरं तद्दर्शनसमुत्सुके ॥ २६ ॥
वृत्ता च पुष्करे यात्रा गता लोका यथागतम् । ऋषयः पार्थिवाश्चान्ये नाना जानपदास्तदा ॥ २७ ॥
तत्र स्थितैका सुदता विश्वकर्मतनूरुहा । चित्राङ्गदा सुचार्वङ्गी वोक्षन्ती तनुमध्यमे ॥ २८ ॥

मत्स्यके उस वचनको सुनकर गालव लजित हो गये । (फिर तो) वे जितेन्द्रिय मुनि जलमें निमग्न होनेपर भी ऊपर नहीं आये, भीतर ही डूबे रहे । वे दोनों कदली-सदृश-रूपवाली सुन्दरियाँ स्नान करनेके बाद जलसे बाहर निकल कर तीरपर खड़ी हो गयीं एवं मुनिश्रेष्ठका दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठित होकर उनकी प्रतीक्षा करने लगीं । पुष्करकी यात्रा पूरी होनेपर सभी ऋषि, राजा और नगरवासी लोग जहाँसे आये थे, वहाँ चले गये । वहाँ केवल सुन्दर दाँतोंवाली एवं पतली सुन्दर शरीरवाली विश्वकर्माकी कन्या चित्राङ्गदा उन दोनों कृशोदरियों-(कन्याओं-)को देखती हुई रह गयी ॥ २५-२८ ॥

ते स्थिते चापि वीक्षन्त्यौ प्रतीक्षन्त्यौ च गालवम् । संस्थिते निर्जने तीर्थे गालवोऽन्तर्जले तथा ॥ २९ ॥
ततोऽभ्यागाद् वेदवती नाम्ना गन्धर्वकन्यका । पर्जन्यतनया साध्वी घृताचीर्गर्भसम्भवा ॥ ३० ॥
सा चाभ्येत्य जले पुण्ये स्नात्वा मध्यमपुष्करे । ददर्श कन्यात्रितयमुभयोस्तटयोः स्थितम् ॥ ३१ ॥
चित्राङ्गदामथाभ्येत्य पर्यपृच्छदनिष्ठुरम् । कासि केन च कार्येण निर्जने स्थितवत्यसि ॥ ३२ ॥

वे दोनों भी (उसे) देखती एवं गालवकी प्रतीक्षा करती हुई निर्जन तीर्थमें पड़ी रहीं और गालव जलके भीतर ही स्थित रहे । उसके बाद वेदवती नामकी गन्धर्व-कन्या वहाँ आयी । वह साध्वी घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी एवं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री थी । उसने आकर मध्यम पुष्कर तीर्थके पवित्र जलमें स्नान किया और दोनों तटोंपर स्थित (उन) तीनों कन्याओंको देखा । इसके बाद चित्राङ्गदाके समीप जाकर उसने सरलतासे पूछा—तुम कौन हो ? और किस कार्यसे इस निर्जन स्थानमें स्थित हो ? ॥ २९-३२ ॥

सा तामुवाच पुत्रीं मां विन्दस्व सुरवर्धकेः । चित्राङ्गदिति सुश्रोणि विख्यातां विश्वकर्मणः ॥ ३३ ॥
साहमभ्यागता भद्रे स्नातुं पुण्यां सरस्वतोम् । नैमिषे काञ्चनाक्षीं तु विख्यातां धर्ममातरम् ॥ ३४ ॥
तत्रागताय राताऽहं दृष्ट्वा वैदर्भकेण हि । सुरथेन स कामार्तो मामेव शरणं गतः ॥ ३५ ॥
मयात्मा तस्य दत्तश्च सखीभिवार्यमाणया । ततः शप्ताऽसि तातेन वियुक्तासि च भूभुजा ॥ ३६ ॥

उस (चित्राङ्गदा-) ने उस (वेदवती) से कहा—हे सुश्रोगि ! मुझे देवशिखी विस्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामसे प्रसिद्ध पुत्री जानो । भद्रे ! , नैमिषमें धर्मकी जननी काश्रवाश्री नामसे प्रसिद्ध पवित्र सरस्वती नदीमें स्नान करने आयी थी । वहाँ आनेपर निर्दम्वंशमें उत्पन्न राजा सुरपने मुझे देवा और कर्मशीलिन होकर मेरी शरणमें आया । सत्वियोंके रोहनेपर भी मैंने उन्हें अपनेको समर्पित कर दिया । उसके बाद पिताजीने मुझे शाप दे दिया और मैं राजाने वियोगिनी हो गयी ॥ ३३-३६ ॥

मर्तुं कृतमतिभेदे पारिता गुह्यकेन च । श्रीकण्ठमगमं द्रष्टुं ततो गोदावरं जलम् ॥ ३७ ॥
तस्मादिमं समायाता तीर्थप्रवरमुत्तमम् । न चापि दृष्टः सुरथः स मनोह्लादनः पतिः ॥ ३८ ॥
भवतां चात्र का बाले वृत्ते यात्राफलेऽधुना । समागता हि तच्छंस मम सत्येन भामिनि ॥ ३९ ॥
नात्रवीच्छ्रूयतां याऽसि मन्दभाग्या कृशोदरि । यथा यात्राफले वृत्ते समायाताऽसि पुष्करम् ॥ ४० ॥

भद्रे ! मैंने मरनेका निचार किया; परंतु गुह्यकने मुझे रोक दिया । उसके बाद मैं श्रीकण्ठमगनात्कव दर्शन करनेके लिये गयी और वहाँसे गोदावर जलके निकट गयी, (और अब) वहाँसे मैं इस श्रेय उत्तम तीर्थमें आ गयी हूँ । किंतु मनको आनन्दित करनेवाले उन सुरथ पतिव्रतो मैंने नहीं देखा । बाले ! यात्राफलेके समाप्त होनेपर (पर्वकी समाप्ति हो जानेपर) आज यहाँ आनेवाली आप कौन हैं ? भामिनि ! मुझे सच-सच बतलाओ । उसने कहा—कृशोदरि ! मैं मन्दभागिनी कौन हूँ तथा यात्राफलेके समाप्त होनेपर पुष्करमें क्यों आयी हूँ, उसे सुनो ॥ ३७-४० ॥

पर्जन्यस्य घृताच्यां तु जाता वेदवतीति हि । रममाणा घनोद्देशे दृष्टाऽसि कपिना सखि ॥ ४१ ॥
स चाभ्येत्याब्रवीत् का त्वं यासि देववतीति हि । आनीतास्याश्रमात् केन भूपृष्ठाभ्येक्षयंतम् ॥ ४२ ॥
ततो मयोक्तो नैवासि कपे देववतीत्यहम् । नाम्ना वेदवतीत्येवं मेघोरपि कृताश्रया ॥ ४३ ॥
ततस्तेनातिदुष्टेन वानरेण ह्यभिमुता । समारूढासि सहसा वन्धुजीवं नगोत्तमम् ॥ ४४ ॥

मैं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री हूँ तथा घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई हूँ । मेरा नाम वेदवती है । सखि ! वनप्रदेशमें भ्रमण कर रही मुझको एक बन्दरने देखा । उसने समीपमें आकर मुझसे कहा—तुम कौन हो ? कहाँ जा रही हो ? (निश्चय ही तुम) देववती हो । पृथ्वीपर रहनेवाले आश्रमसे मेरु पर्वतपर तुम्हें कौन लाया है ? इसपर मैंने कहा—कपे ! मैं देववती नहीं हूँ, मेरा नाम वेदवती है । मेरु पर्वतपर ही मैंने अपना आश्रम बना लिया है । उसके बाद अत्यन्त दुष्ट उस बन्दरसे खदेड़ी जाती हुई मैं वन्धुजीव- (गुल्फुपहरिया) के उत्तम वृक्षपर शीतनासे चढ़ गयी ॥ ४१-४४ ॥

तेनापि वृक्षस्तरसा पादाक्रान्तस्त्वभज्यत । ततोऽस्य विपुलां शाखां समालिङ्ग्य स्थिता न्यहम् ॥ ४५ ॥
ततः प्लवङ्गमो वृक्षं प्राश्रियत् सागराभसि । सह तेनैव वृक्षेण पतिनाऽप्यहमाकुला ॥ ४६ ॥
ततोऽम्बरतलाद् वृक्षं निपतन्तं दृच्छया । इदमुः सङ्भ्रूयानि स्वारापणि वरणि च ॥ ४७ ॥
ततो हाहाहृतं लोकैर्मा पतन्तीं निरीक्ष्य हि । ऊचुश्च सिद्धगन्धर्वाः कण्ठं सेयं महाभयः ॥ ४८ ॥
इन्द्रद्रुमस्य महिषो गदिता ब्रह्मणा स्वयम् । मनाः पुत्रस्य चोरस्य सहस्रकनुयाजिनः ॥ ४९ ॥

उसने शीघ्र ही पैरके आघातसे उस वृक्षको तोड़ दिया । उसके बाद मैं उस वृक्षकी एक बड़ी डालीको पकड़कर स्थित रही । फिर बन्दरने उस वृक्षको समुद्रके जलमें फेंक दिया । मैं अत्यन्त घबड़ाकर उस वृक्षके साथ ही जलमें गिर पड़ी । उसके बाद चर और अचर समी प्राणियोंने आकाशसे गिरनेवाले उस वृक्षको देखा ।

उसके बाद उसीके साथ मुझको भी गिरती हुई देखकर सभी लोग हाहाकार करने लगे । सिद्ध और गन्धर्वलोग कहने लगे—हाय ! यह कष्टकी बात है । इसके सम्बन्धमें तो ब्रह्माने स्वयं कहा था कि यह कन्या हजारों यज्ञोंके करनेवाले मनुके वीर पुत्र इन्द्रद्युम्नकी राजरानी होगी (पर यह क्या हो गया !) ॥ ४५-४९ ॥

तां वार्ष्णीं मधुरां श्रुत्वा मोहमस्म्यागता ततः । न च जाने स केनापि वृक्षश्छिन्नः सहस्रधा ॥ ५० ॥
ततोऽस्मि वेगाद् बलिना हतानलसखेन हि । समानीतास्म्यहमिमं त्वं दृष्ट्वा चात्र सुन्दरि ॥ ५१ ॥
तद्वृत्तिष्टस्य गच्छावः पृच्छावः क इमे स्थिते । कन्यके अनुपश्ये हि पुष्करस्योत्तरे तटे ॥ ५२ ॥
पत्रमुक्त्वा चराद्गी सा तथा सुतनुकन्यया । जगाम कन्यके द्रष्टुं प्रष्टुं कार्यसमुत्सुका ॥ ५३ ॥

उस मधुर वाणीको सुननेके बाद मुझे मूर्च्छा आ गयी । मैं यह नहीं जानती कि उस वृक्षको किसने सहस्रों टुकड़ोंमें काट डाला । उसके बाद अग्निके सखा बलवान् वायुने मुझे शीघ्रतासे यहाँ ला दिया है । सुन्दरि ! तुमको आज मैंने यहाँ देखा है । इसलिये उठो, हम दोनों चले; और फिर पृष्ठें तथा देखें कि पुष्कर तीर्थके उत्तरी तटपर दिग्वायी देनेवाली ये दोनों कन्याएँ कौन हैं ? ऐसा कहकर इस कार्यके करनेमें उत्कण्ठित वह सुन्दरी उस सुन्दर तथा दुर्बल देहवाली कन्याके साथ उस पार की दोनों कन्याओंको देखने तथा वस्तुस्थिति पूछनेके लिये वहाँ गयी ॥ ५०-५३ ॥

ततो गत्वा पर्यपृच्छत् ते ऊचतुहमे अपि । याथातथ्यं तयोस्ताभ्यां स्वमात्मानं निवेदितम् ॥ ५४ ॥
ततस्ताश्चतुरोपीह सप्तगोदावरं जलम् । सम्प्राप्य तीर्थे तिष्ठन्ति अर्चन्त्यो हाटकेश्वरम् ॥ ५५ ॥
ततो वहन् वर्षगणान् बभ्रमुस्ते जनालयः । तासामर्थाय शकुनिर्जावालिः स ऋतध्वजः ॥ ५६ ॥
भारवाशीं ततः खिन्नो दशाब्दशक्तिके गते । काले जगाम निर्वेदात् समं पित्रा तु शाकलम् ॥ ५७ ॥

उसके बाद वहाँ जाकर उसने उन दोनोंसे पूछा । उन दोनोंने अपनी सच्ची घटना उन दोनोंसे बताया । उसके बाद चारों कन्याएँ सप्तगोदावर जलके समीप जाकर हाटकेश्वर भगवान्की पूजा करती हुई तीर्थमें रहने लगीं । श्वर शकुनि, जावालि और ऋतध्वज—ये तीनों व्यक्ति उन कन्याओंके लिये अनेक वर्षोंतक भ्रमण करते रहे । तब एक हजार वर्ष बीत जानेपर भार-बहन करनेवाले (जावालि) खिन्न होकर पिताके साथ शाकल जनपदमें चले गये ॥ ५४-५७ ॥

तरिणधरपतिः श्रीमानिन्द्रद्युम्नो मनोः सुतः । समव्यास्ते स विहाय सार्वपात्रो विनिर्ययौ ॥ ५८ ॥
सम्यक् सम्पूजितस्तेन सजावालिर्ऋतध्वजः । स चेक्ष्वाकुरसुतो धीमान् शकुनिर्भ्रातृजोर्चितः ॥ ५९ ॥
ततो वास्यं मुनिः प्राह इन्द्रद्युम्नमृतध्वजः । राजन् नष्टाऽवलास्माकं नन्द्यन्तीति विश्रुता ॥ ६० ॥
तन्यायं चैव वसुधा अस्माभिरदिना नृप । तस्माद्वृत्तिष्ठ मार्गस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ६१ ॥

वहाँ मनुके पुत्र श्रीमान् राजा इन्द्रद्युम्न निवास कर रहे थे । वे इस समाचारको जानकर अर्धपात्र हाथमें लिये बाहर निकले । उन्होंने विधिपूर्वक सुन्दर रीतिसे जावालि और ऋतध्वजकी पूजा की तथा उस श्वाकलनन्दन बुद्धिमान् भतीजे शकुनिकी भी अर्चना की । उसके बाद ऋतध्वज मुनिने इन्द्रद्युम्नसे कहा— राजन् ! हमयोगीकी नन्द्यन्ती नामसे प्रसिद्ध (अपनी) कन्या खो गयी है । राजन् ! उसके लिये हमयोगीने सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया है । इसलिये (रूपया) उठिये, पता लगाइये और हमारी सहायता कीजिये ॥ ५८-६१ ॥

अयोध्या च नृपो ग्लान् ममापि ललनोत्तमा । नष्टा कृतधर्म्यापि कन्याहं कथयामि ताम् ॥ ६२ ॥
 आकाशान् पर्यन्तानारः पतमानो नगोत्तमः । सिद्धानां पात्र्यमारुर्ण्य वाणैर्दिश्रमः सहस्रधा ॥ ६३ ॥
 न चैव सा वररोहा त्रिभिन्ना लाघवान्मया । न च जानामि सा कुत्र तस्माद् गच्छामि मार्गितुम् ॥ ६४ ॥
 इत्येवमुक्त्वा ग नृपः समुत्थाय त्वराश्वितः । स्पन्दनानि द्विजगभ्यां स भ्रातृपुत्राय चारंपयत् ॥ ६५ ॥

। इत्येव वाद राजाने कइ—नइन् ! मेरी भी एउ उच्च लडिली कन्या खो गयी है । उसे ढूँढनेमें मैं परिश्रम कर चुका हूँ । उसके नियममें मैं किससे कहूँ । सिद्धोंन वचन सुनकर आकाशमें नीचे गिरेवाले परवतके समान श्रेष्ठ वृक्षको मैंने बाणोंसे हजारों टुकड़ोंमें काट टाग । मेरी हस्तशौशलसे उस सुन्दरी कन्याको चोट नहीं लगी । मैं नहीं जानता हूँ कि वह कहाँ है ! अतः उसे ढूँढनेके लिये मैं (भी) चल रहा हूँ । ऐसा कहनेके बाद वे राजा शीघ्रतासे उठे । उन्हें ने उन दोनों ब्राह्मणे तथा अपने मनीजेके लिये रथ दे लिये ॥ ६२-६५ ॥

तेऽधिश्वा रथांस्तूर्णं मार्गन्ते वसुधां वमात् । वदयाधममास्ताथ वदशुस्तपसां तिष्ठिम् ॥ ६६ ॥
 तपसा र्शितं दोनं मलपङ्कजाश्रमम् । निःश्वासायासपरमं प्रथमे धयसि स्थिन्म् ॥ ६७ ॥
 तमुपेत्यागवाद् राजा इन्द्रद्युम्नो महाभुजः । तपसिन् यौनेने घोश्मास्थिनोऽसि सुदुश्चरम् ॥ ६८ ॥
 तपः किमर्थं तच्छंस किमभिप्रेतमुच्यताम् । खोऽग्रगोत् फी भवान् मूहि ममात्मानं सुहृत्तया ॥ ६९ ॥
 परिपृच्छसि शोकार्तं परिखिन्नं तपोन्वितम् । स प्राह राजाऽसि किमो तपस्विन् शकले पुरे ॥ ७० ॥
 मनोः पुत्रः प्रियो भ्राता इक्ष्वाकोः कथितं तव । स चारमै पूर्वचरितं सर्वं कथितवान् नृपः ॥ ७१ ॥

वे रथोपर चढ़कर शीघ्रतासे क्रमशः पृथ्वीपर खोज करने लगे । (इस क्रममें) उन लोगोंने बदरिवाश्रममें जाकर तपस्या करनेसे दुबने और धूल मिट्टीसे भरे, जग्रा धारण लिये हुए, जोर-जोरसे साँस ले रहे एक तपोपूर्ण युवकको देखा । महागडु राजा इन्द्रद्युम्नने उसके पास जाकर कहा—तपस्विन् ! यह वन्यओ कि युवा-अनस्तामें ही तुम अत्यन्त दुष्कर कठोर तप क्यों कर रहे हो ! यह भी वन्यओ कि तुम्हारी अभिप्राय क्या है ! अपने कहा—आप मुझसे यह वन्यओ कि किन्तासे प्रसन्न अत्यन्त दुखी एवं तपधर्मसे युक्त मुझसे प्रेमपूर्ण पूछनेवाले आप कौन हैं ! उसने कहा—तपस्विन् । त्रिमो ! मैं मनुका पुत्र एव इक्ष्वाकुस प्रिय भार्गव शाक्यपुत्र राजा हूँ । मैंने अपना परिचय कह दिया । उस राजाने भी उनसे पहलेकी सारी कथा कह सुनायी ॥ ६६-७१ ॥

श्रुत्वा प्रोवाच राजर्षिर्मा मुञ्चस कलेवरम् । आगच्छयामि तन्वद्विं विचेतुं भ्रातृजोऽसि मे ॥ ७२ ॥
 इत्युक्त्वा सम्परिध्वज्य नृपं धमनिसंततम् । समारोप्य रथं तूर्णं तापसाभ्यां न्यवेदयत् ॥ ७३ ॥
 श्रुतध्वजः सपुनस्तु तं दृष्ट्वा पृथिवीपतिम् । प्रोवाच राजन्नेरोहि करिष्यामि तव प्रियम् ॥ ७४ ॥
 यासौ चित्राङ्गा नाम त्वया दृष्टा हि नैमिषे । सप्तगोदावरं तीर्थं सा मयैव विसर्जिता ॥ ७५ ॥

(ऊपर कही बातोंको) सुनकर राजर्षिने कहा—तुम अपने शरीरका त्याग मन करो । तुम मेरे मनीजे हो । आओ, मैं उस सुन्दरीकी खोज करने जा रहा हूँ । इतना कहकर उन्होंने उमरी शिराओंसे भरे हुए राजाको गले लगाया और उन्हें रथपर चढ़ाकर शीघ्र उन दोनों तपस्विनोंके पास पहुँचा दिया । पुत्रके सञ्चित श्रुतध्वजने उन राजाको देवकर कहा—राजन् ! आइये ! आइये ! मैं आपका प्रिय-नार्थ करूँगा । अपने नैमिषारण्यमें जिस चित्राङ्गाको देखा था, उसे मैंने ही सप्तगोदावर नामके तीर्थमें छोड़ दिया था ॥ ७२-७५ ॥

तदागच्छथ गच्छामः सौदेवस्यैव कारणात् । तत्रास्माकं समेष्यन्ति कन्यास्तिस्त्रस्तथापराः ॥ ७६ ॥
 इत्येवमुक्त्वा स ऋषिः समाश्वस्य सुदेवजम् । शकुनिं पुरतः कृत्वा सेन्द्रद्युम्नः सपुत्रकः ॥ ७७ ॥
 स्यन्दनेनाश्वयुक्तेन गन्तुं समुपचक्रमे । सप्तगोदावरं तीर्थं यत्र ताः कन्यका गताः ॥ ७८ ॥
 एनसिन्नन्तरे तन्वो घृताची शोकसंयुता । विचचारोदयगिरिं विचिन्वन्ती सुतांनिजाम् ॥ ७९ ॥

तो आइये, हमलोग सुदेवके पुत्रके कार्यसे ही वहाँ चले । वहाँपर हमलोगोंको अन्य तीन कन्याएँ भी मिलेंगी । इस प्रकार कहकर उन्होंने ऋषि सुदेवके पुत्रको सान्त्वना दे करके एवं शकुनिको आगे कर इन्द्रद्युम्न और पुत्रके साथ घोड़े जुते रथसे सप्तगोदावर तीर्थमें जानेकी योजना बनायी—जहाँ वे कन्याएँ गयी थीं । इस व्रीच दुर्बलाङ्गी घृताची शोकसे चिन्तित होकर अपनी कन्याको ढूँढ़ती हुई उदयगिरिपर विचरण करने लगी ॥ ७६-७९ ॥

तमाससाद् च कपिं पर्यपृच्छत् तथाप्सराः । किं बाला न त्वया दृष्टा कपे सत्यं वदस्व माम् ॥ ८० ॥
 तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स कपिः प्राह बालिकाम् । दृष्टा देववती नाम्ना मया न्यस्ता महाश्रमे ॥ ८१ ॥
 कालिन्ध्या विमले तीर्थे मृगपक्षिसमन्विते । श्रीकण्ठायतनस्याग्रे मया सत्यं तवोदितम् ॥ ८२ ॥
 सा प्राह वानरपते नाम्ना वेदवतीति सा । न हि देववती ख्याता तदागच्छ व्रजावहे ॥ ८३ ॥

वहाँ घृताची अप्सराको वह बन्दर मिल गया । घृताची अप्सराने उससे पूछा—कपे ! मुझसे सच कहो कि क्या तुमने लड़कीको नहीं देखा है ? उसके वचनको सुनकर उस कपिने कहा—मैंने देववती नामकी बालिकाको देखा है और उसे मृगों तथा पक्षियोंसे भरे कालिन्दीके विमल तीर्थमें श्रीकण्ठके मन्दिरके सामने स्थित महाश्रममें रख दिया है । मैंने तुमसे यह सत्य बात कही है । उस- (घृताची-)ने कहा—कपिराज ! वह वेदवती नामसे विख्यात है, वह देववती नहीं है । तो आओ; हम दोनों वहाँ चले ॥ ८०-८३ ॥

घृताच्यास्तद्वचः श्रुत्वा वानरस्त्वरितक्रमः । पृष्टतोऽस्याः समागच्छन्नदीमन्वेव कौशिकाम् ॥ ८४ ॥
 ते चापि कौशिकीं प्राप्ता राजर्षिप्रवराख्यः । द्वितयं तापसाभ्यां च रथैः परमवेगिभिः ॥ ८५ ॥
 अवतीर्य रथेभ्यस्ते स्नातुमभ्यागमन् नदीम् । घृताच्यपि नदीं स्नातुं सुपुण्यामाजगाम ह ॥ ८६ ॥
 तामन्वेव कपिः प्रायाद् दृष्टो जावालिनः तथा । इष्टैव पितरं प्राह पार्थिवं च महाबलम् ॥ ८७ ॥

घृताचीकी उस बातको सुनकर बन्दर शीघ्रतासे पग बढ़ाता हुआ उसके पीछे-पीछे कौशिकी नदीकी ओर चला । वे तीनों श्रेष्ठ राजर्षि भी दोनों तपस्वियों- (जावालिन और ऋतध्वज-)के साथ बहुत तेज चलनेवाले रथोंपर चढ़कर कौशिकी नदीके समीप पहुँचे । वे लोग रथसे उतरकर स्नान करनेके लिये नदीके निकट आये । घृताची भी उस परम पवित्र नदीमें स्नान करने आयी । बन्दर भी उनके पीछे ही आ गया । जावालिनने उसे देखा । देखते ही उन्होंने पिता एवं महाबलशाली राजासे कहा— ॥ ८४-८७ ॥

स एव पुनरायाति वानरस्तात वेगवान् । पूर्वं जटास्वेव बलाघेन वद्धोऽस्मि पादपे ॥ ८८ ॥
 तज्जागलिवचः श्रुत्वा शकुनिः क्रोधसंयुतः । सशरं धनुरादाय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८९ ॥
 ब्रह्मन् प्रदीयतां मद्यमाशां तात वदस्व माम् । यावदेतं निहन्म्यद्य शरेणैकेन वानरम् ॥ ९० ॥
 इत्येवमुक्ते वचने सर्वभूतहिते रतः । महर्षिः शकुनिं प्राह हेतुयुक्तं वचो महत् ॥ ९१ ॥

तात ! यह वही बन्दर फिर तेजीसे (यहाँ) आ रहा है, जिसने पहले मुझे जबरदस्ती जगजालसे बड़के पेड़में बाँध दिया था । जावालिके उस वचनको सुनकर अत्यन्त कुपित हुए शकुनिने बाणसहित धनुषको लेकर यह वचन कहा—ब्रह्मन् ! मुझे आज्ञा दीजिये; तात ! मुझसे कहिये; क्या मैं एक बाणसे ही इस

बन्दरको भार डालूँ । ऐसा कहनेपर समस्त प्रागियोंकी भगईमें लगे रहनेवाले मन्दिने शत्रुनिसे अयम्न युक्तियुक्त वचन कहा— ॥ ८८-९१ ॥

न कश्चित्तान केनापि बध्यते हन्यतेऽपि वा । चधरन्धा पूर्णकर्मवश्यो नृपतिनन्दन ॥ ९२ ॥
इत्येवमुक्त्वा शत्रुनिमुषिर्वानरमप्रयात् । परोहि वानरास्त्राकं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ९३ ॥
इत्येवमुक्त्वा मुनिना बाले स कपिवुञ्जरः ।
शताङ्गलिपुटो भूत्वा प्रणिपरत्येदमप्रयात् । ममासा दीयतां ब्रह्मन् शायि किं करयाण्यहम् ॥ ९४ ॥
इत्युक्ते प्राह स मुनिस्तं वानरर्षित वचः । मम पुत्रस्त्वयोद्देशो जटासु घटपादपे ॥ ९५ ॥

तात ! (वस्तुतः) न तो निर्भीको कोई बौधना है और न मारता ही है । नृपतिनन्दन ! रा और यन्धन पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंके फलभीन होते हैं । शत्रुनिसे इस प्रकार बड़का मुनिने बन्दरसे कहा— बन्दर ! आओ, आओ ! तुम्हें हमनेगैकी सहायता करनी चाहिये । बाले ! मुनिके ऐसा कहनेपर उम श्रेष्ठ वरिने कवच प्रणाम करते हुए यह कहा— ब्रह्मन् ! मुझे आज्ञा दीजिये ; मुझे निर्देश दीजिये कि मैं क्या करूँ ? उमके ऐसा कहनेपर मुनिने उस कपिपतिसे यह वचन कहा— नृपते मेरे पुत्रको बड़का पेड़में जटाओंमें बँधी गया था ॥ ९२-९५ ॥

न चीन्मोचयितुं वृक्षाच्छत्रुयामोऽपि यत्नतः । तदनेन नरेन्द्रेण प्रिधा कृत्या तु शायिनः ॥ ९६ ॥
शाखां वहति मत्सुतुः शिरसा तां विमोचय । दशवर्षशतान्यस्य शाखां वै यहतोऽगमन् ॥ ९७ ॥
न च सोऽस्ति पुमान् कश्चिद् यो ह्यन्मोचयितुं क्षमः । स श्रेष्ठेषांप्रयमाकर्ष्य कपिजांवालिनो जटाः ॥ ९८ ॥
शैरुन्मोचयामास क्षणादुन्मोचित्वाश्च ताः । ततः प्रीतो मुनिश्रेष्ठो वर्योऽभूद्वनध्वजः ॥ ९९ ॥

विशेष यान करनेपर भी हमनेगो उस पेड़से इसको उन्मुक्त (अलग) नहीं कर सके । इसलिए इस राजाने उस वृक्षके तीन टुकड़े कर दिये । मेरा पुत्र आजन्म सिंगर उमकी डालीको टो रहा है । अब तुम उसे उन्मुक्त कर दो । इस डालीको ढोने हुए उसको एक हजार वर्ष बीत गये हैं । ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इसे छुड़ानेमें समर्थ हो । उस बन्दरने श्रुतिकी बात सुनकर जागृतिकी जटाओंको धीरे-धीरे खोल दिया । वे जटाएँ क्षणभरमें ही खुल गयीं । उमके बाद प्रसन्न होकर मुनिश्रेष्ठ श्रुतध्वज वा देनेके लिये तैयार हो गये ॥ ९६-९९ ॥

कपि प्राह वृर्णाप्य त्वं वरं यन्मनसेप्सितम् । श्रुतध्वजवचः श्रुत्वा इमं परमयाचत ॥ १०० ॥
विश्वकर्मा महातेजा कपित्वे प्रसिद्धिस्थितः । ब्रह्मन् भवान् वरं मह्यं यदि दातुमिच्छति ॥ १०१ ॥
तत्स्वदत्तो महाघोरो मम शायो निवर्त्यताम् । चित्राङ्गदायाः पितरं मां त्वद्यारं तपोधन ॥ १०२ ॥
अभिजानीहि भवतः शायान्नरत्नां गतम् । सुग्रहनि च पापानि मया यानि कृतानि हि ॥ १०३ ॥
कपिचापत्यद्वेषेण तानि मे यान्तु संक्षयम् । ततोऽश्रुतध्वजः प्राह शपस्यान्तो भविष्यति ॥ १०४ ॥
यदा घृताच्यां तनयं जनिष्यसि महाबलम् । इत्येवमुक्त संष्टपः स तदा कपिवुञ्जरः ॥ १०५ ॥

(सिर) उन्होंने बन्दरसे कहा— तुम अपना मनोसिम्पित वर माँगो । श्रुतध्वजकी बात सुनकर कपि-मोनिमें स्थित महातेजस्वी विश्वकर्माने यह वर माँग— ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे वर देनेके लिये इच्छा कर रहे हैं तो मुझे दिये गये अपने महाघोर शायका निवारण कर दें । तपोधन ! चित्राङ्गदाके पिता मुझ त्वद्यारो आप पहचान लें । आपके शायसे (ही) मैं बन्दर हो गया हूँ । कपिकी (स्वाभाविक) चञ्चलाकृपी दोस्ते

मैंने जिन बहुत-से पापोंको किया है, वे सभी नष्ट हो जायँ । उसके बाद ऋतध्वजने कहा—जब तुम घृताचीसे महाबलवान् पुत्र उत्पन्न करोगे तब शापना अन्त होगा । तब ऐसा कहनेपर वह कपिश्रेष्ठ अत्यन्त हर्षित हो गया ॥ १००-१०५ ॥

स्नातुं तूर्णं महानद्यामवतीर्णः कृशोदरि । ततस्तु सर्वे क्रमशः स्नात्वाऽर्च्यं पितृदेवताः ॥ १०६ ॥
जग्मुर्हृष्टा रथेभ्यस्ते घृताची दिवमुत्पतत् । तामन्वेव महावेगः स कपिः प्लवतां वरः ॥ १०७ ॥
ददशे रूपसम्पन्नां घृताचीं स प्लवङ्गमः । सापि तं बलिनां श्रेष्ठं दृष्ट्वैव कपिकुञ्जरम् ॥ १०८ ॥
दात्वाऽथ विश्वकर्माणं कामयामास कामिनी । ततोऽनुपर्वतश्रेष्ठे ख्याते कोलाहले कपिः ॥ १०९ ॥
रमयामास तां तन्वीं सा च तं वानरोत्तमम् । एवं रमन्तौ सुचिरं सम्प्राप्तौ विन्ध्यपर्वतम् ॥ ११० ॥

कृशोदरि ! वह शीघ्र ही महानदीमें स्नान करनेके लिये उतरा । उसके बाद वे सब क्रमशः स्नानकर पितरों और देवोंके तर्पण-अर्चन कर रथसे चले गये एवं घृताची स्वर्गमें उड़ गयी । महावेगशाली श्रेष्ठ कपिने भी उसका अनुसरण किया । उस बन्दरने रूपसे सम्पन्न घृताचीको देखा । उस कामिनी- (घृताची)-ने भी बलवानोंमें श्रेष्ठ उत्तम कपिको देखकर एवं उसे विश्वकर्मा जानकर उसकी कामना की । उसके बाद कोलाहल नामसे विख्यात श्रेष्ठ पर्वतपर उस बन्दरने घृताचीके साथ एवं घृताचीने उस श्रेष्ठ बन्दरके साथ आनन्द-क्रीड़ा की । इस प्रकार बहुत दिनोंतक क्रीड़ा करते हुए वे दोनों विन्ध्यपर्वतपर पहुँचे ॥ १०६-११० ॥

रथैः पञ्चापि तत्तीर्थं सम्प्राप्तास्ते नरोत्तमाः । मध्याह्नसमये प्रीताः सप्तगोदावरं जलम् ॥ १११ ॥
प्राप्य विश्रामहेन्वर्धमवतेस्त्वरात्स्विताः । तेषां सारथयश्चाश्वान् स्नात्वा पीतोदकाप्लुतान् ॥ ११२ ॥
रमणीये वनोद्देशे प्रचारायै समुत्सृजन् । शाङ्खलाद्वेषु देशेषु मुहूर्त्तार्थे च वाजिनः ॥ ११३ ॥
तृप्ताः समादिवन् सर्वे देवायतनमुत्तमम् । तुरङ्गखुरनिर्घोषं श्रुत्वा ता योषितां वराः ॥ ११४ ॥
किमेतदिति चोचन्वैव प्रजग्मुहाटकेऽवरम् । आरुह्य बलभीं तास्तु समुदैक्षन्त सर्वशः ॥ ११५ ॥

वे पांचों श्रेष्ठ व्यक्ति भी उन्लपिन होकर रथद्वारा दोपहरके समय सप्तगोदावर जलबाले उस तीर्थमें पहुँचे । वहाँ जाकर वे विश्राम करनेके लिये शीघ्रनामे नीचे उतरे । उनके सारथियोंने भी स्नान किया एवं घोड़ोंको जल पियाकर तथा नटला-धुलकार (उन्हें) सुन्दर वन-प्रदेशमें विचारण करनेके लिये छोड़ दिया । मुहूर्त्तभरमें ही हरिवालीने हरे भरे स्थानमें वे घोड़े नृत्य हो गये । उनके बाद वे सभी (घोड़े) उत्तम देव-मन्दिरके पास दौड़ने लगे । घोड़ोंके प्रपञ्चा शब्द सुनकर श्रेष्ठ शिवा (यह क्या है) ऐसा कहकर हाटकेस्वर (के मन्दिरमें) गयीं एवं छतपर चढ़कर सभी ओर देखने लगीं ॥ १११-११५ ॥

अपश्यंस्तीर्थसलिले स्नायमानान् नरोत्तमान् ।

ततश्चिप्राङ्गदा दृष्ट्वा जटामण्डलधारिणम् । सुरथं हसती प्राह संरोहत्पुलका सखीम् ॥ ११६ ॥

योऽसौ युवा नीलधनप्रकाशः संदृश्यते दीर्घभुजः सुरूपः ।

स एव नूनं नरदेवसुनुर्युतो मया पूर्वतरं पतिर्यः ॥ ११७ ॥

यश्चैव जाम्बूनदतुल्यवर्णः श्वेनं जटामागमधारयिष्यत् ।

स एव नूनं तपतां वरिष्ठो ऋतध्वजो नात्र विचारमस्ति ॥ ११८ ॥

नतोऽप्रवोदथो दृष्ट्वा तन्द्यन्तीं सखीजनम् । पयोऽपरोऽस्यैव सुतो जावालितानत्र संशयः ॥ ११९ ॥

इत्येवमुपगवा घञ्चनं बलभ्या अवतीर्य च । समासताग्रतः शम्भोर्गायन्त्यो गीतिकां शुभाम् ॥ १२० ॥

उन कन्याओंने तीर्थके जलमें स्नान करते हुए उन श्रेष्ठ पुरुषोंको देखा । फिर विनाशदानने जरा मगडठ धरणा मग्नेगाडे श्रुति सुखको देखा । रोनाचिन होकर उमने हँसकी हुई म गीने रहा—नीचे मेघक सात वर्ष तथा लम्बी मुनाओंवाला वह जो सुन्दर युवा पुरुष दिखगयी पद ११ है, निम्न ही पड़े (जन्म में) मैंने उसी गान्धुनको पतिहससे रण किया था । इममें वृष्ट विचारनेनी आवश्यकता नहीं है । तर्पके समान रगसाडे जो व्यक्ति देन नशामरको धारग किये हुए हैं वे निश्चय ही तसभियामें श्रेष्ठ ऋत्भन ही हैं (इमों शङ्क नहीं है) । उसके बाद नन्दयत्नीने सविधोने हर्षित होकर कहा—यह दूसरा व्यक्ति निम्नदेह इही ऋत्भनके पुत्र जागाडि हैं । इस प्रकार कहकर वे सभी उनसे उतरीं एव मरुके मानने श्रेष्ठ कन्याण करनेवाले गीतगान करने (स्तुति करने) लगीं—॥ ११६-१२० ॥

नमोऽस्तु शर्यं शम्भो त्रिनेत्र चारुगात्र त्रैलोक्यकर्ता उनापते दक्षयजुर्विष्णुमर कामाङ्गनाशन घोर पापशणाशन महापुरुष महोद्भूत सर्वसत्त्वभयंकर शुभङ्कर महेश्वर विशाल गारिन् स्वगरे गुह्यासिन् त्रिग्यासः महाशङ्खशेखर जगत्तर कपालमालात्रिभूषितशरीर वामचक्षुः वामदेवजाप्यक्ष भगाङ्गोः क्षयद्वर भीमसेन महासेनानाथ पशुपते कामाङ्गदहन चक्रवर्त्तसिन् शिप महादेव ईशान शङ्कर भीम भद्र वृषभभञ्ज जटिल प्रोढ महानाड्येश्वर भूरिन्दर अविमुक्तक रुद्र रुद्रेश्वर स्यागो एकलिङ्ग कालिन्द्रप्रिय श्रीऋषड नीलरुण्ड व पराजित रिपुभयङ्कर सन्तोषपते वामदेव अघोर तत्पुरुष महाघोर अघोरमूर्ते शान्त सरस्वतीकान्त क्रीनाड सहस्रमूर्ते महोद्भव विभो कालाग्निरुद्र रुद्र हर महाशरप्रिय सर्वतीर्थत्रिनास हंस कामेश्वर केन्दाराधिते परिपूर्ण मुचुबुन्द मधुनिवासिन् कृपाणपाणे भयङ्कर त्रिचाराज सोमराज कामराज रत्नक अञ्जनराजकन्याहृदयलपसे समुद्रशायिन् गजमुख घण्टेश्वर गौरुर्ग ब्रह्मयोने सहस्रवज्रनाशिवरण हाटकेश्वर नमोऽस्तु ते ॥

एतस्मिन्तरे प्राताः सर्वं पवर्गिणार्थिना । द्रष्टुं त्रैलोक्यकर्तारं श्रमयन् हाटकेश्वरम् ॥१२१॥

हे शर्यं ! हे शम्भो ! हे तीन नेत्रवाले ! हे सुन्दर गान्धुन ! हे तीनों लोकोंके स्वामिन् ! हे उमापते ! हे दक्ष यज्ञको विनाश करनेवाले ! हे कामदत्त नाश करनेवाले ! हे घोर ! हे पापसे नष्ट करनेवाले ! हे महापुरुष ! हे भयङ्कर मूर्तिवाले ! हे सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षय करनेवाले ! हे शुभ करनेवाले ! हे महेश्वर ! हे विशालगारिन् ! हे कामराज ! हे गुप्तामें रहनेवाले ! हे दिग्मन् ! हे महाशङ्कके शिरीशूरगवाले ! हे जगधर ! हे जगत्नागमें विभूषित गरीश्वर ! हे वामचक्षुः ! हे वामदन् ! हे प्रजापति ! हे नाशक क्षयवर्त्त ! हे भीमसेन ! हे महासेनानाथ ! हे पशुपते ! हे कामदत्त नश करनेवाले ! हे चक्रवर्त्त (चक्रवर्त्तरे वाम करनेवाले) ! हे शिप ! हे महादेव ! हे ईशान ! हे शङ्कर ! हे भीम ! हे भद्र ! हे वृषभभञ्ज ! हे जटिल ! हे प्रोढ ! हे महानाड्यक ईश्वर ! हे भूरिन्दर (ग्लराजि) ! हे अविमुक्तक ! हे रुद्र ! हे रुद्रेश्वर ! हे स्यागो ! हे एकलिङ्ग ! हे त्रिन्द्रप्रिय ! हे श्रीऋषड ! हे नीलरुण्ड ! हे अरराजि ! हे रिपुभयङ्कर ! हे सन्तोषपते ! हे वामदेव ! हे अघोर ! हे तपुरुष ! हे महाघोर ! हे अघोरमूर्ते ! हे शान ! हे सरस्वतीशान्त ! हे वीनाड ! हे सहस्रमूर्ते ! हे महोद्भव ! हे विभो ! हे नागनिरुद्र ! हे रुद्र ! हे हर ! हे महाशरप्रिय ! हे सर्वतीर्थत्रिनास ! हे हंस ! हे कामेश्वर ! हे केन्दाराधिते ! हे परिपूर्ण ! हे मुचुबुन्द ! हे मधुनिवासिन् ! हे कपालनागे ! हे भयङ्कर ! हे त्रिचाराज ! हे सोमराज ! हे कामराज ! हे रत्नक ! हे अञ्जनराजकन्या (कन्या) न हृदयमें सदा रहनेवाले ! हे समुद्रशायिन् ! हे गजमुख ! हे घण्टेश्वर ! हे गौरुर्ग ! हे ब्रह्मयोने ! हे हजार मुख, आँग एव चरणवाले ! हे हाटकेश्वर ! पापों नमस्कार है ।

इसी वीच समस्त ऋषि एवं राजालोग तीनों लोकोंके कर्ता भगवान् त्र्यम्बक हाटकेश्वरका दर्शन करने वहाँ पहुँच गये—॥ १२१ ॥

समारूढाश्च सुस्ताता दृष्टशुभोपितश्च ताः। स्थितास्तु पुरतस्तस्य गायन्त्यो गेयमुत्तमम् ॥१२२॥
ततः सुदेवतनयो विश्वकर्मसुतां प्रियाम्। दृष्ट्वा हृषितचित्तस्तु संरोहत्पुलको बभौ ॥१२३॥
ऋतध्वजोऽपि तन्वङ्गीं दृष्ट्वा चित्राङ्गदां स्थिताम्। प्रत्यभिज्ञाय योगात्मा बभौ मुदितमानसः ॥१२४॥
ततस्तु सहसाऽभ्येत्य देवेशं हाटकेश्वरम्। सम्पूजयन्तस्त्र्यक्षं ते स्तुवन्तःसंस्थिताःक्रमात् ॥१२५॥

और भलीभाँति स्नान करनेके बाद ऊपर चढ़कर उन लोगोंने देवताके अभिमुख बैठकर गीत गाती हुई (स्तुति करती हुई) स्त्रियोंको देखा। उसके बाद वसुदेवके पुत्र अपनी प्रिया विश्वकर्माकी पुत्रीको देखकर हर्षसे गद्गद हो गये। योगी ऋतध्वज भी तन्वङ्गी चित्राङ्गदाको वहाँ स्थित देख एवं पहचानकर महान् हर्षमें भर गये। उसके बाद सभी व्यक्ति शीघ्र ही देवाविदेव हाटकेश्वर भगवान्के निकट गये एवं त्रिलोचनकी पूजा कर क्रमशः खड़े होकर स्तुति करने लगे ॥ १२२-१२५ ॥

चित्राङ्गदापि तान् दृष्ट्वा ऋतध्वजपुरोगमान्। समं ताभिः कृशाङ्गीभिरभ्युत्थायाभ्यवा दयत् ॥१२६॥
स च ताः प्रतिनन्द्यैव समं पुत्रेण तापसः। समं नृपतिभिर्हृष्टः संविवेश यथासुखम् ॥१२७॥
ततः कपिवरः प्राप्तो घृताच्या सह सुन्दरि। स्नात्वा गोदावरीतीर्थे दिदक्षुहाटकेश्वरम् ॥१२८॥
ततोऽपश्यत् सुतां तन्वीं घृताची शुभदर्शनाम्। साऽपि तां मातरं दृष्ट्वा दृष्ट्वाऽभूद्वरचर्णिनी ॥१२९॥

चित्राङ्गदाने भी उन ऋतध्वज आदिको देखकर उन तन्वङ्गी-(कन्याओं-) के साथ उठकर प्रणाम किया। पुरसहित उन तपस्वीने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे प्रसन्नतासे राजाओंके साथ सुखपूर्वक बैठ गये। सुन्दरि ! उसके बाद गोदावरीतीर्थमें स्नानकर हाटकेश्वर भगवान्का दर्शन करनेकी इच्छावाला वह श्रेष्ठ वन्दर भी घृताचीके साथ वहाँ पहुँचा। फिर घृताचीने अपनी शोभाशालिनी कृशाङ्गी पुत्रीको देखा। वह सुन्दरी भी अपनी उस माताको देखकर हर्षित हो गयी ॥ १२६-१२९ ॥

ततो घृताचीं स्वां पुत्रीं परिष्वज्य न्यपीडयत्। स्नेहात् सवाप्पनयनां मुहुस्तां परिजिघ्रतो ॥१३०॥
ततो ऋतध्वजः श्रीमान् कपिं चचनमब्रवीत्। गच्छानेतुं गुह्यकं त्वमञ्जनाद्रौ महाञ्जनम् ॥१३१॥
पातालादपि दैत्येशं वीरं कन्दरमालिनम्। स्वर्गाद् गन्धर्वराजानं पर्जन्यं शीघ्रमानय ॥१३२॥
इत्येवमुक्ते मुनिना प्राह देववती कपिम्। गालवं चानरश्रेष्ठ इहानेतुं त्वमर्हसि ॥१३३॥

उसके बाद घृताचीने अपनी पुत्रीको भलीभाँति गले लगाया। स्नेहसे आँखोंमें आँसू भरकर वह (अपनी) पुत्रीको बार-बार सूँघने लगी—आशीर्वादात्मक शुभ भावना करने लगी। उसके बाद श्रीमान् ऋतध्वजने कपिसे कहा—तुम महाञ्जन नामके गुह्यकको ले आनेके लिये अञ्जन नामक पर्वतपर चले जाओ। फिर पातालसे वीर दैत्येश्वर कन्दरमालीको और स्वर्गसे गन्धर्वराज पर्जन्यको यहाँ शीघ्र बुला लाओ। मुनिके इस प्रकार कहनेपर देववतीने वन्दरसे कहा—कपिश्रेष्ठ ! गान्धर्वको भी आप यहाँ बुला लवें ॥ १३०-१३३ ॥

इत्येवमुक्ते वचने कपिर्मादृतचिक्रमः। गत्वाऽञ्जनं समामन्त्र्य जगामामरपर्वतम् ॥१३४॥
पर्जन्यं तत्र चामन्त्र्य प्रेषित्वा महाश्रमे। सप्तगोदावरे तीर्थे पातालमगमत् कपिः ॥१३५॥
तत्रामन्त्र्य महावीर्यं कपिः कन्दरमालिनम्। पातालादभिनिष्क्रम्य महीं पर्यचरज्जवी ॥१३६॥
गालवं तपसो योनिं दृष्ट्वा माहिष्मतीमनु। समुत्पत्यानयच्छीघ्रं सप्तगोदावरं जलम् ॥१३७॥
तत्र स्नान्या विशागेन सम्प्राप्तो हाटकेश्वरम्। दृष्टो नन्दयन्ती च स्थितां देववतीमपि ॥१३८॥

एता कइनेपर वायुके समान पराक्रमवाला कवि अज्जन पर्वनर पहुँच गया और (मुख्यरूप) आमन्त्रित हुए सुनेर पर्वनर प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने पर्जन्यको आमन्त्रित किया और सलगोदावर तीर्थमें सिरा महाभागमें नै मेरुके बाद वह फिर पाताललोकमें प्रविष्ट हो गया। वहाँ (ज.र. उतने) महापातकको कन्दर्गात्पीरों स्तुति किया। केशवाली चन्द्र फिर पातालसे निकरकर धृतीपर घूमने लगे। ततोन्निपि कन्याको खोजनेके निकट देखकर उसने छुटौंग नही और उहाँ शीघ्र सलगोदावरके जलके निकट लय किया। वहाँ जग्ने खान करनेके बाद वह हाडकेघरके समीप पहुँचा और उसने वहाँ बैठी हुई नन्दयन्ती तथा रेवतीकी देखा ॥ १३४-१३८ ॥

तं दृष्ट्वा गालवं चैव समुत्थायाभ्यवाइयत् ।

६ चाचिप्यन्महादेवं महर्षीन्भवाइयत् । ते चापि सुपतिश्रेयास्तं सम्पूज्य तपोधनम् ॥१३९॥
 दर्पमनुलं गत्वा उपविष्टा यथासुखम् । तेषूपविष्टेषु तदा धानरोपनिमन्त्रिता ॥१४०॥
 नमायाता महात्मानो यक्षगन्धर्वदानवाः । तानागतान् समीक्ष्यैव पुण्यस्ताः पृथुलोत्तनाः ॥१४१॥
 स्नेहाद्रनयनाः सर्वास्तदा सखजिरे पितृन् । नन्दयन्त्यादिका दृष्ट्वा सपिठका परानना ॥१४२॥
 नवाप्यनयना जाता विश्वकर्मासुता तदा । अथ तामाह स मुनिः सत्यं सत्यध्वजो यवः ॥१४३॥

उन सभीने गलवको देखकर उठकर उनको प्रणाम किया। उन्होंने भी महादेवकी पूजा कर मर्षियोंको प्रणाम किया। उन श्रेष्ठ राजाओंने भी उन तपस्वीकी पूजा की तथा वे अत्यन्त हर्षित होकर सुतपूर्वक बैठ गये। इनके बैठ जानेपर कविद्वारा आमन्त्रित किये गये यक्ष, महानुभार गन्धर्व एव दानव वहाँ आ गये। उन्हें आया हुआ देखते ही उन निशालनयना पुत्रियोंके नेत्रोंमें स्नेहसे आँसू भर आये। वे सभी अपने-अपने पिताके ग्यो रण गयीं। नन्दयन्ती आदिस्त्री पिताके साथ उपस्थित हुईं देखकर विश्वकर्माकी सुन्दरी पुत्रीके नेत्रोंमें (पिताकी स्मृतिमें) आँसू छरक आये। उसके बाद ऋतपत्रज मुनिने उससे सची बात कही— ॥ १३९-१४३ ॥

मा विषादं कृथाः पुत्रि पिताऽयं तव धानरः । सा तद्वचनमाकर्ण्य प्रोडोपहतचेतना ॥१४४॥
 कथं तु विश्वकर्माऽसौ धानरस्यं गतोऽधुना । दुःपुत्र्यामपि जातायास्तस्मात्पक्ष्ये कलेयरम् ॥१४५॥
 इति संचिन्त्य मनसा ऋतध्वजमुवाच ह । परित्रायस्व मां ग्रहान् पापोपहतचेतनाम् ॥१४६॥
 पितृष्ठी मर्तुमिच्छामि तदनुपातुमर्हसि । अयोधाच मुनिस्तनूयां मा विषादं कृथापुना ॥१४७॥

पुत्रि ! तुम उदास मन होओ। यह चन्द्र ही तुम्हारा पिता है। उस वचनको सुनकर यह लजा गयी; क्योंकि मुझ कुपुत्रीके जन्म लेनेके कारण वे विश्वकर्मा इस समय चन्द्र हो गये हैं; अतः (उसने सोचा-) मैं अपने शरीरका त्याग करूँगी। मनमें इस प्रकार विचारकर उसने ऋतपत्रजसे कहा—'मनू' मैं पापसे नरमरिणाली हूँ। आप मेरी रक्षा करें। पिताका ध्यान करनेवाली मैं मरना चाहती हूँ। अतः आप विचार लें। तब मुनिने उस तन्वहीसे कहा— १४४-१४७ ॥

भाध्यस्य नैव नाशोऽस्ति तन्मा न्याशोः कलेयरम् । भविष्यति पिता तुभ्यं भूयोऽप्यमरप्यर्षिकः ॥१४८॥
 जातेऽपत्ये घृताच्यां तु नात्र कार्या विचारणा । इत्येवमुक्तं वचनं मुनिना भाषिणामना ॥१४९॥
 घृताची तां ममभ्येन्य प्राह चित्राह्वदा तत्र । पुत्रि यजाम्य नोकं त्वं मामैर्दनाभिराममजः ॥१५०॥
 भविष्यति पितुस्तुभ्य मन्मकाशात् संशयः । इत्येवमुक्ता मंत्राष्टा यथा चित्राह्वदा तदा ॥१५१॥

भविष्यतामना विनाश नहीं होता—होनी होकर रहती है। इसलिये तब परिय्याग मन करो। घृताचीकी कोखसे पुत्रके जन्म हो जानेपर तुम्हारे पिता फिर भी मरनाओंके शिकारी हो जायेंगे—इसमें संशय

नहीं है । मनके ऊपर नियन्त्रण रखनेवाले मुनिके इस प्रकार कहनेपर घृताचीने चित्राङ्गदाके पास जाकर उससे कहा—पुत्रि ! तुम चिन्ता करना छोड़ दो । तुम्हारे पितादाग मुझसे दस महीनोंमें निःसंदेह एक पुत्र उत्पन्न होगा । (फिर सुतरां शाप-विमोचन हो जायगा ।) ऐसा कहनेपर चित्राङ्गदा हर्षित हो गयी ॥ १४८-१५१ ॥

प्रतीक्षन्ती सुचार्वद्री विवाहं पितृदर्शनम् । सर्वास्ता अपि तावन्तं कालं सुतनुकन्यकाः ॥१५२॥
प्रत्येक्षन्त विवाहं हि तस्या एव प्रियेप्सया । ततो दशसु मासेषु समतीतेष्वथाप्सराः ॥१५३॥
तस्मिन् गोदावरीतीर्थे प्रमृता तनयं नलम् । जातेऽपत्ये कपित्वाच्च विश्वकर्माप्यमुच्यत ॥१५४॥

सुन्दरी (चित्राङ्गदा) अपने विवाहमें मिलनेवाले पितृके दर्शनकी (अनुकतासे) प्रतीक्षा करने लगी । वे सुन्दरी सभी कन्याएँ भी प्रियकी प्राप्तिकी(वाञ्छासे उसके विवाहके समयकी प्रतीक्षा करने लगीं । दस महीने तीन जानेपर अप्सराने उस गोदावरी तीर्थमें पुत्रको उत्पन्न किया, जो (आगे चन्द्रकर) नल (नामक) हुआ । पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर विश्वकर्मा भी वानरत्वसे छूट गये ॥ १५२-१५४ ॥

समभ्येत्य प्रियां पुत्रीं पर्यष्वजत चादरात् । ततः प्रीतेन मनसा सस्मार सुरवर्द्धकिः ॥१५५॥
सुगणामधिपं शक्रं सहैव सुरकिन्नरैः । त्वष्टाऽथ संस्मृतः शक्रो मरुद्गणवृत्तदा ॥१५६॥
सुरैः सरुद्रैः सम्प्राप्तस्तत्तीर्थं हाटकालयम् । समायातेषु देवेषु गन्धर्वेष्वप्सरस्सु च ॥१५७॥
इन्द्रशुम्नो मुनिश्रेष्ठमृतध्वजमुवाच ह । जावालेर्ष्यतां ब्रह्मन् सुता कन्दरमालिनः ॥१५८॥
श्रुत्वा विधिवत् पाणि दैत्य्यास्तनयस्तव । नन्दयन्तीं च शकुनिः परिणेतुं स्वरूपवान् ॥१५९॥

अपनी प्रिय पुत्रीके पास जाकर उन्होंने उसको स्नेहपूर्वक गले लगाया । उसके बाद प्रसन्न मनसे देवशिष्याने देवताओं एवं किन्नरोंसहित देवराज इन्द्रका सागण किया । देवशिल्पीके स्मरण करनेपर इन्द्र मरुद्गणों, देवों एवं रुद्रोंके साथ हाटक नामके तीर्थमें आ गये । देवताओं, गन्धर्वों और अप्सराओंके आनेपर इन्द्रशुम्नने मुनिश्रेष्ठ मृतध्वजने कहा—ब्रह्मन् ! जावाल्कि को कन्दरमालीकी कन्याका दान कर दें । आपका पुत्र विधिवत् दैत्यनन्दिनीका पाणिग्रहण कर ले । स्वल्पवान् शकुनि नन्दयन्तीमे विवाह करें ॥ १५५-१५९ ॥

ममयं वेदव्यस्तु त्वाष्ट्रयो सुरथव्य च । वाढमित्यत्रवाद्द्वयो मुनिर्मनुसुतं नृपम् ॥१६०॥
ततोऽनुचक्रुः संहृष्टा विवाहविधिमुत्तमम् । ऋत्विजोऽभूद् गालवस्तु हुत्वा हव्यं विशान्तः ॥१६१॥
गायन्त तत्र गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा । आदौ जावालिनः पाणिर्गृहीतो दैत्यकन्यया ॥१६२॥
इन्द्रशुम्नेन तदनु वेदवत्या विधानतः । ततः शकुनिना पाणिर्गृहीतो यक्षकन्यया ॥१६३॥
चित्राङ्गदायाः कल्याणि सुरथः पाणिमग्रहोत् । एवं क्रमाद् विवाहस्तु निर्वृत्तस्तनुमध्यमे ॥१६४॥

यह वेदवती मेरी (इन्द्रशुम्न भी) और त्वष्टा- (विश्वकर्मा-) की पुत्री (चित्राङ्गदा) सुरथकी पत्नी हो । मुनिके मनुपुत्र राजामे कहा—ठीक है । उनके अट उन लोगोंने प्रसन्नतापूर्वक मन्त्रीमांति विवाह की विधिको पूरा किया । विधिसे हव्यका उबत करनेवाले गालव ऋत्विग् बने । उस समय वहाँ गन्धर्वोंने गाना गाया और अप्सराओंने नृत्य किया । सबसे पहले दैत्यकन्याने जावाल्किका पाणिग्रहण किया । कन्यागि ! उसके बाद निधिपूर्वक इन्द्रशुम्नने वेदवतीका, शकुनिके यक्ष-कन्याका तथा सुरथने चित्राङ्गदाका पाणिग्रहण किया । कृशोदरि ! इस प्रकार विवाहकार्य क्रमशः सम्पन्न हुआ ॥ १६०-१६४ ॥

नृत्तं मुनिर्विवाहे तु शक्रादीन् प्राह दैवतान् । अस्मिस्तोर्थे भवद्भिस्तु समगोदावरे सदा ॥१६५॥
स्वयं विदोपतो मासमिमं माधवमुत्तमम् । वाढमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा दिवं क्रमात् ॥१६६॥

मुनयो मुनिमादाय सपुत्रं जम्बुरादगत् । भार्याद्याज्ञाय राजानः स्वं स्वं जगत्प्रमागतः ॥ १६७ ॥
 प्रहृष्टः सुखिनस्तस्थुः भुङ्जते विषयान् म्रियान् ।
 चित्राङ्गदाया, कल्याणि एवं घृत्तं पुरा किल । तन्मां कमलपत्राक्षि भजस्व ललनोत्तमे ॥ १६८ ॥
 इत्येवमुक्त्वा नरदेवसुनुस्तां भूमिदेवस्य सुतां वरोक्षम् ।
 स्तुवन्मृगाक्षीं मृदुना क्रमेण सा चापि घातयं नृपतिं यभाषे ॥ १६९ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे पञ्चपष्ठिनमाध्यायः ॥ ६५ ॥

निगह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर मुनि- (ऋतध्वज-) ने इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—इत ससगोदार तीर्थमें आपलोग सदा निवास करें । विशेषरूपसे इस उत्तम वशाखक मर्दानमें आपलोग यहाँ अरक्ष रहें । देवता लोग 'ऐसा ही हों'— (ऐसा) कहकर प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग चले गये । मुनिलोग पुनस्तित मुनि- (ऋतध्वज-) को सादर साथ लेकर चले गये । राजा लंग भी अपनी-अपनी पत्नीके साथ अपने-अपने नगरमें आ गये । सभी लोग प्रिय विषयोंका उपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे । कल्याणि ! चित्राङ्गदाका पूर्व वृत्तान्त इस प्रकारका है । इसीप्रिये सतीजनयने ! लडनोत्तमे ! तुम मुझे अङ्गीकार करो । ऐसा कटकर राजपुत्र (दण्ड) ब्राह्मणनी उस सुन्दरी मृगनयनी पुरीक्षी कोमल बागीसे स्तुति करने लगे । उसने भी राजासे (आगेवाला वचन) कहा—॥ १६५-१६९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंसठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥



[अथ पट्पष्ठितमोऽध्यायः]

अरजा उवाच

नामानं तव दास्यामि बहुनोक्तेन किं तव । रक्षन्तीं भयतः शापादान्मानं च महोपते ॥ १ ॥
 छाछठवें अध्याय प्रारम्भ

(दण्डक-अरजाके प्रसङ्गमें शुकद्वारा दण्डकको शाप, प्रह्लादका अन्धकको उपदेश और अन्धक शिव-सन्दर्भ)

अरजाके कहा—पृथिवीपते ! आरक अरिक कहनेसे क्या लाभ ? (धोंडेमें समझ लीजिये कि तिराके) शापसे आपकी और अपनी रक्षा करती हुई ही मैं अपनेको आरक प्रिये समर्पित नहीं करूँगी ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

इत्थं विवदमाना तां भार्याध्वजसुतां बलात् । कामोपहतचित्तात्मा ध्यध्वजमयत मन्दर्धः ॥ २ ॥
 तां कृत्वा च्युतचारिणो मदस्त्वः पृथिवीपतिः । निदबन्तमाश्रमान् तस्माद् गनध्वनगरं निजम् ॥ ३ ॥
 साऽपि शुकसुता तन्यो अरजा रजसाप्लुता । आश्रमादथ निर्गत्य बहिस्तस्यावधोमुत्तो ॥ ४ ॥
 चिन्तयन्ती स्वपितरं रुदती च मुहुर्मुहुः । महाप्रहापनप्लव्य राहिजा शशिनः म्रिया ॥ ५ ॥

प्रह्लादके कथा—जायसे अथ हुए उस मूर्खने इस प्रकार विवाद (विषय) किया हुई श्रेष्ठ भोग्य बुद्धिमें प्रसूत उस नृत्याको हठात् आपन (बलश्रीर) कर दिया । मरसे जग बना हुआ यह चरित्रसे च्युत हो करके उस आश्रमसे बाहर निकलकर अपने नगर चला गया । उसका माद रजसे लपटगी वट वृक्षकी सुन्दरपुत्री अरजा भी आश्रमसे बाहर निकलकर नीचे मुग्ध लपटगये बैठ गयी । राहुसे पीड़ित चन्द्र-प्रिया रोहिणीक समान यह अपने मित्राग चिन्तन करती हुई बारम्बार (विडम्बितविकर) रोने लगी ॥ २-५ ॥

ततो बहूनिथे काले संप्राने यद्यकर्मणि । पानाल्यादागमच्छुक्रः स्वमाश्रमपदं मुनिः ॥ ६ ॥
 आश्रमन्ते च दृष्टो मुनां दैव्य रत्नसल्लाम् । मेघंलम्बामिवाकाशे संव्यागगेण रञ्जिताम् ॥ ७ ॥
 तां दृष्ट्वा परिपयच्छ पुत्रि केनासि धरिणिता । कः क्रीडति स्वरोपेण सममार्शाविषेण हि ॥ ८ ॥
 क्रोड्यैव याम्यां नगरीं यमिध्यति मुदुर्मनिः । कस्त्वां शुद्धसमाचारां चिध्वंसयति पापकृत् ॥ ९ ॥
 ततः स्वपितरं दृष्ट्वा कम्पमाना पुनः पुनः । मन्दन्ती व्रीहयोपेता मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १० ॥

उसके बाद जब बहुत नियावाला समय हीन गया और यज्ञ समाप्त हो गया तब शुक्रमुनि पानाल्ये अपने आश्रममें आये । दैव्य ! उन्होंने आश्रममें बाहर आकाशमें संव्यागके समय लालिचामे रञ्जित मेवमाया ती तरह धूटसे टिपरी हुई अपनी पुत्रीको देखा । उसे देखकर उन्होंने पुत्र—पुत्रि ! किसने तुम्हारा धर्षण (अपमान) किया है ? क्रोडमें मौपमे कौन क्या कर रहा है ? पवित्र आचरणवाली तुम्हें डोकसे च्युत कर कौन दृष्टुहि पापी आज ही यमपुरी जानेवाला है ? उसके बाद अपने पिताकी देखकर बाम्भार काँपती, रोती एवं लज्जानी हुई अज्ञाने धीरे-धीरे कहा—॥ ६-१० ॥

तव शिष्येण दण्डेन चार्यमाणेन चासकृत् । कलादनाथा रुद्रीं तानाऽहं वचनीयताम् ॥ ११ ॥
 एतन् पुत्र्या वचः श्रुत्वा क्रोधमरुक्तलोचनः । उपस्पृश्य शुचिर्भुत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥
 यस्मान् नेनाचिर्नान्त मत्तो दामयसुत्तमम् । गौरवं च निरम्ह्य च्युतधमाऽरजा कृता ॥ १३ ॥
 तस्मान् सगणः सवल्गः सभृत्यो वाहनैः सह । समराचान्तराद् भस्म प्राववृष्टया भविष्यति ॥ १४ ॥

बाबुआर बरजनेपर भी आपके शिष्य दण्डने रोती हुई मुझ अनायासो वरपूर्वक निन्दनीया बना दिया है— हमारा डोकभ्रंश कर दिया है । कल्याकी इस बातको सुनकर शुक्राचार्यकी ओरिं क्रोधमे अवलन लाल हो गयीं । उन्होंने आचमन करके शुद्ध होकर यह (शाप-) वचन कहा—यनः उस उदण्डने मुझमे प्राप्त उत्तम अमय एवं गौरवको निरम्ह्यकर अज्ञाको धर्मसे च्युत किया है, अतः यह मान गरियों- (दिनों-) में उपलवृष्टिके कारण राष्ट्र, मेना, मृत्य एवं वाहनोमहित विनष्ट हो जायगा—हो जाय ॥ ११-१४ ॥

इत्येवमुक्त्वा मुनिपुङ्गवोऽसी जप्त्वा स दण्डं चमृतामुवाच ।
 त्वं पापमोक्षार्थमिदं पुत्रि निष्टस्य कल्याणि नपश्चरन्ती ॥ १५ ॥
 दण्डेभ्यं भगवात् शुक्रो दण्डमिद्व्याकुलन्दनम् । जगाम शिष्यसहितः पानालं दानवालयम् ॥ १६ ॥
 दण्डोऽपि भग्नाद् भूतः सगणवल्गवाहनः । महता प्राववर्षेण समराचान्तरं नष्ट ॥ १७ ॥
 एतं दण्डकारण्यं परिष्यजन्ति देवताः । शाल्यं सक्षत्रानां तु कृतं देवेन शम्भुना ॥ १८ ॥

उन मुनिश्रेष्ठने ऐसा कहकर दण्डको शाय देनेके बाद अपनी पुत्रीसे कहा—पुत्रि ! कल्याणि ! पापमे लुट्याग पानेके लिये तुम तपस्या करनी हुई यही रही । भगवान् शुक्र इश्व्याकुलन्दन दण्डको इस प्रकार शाप देकर शिष्यके साथ दानवीके निवामन्याल पानाल्येक्षमें चले गये । उसके बाद दण्ड भी बहुत बड़ी उपलवृष्टिके कारण मान गरियोंके भीतर ही अपने राष्ट्र, मेना और वाहनोके साथ नष्ट हो गया । यही कारण है कि देवताओंने दण्डकारण्यमें शौद दिया और शम्भुने उसे सक्षत्रोंका स्थान बना दिया ॥ १५-१८ ॥

एतं परकलत्राणि नयन्ति सुरनीलणि । भस्मभूतान् प्राकृतांस्तु महान्तं च पराभवम् ॥ १९ ॥
 तस्मादन्धकः दृष्टुंकिर्न कार्या भवना न्वियम । प्राकृताऽपि देवनागी किमुनाहोद्विजन्दिनी ॥ २० ॥
 महारोऽपि न दैव्यां शफ्यां जेतुं सुरासुरैः । द्रष्टुमप्यमिनीजस्कः किमु योधयितुं रणे ॥ २१ ॥

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर वर्णित है, परमार्यों अपनेको (अशक्ति करनेवाले) पुत्र्यामाओंको भी जयाकर राख (नष्ट) कर देनेकी हैं, फिर साधारण मनुष्य तो बहुत बढ़ा निरस्कार प्राप्त करते हैं । अतः अन्धक ! आपको ऐसी दुर्बुद्धि नहीं करनी चाहिये । साधारण स्त्री भी जन्म सकती है तो पार्वतीका क्या करना । दैत्येश्वर ! सुर या असुर कोई भी महादेवको नहीं जीत सकता । जब रणमें अत्यधिक ओतसे स्पर्श शंकरको देखा भी नहीं जा सकता तब उनसे युद्ध करना कैसे सम्भव है ॥ १०-२१ ॥

पुत्रस्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने क्रुद्धस्ताम्रेक्षणः श्वसन् । धाम्यमाह महातेजाः प्रह्लादं चान्यकासुरः ॥ २२ ॥
किं ममासौ रणे योद्धुं शकस्त्रिणयनोऽसुर । पकारो धर्मरहितो भस्करनितविप्रदः ॥ २३ ॥
नान्धको विभियादिन्द्रानामरेभ्यः कथंचन । स कथं वृषपथाक्षाद् विमेति स्त्रोमुपेक्षमाव् ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वाऽस्य वचो घोरं प्रह्लादः प्राह नारद । न सम्पगुक्तं भवना विरुद्धं धर्मतोऽप्यंतः ॥ २५ ॥

पुत्रस्यजी बोले—ऐसा वचन कहनेपर क्रुद्ध एवं लाल-श्राद्ध आँवें किये हुए महातेजवी अन्धकसुरने लंबी साँस लेते हुए प्रह्लादसे कहा—असुर ! क्या शरीरपर राव लपेटे, (मृत, लोक) धर्मसे रहित अनेक्य बड़ त्रिनयन लड़ाईके मैदानमें मुझसे युद्ध कर सकता है ! जो अन्धक इन्द्र या (अन्य) देव्याओंसे कभी नहीं डरता वह बैलकी सगरी करनेवाले तथा स्त्रीका मुख निहारनेवाले त्रिनेत्र- (शंकर-) से कैसे डर सकता है ! नारद ! उसके उस कटोर वचनको सुनकर प्रह्लादने कहा—आप यह उचित नहीं कह रहे हैं । आपका कहना धर्म एवं अर्थके विपरीत है ॥ २२-२५ ॥

हुताशनपतङ्गाम्यां सिद्धकोप्टकयोरिव । गजेन्द्रमराकाम्यां च रुषमपाराणयोरिव ॥ २६ ॥
पलेयामेभिरुदितं यावदन्तरमन्धक । तावदेयास्तरं चास्ति भवतो वा हरम्य च ॥ २७ ॥
वारितोऽसि मया वीर भूयो भूयश्च धार्यसे । शृणुष्व धार्यं देवपौरसिनस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
यो धर्मशीलो जितमानरोयो विद्याविनीतो न परोपतापी ।
सदारतुष्टः परदाप्यजो न नस्य लोके भयमस्ति किञ्चित् ॥ २९ ॥

अन्धक ! अग्नि और जुगन्, सिंह और सियार, गजेन्द्र और मशक तथा सोने और पथरमें जिनका अन्तर कहा जाता है, उनका ही अन्तर आप और शङ्करको तुलनामें है । वीर ! आपको मैं रोका है और (अब भी) बार-बार रोका रहा हूँ । आप देवर्षि अस्मिता वचन सुनें—जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ, अस्मिता और मोक्षको जीतनेवाला, विद्यामें त्रिनेत्र, विस्तीर्ण दुःख न देनेवाला, अपनी पत्नीमें सन्तुष्ट तथा परस्त्रीका त्याग करनेवाला होता है, उसे संसारमें कोई भय नहीं होता ॥ २६-२९ ॥

यो धर्महीनः क्लृप्तमियः सदा परोपतापी श्रुतिदास्यवर्जितः ।
परार्थदूरेऽसुरवर्णसंगामी सुखं न विन्देत परत्र येह ॥ ३० ॥
धर्मान्वितोऽभूद् भगवान् प्रभाकरः संत्यकरोपथ मुनिः स चादणिः ।
विद्याऽन्वितोऽभून्मनुरर्कपुत्रः सदारसंतुष्टप्रनासवपस्यः ॥ ३१ ॥
पतानि पुण्यानि कृतान्यमोभिर्मया नियद्धानि कुलकमोक्षया ।
तेजोऽन्विताः शापघरक्षमाश्च जाताश्च सर्वे सुखसिद्धपूज्याः ॥ ३२ ॥
अधर्मऽयुक्तोऽङ्गसुतो यभूय विमुञ्च नित्यं क्लृप्तमियोऽभूत् ।
परोपतापी नमुचिदुंरात्मा पराथलेऽसुर्नदुपथ गज ॥ ३३ ॥

जो व्यक्ति धर्मसे हीन, कलहसे प्रेम रखनेवाला, सदा दूसरोंकी दृष्टि देनेवाला, वेद-शास्त्र (के अध्ययन-) से रहित, दूसरेके मन और दूसरेकी स्त्रीकी इच्छा रखनेवाला तथा भिन्न वर्णके साथ सम्बन्ध करनेवाला होता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख नहीं पा सकता। भगवान् सूर्य धर्मसे युक्त थे, महर्षि वारुणिने (वसिष्ठने) क्रोध छोड़ दिया था, सूर्यपुत्र मनु विद्यावान् थे और अगस्त्य ऋषि अपनी पत्नीमें सन्तुष्ट थे। मैंने कुलके क्रमानुसार इन पुण्य करनेवालोंका उल्लेख किया है। शाप और धर देनेमें समर्थ ये सभी तेजस्वीलोग देवताओं और सिद्धोंके पूज्य हुए। अङ्गपुत्र (वेन) अगामिक और शक्तिशाली तथा नित्य कलहप्रिय था। दूरान्मा नमुचि परसंतापी एवं राजा नहुष पर-स्त्रीपर अधिकार प्राप्त करना चाहता था ॥ ३०-३२ ॥

परार्थलिप्सुर्दितिजां हिरण्यदक मूर्खस्तु तस्याप्यनुजः सुदुर्मतिः ।

अवर्णसंगी यदुरुत्तमौजा एते विनष्टास्त्वनयात् पुरा हि ॥ ३४ ॥

तस्माद् धर्मो न संन्याज्यो धर्मो हि परमा गतिः । धर्महीना नरा यान्ति रौरवं नरकं महत् ॥ ३५ ॥

धर्मस्तु गदितः पुम्भिस्तारणे द्विवि चेद् च । पतनाय तथाऽधर्म इह लोके परत्र च ॥ ३६ ॥

न्याज्यं धर्मान्वितैर्नित्यं परदारोपसेवनम् ।

नयन्ति परदारा हि नरकानेकविंशतिम् । सर्वेषामपि वर्णानामेव धर्मो ध्रुवोऽन्ध्रक ॥ ३७ ॥

दितिका पुत्र हिरण्याक्ष परधनका लालची था। उसका श्रेष्ठ भाई दुर्बुद्धि एवं मूर्ख था तथा पराक्रमी यद् भिन्न जातिके साथ सम्बन्ध करनेवाला था। ये सभी पूर्वकालमें दुर्नीतिके कारण नष्ट हो गये। इसलिये धर्मको नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि धर्म ही उत्तम गति है। धर्मसे हीन मनुष्य महान् रौरव नरकमें जाते हैं। पूर्वजोंने धर्मको ही परलोकको पार करनेवाला बनाया है तथा अधर्मको इस लोक और परलोकमें पतनका हेतु बनाया है। धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंको परस्त्रीका सेवन करना सर्वत्र वर्जनीय बनाया है यतः परस्त्रियाँ इक्कीस नरकोंमें ले जाती हैं। अन्धक! सभी वर्गके लिये यह निश्चित धर्म है ॥ ३४-३७ ॥

परार्थपरदारपु यदा वाञ्छां करिष्यति । स याति नरकं श्वेरं रौरवं बहुलाः समाः ॥ ३८ ॥

एवं पुराऽसुरपते देवर्षिरसितोऽव्ययः । प्राह धर्मव्यवस्थानं खगेन्द्रायारुणाय हि ॥ ३९ ॥

तस्मात् सुदूरतो व्रजेत् परदारान् विचक्षणः । नयन्ति निहृतिप्रसङ्गं परदाराः पराभवम् ॥ ४० ॥

जो मनुष्य दूसरेके मन और दूसरेकी स्त्रीमें कामना करता है, वह बहुत वर्षोंके लिये भयंकर रौरव नरकमें चला जाता है। गणेशमन! प्राचीन समयमें महात्मा देवर्षि असितने गहड़ तथा अरुणसे धर्मकी यह व्यवस्था कही थी। इसलिये विद्वान् व्यक्ति दूसरी स्त्रियोंको दूरसे ही परित्याग कर दे; क्योंकि परस्त्रियाँ नीच बुद्धिवाले मनुष्योंको निरस्कृत करा देती हैं ॥ ३८-४० ॥

पुलस्त्य उवाच

एत्यंघमुने वचने प्रह्लादं प्राह चान्धकः । भवान् धर्मपरस्त्वेको नाहं धर्मं समाचरे ॥ ४१ ॥

एत्यंघमुक्त्या प्रह्लादमन्धकः प्राह शम्बरम् । गच्छ शम्बर शैलेन्द्रं मन्दरं वद शङ्करम् ॥ ४२ ॥

भिक्षो किमर्थं शैलेन्द्रं स्वर्गतुल्यं सकन्दरम् । परिभुञ्जसि केनाद्य तव इत्तो वदस्व माम् ॥ ४३ ॥

निष्ठन्ति शांते मातं देवाः शक्रपुंगवामाः । तत् किमर्थं निवससे मामनाहत्य मन्दरे ॥ ४४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकारका वचन कहनेपर अन्धकने प्रह्लादसे कहा कि आप अकेले धर्मनिष्ठ हैं। मैं धर्मका व्यवहार नहीं करता। प्रह्लादसे इस प्रकार कहकर अन्धकने शम्बरसे कहा—शम्बर! तुम मन्दर

पर्वतपर जाओ और शहरसे रहो—मिश्रुण । तुम युगमें रहनेवाले होकर और सबक ममान मन्दर पर्वतका उपभाग क्यों कर रहे हो । मुझ जलजालो कि तुमका रोग निम्न द दिया है । इन्द्र आदि देवता मग शामन मानते हैं । तुम मग अपमान करत इस मन्दर पर्वतका रोग है । ४१-४४ ॥

यद्योऽस्तव शैलेन्द्र कियतां वचन मम । यद्य हि भवत पत्नी सा मे शीघ्र प्रदीयताम् ॥ ४५ ॥
इत्युक्त स तदा तेन शम्भरो मन्दर द्वनम् । जगाम तत्र यत्रास्ते सह देव्या विनाकपृक् ॥ ४६ ॥
गर्वोवाचान्धकवचो याथातथ्य दनो सुत । तमुत्तर हर प्राह शृण्वत्या गिरिकन्यया ॥ ४७ ॥
ममाय मन्दरो दत्त सहस्राक्षेण भीमता । तत्र शक्नोम्यह त्यक्त विनाशं ध्रुववैरिण ॥ ४८ ॥

यदि यह पर्वतताज तुम्हें अभीष्ट है तो मेरे कहनेक अनुसार कार्य करो । तुम्हारी जो पत्नी है, उसे मुझ शीघ्र द दो । उसका ऐसा कहनेपर शम्भर शीघ्रतासे उस मन्दर पर्वतपर गया, जहाँ विनाशपाणि शहर दरीक साथ निवास कर रहे थे । दनुपुत्रत वहाँ जाकर अन्धक वचनको ज्यों-कैसे-उसी । शङ्करन पर्वतनदिनीक सुनते हुए उसे उत्तर दिया । बुद्धिमान इन्द्रन मुझ यह मन्दर पर्वत दिया है । इसीज्ये ध्रुवासुरक श्री इन्द्रकी आज्ञाक बिना मैं इसे नहीं छोड़ सकता ॥ ४५-४८ ॥

यथाप्रवीद् शीयता म गिरिपुत्रानि दानव । तदेव यतु स्व काम नाह वारयितु क्षम ॥ ४९ ॥
तसोऽग्रवीद् गिरिसुता शम्बर मुनिसत्तम । ब्रूहि मत्वान्धक वीर मम वाक्य विपश्चितम् ॥ ५० ॥
अह पताका समग्राम भवानीशश्च देविनी । प्राणधत्तं परिस्तार्य यो जेष्यति स लप्स्यते ॥ ५१ ॥
इत्येवमुक्तो मतिमात्र शम्भरोऽन्धकमागमत् । समागत्याग्रवीद् वाक्य शर्वगौर्योऽह भावितम् ॥ ५२ ॥

जानने जा यह कहा कि गिरिनदिनीको मुझ द दो, तो ये अपनी इच्छासे जा सकती हैं । मैं इन्हें नहीं रोक सकता । मुनिसत्तम ! उसका बात गिरिपुत्री पारतीने शम्बरसे कहा—वीर ! तुम जाकर विद्वान् अन्धकसे भी बात कहो—समग्राममें मैं तो पतारा हूँ । आप और शकर खेनेवाले हैं । प्राणोंका घन फैलाकर (हर जीतका दाँव लगाकर) जो जीतगा वह मुझ प्राप्त करेगा । ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् शम्बर आगेक पास गया एवं उसन शकर तथा गौरीकी रही हुए बातें (ज्यों-कैसे-उसी) उससे कह दीं ॥ ४९-५२ ॥

तच्छ्रुत्वा दानघपति प्राधक्षोत्सृज्य भवसन् । समाह्वयाग्रवीद् वाक्य दुर्योधनमिद् वच ॥ ५३ ॥
गच्छ शीघ्र महायाहो भेरौ साध्यादिकौ वदाम् । ताडयस्व सुविधग्ध दु शीलामिघ पोषितम् ॥ ५४ ॥
समादिशोऽन्धकेनाय भेरौ दुर्योधनो बलात् । ताडयामास वेगेन पथा प्राणेन भूपसा ॥ ५५ ॥
स्य ताडिता पल्लवना भेरौ दुर्योधनेन हि । सत्वरं भैरवं राघ रराघ सुरभी पथा ॥ ५६ ॥

उसे सुनकर दानघपतिकी आँखें क्रोधसे चलन लगी । उवा साँस लेने हुए दुर्योधनको बुगार उसन कहा—महाबाहा ! शीघ्र जाओ एवं यास्क या समामक समयमें बजनेवाले जुझाऊ नगड़ेको (मस्तामे) नार जोरसे ऐसे पीटो जैसे दुराचारिणीको कोई (उमर अपराध कारण उसका अभिमान आदि निरर्थकसे) ताड़ित करता है । उसका बात आरसे आदेश प्राप्त कर दुर्योधन अत्यन्त बलपूर्वक जी जानसे वेगपूर्वक भेरीको बजाने लगा । बलवान् दुर्योधनद्वारा बलपूर्वक बजायी जली हुई वह भेरी महासा भयकर ध्वनिमें घरघगन लगी, जिस प्रकार सुरभी घरघराती है ॥ ५३-५६ ॥

तस्यास्तं स्वरभाकर्यं सर्वं एव मदासुरा । समायाता सभा तूर्ण विमेतदिति वादिन ॥ ५७ ॥
यायातथ्य च तान् सर्वानाह सेनापतिर्यत्नी । ते चापि बलिना धेष्टा सन्तस्य युद्धकाङ्क्षिणा ॥ ५८ ॥

सहान्धका निर्ययुस्ते गजैरुद्वैह्यै रथैः । अन्धको रथमास्थाय पञ्चनत्वप्रमाणतः ॥ ५९ ॥
 ज्यम्बकं स पराजेतुं कृतबुद्धिर्विनिर्ययौ । जम्भः कुजम्भो हुण्डश्च तुहुण्डः शम्भरो बलिः ॥ ६० ॥
 वाणः कार्तस्वरो हस्ती सूर्यशत्रुर्महोदरः । अयःशङ्कुः शिविः शाल्वो वृषपर्वा विरोचनः ॥ ६१ ॥
 हयग्रीवः कालनेमिः संह्लादः कालनाशनः । शरभः शलभश्चैव विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ॥ ६२ ॥
 दुर्योधनश्च पाकश्च विपाकः कालशम्भरौ ।
 एते चान्ये च बहवो महावीर्या महाबलाः । प्रजगमुस्तुका योद्धुं नानायुधधरा रणे ॥ ६३ ॥
 इत्थं दुरात्मा दनुसैन्यपालस्तदान्धको योद्धुमना हरेण ।
 महाचलं मन्दरमभ्युपेयिवान् स कालपाशावसितो हि मन्दधीः ॥ ६४ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे पट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

उसकी उस ध्वनिको सुनकर सभी बड़े असुर 'यह क्या है ?'— ऐसा कहते हुए शीघ्रतासे सभामें आ गये । पराक्रमी सेनापतिने उन सभीसे उचित और सत्य वचन कहा । युद्धकी इच्छा करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ ने सभी वीर तैयार हो गये । हाथी, ऊँट, घोड़ों और रथोंसहित वे सभी अन्धकके साथ बाहर निकले । पाँच नत्व— अर्थात् चार सौ (४००) हाथके प्रमाणवाले रथपर चढ़कर अन्धक त्रिलोचन शंकरको जीतनेका निश्चय कर बाहर निकला । जम्भ, कुजम्भ, हुण्ड, तुहुण्ड, शम्भर, बलि, वाण, कार्तस्वर, हस्ती, सूर्यशत्रु, महोदर, अयःशङ्कु, शिवि, शाल्व, वृषपर्वा, विरोचन, हयग्रीव, कालनेमि, संह्लाद, कालनाशन, शरभ, शलभ, पराक्रमी विप्रचित्ति, दुर्योधन, पाक, विपाक, काल एवं शम्भर—ये सभी तथा अन्य अनेक महापराक्रमशाली एवं महाबलवान् राक्षस भौंनि-भौंनिके आयुधोंको लेकर प्रबल इच्छासे संप्राममें लड़नेके लिये चल पड़े । इस प्रकार काल-पाशसे बँधा हुआ वह अन्धमनि दनुसैन्यपति दृष्टात्मा अन्धक शंकरसे युद्ध करनेके विचारसे महान् पर्वत मन्दरपर गया ॥ ५७—६४ ॥
 इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छल्लठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

[अथ सप्तपष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

दुरोऽपि शम्भरं याते समाह्वयाथ नन्दिनम् । प्राहामन्त्रय शैलादीन् ये स्थितास्तव शासने ॥ १ ॥
 ननां महेशवचनाच्चन्द्री नूर्णतरं गतः । उपस्पृश्य जलं श्रीमान् सस्वार गणनायकान् ॥ २ ॥
 नन्दिना संस्मृताः सर्वे गणनायाः सहस्रशः । समुत्पत्य त्वरायुक्ताः प्रणतास्त्रिदशेश्वरम् ॥ ३ ॥
 आगतांश्च गणाच्चन्द्री कृताञ्जलिपुटोऽव्ययः । सर्वान् निवेदयामास शङ्कराय महात्मने ॥ ४ ॥

सहस्रठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(नन्दिद्वारा आहूत गणोंका वर्णन, उनसे हरि और हरका एकत्व प्रतिपादन, गणोंको

नदाशिवका दर्शन और गणोंद्वारा मन्दरका भर जाना)

पुलस्त्यजी बोले—शम्भरके चले जानेपर शंकरने भी नन्दीको बुलाकर कहा—नन्दिन् ! तुम्हारे शासनमें जो पर्वत आदि रहते हैं, उन्हें इस (माङ्गलिक) कार्यमें आनेके लिये आमन्त्रित करो । उसके बाद महेशके कहनेसे नन्दी शीघ्रनिर्गमन गये और उन्होंने जल्का आचमन कर गणनायकोंका स्मरण किया । नन्दीसे स्मरण किये गये सभी गणनायकोंमें हजारोंकी संख्यामें शीघ्रतासे आकर त्रिदशेश्वर शंकरको प्रणाम किया । अविनाशी नन्दीने महाना शंकरने हाथ जोड़कर सभी आये हुए गणोंको निवेदित किया ॥ १—४ ॥



मन्दारपर्व अवस्थित भगवान् शङ्कर

सदान्धका निर्यगुस्तं गजैरग्रैर्हयै रथैः । अन्धको रथमास्थाय पञ्चनल्वप्रमाणतः ॥ ५९ ॥
 त्र्यम्बकं स पराजितुं कृतबुद्धिर्विनिर्भयौ । जम्भः कुजम्भो हुण्डश्च तुहुण्डः शम्बरौ बलिः ॥ ६० ॥
 वाणः कार्तस्वरौ हस्ती सूर्यशत्रुर्महोदरः । अयःशंकुः शिविः शाल्वो वृषपर्वा विरोचनः ॥ ६१ ॥
 हयग्रीवः कालनेमिः संह्रादः कालनाशनः । शरभः शलभश्चैव विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ॥ ६२ ॥
 दुर्योधनश्च पाकश्च विपाकः कालशम्बरौ ।
 एते चान्ये च बहवो महावीर्या महाबलाः । प्रजग्मुस्तसुका योद्धुं नानायुधधरा रणे ॥ ६३ ॥
 इत्थं दुरात्मा दनुसैन्यपालस्तदान्धको योद्धुमना हरेण ।
 महाबलं मन्दरमभ्युपेयिवान् स कालपाशावसितो हि मन्दधीः ॥ ६४ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे पद्मपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

उसकी उस ध्वनिकों सुनकर सभी बड़े असुर 'यह क्या है ?'— ऐसा कहते हुए शीघ्रतासे सभामें आ गये । पराक्रमी सेनापतिने उन सभीसे उचित और सत्य वचन कहा । युद्धकी इच्छा करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ ने सभी वीर तैयार हो गये । हाथी, ऊँट, घोड़ों और रथोंसहित वे सभी अन्धकके साथ बाहर निकले । पाँच नल्व— अर्थात् चार सौ (४००) हाथके प्रमाणवाले रथपर चढ़कर अन्धक त्रिलोचन शंकरको जीतनेका निश्चय कर बाहर निकला । जम्भ, कुजम्भ, हुण्ड, तुहुण्ड, शम्बर, बलि, वाण, कार्तस्वर, हस्ती, सूर्यशत्रु, महोदर, अयःशङ्कु, शिवि, शाल्व, वृषपर्वा, विरोचन, हयग्रीव, कालनेमि, संह्राद, कालनाशन, शरभ, शलभ, पराक्रमी विप्रचित्ति, दुर्योधन, पाक, विपाक, काल एवं शम्बर—ये सभी तथा अन्य अनेक महापराक्रमशाली एवं महाबलवान् राक्षस भौति-भौतिके आयुधोंको लेकर प्रबल इच्छामे संग्राममें लड़नेके लिये चल पड़े । इस प्रकार काल-पाशासे बँधा हुआ यह अन्धमति दनुसैन्यपति दृष्टाग्ना अन्धक शंकरसे युद्ध करनेके विचारसे महान् पर्वत मन्दरपर गया ॥ ५७-६४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छल्लठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

[अथ मत्पठितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

हरोऽपि शम्बरे याते समाह्वयाथ नन्दिनम् । प्राहामन्त्रय शैलादीन् ये स्थितास्तव शासने ॥ १ ॥
 ननां महेशचचनान्नन्दी नूर्णतरं गतः । उपस्पृश्य जलं श्रीमान् सस्मार गणनायकान् ॥ २ ॥
 नन्दिना संस्मृताः सर्वे गणनायाः सहस्रशः । समुत्पत्य त्वरायुक्ताः प्रणतास्त्रिदशेश्वरम् ॥ ३ ॥
 आगतांश्च गणाचन्दी कृताञ्जलिपुटोऽव्ययः । सर्वान् निवेदयामास शङ्कराय महात्मने ॥ ४ ॥

सङ्गठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(नन्दिद्वारा आहन गणोंका वर्णन, उनसे हरि और हरका एकत्व प्रतिपादन, गणोंको

मदाशिकका दर्शन और गणोंद्वारा मन्दरका भर जाना)

पुलस्त्यजी बोले—शम्बरके चले जानेपर शंकरने भी नन्दीको बुलाकर कहा—नन्दिन् ! तुम्हारे शासनमें जो पर्वत आदि रहते हैं, उन्हें इस (मातृलिक) कार्यमें आनेके लिये आमन्त्रित करो । उसके बाद महेशके कहनेसे नन्दी शीघ्रनिशीघ्र गये और उन्होंने जल्का आचमन कर गणनायकोंका स्मरण किया । नन्दीसे स्मरण किये गये सभी गणनाथोंने हजारोंकी संख्यामें शीघ्रतासे आकर त्रिदशेश्वर शंकरको प्रणाम किया । अविनाशी नन्दीने पदाग्ना शंकरसे हाथ जोड़कर सभी आये हुए गणोंको निवेदित किया ॥ १-४ ॥



मन्दारपर अवस्थित भगवान् शङ्कर

नन्दयुवाध

यानेतान् पश्यसे शम्भो त्रिनेत्राञ्जटिलाञ्चुर्वीन् । एते यद्रा इति ख्याताः कोट्य एकदशैयमु ॥ ५ ॥
 वानरास्यान् पश्यसे यान् शार्दूलसमविक्रमान् । एतेषां द्वारपालास्ते मन्नामानो यशोभनाः ॥ ६ ॥
 पण्डुखान् पश्यसे यांश्च शक्तिपार्ष्णीञ्चोत्थिष्यजान् । पट्ट च पट्टिलया कोट्यःस्कन्दनाम्नःकुमारकान् ॥ ७ ॥
 पतावत्यस्तया कोट्यः शाखा नाम पडाननाः । विशाखास्तावदेवोक्ता नैगमयाश्च शङ्कर ॥ ८ ॥

नन्दिने कहा—शम्भो ! तीन नेत्रोंवाले और जटा धारण करनेवाले तथा पवित्र त्रिनेत्र गणोंको आप देख रहे हैं, उन्हें रुद्र कहते हैं। इनकी सख्या ग्यारह कोटि है। वन्दरके समान मुँह और सिंहके समान पराक्रमवाले जिन्हें आप देख रहे हैं, वे मेरे नामको धारण करनेवाले यशस्वी इनके द्वारपाल हैं। हाथमें शक्ति लिये तथा मयूरध्वजी जिन छ. मुखवालोंको आप देख रहे हैं, वे स्कन्द नामके कुमार हैं। इनकी सख्या छह कोटि है। शंकर ! इतने ही छ मुख धारण करनेवाले शाखा नामके गण हैं और इतने ही विशाख और नैगमय नामके गण हैं ॥ ५-८ ॥

सप्तकोटिशतं शम्भो धर्मा वै प्रमथोत्तमाः । एकैकं प्रति देवेश तावत्यो ह्यपि मातरः ॥ ९ ॥
 भस्माखणितदेहाश्च त्रिनेत्राः शूलपाणयः । एते शैवा इति प्रोक्तास्तत्र भक्ता गणेश्वराः ॥ १० ॥
 तथा पाण्डुपताश्चान्ये भस्मग्रहणा विभो । एते गणास्त्यसंख्याताः सहायार्थं समागताः ॥ ११ ॥
 पिनाकधारिणो यैरा गणाः कालमुखापरे । तत्र भक्ताः समायाता जटामण्डलिनोऽदुताः ॥ १२ ॥

शम्भो ! इन उत्तम प्रमथोंकी सख्या सप्त सौ कोटि है। देवेश ! प्रत्येकके साथ उतनी ही मातृगण भी हैं। इन भस्मविभूति शरीरवाले शूलपाणि त्रिनेत्रगणियोंको शैव कहा जाता है। ये सभी गणेश आपने भक्त हैं। विभो ! भस्मरूपी अत्र धारण करनेवाले अन्य अनभिन्न पाण्डुपत गण सहायताके लिये आये हैं। शक्ति धारण करनेवाले जटामण्डलसे युक्त, अद्भुत भयङ्कर कालमुक्तामक आपके अन्य गण (भी) आये हैं ॥ ९-१२ ॥

पट्ट्याङ्गयोधिनो यैरा रक्तचर्मसमावृताः । इमे प्राप्ता गणा योद्धुं महामतिन उत्तमः ॥ १३ ॥
 दिग्वाससो मौनिनश्च निराश्रया नाम गणाः समायाता जटामण्डलिनः ॥ १४ ॥
 सार्धत्रिनेत्राः पद्माक्षाः श्रीवत्साङ्कितयक्षसः । समायाताः परारूढा वृषभवाजिनोऽप्युत ॥ १५ ॥
 महापाण्डुपता नाम चक्रशूलधरास्तथा । भैरवो विष्णुना सार्धसंभोगेण ॥ १६ ॥

खट्वाङ्गसे सप्राप्त करनेवाले, लाल दाढ़से युक्त महाव्रती नामके ये उत्तम गण युद्धके लिये आये हैं। दिग्वासस, मौनिन और निराश्रय नामके ये गण समायाता जटामण्डलिन गणोंके साथ आये हैं। चक्र तथा शूल धारण करनेवाले महापाण्डुपत नामके ये गण भी भैरवकी पूजा (यहाँ) की है ॥ १३-१६ ॥

इमे मृगेन्द्रवदनाः शूलपाणधनुर्धराः । एते चान्ये च बहवः शतशोऽप्य सहस्रशः । ततोऽप्येत्य गणाः सर्वे प्रणोमुर्षुप्रभञ्जनाः । महापाण्डुपतान् दृष्ट्वा समुत्थाय ॥ १७ ॥

आपके रोमोंसे उत्पन्न हुए ये सन् शिके कल्प इतने शूल धारण करनेवाले गण हैं। तदोपरात् आदि गण तथा दूसरे भी सैकड़ों सहस्रोंके गण उनकी शरणागती

इच्छाने अनुसार आप इन्हें आदेश दें। उसके बाद सभी गणोंने पास जाकर वृषभध्वजको प्रणाम किया। भगवान्ने हाथसे उन्हें विश्वस्तकर बैठाया। महापाशुपत नामके अपने अध्यक्षोंको देवोंनेके बाद महेश्वरने उठकर उनको गले लगाया। उन लोगोंने महेश्वरको अभिवन्दित किया ॥ १७-२० ॥

ततस्तद्भुततमं दृष्ट्वा सर्वे गणेश्वराः। सुचिरं विस्मिताक्षाश्च वैलक्ष्यमगमत् परम् ॥ २१ ॥
विस्मिताक्षान् गणान् दृष्ट्वा शैलादिर्योगिनां घरः। प्राह प्रहस्य देवेशं शूलपाणिं गणाधिपम् ॥ २२ ॥
विस्मितासौ गणा देव सर्व एव महेश्वरः। महापाशुपतानां हि यत् त्वया लिङ्गं कृतम् ॥ २३ ॥
तदेतेषां महादेव स्फुटं त्रैलोक्यचिन्द्रकम्। रूपं ज्ञानं विवेकं च वदस्व स्वेच्छया विभो ॥ २४ ॥
प्रमथाधिपतेर्वाक्यं विदित्वा भूतभावनः। वभाषे तान् गणान् सर्वान् भावाभावविचारिणः ॥ २५ ॥

उसके बाद उस अनन्त विचित्र दृश्यको देवकर सभी गणेश्वरोंकी आँखें आश्चर्यसे भर गयीं। उसके बाद वे सभी बहुत ही लज्जित हो गये। गणोंको अचरजभरे नेत्रोंवाला देवकर योगिश्रेष्ठ शैलादि नन्दीने हँसकर गणाधिप देवेश शूलपाणिसे कहा—देव ! महेश्वर ! महापाशुपतोंको आपने जो गले लगाया है, उससे ये सभी गण आश्चर्यमें पड़ गये हैं। अतः महादेव ! विभो ! इनके तीनों लोकोंमें विख्यात रूप, ज्ञान एवं विवेकका अपने इच्छानुसार वर्णन करें। प्रमथोंके अधिपति नन्दीकी बात सुनकर भूतभावन महादेव भाव और अनन्तका विचार करनेवाले उन गणोंसे कहने लगे—॥ २१-२५ ॥

एव उवाच

भवद्भिर्भक्तिसंयुक्तैर्दरा भावेन पूजितः। अहंकारविमूढैश्च निन्दद्भिर्वैष्णवं पदम् ॥ २६ ॥
तेनाज्ञानेन भवतोनादृत्यानुविरोधिताः। योऽहं स भगवान् विष्णुर्विष्णुर्यः सोऽहमव्ययः ॥ २७ ॥
नाचयोर्वै विशेषोऽस्ति एका मूर्तिर्द्विधा स्थिता। तद्ग्रीभिर्नरव्याघ्रैर्भक्तिभावयुतैर्गणैः ॥ २८ ॥
यथाहं वै परिज्ञातो न भवद्भिस्तथा ध्रुवम्। येनाहं निन्दितो नित्यं भवद्भिर्मूढबुद्धिभिः ॥ २९ ॥
तेन ज्ञानं हि वै नष्टं नातस्त्वाल्लिङ्गिता मया। इत्येवमुक्ते वचने गणाः प्रोक्षुर्महेश्वरम् ॥ ३० ॥

उदने वादा—अहंकारसे विमूढ कितु मेरी भक्तिसे युक्त आपलोगोंने वैष्णवपदकी निन्दा करते हुए भावपूर्वक शकरकी पूजा की है। इसी अज्ञानके हेतु आप सभीका अनादर कर उनका विशेष आपह किया गया। जो मैं हूँ वही भगवान् निष्णु हैं एवं जो विष्णु हैं वही अविनाशी मैं हूँ। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। एक ही मूर्ति दो रूपोंमें अवस्थित है। अतः भक्तिभावसे युक्त इन पुरुषश्रेष्ठ गणोंने जैसा मुझे जाना है, निश्चय ही उस प्रकार आपलोग मुझे नहीं जानते। जड़-बुद्धिवाले आप लोगोंने यतः नित्य मेरी निन्दा की है अतः आपलोगोंका ज्ञान नष्ट हो गया। इसीलिये मैंने आपलोगोंको गले नहीं लगाया है। इस प्रकार कहनेपर गणोंने महेश्वरसे कहा—॥ २६-३० ॥

कथं भवान् यथैदयेन संस्थितोऽस्ति जनार्दनः। भवान् हि निर्मलः शुद्धः शान्तः शुक्लो निरञ्जनः ॥ ३१ ॥
स चाप्यञ्जनसंक्रादाः कथं तेनेह युज्यते। तेषां वचनमर्थाल्पं श्रुत्वा जीमूतवाहनः ॥ ३२ ॥
पिहस्य मेघगम्भीरं गणानिदमुवाच ह। श्रूयतां सर्वमारुष्यास्ये स्वयंशोचर्द्धनं वचः ॥ ३३ ॥
न त्वेव योग्या यूयं हि महाज्ञानस्य कर्हिचित्। अपवादभयाद् गुह्यं भवतां हि प्रकाशये ॥ ३४ ॥

आप एवं जनार्दन ऐकरूपसे कैसे रहते हैं ! आप निर्मल, शुद्ध, शान्त, शुक्ल और निर्दोष एवं अज्ञानसे रहित हैं ! किन्तु वे अज्ञानके मुक्त हैं; अतः उनसे आपका मेल कैसे होता है ! उनके अभिप्राययत्न

बाद नीमूतवाहन शङ्करन मन्त्र ममान गम्भीर बागामे हँसकर कहा—अना कार्य बदान-रत्ना मन्त्रुर्ग वाग् दे वनगता हूँ, उसे सुनो—तुमलोग अभी भी मठाज्ञानक योग्य नहीं हो। परन्तु अर्थार्थिक दग्ने में आप मनाक सामन गोपनीय वस्तु स्थितिको प्रकाशित करणा हूँ ॥ ३१-३४ ॥

प्रियत्य मयि चैतेन यमसिद्धिस्तास्तु नियश । एककृपात्मक दृढ कुण्डल यन्मास्थिता ॥ ३५ ॥
 पयसा हविषाद्यैश्च स्नपनेन प्रयत्नत । चन्दनादिभिरैकाग्रैर्न मे प्रीति प्रजायते ॥ ३६ ॥
 यन्नात् क्रकचमादाय छिन्द्य मम विप्रहम् । नरकाहा भवङ्कता रक्षामि स्वयन्तार्थ्यत ॥ ३७ ॥
 माऽप्य यदिष्यते लोको महान्तमपवादिनम् । यथा पतन्ति नरके हरभक्तास्तपश्चिन ॥ ३८ ॥

मुझमें निरन्तर चित्त लगाये रहनेमें भा अन्य लोग प्रिय हैं । तुमलोग यन्पूर्वक एक श्कामक रूपका मन्त्रा प्रयत्नपूर्वक दृष्ट या श्रीमें स्नान करान तथा स्थिचिन्तापूर्वक चन्दन अग्निद्वारा देव इतनेमें मुझ प्रसन्नता नहीं उत्पन्न होती । आरा केर मेरी श्दरा भन्ने ही चीर डाले परन्तु अपनी कीर्तिक लिय नरकक योग्य जाय भक्तोंकी में (उसमें) तथा करणा ही हूँ । (क्योंकि) यह ममाग मुझ इस प्रकारका महान् करण न लग्ये कि शकरक शम्बी भक्त नरकमें जाते हैं ॥ ३५-३८ ॥

व्रजन्ति नरक घोरमित्येव परिवादिन । अनाऽर्थे न क्षिपाम्यथ भवता नरकऽद्भुते ॥ ३९ ॥
 यन्निन्द्य जगन्नाथ पुष्कराभ च मन्मथम् । स चैव भगवाश्चर्ष्य सर्वव्यापी गणेश्वर ॥ ४० ॥
 न तस्य सदृशो लोके विद्यते सचराचरे । श्वेतमूर्ति स भगवान् पीनो रत्नोऽञ्जनप्रभ ॥ ४१ ॥
 तस्मात् परतर लोके नाप्यन् धर्म हि विद्यते ।

सात्त्विक राजस चैव तामस मिश्रक तथा । स एव धत्त भगवान् सर्वव्याप्य सदाशिव ॥ ४२ ॥

इस प्रकारकी निंदा करनेवाले लोग भयकर नरकमें जाते हैं । इसलिये मैं आपलोगोंका अद्भुत नरकमें नहीं डालना । आपलोग मरे स्वल्प जिन इमन्मथन जगन्नाथकी निंदा करने हैं वे ही सर्वव्यापी गणेश्वर भगवान् शर्व हैं । इस समान चर और अचर लोकमें उनक ममान कोई नहीं है । वे जगत्तान् वेत्तूर्ति वाद एक एक अज्ञानक मदरा क्रान्तिवाले हैं । ममागमें उनमें श्रेष्ठ कोई दूसरा र्म नहीं है । सर्वव्याप्य वे महाशिव (सदा शिवर इतनवाले) भगवान् ही सभी सात्त्विक राजस तामस एव मिश्रित भावोंको गरण करत हैं ॥ ३९-४२ ॥

शङ्करस्य त्रय ध्रुवा शैवाद्या प्रमथोत्तमा । प्रथुधुर्भगवन् ब्रूहि सदाशिवविशेषणम् ॥ ४३ ॥
 तेषा तद् भाषित ध्रुवा प्रमथानामयेदतर । दर्शयामास तद्रूप सदाशैव निरञ्जनम् ॥ ४४ ॥
 तत पश्यन्ति हि गणा तमोश वै सहस्रश । सहस्ररक्तचरण सहस्रभुजसोदरम् ॥ ४५ ॥
 दण्डपाणि सुदुर्दृश्य लोकैर्योज समन्तत । दण्डसम्भाऽप्य दृश्यन्ते देवप्रहरणास्तथा ॥ ४६ ॥

शकरक वचनको सुनकर शैव आदि अग्र गणोंन कहा—भगवन् 'आप सदाशिवकी विशेषता प्रकट करनेमें गुणोंन कहिये । प्रमथेश्वरन उनक इस वचनको सुनकर उहे निरञ्जन महाशिवरूपको दिखलाय । उनके चर हजारों गणोंने उन ईश्वरको हजारों मुख चरण एव मुजाओंवाला हुआ देखा । वे लोकोंमें मनी अग्र चर द नर दण्डपाणि एव अत्यधिक सुदुर्दृश्य थे । देवताओंक अक्ष उनक दण्डमें लिखलायी एक रह थे ॥ ४३-४६ ॥

तत एकमुख भूयो ददृशु शङ्कर गणा । रौद्रीश्व वैष्णवेश्वैश्च कृत विडै सहस्रर ॥ ४७ ॥
 अञ्जेन वैष्णवधनुर्द्वेन हरविप्रह । क्षगात्पत्र कृपाकट क्षगाकट कुम्भजन ॥ ४८ ॥
 यथा यथा चिन्तयन्ते रूप धत्ते गुणप्रणो । तथा तथा त्यजायन्त महागन्धुवन ॥ ४९ ॥

ततोऽभवच्चैकरूपी शङ्करो बहुरूपवान् ।

द्विरूपश्चाभवद् योगी एकरूपोऽप्यरूपवान् । क्षणाच्छ्वेतः क्षणाद् रक्तः पीतो नीलः क्षणादपि ॥ ५० ॥
मिश्रको वर्णहीनश्च महापाशुपतस्तथा । क्षणाद् भवति रुद्रेन्द्रः क्षणाच्छम्भुः प्रभाकरः ॥ ५१ ॥
क्षणाद्वाच्छङ्करो विष्णुः क्षणाच्छर्वः पितामहः । ततस्तद्भुततमं दृष्ट्वा शैवादयो गणाः ॥ ५२ ॥
अजानन्त तदैष्येन ब्रह्मविष्णुशोभास्करान् । यदाऽभिन्नममन्यन्त देवदेवं सदाशिवम् ॥ ५३ ॥
तदा निर्धूतपापास्ते समजायन्त पार्षदाः । तेष्वेवं धूतपापेषु अभिन्नेषु हरीश्वरः ॥ ५४ ॥
प्रीतात्मा विवभौ शम्भुः प्रीतियुक्तोऽब्रवीद् वचः । परितुष्टोऽसि वः सर्वे क्षानेनानेन सुव्रताः ॥ ५५ ॥
वृणुध्वं वरमानन्त्यं दास्ये वो मनसेऽसितम् ।

उच्युस्ते देहि भगवन् वरमस्माकमीश्वर । भिन्नदृष्ट्युद्भवं पापं यत्तद् भ्रंशं प्रयातु नः ॥ ५६ ॥

उसके बाद पुनः गणोंमें रुद्र एवं विष्णुके हजारों चिहोंसे युक्त एकमुख शङ्करको देखा । उस रूपका आधा भाग शङ्करके शरीरका था और आधा भाग गरुडध्वज था । (एक आधा भाग) गरुडध्वज वृषारूढ था एवं (दूसरा आधा भाग) वृषभध्वज गरुडपर आरूढ था । गुणोंमें अप्रणी त्रिलोचन जैसे-जैसे रूप धारण करते जाते थे, वैसे-वैसे ही महापाशुपतगण भी होते जाते थे । उसके बाद एकरूपवाले शंकर बहुत रूपवाले हो गये । वे योगी दो रूप धारण करनेवाले, एक रूप धारण करनेवाले एवं त्रिना रूपके भी हो गये । वे प्रतिक्षण श्वेत, रक्त, पीत, नील, मिश्र वर्णवाले एवं वर्णहीन होते गये । महापाशुपतोंका भी स्वरूप उनके रूपके अनुरूप होता गया । श्रीशंकर किसी क्षणमें इन्द्र, किसी क्षणमें सूर्य, किसी क्षणमें विष्णु एवं किसी क्षणमें पितामहके रूपमें स्वरूप बदलते गये । यह अत्यन्त आश्चर्यजनक दृश्य देखकर शैव आदि गणोंने ब्रह्मा, विष्णु, ईश एवं सूर्यको (इनसे) अभिन्न समझा । उन लोगोंमें जब देवात्रिदेव सदाशिवको (सभी देवोंसे) अभिन्न मान लिया तब वे सभी पार्षद पापसे रहित हो गये । इस प्रकार अभेद-बुद्धिके कारण उनके पापसे विमुक्त हो जानेसे हरीश्वर शम्भु प्रसन्न हो गये । उन्होंने संतुष्ट होकर कहा—सुव्रतो ! तुम्हारे इस प्रकारके ज्ञानसे मैं प्रसन्न हूँ । अब बहुतों-से वर फिर माँगो । मैं तुम्हें इच्छित वर दूँगा । उन्होंने कहा—भगवन् ! महेश्वर ! हमें यह वर दें कि भेदभाव रखनेके कारण उत्पन्न हमारे (जेव) सभी पाप नष्ट हो जायँ ॥ ४७-५६ ॥

पुलस्त्य उवाच

चाढौमित्यत्रयोच्छर्वश्चक्रे निर्धूतकल्मषान् । सम्परिष्वजताव्यक्तस्तान् सर्वान् गणयूथपान् ॥ ५७ ॥

इति विभुना प्रणतार्तिहरेण गणपतयो वृषभेधरथेन ।

श्रुतिगदितानुगमेनेव मन्दरं गिरिमवतत्य समध्यवसन्तम् ॥ ५८ ॥

आच्छादितो निरिचरः प्रमयैर्धनाभैराभाति शुक्रतनुरीश्वरपादजुष्टः ।

नीलाजिनातततनुः शरदभ्रवर्णो यद्गद् विभाति बलवान् वृषभो हरस्य ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

पुलस्त्यजो बोले—शंकरने कहा 'ऐसा ही होगा ।' उसके बाद अदृश्य होते हुए शंकरने उन सभी गणायुथोंको आच्छिन्न कर उन्हें पापसे (सर्वथा) रहित कर दिया । उसके बाद श्रुतिकी उक्तिका जैसे (शास्त्रोंमें) अनुगमन होना है उसी प्रकार वृष एवं मेघवाहन शरणागतोंके कष्टको हरण करनेवाले शंकरके साथ सभी गणपति मन्तरपर्वतको चारों ओरसे घेरकर रहने लगे । मेघके समान प्रमथोंसे घिरे शिव-चरणकी सेवा करनेवाले शुक्र शरीरवाला पर्वतराज ऐसे सुशोभित हो रहा था जैसे नीले मृगचर्मसे ढके शरीरवाला एवं शरत्कालीन मेघके समान ध्वज रंगवाला शंकरका बलवान् वृषभ सुशोभित होता है ॥ ५७-५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सप्तसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

[अथाष्टपष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

पतसिन्नन्तरे प्रातः सप्तं दैत्यैस्तथाऽन्धकः । मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं प्रमथाधितकन्दरम् ॥ १ ॥
 प्रमथा दानवान् हृष्ट्वा चक्रुः किलकिलाध्वनिम् । प्रमथाश्चापि संरुधा जघ्नुस्तूर्वाण्यनेकराः ॥ २ ॥
 स चाधुणोन्महानादौ रोदसी प्रलयोपमः । शुश्राव चाधुमार्गम्यो विप्नराजो विनायकः ॥ ३ ॥
 सप्तमभ्ययात् सुसंकुन्धः प्रमथैरभिसंवृतः । मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं दृष्टो पितरं तथा ॥ ४ ॥

अहस्तर्वाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् शंकरका अन्धकसे युद्धके लिये प्रस्थान, रुद्रगणोंका दानववर्गसे युद्ध और तुहुण्ड आदि दैत्योंका विनाश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) इसी बीच दैत्योंके साथ वह अन्धक प्रमथोंसे सेवित गुहाओंकाले पर्वतश्रेष्ठ मन्दर-गिरिपर आ गया । प्रमथोंने दानवोंको देवकर हर्षसूचक 'किलकिला'ध्वनि की और फिर उन्होंने बहुत-सी तुरहियाँ बजायी । प्रलय-(कालीन ध्वनि)के समान वह भयङ्कर ध्वनि आकाश और पृथ्वीके बीच भर गयी । आकाशमें स्थित विप्नराज गणेशने उस ध्वनिको सुना । प्रमथोंने चिरे दृष्टि ने अत्यन्त क्रोध होकर पर्वतश्रेष्ठ मन्दरपर गये और उन्होंने अपने पिताको देखा ॥ १-४ ॥

प्रणिपत्य तथा भक्त्या वाक्यमाह महेश्वरम् । किं तिष्ठसि जगन्नाथ ससुत्तिष्ठ रणोत्सुकः ॥ ५ ॥
 ततो विन्नेशध्वनाज्जगन्नाथोऽधिकं वचः । प्राह यास्येऽन्धकं हन्तुं स्थेयमेयाप्रमत्तया ॥ ६ ॥
 ततो गिरिसुता देवं समालिङ्ग्य पुनः पुनः । समीक्ष्य सत्नेहहर्षं प्राह गच्छ जयाग्धकम् ॥ ७ ॥
 ततोऽमरगुरोर्गौरी चन्दनं रोचनाञ्जनम् । प्रतिबन्ध सुसम्मीला पादावेवाभ्यवन्दत् ॥ ८ ॥

(फिर) अर्द्धपूर्वक प्रणामकर महेश्वरसे (यह) वाक्य कहा—हे जगन्नाथ ! आप बैठे क्यों हैं ? युद्ध करनेके लिये प्रबल इच्छा रखकर आप उठें । विन्नेश्वर गणेशके कहनेपर जगन्पति महादेवने अन्वितासे कहा—मैं अन्धकको मारनेके लिये जाऊँगा, तुम सावधानीसे रहना । उसके बाद पर्वतान्दिनीने महादेवको बार-बार गले लगाकर एवं प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उन्हें देखकर (मङ्गल वचन) कहा—जाइये और अन्धकपर विजय प्राप्त कीजिये । उसके बाद गौरीने देवश्रेष्ठ शंकरको चन्दन, रोचना एवं अञ्जन लगाया तथा अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणोंकी वन्दना की ॥ ५-८ ॥

ततो हरः प्राह यद्यो यशस्यं मालिनीमपि । जयां च विजयां चैव जयन्तीं चापराजिताम् ॥ ९ ॥
 युष्माभिरप्रमत्ताभिः स्वेयं मेहे सुरक्षिते । रक्षणया प्रयत्नेन गिरिपुत्री प्रमादतः ॥ १० ॥
 इति संदिश्य ताः सर्वाः समारुह्य कृत्यं विभुः । निर्जगाम गृहात्तुषो जयेत्पुःशुलभृष्टधर्षी ॥ ११ ॥
 निर्गच्छतस्तु भवनादीश्वरस्य गणाधिपः । समन्तात् परिवर्षयं जयशब्दांश्च यत्रिरे ॥ १२ ॥

उसके बाद महादेवने मालिनी, जया, विजया, जयन्ती और अपराजितामे कीर्ति बढ़ानेवाली यह वचन कहा—तुमलोग सुरक्षित धरमं स्पर्कतासे रहना और प्रयत्नपूर्वक पार्ष्णीनीसे असावधानीसे बचाना । उन सभीको इस प्रकार समझाने-सुझानेके बाद वृषभपर सवार होकर शूल धारण करनेवाले निजगामिनीसे बलदायी भगवान् शंकर (आत्मविश्वासके साथ) संतुष्ट होकर धरसे चल पड़े । धरसे निकलने समय गणार्थिने शंकरको चारों ओरसे घेरकर 'जय-जयकार' किया ॥ ९-१२ ॥

कुण्डोदरं भद्रकटि चकार महोदरं शीर्णशिरःकपालम् ।
 कुम्भध्वजं चूर्णितसंधिवन्धं घटोदरं चोहविभिन्नसंधिम् ॥ ३९ ॥
 गणाधिपांस्तान् विमुखान् स कृत्व वलान्विता वीरतरोऽसुरेन्द्रः ।
 समभ्यधावत् न्वरितो निहन्तुं गणेश्वरान् स्कन्दविशाखमुख्यान् ॥ ४० ॥

तुष्टुण्डके मारे जानें और गट्टके पीठ दिखा देनेपर क्रोधरूपी विषको छोड़नेकी कामनावाले प्रलयकालकी अप्रिके समान पाँचों गणेश्वर एक साथ दानवश्रेष्ठोंकी सेनामें पैठ गये । अपनी उस सेनाको मारी जाती हुई देखकर वायुके समान तीव्र गतिवाले बलशाली बलिने गदा लेकर विनायकके कुम्भध्वज, मस्तक एवं सूँड़पर वार किया । कुण्डोदरकी कमर तोड़ दी, महोदरके सिरकी खोपड़ीको विधुन दिया, कुम्भध्वजके जोड़ोंको चूर-चूर कर डाला एवं घटोदरकी जाँघोंको नोड़ दिया । उन गणाधिपोंको पीछे भगाकर वीरश्रेष्ठ वह बलशाली असुरेन्द्र तुरन्त स्कन्द, विशाख आदि मुख्य-मुख्य गणेश्वरोंको मारनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ ३७-४० ॥

तमापतन्तं भगवान् समीक्ष्य महेश्वरः श्रेष्ठतमं गणानाम् ।
 शैलादिमामन्त्र्य वचो वभाषं गच्छस्व दैत्यान् जहि वीर युद्धे ॥ ४१ ॥
 इत्येवमुक्तो वृषभध्वजेन वज्रं समादाय शिलादस्रजुः ।
 बलिं समभ्येन्य जघान मूर्ध्नि सम्मोहितः सोऽवनिमाससाद् ॥ ४२ ॥
 सम्मोहितं भ्रातृसुतं विदित्वा बली कुजम्भो मुसलं प्रगृह्य ।
 सम्भ्रामयस्तूर्णतरं स वेंगात् ससर्ज नन्दिं प्रति जातकोपः ॥ ४३ ॥
 तमापतन्तं मुसलं प्रगृह्य करेण तूर्णं भगवान् स नन्दी ।
 जघान तेनैव कुजम्भमाहवे स प्राणहीनो निपपात भूमौ ॥ ४४ ॥

भगवान् महेश्वरने उमे आते हुए देवकर गणोंमें सर्वश्रेष्ठ शैलादिको बुलाकर कहा—वीर ! जाओ और संग्राममें दैत्योंको मारो । वृषभध्वजके ऐसा कहनेपर शिलादके पुत्र नन्दीने वज्र ले करके बलिके पास जाकर उसके सिरपर वार किया, जिससे वह अचेन होकर धरतीपर गिर पड़ा । अपने भनीजेको बेहोश जानकर बलवान् कुजम्भने क्रुद्ध हो मुसल लेकर उसे धुमाने हुए नन्दीकी ओर तेजीसे फेंका । भगवान् नन्दीने आते हुए उस मुसलको तुरन्त हाथमें पकड़ लिया और उसीसे युद्धमें कुजम्भको मार दिया । वह प्राणहीन होकर भूमिपर गिर पड़ा ॥ ४१-४४ ॥

एव्या कुजम्भं मुसलेन नन्दी वज्रेण वीरः शतशो जघान ।
 ते वध्यमाना गणनायकेन दुर्योधनं वै शरणं प्रपन्नाः ॥ ४५ ॥
 दुर्योधनः प्रेक्ष्य गणाधिपेन वज्रप्रहारैर्निहतान् दिर्ताशान् ।
 प्राप्तं समाविध्य तडित्प्रकाशं नन्दिं प्रचिक्षेप हतोऽसि वै भुवन् ॥ ४६ ॥
 तमापतन्तं कुलिशेन नन्दी विभेद गुह्यं पिशुनो यथा नरः ।
 तत्रासमाहृद्य तदा निकृत्तं संवर्त्य मुष्टिं गणमाससाद् ॥ ४७ ॥
 वतोऽप्य नन्दी कुलिशेन तूर्णं शिरोऽच्छिन्नत् तालफलप्रकाशम् ।
 एतोऽथ भूमौ निपपात वेंगाद् दैत्याश्च भीता विगता दिशो दश ॥ ४८ ॥

वीर नन्दीने कुजम्भको मुसलके मारकर वज्रद्वारा सैकड़ों दानवोंको भी मार डाला । गणनायकद्वारा मारे जा रहे वे भभी दानव दुर्योधनकी शरणमें गये । दुर्योधनने गणाधिपद्वारा वज्रके आघातने दैत्योंको मारा हुआ देवकर

बिजलीके सदृश प्रकाशसे युक्त ग्राम ले लिया तथा 'तुम मारे गये' ऐसा कहने हुए उभे नन्दीरी और फेरा । नन्दीने आ रहे उस (प्रास) को धमसे इस प्रकार दुकड़े-दुकड़े काट दिया, जैसे शुष्कगौर व्यक्ति गुप्त विषयका भेदन कर देता है । उसके बाद उस ग्रामको विरीगे हुआ देव (दुर्गोत्तम) मुद्गी बाँधकर गग (नन्दी) के पास पहुँचा । उसके बाद ही नन्दीने शीघ्रतासे तात्के समान उसके मन्त्रको कुशिलसे काट डाला । मारे जानेपर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और भयभीत हुए सभी दैत्य तेजीसे दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४५-४८ ॥

ततो हनं स्वं तजयं निरोक्ष्य हस्तो तदा नन्दिनमाजगाम ।
प्रगृह्य याणासनमुमयेगं विभेद याणैर्यमदण्डकल्पैः ॥ ४९ ॥

गणान् सनन्दीन् वृषभध्वजांस्तान् धाराभिरेषाम्बुधरास्तु शैलान् ।

ते छाप्रमानासुरघाणजालैर्विनापकथा पलिनोऽपि चौरा ।

सिद्धप्रणुद्या वृषभा यथैव भयातुरा दुद्रुचिरे समन्तात् ॥ ५० ॥

पराडमुखान् वीक्ष्य गणान् कुमारः शक्त्या पृथक्कान्ध धारयित्वा ।

तूर्णं सप्रभ्येत्य रिपुं समीक्ष्य प्रगृह्य शक्त्या हृदये विभेद ॥ ५१ ॥

शक्तिनिर्भिन्नहृदयो हस्तो भूम्यां पपात ह । ममार चारिपृतना जाता भूयः पराडमुखी ॥ ५२ ॥

अमराखिलं दृष्ट्वा भग्न क्रुद्धा गणेश्वराः । पुरतो नन्दिनं हत्वा जिघांसन्ति स दानयान् ॥ ५३ ॥

ते वष्यमानाः प्रमथेर्दैन्याध्यापि पराडमुजाः । भूयो निवृत्ता यतिनः कार्तस्वरपुरोगमाः ॥ ५४ ॥

हस्ती (नामक असुर) अपने पुत्रको मारा गया देखकर नन्दीके समीर आ गया । उसने धनुष लेकर तीव्र वेगसे पयःपण्डके समान बाणोंसे बार किया । बादल जिस प्रकार जलकी धाराओंसे पर्वतोंको टूट देता है, उसी प्रकार उसने नन्दीके साथ वृषभध्वजक उन गणोंको टूट दिया । असुरक बाणसमूहसे चिरे वे विनायक आदि बलशाली वीर मिडक द्वारा आक्रमण किये जानेपर वृषभोंकी पौनिक धमसे व्याकुल होकर चारों ओर भागने लगे । कुमारने गणोंको विमुक्त होने देव शक्तिद्वारा बाणोंकी गेरु दिया और तुरन्त ही शत्रुके पास पहुँचकर शक्तिके उसके हृदयको वेग डाला । शक्तिके हृदयके विना जानेपर हस्ती भूमिपर गिर पड़ा तथा मर गया और शत्रुसेना फिर पीठ दिखाकर विमुक्त हो गयी । दैन्यसेनाको छिन्न भिन्न हुई देखकर कुपित हुए गणेश्वर नन्दीको आगे कर दानवोंको और मारने लगे, किन्तु प्रमथेर्दैन्याध्यापि मारे जा रहे वे सभी विमुक्त बलशाली कार्तस्वरादि दैत्य फिर लौट पडे ॥ ४९-५४ ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव कोपदीप्तेक्षण भवसन् । नन्दिपेणो व्याग्रमुक्तो निवृत्तध्यापि वेगयान् ॥ ५५ ॥

तस्मिन् निवृत्ते गणपे पट्टिशाम्रकरे तदा । कार्तस्वरो निवृत्ते गदामादाय नारद ॥ ५६ ॥

तमापतन्तं ज्वलनप्रकाशं गण समीक्ष्यैव महासुरेन्द्रम् ।

तं पट्टिनां भ्राज्य जघान मूर्ध्नि कार्तस्वर विश्वमुग्रदन्तम् ॥ ५७ ॥

तस्मिन् हते आतारि मातुलेये पाश समायिष्य तुरङ्गकन्धर ।

वचन्ध चौरः सह पट्टिनोऽन गणेश्वरं चाप्यथ नन्दिपेणम् ॥ ५८ ॥

नन्दिपेणं तथा यद्धं समीक्ष्य यतिना चरः । विशाखः कुपितोऽभ्येय्य शक्तिपाणिरयस्विनः ॥ ५९ ॥

तं दृष्ट्वा यतिनां श्रेष्ठः पारापाणिरय शिरा । संबोधयामास बली विशाखं कुक्कुटध्वजम् ॥ ६० ॥

उन्हें लौटकर आते देख वेगशाली व्याग्रमुक्त नन्दिपेण भी कोपसे आँखें खोल कर दौड़ता हुआ लौट पड़ा । नारदजी ! उसके बाद दायक अधभागमें पट्टिश लिये हुए उस गणेश्वरके लौटनेपर कार्तस्वर भी

ततः कुजम्भो जम्भश्च बलो वृत्रस्त्वयःशिराः । पञ्च दानवशार्दूला नन्दिनः समुपाद्रवन् ॥ १८ ॥
 तथाऽन्ये दानवश्रेष्ठा मयहादपुरोगमाः । नानाप्रहरणा युद्धे गणनाथमभिद्रवन् ॥ १९ ॥
 ततो गणानामधिपं कुट्यमानं महाबलैः । समपश्यन्त देवास्तं पितामहपुरोगमाः ॥ २० ॥
 तं दृष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा प्राह शक्रपुरोगमान् । साहाय्यं क्रियतां शम्भोरेतदन्तरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

उसके बाद कुजम्भ, जम्भ, बल, वृत्र और अयःशिरा नामके पाँच श्रेष्ठ दानव नन्दीकी ओर दौड़े । इसी प्रकार युद्धमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करनेवाले मय एवं हाद आदि दानवश्रेष्ठोंने भी नन्दीका पीछा किया । फिर पितामहादि देवोंने महाबली दानवोंके द्वारा कूटे जा रहे गणाधिपको देखा । भगवान् ब्रह्माने उसे देखकर इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—आप लोग इस उत्तम (उपयुक्त) अवसरपर शम्भुकी सहायता करें ॥ १८—२१ ॥

पितामहोक्तं वचनं श्रुत्वा देवाः सवासवाः । समापतन्त वेगेन शिवसैन्यमथाम्बरात् ॥ २२ ॥
 तेषामापततां वेगः प्रमथानां बले बभौ । आपगानां महावेगं पतन्तीनां महार्णवे ॥ २३ ॥
 ततो हलहलाशब्दः समजायत चोभयोः । बलयोर्घोरसंकाशो सुरप्रमथयोरथ ॥ २४ ॥
 तमन्तरमुपागम्य नन्दी संगृह्य वेगवान् । रथाद् भार्गवमाक्रामत् सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २५ ॥
 तमादाय हराभ्याशमागमद् गणनायकः । निपात्य रक्षिणः सर्वानथ शुक्रं न्यवेशयत् ॥ २६ ॥
 तमानीतं कविं शर्वः प्राक्षिपद् वदने प्रभुः । भार्गवं त्वावृत्ततनुं जठरे स न्यवेशयत् ॥ २७ ॥
 स शम्भुना कविश्रेष्ठो ग्रस्तो जठरमास्थितः । तुष्टाव भगवन्तं तं मुनिर्वाग्भिरथादरात् ॥ २८ ॥

पितामहके कहे हुए वचनको सुनकर इन्द्र आदि देवता आकाशमार्गसे जल्दी ही शिवकी सेनामें आ गये । समुद्रमें जाती हुई नदियोंके महावेगके सदृश प्रमथोंकी सेनामें (आकाशसे) आते हुए देवताओंका वेग सुशोभित हुआ । उसके बाद प्रमथों और असुरों—दोनों पक्षोंकी सेनाओंमें भीषण 'हलहला' शब्द उत्पन्न हुआ । उसी समय अक्सर पाकर तीव्र गतिवाले नन्दी, जिस प्रकार सिंह क्षुद्र मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भार्गवको लेकर रथसे भाग चले । गणनायक उन्हें लेकर सभी रक्षा करनेवालोंको मारते हुए शंकरके पास पहुँच गये । शुक्राचार्यको उन्होंने उनके निकट निवेदित कर दिया । समर्थ शंकरने लाये गये उन शुक्रको अपने मुखमें फँका और अक्षुण्ण शरीरवाले भार्गवको अपने उदरमें (ज्यों-का-त्यों) रख लिया । शम्भुसे ग्रस्त होकर उनके उदरमें स्थित हुए वे मुनिश्रेष्ठ शुक्र प्रेमपूर्वक उन भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ २२—२८ ॥

शुक्र उवाच

चरदाय नमस्तुभ्यं हराय गुणशालिने । शङ्कराय महेशाय त्र्यम्बकाय नमो : ॥ २९ ॥
 जीवनाय नमस्तुभ्यं लोकनाथ वृषाकपे । मद्नाग्ने कालशत्रो वामदेवाय ते : ॥ ३० ॥
 स्थाणवे विश्वरूपाय वामनाय सदागते । महादेवाय शर्वाय ईश्वराय नमो : ॥ ३१ ॥

त्रिनयन हर भव शङ्कर उमापते जीमूतकेतो गुहागृह श्मशाननिरत भूतिविलेपन शूलपाणे पशुपते गोपते तत्पुरुषसत्तम नमो नमस्ते ।

रथं स्तुतः कविवरेण हरोऽथ भक्त्या प्रीतो वरं वरय दधि तवेत्युवाच ।
 स प्राह देववर देहि वरं सा त्वं देव जठरात् प्रतिनिर्गमोऽस्तु ॥ ३२ ॥
 ततो हरोऽक्षीणि तदा विभुना विनिर्गमत् ।
 रथुकमात्रो विभुना विनिर्गमत् ॥ ३३ ॥

शुकले कहा—प्रभा ! गुणसे सम्पन्न आप बरगनी हरको नमस्कार है । शरत् महेश, त्रिनत्रना बार बार नमस्कार है । लोकोन् स्वामिन् । वृणाउपे । आप जीवनस्वरूपना नमस्कार है । हे कामन्त्रर त्रिये अग्निस्वरूप । वरगशात्र । आप नामदेवको नमस्कार है । स्थायु, विस्वरूप, रामन मन्त्रगति, महान् शर्व और ईश्वर । आपका बार-बार नमस्कार है । हे त्रिनयन । हे हर । हे भव । हे शकर । हे उमापते । हे जीमूतको । हे गुणगृह । हे स्मशाननिरत । हे भूतिविलेपन । हे त्रिशूलधारिन् । हे पशुपत ! हे गोपते ! हे श्रम परमपुरुष । आपको बार-बार नमस्कार है । इस प्रकार कविर-(शुकाचार्य)क भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर शरत्न कहा—मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तुम वर माँगे, मैं तुम्हें वर दूँगा । उन्होंने कहा—ह रत्नर । इस समय मुझ यही वर दीजिये कि मैं पुन आपक उदरसे वाहर निकटूँ । उमरु बाट शरत्ने नेत्रोंको बदकर कहा—ह द्विनेद । अर तुम बाहर निकट जाओ । (परतु) शकरक इस प्रकार कहनेपर भी वे भार्गवग्रेष शुकाचार्य जनक उदरमें विचरण करने लगे ॥ २०-३३ ॥

परिधमन् ददर्शथ शम्भोरेसोदरे कवि । भुवनार्णवपमानालान् वृत्तान् स्थावरजङ्गमै ॥ ३४ ॥
 आदित्यान् वसवो रुद्रान् विदेवदेवान् गणास्तथा । यक्षान् किंपुरुषाद्यादीन् गन्धर्वाप्सरसामणान् ॥ ३५ ॥
 सुनीन् मनुजसाध्याश्च पशुकीटपिपीलिकान् । वृक्षगुरमान् गिरिन् घल्ल्य फल्मूगैवधानि च ॥ ३६ ॥
 स्थलस्थाश्च जलस्थाश्चानिमिषान्निमिषानपि । चतुष्पदान् सक्षिपदान् स्थावरान् जङ्गमानपि ॥ ३७ ॥
 अथक्ताद्वैव व्यक्ताश्च सगुणाधिगुणानपि ।

स दृष्ट्वा कर्तुकाविष् परिधमाम भार्गव । तत्रास्ततो भार्गवस्य दिव्य तव वसरो गत ॥ ३८ ॥
 न चातमलभद् ब्रह्मस्तत ध्रान्तोऽभवत् कवि ।

स ध्रान्त वाक्ष्य चामान नालभधिराम वशा । भक्तिनन्नो महादेव शरण समुपागमत् ॥ ३९ ॥

(भगवान् शकरक उदरमें) विचरण करत हुए शुकाचार्यने शकरक ही उदरमें चराचर प्राणियोंसे व्याप्त सारा जगत्, समुद्र एवं पातालको दखा । आणियों बसुओं, रत्नों विदेवों गणों, यक्षों, किम्पुस्यों, गन्धर्वा, अप्सराओं मुनियों मनुष्यों सायों पशुओं मीठे पिपीलिकाआ वृक्षों गुन्नों पर्वनों लनाओं फलों, मूलों, ओषधियों, स्थण्वर रहनेवाले जन्मे रहनजाले अनिमित्तों निमित्तों चतुष्पत्तों द्विपत्तों स्थावरों जङ्गलों, अज्यकों, व्यक्तों, सगुणों पर निर्गुणोंको देखते हुए कुतूहलरस (उसी उदरमें हा) भार्गव चारों ओर घूमन लगे । धृगु यही शुकाचार्यको वहाँ इस प्रकार रहते हुए एक दिव्य वष जीन गया । परतु ब्रह्मन् शुकको अन्त नहीं मिया और वे एक गये । समयको पका हुआ देखकर और वाहर निकलनेका माग न पारना आमानो शम्भे करनेवाले व भक्तिसे नन्न होकर महादम्की शरणमें आ गये ॥ ३४-३९ ॥

शुक उवाच

विदवरूप महारूप विदवरुपाक्षम्बधृक । सहस्राक्ष महाद्वय जामह शरण गत ॥ ४० ॥
 नमोऽस्तु ते शङ्कर शर्व शम्भो सहस्रनेत्राणि प्रभुनङ्गपूरण ।
 तद्वैव मर्गान् भुवनास्तयोदरे ध्रान्तो भव न शरण प्राग्न ॥ ४१ ॥
 इत्येवमुक्ते यच्चने महात्मा शम्भुर्वच प्राह तथा निहस्य ।
 निर्याच्छ पुत्रोऽसि ममाधुना च शिदनेन भो भार्गवशत्रु ॥ ४२ ॥
 नाम्ना तु शुक्रेति चराचरास्या स्तोष्यन्ति नैयात्र विचारमन्यन् ।
 इत्येवमुक्त्वा भगवान् मुमोच शिदनेन शुक स च निर्नेगम ॥ ४३ ॥
 विनिर्गतो भार्गवशत्रु शुक यमापद्य महाभुषाय ।
 प्रणम्य शम्भु स जपाम तूर्ण महासुराणा बलमुत्तमौजा ॥ ४४ ॥

शुक्रने कहा—हे विश्वरूप ! हे महारूप ! हे विश्वरूपाक्ष ! हे सूत्रधारिन् ! हे सहस्राक्ष ! हे महादेव ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । हे शंकर ! हे शर्व ! हे शम्भो ! हे सहस्रनेत्राङ्घ्रि ! हे सर्पभूषण ! आपके उदरमें सभी भुवनोंको देखते-देखते थककर मैं आपकी शरणमें आया हूँ । इस प्रकारके वचन कहनेपर महात्मा शम्भुने हँसकर यह वचन कहा—अब तुम मेरे पुत्र हो गये हो । इसलिये हे भार्गववंशके चन्द्र ! मेरे शिष्यसे बाहर निकलो । अब समस्त चराचर जगत् तुम्हारी स्तुति शुक्रके नामसे करेगा । इसमें किसी अन्य प्रकारके विचारका स्थान नहीं है । ऐसा कहकर भगवान्ने शिश्न-मार्गसे शुक्रको मुक्त कर दिया और वे बाहर निकल आये । शुक्रव प्राप्तकर बाहर निकले ओजस्वी महानुभाव भार्गववंशचन्द्र शम्भुको प्रणामकर शीघ्र महासुरोंकी सेनामें चले गये ॥ ४०—४४ ॥

भार्गवे पुनरायाते दानवा मुदिताभवन् । पुनर्युद्धाय विदधुर्मति सह गणेश्वरैः ॥ ४५ ॥
गणेश्वरास्तानसुरान् सहामरगणैरथ । युयुधुः संकुलं युद्धं सर्व एव जयेत्सवः ॥ ४६ ॥
ततोऽसुरगणानां च देवतानां च शुध्यताम् । द्वन्द्वयुद्धं समभवद् घोररूपं तपोधन ॥ ४७ ॥
अन्धको नन्दिनं युद्धे शङ्कुकर्णं त्वयःशिराः । कुम्भध्वजं वलिर्धीमान् नन्दिपेणं विरोचनः ॥ ४८ ॥

शुक्राचार्यके वापस आ जानेपर दानव प्रसन्न हो गये । उन्होंने गणेश्वरोंके साथ फिर युद्ध करनेका विचार किया । उसके बाद देवताओंसहित विजयकी कामनावाले सभी गणेश्वरोंने उन असुरोंसे भयंकर युद्ध किया । हे तपोधन ! उसके बाद युद्ध करनेमें लगे हुए असुरगणों एवं देवताओंमें भयानक द्वन्द्वयुद्ध हुआ । अन्धक नन्दीके साथ, अयःशिरा शङ्कुकर्णके साथ, बुद्धिमान् बलि कुम्भध्वजके साथ एवं विरोचन नन्दिपेणके साथ भिड़ गये ॥ ४५—४८ ॥

अश्वघ्रीवो विशाखं च शाखो वृत्रमयोधयत् । वाणस्तथा नैगमेयं बलं राक्षसपुङ्गवः ॥ ४९ ॥
संकुलो राक्षसश्रेष्ठं विनायको महावीर्यः परश्वधधरो रणे ।

तुहुण्डं समयोधयत् । दुर्योधनश्च बलिनं घण्टाकर्णमयोधयत् ॥ ५० ॥
एते हि बलिनां श्रेष्ठा दानवाः प्रमथास्तथा । संयोधयन्ति देवर्षे दिव्यावदानां शतानि पट् ॥ ५१ ॥

शतक्रतुमथायान्तं वज्रपाणिमभिस्थितम् । वारयामास बलवाज् जम्भो नाम महासुरः ॥ ५२ ॥

अश्वघ्रीव विशाखके साथ और शाख वृत्रके साथ, वाण नैगमेयके साथ और राक्षसपुंगव बलके साथ लड़ने लगा । युद्धमें कुपित होकर परशु धारण करनेवाले महापराक्रमी विनायक राक्षसश्रेष्ठ तुहुण्डके साथ भिड़ गये और दुर्योधन बलशाली घण्टाकर्णके साथ युद्ध करने लगा । हन्ती कुण्डजठरके साथ और ह्राद वीर घटोदरसे लड़ने लगा । देवी ! अश्वानोंमें श्रेष्ठ वे सभी दानव एवं प्रमथगण आपसमें छः सौ दिव्य वर्तक संग्राम करते रहे । जम्भ नामके बलशाली असुरने सानने आ रहे वज्रपाणि इन्द्रको रोक लिया ॥ ४९—५२ ॥

शम्भुनामाऽसुरपतिः स ब्रह्माणमयोधयत् । महौजसं कुजम्भश्च विष्णुं दैत्यान्तकारिणम् ॥ ५३ ॥
विशरान् रणे शाल्यां परुणं त्रिशिरास्तथा । द्विमूर्धो पवनं सोमं राहुर्मित्रं विरूपधृक् ॥ ५४ ॥
अष्टौ ये पसवः स्याता धरायास्ते महासुरान् । अग्रवेव महेष्वासान् वारयामासुराहवे ॥ ५५ ॥
सम्भः शलभः पाकः पुरोऽथ विपृथुः पृथुः । वातापी चेल्वलश्चैव जानाशालाखयोधिनः ॥ ५६ ॥
विश्वेदेवगणान् सर्वान् विष्वसेनपुरोगमान् । एक एव रणे रौद्रः कालनेमिर्महासुरः ॥ ५७ ॥

शम्भु नामका असुरराज मन्नासे लड़ने लगा और कुजन्म दैत्योंका अन्त करनेवाले मन्ना ओतली विष्णुसे युद्ध करने लगा । शाल्व सूर्यसे, विश्वा वरुणसे, दिव्या पवनसे, राहु सोमसे और विरूपरुद्र मित्रसे लड़ने लग्य । धरादि नामसे विद्यावा आठ वसुओंने सरभ, शलभ, पाक, पुर, विष्टु, पृथु, वानारी और इत्यल—इन आठ मन्ना धनुर्गोरी असुरोंको युद्धमें लड़कर (पीठे) हटा दिया । ये वसुर भौतिक-भौतिक शस्त्र और अन्न लेकर लड़ने लगे । कालनेमि नामका भयंकर महासुर युद्धमें अकेला ही विष्णुकेसे आदि त्रिवेदेन गणोंसे युद्ध करने लगा ॥ ५३-५७ ॥

एकादशैव ये रुद्रास्तानेनोऽपि रणोत्कटः । योधयामास तेजस्वी विद्युन्माली महासुरः ॥ ५८ ॥
 द्वावश्विनौ च नरको भास्करनेन शम्भरः । साध्यान् मरुद्गणान्श्वेव निघातकयवाद्यः ॥ ५९ ॥
 एवं द्बृहस्पदहृष्टाणि प्रमथामरदानवैः । शतानि च सुराध्यानां दशतोः पन्महामुने ॥ ६० ॥
 यदा न शक्तिता योद्धुं दैवतैरमपारयः । तदा मायां समाधित्यप्रसन्तः क्रमशोऽप्ययान् ॥ ६१ ॥

रणमें उत्कट तेजसाले विद्युन्माली नामके महासुरने अकेले ही एनद्रस रादोंका (उठकर) सामना किया । नरकने दोनों अश्विनीकुमारोंसे, शम्भरने (द्वादश) भास्करोंसे एव निघातकनचादिने साथों तथा मरुद्गणोंसे युद्ध किया । महामुने ! इस प्रकार आठ दिव्य वीरक प्रमथों एव दानवोंके हजारोंकी संप्रदायमें दो-दो लड़ाके वीर आपसमें द्बृहस्पद करते रहे । जब असुरगण इस प्रकार देवोंसे युद्ध करनेमें समर्थहीन हो गये, तब उन लोगोंने मायाका मन्ना लेकर देवोंको क्रमश निगमना प्रारम्भ कर दिया ॥ ५८-६१ ॥

ततोऽभवच्छैलपृष्ठं प्रावृडभ्रसमप्रभैः । आवृतं चाजितं सतः प्रमथैरमरैरपि ॥ ६२ ॥
 दृष्ट्वा शून्यं गिरिप्रस्थं प्रस्तांश्च प्रमथामपन् । क्रोधादुत्पाद्यामास रुद्रो जम्भापिकां यशो ॥ ६३ ॥
 तथा स्पृष्ट्वा दनुसुता धलसा मन्दभापिणः । यदनं विरुतं कृत्वा मुकशस्त्रं विजम्बिरे ॥ ६४ ॥
 जम्भमाणेषु च तदा दानवेषु गणेश्वराः । सुपथं निययुस्त्वं दैत्यदेहेभ्य आकुला ॥ ६५ ॥

उसके बाद सारे प्रमथों और देवोंसे रहित पर्वत बर्गमालीन मेघके समान दानवोंसे ढक गया । पर्वत-प्रान्तको शून्य और प्रमथो तथा देवोंको प्रसित हुआ देखकर निमित्तन्द्रिय रुद्रने क्रोधसे जम्भापिकको उत्पन्न किया । उसके स्पर्श करनेपर अलोंको छोड़कर धीरे धीरे बोधते हुए आलस्यसे पूर्ण दानव मुकको विवर्ण बनाकर जँभाई लेने लगे । दानवोंके जँभाई लेते समय आकुल होकर गणेश एव देवनालीन दैत्योंकी देहसे अविलम्ब बाहर निकल गये ॥ ६२-६५ ॥

मेघप्रमेभ्यो दैत्येभ्यो निर्गच्छन्तोऽमरोत्तमा । शोभन्ते पद्मपत्राशा मेघेभ्य इव विद्युतः ॥ ६६ ॥
 गणामरेषु च समं निर्गतेषु तपोधन । अयुष्यन्त महात्मानो भूय पयातिर्गोपिता ॥ ६७ ॥
 ततस्तु देवैः सगणैः दानवा शर्वपालितैः । पराजीयन्त संग्रामे भूयो भूयस्त्वहर्निताम् ॥ ६८ ॥
 ततस्त्रिनेत्रः स्वां संध्यां सप्तान्द्रातिके गते । कालोऽम्भुपासत तदा सोऽष्टाद्रामुजोऽन्यथः ॥ ६९ ॥

मेघके समान दैत्योंके शरीरसे बाहर निकल रहे कमलके सदृश आँखोंवाले श्रेष्ठ देवगण बादलमें निरुत्तनेकटी विजलीकी भाँति शोभित हो रहे थे । तपोधन ! गणों और देवोंके बाहर आ जानेपर वे मन्ना (दैन) अपन्न कुम्भित होकर युद्ध करने लगे । उसके बाद शम्भुसे पालित गणों एव देवोंने युद्धमें दानवोंको दिन-रात बारम्बार हराया । उसके बाद सान सौ बर्गोंका समय बीत जानेपर अठारह मुजाओंवाले अग्निवासी अन्वक शंकर जन्मे नित्यक्रियाकी संध्या करने लगे ॥ ६६-६९ ॥

संस्पृश्यापः सरस्वत्यां स्नात्वा च विधिना हरः । कृतार्थो भक्तिमान् मूञ्जा पुष्पाञ्जलिमुपाक्षिपत् ॥ ७० ॥
 ततो ननाम शिरसा ततश्चक्रे प्रदक्षिणम् । हिरण्यगर्भेत्यादित्यमुपतस्थे जजाप ह ॥ ७१ ॥
 त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु सम्यगुच्चार्य शूलधृक् । ननर्त भावगम्भीरं दोर्दण्डं भ्रामयन् वलात् ॥ ७२ ॥
 परिचृत्यति देवेशे गणाश्चैवामरास्तथा । नृत्यन्ते भावसंयुक्ता हरस्यानुविलासिनः ॥ ७३ ॥

उन भक्तिमान् शंकरने जलका स्पर्शकर (आचमनकर) विधिपूर्वक सरस्वतीमें स्नान किया । वे कृतार्थ हो गये । उन्होंने पुष्पाञ्जलि सिरसे लगाकर समर्पित की । उसके बाद उन्होंने सिर झुकाकर प्रणाम एवं उसके पश्चात् प्रदक्षिणा कर 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यकी वन्दना की और जप किया । उसके बाद 'त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु' इसका स्पष्टरूपसे उच्चारण कर शूलपाणि शंकर बलपूर्वक अपना बाहुदण्ड घुमाते हुए भावगम्भीर होकर नाचने लगे । देवेश्वरके नाचनेपर उनके अनुगामी गण और देवता भी (वैसे ही) भाव-विभोर होकर नाचने लगे ॥ ७०-७३ ॥

सन्ध्यामुपास्य देवेशः परिचृत्य यथेच्छया । युद्धाय दानवैः सार्द्धं मतिं भूयः समादधे ॥ ७४ ॥
 ततोऽमराणैः सर्वैस्त्रिनेत्रभुजपालितैः । दानवा निर्जिताः सर्वे बलिभिर्भयवर्जितैः ॥ ७५ ॥
 स्वबलं निर्जितं दृष्ट्वा मत्वाऽजेयं च शङ्करम् । अन्धकः सुन्दमाह्वय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७६ ॥
 सुन्द भ्राताऽसि मे वीर विद्वत्स्यः सर्ववस्तुषु । तद्वदाम्यद्य यद्वाक्यं तच्छ्रुत्वा यन्क्षमं कुरु ॥ ७७ ॥

सन्ध्यापासन करके इच्छानुकूल वृत्त करनेके बाद शंकरने फिर दानवोंसे संग्राम करनेका विचार किया । फिर तो शंकरकी भुजाओंसे रक्षित बलशाली और निर्भय सम्पूर्ण देवताओंने सारे दानवोंको जीत लिया । अपनी सेनाको पराजित देखकर तथा महादेवको पराजित करनेमें कठिनाई जान करके अन्धकने सुन्दको बुलाकर यह वचन कहा—श्रीर सुन्द ! तुम मेरे भाई हो और सभी विषयोंमें तुम मेरे विश्वासी हो । इसलिये आज मैं तुमसे जो कहना हूँ, उसे सुनकर यथाशक्ति उसे पूर्ण करो ॥ ७४-७७ ॥

दुर्जयोऽस्तो रणपटुर्धर्मात्मा कारणान्तरैः । समासते हि हृदये पद्माक्षी शैलनन्दिनी ॥ ७८ ॥
 तदुत्तिष्ठस्व गच्छामो यत्रास्ते चारुहासिनी । तत्रैनां मोहयिष्यामि हररूपेण दानव ॥ ७९ ॥
 भवान् भवन्त्यानुचरो भव नन्दी गणेश्वरः । ततो गत्वाऽथ भुक्त्वा तांजेप्यामि प्रमथान् सुरान् ॥ ८० ॥
 इत्येवमुभते वचने वादं सुन्दोऽभ्यभाषत । समजायत शैलादिरन्धकः शङ्करोऽप्यभूत् ॥ ८१ ॥

कितनी मुख्य कारणोंसे युद्ध करनेमें परम चतुर ये धर्मात्मा दुर्जेय हैं । मेरे हृदयमें कमलनयनी पार्वती बसी हुई है । अब उठो; हम वहाँ चले, जहाँ वह मधुर सुसकानवाली स्थित है । दानव ! वहाँ मैं शंकरका रूप धारण करके उसे मुझ कर दूँगा (भुलवेमें डाल दूँगा) । तुम शंकरका अनुचर गणेश्वर नन्दी बनो । तब यहाँ पहुँच करके और उसका सुख भोगकर प्रमथों एवं देवोंको जीतूँगा । ऐसा कहनेपर सुन्दने कहा—ठीक है । उमते बाद वह शैलादि (नन्दी) बन गया और अन्धक शिव बन गया ॥ ७८-८१ ॥

नन्दिरुष्टो ततो भूया मद्रासुरचमूपती । सम्प्राप्तौ मन्दरगिरिं प्रहारैः क्षतविग्रहौ ॥ ८२ ॥
 तस्मात्तन्मन्त्रं सुन्दन्य अन्धको हरमन्दिरम् । विवेश निर्विदाहनेन चित्तैनासुरसत्तमः ॥ ८३ ॥
 ततो गिरिमुत्था दृष्ट्वादायान्नं योक्ष्य चान्धकम् । महेश्वरवपुश्छन्नं प्रहारैर्जर्जरच्छविम् ॥ ८४ ॥
 सुन्दं शैलादिरुपगमवष्टयाविशात् नतः । तं दृष्ट्वा मालिनीं प्राह सुयशां विजयां जयाम् ॥ ८५ ॥

उसके बाद महासुर (अशुर) और सेनापति (सुद) शत्रुओंकी मारसे अक्रि पापत हुए शरीरवाले रुद्र और नन्दीका रूप धारण कर मन्दरगिरिपर पहुँचे । अपुरप्रेत अशुर सुन्दर हाथ पकड़कर निडर होकर महादेवके मन्दिरमें घुस गया । उसके बाद शैलदि नन्दीके रूपमें स्थित सुन्दरने पकड़कर मारसे जर्जर महादेवके शरीरमें छिपे अशुरको दूरसे आते देखकर पार्वतीने यशविनी मालिनी, विजया तथा जयासे कहा—॥८२-८५॥

जये पश्यस देवस्य मद्यथे विग्रहं वृतम् । शत्रुभिर्दानववरैस्तदुत्तिष्ठन्व स्वत्वरम् ॥ ८६ ॥
 पुतमानय पौराणं वीजिकां लवणं दधि । व्रणभङ्गं करिष्यामि स्वयमेव पिनाकिनः ॥ ८७ ॥
 वृषभ्य शीघ्रं सुयते स्वभर्तुर्व्रणनाशनम् । इत्येयमुक्त्वा वचनं समुत्थाय वरासनात् ॥ ८८ ॥
 अभ्युद्ययी तदा भक्त्या मन्यमाना वृषभ्यजम् । शूलपाणेस्ततः स्थिया रूपं चिह्नानि यत्नतः ॥ ८९ ॥
 अन्वियेष ततो ब्रह्माश्रमौ पादरक्षिणीं वृषी । सा ज्ञात्वा दानवं रौद्रं मायाच्छादितत्रिग्रहम् ॥ ९० ॥

जये ! देखो, मेरे स्वामीके शरीरको मेरे लिये दानव-शत्रुओंने किस प्रकार जर्जरित कर डाला है । इसलिये अविलम्ब उठो । पुराना घी, वीजिका, लवण और दही ले आओ । मीनाम धारण करनेवाले शरकरे घोड़ोंको मैं खाय ही भरूंगी । यशविनि ! शीघ्र अपने स्वामीके घोड़ोंको मरो—ऐसा कहते हुए आसनसे उठकर उसे वृषभ्य शर सप्तशती हुई वे भक्तिपूर्वक उसके पास गयीं । उसके बाद खड़ी होकर वे शरकरे रूप एवं चिह्नोंको भलीभाँति देखने लगीं । ब्रह्मन् ! उन्होंने देखा कि उसकी कालमें स्थित दोनों वृष नहीं हैं । इसलिये उन्हें यह माह्वम हो गया कि यह मायासे छिपे शरीरवाला भयानक दानव है ॥ ८६-९० ॥

अपयानं तदा चक्रे गिरिराजसुता मुने । देव्याश्चिन्तितमाज्ञाय सुन्दं त्यक्त्यान्धकोऽसुरः ॥ ९१ ॥
 समाद्रवत धेमेन हरकान्तां विभावराम् । समाद्रवत दैतेयो येन मार्गेण साऽगमत् ॥ ९२ ॥
 अपस्कारान्तरं भञ्जन् पादप्सुतिभिराजुलः । तमापतन्तं दृष्ट्वै गिरिजा प्राद्रवद् भयात् ॥ ९३ ॥
 गृहं त्यक्त्या ह्युपवनं सखीभिः सहिता तदा । तप्राप्यनुजगामासौ मदानयो मुनिपुत्रव ॥ ९४ ॥
 तथापि न शशापैर्न तपसो गोपनाय तु । तद्भयादाविशद् गौरिं द्रोतार्कबुसुमं शुचि ॥ ९५ ॥

मुने ! उसके बाद गिरिराजकी कन्या भाग चली । देशीक विचारको समझकर अचनसुर सुन्दको छोड़कर शीघ्रनापूर्वक शंकरप्रिया विभावरौके पीछे उसी रास्तेसे दाँडा, निम्मे वे गयी थीं । चरणरु चपेटोंसे राहनी रक्षाट्योंको चूर-चूर करते हुए वह अमीरतापूर्वक टोड़ पड़ा । उमे गाते देवकर मिश्रितनया मयसे (और) भाग चली । मुनिवर ! उसके बाद देवी सखियोंके साथ घर छोड़कर उपवनमें चली गयीं । उहाँ भी मदानय (अशुर) ने उनका पीछा किया । इतनेपर भी अपने तपकी रक्षाके लिये उन्होंने उसे शाप नहीं दिया । पितृ नैमी व्यप उसके डरसे पवित्र सफेद अर्कके फूलमें छिप गयीं ॥ ९१-९५ ॥

विजयाया महागुल्मे सम्प्रयाता लयं मुने । नष्टायामथ पार्वत्यां भूयो शैरप्यलोचनि ॥ ९६ ॥
 सुन्दं हस्ते समादाय स्वसैन्यं पुनरायाते स्वखलं मुनिसत्तम ॥ ९७ ॥
 प्रावर्तत महायुद्धं प्रमथासुरयोरथ । ततोऽमरगणश्रेष्ठो विष्णुश्चानुगादाधरः ॥ ९८ ॥
 निजघानासुरबलं शङ्खप्रियक्राम्यया । शार्ङ्गचापज्युनैर्गौरे संस्यूता दानवर्षभा ॥ ९९ ॥
 पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा व्रणपादैर्घना इय । गदया काश्चिद्वधधोरुचक्रेणान्पान् जनार्दन ॥ १०० ॥
 सङ्घेन च चक्रतान्यान् दृष्टयान्यान् भससाद्दृष्यधात् । दलेनादृष्य चैवान्यान् मुसलेन व्यचूर्णयत् ॥ १०१ ॥

मुने ! विजया आदि भी बनी आड़ियोंमें छिप गयीं । उसके बाद सर्वातीके अद्वय हो जानेपर हिरण्यकशिपु (अन्वक) मुन्दका हाथ पकड़कर पुनः अपनी सेनामें वापस आ गया । मुनिस्तन ! अन्वकके अपनी सेनामें पुनः लौट आनेपर प्रमथों और असुरोंमें बनासान लड़ाई होने लगी । उसके बाद अनुरागोंमें श्रेष्ठ वक्र पूर्व गदा धारण करनेवाले विष्णुमगवान् शंकरका प्रिय करनेकी इच्छासे असुर-सेनाका संहार करने लगे । आर्हन्तानक वसुसे निकले हुए बाणोंसे पाँच-पाँच, छः-छः, सात-सात, आठ-आठ श्रेष्ठ दानव उसी प्रकार विदीर्ण होने लगे जैसे मूर्खों कीरणोंसे 'वन' (अन्वकार) विदीर्ण हो जाते हैं । जनार्दनने कुलको गदासे तथा कुलको चकले मार डाला । किर्दीको तलवारसे काट डाला और किर्दीको देखकर हीमस का दिया तथा कुल असुरोंको हलद्वारा खींचकर मूसलसे चूर्ण-विचूर्ण कर दिया ॥ ९६-१०१ ॥

गरुडः पद्मपाताभ्यां तुण्डेनान्युरसाऽहनत् । स चादिपुरुषो धाता पुराणः प्रपितामहः ॥१०२॥
 भ्रामयन् विपुलं पद्ममयपिञ्जत वारिणा । संस्पृष्टा ब्रह्मतोयेन सर्वतीर्थमयेन हि ॥१०३॥
 गणामरणाश्चासन् नवनागशताधिकाः । दानवास्तेन तोयेन संस्पृष्टाश्चावहारिणा ॥१०४॥
 सबाहनाः श्रयं जग्मुः कुलिशेनेव पर्यताः । द्रुप्रा ब्रह्महरी युद्धे दानवन्तो महासुरान् ॥१०५॥
 शतक्रनुश्च दुद्राव प्रगृह्य कुलिशं बली । तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलो दानवसत्तमः ॥१०६॥
 मुन्या देवं गदापाणिं विमानस्थं च पद्मजम् ।
 शकमेवाद्वचद् योद्धुं सुष्टिसुधम्य नारद । बलवान् दानवपतिरजेयो देवदानवैः ॥१०७॥

गरुडने अपने दोनों हैनोंकी मारसे बाँच तथा छातीके बलसे अनेक देवोंको मौतके घाट उतार दिया । पुरातन आदिपुरुष धाता प्रपितामहने विशाल कमलको धुमाते हुए सभी (देवगणों)को जलसे अभिमिद्धित किया । सर्वतीर्थरूप द्रव जलका स्पर्श होनेसे गण तथा देवतालोग नौजवान हाथियोंसे भी अधिक पराक्रमवाले हो गये । और सौ, पाप दूर करनेवाले उस जलके स्पर्शके प्रभावसे सवारीके साथ दानव ऐसे नष्ट होने लगे जैसे बज्रसे पर्वत नष्ट हो जाते हैं । द्रुप्रा और विष्णुको संग्राममें महासुरोंको मारते देखकर (उत्साहमें आकर) बलशाली इन्द्र भी अपना वज्र लेकर दौड़ पड़े । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी ! उन्हें आते देखकर देवों तथा दानवोंसे अजेय शक्तिशाली श्रेष्ठ दानवपति बल, गदाधर विष्णु और विमानारूढ़ ब्रह्मसे लड़ना छोड़कर मुट्ठी तानकर इन्द्रसे ही युद्ध करनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ १०२-१०७ ॥

तमापतन्तं विदशेश्वरस्तु दोषणां सहस्रेण यथावलेन ।
 वज्रं परिभ्राम्य बलन्व मूर्ध्नि चिक्षेप हे मूढ हतोऽस्युदीर्य ॥ १०८ ॥
 स तस्य मूर्ध्नि प्रवरोऽपि वज्रो जगाम तूर्णं हि सहस्रथा मुने ।
 बलोऽद्वचद् देवपतिश्च भीतः पराङ्मुखोऽभूत् समरान्महर्षे ॥ १०९ ॥
 तं चापि जम्भो विमुखं निरोक्ष्य भूत्वाऽप्रतः प्राह न युक्तमेतत् ।
 तिष्ठस्व राजाऽसि चराचरस्य न राजधर्मे गदितं पलायनम् ॥ ११० ॥
 सहस्राक्षो जम्भवाक्यं निशम्य भीतस्त्पूर्णं विष्णुमागान्महर्षे ।
 उपन्याद् श्रुयतां वाक्यमीश त्वं मे नायो भूतभव्येश विष्णो ॥ १११ ॥

उसे आते देखकर देवताओंके स्वामी इन्द्रने हजारों भुजाओंसे अपनी शक्तिभर वज्रको धुमाते हुए उसे बलके सिरपर धे मूढ़ ! अब तुम मारे गये—कहकर भेक दिया । मुने ! वह श्रेष्ठ वज्र भी उसके सिरपर शीघ्र ही हजारों टुकड़ोंमें टूक-टूक हो गया । (निर) बल (इन्द्रकी ओर) दौड़ा । महर्षे ! देवराज

भयभीत होकर डुबते विमुग हो गये—भाग गये । उन्हें विमुग होकर भागने देव जन्मने आगे आकर कहा कि यह उचित नहीं है । रुक्तिये; आप समस्त स्वामर-जङ्गमके राजा हैं । राजमर्मे उदाईके मैदानसे भागनेका नियम नहीं है । गहर्षे ! जम्भका वचन सुनकर भयभीत होकर इन्द्र जन्मीने दियुके खनीर चले गये । वहाँ जाकर उन्होंने कहा—हे ईश ! आप मेरी बात सुनें । हे भूत तथा मयंक स्वामी विष्णो ! आप मेरे खानी हैं ॥ १०८-१११ ॥

जम्भस्तर्जयतेऽत्यर्थं मां निरायुधमीक्ष्य हि । आयुधं देहि भगवन् त्वामहं शरणं गतः ॥ ११२ ॥
तमुवाच हरिः शकं त्यक्त्वा द्रुपं प्रजाधुना । प्रार्थयस्वायुधं धदि स ते दास्यमवसंदायम् ॥ ११३ ॥
जनार्दनवचः श्रुत्वा शकस्त्वरितविक्रमः । शरणं पायकमगादिदं धीवाच नाप् ॥ ११४ ॥

जम्भ मुझे शखाखसे रहित देखकर बहुत अधिक लज्जित रहा है । भगवन् ! आप मुझे आयु दे । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । विष्णुने इन्द्रसे कहा—इस समय (अर्धने पदके) अर्धकारकी छोड़कर तुम अग्निदेवके पास जाओ और उनसे आयुधके लिये प्रार्थना करो । वे निस्सन्देह तुम्हें आयुध प्रदान करेंगे । नारदजी ! जनार्दनकी बात सुनकर तीव्र गतिगले इन्द्र अग्निकी शरणमें चले गये और उनसे उन्होंने कहा—॥ ११२-११४ ॥

शक उवाच

निघ्नतो मे यत्नं ध्वं कृशानो शतधा गतम् । एष चाहूयते जम्भस्तसादेहायुधं मम ॥ ११५ ॥
इन्द्रने कहा—अग्निदेव ! बलको मारनेमें मेरा धर्म सैकड़ों दुकड़े हो गया; यह जम्भ मुझे बटोर रहा है । अतः आप मुझे आयु प्रदान करें ॥ ११५ ॥

पुलस्त्य उवाच

तमाह भगवान् धदिः प्रीतोऽस्मि तव दास्य । यत्नं द्रुपं परित्यज्य मामेव शरणं गतः ॥ ११६ ॥
इत्युवाच स्वशक्त्यास्तु शक्तिं निष्क्राम्य भावतः । प्रादादिन्द्राय भगवान् रोचमानो दिवं गतः ॥ ११७ ॥
तामादाय तदा शक्तिं शतघण्टां सुदायणाम् । प्रयुच्यो तदा जम्भं हन्तुकामोऽग्निमदनः ॥ ११८ ॥
तेनातियशसा दैत्यः सहसैवाभिसंद्रुतः । क्रोधे चक्रे तदा जम्भो निजघान गजाधिराम् ॥ ११९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवन् ! अग्निदेवने उनसे कहा—यामव ! मैं आपके ऊपर प्रसन्न हूँ; क्योंकि आप अर्धकार छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं । ऐसा कहनेके बाद प्रमत्तशयुक्त भगवान् अग्निदेवने मारपूर्वक अपनी शक्तिसे एक दूसरी शक्ति निष्कालकर उसे इन्द्रको दे दिया और वे स्वर्ग चले गये । शत्रुका मर्दन करनेकेले इन्द्र सैकड़ों घण्टाओंसे युक्त उस भीषण शक्तिको लेकर जम्भको मारनेके लिये चले गये । उन अयत्न पशन्वीके सहस्रा पीठा करनेपर जम्भने क्रोधपूर्वक गजागिरि (ऐशान) पर बार बार दिया ॥ ११६-११९ ॥

जम्भमुष्टिनिपातेन भग्नकुम्भकटो गजः । निपपात यया शैलः शकवज्रहतः पुरा ॥ १२० ॥
पतमानाद् द्विपेन्द्रास्तु शकश्चाप्लुत्य वेगवान् । त्यक्त्वैव मन्दरगिरिं पपात धमुधानले ॥ १२१ ॥
पतमानं हरिं सिद्धाधारणाश्च तदाऽसुबन् । मा मा शक पतस्याग भूतले तिष्ठ वासव ॥ १२२ ॥
स तेषां वचनं श्रुत्वा योगी तस्यौ क्षणं तदा । प्राह चैतान् कथं योत्स्ये अत्रतः शत्रुभिः सहः ॥ १२३ ॥

जम्भकी मुष्टीके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल विदीर्ग हो गया । उसके बाद वह इस प्रमत्त पूर्वकालमें इन्द्रके धमसे आहत होकर पर्वत गिरता था । इन्द्र गिरते हुए गजेन्द्रसे वेगपूर्वक

पर्वतको भी छोड़कर पृथ्वीकी ओर नीचे गिर पड़े । उसके बाद गिरते हुए इन्द्रसे मिटों एवं चारगोलों कहा—
 इन्द्र ! आप पृथ्वीपर न गिरें । आप क्यों । उनकी बात सुनकर योगी इन्द्र उस समय ब्रह्मणके लिये रुक गये
 और बोले—मैं बिना वाहनके इन शरश्रेणों केसे लड़ूँगा ! ॥ १२०-१२३ ॥

तमुच्युद्वेचगन्धर्वा मा विपादं ब्रजेत्यग्र । मृध्वस्य त्वं समाकृत्य प्रेषयिष्याम यद् रथम् ॥१२४॥
 इत्येवमुक्त्वा विपुलं रथं स्वस्तिकलक्षणम् । वानमध्यजगन्मुक्तं हरिभिर्हरिभिर्युतम् ॥१२५॥
 मुहुज्जासूनदमयं क्रिद्दिणोजालमण्डितम् । शक्राय प्रेषयामासुर्विद्ववावसुपुरोगमाः ॥१२६॥
 तमागतमुदादद्याथ हानं सार्गयिना हरिः । प्राह योन्स्य कथं युद्धे संयमित्ये कथं हयान ॥१२७॥

देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तर दिया—हे देव (इन्द्र) ! आप चिन्तित न हों । हमयोग जो रथ भेज रहे हैं
 उसपर नदकर आप युद्ध करें । ऐसा कहकर विश्वामु आदिने स्वस्तिकके आकरगोलों कपिथ्वजगत् युक्त हरिदिवर्णके
 श्रेणोंमें हुते मुहुज्जासूनदमय तथा क्रिद्दिणोजालसे मण्डित विशाल रथ इन्द्रके लिये भेज दिया । इन्द्र
 सार्गयमे गहित उस रथको देखकर बोले—मैं युद्धमें कैसे लड़ूँगा और कैसे घोड़ोंको संयत करूँगा—दोनों काम
 एक साथ कैसे होंगे ! ॥ १२४-१२७ ॥

यदि कश्चिद्दि सारथ्यं करिष्यति प्रमाथुना । ततोऽहं वातये गच्छन् नान्ययेति कथंचन ॥१२८॥
 ततोऽब्रुवन्मे गन्धर्वा नात्पाकं सार्गयिर्दिभो । विद्यते स्वयमेवाश्वोस्त्वं संयन्तुमिहाहसि ॥१२९॥
 इत्येवमुक्ते भगवांस्यक्त्वा स्वन्दनमुत्तमम् । क्षमातले निपपातैव परिभ्रष्टरगम्बरः ॥१३०॥
 चक्रमौलिसुपेतकचः परिभ्रष्टायुधाप्लवः । पतमानं सहस्राक्षं दृष्ट्वा भूः समकथयत् ॥१३१॥

उस समय मैं सार्गयिका काम यदि कोई करे तो मैं शरश्रेणोंका नाश कर सकता हूँ; अन्य किसी प्रकार
 नहीं । उसके बाद गन्धर्वोंने कहा—दिभो ! हमारे पास कोई सार्गयि नहीं है । आप स्वयं घोड़ोंको नियन्त्रित कर
 सकते हैं । ऐसा कहनेपर गन्धर्व इन्द्र उसमें रथको छोड़कर अन्त-न्यस्त हुए मान्य और शशोक साथ पृथ्वीपर गिर
 गये । (पृथ्वीपर गिरते समय इन्द्रका) गिर क्यों रहा था, उनके बात बिल्व गये थे और उनके आयुध तथा
 वाहन भी नीचे गिर पड़े थे । इन्द्रको गिरते देख पृथ्वी कौपिने लगी ॥ १२८-१३१ ॥

पृथिव्यां कस्यमानायां शर्याकरोन्मगसिनी । भार्याऽब्रवीन् प्रभो वालं यदिः कुरु ययामुत्पस ॥१३२॥
 एव नु शीलवचः श्रुत्वा किमर्थमिति चाब्रवीन् । सा चाह श्रयतां नाथ देवदपग्भिभापितम् ॥ १३३ ॥
 यद्वयं कथ्यते भूमिन्महा प्रक्षिप्यते यदिः । यद्वागतो मुनिश्रेष्ठ तद् भवेद् द्विगुणं मुने ॥ १३४ ॥
 पतद्वातयं तथा श्रुत्वा वालमादाय पुत्रकम् । निगताहो यदिः शीघ्रं प्राक्षिपन् क्षमातले द्विजः ॥१३५॥

पृथ्वी- कौपिने गण्डो अग्नि की तर्जनीकी पक्षीने कहा—प्रभो ! आलसको मैंमाकर वाहर ले जाट्ये ।
 उसने ही तर्जनी बात सुनकर कहा क्यों ! उसने कहा—हे नाथ ! मुनिये, श्रोतियोंका कहना है कि इस
 भूमि पर जोस शरश्रेणों वाहर निगट दी जाती हैं; क्योंकि मुनिश्रेष्ठ ! उस समय आहरमें गयी हुई वस्तु दुर्गुनी
 ही जाती है । मैं वाहरने सुनकर उस समय ब्रह्मणने अपने आलस, पुत्रको लेकर निःशंक हो पृथ्वीपर वाहर
 कर दिया ॥ १३२-१३५ ॥

भूमौ न युगव्यापीय प्रविष्टो भाषेया द्विजः । निवारितां गता वेत्वा अर्द्धशानिर्भविष्यति ॥ १३६ ॥
 इत्येवमुक्ते देवैर्यदिनिर्गम्य वेगयान । दृष्ट्वा यान्द्विजनयं समरूपमवस्थितम् ॥ १३७ ॥
 न दृष्ट्वा देवताः पूज्य भाषो नाहनददोनाम् । प्राह तन्धं न चिन्दामि यत् पृच्छामि यदस्य नन् ॥१३८॥
 वालस्यास्य द्वितीयस्य के भाषियद्गुणा यत् । भाषयानि चास्य यदोक्तं कमे नन् कथयामुना ॥१३९॥

फिर दो गायोंके छिपे भीतर प्रविष्ट होनेपर पत्नीने प्रायशक्ति नियमित करने हुए कहा—
 चुना है; अब इस समय आवे भागती हानि हो जायगी [पुरुष्यजी कहते हैं—]देवों! ऐसा कहनेपर (म
 शीघ्रतासे बाहर निकलकर देखा कि ममान आसुरके दो बालक पड़े हुए हैं। उन्हें देखकर उमने देनाओंके
 करनेके बाद अपनी अद्भुत ज्ञानमनी पत्नीसे कहा—मैं इसका रहस्य नहीं समझता। अतः मैं जो पूजा क
 बनलाओ। यह बतलाओ कि इस दूसरे बालकमें कौन-से गुण होंगे! उसके भाग्य एवं कर्तव्यके
 तुम अभी बतलाओ ॥ १३६-१३९ ॥

साऽप्रवीन्द्राय ते वक्ष्ये यदिच्छ्यामि पुनः प्रभो। सोऽप्रवीद् वद मेऽप्येव नोचेन्नाश्यामि भोजनम् ॥१४०॥
 सा प्राह ध्रुयनां ब्रह्मन् वदिष्ये वचनं हितम्। कातरेणाय यत्पृष्टं भान्यः कातरयं किल ॥१४१॥
 इत्युक्तवति यावत् तं बाल एव त्यचेतनः। जगाम सार्धं शकस्य कर्तुं सौत्यविदारदः ॥१४२॥
 तं यजन्तं हि गन्धर्वा विश्वावसुपुत्रेणमाः। हात्वेन्द्रस्यैव साहाय्ये तेजसा समवर्धयन् ॥१४३॥

पत्नीने कहा—सामिन्! मैं तुम्हें आज नहीं बतलाऊँगी। फिर कभी दूसरे समय बतलाऊँगी। उन्होंने कहा—
 आज ही मुझे बताओ; अन्यथा मैं भोजन नहीं करूँगा। उसने कहा—ब्रह्मन्! आप सुनिये, आपने आर्त्तनासे
 जो पूजा है उस हितकर बातमें मैं कहती हूँ। यह (बालक) निक्षप ही काठ (दिल्ली) होग। ऐसा कहनेपर
 अज्ञान (अवस्थामें) होते हुए भी वह सूत-वर्ममें कुशल बालक इन्द्रकी सहायताके लिये गया। निक्षपनु आदि
 पत्न्येने उस बालकको इन्द्रकी सहायताके लिये जाते हुए जानकर उसके तेजको बढ़ा दिया ॥ १४०-१४३ ॥

गन्धर्वतेजसा युक्तः शिशुः शकं समेत्य हि। प्रोवाचैदोहि देधेरा प्रियो यन्ता भवामि ते ॥ १४४ ॥
 तच्छ्रुत्वास्य हरिः प्राह कस्य पुत्रोऽसि बालक। संयन्ताऽसि कयं चाभ्यान् संदायः प्रतिभानि मे ॥ १४५ ॥
 सोऽप्रवीदपितेजोत्थं क्षमाभवं विदि वासव। गन्धर्वतेजसा युक्तं याजिषानविदारदम् ॥ १४६ ॥
 तच्छ्रुत्वा भगवान्द्रकः खं भेजे योगिनां परः। स चापि विप्रतनयो मातलिर्नामविश्वानुः ॥ १४७ ॥
 ततोऽधिरुद्रस्तु रथं शक्रस्त्रिदशपुत्रवः। रदमान् शमीकतनयो मानलिः प्रशृष्टानवान् ॥ १४८ ॥

गन्धर्वोंके तेजसे परिपूर्ण होकर बालकने इन्द्रके निकट जाकर कहा—देवेश! आइये, आइये। मैं आकाश प्रिय
 सारथि बनूँगा। उसे सुनकर इन्द्रने कहा—हे बालक! तुम मितके पुत्र हो! तुम बड़ोंको कैसे समझि
 करोगे! इस प्रियमें मुझे सदेह हो रहा है। उसने कहा—वासव! मुझे ऋषिके तेजसे बन्धुभयमें बड़े,
 भूमिसे उत्पन्न एवं गन्धर्वोंके तेजसे युक्त अश्वयानमें पारंगत समझो। यह सुनकर योगिश्रेष्ठ भगवान् इन्द्र आसुरमें
 चले गये। मातलि नामसे विद्वान् वह ब्राह्मणपुत्र भी आकाशमें चला गया। उमक बाद देवश्रेष्ठ इन्द्र स्वयं
 चढ़ गये और शमीरुपुत्र मानलिने प्रब्रह (लगाम) पकड़ लिया ॥ १४४-१४८ ॥

ततो मन्दरमागम्य विधेरा रिपुवाहिनाम्। प्रविरान् दृष्ट्वा श्रौमान् पतितं कामुकं महत् ॥१४९॥
 सशरं पञ्चवणाभं सितरक्षासितारुणम्। पाण्डुच्छ्रयं सुरथेष्ठस्तं जप्राह समार्गणम् ॥१५०॥
 ततस्तु मनसा देवान् रजःसत्पतमोमयान्। नमस्कृत्य शरं चापे साधिज्ये विनियोजयत् ॥१५१॥
 ततो निश्चेरुत्पुत्राः शरा यर्हिणयाससः। ब्रह्मोराधिष्णुनामाङ्गाः सृदयन्तोऽसुरान् रणे ॥१५२॥

उसके बाद मन्दरपरिपर पट्टेकर ने (इन्द्र) शत्रुमेनामें प्रविष्ट हो गये। प्रवेश करने समय
 श्रीमान्-(इन्द्र)-ने बाणयुक्त, सफेद, लाल, काला, उगारगलीन लक्षिमावाले एव मकेंद्र, रणमें लिये

पीले रंगवाले—पँचरंगे—एक गदान् धनुषको पड़ा हुआ देखा और बाणके साथ ही उसे उठा लिया । उसके बाद रजःसूक्तमोग्य—त्रिगुणमय—(ब्रह्मा, विष्णु और महेश) देवोंको मनसे नमस्कार करके उन्होंने प्रत्यक्षा चढ़ाकर बाण संधान किया । उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरके नागोंसे अंकित गोरके पंख लगे हुए अत्यन्त भयंकर बाण निकले और असुरोंका संहार करने लगे ॥ १४१-१५२ ॥

आकाशं विदिशः पृथ्वीं दिशश्च स शरोत्करैः । सहस्राक्षोऽतिपटुभिर्द्वाद्यामास नारद ॥१५३॥
 गजो विद्धो ह्यो भिन्नः पृथिव्यां पतितो रथः । महात्मात्रो धरां प्रातः सद्यः सीदच्छरातुरः ॥१५४॥
 पदातिः पतितो भूम्यां शक्रमार्गणताडितः । हतप्रधानभूयिष्ठं वलं तदभवद् रिपोः ॥१५५॥
 तं शक्राणाभिहृतं दुर्गासदं सैन्यं समालक्ष्य तदा कुजम्भः ।
 जम्भाम्बुरश्चापि सुरेशमव्ययं प्रजगमतुर्गुण्य गदे सुघोरे ॥१५६॥

[पुलस्त्यजी करते हैं—] नारदजी ! उन इन्द्रने बड़ी चतुराईसे बाणोंकी बौछारसे आकाश, पृथ्वी, दिशाओं एवं त्रिदिशाओंको छा (भर) दिया । हाथी घुरी तरह विध गये, घोड़े विदीर्ण हो गये, रथ पृथ्वीपर गिर पड़े एवं हाथीका संचालक (महात्मा) बाणोंसे व्याकुल होकर कराहता हुआ धरतीपर गिर गया । इन्द्रके बाणोंसे घायल हुए पैदल युद्ध करनेवाले वीर भूमिपर गिर पड़े । (इस प्रकार) शत्रुकी उस सेनाके बहुतेरे प्रधान (वीर) मारे गये । उस दुर्बरे (अपराजेय) सेनाको इन्द्रके बाणोंसे मारी जाती हुई देखकर असुर कुजम्भ और जम्भ भयानक गदाओंको लेकर अधिनाशी सुरेन्द्रकी ओर तेजीसे बढ़ चले ॥ १५३-१५६ ॥

तावापनन्तौ भगवान् निरीक्ष्य सुदर्शनेनारिविनाशनेन ।
 विष्णुः कुजम्भं निजघान वेगात् स स्यन्दनाद् गामगामद् गतासुः ॥१५७॥
 नरिसन् एते धातरि माधवेन जम्भस्ततः क्रोधवशं जगाम ।
 क्रोधान्वितः शक्रमुपाद्रवद् रणे सिद्धं यथैणोऽतिविपन्नबुद्धिः ॥१५८॥
 तमापनन्तं प्रसमोक्ष्य शक्रस्त्यसत्सैव चापं सशरं महात्मा ।
 जघात शक्तिं यमदण्डकालां तामग्निदत्तां रिपवे ससर्ज ॥ १५९ ॥
 शक्तिं सघण्टां हतनिःस्वनां वै हृष्टा पतन्ती गद्या जघान ।
 गदां च हत्या सहसैव भसात्वाद् विभेद जम्भं हृदये च तूर्णम् ॥ १६० ॥
 शक्त्या स भित्तो हृदये सुरारिः पपात भूम्यां विगतासुरेव ।
 नं वीक्ष्य भूमौ पतितं विसर्गं दैत्यास्तु भान्ता विमुखा वभूवुः ॥ १६१ ॥
 जम्भे हने दैत्यकण्ठे च भग्ने गणास्तु हृष्टा हरिमर्चयन्तः ।
 योग्यं प्रशंसन्ति शनक्रतोश्च स गोघमिच्छर्वमुपेत्य तस्यौ ॥ १६२ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे एकानवसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

भगवान् विष्णुने उन दोहों- (कुजम्भ और जम्भ-) को शीघ्रतासे सामने आते देखकर शत्रु-संहारका सुदर्शनचक्रसे कुजम्भको मारा । वह प्राणहीन होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा । व्यदनीपति श्रीविष्णुके द्वारा भाईके मारे अपनेपर जम्भ मृत हो गया । कुजिन योद्धा वर युद्धमें शत्रुकी ओर ऐसे दौड़ा, जैसे विचारशक्ति नष्ट हो जानेपर मृग भिगती और दौड़ा है । उसे मारते देखाकर महात्मा इन्द्रने धनुष-बाणको छोड़ अग्निद्वारा प्रदत्त पराजयके महाका शक्तिको लेकर उसे शत्रुकी ओर भेजा । वरुणसे वनघनाती हुई उस शक्तिको देखकर (जम्भे) उसका शर पराजय मारने का किया । (उस शक्तिने) गदाको एकएक भसाकर शीघ्र ही जम्भका

हृदय (भी) विदीर्ण कर दिया । शक्तिसे हृदयके विदीर्ण हो जानेपर यह देवराज असुर जन्म प्राग्जहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसे मरा और भूमिपर गिरा देख करके दैत्यगण डरकर पीठ दिखाकर भाग गये । जम्भके मारे जाने एवं दैत्यसेनाके हार जानेपर सभी गण हरिः अर्चन एवं इन्द्रके पराक्रमका गुणगन करने लगे । (फिर) वे इन्द्र शंकरके निरुद्ध जाकर खड़े हो गये ॥ १५७-१६२ ॥

इस प्रकार शंभुवामनपुराणमें उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

[अथ सप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

तस्मिंस्तदा दैत्यबले च भग्ने मुनोऽग्रगण्यमासुरेन्द्रम् ।

पहोहि वीर्यं यद्दं महासुर योत्स्याम भूयो हरमेव शैलम् ॥ १ ॥

तमुवाचान्धको ब्रह्मन् न सम्यग्भवतोदितम् । रणान्नैवापयस्यामि कुलं व्यपदिशन् स्वयम् ॥ २ ॥

पदय त्वं द्विजनाईल मन वीर्यं सुदुर्धरम् । देवदानवगन्धर्वांश्च जेष्ये सेन्द्रमहेश्वरम् ॥ ३ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं हिरण्याक्षस्ततोऽन्धकः । समादास्यान् योच्छेभुं सारथिं मधुपक्षरम् ॥ ४ ॥

सत्तारथी अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकका शिव-शूलसे भेदन, भैरवादिकी उत्पत्ति, अन्धकहृत शिवस्तुति, अन्धकका भृशिरव, देवादिसेना के भेजना, अर्द्धकुमुमसे पार्वतीका प्राकट्य और अन्धकद्वारा उदरी स्तुति)

पुलस्त्यजी बोले—उस समय दैत्यसेनाके हार जानेपर मुनिके असुरोंके स्वामी अग्रगण्ये कहा—वीर महासुर ! इस समय घर चलो । फिर पर्वतपर आकर शंकरसे युद्ध करेंगे । अग्रगण्ये उनसे कहा—अग्रन् ! आपने उचित बात नहीं कही । अपने कुलको कलकित करते हुए मैं युद्धसे नहीं भागूँगा । द्विजप्रेष्ठ ! मेरा अन्धक प्रकट पराक्रम तो देखिये । मैं (उस पराक्रमसे) इन्द्र और महेश्वरके सहित सभी देवों और दानवों तथा गन्धर्वोंको जीत लूँगा । ऐसा वचन कहकर हिरण्याक्ष-पुत्र अन्धकने शम्भु (नामक) सारथिसे मीठी वाणीमें अच्छी तरह आग्रह करते हुए कहा—॥ १-४ ॥

सारथ्ये वाहय रथं हराभ्यासां महाशूल । यावन्निरहन्मि वाणौघैः प्रमथामरपाहिनीम् ॥ ५ ॥

इत्यन्धकवचः श्रुत्वा सारथिस्तुरगांस्तदा । कृष्णवर्णान् महावेगान् कषायाऽभ्यादतन्मुने ॥ ६ ॥

ते यत्नतोऽपि तुरगाः प्रेर्यमाणा हरं प्रति । जघनेष्ववसादन्तः कृच्छ्रेणोद्बुध तं रथम् ॥ ७ ॥

पहन्तस्तुरगा दैत्यं प्राप्ताः प्रमथयाहिनीम् । संवन्सरेण साप्रेण धायुवेगसमा वरि ॥ ८ ॥

महाशूलशाली सारथ्ये ! तुम रथको महादेवके (आपने) सामने ले चलो । मैं वाणोंकी बरसे प्रमथों एवं देवोंकी सेनाको मार भगाऊँगा । मुने ! अन्धकके वचनको सुनकर सारथिने (अर्धने रथके) काले रंगके तीक्ष्णकी घोड़ोंको कोड़ेसे मारा । शंकरकी ओर चेत्यार्यक चलाये जाते हुए भी वे बाँड़े जौधोंमें कष्टका अनुभव करते हुए कठिनारिसे उस रथको खींच रहे थे । दैत्यको द्रोनेशले वे बाँड़े बाधुके वेगके सनान होनेपर भी एक बरसे भी अधिक सपथमें प्रमथोंकी सेनामें पहुँच सके ॥ ५-८ ॥

ततः कामुकमानस्य धागजालैर्गणेभ्यरान् । सुरान् संजडयामास सेन्द्रोपेन्द्रमहेश्वरान् ॥ ९ ॥

यावैद्रजदितमोक्षैव चलं शैलोपयत्सिता । सुरान् शोवाच भगवांश्चमपाणिर्जनादन् ॥ १० ॥

उत्तर दिशाकी धारासे चक्रमालासे सुशोभित (एवं) शूल लिये 'सौमराज' नामसे प्रसिद्ध अन्य भैरव उत्पन्न हुए । बावके रक्तसे इन्द्रधनुषके समान चमकवाले (एवं) शूल लिये 'स्रच्छन्दराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए । पृथ्वीपर गिरे हुए रक्तसे सौभाग्यजन (सहिजन) के समान (एवं) शूल लिये शोभायुक्त 'ललितराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए । मुने ! इस प्रकार इन भैरवका सात रूप कहा जाता है । 'विन्नराज' आठवें भैरव हैं । इन्हें भैरवाष्टक (आठों भैरव) कहा जाता है ॥ ३५-३८ ॥

एवं महात्मना दैत्यः शूलप्रोतो महासुरः । छत्रवद् धारितां ब्रह्मन् भैरवेण त्रिशूलिना ॥ ३९ ॥
तव्यासृगुल्बणं ब्रह्मच्छूलभेदादचापतत् । येनाकण्ठं महादेवो निमग्नः सप्तमूर्तिमान् ॥ ४० ॥
ततः स्वेदोऽभवद् भूरि श्रमजः शङ्करस्य तु । ललाटफलके तस्माज्जाता कन्याऽसृग्गान्धुता ॥ ४१ ॥
यद्भूम्यां न्यपतद् विप्र स्वेदविन्दुः शिवाननात् । तस्माद्भारपुञ्जामो बालकः समजायत ॥ ४२ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन् ! इस प्रकार त्रिशूल धारण करनेवाले महात्मा भैरवने शूलसे विद्व हूए महासुर दैत्यको छतेकी भांति ऊपर उठा लिया । ब्रह्मन् ! शूलसे विद्व होनेके कारण उसका बहुत अधिक रक्त गिरा । उससे सात मूर्तिवाले महादेव गलितक लहू-लुहान हो गये । परिश्रम करनेके कारण शंकरके पूरे ललाटपर बहुत अधिक पसीना आ गया । उससे लूनसे लयपथ एक कन्या उत्पन्न हुई । विप्र ! शिवके मुखसे भूमिपर गिरे पसीनोंकी बूंदोंसे अंगारे-जैसी कान्तिवाला एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ३९-४२ ॥

स बालस्त्वृषितोऽन्यै पपौ सधिरमान्वकम् । कन्या चोत्पत्य संजातमसृग्विलिहोऽद्भुता ॥ ४३ ॥
ततस्तामाह बालार्कप्रभां भैरवमूर्तिमान् । शङ्करो वरदो लोके श्रेयोऽर्थाय वचो महत् ॥ ४४ ॥
न्यां पूजयिष्यन्ति मुग्धा ऋषयः पितृपौरगाः । यक्षविद्यायराश्चैव मानवाश्च शुभङ्करि ॥ ४५ ॥
त्वां स्तोत्रयन्ति सदा देवि बलिपुण्योत्करैः करैः । चर्चिकेति शुभं नाम यस्माद् सधिरचर्चिता ॥ ४६ ॥

अथन प्यासा यद् बालक अन्यकक्षा रक्त पीने लगा और अहुत कन्या भी काटकर उत्पन्न हुए रक्तको चाटने लगे । उसके बाद भैरवका रूप धारण करनेवाले वरदानी शंकरने प्रातःकालके सूर्यके समान कान्तिवाली उस कन्यामें जगत्-कन्याशकारी महान् वचन कहा—शुभकारिणि ! देवता, ऋषि, पितर, सर्पादि, यक्ष, विद्याय एवं मानव तुम्हारी पूजा करेंगे । देवि ! (वे लोग) बलि एवं पुण्याङ्गलसे तुम्हारी स्तुति करेंगे । पनः तुम रक्तसे चर्चित (लयपथ) हो, अतः तुम्हारा शुभ नाम 'चर्चिका' होगा ॥ ४३-४६ ॥

इत्येवमुक्त्वा वरदेन चर्चिका भूतानुजाता हरिचर्मवासिनी ।
महो समन्ताद् विचचार सुन्दरी स्थानं गता हैङ्गुलताद्रिसुत्तमम् ॥ ४७ ॥
नस्यां गतायां वरदः कुजस्य प्रादाद् वरं सर्ववरोत्तमं यत् ।
प्रहाधिपत्यं जगतां शुभाशुभं भविष्यति त्वद्दशानं महात्मन् ॥ ४८ ॥
एतेऽन्यकं वर्षेनह्यत्रमात्रं दिव्यं स्वनेत्रार्कहृताशनेन ।
चकार संशुष्कननुं त्वशोषितं त्वगस्थिशेषं भगवान् स भैरवः ॥ ४९ ॥
तत्राग्निना नेत्रभयेन शुद्धः स मुक्तपापोऽसुरराड् बभूव ।
ततः प्रजानां बहुरूपमोक्षं नाथं हि सर्वस्य चराचरस्य ॥ ५० ॥
एन्या स सर्वदेवरमोक्षमन्वयं प्रैलोष्यनाथं वरदं वरेण्यम् ।
सर्वैः सुगर्भैर्नतमोक्षमाद्यं ततोऽन्यकः स्तोत्रमिदं चकार ॥ ५१ ॥

वरदानी शंकरके ऐसा बहनेपर व्याघ्रचर्मको बस्त्ररूपमें धारण करनेवाली और सब भूतोंके बाद उत्पन्न हुई सुन्दरी चर्चिका पृथ्वीपर चारों ओर विचरनी हुई इंगुलके रंगवाले उत्तम पर्वतपर चर्य गयी । उसके (वहाँ) चले जानेपर वरदानी शंकरने कुञ्ज- (मंगल-) को सर्वश्रेष्ठ वर दिया । (उन्होंने कहा—) महामन् ! तुम प्रदोके स्वामी बनोगे तथा संसात्कृत शुभ और अशुभ तुम्हारे अर्थात् होगा । उन भवे-स्वरूपगरी भगवान् क्षिप्रने अपने अग्नि और सूर्यरूपी नेत्रोंसे एक हजार दिव्य कर्णिक अन्धकके शरीरको सुगन्धर उत्तरदित कर दही तथा चाम शेष रखकर कंकाल बना दिया । शंकरके नेत्रसे उत्पन्न अग्निद्वारा सुद होनेके कारण वह अगुराज पापसे छूट गया । उसके बाद अनेक रूप धारण करके प्रजाओंका निमन करनेगाने, साम्राज्य और अचरके स्वामी, सर्वेश्वर, अविनाशी ईश, त्रैलोक्यपति, वरदानी, वरेण्य, सभी सुगन्धिसंशय शिवपूर्वक स्तुति करनेशायं एवं सबके आदिमें रहनेवाले शंकरको वास्तवरूपमें जानकर आगने यह स्तुति की— ४७-५१ ॥

अन्धक उवाच

नमोऽस्तु ते भैरव्य भाममूर्ते त्रिलोकगोप्त्रे शिवशूलधारिणे ।
 विशाद्वैवाहो भुजगोराहार त्रिनेत्र मां पाहि विपन्नयुद्धिम् ॥ ५२ ॥
 जयस्य सर्वेश्वर विश्वमूर्ते सुरासुरैर्भन्दितापादवीट ।
 त्रैलोक्यमातुर्गुणैः कृपाद् भक्तः शरण्यं शरणागतोऽस्मि ॥ ५३ ॥
 त्वां नाथ देवाः शिष्यभारयन्ति सिद्धा हरं स्थायुं महर्षयश्च ।
 भामं च यक्षा मनुजा महेश्वरं भूताश्च भूताधिपमानन्ति ॥ ५४ ॥
 निशाचरा उपसुपार्चयन्ति भवेनि पुण्याः पितरो नमन्ति ।
 दासोऽस्मि नुभ्यं हर पाहि मयां पापक्षयं मे कुरु लोकनाथ ॥ ५५ ॥

हे विशालशय भैरव ! हे त्रिलोकनी रक्षा करनेवाले ! हे तीव्रग शूल धारण करनेवाले ! आरक्षो नमस्कार है । हे दस भुजाओंवाले तथा नामोशक्त हार धारण करनेवाले त्रिनेत्र ! आप मुझ नष्टगमिनी रक्षा करें । हे देवों तथा असुरोंसे बन्धित पादपीठवाले विश्वमूर्ति सर्वेश्वर ! आपकी जय हो । हे त्रिलोक-जननीके सभी कृपाद्क में भवभीन होकर आप शरणागतकी रक्षा करनेवालेकी शरणमें आया हूँ । हे नाथ ! देवता आरक्षो शिव (महालम्ब) कहते हैं । सिद्धलोक आपको हर (पापहारी), महर्षिकेग स्थायु (अचल), यज्ञयोग भोग, मनुष्य महेश्वर और भूत भूताधिपति मानते हैं । निशाचर उप नामसे आपकी अर्चना करते हैं तथा पुण्यात्मा निवृत्त भव नामसे आपको नमस्कार करते हैं । हे हर ! मैं आरक्ष दास हूँ, आप मेरा रक्षा करें । हे लोकनाथ ! मेरे पापोंका आप विनाश कीजिये ॥ ५२-५५ ॥

भवांश्चिदेवस्त्रियुगस्त्रिधर्मा त्रिपुंकरश्चासि विभो त्रिनेत्र ।
 श्रय्यास्त्रिभिस्त्रियुगस्त्रिधर्मा पुनर्दि मां -यां शरणं गतोऽस्मि ॥ ५६ ॥
 त्रिणात्रिकेनस्त्रिपदपतिष्ठः पद्मचित् त्वं त्रियरेष्व्यनुष्ठामः ।
 त्रैलोक्यनाथोऽसि पुनर्दि शम्भो दासोऽस्मि भक्तः शरणागतस्ते ॥ ५७ ॥
 कृते महच्छुद्धे तेष्वरायं मया महाभूतपते गिरिहा ।
 कामारिणा निजितमानसेन प्रसादये त्वां शिरसा नतोऽस्मि ॥ ५८ ॥

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसन्धाय । प्रादि मां देव ईशान सर्वपापहरो भव ॥ ५९ ॥

हे सर्वसमर्थ त्रिनेत्र ! आप त्रिदेव, त्रियुग, त्रिधर्मा तथा त्रिपुंकर हैं । हे अय्यकामन् ! आप कर्मादि तथा त्रिभुक्ति हैं । आप मुझ पवित्र करें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आप त्रिगात्रिनेत्र, - ५, ५, ५, कर्मा

पातालरूप तीनों पदोंपर प्रतिष्ठित) पडङ्गवित् (वेदके शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, इन्द्र और ज्योतिष—इन छः अङ्गोंके जाननेवाले), विष्णोंके प्रति अनासक्त तथा तीनों लोकोंके स्वामी हैं । हे शम्भो ! आप मुझे पवित्र करें । मैं आपका दास हूँ । भयभीत होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ । हे शंकर ! हे महाभूतपते ! हे गिरीश ! कामरूपी शत्रुने मेरे मनको जीत लिया था, इसलिये मैंने आपका महान् अपराध किया है । मैं आपको सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ । मैं पापी, पापकर्मा, पापात्मा तथा पापसे उत्पन्न हूँ । हे देव ईशान ! हे समस्त पापोंको हरण करनेवाले महादेव ! आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५६—५९ ॥

मा मे क्रुध्यस्व देवेश त्वया चैतादृशोऽस्म्यहम् । सृष्टः पापसमाचारो मे प्रसन्नो भवेश्वर ॥ ६० ॥
 त्वं कर्ता चैव धाता च त्वं जयस्त्वं महाजयः । त्वं महत्त्वस्त्वमोङ्कारस्त्वमीशानो ध्रुवोऽव्ययः ॥ ६१ ॥
 त्वं ब्रह्मा सृष्टिकृन्नाथस्त्वं विष्णुस्त्वं महेश्वरः । त्वमिन्द्रस्त्वं वषट्कारो धर्मस्त्वं च सुरोत्तमः ॥ ६२ ॥
 मूढमस्त्वं व्यक्तरूपस्त्वं त्वमव्यक्तरूपमेश्वरः । त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्यावरजङ्गमम् ॥ ६३ ॥
 त्वमादिरन्तो मध्यश्च त्वमनादिः सहस्रपात् । विजयस्त्वं सहस्राक्षो विरूपाक्षो महाभुजः ॥ ६४ ॥
 धनन्तः सर्वगो व्यापी हंसः प्राणाधिपोऽच्युतः । गोवाणपतिरव्ययो रुद्रः पशुपतिः शिवः ॥ ६५ ॥
 त्रैविद्यस्त्वं जितक्रोधो जितारिर्विजितेन्द्रियः । जयश्च शूलपाणिस्त्वं त्राहि मां शरणागतम् ॥ ६६ ॥

देवेश ! आप मेरे ऊपर कुपित न हों । आपने ही मुझे इस प्रकारके पापका आचरण करनेवाला बनाया है । ईश्वर ! मेरे ऊपर प्रसन्न होइये । आप सृष्टि तथा पालन-पोषण करनेवाले हैं । आप ही जय और आप ही महाजय हैं । आप महत्त्वमय हैं । आप ओङ्कार हैं । आप ही ईशान, अव्यय तथा ध्रुव हैं । आप सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा तथा (सब कुछ करनेमें) समर्थ हैं । आप विष्णु और महेश्वर हैं । आप इन्द्र हैं, आप वषट्कार हैं, आप धर्म तथा देवोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । आप (कष्टिनासे देखे जाने योग्य) मूढम हैं, आप (प्रतीतिका त्रिपय होनेमें) व्यक्तरूप हैं, आप अप्रकटरुप—अव्यक्त हैं, आप ईश्वर हैं, आपसे ही यह चर-अचर जगत् व्याप्त (ओतप्रोत या ढका) है । आप आदि, मध्य एवं अन्त हैं, (साथ ही) आप आदि-रहित एवं हजारों पैरोंवाले सहस्रपात् हैं । आप विजय हैं । आप हजारों आँसूवाले, विरूप आँसूवाले एवं बड़ी भुजावाले हैं । आप अन्तसे रहित, सर्वगत, व्यापी, हंस, प्राणोंके स्वामी (सदा स्वस्वरूपमें स्थित) अच्युत, देवाधिदेव, शान्त, रुद्र, पशुपति एवं शिव हैं । आप तीनों वेदोंके जाननेवाले, क्रोधको जीत लेनेवाले, शत्रुओंको विजित करनेवाले, इन्द्रियजयी, जय एवं शूलपाणि हैं । आप मूढ मरणापतकी रक्षा करें ॥ ६०—६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं मांश्वरो ब्रह्मन् स्तुतां देव्याधिपेन तु । प्रीतियुक्तः पिङ्गलाक्षो ह्यैरण्याक्षिमुवाच ह ॥ ६७ ॥
 मित्रोऽस्मि दानवाने गरितुष्टोऽस्मि नेऽन्धक । वरं वरय भद्रं ते यमिच्छसि विनाऽस्विकाम् ॥ ६८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! देवोंके स्वामी अथवाके इस प्रकार स्तुति करनेपर त्याजिमा लिये भूरे रंगकी

आँसूवाले गौशरने प्रसन्न होकर दिग्दर्शक पुत्र अन्धकसे कहा—दानवसि अन्धक ! तुम सिद्ध हो गये हो; मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । अन्धकके मित्रय तुम जो चाटो, वर वर माँगो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६७—६८ ॥

अन्धक उवाच

भस्त्रिका जननां मया भगवांस्त्रयस्यकः पिता । वन्दामि चरणौ मातुर्वन्दनीया ममास्त्रिका ॥ ६९ ॥
 परतोऽस्मि यतोदान तद् यातु विलयं मम । शरीरं मानसं चारजं दुष्टं दुर्विचिन्तितम् ॥ ७० ॥
 तया मे दानको भागो व्यपयातु महेश्वर । म्रियामि न्ययि भक्तिस्तु वरमेतत् प्रयच्छ मे ॥ ७१ ॥

१ अन्धकारने (निर्नीत भावसे) कहा—अम्बिका मेरी माता और आप व्यम्बर मेरे पिता हैं । अम्बिका मेरी बन्धनीया हैं । मैं उन माताके चरणोंकी बन्दना करता हूँ । ईशान ! यदि अब मुझे वर देना चाहते हैं तो मेरे शरीरमन्त्र्या, मनमन्त्र्या एव वचनसम्बन्धी पाप तथा नीच विचार नष्ट हो जायें । महेश्वर ! मेरा दानशील विचार भी दूर हो जाय एव आपमें मेरी अशुभ भक्ति हो जाय—मुझे यही वर दीजिये ॥ ६०-७१ ॥

महादेव उवाच
 एवं भवतु दैत्येन्द्र पापं ते यातु मंशयम् । मुक्तोऽस्मि दैत्यभावाद्य भृङ्गा गणपतिर्भय ॥ ७२ ॥
 इत्येवमुक्त्वा वरदः शूद्राप्रादयतायं तम् । निर्मोर्ज्यं निजहस्तेन वरं निर्माणमन्धकम् ॥ ७३ ॥
 ततः स्यदेहतो देवान् ब्रह्मार्दीनानुहाव सः । ते निद्वेषमहामानो नमस्यन्तत्रिलोचनम् ॥ ७४ ॥
 गणान् सनन्दानाह्वय सन्निवन्दय तदाप्रतः । भृङ्गिनं दूरीयामास ध्रुवं नैपोऽन्यरेति हि ॥ ७५ ॥

भगवान् महादेवने कहा—दैत्येन्द्र ! ऐसा ही हो । तुम्हारे पाप नष्ट हो जायें । तुम दानशील विचारमें मुक्त हो गये । अब तुम भृङ्गी नामक गणपति हो गये । इस प्रकार कर्करा पादानी महादेवने उम अम्बरको शूद्रकी नोकसे उतारा और अपने हाथमें सजलाकर विना धारका कर दिया । उमक बाद उन्होंने अपने शरीरमें स्थित ब्रह्मादि देवोंका आह्वान किया । वे सभी महान् देवगण व्यम्बर शिवको नमस्कार करते हुए गहर निरग्रे । नन्दीके साथ गणोंको बुलाकर और सामने पड़ाकर भृङ्गीको दिग्गते हुए उन्होंने कहा—निधय ही यह अम्बर (पहले-जैसा) नहीं रह गया है ॥ ७२-७५ ॥

तं दृष्ट्वा दानवर्षति संशुष्कपिदिशं रिपुम् । गणावित्यमापन्नं प्रशांसुशुभ्यजम् ॥ ७६ ॥
 ततस्तान् प्राह भगवान् सम्परिष्वज्य देवताः । गच्छस्व स्वानि विष्ण्वानि भुञ्जस्व मिदित्तं सुगम् ॥ ७७ ॥
 सहस्राक्षोऽपि संयातु पर्यंतं मलयं शुभम् । तत्र स्वर्ग्यं कृत्रैव पश्चाद् यातु विप्रिष्टम् ॥ ७८ ॥
 इत्येवमुक्त्वा त्रिदशान् समाभाष्य व्यमर्जयत् ।

पितामहं नमस्कृत्य परिष्वज्य जनार्दनम् । ते विस्मृष्टा महेशेन सुरा जग्मुत्पिष्टम् ॥ ७९ ॥
 उम मूने हुए मामगले शतु दानवर्षितो गणाविप हुआ वेगकर वे सभी दृग्गत (शर) रीं प्रशंसा करने लगे । उमके बाद भगवान् शकतने उन देवोंको गले लगाकर कहा—इत्यग्रे ! आपलोग अपने-अपने स्थानको जाइये और स्वर्ग-सुखका उपभोग कीजिये । इन्द्र भी सुखद मन्त्र-मन्त्रकर जायें तथा वरों अपना काम समाप्त करके ही स्वर्ग चले जायें । ऐसा कहकर देवोंसे यार्तारथ कर देकर विदा कर दिया । महेशने-पितामहको नमस्कार तथा जनार्दनको गले लगाकर उन सभीको विदा कर दिया । (महेशने विदा किये गये) वे देवगण स्वर्गको चले गये ॥ ७६-७९ ॥

महेन्द्रो मलयं गत्वा कृत्वा कार्यं दिवं गतः । गतेषु शक्रप्रायेषु देवेषु भगवान्निष्ठः ॥ ८० ॥
 विमर्जयामास गणाननुमान्य ययाहृतः । गणाश्च शक्रे दृष्ट्वा स्वं स्वं वाहनमाश्रितः ॥ ८१ ॥
 जग्मुस्ते शुभलोकाणि महाभोगानि नारदः । यत्र कामदुगा गात्र सर्वरामकरदुसाः ॥ ८२ ॥
 नयस्त्वमृत्नयाहिन्यो ह्यदाः पापसकृद्माः । स्वां स्वां गतिं प्रयातेषु प्रमथेषु महेश्वरः ॥ ८३ ॥
 समादायाः श्वं हस्ते सनन्दिः दौलमभ्यगात् । दाभ्यां वर्यंतहस्ताभ्यां पुनरगाह्वरं गृहम् ॥ ८४ ॥
 दृष्ट्वा च शिरेः पुत्रीं दरेतार्शुसुमथिताम् । समायाते निर्गच्छ्यैव सर्वदृष्टान्संयुतम् ॥ ८५ ॥
 त्वभरताऽर्शुपुष्पं निर्गत्य सत्योस्ता समुपाहवत् । समाहृताश्च देव्या ता जयायाम्पूर्वामागाम् ॥ ८६ ॥

महेन्द्र भी मल्याचलर जा करके (अपना) कार्य मन्त्रकर स्वर्ग चले गये । पिताने इन्द्र आदि देवों चले जानेपर गणोंको यथायोग्य सम्मानित कर विदा कर दिया । [पुरुष्यजी कहते हैं कि—नारद]

भी शंकरका दर्शन कर अपने वाहनोपर आरूढ़ हो विशाल भोगसे सम्पन्न उन सुखद लोकोंको चले गये, जहाँकी गौरी इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाली थी, वृक्ष समस्त कर्मरूपी फलोंके दाता थे, नदियाँ अमृतकी धारा बहानेवाली थी और सरोवर दूधके पदसे भरे थे । महेश्वर प्रमथोंके अपने-अपने स्थानपर चले जानेपर अन्धकका हाथ पकड़कर (उमे साथ लिये हुए) नन्दीसहित पर्वतपर चले गये । (वे) शंकर दो हजार वर्षोंके बाद फिर अपने घर लौटे । उन्होंने सकेद अर्क-(आक या मन्दार-)के फूलमें स्थित गिरिजाको देखा । पार्वती समस्त चिह्नोंसे युक्त शंकरको आया हुआ देखते ही अर्कके फूलको छोड़कर बाहर निकल आयी और उन्होंने (अपनी जयादि) सखियोंको पुकारा । पुकारी गयी वे जया आदि सभी देवियों शीघ्र वहाँ चली आयी ॥ ८०-८६ ॥

ताभिः परिवृता तस्यां हरदर्शनलाभ्या । ततस्त्रिनेत्रां गिरिजां दृष्ट्वा प्रेक्ष्य च दानवम् ॥ ८७ ॥
नन्दिनं च तथा सपादात्त्रिलोके गिरिः सुताम् । अथोवाचैव दासस्ते कृतो देवि मयाऽन्धकः ॥ ८८ ॥
पश्यस्य प्रणतिं यानं स्वसुतं चाकृदाग्निनि । इत्युच्चार्यान्धकं चैव पुत्रं पश्येहि सत्वरम् ॥ ८९ ॥
महास्यं शरणं मानुरेया श्रेयस्करं तव । इत्युक्तो विभुना नन्दी अन्धकश्च गणेश्वरः ॥ ९० ॥
ममागम्यान्धिकापादां चवन्दतुरुभावपि ।

अन्धकोऽपि तदा गौरीं भक्तितप्तं महामुने । स्तुतिं चक्रेमहापुण्यां पापघ्नीं श्रुतिसम्मिताम् ॥ ९१ ॥

उन- (आनी नन्दी जयादि देवियों-) मे । वगी हुई पार्वतीजी शिवके दर्शनकी अभिलाषसे (प्रतीक्षामें) खड़ी रही । त्रिनेत्रवागी शंकरने गिरिजाको देखकर दानव एवं नन्दीके ऊपर भी दृष्टिपात किया; फिर प्रसन्नतापूर्वक गिरिसुताको गले लगा लिया । उसके बाद उन्होंने कहा—देवि ! मैं अन्धकको तुम्हारा दास बना लिया है । चाकृदाग्निनि ! प्रणाम कर रहे अपने पुत्रको देवो । ऐसा कहनेके बाद उन्होंने कहा—पुत्र ! शीघ्र यहाँ आओ । आनी इस माताकी शरणमें जाओ ! ये तुम्हारा कल्याण करेगी । प्रभुके इस प्रकार कहनेपर गणेश्वर नन्दी एवं अन्धक दोनोंने जाकर अन्धिकाके चरणोंमें प्रणाम किया । महामुने ! उसके बाद श्रद्धापूर्वक नम्र होकर अन्धकने गौरीकी पाप नाश करनेवाली एवं अत्यन्त पवित्र वेद-सम्पन्न स्तुति की ॥ ८७-९१ ॥

अन्धक उवाच

ॐ नमस्ये भवानीं भूतभव्यप्रियां लोकधात्रीं जनित्रीं स्कन्दमातरं महादेवप्रियां धारिणीं स्यन्दिनीं
चेतनां त्रैलोक्यमातरं धरित्रीं द्युचमातरमथेज्यां श्रुतिं स्मृतिं दयां लज्जां कान्तिमश्यामसूयां मतिं सदापावनीं
दैत्यैर्भयक्षयकरिणीं महामायां धैजयन्तीं सुशुभां कालरात्रिं गोविन्दभगिनीं शैलराजपुत्रीं सर्वदेवार्चितां
सर्वभूतार्चितां विद्यां सरस्वतीं त्रिनयनमहर्ष्यां नमस्यामि मृडानीं शरण्यां शरणमुपागतोऽहं नमो नमस्ते ॥

इत्यं स्तुता सान्धेहनं परितुष्टा विभावरी । प्राद पुत्रं प्रसन्नाऽसि वृणुष्व वरमुत्तमम् ॥ ९२ ॥

अन्धकने कहा—ॐ मे भवानीको प्रणाम करता हूँ । मैं भूतभव्य-शङ्करकी प्रिया, लोकधात्री, जनित्री, धारिणी, स्यन्दिनी, चेतना, त्रैलोक्यजननी, धरित्री, दैत्यनाश, श्याम, श्रुति, स्मृति, दया, लज्जा, श्रेष्ठ कान्ति, अश्या, असूया, मति, सदापावनी, दैत्योंकी सेनाओंका विनाश करनेवाली, महामाया, धैजयन्ती, अकल शोभावाली, कालरात्रि, गोविन्द-भगिनी, शैलराजपुत्री, सर्वदेवोंसे पूजित, सर्वभूतोंसे अर्चित, विद्या, सरस्वती, शंकरकी महामानीकी प्रणाम करता हूँ । मैं शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली मृडनीकी शरणमें आया हूँ । (देवि !) आपको अन्धक प्रणाम है । अन्धकके इस प्रकार स्तुति करनेपर भवानीने प्रसन्न होकर कहा—पुत्र ! मे प्रसन्न हूँ । तुम उत्तम वर माँगो ॥ ९२ ॥

मृद्धिमात्र

पापं प्रदाममायातु क्रियथे मम पार्श्वे । तद्यभरे च मननं भक्तिरस्तु ममाख्यिके ॥ ९३ ॥
 भुङ्क्षिने कदा—पार्श्वे ! अखिके ! मेरे प्रिय—पानसिक, कपिक, वाचिक पार दूर हीं जायें एवं भगवन्
 शिरसे मेरी मक्ति सदा बनी रहे ॥ ९३ ॥

पुलस्त्य उवाच

षाढमित्यवर्षाद् गाँगे हिरण्याक्षसुतं ततः । स चास्ते पूजयन्तस्यै गजानामधिमोऽभरत् ॥ ९४ ॥
 एवं पुरा दानयमत्तमं तं महेश्वरेणाय विरूपदृष्टया ।
 ह्यस्यै रूपं भयद् च भैरवं भुङ्क्ष्विर्भारिण एतं स्वभक्त्या ॥ ९५ ॥
 एतत् तयोवतं हरकीर्तिवर्धनं पुण्यं पवित्रं शुभदं महारं ।
 संकीर्तनीयं द्विजमत्तमेषु धर्मायुगरोम्यवैपिणा सदा ॥ ९६ ॥
 इति श्रीवामनपुराणं मत्तमोऽध्यायः ॥ १० ॥

पुलस्त्यजो बोले—उसके बाद गाँगेने हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकसे कहा—एसा ही हीं । १३ वर्षों रहकर
 शिरसी पूजा करते हुए गणपति हो गया । इस प्रकार पहले समयमें महेश्वरने उम दानश्रेयसो आनी विन्द्यदिति
 भयदायक भीरग रूप प्रदानकर आनी भक्तिसे 'ब्रह्मी' बना दिया । महर्षे (नारदजी) ! मैंने आरसे शिरसी
 कीर्तिको बढ़ानेवाला यह पुण्य पवित्र एवं शुभर आम्पान कहा । धर्म, आयु, आरोग्य एवं धनको काहनेवायेंसे
 — श्रेष्ठ द्विजातिपोंमें इसका कीर्तन सदा करना चाहिये ॥ ९४—९६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

[अथैकसप्ततितमोऽध्यायः]

भारद उवाच

मलयेऽपि महेश्वरेण यत्कृतं प्रालम्बेभ । निष्यादिनं स्वकं कार्यं तमे ध्याव्यानुमहंसि ॥ १ ॥
 एकहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(इन्द्रका मलयपर असुरोत्ते युद्ध, उनका 'पाकसासव' और 'गोत्रभिद्' होनेका हेतु; मलयोको उलचिकी कथा)

भारदने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! महेश्वरने मलयपर्वतपर भी अपना जो कार्य पूरा किया उसे आर मुझसे कहिये ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

भूयतां यन्महेश्वरेण मलये पर्वतोत्तमे । ह्यनं लोकहितं प्रलम्बप्रामन्ध तथा हितम् ॥ २ ॥
 अन्धसुरस्यानुचरप मयतापुषेणमाः । से निजिताः सुरगणैः पानान्दगमनोऽमुक्ताः ॥ ३ ॥
 दृष्टुर्मन्त्रयं शैलं सिद्धाध्युपिनकन्दरम् । लतावितानसंछन्नं प्रत्तमत्समाभुञ्जम् ॥ ४ ॥
 चन्दनैरुपगाक्रान्तैः सुरातिरभिसेवितम् । माधवीकुसुमामोदं श्रुष्यचित्तरं गिरिम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजो बोले—भद्रम् ! महेश्वरने श्रेष्ठ मलयपर्वतपर जगत्के हित तथा अपने कल्याणके लिये जो कार्य
 किया था, उसे मुनिये । मय, तार आदि अन्धसुरके अनुचर दैत्य देवताओंमें पण्डित होकर पान्दश्वरेमें
 जानिके लिये अफ्तत उससुर होने लगे । उन लोगोंने सिद्धसे भरे कन्दराओंकाले तथा लतासुहमे टके, आनोरभरे
 प्राणियोंसे व्याप, सोंपोंसे घिरे सुशील चन्दनसे युक्त तथा सुगन्धित सारवी ल्याके झूलोंकी सुगन्धिसे पूरे श्रृंगोंसे
 द्वारा पूजित शंकरके मलयमन्दिरको देखा ॥ २—५ ॥

तं दृष्ट्वा शीतलच्छायं श्रान्ता व्यायामकर्षिताः । मयतारपुरोगास्ते निवासं समरोचयन् ॥ ६ ॥
 तेषु तत्रोपविष्टेषु प्राणवृत्तिप्रदोऽनिलः । त्रिधाति शीतः शनकैर्दक्षिणो गन्धसंयुतः ॥ ७ ॥
 तत्रैव च रतिं चक्रुः सर्वे एव महासुराः । कुर्वन्तो लोकसम्पूज्ये विद्वेषं देवतागणे ॥ ८ ॥
 ताञ्जान्त्या शक्रः शक्रं प्रेषयन्मलयेऽसुरान् । स चापि दृष्टो गच्छन् पथि गोमातरं हरिः ॥ ९ ॥

पश्चिममे शक-मंदि तथा शक्तिर्दान मय, तार आदि दानवोंने शीतल छायावाले उस पर्वतको देखकर वही निवास करनेकी इच्छा की । उन लोगोंके वहाँ ठहर जानेपर प्राणोंको संतुष्टि प्रदान करनेवाली सुगन्धसे पूर्ण तथा शीतल दक्षिणी हवा मंद-मंद बहने लगी । जगत्-पूज्य देवताओंसे शत्रुता करने हुए सभी श्रेष्ठ देव सुगन्धे वहाँ रहने लगे । शंकरने उन असुरोंको मलय पर्वतपर रहते हुए जानकर इन्द्रको वहाँ भेजा । मार्गमें जाने हुए इन्द्रने गोमाताको देखा ॥ ६-९ ॥

तस्याः प्रदक्षिणां कृत्वा दृष्ट्वा शैलं च सुप्रभम् । दृष्टो दानवान् सर्वान् संहृष्टान् भोगसंयुतान् ॥ १० ॥
 अथाजुहाव यत्नया सर्वानेव महासुरान् । ते चाप्याययुरव्यग्रा विकिरन्तः शरोत्करान् ॥ ११ ॥
 नानागतान् वाजजालैः रथस्थोऽद्भुतदर्शनः । छाद्रयामास विप्रपैर्गिरिन् वृष्ट्या यथा घनः ॥ १२ ॥
 नतो वाणैश्चच्छ्राय मयादीन् दानवान् हरिः । पाकं जघान तीक्ष्णाप्रैर्मार्गणैः कङ्कवाससैः ॥ १३ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करनेके बाद उन्होंने सुकान्तिले सम्पन्न पर्वतपर भोगसे संयुत तथा हर्षित सभी दानवोंको देखा । उनके बाद इन्द्रने सभी महासुरोंको ललकारा । वे भी बिना किसी हिचकके वाणोंकी वर्षा करते हुए आ गये । विप्रों ! न्याय बेटे हुए अद्भुत दिग्वायी पड़नेवाले इन्द्रने आये हुए उन दानवोंको वाणोंके समूहोंसे इस प्रकार दक दिया जिम प्रकार जलकी वर्षासे पर्वतोंको दक देता है । उसके बाद इन्द्रने मय आदि दानवोंको वाणोंसे दक कर, पीछे पर्वतको नेत्र—तुकीली धारवाले वाणोंसे पाक नामके दानवका वध कर दिया ॥ १०-१३ ॥

तत्र नाम विभुर्लभे गामनन्वात् शरैर्दृष्टैः । पाकशासनतां शक्रः सर्वाभिरपतिर्विभुः ॥ १४ ॥
 तथाऽन्यं पुरनामानं वाणासुरस्तुतं शरैः । सुपुष्टैर्दारयामास ततोऽभृत् स पुरन्दरः ॥ १५ ॥
 हन्येभ्यं स्वामंऽनैपीद् गोत्रभिद् दानयं बलम् । तच्छापि विजितं ब्रह्मन् रसातलमुपागाम् ॥ १६ ॥
 एतस्य सल्लघातः प्रपितो मलयात्बलम् । व्यम्यकेन मुनिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ १७ ॥

मन्वृत करनेसे पाकको शक्ति (शासित) करनेके कारण सभी असुरोंके पति विभु इन्द्रको वाणोंसे दक करने की शक्ति मिली । इसी प्रकार उन्होंने सुन्दर पुंन लगे वाणोंसे दूसरे पुर नामका वाणासुरके पुत्रका (भी) वध कर दिया । स्वामी के पुरनाम हुए । ब्रह्मन् ! इस प्रकार उन दानवोंका नाश कर इन्द्रने सुद्धमें दानव-सेनाको भी दक किया । उस दक कर दानवोंका नेता-समूह रसातलमें चला गया । मुनिश्रेष्ठ ! इसीलिये शंकरने इन्द्रको वाणोंसे दक करने के कारण जानना चाहते हैं ! ॥ १४-१७ ॥

नारद उवाच

विजितं देवतपिण्डोत्रभिन् कथ्यते हरिः । एष मे संशयो ब्रह्मन् हृदि नम्यस्वित्तते ॥ १८ ॥

नारदने पता (पूछा)—ब्रह्मन् ! मेरे हृदयमें यह संशय है कि देवपिण्डोत्र (इन्द्र) को गोत्रभिद् क्यों कहा गया है ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

धृतानां गोत्रभिन्नान् फीर्तितो हि यथा मया । हने दिग्भ्यश्चक्षिषी यन्वकाराग्निर्दत्तः ॥ १९ ॥
 दितिर्विनष्टुष्मा कश्यपं प्राह नारदः । विभो नायोऽग्नि मे देहि शत्रुहन्ताग्नामत्रम् ॥ २० ॥
 कश्यपस्तापुवाचाय यदि त्वमसितेक्षणे । शौचाचारसमायुक्ता म्यास्यसे दशानुदांश ॥ २१ ॥
 संयसराणां दिग्भानां ततस्त्रैलोक्यनाथम् ॥ जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शत्रुघ्नं नायका त्रिये ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मैंने इन्द्रको गोत्रभिद् जैसे कहा तथा दिग्भ्यसिपुत्रे गात्र त्रिये जानेपर शत्रुघ्न इन्द्रने जो त्रिधा १ आप (सप्त) सुने । नारदजी ! पुत्रजी वृत्तु हो जानेपर दिग्भिने कश्यपसे कहा—प्रभो ! आप मेरे पति हैं, मुझे इन्द्रका वन करनेका पुत्र दीजिये । कश्यपने उमने कहा—अभितनयने ! यदि तुम सौ दिग्भ्य वर्षोत्तर पत्रि आचरण करोगी तो तुम तीनों लोकोंका मार्गदर्शन एव शत्रुघ्नपुत्रजी पुत्र उत्पन्न करोगी । त्रिये ! इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १९-२२ ॥

इत्येवमुक्त्वा सा भर्ता दितिर्नियममास्थिता । गर्भधानमृषिः शृण्वता जगामोदयपर्यन्तम् ॥ २३ ॥
 गते तस्मिन् मुनिश्रेष्ठे सहस्रांशोऽपि सत्वम् । तमाश्रममुपागम्य दिग्भि वचनमप्रोवात् ॥ २४ ॥
 करिष्याम्यनुशुभ्र्यां भवत्या यदि मन्यसे । वादमित्यप्रतीद् देव्यां भातिक्रमंप्रचोदिता ॥ २५ ॥
 समिदाहरणादीनि तस्याश्चक्रे पुरन्दरः । चिन्तामा च कार्यार्थो छिद्रात्प्रेगी भुजङ्गम् ॥ २६ ॥

पनिके ऐसा कहनेपर दितिने नियमका निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया । कश्यप ऋषि गर्भधान करके उदयगिरिपर चले गये । उन मुनिश्रेष्ठके उदयगिरिपर चले जानेके पश्चात् इन्द्रने शीघ्रगते उस आश्रममें जानर दितिसे यह वचन कहा—यदि आप अनुमति प्रदान करें तो मैं आपसे सौ काश्र् । भवितव्यतासे प्रेरित होकर देवीने कहा—ठीक है । निनीत बना हुआ इन्द्र अपने कार्यकी निन्दिके त्रिये मिल छोत्रनेवाले सर्पजी भौंति अमररती प्रतीक्षा करते हुए उस (दिति) के त्रिये लक्ष्मी आदि लनेका कार्य करने लगे ॥ २३-२६ ॥

एकदा सा तपोयुक्ता शीघ्रं महति संस्थिता । दशवर्षदानाते तु शिरःस्नाता तपस्विनी ॥ २७ ॥
 जानुभ्यामुपरि स्थाप्य मुक्तकेशा निजं शिरः । सुष्याप केशामनैस्तु सदिग्दृष्टवणाऽभवत् ॥ २८ ॥
 तमन्तरमशीचम्य प्रात्वा वेदः सहस्रदशः । विनेश मानुसदरं नासारभ्रेण नारदः ॥ २९ ॥
 प्रविश्य जटरं मुञ्चो दैत्यमातुः पुरन्दरः । ददशोर्ध्वमुपवं वाल कटिन्यस्तकरं सहरत् ॥ ३० ॥

एक हजार वर्ष बीत जानेपर मनोयोगसे पत्रितवना पालन करनेमें लगी हुई यह तपस्वी एक दिन सिरसे स्नान करनेके बाद कालोरो लोले हुए अपने पुत्रोंपर मिर रखर सो गयी । उमर वालेके ऊपरी भग (लक्षणर) परोसे लय गये । नारदजी ! सहस्रांश इन्द्रदेव आभिव्रताक त्रिये उस अमररती (उतुरकी) जानर नासिकाके छिद्रसे माताके उदरमें प्रवेश कर गये । इन्द्रने दैत्यमातारी विशाल क्रीचमें प्रवेश कर कमगा हाथ सो उपरको मुल त्रिये हुए एक बालरूसी देखा ॥ २७-३० ॥

तस्यैवास्तेऽथ दृष्टो पेशी मांसस्य घासकः । शुद्धरुद्रिकसंकारां कराम्यां जगृहेऽथ नाम् ॥ ३१ ॥
 ततः कोपसमाभ्यातो मांसपेशीं शतक्रतुः । कराम्यां मर्दयामास ततः सा कटिनाऽभवत् ॥ ३२ ॥
 उर्ध्वनार्धं च घृधे त्वयोऽथ घृधे तथा । शतपर्वाऽथ कृत्विता संजानो मांसपेशिना ॥ ३३ ॥
 तेनैव गर्भे दितिजं पञ्चेण शतपर्वाणां । विच्छेदं ततथा प्रदत्त स शरोद नृदिव्यम् ॥ ३४ ॥

इन्द्रने उस बालकके मुँहमें एक शुद्ध स्फटिकके समान मांसपेशी देखी । इन्होंने उस मांसपेशीको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया । उसके बाद क्रोधकी आगमें संतप्त हुए शतक्रतुने अपने दोनों हाथोंसे उस मांसपेशीको मसल दिया जिससे वह कटोर हो गयी (अब वह पिण्डके रूपमें हो गयी) । उस पिण्डका आधा भाग ऊपरकी ओर और आधा भाग नीचेकी ओर बढ़ गया । इस प्रकार उस मांसपेशीसे सौ पोरोंवाला वज्र बन गया । ब्रह्मन् ! (इन्द्रने) उन्हीं पोरोंवाले वज्रसे दितिके द्वारा धारण किये हुए गर्भको सात भागोंमें काट डाला । फिर वह गर्भमें रहनेवाला बालक बिल्ववने खरमें रोने लगा ॥ ३१-३४ ॥

ततोऽप्यबुध्यत दितिरजानाच्छक्रचेष्टितम् । शुथाव वाचं पुत्रस्य रुदमानस्य नारद ॥ ३५ ॥
शक्रोऽपि प्राह मा मूढ रुदस्येति सुघर्षरम् । इत्येवमुक्त्वा चैकैकं भूयश्चिच्छेद सप्तधा ॥ ३६ ॥
ते जाता मरुतो नाम देवभृत्याः शतक्रतोः । मातुरेवापचारेण चलन्ते ते पुरस्कृताः ॥ ३७ ॥
ततः सफुल्लिराः शक्रो निर्गम्य जठरात् तदा । दितिं कृताञ्जलिपुटः प्राह भीतस्तु शापतः ॥ ३८ ॥
ममास्ति नापराधोऽयं यच्छस्तस्तनयस्तव । तत्रैवापनयाच्छस्तस्तन्मे न क्रोदुमर्हसि ॥ ३९ ॥

[पुत्रस्वप्नी करतें हैं—] नारदजी ! उसके बाद दिति जग गयी और उसने इन्द्रकी की हुई चेष्टाको जान लिया । उसने रोते हुए पुत्रकी यागी सुनी । इन्द्रने भी कहा—मूर्ख ! घर्षर शब्दसे मत रोओ । ऐसा कहकर उन्होंने प्रत्येक टुकड़ेको पुनः सात-सात टुकड़ोंमें काट डाला । वे (कटे हुए टुकड़े) इन्द्रके मरुत् नामके देवभृत्य हो गये । माताके ही अनुचित कार्य करनेके कारण वे आगे चलते हैं । उसके बाद वज्र लिये हुए इन्द्रने जठरसे बाहर आकर एवं शापसे भयभीत होकर हाथ जोड़कर दितिसे कहा—आपके पुत्रको जो मैंने काटा है इसमें मेरा अपराध नहीं है । आपके ही अचरम- (पवित्रताका पालन न करने-) से वह काग्न गया । अतः मेरे ऊपर आपको क्षुब्ध नहीं होना चाहिये ॥ ३५-३९ ॥

दितिस्वाच

न तयात्रापरगयोऽस्ति मन्ये दिष्टमिदं पुरा । सम्पूर्णं त्वपि काले वै याऽशौचत्वमुपागता ॥ ४० ॥

दितिने कहा—उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है । मैं इसे पूर्वनियोजित मानती हूँ । इसीसे समय पूरा होनेपर भी मैंने अशुभकारका आचरण कर दिया ॥ ४० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा तान् बालान् परिस्तान्च्य दितिः स्वयम् । देवराज्ञा सहैतांस्तु प्रेपयामास भामिनी ॥ ४१ ॥

एवं पुरा स्वानपि सोदरान् स गर्भस्थितानुञ्जरितुं भयार्तः ।

विभेदं चञ्जेन ततः स गोत्रभित् रथातो महर्षे भगवान् महेन्द्रः ॥ ४२ ॥

इति धीवामनपुराणं एकमहत्तितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भामिनी दितिने ऐसा कहनेके बाद उन बालकोंको सान्त्वना देकर उन्हें देवराजके साथ ही भेज दिया । महर्षे ! इस प्रकार पूर्वकालमें भयार्त होकर महेन्द्रने गर्भस्थित अपने ही सहोदरोंके विनाशके लिये उन्हे ब्रह्महात कष्ट दिया । इसीसे वे 'गोत्रभित्' नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥ ४१-४२ ॥

इस प्रकार धीवामनपुराणमें एकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

[अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यद्गमो भवता प्रोक्ता मरुतो दितिजोत्तमाः । तत् केन पूर्वमाप्नुवै मरुत्सालोण कथ्यताम् ॥ १ ॥
पूर्वमन्वन्तरेष्वेव समतंतेषु सत्तम । के त्वासन् वायुमार्गंस्थास्तन्मे ध्याय्यानुमर्हसि ॥ २ ॥

बहचरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत वायुप-मन्वन्तरोंके मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन)

नारदजीने कहा—(पुलस्त्यजी !) आपने दितिने उपन्न उत्तम मरुद्गण जो वर्णन किया उसके विषयमें यह कहिये कि पहले वे मरुत् किस मार्गमें अवस्थित थे; सत्तम ! आप मुझे विशेषरूपसे यह बतलायें कि पूर्व मन्वन्तरके भीत जानेपर कौन (मरुत्) वायुमार्गमें स्थित थे ? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां पूर्वमद्यतामुत्पत्तिं कथयामि ते । स्वायम्भुव्यं समारभ्य यावन्मन्वन्तरं त्विदम् ॥ ३ ॥
स्वायम्भुवस्य पुत्रोऽभून्मनोनाम प्रियव्रतः । तस्यामातृ सख्यो नाम पुत्रस्तौलोच्यपूजितः ॥ ४ ॥
स चानपत्यो देवैर्न नृपः प्रेतर्गातिं गतः । ततोऽरुदत् तस्य पत्नी सुदेवा शोकविह्वला ॥ ५ ॥
न ददाति तदा दग्धुं समालिङ्ग्य स्थिता पतिम् । नाथ नाथेति यद्गुतो चिन्त्यन्तो त्वनायवत् ॥ ६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) स्वायम्भुव मन्वन्तरसे लेकर इस मन्वन्तरतकके पहिले तकके मरुद्गणोंकी उत्पत्ति आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये । स्वायम्भुव मनुके पुत्रका नाम प्रियव्रत था । तीनों खोरोंमें सखर प्राप्त सुवन उन प्रियव्रतके पुत्र थे । देवों ! वे राजा पुत्रहीन ही मृत्युको प्राप्त हो गये । उसके बाद उनकी सुदेवा नामकी पत्नी शोकसे विह्वल होकर रोने लगी । उसने उस मृत-शरीरको दाह-संस्कार करनेके लिये नहीं दिया । पतिके गनेसे त्रिपि हुई वह 'हा नाथ, हा नाथ' कहती हुई अमहापत्नी भोगि अर्थात् बिल्ला करने लगी ॥ ३-६ ॥

तामन्तरिक्षादशरीरिणीं धारु प्रोवाच मा राजपन्नोह रोदोः ।
यद्यस्ति ते सत्यमनुत्तमं तदा भवत्ययं ते पतिना सहाग्निः ॥ ७ ॥
सा तां घाणीमन्तरिक्षान्निशाम्य प्रोवाचेदं राजपुत्रो सुदेवा ।
शोचाम्येनं पार्थिवं पुत्रहोनं नैयात्प्रानं मन्दभाग्यं विद्वत् ॥ ८ ॥
सोऽध्याव्रवाग्ना रुदसापताक्षि पुत्रारुत्तो भूमिपान्तस्य सत ।
भविष्यन्ति यद्विमारोह शीघ्रं सत्यं प्रोक्तं धृदधस्य त्वमय ॥ ९ ॥
इत्येवमुक्ता खचरेण बाला चित्तां समारोप्य पतिं परार्हम् ।
दुतासमास्ताद्य पतिप्रता तं संचिन्त्यन्ती ज्यलनें प्रपन्ना ॥ १० ॥

उस समय आकाशसे अशरीरिणीयाणीने उससे कहा—राजपति ! तुम रोओ मत । यदि तुम्हारा सत्य (पति-सेवा-) का श्रेष्ठ है तो यह अग्नि पतिके साथ तुम्हारे हितके लिये हो । आकाशने हुई उस वागीको सुनकर राजपुत्री सुदेवाने कहा—आकाशचारिन् ! मैं इस सुन-हीन राजाके लिये सोच कर रही हूँ; न कि अपने दुर्भाग्यके लिये । उस आकाशराणीने फिर कहा—निशालनयने ! तुम रोओ मत । तुम्हारे गर्भमें ली राजाको सत्य पुत्र होंगे । तुम शीघ्र चिन्तापर चढ़ जाओ । मैं सच कहता हूँ । इसपर तुम आज निष्वास करो । आकाशराणीके

प्रेमा कष्टनेत्र उम वाक्येन श्रेष्ठ पतिव्रतां चिन्ताम गत्या और पतिव्रता ध्यान करती हुई जल्दी चिन्तामें प्रवेश कर
कर पतिव्रता अनिर्वाद्यांगमें चली गयी (जन्म मरी) ॥ ७-१० ॥

ततो मुहूर्तान्तरात्तः श्रिया युतः समुत्तस्थो सहितो भार्यायाऽस्मौ ।
मममुत्पपानाय स कामचारी समं महिष्या च मुनाभपुत्र्या ॥ ११ ॥
तस्याभ्येरे नाग्द पार्थिवस्य जाता रजोणा महिषी तु गच्छतः ।
स दिव्ययोगान् प्रतिमंस्थितोऽभ्येरे भार्यासहायो दिव्यमानि पञ्च ॥ १२ ॥
ततस्तु पण्डेऽहनि पार्थिवेन ग्निर्तुं वन्व्योऽथ भवेद् विचिन्तय ।
सम तन्व्या सह कामचारी ततोऽभ्यगन् प्राच्यवतास्य शुक्रम् ॥ १३ ॥

शुक्रोत्पत्तयिमाने तु नृपतिर्भार्याया सह । जगाम दिव्यया गत्या ब्रह्मलोकं तपोधन ॥ १४ ॥

उसके बाद अग्रभागमें शोभासे सम्पन्न वह राजा पत्नीके साथ उठा और मुनाभकी पुत्री अपनी राजगनीके
साथ आकाशमें जाकर स्वच्छन्दतासे भ्रमण करने लगा । नागदत्री ! आकाशमें जाते हुए उस राजाकी रानी
रजन्वत्या हो गयी । वह राजा दिव्ययोगसे आकाशमें भार्या- (मुदेवा-) के साथ पांच दिनोंतक रहा । उसके
बाद छठे दिन आज कर्तुं स्वर्ग न हो जाय—प्रेमा सोचकर कामचारी राजा भार्याके साथ विहार करने
लगा । उसके बाद आकाशमें उमका शुक्र स्पष्टित हो गया । तपोधन ! शुक्र त्याग करनेके पश्चात् राजा पत्नीके
साथ दिव्यगतिसे ब्रह्मलोकको चला गया ॥ ११-१४ ॥

तदभ्यगन् प्रचलितमभ्रवर्णं शुक्रं समाना तद्विनी वपुष्मती ।

विद्या विद्याया हरितालिनी च समर्षिपत्न्यो दृढगुर्यथेच्छया ॥ १५ ॥

तद् दृष्ट्वा पुण्डरे न्यस्तं प्रथेच्छन्न तपोधन । मन्यमानास्तदमृतं तदा यौवनलिप्सया ॥ १६ ॥
ततः स्नात्वा च विश्वित् सम्पृष्य तान् निजान् पतंन् । पतिभिः समनुश्रुताः पपुः पुण्डरसंस्थितम् ॥ १७ ॥
तच्छुक्रं पार्थिवेन्द्रस्य मन्यमानास्तदाऽमृतम् । पतिमात्रेण शुक्रेण पार्थिवेन्द्रोद्भवेन ताः ॥ १८ ॥
ब्रह्मलोकविर्हानिना जाताः पत्न्यस्तपन्विनाम् । ततस्तु तस्यजुः सर्वे सदापास्ताश्च पत्नयः ॥ १९ ॥

समानी, लीकनी, वपुष्मती, विद्या, विद्याया, हरिता एव श्रितनी —उन मान श्रुति-पत्नियोंने आकाशसे गिरते
हुए अमृतके सदान् पतनीके शुक्रको स्पर्शकर देखा । तपोधन ! उसे देखकर उसको अमृत समझती हुई उन
मौनेसे लीकनी वपुष्मती प्राप्त करनेकी वाक्यमार्गसे उसे कामकी रस लिया । उसके बाद वे स्नान करके अपने-
अपने पतिके साथ पपु उम श्रितनी अमृतमार्गसे कामकी रस राजाके उम शुक्रको अमृत मानती हुई पान कर
ली । राजाके अमृत पान करने ली पत्नियोंकी वे पत्निया ब्रह्मलोकमें गठित हो गयी । उसके बाद उन
पत्नियोंके उमकी उम गतिनी पत्नियोंका त्याग कर दिया ॥ १५-१९ ॥

सुपुषुः सदा तस्यमान गदतो भैरवं मुने । तेषां तद्विशद्वेत् सर्वमापूगिनं जगन् ॥ २० ॥

भयानकमान भयानक ब्रह्मा लोकपितामहः । समन्थेत्यात्रयोद् शालान् प्रा गद्वरं महावत्याः ॥ २१ ॥

भयानो नाम सूर्यो वै भक्तिशुभं विदधाराः । इत्येवमुक्त्वा देवेशो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२ ॥

माताशय विदधाराः मातृलान् दिदुम ह । ते स्वामन् मरुतस्त्रया मतोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ २३ ॥

सूर्य ! उन पत्नीकी पत्नियोंसे भयानक ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म पुत्रोंको जन्म दिया । उनकी स्वर्ग सारे
मातासे भयानकी । उसके बाद अमृतके अमृतके ब्रह्म आ गये । अमृतके तपोधन जाकर उन्होंने कहा—हे

महाबलमानो ! रोओ मत । तुम्हारा नाम मरुत् होण । तुम आसामों विवाण करनेके लोओगे । इन्हा कहकर लोक-विनाह देवेश तथा उन मरुत्को लेकर आसामों चले गये और उन्हें (आसामों रहनेका) अदेश दे दिया । वे ही स्वायम्भुव मनुके समयमें 'आय मरुत्' हुए ॥ २०-२३ ॥

स्वारोचिषे तु मरुतो यक्ष्यामि शृणु नारद । स्वारोचिषस्य पुत्रस्तु धर्मोत्तमार्थत् प्रतुष्यज ॥ २५ ॥
तस्य पुत्राभवन् सप्त सप्तार्धैः प्रणिमा मुने । तपोऽर्थे ते गताः शीलं महामेरुं नरेभ्यरा ॥ २५ ॥
आराध्यन्तो ब्रह्माणं पद्मेन्द्रमयेष्मवः । ततो विपश्चिचामास महद्यशो भयानुर ॥ २६ ॥
पूतनामप्सरसुस्थ्यां प्राह नारद चानयविन् । गन्त्रस्य पूतने शीलं महामेरुं विनायिनम् ॥ २७ ॥

नारदजी ! उन में स्वारोचिष मन्वन्तरके मन्त्रोक्त वर्गन कामा हैं, (उमे) मुने । स्वारोचिषे पुत्र धीमान् प्रतुष्यज थे । मुने ! उनके अधिके ममान सात पुत्र थे । वे सभी नरेभ्य तथा कर्मके लिये महामेरु पर्यन्तर चले गये । वे इन्द्रपदको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्माकी आगमना करने लगे । उनके बाद बुद्धिमान् इन्द्र भगनीन हो गये । नारदजी ! कत्ताके अभिप्रायको स्पष्ट समझनेके इच्छने अन्तर्गतमें प्रगन पूतनासे का— पूतने ! तुम महान् विशाल मेरु पर्यन्तर जाओ ॥ २४-२७ ॥

तत्र तप्यन्ति हि तपः प्रतुष्यजसुता महत् । यथा हि नपसो विष्णं तेषां भवति सुन्दरि ॥ २८ ॥
तथा कुदध्व मा तेषां निदिर्भवतु सुन्दरि । इत्येवमुक्ता शक्रेण पूतना रूपशक्तिर्नि ॥ २९ ॥
तत्राजगाम त्वरिता यथातप्यन्त ते तपः । आश्रमस्याविदूरे तु नदी मन्दोदयादिनि ॥ ३० ॥
तस्यां स्नातुं समायाताः सर्व एव सहोदराः । साऽपि स्नातुं सुचारुर्ग्री त्वर्नीर्णा महानदीम् ॥ ३१ ॥

वहाँ प्रतुष्यजके पुत्र महान् तप कर रहे हैं । सुन्दरि ! उनके तपमें जिस प्रकार प्रिय हो तथा हे सुन्दरि ! उन्हें निदिर्ग्री प्राप्ति जमे न हो सके—ऐसा उपाय करो । इन्द्रके कहनेपर स्वामी पूतना शीघ्र वहाँ गयी, जहाँ वे तपसा कर रहे थे । आश्रमके पास ही मन्द जल-प्रवाहावागी नदी थी । सभी सगे भाई उस नदीमें स्नान करनेके लिये आये । वह सुन्दरी भी स्नान करनेके लिये उस महानदीमें उतरी ॥ २८-३१ ॥

ददशुस्ते नृपाः स्नानां तवदक्षुभिरि मुने । तेषां च प्राच्यवक्रुदुः तपसो जटघाणि ॥ ३२ ॥
शक्तिर्नि ब्राह्मसुप्यस्य महादाहस्य बहुभा । तेषां चिधृष्टरासो जग्मू राज्यं तु पैरुम् ॥ ३३ ॥
सा चाप्सराः शक्रोत्पन्नयायातथ्यं न्यवेद्यत् । ततो बहुविधे काले सा प्राहो गदुत्तरिणि ॥ ३४ ॥
समुद्भूता महाजालैर्मन्वराग्धेन मानिनी । स तां दृष्ट्वा महागह्वो म्भ्रदस्यो मन्वराजैरिः ॥ ३५ ॥
निवेद्यामास तदा प्रतुष्यजमुनेषु वै । नयाऽभ्येन्य महामानो योगिनी योगधारिणः ॥ ३६ ॥

मुने ! उन राजपुत्रोंने स्नान करती हुई उस पूतनाको देखा और वे क्षुब्ध हो गये; परिणामन. उनका शुकपान हो गया । मन्त्रियोंमें प्रधान महाशक्तिर्नि प्रिय शक्तिनीने उसे भी किया । ताके भ्रष्ट हो जानेपर वे भी अपने पिताके राज्यमें चले गये । उस अस्तराने भी इन्द्रके पास जाकर उनसे सप तथाको बतला दिया । उसके बाद बहुत समयके पश्चात् किसी भीरने महाशक्तिर्नि उम शक्तिर्निगी मानिनी बड़ी मन्त्रिकी पकड़ किया । मन्त्रिकी जीवन्त निराह करनेवाले (भीर-) ने भूमिपर पड़ी हुई उस महाशक्तिर्नि देवराज क्तुष्यजके पुत्रोंसे निवेदित किया । योगसे भारत करनेवाले वे महात्मा योगी उसके निकट गये ॥ ३२-३६ ॥

[अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतदर्थं बलिर्देव्यः कृतो राजा कलिप्रिय । मन्त्रप्रदाता प्रह्लाद-मुप्रधास्योत् पुनोहितः ॥ १ ॥
 शात्वाऽभिपिक्तं दैनयं विरोचनमुनं बलिम् । दिदृशयः मत्तायातः समयाः मेरे एव हि ॥ २ ॥
 तानामतान्निरीक्ष्यैव पूजयित्वा यथानामम् । पत्रच्छु क्लृप्तान् मंत्रान् किनु श्रेयस्कर्म मम ॥ ३ ॥
 तमूचुः सर्व एवैतं शृणुष्व सुरमर्दन । यत् ते श्रेयस्कर्म कर्म यदस्ताः तं हिनं नया ॥ ४ ॥

निहत्तस्वौ अध्याय प्राग्भ

(बलि, मय-प्रभृति देवोंका देवनाओंके साथ युद्ध, कालनेमिना का)

विष्णुभगवान्नाम युद्ध और कालनेमिना का)

पुलस्त्यजो बोले—नरप्रिय (नारदजी) ! वरि देवको इर्मांशिये राजा बनाया गया था । प्रह्लाद उमके परामर्श देनेवाले मन्त्री तथा शुक्राचार्य पुरोहित थे । विरोचनके पुत्र वरि देवको गन्धरा अनितिक हुआ जानकर मयके साथ सभी देव उसे देखनेकी इच्छामे आये । उन (वर्षा) आये हुए अपने कुटुम्बको देवरा (बर्षने) यथाक्रम उनकी पूजा की एवं उनमे पूजा कि मेरे लिये क्या कल्याणकारी है ? उन सभीने उसमे कहा— देवमर्दन ! तुम्हारे लिये जो कल्याणकारी और हमारे लिये हितकर कर्म है, उमे सुनो ॥ १-४ ॥

पितामहस्तव बली आसौद् दानवपालकः । हिरण्यकशिपुधरः स शत्रोऽभूज्जगत्प्रये ॥ ५ ॥
 तमागम्य सुरश्रेष्ठो विष्णुः सिंहवपुर्धरः । प्रत्यक्षं दानवेन्द्राणां नरैस्तं हि व्यदारयत् ॥ ६ ॥
 अपहृष्टं तथा राज्यमन्धरस्य महतामनः । तेषामर्थे महायाहो गद्रेण त्रिदालिना ॥ ७ ॥
 तथा तव पितृव्योऽपि जग्मः शक्रेण धानितः । कुजम्भो विष्णुना चापि प्रत्यक्षं पशुवत् तव ॥ ८ ॥

तुम्हारे पितामह हिरण्यकशिपु बलवान्, वीर और दानवकुटुम्बपालन करनेवाले थे । तीनों लोगोंके वे इन्द्र हो गये थे । किन्तु सिंहशरीर धारणकर देवोंमे श्रेष्ठ श्रीविष्णुने उनके पास आकर श्रेष्ठ दानवोंके सामने ही उन्हें अपने नखोंसे विदीर्ग कर टाला । महायाहो ! त्रिदाल धारण करनेवाले शंकरने भी उन (देवों-)के लिये महान् बलशाली अन्धकला राष्य धीन लिया था । और इन्द्रने तुम्हारे चाचा (तिताके भाई) जग्मको मार दिया एवं विष्णुने तुम्हारे सामने कुजम्भको पशुकी तरह मार टाला ॥ ५-८ ॥

शम्भुः पाको महेन्द्रेण भ्राता तव सुदर्शनः । विरोचनस्तव पिता निहतः कथयामि ते ॥ ९ ॥
 श्रुत्वा गोव्रक्षयं ब्रह्मन् कृतं शक्रेण दानवः । उद्योगं कारयामास सह सर्वमहासुरैः ॥ १० ॥
 रथैरन्ये शक्रेरन्ये वाजिभिश्चापरेऽसुराः । पदानयस्तथैवान्ये जग्मुर्युद्धाय दैवतैः ॥ ११ ॥
 मयोऽप्रे याति कलवान् सेनानायो भयङ्करः । सैन्यस्य मध्ये च बलिः कालनेमिश्च पृष्ठतः ॥ १२ ॥
 यामपादरथमवष्टभ्य शालकः प्रथितविजयः । प्रयाति दक्षिणं घोरं तारकारयो भयङ्करः ॥ १३ ॥

मे तुमसे वनत्र दे रहा है कि महेन्द्रेने शम्भु, पाक आर तुम्हारा भाई सुदर्शन एवं तुम्हारे विरोचनको मार टाला है । [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्म ! इन्द्रदाग लिये गये अपने कुटुम्ब सुनकर दानव वरिने समस्त महान् असुरोंको युद्ध करनेके लिये नेयागी करनेकी प्रेरणा दी । निर रथोंपर, कुछ हाथियोंपर, कुछ बौधोंपर और कुछ पंढल ही देवताओंसे युद्ध करनेके लिये च

दानव-सेनाको डरानेवाला दानु, अय्यन कोयी, मधुको मारनेवाला, हिरण्याक्षका वध करनेवाला और कृद्धोंमें भी गयी पूजासे प्रसन्न होनेवाला है। यह एक भेरी आँविके सामने आकर अरु कहाँ जा सकता है। यह कर्मकल्पन यदि इस समय मेरे साथ युद्ध करे तो अपने घर नहीं जा सकेगा और तब देवता लोग भेरी मुझमें टिलनेसे क्षिप्रिल अहोँवाले इस (विष्णु) को भयसे कातर नेत्रोंसे धृष्टिपूर्वक दृष्टि देवेंगे। मधुमूदन भगवान् विष्णुमें ऐसा कहकर क्रोधसे अधरोष्ठको फड़काते हुए कालनेमिने, गरुड़पर अपनी गदा इस प्रकार फेंकी जैसे इंद्र फव्वार बन्न फेंकते हैं। भगवान् विष्णुने दानवके हाथमें ठूठी हुई उस भयदायिनी गदाको आगे देववर चकमे उभे ऐसे नष्ट कर दिया जैसे पूर्ववृत्त कर्म भाग्यहीन मनुष्यके मनोरथको नष्ट कर देता है ॥ ४२-४६ ॥

गवां छित्वा दानवाभ्याशमेत्य भुजौ पीनी सम्बिचिच्छेद वेणात् ।

भुजाभ्यां कृत्वाभ्यां दग्धशैलप्रक्राशः संदयेताप्यपरः कालनेमिः ॥ ४७ ॥

ततोऽस्य माधवः कोपाच्छिद्रध्रमेण भूतले । छिद्रा निपातयामास पशवं तालफलं यथा ॥ ४८ ॥

तथा विबाहुर्विशिरा मुण्डतानो यथा यते । तस्यां मेरुशिखाकल्प्यः कथयः इमापरेऽध्वरः ॥ ४९ ॥

तं चैनेतेयोऽप्युरसा पगोत्तमो निपातयामास मुने धरण्याम् ।

यथाऽम्बराद् बाहुशिरः प्रणष्टवलं महेंद्रः बुलिशैल भूम्याम् ॥ ५० ॥

तस्मिन् हते दानवसैन्यपाले स्वर्गोत्थमनाग्निदशैस्तु देव्याः ।

विमुक्तशालकचर्मवल्गाः सम्प्राद्रयन् वानमृतेऽसुरेन्द्राः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे विसहस्रतितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

गदाको काटकर विष्णुभगवान् दानवके निरुद्ध चले गये और उन्होंने शीतलासे उसकी मोठी-मोठी बाहुओंके काट डाला। भुजाओंके काट जानेपर कालनेमि दूसरे दग्ध पर्वतके समान टिखरायी पड़ने लगे। उसके बाद माग्व (लक्ष्मीपति) ने क्रोधपूर्वक चक्रसे उसके सिरको काटकर पकड़े हुए ताड़केफउके समान धरतीपर गिरा दिया। वनमें हूँटे तरबुलके समान बाहुओं पर सिरसे हीन कबन्ध अवल पर्वतराज मेरुके समान खड़ा रहा। मुने! जैसे महेंद्रने बन्नसे बाँध और सिररहित बलको पृथिवीपर गिराया था, उसी प्रकार पश्चिमेश्वर गरुड़ने अपनी छर्तमें धका देकर उस (कबन्ध) को पृथ्वीपर गिरा दिया। उस दानव-सेनापति (कालनेमि) के मारे जानेपर बाणासुरके सिवा देवोंसे अत्यन्त पीड़ित सभी देव्य शक, पशु, ढाल आर वक्रको छोड़कर भाग गये ॥ ४७-५१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिहस्रर्थां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

[अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

संनिघृष्टे ततां बाणे दानवाः सत्वरं पुनः । निघृष्टा देवतानां च सरास्त्रा युद्धलालसा ॥ १ ॥

विष्णुरप्यमितौजास्तं हतयाऽजेयं वलेः सुतम् । प्राहामन्थ्य सुरान् सर्षांन युष्पथं विगतज्वरा ॥ २ ॥

विष्णुनाऽथ समादिष्टा देवाः शक्रपुत्रेणमाः । युयुपुदानैः सार्धं विष्णुस्यन्तराधीयत ॥ ३ ॥

माधवं गतमात्राय शुक्रो बलिमुवाच ह । गोविन्देन सुरास्यक्तास्त्वं जयसाधुना वले ॥ ४ ॥

चौदत्तरत्वां अध्याय प्रारम्भ

(बलि-भागका देवताओंसे युद्ध, बलिकी विजय, प्रह्लादका स्वर्गमें जाना, बलिको प्रह्लादका उपदेश)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद बाणासुरके लौट आनेपर फिर दानव तुरत शक लेकर देवताओंसे युद्ध करनेकी इच्छासे लौट पड़े। अत्यधिक तेजस्वी विष्णुने बलिके पुत्र बाणको अजेय जान करके देवताओंसे युद्ध

कहा—आपलोग निर्भय होकर (सतर्कतासे) युद्ध कीजिये । विष्णुसे आदेश पाकर इन्द्र आदि देवता दानवोंके साथ युद्ध करने लगे । किंतु विष्णु अदृश्य हो गये । विष्णुको वहाँसे चला गया जानकर शुक्रने बलिसे कहा— बलि ! विष्णुने देवताओंको अथर्वे युद्धके लिये छोड़ दिया है । अब तुम जय प्राप्त करो ॥ १-४ ॥

म पुरोहितवाक्येन प्रीतो याते जनार्दने । गदामादाय तेजस्वी देवसैन्यमभिद्रुतः ॥ ५ ॥
बाणो बाहुवदन्नेण शूरा प्रहरणान्यथ । देवसैन्यमभिटुन्य निजघान सहस्रशः ॥ ६ ॥
मयाऽपि मायामान्थाय तैस्ते रूपान्तरैर्मुने । योधयामास बलवान् सुराणां च वरूथिनीम् ॥ ७ ॥
विद्युजिह्वः पारिभद्रो वृषपर्वा शतक्षणः । विपाको विक्ररः सैन्यं तेऽपि देवानुपाद्रवन् ॥ ८ ॥

दृष्टजनोंको तापना देनेवाले भगवान् विष्णुके चले जानेपर तेजस्वी बलि पुरोहित-(ऋचाचार्य-)के मान्यसे हर्षित हो गदा लेकर देवसेनाकी ओर दौड़ा । बाणासुरने हजार हाथोंमें अस-शस्त्र लेकर देवसेनापर चढ़ाई कर दी और हजारोंका वध कर दिया । मुने ! बलवान् मय दानव भी मायाके द्वारा विभिन्न रूपोंको धारणकर अस्त्रोंकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा । विद्युजिह्व, पारिभद्र, वृषपर्वा, शतक्षण, विपाक तथा विक्रर भी देवताओंकी सेनापर दृष्ट पड़े ॥ ५-८ ॥

ने हन्यमाना दिविर्देवाः शक्रपुरोगमाः । गते जनार्दने देवे प्रायशो विमुखाऽभवन् ॥ ९ ॥
तान् प्रभग्नान् सुरुगान् बलिबाणपुरोगमाः । पृष्ठतश्चाद्रवन् सर्वे त्रैलोक्यविजिगीषवः ॥ १० ॥
सन्ध्याव्यमाना दैत्यैर्देवाः सेन्द्रा भयातुराः । त्रिविष्टपं परित्यज्य ब्रह्मलोकमुपागताः ॥ ११ ॥
महालोकां गतोऽप्ययं सेन्द्रोऽपि सुरेषु वै । स्वर्गभोक्ता बलिर्जातः सपुत्रभ्रातृवान्धवः ॥ १२ ॥

भगवान् विष्णुके चले जानेपर इन्द्र आदि देवता दैत्योंके द्वारा मारे जानेपर युद्धसे पराङ्मुख हो गये । शक्रोंके लोकोपर विजय पानेकी इच्छावाले बलि एवं बाण आदि सभी (दैत्य) भागते हुए देवताओंके पीछे दौड़ पड़े । दैत्योंके द्वारा पीड़ित इन्द्र आदि देवता डरकर और स्वर्गको छोड़कर ब्रह्मलोक चले गये । फिर तो इन्द्रके साथ ही देवताओंके ब्रह्मलोक चले जानेपर बलि अपने पुत्र, भाई और बान्धवोंके साथ स्वर्गका भोक्ता हो गया ॥ ९-१२ ॥

शक्रोऽभूद् भगवान् प्रवन् बलिबाणो यमोऽभवत् । वरुणोऽभून्मयः सोमो राहुरर्हादो हुताशनः ॥ १३ ॥
सर्मानुभवान् सूर्यः शुक्राचार्यश्च वृहस्पतिः । यंऽप्यधिहृता देवास्तेषु जाताः सुरारयः ॥ १४ ॥
पञ्चमस्य कल्पादीं द्वापरान्ते सुशकणः । देवासुरोऽभूत् संग्रामो यत्र शक्रोऽप्यभूद् बलिः ॥ १५ ॥
पातालाः सम गन्धामन यो लोकावयं तथा । भूर्भुवःस्वर्गिणि रयातं दशलोकाधिपो बलिः ॥ १६ ॥

इयम् ! भगवन्शक्ती बलि इन्द्र दृष्टा और बाण यम बना । मय दानव वरुण बन गया, राहु चन्द्र बना और हुताशनः, सोमः, सूर्यके अतिरिक्त बलि बना । पाचवें कल्पियुगके प्रारम्भ और द्वापरयुगके आविरी भागमें देवताओं और दैत्योंके मध्यमें युद्ध हुआ, जब कि बलि इन्द्र बन गया । सतों पाताल और भूः, भुवः, स्वः नामके प्रसिद्ध भूगर्भ लोकावयवोंके लोकोके । इस प्रकार बलि दस लोकोंका शासक बन गया था ॥ १३-१६ ॥

शक्रोऽप्यसि भुञ्जन् भोगान् सुदुर्लभान् । तत्रोपासन्त गन्धर्वा विदवावसुपुरोगमाः ॥ १७ ॥
विदवावसुपुरोगमाः सूर्यानि सुरुगापस । चादसन्ति च वाद्यानि यश्चविद्याधरादयः ॥ १८ ॥
विदवावसुपुरोगमाः भुञ्जन् दैत्यैश्च यो बलिः । सस्मार मनसा ब्रह्मन् प्रह्लादं स्वपितामहम् ॥ १९ ॥
सस्मारो नश्यन् पार्ष्णी नाराभासयतोऽनुरः । समभ्यागात् त्वरायुक्तः पातालात् स्वर्गमन्यवम् ॥ २० ॥

इन्द्र बना हुआ बलि अल्पत दुर्लभ भोगोंके साथ भोगता हुआ स्वर्गमें रहने लगा । वहाँ स्थिरबसु अदि गन्धर्व उसकी सेवा करने लगे । देवों ! निजोत्तमा आदि अश्वरूप (उसे प्रसन्न करनेके लिये) वृष निपा करती थी और यज्ञ तथा विचार आदि बलि वजाते थे । ब्रह्मन् ! विरिभ भोगोंका भोग करने हुए दैत्येश्वर बलिने अपने पितामह प्रह्लादका मनसे स्मरण किया । पीर-शक्तिके स्मरण करने ही से महान् भागवत (विष्णुके परम भक्त) असुर प्रह्लादजी पाताउत्से अक्षय स्वर्गलोके चले आये ॥ १७-२० ॥

तमागतं समीक्ष्यैव त्यक्तया सिंहासनं बलिः । वृताञ्जलिपुटो भूया वचन्दे चरणासुभौ ॥ २१ ॥
पादयोः पतितं वीरं प्रह्लादस्वरितो बलिम् । समुप्याप्य परिष्वज्य विवेश परमात्मने ॥ २२ ॥
तं बलिः प्राह भोस्तात त्वत्प्रसादात् पुरा मया । निर्जिता. शक्रराज्यं च हनं वीर्यव्यागमया ॥ २३ ॥
तदिदं तात मदीर्यविनिर्जितसुपोत्तमम् । त्रैलोक्यराज्यं मुद्बुद्ध्य त्वं मयि धृत्ये पुनस्तिने ॥ २४ ॥

उन्हें आपा हुआ देखते ही बलिने सिंहासन छोड़कर और हाथ जोड़कर उनके चरणोंकी वन्दना की । प्रह्लाद चरणोंमें पड़े हुए वीर बलिने जन्दीसे उठाने और गले लगाने उचित सुन्दर अस्नान कर बैठ गये । बलिने उनसे कहा—अये तात ! मैंने आपके पुण्य-प्रसादसे (प्रातः) पराक्रम और वदसे देवताओंकी जीत लिया और इन्द्रके राज्यको हीन किया है । तात ! आप मेरे पराक्रमसे जीते गये देवोंको इन उत्तम तीनों लोकोंके राज्यका भोग करें और मैं आपके सामने नाकर बनकर रहूँ ॥ २१-२४ ॥

पतावता पुण्ययुतः म्यामहं तात यत् स्वयम् । त्वद्वद्विपूजाभिरतस्तुच्छिद्यप्रमोजनः ॥ २५ ॥
न सा पालयतो राज्यं धृतिर्भवति उत्तम । धृतिर्गुणानुभवां कुर्वतो जायते मिभो ॥ २६ ॥
ततस्तदुक्तं बलिना धार्क्यं श्रुत्वा द्विजोत्तम । प्रह्लादः प्राह वचनं धर्मवामासंत्तवनम् ॥ २७ ॥
मया कृतं राज्यमकण्ठकं पुरा प्रशासिता भू सुहृदोऽनुपूजिता ।
दत्तं यथेष्टं जनितास्तथात्मजाः स्थितो पले सम्प्रति योगसाधकः ॥ २८ ॥

तात ! इस प्रकार आपका चरणोंकी पूजासे और आपके जुड़े अन्नका भोजन करनेसे मैं पुण्यवान् हो जाऊँगा । उत्तम ! मिभो ! राज्यका पालन करनेवाले शासकमें बड़ धीरता नहीं होती, जो धीरता सुहृदों सेना करनेवालोंमें होती है । द्विजसत्तम ! उसके बाद प्रह्लादने उचित कहे वचनको सुनकर धर्म, धर्म और कामका साधक बचन कहा । बलिराज ! मैंने पहले शत्रुओंकी विना-बाधासे रहित राज्य किया है । (मैं) श्रेष्ठोंका दान और मित्रोंका सत्कार कर चुका हूँ, इच्छानुसार दान दे चुका हूँ । (गृहस्थ-धर्मक जाने) मैंने पुत्रोंको भी उत्पन्न किया है । किन्तु (इन सबसे शान्ति न पाकर) इस समय मैं योगसाधक बन गया हूँ ॥ २५-२८ ॥

गृहीतं पुत्र विधिवन्मया भूयोऽर्पितं तव । पदं भव गुरुणां त्वं नदा शुभ्रणं रत्न ॥ २९ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं करे त्वादाय दक्षिणे । प्रागे सिंहासने प्रह्वन् बलिं त्वत्प्येवमयत् ॥ ३० ॥
सोपविष्टो महेंद्रस्य सर्वरत्नमये शुभे । सिंहासने दैत्यपतिः शुशुभे मध्याह्निय ॥ ३१ ॥
तत्रोपविष्टैवासी हृताञ्जलिपुटो नतः । प्रह्लादं प्राह वचनं मेघवर्माख्या गिरा ॥ ३२ ॥

पुत्र ! मैंने तुम्हारे दिये- (राज्य-) को विधिपूर्वक प्रदणकर पुन तुमको द दिया । तुम युद्धोंकी मैत्री इसी प्रकार सदा लगे रहो । (पुलस्त्यजी कहते हैं—) ब्रह्मन् ! ऐसा वचन कहकर (प्रह्लादने बलि) दाहिना हाथ परकर उसे तुरत इन्द्रके सिंहासनपर आसीन करा दिया । महेंद्रके सभी रत्नोंसे बने शुभ सिंहासनपर बैठा हुआ वह दैत्यपति बलि इन्द्रके समान शोभित हुआ । उसपर बैठनेके बाद उम्ने त्रिपर्यन्त हाथ जोड़कर मेघके गर्जनके समान गम्भीर धाणीमें प्रह्लादसे कहा ॥ २९-३२ ॥

यन्मया तात कर्तव्यं त्रैलोक्यं परिरक्षता । धर्मार्थकाममोक्षेभ्यस्तदादिशतु मे भवान् ॥ ३३ ॥
 तद्वाक्यसमकालं च शुकः प्रह्लादमब्रवीत् । ययुक्तं तन्महाबाहो वदस्वाद्योत्तरं वचः ॥ ३४ ॥
 वचनं बलिशुकाभ्यां श्रुत्वा भागवतोऽसुरः । प्राह धर्मार्थसंयुक्तं प्रह्लादो वाक्यमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
 यदायत्यां क्षमं राजन् यद्धितं भुवनस्य च । अविरोधेन धर्मस्य अर्थस्योपार्जनं च यत् ॥ ३६ ॥
 सर्वसत्त्वानुगमनं कामवर्गफलं च यत् । परत्रेह च यच्छ्रेयः पुत्र तत्कर्म आचर ॥ ३७ ॥
 यथा इन्द्राद्यं प्रयास्यथ यथा कीर्तिर्भवेत्तव । यथा नायशसो योगस्तथा कुरु महामते ॥ ३८ ॥

तात ! तीनों लोकोंकी रक्षा करते हुए जो मेरे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- (इन चारों पुरुषार्थों-) के लिये करणीय कार्य है, उसके लिये आप मुझे आदेश दें । उम- (बलि-) के वाक्यके साथ ही शुकने (भी) प्रह्लादसे कहा—
 महाबाहो ! जो उचित हो वह उत्तर दीजिये । विष्णुके भक्त प्रह्लादने बलि और शुककी बात सुनकर धर्म और अर्थसे युक्त श्रेष्ठ वचन कहा—पुत्र ! भविष्यके लिये जो उपयुक्त हो, संसारके लिये जो हितकारी हो और धर्मके अनुकूल जो अर्थका उपार्जन और सभी प्राणियोंके अनुकूल जो कामवर्गका फल है एवं इस लोक और परलोकमें जो कल्याणकारी कर्म हो उसका आचरण करो । महामते ! तुम जैसे प्रशंसनीय बन सको तथा जैसे तुम्हें यश प्राप्त हो एवं अकीर्ति न हो वैसे ही कर्तव्यको किया करो ॥ ३३-३८ ॥

पुनर्धर्मं ध्रियं दीप्तां फाट्कन्ते पुरुषोत्तमाः । येनैतानि गृहेऽस्माकं निवसन्ति सुनिर्वृताः ॥ ३९ ॥
 कुलज्ञो व्यसने मग्नः सखा चार्यवहिः कृतः । बृद्धो ज्ञातिगुणी विप्रः कीर्तिश्च यशसा सह ॥ ४० ॥
 तस्माद् यथैते निवसन्ति पुत्र राज्यस्थितस्येह कुलोद्गतायाः ।
 तथा यतस्वामलसत्त्वचेष्ट यथा यशस्वो भविताऽसि लोके ॥ ४१ ॥
 भूम्यां सदा ब्राह्मणभूपितायां क्षत्रान्वितायां ब्रह्मवापितायाम् ।
 शुश्रूषणासक्तसमुद्भवायामृद्धिं प्रयान्तीह नराधिपेन्द्राः ॥ ४२ ॥

उत्तम पुरुष उत्कृष्ट लक्ष्मीकी अभिलाषा इसीलिये करते हैं कि त्रिपत्तिमें पड़ा हुआ अच्छे कुलका व्यक्ति, भनदीन मित्र, वृद्ध, ज्ञानि, गुणी ब्राह्मण एवं यशोदायिनी कीर्ति उनके गृहमें शान्तिपूर्वक निवास कर सकें । अतः हे पतिव्रिचार एवं नेत्रवाले पुत्र ! राज्यके स्थिर हो जानेपर जैसे (उपर्युक्त) कुलोत्पन्नादि (तुम्हारे गृहमें) रह सकें एवं जैसे तुम लोकमें यशस्वी हो सकें वैसे ही प्रयत्न करो । पृथ्वीके सदा ब्राह्मणोंसे शुशोभित होने, क्षत्रियोंसे सनाथ होने, (वैश्योंद्वारा) भलीभाँति (जाते-) बोये जाने तथा सेवारत (शूद्रों) से सम्पन्न होनेपर अच्छे राजाओंको समृद्धि प्राप्त होती है ॥ ३९-४२ ॥

तस्माद् द्विजाभ्याः श्रुतिशास्त्रयुक्ता नराधिपांस्ते प्रतियाजयन्तु ।

दिव्यैर्यजन्तु मनुभिर्द्विजैन्द्रा यथाग्निधूमेन नृपस्य शान्तिः ॥ ४३ ॥

नरोऽध्ययनसम्पन्ना याजनाभ्यापने रताः । सन्तु विप्रा वत्ले पूज्यास्त्वत्तोऽनुज्ञामवाप्य हि ॥ ४४ ॥

राध्याययकानिगता दानारः शस्त्रजांचिनः । क्षत्रियाः सन्तु द्वैत्येन्द्र प्रजापालनधर्मिणः ॥ ४५ ॥

यराध्ययनसम्पन्ना दानारः कृषिकारिणः । पाशुपाल्यं प्रकुर्वन्तु वैश्या चिपणिजीविनः ॥ ४६ ॥

धर्मिणो (तुम्हारे शासनमें) वेद-शास्त्रसे सम्पन्न उत्तम ब्राह्मण राजाओंसे यज्ञ करवायें एवं श्रेष्ठ द्विजगण निम्न यज्ञ किया करें । यज्ञकी अग्निके धूमसे राजाको शान्ति मिलनी है । वले ! तपस्सा और वेदाध्ययनसे संयुक्त मनुष्य और अध्यापनसे लगे रहनेवाले ब्राह्मण तुम्हारी अनुमति पाकर पूजित हो । द्वैत्येन्द्र ! क्षत्रिय स्थापना एवं यज्ञमें निगम, दान देनेवाले, शस्त्र-भीषी तथा प्रजा-पालन करनेवाले हों । वैश्यगण यज्ञाध्ययनसे सम्पन्न, दातृ, कृषिकर्ता एवं पाशुपालकी हो तथा पशुपालनका कर्म करें ॥ ४३-४६ ॥

ब्राह्मणशत्रियविरागं मया शुद्धयेन रताः । शूद्राः मन्व्यमुत्प्रेष्ट तयाजवरिणः मदा ॥ ४७ ॥
 पदा घर्गाः स्वधर्मस्था भवन्ति द्वितिजेवर । धर्मवृद्धिस्तदा म्याष्टै धर्मवृद्धौ नृपादयः ॥ ४८ ॥
 तस्माद् घर्गाः स्वधर्मन्याम्यया कार्याः सदा वन्दे । तद्वृद्धौ भवतो वृद्धिस्तदात्री हानिरुत्पत्ते ॥ ४९ ॥
 इत्थं चवः श्रान्य महासुरेन्द्रो बलिं मर्हामा स यभूय तूष्णीम् ।
 ततो पद्मप्रापयसे करिष्ये इत्थं बलिः प्राह यवो महर्षे ॥ ५० ॥
 इति श्रीवामनपुराणे चतु मस्रतिसप्तमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

असुरश्रेष्ठ ! शूद्रगण क्षत्रिय, क्षत्रिय और वैश्यकी भोगसे सदा लगे रहे और तुम्हारे अंशदाता सदा पालन करें । द्वितिजेवर ! जो सभी वर्गके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थिर रहते हैं तो निश्चय ही धर्मकी वृद्धि होगी ही और धर्मकी वृद्धि होनेपर राजाकी उत्पत्ति होती है । इसलिये वन्दे ! तुम सभी वर्गको उनके धर्ममें मग्न लगाये रहो । उमकी (स्वर्गकी) वृद्धिसे राजाकी वृद्धि होगी है । उमकी हानिसे हानि कहीं नहीं है । महासुरेन्द्र महामा प्रसाद बलिसे ऐसा कइकर मीन हो गये । (पुलस्त्यजी कहते हैं—) महर्षे ! उनके बाद बलिने इस प्रकार कहा—आपने जो आदेश दिया, उसीके अनुसार मैं कार्य करूँगा ॥ ४७-५० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

[अथ पद्मसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो गतेषु देवेषु ब्रह्मलोकं प्रति द्विज । त्रैलोक्यं पालयामास बलिर्धर्मोन्वितः सदा ॥ १ ॥
 कलिस्तदा धर्मपुत्रं जगद् दृष्ट्वा कृते यदा । ब्रह्माणं जरणं भेजे स्वभावस्य निषेयनात् ॥ २ ॥
 गत्वा स दृष्टो देवं सेन्द्रैर्देवैः समन्वितम् । स्वदीप्या चीतयन् च स्वदेशं मसुरासुरम् ॥ ३ ॥
 प्रणिपथ्य तमाहाथ तिष्यो ब्रह्माणमीश्वरम् । मम स्वभावो यत्किना नाशितो द्यमत्तम ॥ ४ ॥

पंचहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(त्रैलोक्य-लक्ष्मीका बलि के यहाँ आना, इतने लक्ष्मी आदिकी उत्पत्ति, निषिद्धांश वर्णन, वर्षाकी

बलिने मिलना और बलि की समुद्धि का वर्णन)

पुलस्त्यजी बोले—द्विज ! देवोंके ब्रह्मलोक जाने जानेपर बलि मदा धर्मसे युक्त (धार्मिक) रहते हुए नीचे लोकोंका पालन करने लगा । उस समय सत्तारको सप्तयुक्ती गौतम धर्मसे संपन्न हुए देवसुर बलिदुग अपने कर्तव्यका सेवन करनेके हेतु ब्रह्माकी श्रागमें गया । वहाँ जाकर उमने ब्रह्माको इष्ट आदि देवोंके मंग देण । वे अपनी प्रभासे सुगों और असुरोंसे युक्त अपने लोकसे प्रदीपित कर रहे थे । उन ईश ब्रह्माको प्रगन्धर काश्रिने उमने कहा—देवश्रेष्ठ ! बलिने मेरे स्वाभाविक कर्मको मग्न कर दिया है ॥ १-४ ॥

नं प्राह भगवान् योगी स्वभावं ज्ञाततोऽपि हि । न केवलं हि भवतो हृतं तेन घर्णापमा ॥ ५ ॥
 पश्यस्व तिष्य देवेन्द्र परणं च समागतम् । भास्करोऽपि हि दीनन्वं प्रयातो हि बलाद् बले ॥ ६ ॥
 न तस्य कश्चित् त्रैलोक्ये प्रतिषेद्धाऽस्ति कर्मणः । श्रुते स्रहर्षे रितान्वं हरिं दग्धात्तामसिक्त् ॥ ७ ॥
 स भूमिं च तथा नार्कं राज्यं लक्ष्मीं यतोऽप्ययः । समाहरिष्यति बले कर्तुः मत्तर्मणोऽपाम् ॥ ८ ॥

योगी भगवान् प्रथमे उससे कहा—केवल तुम्हारा ही नहीं, अमित् सम्पूर्ण लोकका स्वभाव उस बलशालीने
 प्रथम कर दिया है । कहे ! मरुतके साथ बरुग और देवेन्द्रको देखो । बलिके पराक्रमसे सूर्य भी निस्तेज-से हो
 गये हैं । सरस्वतीतीर्थ तथा सरस्वती- (विष्णु-) के सिवा तीनों लोकोंमें उसके कर्मको बंद करनेवाला कोई नहीं
 दीवता है । वे अग्निाशी बलिद्वारा किये गये सदर्मके हेतु मिली हुई उसकी भूमि, स्वर्ग, राज्य, लक्ष्मी एवं
 यशका अपहरण करेंगे ॥ ५-८ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन ब्रह्मणा कलिरव्ययः । शीतान् दृष्ट्वा स शक्रादीन् विभीतकवन् गतः ॥ ९ ॥
 कृतः प्रावर्त्तत तथा कलेर्नाशाज्जगत्त्रये । धर्मोऽभवच्चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्योऽपि नारद ॥ १० ॥
 ततोऽद्विंशति च सत्यं च शौचमिन्द्रियनिग्रहः । दया दानं त्वानृशंस्यं शुश्रूषा यज्ञकर्म च ॥ ११ ॥
 पत्नानि सर्वजगतः परिव्याप्य स्थितानि हि । बलिना बलवान् ब्रह्मन् तिप्योऽपि हि कृतः कृतः ॥ १२ ॥

भगवान् प्रथमके इस प्रकार कहनेपर अन्यय बलि, इन्द्र आदि देवताओंको चिन्तित हुआ देखकर विभीतक
 धर्ममें चला गया । नारदजी ! कलिके अदृश्य हो जानेसे तीनों लोकोंमें सत्ययुग प्रवर्तित हो गया । चारों वर्णोंमें
 चारों चरधर्मोंमें धर्म व्यथ हो गया । तपस्या, अद्विंशति, सत्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, दया, दान, मृदुता, सेवा
 और यज्ञार्थ—ये सभी समस्त जगत्तमें द्या गये । ब्रह्मन् ! बलिने बलशाली कलिको भी सत्ययुग बना
 दिया ॥ ९-१२ ॥

नधर्मोऽप्ययिनो वर्णा गाध्रमांधाविशन् द्विजाः । प्रजापालनधर्मस्थाः सदैव मनुजर्वभाः ॥ १३ ॥
 धर्मोऽसौ धर्ममाने ब्रह्मवसिष्ठमन्त्रये । त्रैलोक्यलक्ष्मीर्वरदा त्वायाता दानवेश्वरम् ॥ १४ ॥
 नामागतां निर्गद्यैव सत्त्वाश्चरियं बलिः । पप्रच्छ काऽसि मां ब्रूहि केनास्यर्थेन चागता ॥ १५ ॥
 सा नान्वनमाकर्ण्य प्राद श्रीः पशमालिनी । बलेऽशुणुष्व याऽसि त्वामायाता महिषी बलात् ॥ १६ ॥

सभी वर्ण अन्ते-अन्ते धर्मों स्थित हो गये । द्विजगण अपने-अपने आध्रमोंका पालन करने लगे तथा राजा
 प्रजापालनधर्मोंमें धर्मका आचरण करने लगे । ब्रह्मन् ! इन तीनों लोकोंके धर्म-परायण होनेपर बरदायिनी त्रैलोक्य-
 लक्ष्मी दान साध बलिके पास आयीं । इन्द्रकी लक्ष्मीको उपस्थित हुई देखकर बलिने पूछा—मुझे यह बतलाओ
 कि तुम हीन हो और किस उद्देशसे आयी हो । कमलकी मालासे अलंकृत लक्ष्मीने उसकी बात सुनकर कहा—
 लो ! मैं बलात् तुम्हारे पास आयी हूँ; मैं जो (सौ) हूँ उसे मुनो ॥ १३-१६ ॥

धर्मोऽप्ययिनो देवो योऽसौ चक्रगदाधरः । तेन त्यक्तस्तु मथवा ततोऽहं त्वामिहागता ॥ १७ ॥
 स निर्मांशे सुवलयधतरो रूपसंयुताः । श्वेताम्बरधरा चैव श्वेतचक्रगनुलेपना ॥ १८ ॥
 श्वेतचक्रगनुलेपना सत्त्वाद्या श्वेतविप्राहा । रक्ताम्बरधरा चान्या रक्तचक्रगनुलेपना ॥ १९ ॥
 रक्तचक्रगनुलेपना रक्तादी राजसी हि सा । पीताम्बरा पीतवर्णा पीतमाल्यानुलेपना ॥ २० ॥
 पीतचक्रगनुलेपना नामसं गुणमाश्रिता । नीलाम्बरा नीलमाल्या नीलगन्धानुलेपना ॥ २१ ॥
 नीलचक्रगनुलेपना त्रिगुणा सा प्रकीर्तिता । या सा श्वेताम्बरा श्वेता सत्त्वाद्या कुञ्जरस्थिता ॥ २२ ॥
 सा प्रधानं रक्तायाता चन्द्रं चन्द्रानुगतपि । या रक्ता रक्तवसना चाजिस्था रजसान्विता ॥ २३ ॥
 सा प्रादाद् देवराजस्य मनवे नन्मनेषु च । पीताम्बरा या चतुर्धा रथस्था कनकप्रभा ॥ २४ ॥
 प्रजापतिभयम्नां प्रादान्कुन्दाय च विनासु च । नीलवस्त्राऽद्विसदसी या चतुर्धा वृषस्थिता ॥ २५ ॥
 सा शनवान् मैर्जानांश्च शूद्रान् पियाभगानपि । विप्रायाः श्वेतरूपां तां कथयन्ति सरस्वतीम् ॥ २६ ॥

जमिन शक्तिशाली चक्र और गंगाकी धारण करनेवाले टेक त्रिप्युने इन्द्रको छोड़ दिया है। एक में पदों तुम्हारे पास आयी हैं। उन्होंने (त्रिप्युने) रूपसे सप्तन चार युक्तिदेवी की सृष्टि की। (पहली युक्ती) सप्त प्रधाना, श्वेतवर्गकी शरीरवाली, श्वेतवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, श्वेतवस्त्र और अनुकैतसे युक्त एवं श्वेत रंगकर आरूढ़ थी। (दूसरी युक्ती) रजोगुणप्रधाना, रक्तवर्गकी शरीरवाली, रक्तवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, रक्तवर्गका माल्य और अनुकैतसे युक्त तथा रक्तवर्गका अक्षर आरूढ़ थी। (तीसरी युक्ती) तमोगुणप्रधाना, पीतवर्गका शरीरवाली, पीतवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, पीतवर्गकी माल्य और अनुकैतसे युक्त तथा ध्रुववर्गका वस्त्र धारण करनेवाली थी। (चौथी युक्ती) त्रिगुणप्रधाना, नील शरीरवाली, नीलेवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली एवं नीले वर्गकी माला, चन्दन और अनुकैतसे युक्त तथा नील वर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, श्वेतवर्गकी शरीरवाली, श्वेतवस्त्र धारण करनेवाली हाथीवर आरूढ़ (युक्ती) श्वेत चन्द्रमा एवं चन्द्रमा अनुपायिणोंके पास चली गयी। रजोगुणसे युक्त, रक्तवर्गकी शरीरवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली एवं छोड़कर आरूढ़ युक्तीको (उन्होंने) इन्द्र, मनु तथा उनका समानवर्गके लोगोंको प्रदान किया। वस्त्रवर्गकी शरीरवाली, पीतवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, संभाष्यनी, रथपर आरूढ़ा युक्तीको (उन्होंने) प्रजापतिसे, युक्त एवं वस्त्रोंको दिया। नीलवर्गका वस्त्र धारण करनेवाली, भ्रमरक समान, वृषभ स्थित चंथी (युक्ती) दानवों, नैश्वर्यको, शूद्रों एवं विचारकोंके पास चली गयी। उस श्वेतरूपको विप्र आदि सर्वकी वृद्धते हैं ॥ १७-२६ ॥

स्तुतिप्रति प्रहाणा सार्धं मये मन्त्रादिभिः सदा। क्षत्रिया रत्नपर्णा ता जयधर्मिणि शक्ति ॥ २७ ॥
सा चेन्द्रेणासुरश्रेष्ठ मनुना च यशस्विनी। वैद्ययास्ता पीतवसना वनशङ्खौ सदैव हि ॥ २८ ॥
स्तुतिप्रति लक्ष्मीमित्येवं प्रजापालास्तथैव हि। शूद्रास्ता नीलवर्गास्तुतिप्रति च सुभक्तिः ॥ २९ ॥
श्रिया देवाति नाम्ना ता सम दैत्यैश्च राक्षसैः। एव विभक्तास्ता नापेक्षन्त देवेन चरिण ॥ ३० ॥

यहमें वे ब्रह्माक सहित उसका मन्त्रादिसे सदा स्तुति करते हैं। भक्तियन्त उस रक्तवर्गकी चपथी करते हैं। असुरश्रेष्ठ ! वह इन्द्र तथा मनुक सप्त यशोवती हुई। वैद्य तथा प्रजापतिगण उस पीतवर्गकी वनशङ्खौ स्तुति सदा लक्ष्मीक नामसे करते हैं। दैत्या एवं राक्षसोंके साथ शूद्रगण श्राद्धशोक नामसे शक्तिपूर्वक उम नील वर्गाङ्गीकी स्तुति करते हैं। इस प्रकार उन चक्र धारण करनेवाले देवन उन नारियोंका विभाजन किया ॥ ७-३० ॥

पतासा च स्वरूपस्थास्तिष्ठति निधयोऽव्यया। इतिहासपुराणानि वेदा साहाय्योक्तयः ॥ ३१ ॥
चतुर्भुजश्चक्रा इवेता महापद्मो निधि स्थित। मुक्तासुवर्णरत्न रथादरागनभूषणम् ॥ ३२ ॥
शङ्खाख्वादिकचक्राणि रत्ना पद्मो निधि स्मृत। गोमहिरय खरोष्ट्र च सुवर्णवस्त्रभूषणम् ॥ ३३ ॥
ओषध्य पशव पीता महानीलौ निधि स्थित। सर्वांसामपि जानाना जतिरेका प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥

अन्येषामपि सहस्रीं नीला शङ्खो निधि स्थित।
पतासु स्तुतिप्रति च याति रूपानि शतयः। भयानि पुराणानि वै ताद निरोध यदाति ते ॥ ३० ॥

अश्वय निरियो इनके स्वरूपमें स्थित हैं। इतिहास, पुराण सङ्ग वेद, स्तुति, चैतन्य कर्ण तथा मन्त्रादि निधि श्वेताङ्गीके अन्तर्गत हैं। मुक्ता सुवर्ण, रत्न रथ, अश्व गन भूषण शङ्ख, अश्व एवं वस्त्रभूषण परमर्ति, रक्षाङ्गीके अन्तर्गत हैं। गौ, भ्रम, गर्दभ, उष्ट्र, सुवर्ण, वस्त्र, मृत्ति ओषधियाँ एवं पशु-रूप मन्त्री निधि पीताङ्गीमें स्थित हैं। अन्य सभी जातियोंको अपनेमें समाविष्ट करनेवाली सारी जातियोंमें सर्वश्रेष्ठ जति (पर सामान्यात्म) स्वरूप शङ्खनिधिवी नीलाङ्गी देवीमें स्थित है। दानव ! इन (निरियों) के मन्त्रपर जतिपुत्रोंके जो लक्षण होते हैं, मैं उनका वर्णन कर रही हूँ, उन्हें समझो—॥ ३१-३५ ॥

सत्यशौचाभिर्न्युक्ता मखदानोत्सवे रताः । भवन्ति दानवपते महापद्माश्रिता नराः ॥ ३६ ॥
 यज्विक्तः सुभगा दत्ता मानिनो बहुदक्षिणाः । सर्वस्वामान्यसुखिनो नराः पद्माश्रिताः स्मृताः ॥ ३७ ॥
 सन्धानृतसमायुक्ता दानाहरणदक्षिणाः । न्यायान्यायव्ययोपेता महानीलाश्रिता नराः ॥ ३८ ॥
 नास्तिकाः शौचरहिताः रूपणा भोगवर्जिताः । स्तेयानृतकयायुक्ता नराः शङ्खश्रिता वले ॥ ३९ ॥
 इत्येवं कथितस्तुभ्यं तेषां दानव निर्णयः ॥ ४० ॥

दानवपते ! नारायणके आश्रित रहनेवाले मनुष्य सत्य और शौचसे युक्त तथा यजन, दान और उत्सव करनेमें लीन रहते हैं । पद्मके आश्रित रहनेवाले मनुष्य यज्ञ करनेवाले, सौभाग्यशाली, अहङ्कारी, मानप्रिय, बहुत दक्षिणा देनेवाले तथा सर्वस्वधारण व्योमसे सुखी होते हैं । महानीलके आश्रित रहनेवाले व्यक्ति सत्य तथा असत्यसे युक्त, देने और लेनेमें चतुर तथा न्याय, अन्याय और व्यय करनेवाले होते हैं । वले ! शङ्खके आश्रित रहनेवाले पुरुष नास्तिक, अश्रित, क्षयग, भोगहीन, चोरी करनेवाले एवं अन्याय करनेवाले होते हैं । दानव ! मैंने इस प्रकार आपसे उनके स्वल्पका वर्णन किया ॥ ३६-४० ॥

आहं सा रागिणी नाम जयश्रीस्त्वामुपागता । ममास्ति दानवपते प्रतिष्ठा साधुसम्मता ॥ ४१ ॥
 समाश्रयामि शौचोद्यं न च प्रीतिं कथंचन । न चास्ति भवतस्तुल्यो वैलोफ्येऽपि बलाधिकः ॥ ४२ ॥
 न्वया यत्प्रविभूया हि प्रीतिर्मे जनिता ध्रुवा । यत्त्वया युधि विकस्य देवराजो विनिर्जितः ॥ ४३ ॥
 अतो मम परा प्रीतिर्जाता दानव शाश्वती । दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं सर्वेभ्योऽपि बलाधिकम् ॥ ४४ ॥

श्री रागिणी नामकी जयश्री मैं आपके पास आयी हूँ । दानवपते ! मेरी साधुजनोंसे अनुमोदित एक प्रतिष्ठा है । मैं वीर पुरुषका आश्रयण करती हूँ । नपुंसकके पास कभी नहीं जानी । तीनों लोकोंमें आपके महान् बलवान् दमन कोई नहीं है । अपनी बल-सम्पत्तिसे तुमने मेरेमें दृढ़ प्रीति उत्पन्न की है, क्योंकि संग्राममें पराजय कर तुममें देवराजको जीता है । दानव ! इसीसे आपके श्रेष्ठ सत्त्व एवं सभीसे अधिक बलको देखकर (आपके प्रति) मेरी स्तुति एवं उत्तम प्रीति उत्पन्न हो गयी है ॥ ४१-४४ ॥

शौचार्थमानिनं शौचं ततोऽहं न्ययमागता । नाद्वयं दानवश्रेष्ठ हिरण्यकशिपोः कुले ॥ ४५ ॥
 प्रमृष्टान्यासुरेन्द्रस्य तव कर्म यदादशम् । विशेषितस्त्वया राजन् दैतेयः प्रपितामहः ॥ ४६ ॥
 विजितं विक्रमाद् येन वैलोफ्यं वै परैर्हृतम् । इत्येवमुक्त्वा वचनं दानवेन्द्रं तदा बलिम् ॥ ४७ ॥
 तपश्चाद्यन्त्रयदना प्रविष्टाऽद्योनयच्छुभा । तस्यां चाय प्रविष्टायां विधवा इव योषितः ॥ ४८ ॥
 समाश्रयामि बलिनं हार्धाधीभूतिकोत्सयः । प्रभा मतिः क्षमा भूतिर्विद्या नीतिर्दया तथा ॥ ४९ ॥
 ध्रुतिः स्मृतिर्भुनिः कीर्तिर्मूर्तिः शान्तिः क्रियान्विताः ।

पुष्टिभृशो रगिण्यन्या तथा स्वस्वाश्रिता गुणाः । ताः सर्वा बलिमाश्रित्य व्यश्राम्यन्त यथासुखम् ॥ ५० ॥
 एवं गुणाऽभूद् दनुपुत्रवोऽसौ बलिर्महान्मा शुभयुद्धिराग्ववान् ।
 पद्म्या तपस्वी नृदुरय सत्यवान् दाना चिभर्ता स्वजनाभिगोप्ता ॥ ५१ ॥
 प्रविष्ट्यां शान्तिं दानवेन्द्रे नास्तीत् क्षुधातो मन्त्रिनो न दीनः ।
 यदाऽज्ययो धर्मगताऽथ दान्तः कामोपभोक्ता मनुजोऽपि जातः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पद्मनक्षत्रिनमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

४५ में अथवा दशमार्थ तथा मानी वीर आपके पास अपने-आप ही आयी हूँ । दानवश्रेष्ठ ! हिरण्यकशिपो के लिये उपजय और अशुरेन्द्रके विषे इस प्रकारके कर्त्तिक करनेमें कोई आश्रय नहीं है । राजन् ! दनुपुत्रवो नामक श्रेष्ठशरीर करने पराजयमें जीतकर अपने मित्रके पुत्र अपने प्रतिगणहको और विशिष्ट कर

दिया है। दानवेन्द्र मन्त्रिमें इस प्रकार कहकर चन्द्रवदना शुभा जपशी (मन्त्रिमें) प्रवेश करके (उठे) प्रकटित करने लगी। उनका प्रवेश कर जानेपर ही, श्री, बुद्धि, धृति, रीति, प्रभा, मति भव, सच्चि, विद्या नाति, दया, धुनि, स्पृति, धृति, कीर्ति, मूर्ति, शक्ति, जिज्ञा, पुष्टि, तृष्टि एव अत्र सभी मातृगुण अतिव्य अर्थ देखिनीं भी विज्ञा विद्योती भक्ति ब्रह्मिणी उग्रतायामें आनन्दपूर्वक रहने लगी। अष्टौ मुद्रितान्, अमनिष्ठ, यज्ञ करने यात्रे, तपस्वी, क्रमैः समाववाले, सपरता, दानी, अभाससौत्र अभयसे दूरत पञ्चयोग एव स्वजनोक्ती रक्षा करनेवाले दीयश्रेष्ठ महात्मा मन्त्रि इस प्रकारक गुणोंमें सम्पन्न थे। दानवेन्द्र बहिरु स्वर्गस रामन करते समय कोई भूखसे दुखी, मन्त्रि एव अभासमन्त्र नहीं था। मनुष्य भी सदा शुद्ध धर्मपराय इन्द्रिय विनयी एव इच्छानुकूल भोगसे सम्पन्न हो गये ॥ ४५-५० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पंचहत्तरवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

[अथ पट्सप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गते ब्रैलोष्यराज्ये तु दानवेषु पुरन्दर । जगाम ब्रह्मसदन सह देवै शचीपति ॥ १ ॥
 तत्रापदयत् स देवेशं ब्रह्माण कमलोद्भवम् । भृगुभिर्माधर्मासीत पित्र स्वयं कश्यपम् ॥ २ ॥
 ततो ननाम शिरस्ता शक सुरराजै सह । प्रथाप कश्यप चैव तादृच मयौस्तोभनान् ॥ ३ ॥
 प्रोवाचेन्द्र सुरै सार्धं देवनाथ पितामहम् । पितामह इव राज्य बलिना बलिना मम ॥ ४ ॥
 ब्रह्मा प्रोवाच शकैतद् भुज्यते स्वहनं फलम् । शक पप्रच्छ भो ब्रूहि किं मया दुष्टत दृष्टम् ॥ ५ ॥
 कश्यपोऽप्याह देवेशं भृगुहत्या दृता न्याया । दित्युदपात् स्वया गर्भं दृत्तो वै यदुपा वनान् ॥ ६ ॥

छिद्रत्तराँ अध्याय श्रावम्

(प्रायश्चित्त हेतु इन्द्रकी तपस्या, माताके भाधममें आना, अदितिका तपस्या और वासुदेवकी स्तुति, वामुदेवका अदितिक पुत्र बननका आश्वासन और स्वतन्त्र अदितिक गर्भमें प्राण)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी) तीनों देवोंका साथ दानवे ही जानेपर शचीपति इन्द्र दरेक मातृ ब्रह्मलोका गये। वहाँ उन्होंने ऋषियोंक साथ बैठे हुए कमलयोगि ब्रह्मा एव अपने पिता करवाये गये। उतर बाद इन्द्रने देवताओंक मन्त्रि ब्रह्मा, उग्रय एव उन सभी तपोमनोंको मिर बुझाकर प्रणाम किया। देवोंक साथ इन्द्रने देवनाथ पितामहसे कहा—पितामह 'उग्रयान् बलिने मेरा राज्य ग्रहण किया है। ब्रह्मने कहा—इन्द्र! यह तुम अपने मन्त्रि हुए कर्मका फल भोग रहे हो। इन्द्रने पूछा—कश्यप अत्र कश्यपसे कि कैसे फलम दुष्टम किया है। कश्यपने भी (उत्तरमें) इन्द्रसे कहा—तुमने भृगु (मन्त्रिपितृ वन्त्र) की हत्या की है। तुमने द्रिदिक उदरमें स्थित गर्भको मूर्च्छित अनन्त दुःखमें उग्र डाला है ॥ १-६ ॥

वितर प्राह देवेन्द्र स मातृदोषतो विभो । दृष्टत प्राप्तवान् गर्भो यद्दोषा हि साधयन् ॥ ७ ॥
 ततोऽग्रवात् कश्यपस्तु मातृदोषं स दातवाम् । गतस्ततो रितिहतो दामोऽपि बुद्धिदोष भो ॥ ८ ॥
 तच्छ्रुत्वा कश्यपवच प्राह शक पितामहम् । विनाश पाप्मनो ब्रूहि प्रायश्चित्त विभो ॥ ९ ॥
 ब्रह्मा प्रोवाच देवेशं वसिष्ठ कश्यपस्तया । दितं सर्वान् जगत् शककामे विदो ॥ १० ॥

पूरा समाचार कष्ट सुनाया । यह सुननेके बाद वे अपने उस पुत्रको दितिके पुत्रोद्वारा पराजित जान शोकसे भर गयीं एवं दुःखसे दृषीं होकर (अदिति) वरेण्य एवं अनादि देव विष्णुकी शरणमें गयीं ॥ २७-२९ ॥

नामद् उवाच

कस्मिन् जनिर्त्रा सुगसत्तमानां स्थाने हृषीकेशमनन्तमाद्यम् ।
त्रगचरम्य प्रभवं पुराणमाराधयामास शुभे वद त्वम् ॥ ३० ॥

नामद्ने कहा (पूछा)—(वृषया) आप यह बतलाइये कि देवोंकी माता अदितिने किस शुभ स्थानपर अनादि, अनन्त, चर और अचरके उपास करनेवाले एवं पुरातन हृषीकेशकी आराधना की ! ॥ ३० ॥

पुलस्त्य उवाच

सुरारणिः शकमेवेद्य दीनं पराजितं दानवनायकेन ।
स्मितेऽय पक्षे मकरक्षणेऽके घृताचियः स्यादथ सप्तमेऽद्धि ॥ ३१ ॥
एष्ट्रैव देवं त्रिदशाधिपं नं महोदये शकदिशाधिरुद्धम् ।
निराशना संयतवाक् सुचित्ता तदोपनस्ये शरणं सुरेन्द्रम् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—दानव-नायकद्वारा पराजित हुए दीन बने इन्द्रको देवकर अदिति सूर्यके मकरराशिमें स्थित हो जानेपर शुकपक्षकी मृष-सप्तमीके दिन उन सुगंके स्वामी सूर्यदेवको महान् उदयाचलपर पूर्व दिशामें उगनेपर देवकर उपवास करती हुई शशी एवं मनको संयत करके उन सुरेन्द्र-(सूर्य-) की शरणमें गयीं ॥ ३१-३२ ॥

अदितित्वाच

जयस्य दिव्याम्बुजकोशचौर जयस्य संसारनरोः कुडार ।
जयस्य पापेन्धनजातवेदस्तमौघसंरोध नमो नमस्ते ॥ ३३ ॥
नमोऽस्तु ते भास्कर दिव्यमूर्ते त्रैलोक्यपलक्ष्मीतिलकाय ते नमः ।
न्यं कारणं सर्वत्रगचरम्य नाथोऽसि मां पालय विद्वमूर्ते ॥ ३४ ॥
न्यया जगत्साथ जगन्मयेन नाथेन शको निजराज्यहानिम् ।
अघातवात्र शशुरगभयं च तनो भवन्तं शरणं प्रपन्ना ॥ ३५ ॥
इत्येवमुक्त्वा सुरपूजितं सा आलित्य रफनेन हि चन्दनेन ।
रम्पूजयित्वा पर्यारपुण्यैः संभृष्य धूपैः कणमर्चामोज्यम् ॥ ३६ ॥
नियेण चैवाज्ययुतं महार्हमन्नं महेंद्रम्य हिताय देवी ।
नयंन पुण्येन च संन्नुवन्ती स्थिता निराहारमयोपवासम् ॥ ३७ ॥

अदितिने कहा—हे त्रि लोकायकेशको अपनेमें छिपाकर रखनेवाले ! आपकी जय हो । हे संसाररूपी कुडार पुत्र ! आपकी जय हो । हे पापघ्नी इन्धनके लिये अग्नि ! आपकी जय हो । हे अन्धकार (अज्ञान)के समुद्रके विनाश करनेवाले ! आपकी आरम्भय नमस्कार है । हे भास्कर ! हे दिव्यमूर्ते ! आपको नमस्कार है । हे त्रैलोक्यरक्षणी तिलक ! आपकी नमस्कार है । हे सर्वत्रगचर ! हे नाथ ! आपकी नमस्कार है । हे सन्त नर और अचर जगत्के कारण तथा स्वामी ! हे महोदय ! हे मेरी रक्ष करिये । हे जगत्साथ ! जगन्मय आप स्वामीके ही कारण इन्द्रको अपने राज्यकी हानि एवं हमसे समुद्रकी भी प्राप्ति हुई है । हम में आपकी शरणमें आयी हैं । ऐसा बहनेके बाद रक्तचन्दनद्वारा देवोंके पुत्रों पर सूर्यके चित्रितकर उस देवी (अदिति) ने कर्नलके पुण्यमें उनका पूजन किया और धूपसे धूमित करके कण मर्चामोक्ष्य करके लिये पुण्य बने उपास अथ अर्पित किया तथा निराहार रहकर लीन मोक्षमें सूर्य करके हुई (सन्नुवन्ती) देवी रही ॥ ३३-३७ ॥

ततो द्वितीयेऽङ्घ्रि कृतप्रणामा स्नात्वा विधानेन च पूजयिष्या ।

दत्त्वा द्विजेष्वपः कणकं निलान्यं ततोऽप्रतः सा प्रयत्ना यभूय ॥ ३८ ॥

ततः प्रीतोऽभवद् भानुधृतादिभिः सूर्यमण्डलात् । विनिःसृत्याप्रतः शिष्या इदं यत्नमप्रयत्नम् ॥ ३९ ॥

यतेनानेन सुमीतस्तपाहं दक्षतन्द्रिति । प्राशंससे दुर्लभं कामं मन्वसात्प्र संशयः ॥ ४० ॥

राज्यं त्वत्तनयानां वै दाम्ये देवि सुरारणि । दानवान् पंचमविष्यामि मन्वस्यैऽदरे तव ॥ ४१ ॥

दूसरे दिन प्रणाम करनेके बाद विभिन्न स्नान एवं पूजा काके उक्तोने वाप्रयोगसे कागत. नित्र एवं पूज प्रदान किया और उमके बाद वे और अधिक सपन रहने लगी । इसने धृतादि भानु प्रसन्न हो गये । (वे) सूर्य-मण्डलसे निकले एवं अदितिके सामने खडे होकर यह वचन बोले—दक्षतन्द्रिति ! तुम्हारे इस क्रमसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । अब मेरी कृपासे तुम नि सन्देह मनोवाञ्छित दुर्लभ वस्तु प्राप्त करोगी । देवि ! देवतन्नि ! मैं तुम्हारा पुत्र होकर देवपुत्रोको राज् दूँगा और दानयोंका नाश करूँगा ॥ ३८-४१ ॥

तदाप्यं वासुदेवस्य ध्रुवा प्रहसन् सुरारणिः । प्रोवाच जगतां योनिं वेपयन्तान् पुनः पुनः ॥ ४२ ॥

कथं त्वासुदेवोऽहं बोद्धुं शक्यामि दुर्धरम् । यमोदरे जगत्सर्वं यमने म्यामुज्ज्वलम् ॥ ४३ ॥

कस्यां धारयितुं नाथ शकस्त्रैलोक्यधारयति । यत्न सतापयाः कुभौ नियसन्ति महादिभिः ॥ ४४ ॥

तस्माद् यथा सुरपतिः शक्यं स्यात् सुरराडिह । यथा च न मम ह्येगस्तथा पुत्र जनार्दन ॥ ४५ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन् ! वासुदेवस्य यः वास्य मुनकरा बाल-कारा सोनी इति देवैरी मना

अदिनिने संसारको उत्पन्न करनेवाले विष्णुमें कहा—जिसके (विशाल) उदरमें स्थावर-जङ्गलानाका मनस्य मन्दा निवास करता है, ऐसे त्रिजोतीको धारण करनेवाले आपको मैं अपने उदरमें जैसे धारण कर सँहूँ ! आप ! आप तीनों लोकोको धारण करनेवाले हैं । जिसकी कुक्षिमें पर्वतोंके साथ साथ समुद्र अवस्थित हैं ऐसे आपकी कौन धारण कर सकता है ! अब हे जनार्दन ! आप बन्ना ही करें जिसमें इन्द्र देवताओंके म्यामी वन जर्ष और मुझे भी कष्ट न हो ॥ ४२-४५ ॥

विष्णुवाच

सत्यमेतन्नहभागे दुर्धरोऽस्मि सुरासुरैः । तथापि सम्भविष्यामि अहं देव्युदरे तव ॥ ४६ ॥

आत्मानं भुवनान् शैलांस्तथाश्च देवि सकल्पयाम् । धारयिष्यामि योनेन मा विगदं कृपास्मिन्के ॥ ४७ ॥

तवोदरेऽहं दाक्षेयि सम्भविष्यामि वै यदा । तदा निस्तेजसो देव्याः सम्भविष्यन्वयमंशयम् ॥ ४८ ॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान् विवेश तस्याथ भूयोऽरिगणममर्षी ।

स्वतेजसोऽंशान् विवेश देव्याः तदोदरे शक्यदिनाय विम ॥ ४९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

विष्णुमें कहा—प्रहानगे ! यह मय ही कि मैं देवों और देवियोंमें पूज नहीं हों सकता, फिर भी हे देवि ! मैं आपके उदरमें उत्पन्न होऊँगा । देवि ! स्वयंको, (चैत्रहो) मुक्तों, पर्वतों एवं जङ्गलचित जन्मों में मैं योगद्वात धारण करूँगा । मान ! अब विगद न करें । दन्नामने ! जम में आरक उदरमें जङ्गल एवं देव्य निस्मन्देह तेजोदीन हो जायेंगे । (पुलस्त्यजी कहते हैं—) विष्णु ! एका रहकर जन्मोंके ना करनेसे भगवान् विष्णु इन्द्रजी भर्ताके लिये अपने तेजके अंशानामने उन देवियोंके उदरमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४६-४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छिदसप्तमौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

पुलस्त्य उवाच

पौत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा प्रह्लादः क्रोधमूर्छितः । धिग्धिगित्याह स बलिं वैकुण्ठाक्षेपवादिनम् ॥ २५ ॥
 धिक् त्वां पापसमाचारं दुष्टबुद्धिं सुवालिशम् । हरिं निन्दयतो जिह्वा कथं न पतिता तव ॥ २६ ॥
 शोच्यस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः । यत् त्रैलोक्यगुरुं विष्णुमभिनिन्दसि दुर्मते ॥ २७ ॥
 शोच्यश्चासि न संदेहो येन जातः पिता तव । यस्य त्वं कर्कशः पुत्रो जातो देवावमान्यकः ॥ २८ ॥

पुलस्त्यने कहा—पौत्रके इस वचनको सुनकर अत्यन्त कुपित हुए उन प्रह्लादने विष्णुकी निन्दा करनेवाले बलिसे कहा—पापकर्मा दुष्टबुद्धि तुम मूर्खको धिक्कार है । विष्णुकी निन्दा करते हुए तुम्हारी जीभ क्यों नहीं गिर गयी ? दुर्बुद्धे ! दुर्मते ! तुम शोक करने लायक और सज्जनोंद्वारा निन्दा किये जाने योग्य हो । क्योंकि तुम तीनों लोकोंके गुरु विष्णुकी निन्दा कर रहे हो । निस्सन्देह मैं भी शोक किये जाने लायक हूँ, जिसने तुम्हारे ऊपर पिताको जन्म दिया, जिससे तुम देवताओंकी निन्दा करनेवाले तथा उग्र पुत्र हुए ॥ २५-२८ ॥

भवान् किल विजति तथा चामी महासुराः । यथा नान्यः प्रियः कश्चिन्मम तस्माज्जनार्दनात् ॥ २९ ॥
 जानन्नपि प्रियतरं प्राणेभ्योऽपि हरिं । सर्वेश्वरेश्वरं देवं कथं निन्दितवानसि ॥ ३० ॥
 गुरुः पूज्यस्तव पिता पूज्यस्तस्याप्यहं गुरुः । ममापि पूज्यो भगवान् गुरुलोकगुरुर्हरिः ॥ ३१ ॥
 गुरोर्गुरुगुरुर्मूढ पूज्यः पूज्यतम । पूज्यं निन्दयते पाप कथं न पतितोऽस्यधः ॥ ३२ ॥

निश्चय ही तुम और ये महासुर भी जानते हैं कि जनार्दनसे अधिक दूसरा कोई मेरा प्रिय नहीं है, विष्णु मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, यह जानते हुए भी तुमने सर्वेश्वरेश्वर देवकी निन्दा किस प्रकार की ! तुम्हारे पिता (तुम्हारे लिये) गुरु एवं पूजनीय हैं । उनका भी गुरु तथा पूजनीय मैं हूँ । लोकगुरु भगवान् हरि मेरे भी पूजनीय और गुरु हैं । मूढ़ पापिन् ! गुरुके भी गुरु तुम्हारे लिये पूज्य एवं पूज्यतम हैं । तुम पूजनीय निन्दा करते हो, इसलिये तुम नीचे क्यों नहीं गिर गये ॥ २९-३२ ॥

शोचनीया दुराचारा दानवामी कृतास्त्वया । येषां त्वं कर्कशो राजा वासुदेवस्य निन्दकः ॥ ३३ ॥
 यस्मात् पूज्योऽर्चनीयश्च भवता निन्दितो हरिः । तस्मात् पापसमाचार राज्यनाशमवाप्नुहि ॥ ३४ ॥
 यथा नान्यत् प्रियतरं विद्यते मम केशवात् । मनसा कर्मणा वाचा राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ३५ ॥
 यथा न तस्मादपरं व्यतिरिक्तं हि विद्यते । चतुर्दशसु लोकेषु राज्यभ्रष्ट । पत ॥ ३६ ॥
 सर्वेषामपि भूतानां नान्यल्लोके परायणम् । यथा तथाऽनुपश्येयं भवन्तं राज्यविच्युतम् ॥ ३७ ॥

तुमने दुराचरण करनेवाले इन दानवोंको शोचनीय बना दिया । क्योंकि वासुदेवकी निन्दा करनेवाले खभावके तुम इनके राजा हो । हे पापका आचरण करनेवाले ! यतः तुमने पूजनीय एवं अर्चनीय विष्णुकी निन्दा की है, अतः तुम्हारे राज्यका विनाश होगा । क्योंकि मन, कर्म एवं वाणीसे मेरा केशवसे अधिक दूसरा कर्कश नहीं है, अतः राज्यसे भ्रष्ट होकर तुम अत्रःपतित हो जाओ । क्योंकि चौदहों लोकोंमें उनसे भिन्न दूसरा कर्कश नहीं है, अतः राज्य-भ्रष्ट होकर तुम पतित हो जाओ; क्योंकि संसारमें सभी भूतोंका (वासुदेवके अर्चनीय) कोई आधार नहीं है, अतः मैं तुम्हें राज्यच्युत हुआ देखूँ ॥ ३३-३७ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते व बलिः सत्वरितस्तदा । अवतीयासनाद् ब्रह्मन् कृताञ्जलिपुटो बलिः ॥ ३८ ॥
 शिरसा प्रणिपत्याह प्रसादं यातु मे गुरुः । कृतापराधानपि हि क्षमन्ति गुरवः किम्व ॥ ३९ ॥

साधु यदह शक्ती भवता दानवेद्वर । न विभेमि परेष्योऽह न च राज्यपरिक्षयात् ॥ ४० ॥
 न दुःख मम विभो यदह राज्यविच्युत । दुःख वृतापराध्याद् भवतो मे महत्तरम् ॥ ४१ ॥
 तत् क्षम्यता तात ममापराधो गालोऽस्म्यनाथोऽसि सुदुर्मतिश्च ।
 वृत्तेऽपि दोषे गुरव शिद्वता श्रमन्ति दैव्य समुपागतताम् ॥ ४२ ॥
 पुत्रस्यजी वोलै—ब्रह्म । इस प्रकार वहे जानेपर ब्रह्मशास्त्र बलि शास्त्र ही जससे नावे उतग और
 जोडकर उमन मिरमे सुखर प्रणाम कर कहा—गुरो । मेरे ऊपर गत प्रसन्न हों । बड लेग परत कल्प
 गार्भोंको क्षमा करते हैं । तनवेधर । आपका मुझ शाप दना टक है । मैं शत्रुओंमे तया शत्रु हिन
 तयभीत नहीं हूँ । विभा । मुझ राज्यसे भ्रग हो जानेका मर्भी नहीं है, परतु आपका भगम कनका मुझ
 शक्ति दुःख है । इसलिये तान । आप मेरे अपराधों क्षमा करें । मैं एक स्नात तुम्हें दितु हूँ ।
 दोर करनेपर भी आर्न बने हुए गार्भोंका क्षमा कर देते हैं ॥ ३८-४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

स पचमुक्तो यवन महात्मा विमुक्तमोहो हरिपादभक्त ।

त्रिर विचिन्त्याद्भुतमेतदियमुयाच पौत्र मधुर वचोऽथ ॥ ४३ ॥

(फिर) पुलस्त्यजी वोलै—दस प्रकार वचन कहनेपर विष्णुक बरणोंमें प्रदा रडनकन इनी म्हे न
)ने वदत रतन विचारकर पैसे इस प्रकार अद्भुत पत्र मधुर यत्र वचन कहा ॥ ४३ ॥

महादश उवाच

हेन मे ज्ञान विवेकश्च निरस्कृत । येन सर्वगत विष्णु जानस्वा शनयानहम् ॥ ४४ ॥

भात्र्य ये भवतो येन दानव । ममाविशमहाबाहो त्रिविक्रविवेक ॥ ४५ ॥

राज्यमिति विभा न ज्वर कर्तुमर्हसि । अत्रय भायिनो हार्या न विनश्यन्ति कर्हिचित् ॥ ४६ ॥

लभ्याये राज्यभोगवनाय च । भागमे निर्गमे प्राशो न विवाद समाचरेत् ॥ ४७ ॥

हादने कहा—तान । अज्ञानन मेरे ज्ञान एव विवेकको टक गिया था । इसलिये विष्णुको सर्वव्यापी जानते

ने तुम्हें शाप द दिय । दानव । निश्चय हा तुम्हारी मम प्रकारका हानहार था । इसलिये विवेकका

रय-वासनाक्य अज्ञान मुझमें प्रवेश कर गया था । इसलिये विभो । राज्यक लिये कष्ट मन करो ।

एव कभी भी विनष्ट नहीं होते । बुद्धिमान् शक्तिनो पुत्र, मित्र पनी राज्यभोग और धनके आने

तिन नहीं होना चाहिये ॥ ४४-४७ ॥

समायान्ति पूर्जनमविधानत । सुखदुःखानि दैत्येद्र नरस्तानि संहेत् तथा ॥ ४८ ॥

दृष्ट्वा न विपण्णो भवेद् वशी । सम्यक् च सुविस्तीर्णा प्राप्य नोऽपृतिमान् भवेत् ॥ ४९ ॥

मुह्यति न हृष्यन्ति धनागमे । धीरा धार्येषु च सदा भवन्ति पुरयोत्तमा ॥ ५० ॥

॥ दैत्येन्द्र न विवाद कथयन् । कर्तुमर्हसि विहास्य पण्डितो नावसन्ति ॥ ५१ ॥

। पूर्जनममें क्रिये हुए कर्माक विगनसे जैसे-जैसे सुख और दुःख आते हैं मनुष्योंको उनी प्रक

रग केना चाहिये । सम्यक् करनेगरे यत्किनो आपत्तियाका आगमन केकर प्राप्ति नष्ट होने

तल अधिग मण्डितना दग्धर धीरता नहीं पा देनी चाहिये । उत्तम पुरा नरक नष्ट होने

की प्राप्ति होनेपर हर्ष नहा कात । व जनत्र्य कर्मन प्रति सग धी

पर तुम्हें किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिये तुम विद्वान् हो

तथाऽन्यच्च महाबाहो हितं शृणु महार्यकम् । भवनोऽय तयाऽन्येषां श्रुत्वा तच्च समाचर ॥ ५२ ॥
 शरण्यं शरणं गच्छ तमेव पुरुषोत्तमम् । स ते प्राता भयादस्माद् दानवेन्द्र भविष्यति ॥ ५३ ॥
 ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमर्ष्यं विष्णुं चराचरगुहं हरिमोशितारम् ।
 संसारगर्तपतितस्य करावलम्ब्यं नूनं न ते भुवि नरा ज्वरिणो भवन्ति ॥ ५४ ॥
 तन्मना दानवश्रेष्ठ तद्भक्तश्च भवाधुना । स एव भवतः श्रेयो विधास्यति जनार्दनः ॥ ५५ ॥
 अहं च पापोपशमार्यमोशमाराध्य यास्ये प्रतितीर्थयात्राम् ।
 विमुक्तपापश्च ततो गमिष्ये यत्राच्युतो लोकपतिर्नृसिंहः ॥ ५६ ॥

महाबाहो ! तुम अपने ऋषि तथा अन्योक्त ऋषि महान् अर्थपूर्ण एवं कल्याणकर (वचन) सुनो और सुनकर
 वीरता ही करो । दानवेन्द्र ! तुम उन्हीं शरणागतकी रक्षा करनेवाले पुरुषोत्तमकी शरणमें जाओ । वे ही इस
 भयसे तुम्हारी रक्षा करेंगे । आदि, मय्य और अन्तसे हीन, चर और अचरके गुरु, संसाररूपी गर्तमें गिरे हुआँके
 ऋषि हाथका आश्रय देनेवाले एवं सबके नियन्ता हरि विष्णुकी शरणमें जानेवाले मनुष्य निश्चय ही संसारमें संतप्त
 नहीं होते । दानवश्रेष्ठ ! अब तुम अपना मन उन्हींमें लगाकर उनके भक्त बनो । वे जनार्दन ही तुम्हारा कल्याण करेंगे ।
 मैं भी पापके विनाशके ऋषि ईश्वरकी आराधनाकर तीर्थयात्रा करने जाऊँगा और पापसे विमुक्त होकर मैं वहाँ
 जाऊँगा, जहाँ लोकपति अच्युत नृसिंह हैं ॥ ५२-५६ ॥

पुनस्तथ उवाच

इत्येवमाश्वाम्य बलिं महात्मा संस्मृत्य योगाधिपतिं च विष्णुम् ।
 शानन्वय सर्वान् दनुयूथपालान् जगाम कर्तुं न्वथ तीर्थयात्राम् ॥ ५७ ॥
 इति श्रीवामनपुराणं सप्तमस्तितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

पुनरन्यजो बोले—इस प्रकार बलिको आवासन देनेके बाद महात्मा- (प्रह्लाद-) ने योगके अधिपति विष्णुका
 स्मरण किया और दानवसमूहोंके पापकोसे अनुमति लेकर तीर्थयात्रा करने चले गये । ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सप्तहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

—१७७७—

[अध्याष्टसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

पतिर्नार्थानि विप्रेन्द्र प्रह्लादोऽनुजगाम ह । प्रह्लादतीर्थयात्रां मे सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

अठहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी तीर्थयात्रा, धुन्धु और वामन-प्रसन्न, धुन्धुका यज्ञानुष्ठान, वामनका प्रादुर्भाव और
 उनसे ऋषि दान देनेका धुन्धुका निश्चय, वामनका त्रिविक्रम होना और धुन्धुका वध)

गार्ग्यने कहा (पूछा)—श्रेष्ठ विप्र ! प्रह्लाद (क्रमशः) क्लि-क्लि तीर्थमें गये । कृपया आप मुझसे
 प्रह्लादकी तीर्थयात्राके भर्त्सनादि वचन कौनिये ॥ १ ॥

पुनस्तथ उवाच

शृणुष्व कारयिष्यामि पापपद्मप्रणाशिनीम् । प्रह्लादतीर्थयात्रां ते शुद्धपुण्यप्रदायिनीम् ॥ २ ॥
 मन्वज्य मेतं फलफाच्येन्द्रं नार्थं जगामामरसंघजुष्टम् ।
 तपानं पृथिन्यां शुभदं हि मानसं यत्र स्थितो मन्वयवपुः सुरेशः ॥ ३ ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नान्वा स्तंभं पितृदेवता । सम्पूज्य च जगत्प्राप्त्युतं श्रुतिभिर्युतम् ॥ ४ ॥
 उपोष्य भूयः सम्पूज्य देवार्पितमानवान् । जगाम कच्छपं द्रष्टुं कौशिक्यां पापनाशनम् ॥ ५ ॥
 तथ्यां स्नान्वा महानद्यां सम्पूज्य च जगत्पतिम् । समुपोष्य शुचिर्भूत्वा दत्तं विधेयु दक्षिणाम् ॥ ६ ॥
 नमस्कृत्य जगत्प्राप्त्यर्थं कूर्मवपुर्धरम् ।
 ततो जगाम कृष्णाख्यं द्रष्टुं याज्ञिसुखं प्रभुम् । तत्र देवहृदे स्नान्वा तर्पयित्वा पितॄन् सुरान् ॥ ७ ॥
 सम्पूज्य हयशीर्षं च जगाम गजसाहस्यम् । तत्र देवं जगत्प्राप्तं गोविन्दं चक्रगापितम् ॥ ८ ॥
 स्नान्वा सम्पूज्य विधिवज्जगाम यमुनां नदीम् ।
 तस्यां स्नानः शुचिर्भूत्वा स्तंभं पितृसुरान् पितॄन् । ददर्श देवदेवेशं लोकनाथं त्रिविक्रमम् ॥ ९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नागदजी ! सुनिधे, मैं आपसे पापघ्नी स्त्रीचङ्को नष्ट करनेवादी एव पवित्र पुष्करों देनेवादी प्रह्लादजी कीर्तयथाशक्त कहता हूँ । सुवर्गभय श्रेष्ठ मेह परनेवादी छोटकर वे (मृत्यु पहले) दशमे सेविन (और) पृथ्वीमे प्रसिद्ध कल्याणदायी मानसतीर्थमें गये, जहाँ मत्स्यशरीरवादी (मन्वास्त्री) देवाभिवं विनास करते हैं । उस उत्तम तीर्थमें स्नान और पितृदेव-तर्पण कर उन्होंने वेद-भक्तोंसे ज्ञान भगवान् विवेचना पूजन किया । फिर वहाँ उपवास रहकर दत्त, ऋषियों, तिनगे और मनुष्योंकी (यथायोग्य) पूजा कर बौद्धिर्बोध (अस्तिव) पापनाश करनेवाले भगवान् कश्यपका दर्शन करने गये । उस महानदीमें स्नान करनेके बाद उन्होंने जगत्-स्वामी भगवान्की पूजा की और उरुकाम (वन) काकपे पवित्र होकर ब्राह्मणोंसे दक्षिण दिशा । उसके बाद कृष्णाख्य जगत्प्राप्त भगवान्को नमस्कार कर वे वहाँमे कृष्ण नामके ब्रह्ममुख भगवान्का दर्शन करने चले गये । वहाँ उन्होंने देवहृदमें स्नानकर देवों एव तिनरोका तर्पण किया और हयशीर्ष भगवान्का अर्चन कर वे हस्तिनापुर चले गये । वहाँ स्नान करनेके बाद चक्रगापि विधिवनि गोविन्ददेवकी सिद्धिपूजा करनेके बाद वे यमुना नदीके पास पहुँच गये । उसमें स्नान करक पवित्र होकर उन्होंने ऋषियों, तिनरो और देवोंका तर्पण किया तत्र देवोंके देव जगत्प्राप्त त्रिविक्रम- (वामन भगवान्) का दर्शन किया ॥ २ - ९ ॥

नारद उवाच

स्नाम्यतं भगवान् विष्णुदेवैलोक्याक्रमणं ययुः । कस्मिंश्चन जगत्स्वामी पल्लव्यं धनमीश्वरः ॥ १० ॥
 तत्कथं पूर्वकालेऽपि विभुरासीत् त्रिविक्रमः । कथं वा यन्धनं विष्णुः कृतव्यास्तश्च मे चक्षुः ॥ ११ ॥

नारदजीने पूछा—इस समय जगत्स्वामी भगवान् विष्णु तीनों श्रेयोंको आज्ञान करनेवाला (विद्याश्रम) देह धारण करेंगे और बच्चों कीर्तने तो कर्मे वे भगवान् विष्णु पहले समयमें त्रिविक्रम रूप थे और (उस समय) उन्होंने विमला श्रमन किया था—अह मुझ बचनइये ॥ १०—११ ॥

पुलस्त्य उवाच

ध्रुवतां कथयिष्यामि यांस्य प्रोक्तस्त्रिविक्रमः । यस्मिन् काले सम्पूज्यं च यज्ञितयानसौ ॥ १२ ॥
 आसीद् धुन्धुरिति सदान् कश्यपस्यौरमः सुतः । द्रनुगर्भसमुद्भूतो महामल्लरत्नकम् ॥ १३ ॥
 स समाराध्य धरद् प्रह्लाणं च ॥ १४ ॥
 तद् वरं तस्य च प्रादात् तपसा ॥ १५ ॥
 चतुर्थस्य कलेरादौ जिन्या देवान् सयामवान् । धुन्धु गकथयकरादरण्यचरणा सा ॥ १६ ॥
 तस्मिन् काले स बलयान् हिरण्यकशिपुस्तनः । चचार मन्दरनिगे देव्यं धुन्धुं त ॥ १७ ॥
 ततोऽसुरा यथा कामं विहरन्ति विविधेषु । प्रहलोकं च विदशाः संविधा ॥ १८ ॥

पुत्रस्यर्जा बोले—नागदजी ! वे त्रिविक्रम भगवान् कौन हैं, कब हुए और उन्होंने किसको उगा ? यह सब तो आपने पूछा है उसे मैं कहता हूँ; और मुनिये । दनुकें गर्भसे उत्पन्न अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी धुन्नु नामसे प्रसिद्ध कश्यपका एक औरस पुत्र था । नागदजी ! उस दैत्यने तपस्यासे बरदानी ब्रह्माकी आश्रयना करके उनसे इन्द्र आदि देवताओंसे (अपनेको) अवश्य होनेकी याचना की । (उसकी) तपस्यासे प्रसन्न होकर कश्यपोंने ब्रह्माजीने उसे वर (वाञ्छित) वर दे दिया । उसके बाद वह बलवान् धुन्नु स्वर्गमें चला गया । चतुर्थ कण्डिभुगके आदिमें दिग्ग्वकशिपुके वर्तमान रहने समय धुन्नु इन्द्रसहित देवोंको जीवनकर स्वयं इन्द्र बन गया । उस समय धुन्नुका आश्रय लेकर बलवान् दैत्य दिग्ग्वकशिपु मन्दर पर्वतपर (स्वच्छन्दतासे) विचरण कर रहा था । दैत्यगण भी स्वच्छन्दतासे स्वर्गमें विचरण करने लगे । (इससे) सभी देवता दुःखी होकर ब्रह्मयोगमें आकर रहने लगे ॥ १२-१८ ॥

ततोऽमराणु ब्राह्मणदो निवासितः श्रुत्वाऽथ धुन्नुदितिजानुवाच ।
 ब्रजाम दैत्या वयमप्रजस्य सदो विजेतुं त्रिदशान् सशकान् ॥ १९ ॥
 ते धुन्नुवाक्यं तु निशम्य दैत्याः प्रोचुर्न नो विद्यति लोकपाल ।
 नतिर्यया याम पितामहाजिरं सुदुर्गमोऽयं परजो हि मार्गः ॥ २० ॥
 इतः सारथैर्वह्युयेजनाग्यैर्लोको महर्नाम महर्षिजुष्टः ।
 येषां हि तप्तयाऽर्पणचोदितेन दृश्यन्ति दैत्याः सहस्रेक्षितेन ॥ २१ ॥
 ततोऽपरो योजनकोटिना वै लोको जनो नाम वसन्ति यत्र ।
 गोमातारंऽस्मानु यितागकारि यासां रजोऽपीह महासुरेन्द्र ॥ २२ ॥
 ततोऽपरो योजनकोटिभिस्तु पटभिस्तपो नाम तपस्विजुष्टः ।
 तिष्ठन्ति यद्यासुर ग्राह्यवर्या येषां हि निश्वासमरुत् न्वसद्यः ॥ २३ ॥

तब देवताओंका ब्रह्मयोगमें रहना सुनकर धुन्नुने दैत्योंने कहा—दैत्यो ! इन्द्रसहित देवोंको जीतनेके लिये हमसे (उभ) ब्रह्मयोग चड़े । धुन्नुका तबका सुनकर उन दैत्योंने कहा—लोकपाल ! हमयोगोंमें वह गति नहीं है, जिससे ब्रह्मणः (ब्रह्म-) के लोकमें जा सकें । (ब्रह्मणः) मार्ग बहुत दूर एवं वीहड़ है । यहाँसे हजारों योजन दूर सुदुर्गमें सेना भरा नामका लोक है । उन ऋषियोंकी सहस्रा दृष्टि पड़ते ही समस्त दैत्य जल जाते हैं । उसमें भी अपने कोटि योजन दूर गोमातार नामक एक लोक है जहाँ गोमातार रहती हैं ! महासुरेन्द्र ! उनकी भूमि भी तप्तयोगका विषय कर सकती है । उसके बाद लः करोड़ योजनकी दूरीपर तपस्वियोंसे भरा तपः लोक है । तपुसुरा ! उसे भी तपः ग्राह्यवर्य रहते हैं । उनका निःश्वास-वायु अमर्त्याय है ॥ १९-२३ ॥

ततोऽपरो योजनकोटिभिस्तु त्रिगद्विराद्विग्नहस्रदीनिः ।
 सग्याभिवानो भगवत्प्रियागो वरप्रदोऽभूद् भानो हि योऽग्नौ ॥ २४ ॥

एषा पेटर्षानि धुन्वा विकसन्ति सुरादयः । संकोचमसुरा यान्ति ये च तेषां सधर्मिणः ॥ २५ ॥
 तन्नायका यं भगवतो नतिमया समदधः । यैगजभुवनं धुन्वो दुरागहं सदा नृभिः ॥ २६ ॥
 तेषां पणतमसुराधरं धुन्नुः प्रोवाण दानवान् । गन्तुकामः स सदनं ब्रह्मणो जेनुमोद्वगन् ॥ २७ ॥

उसके बाद तीन कोटि योजनकी दूरीपर तप्तयोग सुदुर्गमें ब्रह्मणः नामका लोक है । वह लोक कश्यप महासुराके तपः-कारण है जिससे देवताएँ चले कर दिया था । जिनकी वेदव्यति सुनकर देवता आदि विकसित हो उठी हैं वे तपः देवता हैं जो उनके सदान् योगमें भक्तविक्रम (मदान) ही जानते हैं । अतः महाबाहू धुन्वो ! आप

ऐसी बुद्धि न करें; क्योंकि ब्रह्मचरक मनुजों- (एव दैव्यैः) के लिये सर्वत्र अग्र्य है । उनकी बात सुनकर (भी) देवोंको जीतनेके लिये ब्रह्मचरक जानेकी इच्छाकाले धुन्धुने दानगोसे (किं) कहा— ॥ २४-२७ ॥

कथं तु कर्मणा केन गण्यते दानवर्षभाः । कथं तत्र सहस्राक्षः सङ्घातः सह दैवतैः ॥ २८ ॥
ते धुन्धुना दानवेन्द्राः पृथाः प्रोचुर्वचोऽधिपम् । कर्म तत्र वयं निद्राः शुकस्तद् वेत्यसंशयम् ॥ २९ ॥
दैव्यानां वचनं ध्रुव्या धुन्धुर्दैव्यपुरोहितम् । पमच्छ शुकं किं कर्म कृत्या ब्रह्मसदोमतिः ॥ ३० ॥
ततोऽस्मै कथयामास दैव्याचार्यः कलिप्रिय । शकस्य चरितं श्रीमान् पुरा वृषारिपोः किल ॥ ३१ ॥
शकः शतं तु पुण्यानां कनूतामयजत् पुरा । दैव्येन्द्र वाजिमेधानां तेन ब्रह्मसदो गतः ॥ ३२ ॥

दानवश्रेष्ठो ! वहाँ कैसे और किस कर्मसे जाया जा सकता है ? इन्द्र देवोंके साथ वहाँ कैसे पहुँचे ? धुन्धुके पूछनेपर उन श्रेष्ठ दानवोंने कहा—इमजोग उस कर्मको तो नहीं जानते, निरु शुकार्चय उसको नि संदेह जानते हैं । दैव्योंका वचन सुनकर धुन्धुने दैव्योंके पुरोहित शुकार्चयकीसे पूछा—(आर्चयकी !) किस कर्मसे करनेसे ब्रह्मचरकमें जाया जा सकता है ? (पुलम्पनी कहते हैं—) कलिप्रिय ! उससे बाद दैव्योंके गुरु श्रीमान् शुकार्चयने उससे वृषराजु इन्द्रका चरित कहा । उन्होंने कहा—दैव्येन्द्र ! पहले समयमें इन्दने सौ पवित्र अश्वमेज यज्ञ किये थे । इसीमें वे ब्रह्मचरक गये ॥ २८-३२ ॥

तद्वाक्यं दानवपतिः ध्रुव्या शुकस्य वीर्यवान् ।

पदं तुरगमेधानां चकार मतिमुत्तमाम् । अयामन्यासुरस्युदं दानवोऽक्षान्पुत्तमाम् ॥ ३३ ॥
शोषाथ यक्ष्येऽहं यक्षैरदयमेधैः सन्निधिणैः । तदानच्छन्मननीं गच्छामो वसुधाधिपान् ॥ ३४ ॥
विजित्य हयमेधानं वै यथाकाममुपाप्सितान् । आह्वयन्तां च निधयस्वामाह्वयन्तां च मुहुरकाः ॥ ३५ ॥
आमन्त्रयन्तां च ऋषयः प्रयामो देविकानटम् ।

सा हि पुण्या मरिच्छेष्टश मर्यामिद्विकरी शुभा । स्थानं प्राचीनमासाद्य वाजिमेधानं यजामहे ॥ ३६ ॥

शुकार्चयके उस वाक्यको सुनकर वरुणान् दानवपतिने अश्वमेज करनेकी उत्कट इच्छा की । उसके बाद दैव्योंके गुरुको और अच्छे दैव्योंको बुलाकर उसने कहा—मैं दक्षिणासक्ति अधमेज यज्ञका अनुष्ठान करूँगा । इसलिये आओ, हमजोग पृथ्वीपर चरें और राजाओंको जीतकर इच्छतुक्क सामग्री एवं विभिन्न पूर्ण अधमेजका अनुष्ठान करें । निरियोको धुन्धुओ एव मुझकोको आदेश दे दो और ऋषियोंको आमन्त्रित करो । हमजोग देविकके तटपर चरें । वरु पुनीन उत्तम नदी यन्त्याम्पतिनी तम मर्यामिद्विकरिणी है । उस प्राचीन स्थानपर पहुँचकर हम अधमेज यज्ञ करेंगे ॥ ३३-३६ ॥

इत्थं सुगरेवचनं निद्राम्यासुरप्राजकः । वाडमित्यव्रान्दष्टो निधयः संदिदेश सः ॥ ३७ ॥
ततो धुन्धुर्देविकायाः प्राचीने पापनादाने । भार्गवेन्द्रेण शुकं वाजिमेधाय दीक्षितः ॥ ३८ ॥
सदभ्या ऋत्विजश्चापि तत्रासन् भार्गवा द्विजाः । शुकस्यानुमते ब्रह्मज् शुकशिष्याश्च पण्डिताः ॥ ३९ ॥
यज्ञभागभुजस्तत्र स्वर्भानुप्रसुता मुने । कृताध्यासुरनाथेन शुकस्यानुमतेऽसुराः ॥ ४० ॥
ततः प्रवृत्तो यज्ञस्तु समुत्सृष्टस्तथा हयः । हयस्यानुययौ श्रीमानसिलोमा महासुरः ॥ ४१ ॥

देवोंके शत्रु धुन्धुके उस वचनको सुनकर देव्योंके यज्ञ करानेकाले शुकार्चयने शीक है—ऐसा कहा और प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने निरियोको आदेश दे दिया । उसके बाद भार्गवश्रेष्ठ शुकार्चयने पार्योंका यज्ञ करनेकाले देविकके प्राचीन तटपर अधमेज यज्ञके (अनुष्ठानके) लिये धुन्धुको दीक्षित किया । ब्रह्मन् ! शुकार्चयकी अनुमतिसे उनके शिष्य तथा भार्गव-गोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण उस यज्ञमें सदस्य एवं ऋचिक बने । मुने !

शुक्राचार्यकी अनुमतिसे देवदेवार्ति स्वर्गसु आदि अमुंगेकी (देवोंके व्यातपर) वरनामका रत्नक और मोका बनाया गया । उसके बाद वर अर्पण हुआ और (त्रिविक्रमचक्र) अर्पण छोड़ा गया । अन्तिमें नामका विग्रह देव्य वीरके पीछे (उम्की रत्नके पीछे) चला ॥ २७-२१ ॥

ततोऽग्निधूमन मही स्वर्ग्या व्याता दिशः स्रं विदिनाश्च पूजाः ।
 तेनोपगन्धेन दिवस्पृशेन मन्द्वेषां ब्रह्मलोकं महर्षे ॥ २२ ॥
 नं गन्धमाघाय मुग विपय्या जातन्त धुन्धुं ह्यमेधर्दाहितम् ।
 ततः शरण्यं शरणं जनार्दनं जग्मुः स्वशक्रा जगतः पगयणम् ॥ २३ ॥

प्रकाश्य चरत् त्वं पद्मनाभं जनार्दनम् । प्रोचुः सर्वे सुरगणा भयगद्गदया गिरा ॥ २४ ॥
 भगवान् देवदेवेन चगचरपगयण । विगतिः धृत्या विष्णो मुगणामार्तिनाशन ॥ २५ ॥

सर्वे : उसके बाद उसके धूमसे पदादिके साथ पृथ्वी, आकाश, दिशारू और त्रिविशारू भर गयीं । उसकेपछे देवे उस उम्के मुग-धूमसे धूमसे सिद्धी हुई वसु ब्रह्मलोकमें बढ़ने लगीं । उस गन्धको सूँवकर देवगण उरगसे भी गये । उसके बाद पता चल गया कि धुन्धुने अश्वमेधकी दीक्षा चढ़ा करी (और यज्ञानुष्ठान कर रहा) है । उसके बाद वे इन्द्रमूर्तिमें संसर्गके आश्रय और शरण देनेवाले भगवान् जनार्दनकी शरणमें गये । समस्त देवों नेपना करनेवाले भगवानी जनार्दन देवों प्रणाम कर सभी देवोंने भयसे विकट वाणीमें कहा—
 उम्के दृग्गणे दृग्गणेदेवो नमो चर और अचरके कल्याण करनेमें निश्च उद्यत रहनेवाले देवविदेव विष्णो !
 आप हमारा शिरोरत्न तुम्हें—॥ २२-२५ ॥

धुन्धुर्नामासुरपतिर्दयवान् वगर्द्धितः । सर्वान् सुरगान् विनिर्जित्य त्रैलोक्यमहरद् बलिः ॥ २६ ॥
 प्रुतं पिनाशिनो देवान् शानाऽज्ञान न यतो हरे । अतो विबुद्धिमगमद् यथा व्याधिर्गोपितः ॥ २७ ॥
 साग्नयं ब्रह्मलोकस्थानपि जेतुं समुद्यतः । शुक्रस्य मतमाध्याय सोऽड्वयमेधाय दीक्षितः ॥ २८ ॥
 शानं प्रचुनामिद्राऽसौ ब्रह्मलोकं महासुरः । आगेदुमिच्छति यज्ञो विजेतुं विदगानपि ॥ २९ ॥
 तस्मादशालार्तिं नु चिन्तयस्व जगद्गणे । उपायं मयविध्वंसे येन स्याम मुनिर्बुताः ॥ ५० ॥

पुरा नामका प्रकृत देवार्ति संकल्पे वर प्राप्त कर लेनेके कारण बह गया है । उस बखानने में सभी देवोंकी शक्ति अर्पण । उसमें (विष्णोकी (के अर्पण) को छोड़ दिया है । हे ! विनाश कारण करनेवाले संकल्पके सिवा हम देवगण मेंसे कस्य भी देवोंके वर अमुग उपेक्षित नोगयी तरह (बहुत) बह गया है । उस समय बह ब्रह्मलोकमें गया । वहाँ पर रहनेवाली ब्रह्मलोककी (शक्ति) जीनेके लिये तैयार होकर शुक्राचार्यके मतके अनुसार अश्वमेध-धूमसे दीक्षा ले रहा है । वह देव (वसु) में अश्वमेधका कार्य देवताओंपर विजय पानेके लिये ब्रह्मलोकमें जा रहा (शरण) करता है । हमसे कह रहे ! अब उम्के वरको विजय करनेका उपाय बिना समय बिनाये हमारा शिरोरत्न तुम्हें शरणके लियेकार ही करें ॥ २६-५० ॥

धुन्धुः सुरगणां यचनं भगवान् मधुसूदनः ।
 कथाश्रवणं श्रुत्वाः प्रवशामास साग्नयतम् । विबुध्य देवताः सर्वे शान्वाऽज्ञेयं महासुरम् ॥ ५१ ॥
 यत्प्रकृतं सति चजे धुन्धुर्धर्मव्यजस्य वै । ततः कृत्वा स भगवान् यामर्तं सपमांश्वरः ॥ ५२ ॥
 देवैः शरणं न गिरात्तस्यं तापृथग् देविशक्तैः । शानान्तरत्नं सन्ध्यां सन्ध्यां मुक्तपेजो यदचक्षया ॥ ५३ ॥
 शरणं देवार्तिना देविशक्तैः शरणं । ततः कर्म परिगन्तव्यं यदियं ब्राह्मणोत्तमाः ॥ ५४ ॥

समुत्तारयितुं विप्रमादवन्त समामुलाः । सदस्या यजमानश्च ऋत्विजोऽथ प्रहोतसः ॥ ५५ ॥
 निमज्जमानमुज्जहूः सर्वे ते धामनं द्विजम् ।
 समुत्तार्य प्रसघ्रास्ते प्रमच्छुः सर्गं एव हि । किमर्थं पतिनोऽर्थाह केनाशिनोऽसि नो वद ॥ ५६ ॥
 सभी देवताओंको अमरदान देकर उन महाबाहूने उन देवताओंको लौटा दिया और उस महान् धर्मचञ्ची (धर्मके नामपर पावण्ड रचनेवाला) दैत्य धुन्धुको अथेय समझकर उन्होंने (श्रीहरिने) उसे बौनेकर विचार किया । उसके बाद भगवान् विष्णुने बीनाका रूप धर लिया और देविना नदीके जत्रमे (जानी) देहको लकड़ीकी तरह निराकम्ब छोड़ दिया । खुबे हुए केदोंवाले वे क्षमनाजमें अपने-आप इवने-उतारने लगे । उसके बाद दैत्यपतिने तथा अन्य दैत्यों एवं ऋत्विगोंने उन्हें देखा । उसके बाद व्याकुल होकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञके सभी काम छोड़कर उस ब्राह्मणको निकालनेके लिये दौड़े । सभी सदस्य, यजमान एवं अति तेजस्वी ऋत्विगोंने इचते हुए बीनाके आकारवाले मादगवत्रे (नदीके जत्रमे बाहर) निकाला और उससे पूरा—हमें यह बक्याओ कि तुम यहाँ क्यों गिरे अथवा तुम्हें किसने फेंका ? ॥ ५१-५६ ॥

तेषामाकर्ष्यं वचनं कम्पमानो मुहुसुहूः । प्राह धुन्धुपुरोगोस्ताम्यभूनामथ कारणम् ॥ ५७ ॥
 ब्राह्मणो गुणवातासौत् प्रभास इति विधुनः । सर्वदाह्वार्यवित् प्रामो गोत्रतद्वचपि वारुणः ॥ ५८ ॥
 तस्य पुत्रद्वयं जानं मन्दप्रभं सुदुःखितम् । तत्र ज्येष्ठो मम भ्राता कर्नायानपरस्त्वहम् ॥ ५९ ॥
 नेत्रभास इति ख्यातो ज्येष्ठो भ्राता ममासुर । मम नाम पिता चक्रे गतिभासेति कौतुकात् ॥ ६० ॥

उसने उनके वचनको सुनकर बार-बार कौंपते हुए धुन्धु आदिसे कहा—आपलोग इसका कारण सुनें । वरुण-गोत्रमें उत्पन्न प्रभास नामके एक ब्राह्मण थे । वे सभी शास्त्रोंके तार्थ्यको जाननेवाले और बुद्धिमान् थे । उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए । वे दोनों ही अत्यबुद्धि और अल्प बुद्धिवाले थे । उनमें मेरा भाई बड़ा और मैं छोटा हूँ । अथे दैत्य ! मेरा बड़ा भाई 'नेत्रभाम' नामसे प्रसिद्ध है । मेरे पिताने कुहिलवरा मेरा नाम 'गतिभास' रख दिया ॥ ५७-६० ॥

रम्यश्चावसयो धुन्धो शुभश्चासौत् पितुर्मम । त्रिविष्टपगुणैर्गुरुश्चारुरूपो महासुर ॥ ६१ ॥
 ततः कालेन महता साययोः स पिता मृतः । तस्योर्ध्वदेहिकं कृत्वा गृहमावां समागमौ ॥ ६२ ॥
 ततो मयैकः स भ्राता विभज्जाम गृहं ययम् । तेनोक्तो नैव भवतो विमते भाग इत्यहम् ॥ ६३ ॥
 कुञ्जयामनखज्जानां क्लीयानां त्रिविष्टपामपि । उन्मत्तानां तथाऽजानां धनभागो न विद्यते ॥ ६४ ॥
 शय्यासनस्थानमायं स्थेच्छयाभ्रभुजक्रिया । पत्न्याश्च दौष्यते तेष्यो नार्यभागहरा हि ते ॥ ६५ ॥

महासुर धुन्धो ! मेरे पिताका निवास-स्थान सुन्दर, आनन्ददायक, सर्वांग गुणोंसे युक्त एवं मनोहर था । उसके बाद बहुत दिनोंके पश्चात् हम दोनोंके पिता मर्ग चले गये । उनकी दाह-संस्कारादि—श्राद्धक्रिया करके हम दोनों भाई घर आ गये । उसके बाद मैंने (अपने उन) बड़े भाईसे कहा—हम दोनों आपसमें घरका बँटवारा कर लें । उसने मुझसे कहा—तुम्हारा हिस्सा नहीं है; क्योंकि कुबड़े, बीने, लेंगडे, डिजडे, चरकाले, पाण्ड और अर्थोंका धनमें हिस्सा नहीं होता है । उन्हें कान्त संतान भरका स्थान तथा अपनी इच्छाके अनुसार अन्नभोगका अधिकार दिया जाता है । वे सत्पतिके भागी—अधिकारी नहीं होते ॥ ६१-६५ ॥

पपमुक्ते मया सौक्तः किमर्थं पैतृकाद् गृहात् । धनार्कभागमर्हामि नाहं न्यायेन केन वै ॥ ६६ ॥
 इत्युक्तवति वाक्येऽसौ भ्राता मे कोपसंयुतः । समुत्क्षिप्याद्विप्रघामस्यो मामिति कारणात् ॥ ६७ ॥

शुक्राचार्यकी अनुमतिसे द्रव्यव्यापीने स्वर्मानु आदि असुरोंको (देवोंके स्थानपर) यहनागका रक्षक और भोक्ता बनाया गया । उसके बाद वह आत्मन दृष्टि और (द्विविजय-मन्त्रक) अध छोड़ा गया । अस्त्रिचोमा नामका विराट् द्रव्य मोड़के पीछे (उमकी रक्षाके लिये) चला ॥ ३७-४१ ॥

ततोऽग्निधूमन महीं सजौन्दा व्याता दिशः त्वं विदिशश्च पूर्णाः ।
नेनोप्रगन्धेन दिवस्पृष्टेन मरुद्भ्यां ब्रह्मलोके महर्षे ॥ ४२ ॥
तं गन्धमात्राय सुग विषण्णा जानन्त धुन्धुं हयमेधर्दाक्षितम् ।
ततः शरण्यं शरणं जनार्दनं जग्मुः सशक्रा जगतः परायणम् ॥ ४३ ॥

प्रणम्य वग्दं देवं पशनाभं जनार्दनम् । प्रोचुः सर्वे सुरगणा भयगद्गदया शिरा ॥ ४४ ॥
भगवन् देवदेवेन चराचरपरायण । विदमिः श्रूयतां विष्णो सुरगणामार्तिनाशन ॥ ४५ ॥

महर्षे ! उसके बाद उसके धूमसे पहाड़ोंके साथ पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ भर गयीं । आकाशमें फैले उस उमके सुगन्धवाले धूमसे मिठी हुई वायु ब्रह्मलोकमें बहने लगी । उस गन्धको सूँघकर वेदना उदास हो गये । उनके वद पता चल गया कि धुन्धुने अधमेधकी दीक्षा ग्रहण की (और यज्ञानुष्ठान कर रहा) है । उसके बाद वे अस्त्रसहित मन्त्राके आश्रय और शरण देनेवाले भगवान् जनार्दनकी शरणमें गये । काम्यशास्त्रों धारण करनेवाले धरदानी जनार्दन देवको प्रणाम कर सभी देवोंने भयसे विकल वाणीमें कहा—
देवोंके दृग्गणों पर काम्यवाले तथा चर और अचरके कल्याण करनेमें तिन्य उद्यत रहनेवाले देवाधिदेव विष्णो ! उब हमारा शिवंदन सुने— ॥ ४२-४५ ॥

धुग्धुर्नामासुरपतिर्यत्कवान् चर्तुं हितः । सर्वान् सुरान् विनिर्जित्य त्रैलोक्यमहरद् बलिः ॥ ४६ ॥
श्रुत्वा पिनाकिनां वयान् प्राताऽस्मान् न यतो हरे । अतो विवृद्धिमगमद् यथा व्याधिक्रमेक्षितः ॥ ४७ ॥
मान्मनं ब्रह्मलोकस्थानपि जेतुं समुद्यतः । शुक्रस्य मनमास्थाय सोऽश्वमेधाय दीक्षितः ॥ ४८ ॥
शतं कव्चनामिन्द्राऽसौ ब्रह्मलोकं महासुरः । आराहुमिच्छति वक्षी विजेतुं त्रिदशानपि ॥ ४९ ॥
तस्मादकाल्यार्तं तु चिन्तयन्व जगद्गुरो । उपायं मत्वधिध्वंसे येन म्याम सुनिर्वृताः ॥ ५० ॥

पहले नामका अश्वमेध द्रव्यपति शंकरसे वर प्राप्त कर लेनेके कारण बह गया है । उस बलवान्ने सभी देवोंको पराजित कर (उमसे) विजेती- (के अधिकार-) को छोड़ दिया है । हरे ! पिनाक धारण करनेवाले शंकरके सिवा हम विजेत की रक्षा न होनेसे वह असुर उपेक्षित शंकरों तरह (बहने) बह गया है । उस समय वह ब्रह्मलोकमें उद्यत होकर सोऽश्वमेध की धरदानीको (शिर) जीतनेके लिये तैयार होकर शुक्राचार्यके मतके अनुसार अश्वमेध-धरदानी दीक्षित हो गया है । वह द्रव्य (धुन्धु) में अधमेधका काम्य देवताओंपर विजय पानेके लिये ब्रह्मलोकमें उद्यत होकर आ रहा है । हमारे जगद्गुरो ! अब उमके गतको विध्वंस करनेका उपाय बिना समय बिनाये हमारे लिये, तिमसे कल्याण विधिबल हो सके ॥ ४६-५० ॥

धुन्धुः सुरगणां च चरन् भगवान् मधुसूदनः ।
शतमाभं महाशतः प्रेरयामास मान्प्रतम । विसृज्य देवताः सर्वां शान्त्वाऽज्यं महासुरम् ॥ ५१ ॥
पशनाभं प्रति चक्रे धुन्धुर्धर्मव्रतस्य वै । ततः कृत्वा स भगवान् वामनं रूपमीश्वरः ॥ ५२ ॥
देवं गतवाप निरात्मनं काष्ठवद् देविकाजले । शान्त्वाऽज्यं शान्त्वाऽज्यं मुक्तयेजो यदच्छया ॥ ५३ ॥
शतैः शतैः शतैः शतैः शतैः शतैः शतैः । ततः कर्म परित्यज्य यतिर्यं ब्राह्मणोत्तमाः ॥ ५४ ॥

वामनस्य ताम्रयेक्ष्य दत्तं महासुरेण्ड्रेण विभुयंशम्बी ।
 चक्रे ततो लङ्घयितुं त्रिलोकीं त्रिविक्रमं रूपमनन्वशक्तिः ॥ ८२ ॥
 कृत्या च रूपं त्रितिजांशं हत्वा प्रणम्य चर्यान् प्रथममनेण ।
 महौ महौधैः सहितां सहार्णवां जहार रत्नाकरपत्तनैर्युताम् ॥ ८३ ॥

उन (त्रिप्र वामन) महामाके ऐसा उचन बहनेपर, त्रप्र उन्होंने और कुछ वक्षणनही किया तत्र ऋषिजोसहित दानमनिने हंसकर उन द्विनेन्द्रको तीन पग (भूमि) प्रदान कर दी । महान् शमुन्द्रेणाग तीन पग भूमि प्रदान की हुई देवकर अन्त इतिहासे यशस्वी एव त्रिभु वामन भगवान्ने तीनों गेरोसे नार लेनेके लिये त्रिविक्रम (विहाट्) रूप ग्रहण कर लिया । (विहाट्) रूप पर लेने पर उन्होंने दैत्योंका पर कर ऋषियोंको प्रणाम किया और प्रथम पादन्वयने ही पर्यन्त, माग, रत्नोक्त ग्यान एव नगरोसे युक्त प्रथमसे नारपर ले लिया ॥ ८१-८३ ॥

भुवं मनाकं विदग्धाधियासं मोमाकंश्रक्षरभिमण्डिनं नभः ।
 देवो द्वितोयेन जहार वेगात् क्रमेण देवत्रियमोसुरीश्वरः ॥ ८४ ॥
 कर्म कृत्यां न यदाऽस्य पूरितं तदाऽतिकोपाद् दनुपुङ्गवम् ।
 पपात पृष्ठे भगवांग्रिविक्रमो मेरुयमाणेन तु त्रिप्रहेण ॥ ८५ ॥
 पतता वासुदेयेन दानयोपरि नारद् । त्रिगद्योजनमाह्वयो भूमेर्गतौ हर्दारुना ॥ ८६ ॥

देवताओंका द्विय करनेकी इच्छागले भगवान् वामनदेवने द्वितीय पगसे तुरत ही दनाशंके निग्राम—वर्षक माथ ही भुवनेक, चन्द्र, सूर्य एव नक्षत्रोंसे मण्डित आकाशको भी ग्रहण कर लिया । उनका कृत्याप पादरुत त्रप्र पूरा नहीं हुआ तो अत्यन्त क्रोधसे भगवान् त्रिविक्रम मेरुके समान शरीरसे दानमश्रुती पीडित गिर पड़े । नारदजी ! वासुदेवके दानपके ऊपर गिरनेसे भूमिमें हजार योजनका सुदृढ़ गड्ढा बन गया ॥ ८४-८६ ॥

ततो दैत्ये समुत्पाद्य तस्यां प्रक्षिप्य वेगत । अर्षन् सिक्तामुद्रया ना गर्तामपूरयत् ॥ ८७ ॥
 ततः स्वर्गं सहस्रांशो वासुदेयप्रमादतः । सुराश्च सर्वे शैलोन्यमवापुर्निरुषट्ठया ॥ ८८ ॥
 भगवानपि दैत्येन्द्रं प्रक्षिप्य सिक्तागर्धे । कालिन्ग्या रूपमाधाय तत्रैवान्तराधीयत् ॥ ८९ ॥
 परं पुरा विष्णुत्पृथ्वा वामनो धुन्धुं विजेतुं च त्रिविक्रमोऽभूत् ।
 यस्मिन् स दैत्येन्द्रसुतो जगाम महायमं पुण्ययुतो महर्षे ॥ ९० ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टमस्तितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

उसका बाद उन्होंने दैत्यको उदारपर जोरसे उममें फेंक दिया और त्रिप्रकी प्रसामसे उन गड्ढेको भर दिया । उमके बाद त्रिप्रदेवकी कृपासे इन्द्रने स्वर्ग पा लिया और उपद्रवसे गत सन्ध्या देवको त्रिगेरोकी प्राप्ति हो गयी । माण्डवी भी अपना स्वर्ग परलकर वहीं अन्तर्हित हो गयी । प्राचीन राज्यमें इस प्रकार धुन्धुको जीतने के लिये विष्णु भगवान् वामन त्रप्र (उमक बाद) त्रिविक्रम गये । महर्षि नारदजी ! वह पुण्यात्मा दैत्येन्द्रपुत्र प्रह्लाद (तीर्थयात्राक प्रसङ्गमें) उमों आश्रममें गया ॥ ८७-९० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

सुभाग कल्पम ही । मुझे यह वनवाओ कि पशु एवं पक्षियों गृहित इस बड़े जंगलमें तुम कैसे आये ? (वृक्षपत्री कल्पे र्हे) — प्रभु ! वेनगजके इन प्रकार वृक्षनेत्र वगिकने थोड़में उसे अपने देशका एवं धन-नाशका दूग विराम कर सुनाए । उसका पूरा वृत्तान्त सुन लेनेके बाद उसके दुःखसे दुःखी होकर प्रेतापत्नने अपने शय्यके समान (उसे मानते हुए) उस वगिक-पुत्रके कटा—सुभ्रत ! ऐसा होनेपर भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । यदि सुभाग भाग्य प्रकृत होगा तो धन फिर हो जायगा ॥ २४-२७ ॥

भाग्यक्षयः श्रायन्ते भयन्त्यभ्युदये पुनः । श्राणभ्याम्य शरीरम्य चिन्तया नोदयो भवेत् ॥ २८ ॥
 इत्युच्चार्य समाह्वयं स्यात् भूयान् वाचयमवर्धत् । अद्यातिथिर्यं पूज्यः सदैव स्वजनो मम ॥ २९ ॥
 अस्मिन् दृष्टे वणिक्पुत्रे तथा स्वजनदर्शनम् । अस्मिन् समागते प्रेताः प्रीतिर्जाता ममातुल्या ॥ ३० ॥
 एवं हि गदतमनस्य सृष्ट्वात्रं मुदृष्टं तवम् । दध्योदननेन सम्पूर्णमाजगाम यथेप्सितम् ॥ ३१ ॥
 तथा तथा च मुदृष्टा सम्पूर्णा परमात्मना । वारिधानी च सम्प्राप्ता प्रेतानामग्रतः स्थिता ॥ ३२ ॥

(३०.) भाग्यके क्षय होनेपर धनका क्षय हो जाता है और फिर भाग्योदय हो जानेपर पुनः धन प्राप्त हो जामे है । चिन्ताने शीघ्र शरीरका उद्वेग (वृद्धि) नहीं होता । ऐसा कहकर उसने अपने सेवकोंको बुलाया और उनसे कहा—मेरे अपने जनके समान इस अतिथिका तब प्रकारसे राक्षार करो । प्रेतो ! स्वजन-दर्शनके समान ही मुझे इस वगिक-पुत्रका दर्शन हुआ है । इसके मिलनेसे मुझे अत्यधिक प्रीति प्राप्त हुई है । उसने ऐसा करनेपर दृष्टात्म (भोजन-योग्य) दही और गात दिया और तब उन प्रेतोंको दिया । मभीके (३१.) भाग्य प्रकृत निर्दिष्ट शीघ्र जयमें भग एक पानीका पात्र भी उन प्रेतोंके सामने उपस्थित हो गया ॥ २८-३२ ॥

समागतं समाल्लसन्नं वीक्ष्य महामतिः । प्राहोत्तिष्ठ वणिक्पुत्र त्वमाह्निकमुपाचर ॥ ३३ ॥
 तवस्तु वारिधान्यान्तो मलिनं विधानतः । कृत्वाद्रिकाबुभौ जातो वणिक् प्रेतपतिस्तथा ॥ ३४ ॥
 ततो वणिक्पुत्रायाद्यां दध्योदनमथेच्छया । दद्यात्तन्मथ सर्वेभ्यः प्रेतैभ्यो व्यददान् ततः ॥ ३५ ॥
 भुक्तयस्तु च सर्वेषु कामतोऽम्भसि सेविते । अतन्तरं च बुभुजे प्रेतपाल्यो वरागणम् ॥ ३६ ॥

उस पर उस प्रकृत प्रस्तुत हुए देखकर महामति प्रेतने कहा—वगिक-पुत्र ! तुम उठो एवं दैनिक उपचार करो । उसके बाद वगिक एवं प्रेतपति—दोनोंने बड़ेके जलमें विधिपूर्वक नित्य-क्रिया सम्पन्न की । उसके बाद (३५.) उसके वगिक-पुत्रको पयसि दही और गात दिया और तब उन प्रेतोंको दिया । मभीके (३६.) भाग्य प्रकृत निर्दिष्ट शीघ्र जयमें भग प्रेतपाल्यो वरागणम् ॥ ३३-३६ ॥

प्रसन्नचित्तं प्रेतं च वारिधान्योदत्तं तथा । अन्तर्धानमगाद् व्रजन् वणिक्पुत्रस्य पश्यतः ॥ ३७ ॥
 स्यात्तद्वदवामं दृष्ट्वा स मतिमान् वणिक् । अपच्छ तं प्रेतपालं कौतूहलमत्ता वशो ॥ ३८ ॥
 अथके निर्दिष्टे स्यात् कृतोऽहम्य समुद्वेगः । कृतश्च वारिधानीयं सम्पूर्णा परमात्मना ॥ ३९ ॥
 कथामि तव मे भूयान्दराजन्तं वर्णतः शशाः । भवानपि च तेजस्वी किञ्चिदुष्टवपुः शुभः ॥ ४० ॥
 सुवचनमपरोधानो वर्णनां परिपालकः । सर्वमेतन्ममाचक्ष्व को भवान् का जमी वियम् ॥ ४१ ॥

(३७.) प्रेतने के चिन्तने के विषयमें प्रभु ! प्रेतने मभीके वृत्त हो जानेपर वगिकपुत्रके देखने-ही-देखने के लिये प्रेतने वनमें शीघ्र ही गये । तब उस प्रकृत की आश्चर्यजनक दृश्यको देखकर उस बुद्धिमान् मभीके (३८.) सुवचनपूर्वक उस प्रेतको पूछा—सन्तो ! इस निर्दिष्ट धनमें अन्त एवं उत्तम जलमें भग बड़ा प्रसन्नचित्त है । (३९.) प्रकृत निर्दिष्ट शीघ्र जयमें भग प्रेतपाल्यो वरागणम् ॥ ३७-४० ॥

सुन्दर, तेजसे सम्पन्न और शुद्धवस्त्रधारी (हमारे-जैसे) बहुतांसी परिरक्षा करनेवाले आप भी कौन हैं ? आप मुझे यह सम्पूर्ण विवरण बतायें कि आप कौन हैं एवं यह सभी वृद्ध कौन हैं ? ॥ ३७-४१ ॥

इत्थं घणिकस्तुतवचः श्रुत्वाऽसौ प्रेतनायकः । शशंन सर्वमभ्यापं यथावृत्तं पुरातनम् ॥ ४२ ॥
 अहमासं पुरा विमः गाहले नगद्यत्तमे । सोमशर्मते विषयान् यदुन्नागनेमभवः ॥ ४३ ॥
 ममास्ति च घणिक श्रामान् प्रातिवेदयो महाजनः । स तु सोमश्रवा नाम विष्णुभक्तो महायशः ॥ ४४ ॥
 सोऽहं कदर्यो भूदोन्मा धनेऽपि मति दुर्मतिः । न द्दामि द्विजातिभ्यो न चादनाम्यन्नमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

वगिनपुत्रके ऐसे वचनको सुनकर उस प्रेतनायकने उससे सारे पुराने घृतात्मको कहा । (उम्हने कहा—) प्राचीन कालमें उत्तम शाहले नामके श्रेष्ठ नगरमें बहुलांक गर्भमे उत्पन्न हुआ मैं सोमशर्मा—इस नामसे प्रसिद्ध ब्राह्मण था । मेरा एक पड़ोसी वृद्ध धनवान्, लक्ष्मीवान् वगिन् था, जिसका नाम था सोमश्रक । वह महान् यशसी और विष्णुका भक्त था । मैं कृपण एवं दुर्मति था । अतः धन होते हुए भी न तो ब्राह्मणोंको दान करता था और न अच्छे अन्नका भोजन ही करता था ॥ ४२-४५ ॥

प्रमादाद् यदि भुञ्जामि दधिशरीरघृतान्विनम् । ततो रात्रौ नृभिर्वाँस्ताह्वये मम विग्रहः ॥ ४६ ॥
 प्रातर्भवति मे घोरा मृग्युनुल्या विपूषिका । न च कश्चिन्ममाभ्यासे तत्र तिष्ठति वाग्वरः ॥ ४७ ॥
 कथं कथमपि प्राणा मया म्रमति धारिताः । एवमेतादृशः पापो निवसाम्यतिनिर्गुणः ॥ ४८ ॥
 सौवीरतिलपिण्यारुण्यन्ननाकादिभोजनैः । क्षपयामि कद्वाद्यैरान्मानं कालयारवैः ॥ ४९ ॥

यदि मैं कर्मा भूयसे दही, दूध एवं घीसे युक्त पदार्थ भोजन कर लेता था तो रात्रिमें भयङ्कर मनुष्य मेरे शरीरको पीड़ित करते थे । प्रातःकाल मुझे मरगके सनान (कप देनेवाली) भयङ्कर विपूषिका (हैजा) हो जाता करता थी । उस समय मेरे पाम कोई भी वस्तु नहीं रहता था । मैं क्रिमी-क्रिमी प्रकार अनेक प्राणियोंको धारण करता था । इस प्रकार मैं अति निर्लज्ज पात्रयुक्त जीवन बिताता रहा । वेर, लिङ्गिण्याक, सधू, शाकदि एवं बुरे अन्नो—(मोटे अन्न—) कोश, सावा आदिको भ्याकर सनप चिताने हुए मैं स्वयंको दुर्बल कर रहा था ॥ ४६-४९ ॥

एवं तत्रासतो मह्यं महान् कालोऽन्ययादृश । धवणद्वादरी नाम मास्ति भाद्रपदेऽभवत् ॥ ५० ॥
 ततो नागरिको लोकं गतः स्नातुं हि सङ्गमम् । इरावत्या नड्यलायः ब्रह्मशत्रुपुरस्सरः ॥ ५१ ॥
 प्रातिवेदयप्रसङ्गेन तत्राप्यनुगतोऽस्म्यहम् । श्रुतोपवासः शुचिमानेकादृश्यां यत्नतः ॥ ५२ ॥
 ततः सङ्गमतोयेन चारिधानी दृढां नयाम् । सम्पूर्णां वस्तुसंबन्धां उग्रोपानहसंयुताम् ॥ ५३ ॥
 मृग्यावमपि मिष्टस्य पूर्णं दध्योदनम्य ह । पदसं ब्राह्मणेन्द्राय शुचये शान्धर्मिणे ॥ ५४ ॥

मुझे वहाँ इस टांगसे रहते हुए बहुत समय बीत गया । (एक बार) भाद्रपदमासमें श्रवणद्वारदरी की निधि आयी । तब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक लोग इरावती और नडक्या नदियोंके संगममें स्नान करनेके उद्ये गये । पड़ोसी होनेके कारण मैं भी उनका पीठेपीठे चला गया । एकादशीक दिन मैंने ब्राह्मण पवित्रतासे उपवास किया । उसके बाद मैंने अनेक वस्तुओं—ठाना, नूना और साव ही महङ्कर जलसे भरा नवीन दृढ जरात्र एवं मित्राज, दधि तथा ओदनसे पूर्ण विद्वीका पात्र ज्ञानी, शर्मिक, पवित्र, श्रेष्ठ ब्राह्मणको प्रदान किया ॥ ५०-५४ ॥

तदेव जीवतो दत्तं मया दानं घणिकस्तुत । ययोणां सप्ततीतां वै नाम्यद् दत्तं हि किञ्चन ॥ ५५ ॥
 मृतः प्रेतत्वमापन्नो दद्या प्रेतात्ममेव हि । अर्धं चादत्तानास्तु मदनोपार्जयिन् ॥ ५६ ॥
 एतत्ते कारणं प्रोक्तं यत्तद्वत्तं मयाभवत् । दत्तं तदिदमापाति मयादेऽपि दिने नि ॥ ५७ ॥
 यावदाहं च भुञ्जामि न तावत् क्षयमेति वै । अपि भुङ्क्ते च पाने च सर्वमन्तर्दिनं भवेत् ॥ ५८ ॥

[अथाशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

पुरग्या छिजश्रेष्ठ तथा देवं श्रियः पतिम् । नक्षत्रपुराणस्येन आराधयत तद् वद ॥ १ ॥

अस्सीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(नक्षत्र-पुरुषों, वर्गों-प्रदानमें नक्षत्र-पुरुषोंकी पूजाका विधान और नक्षत्र-पुरुषोंके व्रतका माहात्म्य)

नामदत्तं पृच्छा—छिजश्रेष्ठ ! पुराणने नक्षत्रपुराण नामक व्रतके द्वारा लक्ष्मीपति वासुदेवकी जिस विधिसे आराधना की थी, उस विधिसे ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

भयतां कथयिष्यामि नक्षत्रपुराणव्रतम् । नक्षत्राङ्गानि देवस्य यानि यानीह नारद ॥ २ ॥
मूलार्धं चरणां रोहिणीर्जुहोते रोहिणी स्मृते । हे जानुनी तथाश्विन्यौ संस्थिते रूपधारिणः ॥ ३ ॥
प्रासादं हे इयं चोर्वोर्मुपास्थं फाल्गुनीद्वयम् । कटिस्थाः कृत्तिकाश्चैव वासुदेवस्य संस्थिताः ॥ ४ ॥
पौष्टपदाद्वयं पादौ कुक्षिभ्यां रेवती स्थिता । उरःसंस्था त्वनुराधा श्रविष्ठा पृष्ठसंस्थिता ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! मैं नक्षत्रपुराण-व्रत एवं देवोंके सभी नक्षत्ररूपी अङ्गोंका वर्णन करता हूँ; नारद मुझे । मूल-नक्षत्र भगवान् विष्णुके दोनो चरणों, रोहिणी नक्षत्र दोनो जंघाओं एवं अश्विनी नक्षत्र दोनो कूटोंका नाम धारण करने स्थित है । पूर्वभागा और उत्तरभागा नामके दो नक्षत्र वासुदेवके दोनो ऊरुओंमें, पूर्वभागाकी तथा उत्तरभागाकी नामके दोनो नक्षत्र गुण प्रदेशमें और कृत्तिका नक्षत्र कटि भागमें स्थित है । पूर्वभागा तथा उत्तरभागापदा भगवान्के दोनो पादोंमें, रेवती दोनो कुक्षियोंमें, अनुराधा हृदयमें तथा धनिष्ठा नक्षत्र पृष्ठभागमें स्थित है ॥ २-५ ॥

विभागा भुजयोरर्धन्तः कर्कश्यसुदाहृतम् । पुनर्वसुरथाद्दुत्यो नखाः सार्पं तथोच्यते ॥ ६ ॥
श्रीशश्विता तथा ज्येष्ठा ध्रुवणं कर्णयोः स्थितम् । सुखसंस्तथा पुष्यः स्वातिर्दन्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥
रज्जुं ते पादपदोक्तो नामा पैत्र उदाहृतः । मृगशीर्षं नयनयो रूपधारिणि तिष्ठति ॥ ८ ॥
निषा चैव ललाटे तु भरणी तु तथा शिरः । शिरोरुहस्या चैवार्द्रा नक्षत्राङ्गमिदं हरेः ॥ ९ ॥

दोनों भुजाओंके अर्धमें विभाग नक्षत्र है । हस्त नक्षत्रको भगवान्के दोनो हाथ कहा गया है । पुनर्वसु, रज्जु, शीशु, मृगशीर्ष, सुखसंस्तथा, पुष्य और ज्येष्ठा नक्षत्र उनके नाव हैं । श्रीशामे ज्येष्ठा, दोनो कानोंमें श्रवण तथा भरणी ध्रुव नक्षत्र स्थित है । शिरोरुह नामके दोनो नक्षत्र कला मन्त्र है । शतभिषा नक्षत्र दोनो हनुओं तथा मघाको शिरोरुह कहा गया है । ललाटे नामके दोनो नक्षत्रोंके नाम धारण करनेवाले भगवान्के दोनो नेत्रोंमें मृगशीरा नक्षत्रका निवास है । निषा नामके दोनो नक्षत्रोंके नाम धारण करनेवाले भगवान्के दोनो कर्णोंमें स्थित है । भगवान् विष्णुका यह नक्षत्र-शीर्षक नाम है ॥ ६-९ ॥

शिरसो मन्त्रवर्णनं कथयन्नेन नारद । समुत्तितो हरिः कामान् चिदधत्ति यथेप्सितान् ॥१०॥
शिरसां शिवाष्टम्यां यदा मूलगतः प्रसी ।
तदा तु भगवतः पूजयेत् तु शिवाजितः । नक्षत्रमन्त्रिणा दद्याद् विष्णुद्वय च भोजनम् ॥ ११ ॥
नक्षत्रं शश्वितोऽपि पूजयेत् भगवतः । देहदे च एवियान्तं पूजयेद् छिजभोजनम् ॥ १२ ॥
भगवतः शिरसोऽपि पूजयेत् कृपः । सन्निहं शिरसं तत्र देहदे च प्रकीर्तितम् ॥ १३ ॥

मारदजी ! अब मैं उस वनके विगनस वर्णन करूँगा, जिस वनसे नियन्पूर्वक आरामित होनेपर भगवान् विष्णु इच्छित फल प्रदान करते हैं । चैत्र मासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिमें चन्द्रमाके दृष्ट नक्षत्रमें स्निग्ध होनेपर भगवान्के दोनों पैरोंकी त्रिभिर्पूर्वक पूजा करनी चाहिये । नक्षत्रकी सन्निधिमें भाद्रपक्षमें भोजन कराना चाहिये । अधिनी नक्षत्रके योगमें श्राद्धपूर्वक भगवान्के दोनों घुटनोंकी अर्चना करनी चाहिये एवं दोहदमें (यात्रा-दौरकी शान्तिके लिये लाये-रिये जानेवाले निश्चित पदार्थमें) हविष्यान्न समर्पित करना एवं पूर्वपक्ष भाद्रपक्षमें भोजन कराना चाहिये । विद्वान् मनुष्य पूर्वाशुभ तथा उत्तराशुभके योगमें विष्णुके दोनों ऊरुओंकी पूजा करे । (इसमें देव) दोहदमें शीतल जलका विधान है ॥ १०-१३ ॥

फाल्गुनीद्वितये गुह्यं पूजनीयं विचक्षणैः । दोहदे च पयो गव्यं देयं च द्विजभोजनम् ॥ १४ ॥
 कृत्तिकास्तु कटिः पूज्या सोपवासो जितेन्द्रियः । देयं च दोहदं विष्णोः सुगन्धदुसुमसेदकम् ॥ १५ ॥
 पार्वते भाद्रपदायुग्मे पूजयित्वा विधानतः । गुह्यं सलेहकं दद्याद् दोहदे वैशकीर्तितम् ॥ १६ ॥
 ष्टे कुम्भी रेवतीयोगे दोहदे मुद्रमोदकाः । अनुपपास्तु जवरं पश्चिक्वन् च दोहदे ॥ १७ ॥

[अनुक्रान्त विगनमें पुलस्त्यकी कहते हैं-] विद्वान् पुरुष दोनों फाल्गुनी नक्षत्रोंमें भगवान्के गुह्य-देशकी पूजा करे । दोहदके लिये दूध और घी दे और ब्राह्मण भोजन कराये । कृत्तिका नक्षत्रमें उपवासपूर्वक जितेन्द्रिय रहकर भगवान्के कटि-देशकी अर्चना करे और सुगन्धित दुसुमसे युक्त जलका 'दोहद' दान करे । दोनों भाद्रपदाओंमें कहे हुए विगनसे भगवान्की दोनों बगैरोंकी अर्चना करके 'दोहद'में देवद्वारा कथित—शुद्धाजुषोदित चादनेवासी बल्लुसे युक्त गुड़ देना चाहिये । रेवती नक्षत्रके योगमें भगवान्की दोनों कुशियोंकी पूजाके बाद दोहदमें गुँगेके लड्डू प्रदान करने चाहिये । अनुराग नक्षत्रमें उदरकी पूजा करके दोहदमें साठीस खावट देना चाहिये ॥ १४-१७ ॥

ध्रुवप्रापं तथा पूष्टं शलिभक्तं च दोहदे । भुजयुग्मं विरागास्तु दोहदे परमोदनम् ॥ १८ ॥
 हस्ते हस्तौ तथा पूज्यौ यात्रकं दोहदे स्मृतम् । पुनर्वसाराहूलीश्च पटोलस्तन दोहदे ॥ १९ ॥
 आदलेपास्तु नद्यान् पूज्य दोहदे तिस्रिरामिगम् । ज्येष्ठायां पूजयेद् धीमां दोहदे निलमोदकम् ॥ २० ॥
 श्रयणे श्रयणी पूज्यौ दधिभक्तं च दोहदे । पुष्ये मुखं पूजयेत् दोहदे धृगपापसम् ॥ २१ ॥

धनिष्ठा नक्षत्रमें पृष्टकी पूजा करके दोहदमें शलिका भात देना चाहिये । विरागस नक्षत्रमें भगवान्की दोनों मुजाओंकी पूजा कर दोहदमें उत्तम अन्न देना चाहिये । हस्त नक्षत्रमें मत्स्यके दोनों कर्णोंकी पूजा करके दोहदमें जोसे बना पक्यान्न देना चाहिये । पुनर्वसु नक्षत्रमें अशुक्लिकी पूजा करके दोहदमें रेशमी वस्त्र या पत्तन प्रदान करना चाहिये । आदलेया नक्षत्रमें नक्षत्री पूजा कर दोहदमें त्रिदशकी काट्टी प्रदान करे । ज्येष्ठामें मीवाकी पूजा करके दोहदमें नित्रा लड्डू प्रदान करे । श्रयण-नक्षत्रमें दोनों कान्तेरी पूजा करके दोहदमें दही और भात प्रदान करे । पुष्यनक्षत्रमें मुखकी पूजा करे और दोहदमें घी नित्र दूज पत्तन प्रदान करे ॥ १८-२१ ॥

स्वातियोगे च दशना दोहदे त्रिदशकुली । दात्रया केदार्यान्वै श्रावणस्य च भोजनम् ॥ २२ ॥
 हन् शतभिषायोगे पूजयेद्य प्रयत्नतः । प्रियङ्गुलगात्पन्नं दोहदं मधुविधिम् ॥ २३ ॥
 मघास्तु नासिका पूज्या मधु दद्याद् दोहदे । मृगशिरादे नक्षत्रे मृग्यान् च दोहदे ॥ २४ ॥
 विश्रायोगे ललाटं च दोहदे चाद्यभोजनम् । भरणीषु विष्टः पूर्वं चाद्य भक्तं च दोहदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार पूजित होनेपर नक्षत्रपुरुष जनार्दन भगवान् मरुत वाणी, कान्ति तथा अन्य मनोमिलित पदार्थ प्रदान करते हैं। नारदजी ! इन नक्षत्रोंके योगमें क्रमशः उगवासकर महाभाग्यशालिनी अरुन्धतीने उत्तम प्रसिद्धि प्राप्त की थी। आदित्यने पुत्रकी इच्छासे नक्षत्र-पुरुष जनार्दनकी अर्चनाकर रेवतनामक पुत्र प्राप्त किया था। (नक्षत्राङ्ग जनार्दनकी पूजा करके) रम्भाने श्रेष्ठ रूप, मेनकाने वाणीकी मधुला, चन्द्रने उत्तम कान्ति तथा पुरुरवाने राज्य प्राप्त किया था। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन् ! इस प्रकार जिसने नक्षत्राङ्ग-रूपधारी जनार्दनकी पूजा की, उसने अपने मनोरथोंकी भलीभाँति पूर्ति कर ली। मैंने आपसे भगवान् नक्षत्रपुरुषके परम पवित्र धन देनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले और सुन्दर रूपको देनेवाले व्रतके विगानका वर्णन कर दिया। अब पवित्र तीर्थयात्राका वर्णन सुनिये ॥ ३४-३९ ॥

इस प्रकार धीयामनपुराणमें अस्सीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

[अथैकाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

इरावतीमनुप्राप्य पुण्यां तामृषिकन्यकाम् । स्नात्वा सम्पूजयामास चैत्राष्टम्यां जनार्दनम् ॥ १ ॥
नक्षत्रपुरुषं स्वीत्यां व्रतं पुण्यप्रदं शुचिः । जगाम स कुक्षेत्रं प्रह्लादो दानवेदवरं ॥ २ ॥
ऐरावतेन मन्त्रेण चमत्तयं सुदर्शनम् । उपामन्य ततः सस्त्री वेदोक्तविधिना मुने ॥ ३ ॥
उपोष्य क्षणद्रां भक्त्या पूजयित्वा कुक्ष्यजम् । कृतशौचो जगामाप्य द्रष्टुं पुरुषकेसरिम् ॥ ४ ॥

इत्थयासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी अनुकामिक तीर्थयात्राका वर्णन और जलोद्भवका आख्यान)

पुलस्त्यजी बोले— (नारदजी !) प्रह्लादने परम पवित्र ऋषिकन्या उस इरावती नदीके पास जाकर स्नान किया और चैत्र मासकी अष्टमी तिथिमें जनार्दनकी पूजा की। वहाँ पवित्र पुण्यदायक नक्षत्र-पुरुषके व्रतका अनुष्ठान कर दानवेधर प्रह्लाद कुक्षेत्र चले गये। मुने ! उन्होंने ऐरावत-मन्त्रसे सुदर्शनचक्र तीर्थका आवाहन करके वेदविहित विधिसे स्नान किया। वहाँ एक रात्रि निवास कर श्रद्धासे कुक्ष्यजका पूजन किया और शौचाचारसे शुद्ध होकर वृसिंहका दर्शन करनेके लिये चले गये ॥ १-४ ॥

स्नात्वा तु देविकायां च वृसिंहं प्रतिपूज्य च । तत्रोष्य रजनीमेकां गोकर्णं दानवो ययौ ॥ ५ ॥
तस्मिन् स्नात्वा तथा प्राचीं पूज्यशं विद्वकर्मिणम् । प्राचीने चापरे दैत्यो द्रष्टुं कामेद्वरं ययौ ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा च हृष्टा च पूजयित्वा च शङ्करम् । द्रष्टुं ययौ च प्रह्लादः पुण्डरीकं महात्मसि ॥ ७ ॥
तत्र स्नात्वा च हृष्टा च संतर्प्य पितृदेवताः । पुण्डरीकं च सम्पूज्य उवास दिवसत्रयम् ॥ ८ ॥
विराखयूपे तदनु दृष्ट्वा देवं तथाजितम् । स्नात्वा तथा कृष्णतीर्थं त्रिप्राचं न्यवसच्छुचिः ॥ ९ ॥

दानव- (प्रह्लाद-) ने वहाँ देविकामें स्नान कर वृसिंहकी पूजा की और एक रात वहाँ निवासकर गोकर्ण तीर्थ चले गये। वहाँ प्राची- (पूज्य-पूजकके मन्व स्थान-) में स्नान कर पहले उन्होंने विद्वकर्मा भगवान्की पूजा की। उसके बाद दूसरे प्राचीन- (परकोटा या चहारदिवारी-) में कामेश्वरका दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ स्नान करनेके बाद शकरभगवान्का दर्शन और पूजनकर प्रह्लाद श्रेष्ठ जलमें स्थित पुण्डरीकका दर्शन करने चले गये। वहाँ भी स्नानकर उन्होंने त्रितरोंका तर्पण और पुण्डरीकका दर्शन-पूजन

स्नाननक्षत्रके योगमें भगवान्के दोनोंका पूजन करके निर और शङ्खुली- (पूड़ी-) का दोहद दे एवं केशवको प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मणको भोजन कराये । शनिवार नक्षत्रमें प्रयत्नपूर्वक भगवान्के ठुड्डीकी पूजा करे और विष्णुको अत्यन्त प्रिय लगनेवाला धिगहू (कँगली) एवं लाल चाकव्का दोहद दे । मङ्गलमें शनिवारकी पूजा करनी चाहिये एवं दोहदमें मधु देना चाहिये । मृगशिरा नक्षत्रमें मन्तकमें स्थित दोनों नेत्रोंकी पूजा करके दोहदमें मृगके मानका फलका गूदा देना चाहिये । चित्रा नक्षत्रके योगमें क्लृप्तकी पूजा करके दोहदमें सुन्दर भोजन देना चाहिये । भर्णी नक्षत्रमें निरकी पूजा करनी चाहिये और दोहदमें सुन्दर भात प्रदान करना चाहिये ॥ २२-२५ ॥

रम्पूजनीया विहद्विगर्दीयोगे शिरोरुहांः । विप्रांश्च भोजयेद् भक्त्या दोहदे च गुडार्द्रकम् ॥ २६ ॥
नक्षत्रयोगेष्वनेषु सम्पूज्य जगतः पतिम् । पारिते दक्षिणां दद्यात् स्त्रीपुंसोश्चारुवासनी ॥ २७ ॥
छत्रोपानत् इवेतयुगं समवाभ्यानि काञ्चनम् । घृतयात्रं च मतिमान् ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥ २८ ॥
प्रतिनक्षत्रयोगेन पूजनीया द्विजातयः । नक्षत्रमय एवैव पुरुषः शाश्वतो मनः ॥ २९ ॥

आर्द्रके योगमें विष्टान् स्त्रीगोंकी (भगवान्के) केशोंकी पूजा करनी चाहिये और श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराता तथा दोहदमें गुड़ एवं अदरकका दान करना चाहिये । इन नक्षत्रोंके योगमें जगत्पति- (विष्णु-) की पूजा करनेके बाद पारगकर स्त्री और पुरुषके लिये दो सुन्दर वस्त्र दे । बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणको समुद्र छाता, एक जोड़ा जूता, समवाभ्य, स्वर्ण एवं धीमे भरे पात्रका दान करे । प्रत्येक नक्षत्रके योगमें ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । शरीर नक्षत्रमय नित्य सनातन पुरुष माने गये हैं ॥ २६-२९ ॥

नक्षत्रपुरुषाख्यं हि व्रतानामुत्तमं घनम् । पूर्वं कृतं हि भृगुणा सर्वपातकनाशनम् ॥ ३० ॥
अहोपाह्वानि देवपं पूजयित्वा जगद्गुरोः । सुरहाण्यभिजायन्ते प्रत्यङ्गाह्वानि चैव हि ॥ ३१ ॥
समस्तममृतं पापं कुलसंगागतं च यत् । पितृमातृसमुत्थं च तत्सर्वं हन्ति केशवः ॥ ३२ ॥
सर्वाणि भद्राण्याप्नोति शरीरारोग्यमुत्तमम् । अनन्तां मनसः प्रीतिं रूपं चार्त्तत्र शोभनम् ॥ ३३ ॥

नक्षत्र-पुरुष नामका वन सभी क्रतुमें श्रेष्ठ है । प्राचीन समयमें भृगुने समस्त पापोंके विनाश करनेवाले इस व्रतको किया था । देवों ! भगवान्के अङ्गों और उपाङ्गोंकी पूजा करनेसे मनुष्यके सभी अङ्ग-अवयव सुन्दर होते हैं । सब क्रतुमें (अरुने स्वयंके) क्रिये हुए, कुलक्रमसे प्राप्त एवं माता-पिताके कारण प्राप्त पापों—सब प्रकारके पापोंको केशव पूर्णतया नष्ट कर देते हैं; और इस प्रकार भगवान्का पूजन करनेसे समस्त प्रकारके कल्याण प्राप्त होते हैं; शरीर उत्तम आरोग्यसे सम्पन्न होता है, मनमें अनन्त प्रसन्नता प्राप्त होती है और अत्यन्त सुन्दर रूप भी प्राप्त हो जाता है । ॥ ३०-३३ ॥

पाद्माधुर्यं तथा फाल्गुनि यच्चान्यद्भिषाञ्छितम् । ददाति नक्षत्रपुमान् पूजितस्तु जनार्दनः ॥ ३४ ॥
उषोष्य स्वर्गोत्तु क्लेशेषु नारद । अरुन्धती महाभागा ख्यातिमय्यां जगाम ह ॥ ३५ ॥
आदित्यस्तनयायाय नक्षत्राहं जनार्दनम् । सम्पूजयित्वा नोविन्दं रेवन्तं पुत्रमातवान् ॥ ३६ ॥
रम्भा रूपमयागदयं पाद्माधुर्यं च मेनका । फाल्गुनि विधुश्चायादयां राज्यं गजा पुनरवाः ॥ ३७ ॥
एवं विद्याततोः प्रामप्रक्षत्राहं जनार्दनः । पूजितो रूपधारी यैस्त्विः प्राप्ता तु नुफामिता ॥ ३८ ॥

एतन् नवीकं परमं पवित्रं धन्यं यमस्यं शुभरूपदायि ।

नक्षत्रपुंसः परमं विद्याते शृणुष्व पुण्यामिह नार्थयात्राम् ॥ ३९ ॥

इति धीयन्तपुराणे अमीनितमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूजित होनेपर नक्षत्रपुरुष जनार्दन भगवान् मधुर वागी, कान्ति तथा अन्य मनोमिलित पदार्थ प्रदान करते हैं। नारदजी ! इन नक्षत्रोंके योगमें क्रमशः उपवासकर महाभाग्यशालिनी अरुन्धतीने उत्तम प्रसिद्धि प्राप्त की थी। आदित्यने पुत्रकी इच्छासे नक्षत्र-पुरुष जनार्दनकी अर्चनाकर रेवतनामक पुत्र प्राप्त किया था। (नक्षत्राङ्ग जनार्दनकी पूजा करके) रम्भाने श्रेष्ठ रूप, मेनकाने वागीकी मत्पुत्रता, चन्द्रने उत्तम कान्ति तथा पुरूरवाने राज्य प्राप्त किया था। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन् ! इस प्रकार जिसने नक्षत्राङ्ग-रूपधारी जनार्दनकी पूजा की, उसने अपने मनोरथोंकी भलीभँति पूर्ति कर ली। मैंने आपसे भगवान् नक्षत्रपुरुषके परम पवित्र धन देनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले और सुन्दर रूपको देनेवाले व्रतके विगनका वर्णन कर दिया। अब पवित्र तीर्थयात्राका वर्णन सुनिये ॥ ३४-३९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अस्सीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

[अथैकाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

इरावतीमनुभाष्य पुण्यां तामृषिकन्यकाम् । स्नात्वा सम्पूजयामास चैत्राष्टम्यां जनार्दनम् ॥ १ ॥
नक्षत्रपुरुषं चोत्वा प्रतं पुण्यप्रदं शुचिः । जगाम स कुरुक्षेत्रं प्रह्लादो दानवेदरम् ॥ २ ॥
देरावतेन मन्त्रेण चवर्तीयं सुदर्शनम् । उपामन्य ततः सस्त्री वेदोक्तविधिना मुने ॥ ३ ॥
उपोष्य क्षणदां भक्त्या पूजयित्वा कुरुष्वजम् । कृतौचो जगामाय द्रष्टुं पुरुषकेसरिम् ॥ ४ ॥

इक्यासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी अनुकामिक तीर्थयात्राका वर्णन और जलोद्भवका आस्थान)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) प्रह्लादने परम पवित्र ऋषिकन्या उस इरावती नदीके पास जाकर स्नान किया और चैत्र मासकी अष्टमी तिथिमें जनार्दनकी पूजा की। वहाँ पवित्र पुण्यदायक नक्षत्र-पुरुषके व्रतका अनुष्ठान कर दानवेधर प्रह्लाद कुरुक्षेत्र चले गये। मुने ! उन्होंने देरावन-मन्त्रसे सुदर्शनचक्र तीर्थका आवाहन करके वेदविहित विधिसे स्नान किया। वहाँ एक रात्रि निवास कर श्रद्धासे कुरुष्वजका पूजन किया और शौचाचारसे शुद्ध होकर वृसिंहका दर्शन करनेके लिये चले गये ॥ १-४ ॥

स्नात्वा तु देविकायां च वृसिंहं प्रतिपूज्य च । तत्रोष्य रजनीमेकां गोकर्णं दानवो ययौ ॥ ५ ॥
तस्मिन् स्नात्वा तथा प्राचीं पूज्यशं विद्वक्मिणम् । प्राचीने चापरे दैव्यो द्रष्टुं कामेश्वरं ययौ ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा च हृष्टा च पूजयित्वा च शङ्करम् । द्रष्टुं ययौ च प्रह्लादः पुण्डरीकं महाभसि ॥ ७ ॥
तत्र स्नात्वा च हृष्टा च संतर्प्य पितृदेवताः । पुण्डरीकं च सम्पूज्य उवास दिवसत्रयम् ॥ ८ ॥
थिराखरूपे तदनु हृष्ट्या देवं तथाजितम् । स्नात्वा तथा कृष्णतीर्थं त्रिरात्रं न्यवसच्छुचि ॥ ९ ॥

दानव (प्रह्लाद-ने वहाँ देविकामें स्नान कर वृसिंहकी पूजा की और एक रात वहाँ निवासकर गोकर्ण तीर्थ चले गये। वहाँ प्राची (पूज्य-पूजकके मध्य स्थान-में स्नान कर पहले उन्होंने विश्वकर्मा भगवान्की पूजा की। उसके बाद दूसरे प्राचीन- (परकोट या चहारदिवारी-में कामेश्वरका दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ स्नान करनेके बाद शंकरभगवान्का दर्शन और पूजनकर प्रह्लाद श्रेष्ठ जल्में स्थित पुण्डरीकना दर्शन करने चले गये। वहाँ भी स्नानकर उन्होंने त्रितरैका तर्पण और पुण्डरीकका दर्शन-पूजन

किया । तीन दिनोत्तर वहाँ निवास किया । उसके बाद त्रिशाङ्गयुग्में देव अजितका दर्शनकर उन्होंने कृष्ण-तीर्थमें स्नान किया और तीन गङ्गितक वहाँ भी पवित्रनापूर्वक निवास किया ॥ ५-९ ॥

नतो हंसपदे हंसं दृष्ट्वा सम्पूज्य चेश्वरम् । जगामासौ पयोण्यायामखण्डं द्रष्टुमीश्वरम् ॥ १० ॥
स्नान्वा पयोण्याः सलिले पूज्याखण्डं जगत्पतिम् । द्रष्टुं जगाम मतिमान् वितस्तायां कुमारिलम् ॥ ११ ॥
तत्र स्नान्वाऽर्च्यं देवेशं बालखिल्यैर्मरीचिषैः । आराध्यमानं यद्यत्र कृतं पापप्रणाशनम् ॥ १२ ॥
यत्र सा सूरभिर्देवी स्वस्तुतां कपिलां शुभाम् । देवप्रियार्यमसृजद्धितायं जगतस्तया ॥ १३ ॥

उसके बाद हंसपदमें भगवान् हंसका दर्शन एवं पूजन कर वे पयोणीके समीपमें अखण्डेश्वरका दर्शन करने चले गये । पयोणीके जलमें स्नानकर उन्होंने जगत्पति अखण्डेश्वरकी पूजा की । उसके बाद बुद्धिमान् (प्रहादजी) वितन्तामें कुमारिलके दर्शनार्थ चले गये । वहाँ स्नान करनेके पश्चात् (सूर्यकी) किरणोंका पान करनेवाले बालखिल्योंने आराधित किये जा रहे पायोंको नष्ट करनेवाले देवेशका पूजन किया । जहाँ देवी सूरभिने देवकी प्रीति एवं जगत्की भलाईके लिये अपनी पुत्री कल्याणी कपिलाका त्याग किया था ॥ १०-१३ ॥

तत्र देवहृदे स्नान्वा शम्भुं सम्पूज्य भक्तितः । विधिवद्धि च प्राश्य मणिमन्तं ततो ययौ ॥ १४ ॥
तत्र तीर्थयरे स्नान्वा प्राजापत्ये मद्यामतिः । ददर्श शम्भुं ब्रह्माणं देवेशं च प्रजापतिम् ॥ १५ ॥
विधानतस्तु तान् देवान् पूजयित्वा तपोधन । पङ्कजां तत्र च स्थित्वा जगाम मधुनन्दिनीम् ॥ १६ ॥
मधुमत्सलिले स्नान्वा देवं चक्रधरं हरम् । शूलबाहुं च गोविन्दं ददर्श दनुपुङ्गवः ॥ १७ ॥

वहाँ देवहृदमें स्नानकर उन्होंने भक्तिपूर्वक शंभुका पूजन किया और विधिपूर्वक दही खानेके बाद मणिमान् तीर्थमें गये । प्रजापतिके उस उत्तम तीर्थमें स्नानकर महानति-(प्रहाद-) ने शंकर, ब्रह्मा एवं देवेश प्रजापतिका दर्शन किया । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] तपोधन ! विधिपूर्वक उन देवोंका पूजन करनेके बाद वहाँ १४ गङ्गितक निवासकर (वे) मधुनन्दिनीमें चले गये । मधुमत्के जलमें स्नानकर दानवश्रेष्ठ-(प्रहाद-) ने चक्रधरी देव और शूलधारी गोविन्दका दर्शन किया ॥ १४-१७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं भगवान् शम्भुर्द्विभाग्य सुदर्शनम् । शूलं तथा वासुदेवो ममैतद् ब्रूहि पृच्छतः ॥ १८ ॥

नारदजीने पूछा—शुभ प्रश्नकर्ताको आप (कृपया) यह बतलाइये कि भगवान् शिव सुदर्शन और शूलधरने शूल क्यों धारण किया था ? ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

भूयतां कथयिष्यामि कथामेतां पुरातनीम् । कथयामास यां विष्णुर्भविष्यमनवे पुरा ॥ १९ ॥

अन्योद्भवां नाम महासुरेन्द्रो घोरं स तप्त्वा तप उग्रवीर्यः ।

भगवयामास विगङ्गिमारात् स तस्य तुष्टो वरदो बभूव ॥ २० ॥

देवासुराणामत्रयो महाहवे निजैश्च शस्त्रैरमरैश्च यः ।

प्रान्तैर्शासैश्च निगन्धितार्थो जले च यद्वै स्वगुणोपहृता ॥ २१ ॥

एवमप्रभावो दनुपुङ्गवांस्तौ देवान् महर्षीन् नृपतीन् समप्रान् ।

आवाभमानो विचचार भूयसां सर्वाः क्रिया नाशयदुग्रमूर्तिः ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) सुनिधेः ॥ इस पुरानी कथाको कहना है । पहले समयमें इसे भगवान् विष्णुने कही मनुमें कहा था । अनोद्भव नामका एक गणान्तर्भवति था । उस शक्तिशाली दैत्यने घोर तपकर

परिश्रमसे ब्रह्माकी आराधना की। संतुष्ट होकर ब्रह्मने उसे बर दिया कि युद्धमें उसे देना एवं दैत्य नहीं जीन सकेंगे। देवोंके अपने शत्रुओंसे भी उसका धर्म नहीं हो सकेगा। ब्रह्मर्षि-(जनों)-के शायोंका भी उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और जल एवं अग्निका भी प्रभाव नहीं होगा। इस प्रकारका प्रभावशाली वह दनुश्रेष्ठ सभी देवताओं, महर्षियों और राजाओंको कष्ट पहुँचाता हुआ पृथ्वीपर विचरण करने लगा। (फिर तो) उस क्रूरने समस्त कर्मोंका विनाश कर दिया ॥ १९-२२ ॥

ततोऽमरा भूमिभवाः सम्भूपाः जग्मुः शरण्यं हरिमीशितात्मम् ।
 तैश्चापि सार्द्धं भगवाञ्जगाम हिमालयं यत्र हरस्त्रिनेत्रः ॥ २३ ॥
 सम्मन्त्र्य देवर्षिहितं च कार्यं मतिं च कृत्वा निधनाय शत्रोः ।
 निजायुधानां च विपर्ययं तौ देवाधिपौ चक्रन्तुष्टप्रकर्मिणौ ॥ २४ ॥
 ततश्चासौ दानयो विष्णुदावीं समायातौ तज्जिघांसु सुरेशौ ।
 मत्वाऽजेयौ शत्रुभिर्घोररूपौ भयात्तोये निम्नगायां विवेश ॥ २५ ॥
 प्रात्या प्रनष्टं त्रिदिवेन्द्रशत्रुं नशं विशालां मधुमत्सुपुण्याम् ।
 द्वयोः सशत्रौ तद्योर्हरीशौ प्रच्छन्नमूर्तौ सहसा यभूयतुः ॥ २६ ॥

उसके बाद पृथ्वीपर आविर्भूत हुए देवगण राजाओंके साथ शरण देनेवाले एवं (सन्ने) नियामक विष्णुकी शरणमें गये। भगवान् भी उन सभीके साथ हिमालयपर गये, जहाँ त्रिनेत्र हर अवस्थित थे। देवता और ऋषियोंके कल्याणकारी कार्यकी मन्त्रणा करनेके बाद शत्रुको मारनेका निश्चय कर उन दोनों उभरनी देवर्षियोंने अपने आयुधोंका परिवर्तन कर लिया। फिर मारनेकी इच्छासे आ रहे देवाधिप शक्र एवं विष्णुको देवकर और उन भयंकर मूर्तिधारियोंको शत्रुओंसे अजेय जानकर वह दानव भयसे नदीके जलमें पैठ गया। देवशत्रुको पुण्यशालिनी मधुमती विशाला नदीमें उसे छिपा हुआ जानकर शक्रसहित शंकर और विष्णु सहसा नदीके दोनों तटोंपर छिप गये ॥ २३-२६ ॥

जलोद्भवश्चापि जलं विमुच्य क्षात्वा गतौ शङ्करपासुदेवौ ।
 दिरास्समीक्ष्य भयकातराक्षो दुर्गं हिमाद्रिं च तदाहरोह ॥ २७ ॥
 महोभ्रष्टक्षोपरि विष्णुशम्भू चञ्चूर्यमाणं स्वरिपुं च दृष्ट्वा ।
 वेगादुभौ हृद्ययतुः सशत्रौ विष्णुखिशाली गिरिशश्च चमौ ॥ २८ ॥
 ताभ्यां स दृष्ट्वाश्रितोत्तमाभ्यां चक्रौण शूलेन च भिन्नदेहः ।
 पपात शैलाद् तपनोयवर्णो यथाऽन्तरिक्षाद् विमला च ताप ॥ २९ ॥
 एवं त्रिशूलं च क्षार विष्णुश्चक्रं त्रिनेत्रोऽप्यरिचूदनार्यम् ।
 यथाघट्नी शम्भवद् वितस्ता हराङ्घ्रिपाताच्छिराचलानु ॥ ३० ॥
 तत्राप्य तीर्थं त्रिदाधियाभ्यां पूजां च कृत्वा हरिशङ्कराभ्याम् ।
 उपोष्य भक्त्या हिमवन्तमागाद् द्रष्टुं गिरिशं शिवविष्णुगुप्तम् ॥ ३१ ॥
 तं समभ्यर्च्य विधिवद् दत्त्वा दानं द्विजातिषु । विस्तृते हिमवत्पदे भृशुत्तं जगान सः ॥ ३२ ॥
 यत्रेभ्यो देववरस्य विष्णोः प्रादाद्रयाङ्गप्रवरायुधं वै ।
 येन प्रविच्छेद् विधैव शङ्करं जिहासमानोऽस्त्रवलं महात्मा ॥ ३३ ॥

शंकर और वासुदेवको गन्ध हुआ जानकर जलोंद्वय जलसे बाहर निकला तथा भयसे चञ्चल नेत्रोंसे दिशाओंमें (उपर-उपर) देखकर दुर्गम हिमालय पर्वतर चढ़ गया। पर्वतकी चोटीपर अपने शत्रुको विचरण करते हुए देवकर त्रिशूलधारी विष्णु एवं चक्रधारी शिव शङ्ख लिये हुए तुरंत दौड़ पड़े। उन सुरोत्तमोंने उसे देवकर चक्र और शूलसे उसके शरीरका भेदन कर दिया। वह सुवर्गके समान कान्तिवाला अन्तरिक्षसे गिरनेवाले विमल तारोंके समान पर्वतसे गिर पड़ा। इस प्रकार शत्रुके विनाशके लिये विष्णुने त्रिशूल तथा शंकरने चक्र धारण किया था। जहाँ शंकरका चरण गिरा था, उस हिमालय पर्वतसे पापविनाशिनी वितस्ता उत्पन्न हुई। उस तीर्थमें पूर्वचक्र प्रहादने उन विष्णु एवं शंकर—इन दोनों देवोंकी अर्चा की तथा भक्तिसे वहाँ निवास कर वे शिव एवं विष्णुसे गहन गिरिगज हिमालयका दर्शन करने चले गये। प्रहाद वहाँ विधिके अनुसार उसकी पूजा करनेके बाद ब्राह्मणोंको दान देकर हिमालयके विस्तृत चरणमें (उपत्यकामें विद्यमान) भृगुतुङ्ग तीर्थमें गये। वहाँ भगवान् शंभुने देवश्रेष्ठ विष्णुको श्रेष्ठ अन्न दिया था। उस अन्न—चक्रके बलकी जाननेकी इच्छासे उन महात्माने उनसे शंकरको तीन टुकड़ोंमें काट दिया था ॥ २७-३३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इफ्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

[अथ द्वयशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

भगवँल्लोकनाथाय विष्णवे विभ्रमेषुः। किमर्थमायुधं चक्रं दत्तवाँल्लोकपूजितम् ॥ १ ॥
वयासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चक्रदानके कथा-प्रसंगमें उपमन्यु तथा श्रीदामाका वृत्तान्त, शिवद्वारा विष्णुको चक्र देना, हरका विरूपाक्ष हो जाना और श्रीदाम-वध)

नामदजाने पूछा—भगवन्! तीन नेत्रोंवाले शंकरने जगत्पति विष्णुको समस्त लोकोंमें पूजित चक्र नामका अक्षय वस्त्र दिया था ! ॥ १ ॥

पुरुराय उवाच

भृगुत्वावाचितो भूया कथामेतां पुरातनानाम्। चक्रप्रदानसम्बन्धां शिवमाहात्म्यवर्धिनीम् ॥ २ ॥
धार्मिन् हिजानिप्रवरो वेदवेदाङ्गपारमः। गृह्यधर्मी महाभागो वीतमन्युरिति स्मृतः ॥ ३ ॥
तस्यापेशो महाभागो भार्यासीच्छ्रीलम्बमता। पतिव्रता पतिप्राणा धर्मशीलेति विश्रुता ॥ ४ ॥
तस्यानस्य मार्गस्तु शत्रुकाण्डाभिगामिनः। सम्बभूव सुतः श्रीमान् उपमन्युरिति स्मृतः ॥ ५ ॥

पुत्रस्यर्थां योले—(नारदजी!) आप चक्रके प्रदान करनेमें सम्बद्ध और शिवकी महिमाको बढ़ानेवाली इस कथाके कथनों काटकर छोड़ चुनिये। वेद-वेदाङ्ग-पारम, गृह्य और महाभाग्यशास्त्री वीतमन्यु नामके एक श्रेष्ठ धार्मिक थे। उनकी महाभाग्यव्रताकी, श्रीरसे सम्बन्ध, पतिव्रता एवं पतिमें ही अपने प्राणोंको निहित किये रहनेवाली पतिप्राणा नामकी व्रता थी। यह धर्मशील नामसे प्रसिद्ध थी। शत्रुकाण्डमें ही उसके साथ समागम करनेवाले उन मार्गिन, उससे सम्बन्ध काकर एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २-५ ॥

मं माता सुमिदार्शुल शक्तिपिष्टरसेन वै। पोषयामास यदनां धार्मिनेत् सुदुर्गता ॥ ६ ॥
संज्ञापनानोऽथ धीरस्य स्वाधुतां पय इत्यथ। सम्भावनामप्यकरोच्छ्रुतिपिष्टरसेऽपि हि ॥ ७ ॥

स त्वेकदा समं पित्रा कुञ्चिद् द्विजप्रेमनि । क्षीरोदत्तं च बुभुजे सुखाद्गु प्राणपुष्टिदम् ॥ ८ ॥
स लब्धानुपमं स्वादं क्षीरम्य ऋषिदारकः । मात्रा दत्तं क्षिन्तोयेऽपि नदत्ते पिष्टवारितत् ॥ ९ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! अत्यन्त दरिद्रतासे जर्जर हुई उसकी माता गिसे हुए चानत्रके जलकी यह दूध है—ऐसा कहकर उसने उस- (पुत्र-) का पात्रन करनी थी । दूधके खादते आरिचिन होनेके कारण वह गिसे चानत्रके रम (जल-) में ही दूधकी संभारना करता था । एक दिन उमने अपने पिताके साथ किसी ब्राह्मणके घर प्राणको न्यथ वनानंशरी मधुर खीरका भोजन किया । ऋषिके उस पुत्रने दूधके अहुत खादसो पाकर दूसरे दिन माताके दाग दिये गये गिसे हुए चानत्रके उस रसको ग्रहण नहीं किया ॥ ६-९ ॥

रुरोदाय तनो बाल्यात् पयोऽर्थी चानको यथा । तं माता रुदतां प्राह वापगद्गद्या गिरा ॥ १० ॥
उमापतौ पशुपतां शलवारिणि शङ्करे । अप्रसन्ने विरूपाक्षे पुनः क्षीरेण भोजनम् ॥ ११ ॥
यदीच्छसि पयो भोक्तुं सद्यः पुष्टिकरं सुन । तदापयय देवेशं विरूपाक्षं विशुक्लिनम् ॥ १२ ॥
तस्मिन्स्तुष्टे जगद्धामि सर्वकल्याणदायिनि । प्राप्यतेऽमृतपयिर्विं क्रि पुनः क्षीरभोजनम् ॥ १३ ॥

उसके बाद दूध चाहनेवाग वह वात्रक वचनके कारण प्यासे चानत्रकी भोजि रोने लगा । रोनी हुई गानने आँवोंमें औपू भरे गद्गद वाणीमें उमने कहा—शुद्ध धारण करनेवाले पार्वतीपति पशुपति विरूपाक्ष शरकके असंतुष्ट रहते दूधसे मित्रा भोजन कहाने प्राण हो सकता है ! पुत्र ! यदि तुम तत्काळ खादकर दूध पीना चाहते हो तो विशुद्ध धारण करनेवाले विरूपाक्ष महादेवकी सेवा करो । समारके आधार, सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाले उन शकरके सन्तुष्ट होनेपर अमृत पीनेको मित्र सकता है, दूध पीनेको तो बात ही क्या है ॥ १०-१३ ॥

तन्मातुर्वचनं ध्रुत्या चीनमन्युसुतोऽब्रवीत् । कोऽयं विरूपाक्ष इति त्वयाराध्यस्तु कीर्तितः ॥ १४ ॥
ततः सुनं धर्मशीला धर्माटनं वान्यमब्रवीत् । योऽयं विरूपाक्ष इति श्रुयतां कथयामि ते ॥ १५ ॥
आशीमहासुरपतिः श्रीदाम इति विश्रुतः । तेनाक्रम्य जगत्सर्वं श्रीर्जाता स्ववशं पुरा ॥ १६ ॥
निःश्रीकास्तु त्रयो लोकाः कृतास्तेन दुरात्मना । श्रीवत्सं वासुदेवस्य हनुमैच्छन्महाबलः ॥ १७ ॥

माताके उस वचनकी सुनकर चीनमन्युके पुत्रने कहा—आप जिनकी सेवा-पूजा करनेको कहती हैं, वे विरूपाक्ष मौन हैं ! उसके बाद धर्मशीलने पुत्रसे धर्मसे युक्त वचन कहा—(वेदा !) सुनो, मैं तुम्हें वक्त्यानी हूँ कि ये विरूपाक्ष कौन हैं ! प्राचीन कात्रमें श्रीदाना नामसे विख्यात एक महान् अनुपुंका राजा था । उमने मारे समारको अपने अधीन करके लक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया (सारे विश्वपर अपना अधिकार बना लिया) । (फिर तो) उम दुष्टत्वाने तीनों लोकोंको ही श्रीसे रहिन कर दिया । उसके बाद उम महापराधी अनुमने वासुदेवके श्रीनसको चीन लेनेकी वामना की ॥ १४-१७ ॥

तमस्य दुष्टं भगवानभिप्रायं जनार्दनः । श्रुत्वा तस्य वयान्नाह्नीं महेश्वरमुपागमत् ॥ १८ ॥
पतसिन्नन्तरे शम्भुर्योगमूर्तिवरोऽप्ययः । तस्यै हिमाचलप्रस्थमाश्रित्य इलक्ष्णाभूतलम् ॥ १९ ॥
अवाभ्येत्य जगन्नाथं सहस्रशिरसं विभुम् । आराधयामास हरिः स्वयमात्मानमारमना ॥ २० ॥
सात्रं वर्षसहस्रं तु पादाङ्गुष्ठेन तस्थियान् । गृणंस्तत्परमं ब्रह्म योगिशेषमलक्षणम् ॥ २१ ॥

उसकी उस दूषित इच्छाको जानकर भगवान् जनार्दन उसके मारनेकी इच्छासे महेश्वरके पास गये । उस समय योगमूर्तिके धारण करनेवाके अविनाशी शंकर हिमालयकी ऊँची चोटीके चिकने भूतवर स्थित थे । उसके सहस्रशीर्षा सर्वसमर्थ जगन्नाथकीके पास जाकर विष्णुने अपने द्वारा स्वय अपनी ही अर्चना की—

शंकर और वासुदेवको मग्न हुआ जानकर जयोद्भव जलसे बाहर निकला तथा भयसे चञ्चल नेत्रोंसे दिशाओंमें (इधर-उधर) देखकर दुर्गम हिमालय पर्वतपर चढ़ गया । पर्वतकी चोटीपर अपने शत्रुको विचरण करते हुए देखकर त्रिशूलवाली विष्णु एवं चक्रधारी शिव शरत् लिये हुए, तुरंत दौड़ पड़े । उन सुरोत्तमोंने उसे देखकर चक्र और शूलसे उसके शरीरका भेदन कर दिया । वह सुवर्गके समान कान्तिवाला अन्तरिक्षसे गिरनेवाले विषम तारोंके समान पर्वतसे गिर पड़ा । इस प्रकार शत्रुके विनाशके लिये विष्णुने त्रिशूल तथा शंकरने चक्र धारण किया था । जहाँ शंकरका प्रथम गिरा था, उस हिमालय पर्वतसे पापविनाशिनी वितस्ता उत्पन्न हुई । उस तीर्थमें परशुचक्र प्रहादने उन विष्णु एवं शंकर—इन दोनों देवोंकी अर्चा की तथा भक्तिसे वहाँ निवास कर वे शिव एवं विष्णुसे रक्षित गिरिगज हिमालयका दर्शन करने चले गये । प्रहाद वहाँ विधिके अनुसार उसकी पूजा करनेके बाद ब्राह्मणोंकी दान देकर हिमालयके विस्तृत चरणोंमें (उपत्यकामें विद्यमान) भृगुनुह तीर्थमें गये । वहाँ भगवान् शंभुने श्रेष्ठ विष्णुको श्रेष्ठ अन्न दिया था । उस अन्न—चक्रके बन्धकी जाननेकी इच्छासे उन महात्मानें उसमें शंकरको तीन टुकड़ोंमें काट दिया था ॥ २७-३३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इफ्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

[अथ द्वयशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

भगवन्लोकनावाय विष्णवे विषमेशणः । किमर्यमायुधं चक्रं दत्तवाँल्लोकपूजितम् ॥ १ ॥

वयासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पाददानके दया-प्रदानमें उपमन्नु तथा श्रीदामाका वृत्तान्त, शिवद्वारा विष्णुको चक्र देना, हरका विस्वाश ही जाना और श्रीदाम-वध)

नारदजीने पूछा—भगवन् ! तीन नेत्रोंवाले शंकरने जगत्पति विष्णुको समस्त लोकोंमें पूजित चक्र नामका वस्तु : कबे दिया था ! ॥ १ ॥

पुत्रस्य उवाच

भृगुप्यारणितो भूत्वा यथागतां पुरातनाम् । चक्रप्रदानसम्बद्धां शिवमाहात्म्यवर्धिनीम् ॥ २ ॥

भार्यस्य द्विजाभिप्रयगे वेद्वेदाङ्गपारंगः । गृहाधर्मा महाभागो धीतमन्युरिति स्मृतः ॥ ३ ॥

तस्यापि महाभाग भार्यसीच्छर्तलसम्भवा । पतिव्रता पतिप्राणा धर्मशीलैति विश्रुता ॥ ४ ॥

तस्यामन्य महर्षेणु शत्रुकान्दाभिगामितः । नम्यभूव नृतः श्रीमान् उपमन्युगिति स्मृतः ॥ ५ ॥

पुत्रस्यकी बातें—(नारदजी) अथ चक्रके प्रदान करनेसे सम्बद्ध और शिवकी महिमाको बढ़ानेवाली इस प्राचीन कथाकी कथाएँ और सुनिये । वेद-वेदाङ्ग-पारंगत, गृहस्थ और महाभागशाली धीतमन्यु नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे । उनकी महाभागशालिनी, भीतसे सम्पन्न, पतिव्रता एवं पतिमें ही अपने प्राणोंको निहित किये रहनेवाली उनकी भार्यसी कही थी । वह धर्मशील नामसे प्रसिद्ध थी । शत्रुकारणमें ही उनके साथ समागम करनेवाले उन भार्यसी अपने उपमन्नु नामका एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २-५ ॥

वे माया सुनिर्मातृक शक्तिपिष्टरसेर थे । पोषयामास यदती क्षीरमेतन् सुदुर्गता ॥ ६ ॥

सोऽप्यतानोऽथ क्षीरस्य महादुतां पय इत्यथ । सम्भायनामन्यकरोच्छ्रनिपिष्टरमेऽपि हि ॥ ७ ॥

स त्वेकदा समं पित्रा कुमचिद् द्विजनेमनि । क्षीरोदनं च धुमुने सुखादु प्राणपुष्टिम् ॥ ८ ॥
स लभ्यानुपमं स्वादं क्षीरस्य ऋषिदारकः । माना दत्तं द्वितीयेऽङ्घ्रि नादसे पिष्टधारितम् ॥ ९ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! अत्यन्त दरिद्रतासे जर्जर हुई उसकी माता गिसे हुए चान्द्रके जलको यह दूध है—ऐसा स्फुरार उमने उस- (पुत्र) का पाउन करनी थी । दूधके सादसे आरिचिन होनेके कारण वह गिसे चान्द्रके रस (जल) में ही दूधकी संभारना सगता था । एक दिन उसने अपने पिताके साथ त्रिमी नद्यगके घर प्राणको न्यस्य बनानेवागी मधुर खीरना भोजन किया । ऋषिके उस पुत्रने दूधके अद्भुत सादरो पाकर दूमरे दिन माताके द्वारा दिये गये गिसे हुए चान्द्रके उम रसको ग्रहण नहीं किया ॥ ६-९ ॥

करोदाय तनो बाल्यात् पयोऽर्थी चानको यथा । तं माता रुदतां प्राह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १० ॥
उमापत्तौ पशुपत्तौ शूलारिणि शङ्करे । अग्रसन्ने विरूपाक्षे कुतः क्षीरेण भोजनम् ॥ ११ ॥
यदीच्छसि पयो भोक्तुं सद्यः पुष्टिकरं सुत । तदापभय देवेनां विरूपाक्षं निश्चलिनम् ॥ १२ ॥
तस्मिन्सुष्टे जगद्भामिन् सर्वकल्याणदायिनि । प्राण्यतेऽमृतपायित्वं किं पुनः क्षीरभोजनम् ॥ १३ ॥

उसके बाद दूध चाहनेवाग्रा वह अन्नक वचनके कारण प्यासे चान्द्रकी भौति रोने लगा । रोनी हुई माता आँखोंमें आँसू भरे गद्गद वाणीमें उमने कहा—भूत धारण करनेवाले पार्वतीरति पशुपति विरूपाक्ष शान्द्रके अमृतपुष्ट रहने दूधसे मित्रा भोजन कहागये प्राप्त हो सगता है ! पुत्र ! यदि तुम तन्वात्र स्वास्थ्यकर दूध पीना चाहते हो तो निश्चय धारण करनेवाले विरूपाक्ष महादेवकी सेवा करो । समारके आधार, सभी प्रसंगमें कल्याण करनेवाले उन शकरके सतुष्ट होनेपर अमृत पीनेको मिल सगता है, दूध पीनेकी तो बात ही क्या है ॥ १०-१३ ॥

तन्मातुर्ब्रजं ध्रुवा द्योतमन्युसुतोऽग्रर्थात् । कोऽयं विरूपाक्ष इति त्वयाप्राण्यस्तु कर्तितः ॥ १४ ॥
ततः सुतं धर्मशीला धर्माट्टं धारयमप्रजात् । योऽयं विरूपाक्ष इति श्रूयतां कथयामि ते ॥ १५ ॥
आसीन्महासुरपतिः श्रीदाम इति विभुतः । तेनाक्रम्य जगत्सर्वं श्रौर्नीता स्वनां पुत्रा ॥ १६ ॥
निभ्रीकास्तु प्रयो लोकाः कृतास्तेन दुरामना । श्रौत्वात्सं वासुदेवस्य हनुमैच्छन्महाबलः ॥ १७ ॥

माताके उस वचनको सुनकर शीतमन्युके पुत्रने कहा—आप जिनकी सेवागुना करनेको कहती हैं, वे विरूपाक्ष कौन हैं ? उसके बाद धर्मशीलाने पुत्रसे धर्मसे युक्त वचन कहा—(वेदा !) सुनो, मैं तुम्हें बकती हूँ कि ये विरूपाक्ष कौन हैं ? प्राचीन काकमें श्रीदामा नामसे विद्वान् एक महान् अयुधका राजा था । अपने मां सस्यको अपने अंगीन करके लक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया (सारे विषय अपना आँकर बना लिया) । (फिर तो) उस दुष्टानाने तीनों लोकको ही श्रीसे रहित कर दिया । उमके बाद उम महाबलशाली असुने शसुदेवके श्रौत्सने हीन लेनेकी कामना की ॥ १४-१७ ॥

तमस्य दुष्टं भगवानभिप्रायं जनार्दनः । ज्ञात्वा तस्य वचानाह्वी महेश्वरमुपागमत् ॥ १८ ॥
पतस्मिन्मन्तरे शम्भुयोंगमूर्तिवरोऽव्ययः । तस्यै हिमाचलप्रमथमाश्रित्य श्लक्ष्णभृन्बलम् ॥ १९ ॥
अथाभ्येत्य जगन्नाथं सहस्राक्षरसं विभुम् । आराधयामास हरिः स्वयमामानप्राग्मना ॥ २० ॥
साध्रं वर्षसहस्रं तु पादाङ्घ्र्येन तस्थिवान् । शृणुंस्तत्परमं ब्रह्म योगिहोयमलक्षणम् ॥ २१ ॥

उसकी उस दूतित श्लक्ष्णको जानकर भगवान् जनार्दन उमके मानेकी इच्छामे महेश्वरके पास गये । उस समय योगमूर्तिके धारण करनेवाले अग्निवाशी शकर हिमालयकी ऊँची चोटीके चिकने भूतशर स्थित थे । उसके सहस्रशीर्षा सर्वसमर्थ जगन्नाथजीके पास जाकर त्रिपुने अपने द्वारा सप्य अपनी ही अर्चना की ।

पानदेवोय उत अत्यक्त परम महका जय कान्ते हृष. वे एक हजार वर्षसे अधिक समयतक पैरके अँगूठेपर
कड़े रहे ॥ १८-२१ ॥

नतः प्रांतः प्रभुः प्राज्ञाद् विष्णवे परमं वरम् । प्रत्यक्षं तेजसं श्रीमान् दिव्यं चक्रं सुदर्शनम् ॥ २२ ॥
तद् द्रवा देवदेवाय सर्वभूतभयप्रदम् । कालचक्रनिभं चक्रं शङ्करो विष्णुमग्रवीत् ॥ २३ ॥
वरायुधोऽयं देवेश सर्वायुधनिवर्धणः । सुदर्शनो द्वादशारः पण्णाभिर्द्वियुगो जयो ॥ २४ ॥
आगमं ग्याह्ययो नाम्य देवा मासाश्च राशयः । शिष्टानां रक्षणार्थोय संस्थिता ऋतवश्च पट् ॥ २५ ॥
अग्निः सोमस्तथा मित्रो वरुणोऽथ शचीरिति । इन्द्रास्तां चाप्यथो विद्ये प्रजापतय एव च ॥ २६ ॥

हनूमांश्चाय बलवान् देवो धन्वन्तरिस्तथा ।

तपश्चैव तपस्यश्च द्वादशैते प्रतिष्ठिताः । चैत्राद्याः फाल्गुनान्ताश्च मासास्तत्र प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥

उक्तें बाद श्रीमान् महादेवने संतुष्ट होकर विष्णुको परमश्रेष्ठ प्रत्यक्ष तेजसे युक्त दिव्य सुदर्शनचक्र प्रदान
दिया । सभी प्राणिनोंके लिये भयदायक वाञ्छकके समान वह चक्र देवाधिदेव विष्णुको देकर शंकरने उनसे
कहा—देवेश ! वायु, अग्नि, छः नाभिसे एवं दो युगोंसे युक्त तीव्रगतिशील और समस्त आयुधोंका नाश करनेवाला
सुदर्शन नामका यह श्रेष्ठ आयुध है । सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये इसके अगोंमें देवता, मास, राशियाँ, छः ऋतुएँ,
अग्नि, सोम, मित्र, वरुण, शचीरिति इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, प्रजापति, बलवान् हनूसान्, धन्वन्तरि देव, तप एवं
तपस्य—ये तथा चैत्रसे लेकर फाल्गुनतकके बारह महीने प्रतिष्ठित हैं ॥ २२-२७ ॥

त्वमेवमाथाय विभो वरायुधं शत्रुं सुराणां जहि मा विशद्विधायाः ।

अमोघ एषोऽमरराजपूजिता धृतो मया नेत्रगतस्तपोबलात् ॥ २८ ॥

शत्रुनाः शम्भुना विष्णुः भवं वचनमग्रवीत् । कथं शम्भो विजानीयाममोघो मोघ एव वा ॥ २९ ॥

वरायुधो विभो चक्रः सर्वत्रामतिवस्तव । जिहासार्थं तवैवेह प्रदेष्टेऽप्यामि प्रतीच्छ भोः ॥ ३० ॥

तदापयं वामुदेवस्य निशम्याह पिनाकधृक् । यद्येवं प्रक्षिपस्वेति निर्विशद्वेन चेतसा ॥ ३१ ॥

विभो ! आप इस श्रेष्ठ आयुधको लेकरके निर्भीक होकर देवोंके शत्रुका संहार करें । मैंने असुरराजसे आराधित
इस अमोघ आयुधको तपसे ब्रह्मसे अपने नेत्रमें क्षित कर लिया था । शम्भुके इस प्रकार कहनेपर विष्णुने
संकरसे यह वचन कहा—शम्भो ! मुझे यह कैसे माटम होगा कि यह अथ अमोघ या मोघ है ? विभो ! यदि
अमोघ यह वर अमोघ तथा सर्वत्र विना किसी बाधके निरन्तर गतिशील है तो इसको जाननेके लिये मैं
आपसे ही उग्र इसे चक्रक हूँ । आप इसे स्वीकार करें । वामुदेवके उस वचनको सुनकर पिनाकधारीने कहा—
जिहासार्थं ही तो निर्विकल होकर मेरे उग्र इसे चक्रकये ॥ २८-३१ ॥

तन्मांशानयनार्थं श्रुत्या विष्णुः सुदर्शनम् । मुमोच तेजो जिहासुः शङ्करप्रति वेगवान् ॥ ३२ ॥

सुराधिकारविधायं चक्रमभ्येय्य शूलिनम् । विद्या चकार विश्वेशं यदेषं यदयाजकम् ॥ ३३ ॥

हरं हरिभिक्षुभानुं दृष्ट्वा हृत्तं महाभुजः । मीढोपप्लुतशेहस्तु प्रणिपातपरोऽभवत् ॥ ३४ ॥

पादप्रणामात्पत्नरं पीड्य शमोदरं भवः । प्राह प्रीतिपरः श्रीमान्मुक्तिद्वेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

महादेवने उक्त वचनको सुनकर विष्णुने सुदर्शनके तेजको जाननेकी अभिप्रायसे उसे वेगसे शंकरके ऊपर
धरना । विष्णुने हाथसे उँहा यह वर चक्र लेकरके निकट गया और उँहें वाञ्छा विश्वेश, यदेष तथा
यदयाजकके रूपमें पीट भगनेसे हाथसे कर दिया । शंकरको नीचे पलनेमें कड़ा हुआ देखकर महाबाहू विष्णु

संकुचित हो गये। वे (शंकरको) प्रणाम करने लगे। चरणोंमें प्रणत हुए दागोदरको देखा। श्रीमान् अपने (शंकरने) प्रसन्नतापूर्वक बार-बार 'उठो-उठो' कहते हुए (यह) यज्ञा—॥ ३२-३५ ॥

प्राकृतोऽयं महावाहो विकारदचकलेमिना । निहृत्सो न स्वभाषो मे सोऽच्छेद्योऽप्राण एवम् ॥ ३६ ॥
 तद्यदेतानि चक्रेण श्रीणि भागानि केशव । कृतानि तानि पुण्यानि भविष्यन्ति न केशव ॥ ३७ ॥
 हिरण्याक्षः स्मृतो ह्येकः सुवर्णाक्षस्तथा परः । तुनीयश्च विरूपाक्षश्चयोऽमी पुण्यदा कृणाम् ॥ ३८ ॥
 उत्तिष्ठ गच्छस्व विभो निहन्तुममर्पदन्तम् । श्रीदाम्नि निहते विष्णो नम्यविष्णविति वृत्तता ॥ ३९ ॥
 इत्येवमुक्तो भगवान् हरेण गण्डध्वजः । गत्वा सुरगिरिप्रसंगं श्रीदामान् पदार्थं ॥ ४० ॥
 तं दृष्ट्वा देवदर्पजं दैत्यं देववरो हरिः । मुमोच चक्रं वेणुर्ध्वं हनोऽपीति वृत्तगुह्यं ॥ ४१ ॥

महावाहो ! चक्रकी नेमिद्वारा मेरा यह प्राकृत विकार ही काटा गया है। इसके द्वारा मेरा स्वभाव गदी क्षत हुआ है। यह तो अच्छे पत्र अदाय है। केज्ज ! चक्रद्वारा किये गये ये तीनों अंश निरुपदेष्ट पुण्य प्रदान करनेवाले होंगे। एक अंश हिरण्याक्ष नामधारी, दूसरा सुवर्णाक्ष नामधारी और तीसरा विरूपाक्ष नामधारी होगा। ये तीनों अंश मनुष्योंके लिये पुण्यप्रदान होंगे। विभो ! उठिये और देव-शत्रुना वर करनेके लिये जाइये। विष्णो ! श्रीदामाके वध किये जानेपर देवता प्रसन्न होंगे। शंकरके इस प्रकार कहनेपर भगवान् गण्डध्वजने पर्वतकी ऊँची चोटीपर जाकर श्रीदामाको देवा। देवताओंके दर्पका विनाश करनेवाले उस दैत्यको देवापर देव भ्रम विष्णुने बार-बार (यह लो) 'तुम मारे गये' ऐसा कहते हुए तीव्र गतिसे चक्र चलाया ॥ ३६-४१ ॥

तनस्तु तेनाप्रतिपौरुषेण चक्रेण दैत्यस्य शिरो निरुक्ष्मत् ।
 संछिन्नरीषीं निपपात शैलाद् वज्राहतं शैलशिरो ययैव ॥ ४२ ॥
 तस्मिन् हते देवरीषीं सुरारिनां समाराध्य विरूपनेत्रम् ।
 लब्ध्वा च चक्रं प्रवरं महायुधं जगाम देवो निलयं पयोनिधिम् ॥ ४३ ॥
 सोऽयं पुत्र विरूपाक्षो देवदेवो महेश्वरः । तमाराध्य वेत् साधो क्षीरेणेच्छसि भोजनम् ॥ ४४ ॥
 तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा योतमन्युसुतो बली । तमाराध्य विरूपाक्षं प्रातः क्षीरेण भोजनम् ॥ ४५ ॥
 एवं तयोक्तं परमं पवित्रं संछेदनं शर्यतनोः पुरा वै ।
 तत्तीर्यवयं स महासुरो वै समाससादाय सुपुण्यहेतोः ॥ ४६ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे इवशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

निर तो अनुपम पौरुषवाले उस चक्रने दैत्यका मन्त्रक कट डारा। मन्त्रक कट जानेकर ऊपरसे इस प्रकार गिरा जैसे बरसे आहत होकर पर्वतकी ऊँची चोटी गिरती है। उस देव-शत्रुके मुरारिने विरूपाक्ष शंकरकी आराधना की और चक्ररूपी श्रेष्ठ महायुध लेकर वे देव क्षीरसागरे चले गये। [योतमन्युकी धर्मशील पत्नी आत्रेयी कहती है—] पुत्र ! ये बड़ी देव-देव साधो ! यदि तुम दूधके साथ भोजन करना चाहते हो तो उनकी सेवा-भूजा करो। यदि तमाराध्य विरूपाक्ष शंकरके आराधनाकर दुग्धसे युक्त योतमन्युके वचन पुत्रने उन विरूपाक्ष शंकरकी आराधनाकर दुग्धसे युक्त इस प्रकार प्राचीन कर्ममें कटित हुई शंकरके शरीर-छेदनसे सम्बद्ध उसी श्रेष्ठ तीर्थमें वे मशान् अन्न प्रहाद सुन्दर पुण्य-प्राप्तिके लिए

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें ध्यासीधो

[अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः]

पुरुषस्य उवाच

नामिहस्त्रीर्यथे स्नान्वा दृष्ट्वा देवं त्रियोत्तमम् । पूजयित्वा सुवर्णाक्षं नैमिषं प्रययौ नतः ॥ १ ॥
 तत्र नौर्यन्नाहचारिणि शिवात्पापहृत्पाणि च । गोमत्याः काञ्चनाक्ष्याश्च गुरुद्वयाश्च मध्यतः ॥ २ ॥
 तेषु स्नान्वाचर्य देवेशं पीनचास्रसमच्युतम् । प्रहरीतपि च सम्पूज्य नैमिशारण्यवासिनः ॥ ३ ॥
 द्युपदं नथेशानं सम्पूज्य विधिना नतः । गयायां गोपतिं द्रष्टुं जगाम स महाहनुः ॥ ४ ॥

निगमीवौ अध्याय प्रारम्भ

(प्रहादको अनुक्रमगत नौर्य-यात्रामें अनेक तीर्थोंका महत्त्व)

पुरुषस्यजो बोले—प्रहादने उस उत्तम तीर्थमें स्नान कर त्रिनयन महादेवका दर्शन किया और सुवर्णाक्षकी पूजाकर वे नैमिशारण्य चले गये । वहाँ गौमती, काञ्चनाक्षी और गुरुद्वयके मध्यमें पाप-नाश करनेवाले तीस हजार तीर्थ हैं । उनमें स्नानकर उपोसे पीनचास्र धारण करनेवाले देवेश्वर अच्युतकी पूजा की । नैमिशारण्यमें रहनेवाले अतिथीकी पूजा करनेके पश्चात् देवशिष्य महेशका विधिसूक्त पूजन कर वे महानुर गोपतिका दर्शन करनेके दिने महातीर्थमें चले गये ॥ १-४ ॥

तत्र प्रथम्यजे स्नान्वा कृत्वा चास्य प्रदक्षिणाम् । पिण्डनिर्घपणं पुण्यं पितृणां स चकार ह ॥ ५ ॥
 उदपानं तथा स्नान्वा तत्राभ्यर्च्य पितृन् वशी । गदापाणिं समभ्यर्च्य गोपतिं चापि शङ्करम् ॥ ६ ॥
 इन्द्रनीथं तथा स्नान्वा संतप्य पितृदेवताः । महानदीजले स्नान्वा सरयूमाजगाम सः ॥ ७ ॥
 तस्यां स्नान्वा समभ्यर्च्य गोमतारं कुटोशयम् । उपोष्य रजनीमेकां विरजां नगरीं ययौ ॥ ८ ॥

वहाँ प्रथम यजे स्नान और उमकी प्रदक्षिणा कर उन्होंने पितृदेवके निमित्त पवित्र पिण्डदान किया । (पित) उदपानमें स्नानकर त्रिवेदिभ्यः (प्रहाद-) ने पितृदेव, गदापाणि (विष्णु) एवं गोपति शंकरकी पूजा की । उदपानमें (पी) स्नानकर उन्होंने पितृदेव एवं देवोंका तर्पण किया तथा महानदीके जलमें स्नानकर वे सरयूमें स्नान करने । उन्में स्नानकर उन्होंने गोमतारमें कुटोशयकी पूजा की एवं वहाँ एक रात्रि निवास कर वे पितृदेवनीथमें गये ॥ ५-८ ॥

स्नान्वा विरजये तीर्थं यस्या पिण्डं पितृन्त्वा । दर्शनार्थं ययौ श्रीमानजितं पुरुषोत्तमम् ॥ ९ ॥
 तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षमक्षरं परमं शुचिः । पद्मपात्रमुप्य तत्रैव महेन्द्रं दक्षिणं ययौ ॥ १० ॥
 तत्र देवयगं शम्भुमूर्तनागेश्वरं हरम् । दृष्ट्वाच्यं सम्पूज्य पितृन् महेन्द्रं चोत्तरं गतः ॥ ११ ॥
 तत्र देवयगं शम्भुं गोपालं सोमपायितमम् । दृष्ट्वा स्नान्वा सोमतीर्थं सत्याचलमुपागतः ॥ १२ ॥

पितृदेवोंके स्नान करनेके बाद पितृदेवोंके पिण्डदान कर वे श्रीमान् पुरुषोत्तम अजितका दर्शन करने चले गये । वे देवयगः प्रहादः अर्थात्की पुण्डरीकाक्षर उर्वान करनेके पश्चात् सः शन्तेनक वहाँ निवासकर दक्षिण दिशिमें ईश्वर सोमदेवकी पूजा करने गये । (१०) वहाँ देवश्रेष्ठ अर्थात्नागेश्वर महादेवका दर्शन तथा पूजनकर वे पितृदेवोंके स्नान करने उपर दिशिमें गये चले गये । वहाँ देवयग शम्भु और सोमपायी गोपालका दर्शन करनेके पश्चात् सोमतीर्थमें स्नान कर वे महाहनुः पर गये ॥ ९-१२ ॥

तत्र स्नान्वा महादेवयगं वैदुष्टं धार्य भक्तिः । सुगन् पितृन् समभ्यर्च्य पाण्डियात्रं गिरिं गतः ॥ १३ ॥
 तत्र स्नान्वा महादक्षिणं पूजयित्वा महागण्डिवम् । पद्मोत्प्लेहां चाभ्येच्य विध्वंस्यं दृष्ट्वा सः ॥ १४ ॥
 पद्म देवयगः शम्भुमूर्तनागं च सुपूर्वाजितम् । विध्वंस्यपमधान्मातं दर्शयामास योगवित् ॥ १५ ॥
 तत्र महद्विधातोषे स्नान्वाभ्यर्च्य महेश्वरम् । जगामाद्रिं स सोमनिधिं प्रहादो मलयचलम् ॥ १६ ॥

वहाँ महोदकीमें स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णु, देवताओं एव पितरोंका पूजन कर वे पारियात्र पर्यन्त चले गये । वहाँ लाहुरीमें स्नान करनेके बाद उन्होंने अपराजिनका पूजन किया और कशेरुदेशमें जाकर विश्वरूपका दर्शन किया । वहाँ योगवित् देववर शम्भुने गणोंसे पूजित अपना विश्वरूप प्रकट किया था; वहाँ मङ्गलिकाके जलमें स्नान करनेके बाद महेश्वरका पूजनकर प्रह्लाद सुगन्धियुक्त मन्त्र पर्वन्तर गये ॥ १३-१६ ॥

महाहरे ततः स्नात्वा पूजयित्वा च शङ्करम् । ततो जगाम योगात्मा द्रष्टुं विन्ध्वे सदाशिवम् ॥ १७ ॥
ततो विप्राशालिल्ले स्नात्वाभ्यर्च्य सदाशिवम् । त्रिपथं समुपेयाथ अन्तो नगरीं ययौ ॥ १८ ॥
तत्र विप्राज्ञले स्नात्वा विष्णुं सम्पूज्य भक्तितः । द्मशानस्य ददर्शाय महाकालवपुर्धरम् ॥ १९ ॥
तस्मिन् हि सर्वसत्त्वानां तेन रूपेण शङ्करः । तामसं रूपमास्थाय भंहारं कुरुते धरी ॥ २० ॥

उसके बाद महाहदमें स्नान करनेके पश्चात् शंकरकी पूजाकर योगात्मा प्रह्लाद सदाशिवका दर्शन करनेके लिये विन्ध्वपर्वन्तर गये । उसके बाद विप्राज्ञके जन्ममें उन्होंने स्नान किया और सदाशिवका पूजन किया । उसके पश्चात् तीन रातोंकर वहाँ निगम करने के अन्तो नगरीमें गये । वहाँ शिप्राके जन्ममें स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णुका पूजनकर उन्होंने द्मशानमें स्थित महाकाल शरीरगरीका दर्शन किया । वहाँ उस रूपमें स्थित आमन्सी शंकर तामस्वरूप धारण करके समस्त प्राणियोंका सहाय करते हैं ॥ १७-२० ॥

तत्रस्थेन सुरेदोत द्येतकिर्नाम भूपतिः । रक्षितस्वन्तकं दग्ध्या सर्वभूतापहारिणम् ॥ २१ ॥
तत्रातिहृष्टो वसति नित्यं शर्वः सहोमया । वृतः प्रमथकोटोभिर्वहुभिस्त्रिदशार्धितः ॥ २२ ॥
तं दृष्ट्वा महाकालं कालकालान्तकान्तकम् । यमसंयमनं मृत्योर्मृत्युं चित्रविचित्रकम् ॥ २३ ॥
द्मशाननिलयं शम्भुं भूतनायं जगत्पतिम् । पूजयित्वा शूलधरं जगाम निषधान् प्रति ॥ २४ ॥

वहाँपर स्थित हुए सुरेशने सर्वभूतापहारी (समस्त भूतोंका अपहरण करनेवाले) अन्तको जन्मकर इवेनकि नामक राजाकी रक्षाकी थी । करोड़ों गणोंसे घिरे हुए एव देवोंसे पूजित भगवान् शंकर उमाके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वहाँ नित्य निवास करते हैं । उन कालोंके काठ, अन्तकोंके अन्तक, यमोंके नियामक, मृत्युके मृत्यु, चित्रविचित्र द्मशानके वासी, भूतपति, जगत्पति, शूलधारण करनेवाले शंकरका दर्शन एव पूजनकर वे त्रिपद-देशकी ओर चले गये ॥ २१-२४ ॥

तत्रामरेद्वरं देवं दृष्ट्वा सम्पूज्य भक्तितः । महोदये समभ्येत्य हयमोर्व ददर्श सः ॥ २५ ॥
अश्वतीर्थे ततः स्नात्वा दृष्ट्वा च तुरगाननम् । श्रीधरं चैव सम्पूज्य पञ्चालविपर्य ययौ ॥ २६ ॥
तत्रेवरगुणैर्युक्तं पुत्रमर्थपतेरथ । पाञ्चालिकं वसो दृष्ट्वा प्रयागं परतो ययौ ॥ २७ ॥
स्नात्वा सन्निहिते तीर्थे यामुने लोकविश्रुते । दृष्ट्वा वटेश्वरं रुद्रं माधवं योगशापिनम् ॥ २८ ॥
द्वावेव भक्तितः पूज्यौ पूजयित्वा महासुरः । माघमासमयोपोष्य ततो वाराणसीं गतः ॥ २९ ॥

वहाँ श्रद्धापूर्वक अमोच्चर देवका दर्शन एव अर्चन करनेके बाद उन्होंने महोदयमें जाकर हयमोर्वका दर्शन किया । उसके बाद अश्वतीर्थमें स्नान कर अधमुषका दर्शन तथा श्रीरका अर्चन कर वे पाञ्चाल देशमें गये । जितेन्द्रिय प्रह्लाद वहाँ ईश्वरीय गुणोंसे सन्तन मनपति कुबेरके पुत्र पाञ्चालिकका दर्शनकर प्रयाग चले गये । निकटमें रहनेवाले यमुनाके विश्वान तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् वटेश्वर रुद्र तथा योगशापी माघका दर्शन एवं श्रद्धापूर्वक उन दोनों पूजनीयोंका अर्चन कर उन महासुरने माघमासमें वहाँ निवास किया । उसके बाद वे वाराणसी चले गये ॥ २५-२९ ॥

नतोऽन्यां यस्यायां च तीर्थेषु च पृथक् पृथक् । सर्वपापहराद्येषु स्नात्वाऽर्च्यं पितृदेवताः ॥ ३० ॥
 प्रदक्षिणां कृत्वा पूर्णं पूज्याविमुक्तकेशवौ । लोलं द्विवाकरं दृष्ट्वा ततो मधुवनं ययौ ॥ ३१ ॥
 तत्र स्वयम्भुवं देवं ददर्शानुरागसत्तमः । नमभ्यर्च्यं महातेजाः पुष्करारण्यमागमत् ॥ ३२ ॥
 तेषु त्रिविधिं तीर्थेषु स्नान्त्वाऽर्च्यं पितृदेवताः । पुष्करगङ्गमयोनयं ब्रह्माणं चाप्यपूजयत् ॥ ३३ ॥
 नतो भूयः सगन्धान्नायं वैलोक्यविश्रुते । कौटिलीयं रुद्रकोटिं ददर्श वृषभध्वजम् ॥ ३४ ॥

उसके बाद मन्मथ पापोंका अक्षरण करनेवाले अग्नी और ब्रह्माके विभिन्न तीर्थमें स्नानके बाद पितरों एवं देवोंका अर्चनकर उन्होंने (यामगर्भी) पुनीशी प्रदक्षिणा की । उसके बाद अत्रिमुक्तेश्वर एवं केशवकी पूजा तथा लोकायतिका दर्शन करने, वे मधुवन चले गये । महातेजस्वी अनुरोत्तम प्रह्लाद वहां स्वयम्भू देवका दर्शन एवं पूजनकर पुष्करारण्यमें गये । उन तीनों तीर्थोंमें स्नान करनेके बाद पितरों एवं देवोंका पूजन कर उन्होंने अर्चनकर, पुष्करगङ्गा तथा ब्रह्मका अर्चन किया । उसके बाद उन्होंने कौटिलीयमें सरस्वतीके तटपर स्थित लोकविख्यात रुद्रकोटि पूज्यभक्तका दर्शन किया ॥ ३०-३४ ॥

नैमित्तिक्या द्विजवरा मानयेयाः सर्वैन्धवाः । धर्मारण्याः पौष्करेया दण्डकारण्यकास्तथा ॥ ३५ ॥
 चाम्पेया भाग्यकच्छेया देविकानोरगाद्य ये । ते तत्र शङ्करं द्रष्टुं समायाता द्विजातयः ॥ ३६ ॥
 कौटिल्यं तथा स्नानरः सिद्धा एतद्दर्शनलालसाः । अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं वादिनो मुने ॥ ३७ ॥
 तान् संश्रुत्पान्तरेषु दृष्ट्वा महापापान् दुःखकिल्बिषान् । तेषामेवानुक्रम्यायं कौटिलीमूर्त्तिरभूद् भवः ॥ ३८ ॥

(कथा है कि प्राचीन समयमें) नैमित्तिकारण्य, मगध, सिन्धुप्रदेश, धर्मारण्य, पुष्कर, दण्डकारण्य, चम्पा, मद्रास एवं वैशालीके तटपर रहनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण बहो संकरका दर्शन करने आये थे । मुने ! शिवके दर्शनकी इच्छासे करोड़ों सिद्ध तपस्वी भी पहले दर्शन करनेका, भी पहले दर्शन करनेका इस प्रकारका विवाद करने लगे । उन विवादकारियोंको शिव जीका दृष्टा देवका संकल्पे उनपर श्याकर करोड़ों मूर्तियाँ धारण कर लीं ॥ ३५-३८ ॥

तनन्ते मुनयः प्रोताः सर्व एव महेश्वरम् ।
 समुपजयन्तमन्त्रुर्षी तीर्थे कृत्वा पृथक् पृथक् । इत्येवं रुद्रकोटीति नाम्ना शम्भुरजायत ॥ ३९ ॥
 तं ददर्श महातेजाः प्रह्लादो भक्तिमान् वशी ।
 कौटिलीयं ततः स्नान्त्वा नर्पयित्वा यत्नं पितृन् । रुद्रकोटिं समभ्यर्च्यं जगाम कुरुजाङ्गलम् ॥ ४० ॥
 तत्र देववरं स्थायुं शङ्करं पार्यनाम्रियम् । सरस्वतीजले मग्नं ददर्श सुरपूजितम् ॥ ४१ ॥
 गार्ग्येणोत्सन्ननि स्नान्त्वा स्थायुं समपूज्य भक्तितः । स्नान्त्वा द्वापयमेधे च समपूज्य च मुगान् पितृन् ॥ ४२ ॥

उसके बाद वे सभी मुनी सर्वपूर्वका अलग-अलग तीर्थ बनाकर महेश्वरकी पूजा करते हुए निवास करने लगे । इस प्रकार शम्भुराज नाम रुद्रकोटि रहा । महातेजस्वी श्रद्धालु जितेन्द्रिय प्रह्लादने उनका दर्शन किया एवं कौटिलीयमें मग्नकर शम्भुके तथा शिवदेवता तर्पण किया । उसके बाद रुद्रकोटिका अर्चनकर वे कुरुजाङ्गलमें चले गये । इतनेमें ही मगनीके नामसे विमान हुए देवताओंमें पूजित स्थायु—गार्गवीपति भगवान् संकरका दर्शन किया । मगनीके नामसे स्नानकर इतनेमें श्रद्धार्थक समुशी पूजा की तथा दशाक्षरमें स्नानकर देवों का तर्पण करने लगा ॥ ३९-४२ ॥

तदस्मिन्ने समपूज्य स्नानं कृत्यात्ते मुनिः । अभिवाद्य शुक्रं शुक्रं सोमनीं जगाम ह ॥ ४३ ॥
 तत्र स्नात्वाऽर्च्यं च पितृन् सोमं समपूज्य भक्तिः । धार्मिकोऽथामभ्येन्य स्नानं चक्रे मादायशाः ॥ ४४ ॥
 प्रदक्षिणां कृत्वा तत्रैव गच्छन् स्नानं पुष्टिमान् । भूयः कुरुभजं दृष्ट्वा पद्मान्यां जगाम ततः ॥ ४५ ॥

तत्रार्च्यं मित्रावरुणी भास्करौ लोकपूजितौ । कुमारधारामयेत्य ददर्श स्वामिनं वशी ॥ ४६ ॥
स्नात्वा कपिलधारतयां संतप्यार्च्यं पितृन् सुरान् । द्यूता स्कन्दं समभ्यर्च्यं नर्मदायां जगाम ह ॥ ४७ ॥
तस्यां स्नात्वा समभ्यर्च्यं वासुदेवं त्रियः पतिम् । जगाम भूधरं द्रष्टुं वाराहं चक्रधारिणम् ॥ ४८ ॥

कल्याणहृदमें स्नान करनेके बाद पवित्र होकर उन्होंने सहस्रलिङ्गका अर्चन किया । इसके बाद (शुक्लीतीर्थमें) गुरु शुकान्वयितो प्रणामकर वे सोमतीर्थ चले गये । वहाँ स्नान करनेके बाद श्रद्धार्पूर्वक पितरों एवं सोमका अर्चन करके उन महाप्रदायीने श्रीरिकावाममें जाकर स्नान किया । वहाँके वृक्षकी प्रदक्षिणाकर तथा वरुणकी पूजा करनेके पश्चात् बुद्धिमान् प्रह्लाद फिर कुम्भजन्त दर्शनकर पद्मा नामकी नगरमें चले गये । वहाँ लोचपूजित तेजस्वी मित्रावरुणका पूजन करनेके बाद कुमारधारामें जाकर जितेन्द्रिय प्रह्लादने स्वामी कार्त्तिकेयका दर्शन किया । कमिटरागमें स्नान करके पितृर्तण, देवपूजन एवं स्कन्दका दर्शन तथा अर्चन कर वे नर्मदाके निकट गये । उसमें स्नान करके ऋषीवृत्ति वासुदेवकी अर्चना कर वे चक्र धारण करनेवाले भूधर वाराहदेवका दर्शन करने गये ॥ ४३-४८ ॥

स्नात्वा क्रोकामुखे तौर्ये सम्पूज्य धरणीधरम् । त्रिसौवर्णं महादेवमुद्देशं जगाम ह ॥ ४९ ॥
तत्र नारीहृदे स्नात्वा पूजयित्वा च शङ्करम् । कालिञ्जरं समभ्येत्य नालकण्ठं ददर्श सः ॥ ५० ॥
नीलतीर्थजले स्नात्वा पूजयित्वा ततः शिवम् । जगाम सागरानूपे श्वासे द्रष्टुमीश्वरम् ॥ ५१ ॥
स्नात्वा च संगमे नद्याः सरस्वत्याणैरथ च । सोमेश्वरं लोकपतिं ददर्श स कपर्दिनम् ॥ ५२ ॥
यो दक्षशापनिर्द्देशः क्षयौ ताराधिपः शशी । आप्यायितः शङ्करेण विष्णुना सकर्षिना ॥ ५३ ॥

वे क्रोकामुख तीर्थमें स्नान और धरणीधरकी पूजा करके अर्बुददेशमें त्रिसौवर्ग महादेवके पास गये । वहाँ उन्होंने नारीहृदमें स्नान और शङ्करकी अर्चना करनेके बाद कालिञ्जरमें आकर नीलकण्ठका दर्शन किया । नीलतीर्थके जलमें स्नान करनेके बाद शिवका पूजन कर वे समुद्रके तटपर प्रभासतीर्थमें भगवान्का दर्शन करने गये । वहाँ उन्होंने सरस्वती नदी और सागरके संगममें स्नानकर लोकपति कपर्दी सोमेश्वरका दर्शन किया । कपर्दी शंकर एवं विष्णुने दक्षके शापसे दग्ध हुए एवं क्षयरोगसे प्रसित ताराभिष चन्द्रभाक्को पूर्ण किया था ॥ ४९-५३ ॥

तत्रार्च्यं देवप्रवरी प्रजगाम महालयम् । तत्र हृद् समभ्यर्च्यं प्रजगामोत्तपन् हुक्च ॥ ५४ ॥
पद्मनाभं स तत्रार्च्यं सप्तगोदावरं ययौ । तत्र स्नात्वाऽर्च्यं विश्वेशं भीमं वैलोचयन्निवसन् ॥ ५५ ॥
गत्वा दारुवने श्रीमान् लिङ्गं स ददर्श ह । तमर्च्यं ब्राह्मणीं गत्वा स्नात्वाऽर्च्यं त्रिदशोद्देशम् ॥ ५६ ॥
प्लक्षवतरणं गत्वा ध्यानिलासमपूजयत् । ततश्च बुण्डिनं गत्वा सम्पूज्य प्राणवृद्धिदम् ॥ ५७ ॥
दर्पारके चतुर्थाहुं पूजयित्वा विधानतः । मागधारण्यमासाद्य ददर्श यसुधाशिरम् ॥ ५८ ॥
तमर्चयित्वा विश्वेशं स जगाम प्रजासुखम् । महातीर्थं ततः स्नात्वा वासुदेवं प्रणम्य च ॥ ५९ ॥
शोणं सम्प्राप्य सम्पूज्य रुक्मवर्माणमोद्वरम् । महाकोट्यां महादेवं हंसाख्यं भक्तिमानथ ॥ ६० ॥

पूजयित्वा जगामाथ सैन्धवारण्यमुत्तमम् ।

तत्रेश्वरं सुनेत्राख्यं शङ्खशूलधरं गुरुम् । पूजयित्वा महाबाहुः प्रजगाम त्रिविष्टयम् ॥ ६१ ॥

उन दोनो श्रेष्ठ देवोंका पूजनकर वे महालय गये; वहाँ रुद्रका पूजन कर वे उत्तलुङ्ग गये । वहाँ पद्मनाभका अर्चन कर वे सप्तगोदावर-तीर्थमें गये । वहाँ स्नान करनेके बाद उन्होंने तीनों ओकोंसे वन्दित भीमविरेश्वरका पूजन किया । दारुवनमें जाकर श्रीमान् प्रह्लादने लिङ्गका दर्शन किया । उनकी पूजा करनेके पश्चात् ब्राह्मणी (नदी-) में जाकर उन्होंने स्नान और त्रिदशेश्वर महादेवकी अर्चना की । उसके बाद प्लक्षवतरणमें जाकर

उन्होंने श्रीनिवासकी अर्चना की । फिर कुण्डिनमें जाकर प्राणोंके तृप्तिदाता देवका अर्चन किया । उन्होंने शूर्पारकमें चतुर्भुज देवकी भलीभाँति पूजा करनेके बाद मागधारण्यमें जाकर वपुत्राविपका दर्शन किया । उन विश्वेशका पूजन कर वे प्रजामुखमें गये । उसके बाद उन्होंने महातीर्थमें स्नानकर वासुदेवको प्रणाम किया । उन्होंने शोणतटपर जाकर स्वर्णकवच धारण करनेवाले ईश्वरका पूजन किया । उसके बाद श्रद्धालु-(प्रह्लाद-) ने महाकोशीमें हंस नामक महादेवका अर्चन किया एवं श्रेष्ठ सैन्यधारण्यमें जाकर शङ्ख तथा शूल धारण करनेवाले सुनेत्र नामक पूज्य ईश्वरका पूजन किया । उसके बाद वे महाबाहु त्रिविष्टप चले गये ॥ ५४-६१ ॥

तत्र देवं महेशानं जटाधरमित्ति श्रुतम् । तं दृष्ट्वाऽर्च्यं हरिं चासौ तीर्थं कनखलं ययौ ॥ ६२ ॥
तत्रार्च्यं भद्रकालीशं वीरभद्रं च दानवः । धनाधिपं च मेघाङ्गं ययावथ गिरित्रजम् ॥ ६३ ॥
तत्र देवं पशुपतिं लोकनाथं महेश्वरम् । सम्पूजयित्वा विधिवत्कामरूपं जगाम ह ॥ ६४ ॥
शशिप्रभं देववरं त्रिनेत्रं सम्पूजयित्वा सह वै मृडान्या ।
जगाम तीर्थप्रवरं महाख्यं तस्मिन् महादेवमपूजयन् सः ॥ ६५ ॥

वहाँ जटाधर नामसे प्रसिद्ध महेशान देवका दर्शन और विष्णुकी पूजा कर वे कनखल तीर्थमें गये । दानव प्रह्लाद वहाँ भद्रकालीश और वीरभद्र तथा धनाधिर मेघाङ्गको पूजा कर गिरित्रज चले गये । वहाँ लोकनाथ महेश्वर पशुपति देवका विधिवत् अर्चन कर वे कामरूप चले गये । वहाँ चन्द्रकी कान्तिसे युक्त देवश्रेष्ठ त्रिनेत्र शंकरकी मृडानी-(पार्वती-)के साथ विधिवत् अर्चना कर प्रह्लाद श्रेष्ठ महाख्य तीर्थमें गये और वहाँपर (भी) उन्होंने महादेवकी अर्चना की ॥ ६२-६५ ॥

तनस्त्रिकूटं गिरिमन्त्रियुत्रं जगाम द्रष्टुं स हि चक्रपाणिनम् ।
तर्मोढ्य भक्त्या तु गजेन्द्रमोक्षणं जजाप जप्यं परमं पवित्रम् ॥ ६६ ॥
तत्रोप्य दैत्येश्वरसुनुरादगन्मासत्रयं मूलफलाम्बुभक्षी ।
निवेद्य विप्रप्रचरेषु काञ्चनं जगाम घोरं स हि दण्डकं वनम् ॥ ६७ ॥

तत्र दिव्यं महाशालं वनस्पतिवपुर्धरम् । ददर्श पुण्डरीकाक्षं महाश्यापदवारणम् ॥ ६८ ॥
तस्याग्रस्थात् विगत्रं स महाभागवतोऽसुरः । स्थितः स्थण्डिलशायोऽतु पठन् सारस्वतं स्तवम् ॥ ६९ ॥

उसके बाद वे अत्रिपुत्र चक्रपाणि विष्णुका दर्शन करनेके लिये त्रिकूट पर्वतपर चले गये और श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा कर उन्होंने परम पवित्र जपनेयोग्य गजेन्द्र-मोक्षणस्तवका पाठ किया । मूल, फल एवं जलका भक्षण करते हुए दैत्येश्वर-पुत्र प्रह्लादने वहाँ तीन मासतक श्रद्धापूर्वक निवास किया । उसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान कर वे घोर दण्डकवन चले गये । वहाँ उन्होंने महान् हिन्द पशुओंके निवारक, महान् शाखाओंसे युक्त वनस्पतिकी शरीर धारण करनेवाले पुण्डरीकाक्षका दर्शन किया । सारस्वतस्तोत्रका पाठ करते हुए महान् विष्णुभक्त असुर प्रह्लादने तीन रातोंतक उसके नीचे बिना विस्तारके चबूतरेपर शयन किया ॥ ६६-६९ ॥

तस्मात् तीर्थवरं विद्वान् सर्वपापप्रमोचनम् । जगाम दानवो द्रष्टुं सर्वपापहरं हरिम् ॥ ७० ॥
तस्याग्रतो जजापासां स्तवो पापप्रणाशनौ । यौ पुपु भगवान् प्राह क्रोडरूपी जनार्दनः ॥ ७१ ॥
तस्मादथागाद् दैत्येन्द्रः शालग्रामं महाफलम् । यत्र संनिहितं विष्णुश्चरेषु श्यावरेषु च ॥ ७२ ॥
तत्र सर्वगतं विष्णुं मन्वा चक्रे रतिं बली । पूजयन् भगवत्पादौ महाभागवतो मुने ॥ ७३ ॥
इयं तत्रोक्ता मुनिसंघजुष्टा प्रह्लादतीर्थानुगतिः सुपुण्या ।
यन्कात्तनाच्छ्रयणात् स्पर्शानाञ्च विमुक्तपापा मनुजा भवन्ति ॥ ७४ ॥
इति श्रीवामनपुराणे न्यश्रीतित्तमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

विद्वान् दानव (प्रहादत्री) वहासे सर्पपापहारी हरिजा वर्णन करने के लिये सर्पाननाशक श्रेष्ठ तीर्थमें चले गये । उन्होंने उनक सामने प्राचीन कालमें क्राड्गरी जनार्दनसे कथित पापनाश करनेवाले दो स्तोत्रोंका पाठ किया । उसके बाद वे वहाँसे दैत्येन्द्र (प्रहाद) महाकालदायक शास्त्रप्रमतीर्थमें गये । वहाँ विष्णु समस्त चर और स्वामर पदार्योंमें विराजमान है । [पुण्ड्र्यानी कहते हैं—] मुने ! वहाँ गहान् विष्णुभक्त बन्धुन् प्रहाद विष्णुको सर्वस्वामी जानकर भक्तान्क चरणोंकी पूजा करते हुए उन (की भक्ति) में परायण हो गये । मेने तुमसे मुनियोंक समूहोंसे सेविन अत्यन्त पवित्र प्रहादकी तीर्थयात्रामा वर्णन कर दिया जिसक वर्णन, ध्वज एव स्पर्शसे मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं ॥ ७०-७४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरासौवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

[शेष अध्याय अगले अङ्कमें*]

भगवान् वामनसे श्रेयःकामना

येने द्रसन्नासयिनाशहेतवे स्वमायया वामनविग्रहो धृत ।
त्रिविक्रमचेन त्रिलि बन्ध य स माय श विवरत्नहर्निशम् ॥

निन्होंने देवराज इंद्रक (दैत्योंसे पराजय-रूप) कष्टकी निवृत्तिन लिये अपनी मायास वामन- (बटु) का शरीर धारण कर लिया, त्रिदशरूप त्रिविक्रम बन्धन तीन पगोंसे सम्पूर्ण त्रिलोकीको नापत हुए जिन्होंने दैत्यराज बलिनी बँध लिया (अर्थात् उमे अनुग्रहपूर्वक एक्षर्ष-रहित कर दिया) एसे वे लक्ष्मीपति भगवान् (वामन) श्रीहरि अहर्निश (हम सबका) कल्याण करें ।
—श्रीविष्णुश्रीप्रहादनी मिश्र, 'विनय'

नम्र निवेदन और क्षमा-याचना

भगवान् वामनका लुप्त पूजनरूप यह विशेषाङ्क कल्याणक पाठकोंक करकर्मणोंमें सादर मनर्पित है । इसकी अच्छाइयों भगवन्कपाकी प्रसाद-रूपका हैं और सुखियाँ हमारी अत्यज्ञता—अबकी सामाजिक अतिवर्धना । अतः हमारी बुद्धियाँ पाठकोंक समस्त इस दृष्टिसे क्षम्य होंगी और इस पुराणक उपयोगी, उपादेय वस्तुत्विय सर्वपा रुचिप्रद, पठनीय, मननीय एव अनुपायनीय होकर कल्याणकारी होंगे—यनी हमारी आशा और विश्वास है ।

भगवान् व्यासदेवकी कल्याणकारिणी लेखनीने पुराणोंको प्रस्तुत कर विद्यका—विशेषतः मन्थरण जनवर्गका, जो तत्त्वविप्रदाँ किण्ट शक्तोंकी दुर्बलता और प्रगल्भताको सरलतया अमसाद नहीं कर सकते, उनका—महान् कल्याण किया है । पुराण विद्या सर्वसुखक, सबके लिय सुगम है और पुराण हमारी प्राचीन भारतीय सस्कृतिक प्रकाश स्तम्भ है, जिनसे हमारे जीवनक कल्याण-यज्ञ प्रकाशित एव निर्देशित है । पुराणमें हमारी सस्कृतिक मूर्तरूप तीर्थ, वन, पुरावृत्त, देवी देवताओं, सृष्टिकर्म (सर्ग-प्रतिर्सर्ग) राजवशों, मन्वन्त्यों आदिक सुनिपुण वर्गन तो मित्रता हा है, नीति और धर्मक प्रशस्त विवेचन भी सोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं ।
उपबृहण हैं, ज्ञान विज्ञानकी सस्कृतिक संपत्ति है । यदि हम पुराण-प्रदर्शित पथमें चरें, तो और

* इस जनवरी (१९८२) के विशेषाङ्कमें श्रीवामनपुराण न दे सके हसे पूरा कर रहे हैं ।

उपदेशोंका अनुपालन करें तो हमारा मङ्गलमय लोक और कल्याणमय परलोक—उभय साथ-साथ सिद्ध होते चले जायँ । आज जगद्गुरु भारतके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है ।

वामनपुराण अष्टादशपुराणोंकी शृङ्खलामें चौदहवीं कड़ीके रूपमें परिगणित है । इसमें भगवान् त्रिविक्रम- (वामन-) का माहात्म्य प्रमुखतया वर्णित है । इस पुराणमें मुख्यतः वामन-त्रिके चरित्रके अतिरिक्त शिव-पार्वती एवं नर-नारायणकी कथा, विष्णु-शिव-संवाद, देवीमाहात्म्य, पृथूदक तीर्थ, कुरुजाङ्गल क्षेत्रादि तथा अनेक अन्य तीर्थों और मूर्तियोंका सुविशद वर्णन है । कई महत्त्वके स्तोत्र (सरस्वतीस्तोत्र, पापप्रशमनस्तोत्र, गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रभृति) एवं प्रह्लाद, श्रीदामा आदिके चरित्र वर्णित हैं । त्रोंके वर्णन और माहात्म्य भी सुन्दरतासे निरूपित हैं । कर्क-चतुर्थीकथा, कायज्ज्वलीव्रतकथा, गङ्गामानसिक स्नान, गङ्गामाहात्म्य, दधिवामनस्तोत्र, वाराहमाहात्म्य, वेङ्कट-गिरिमाहात्म्य आदि इसीके अन्तर्गत माने जाते हैं । थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि यह पुराण नितान्त उपयोगी अतएव सर्वथा उपादेय है । हिन्दी-अनुवादसहित यह पुराण ८३ वें अध्यायतक 'कल्याण'के छप्यनवें वर्षके प्रथम एवं विशेष अङ्कके रूपमें हम ग्राहकोंको भेंट कर रहे हैं । (शेष दूसरे (फरवरीके) अङ्कमें देकर उपलब्ध पुराणको पूर्ण किया जा रहा है ।)

यह पुराण वैष्णवपुराण तो है ही, शिव-पार्वतीके विशद चरित्र-वर्णन होनेसे शैव भी है । विष्णु और शिवके ऐक्यका अन्टा प्रतिपादन इस पुराणकी अद्वितीय विशेषता है ।

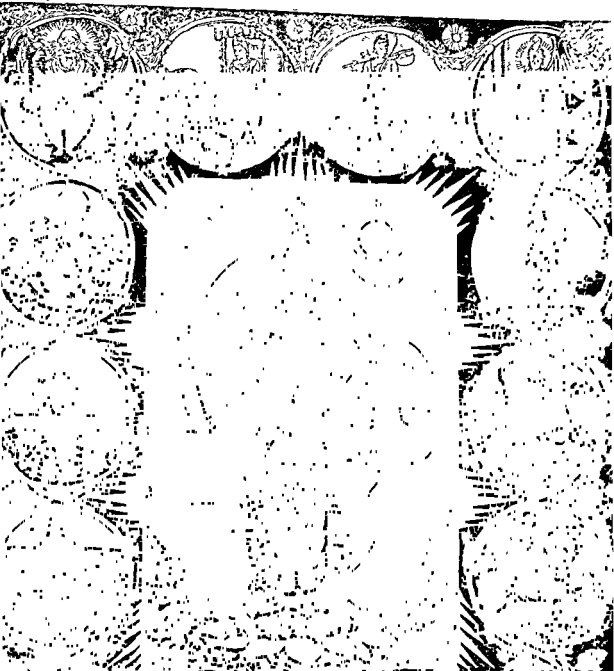
जिन श्रद्धेय सन्त-महात्माओं, पूज्य आचार्यों, मनीषी लेखकोंने शुभाशंसाएँ, शुभाशीर्वाद एवं रचनाएँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया है, उनका चिरकृग हमारे ऊपर है और उनके प्रतिदानमें हम उनसे प्रणिपातपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं । वे सहज कृपालुता-वश हमें अनुगृहीत करते रहेंगे—ऐसी आशा है ।

विशेषाङ्कके परिसीमित कलेवरमें स्थानाभावसे हम जिनके लेखादि न दे सके हैं, वे हमारी उस विवशताको देखते हुए क्षमा करेंगे जिससे हम बाध्य होकर प्रकृत जनवरीके अङ्कमें पूर्ण श्रीवामनपुराण ही न दे सके हैं और अगले अङ्कमें शेषांश देकर इसे पूरा करनेके लिये विवश हुए हैं ।

वामनपुराणके अनुवाद करनेमें जिन प्रतियोंसे हमें यथास्थान सहायता मिली है उनके सहृदय प्रकाशकों एवं संस्थानोंके हम कृतज्ञ हैं और उनका हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं । पाठ-निर्द्धारणादि कार्योंमें हमें सर्वभारतीय काशिराज्यासकी प्रतियोंसे और वेंकटेश्वर प्रेससे प्रकाशित सटीक एवं मूल प्रतियोंसे उल्लेख्य सहायताएँ मिली हैं । हम इन दोनों संस्थानोंके विशेष आभारी हैं ।

सम्पादन-कार्यमें जिन विद्वद्वरों और कर्मचारियोंने मनोयोगसे हमारी सहायता की है, उन्हें हम धन्यवाद देते हैं । प्रूफ पढ़नेवाले एवं अन्य कर्मचारियोंने भी अपने कर्तव्यके प्रति तत्परता तथा कर्तव्यशीलता दिखवायी है । वे प्रशंसाके पात्र हैं ।

कल्याणका कार्य भगवान्का कार्य है और 'श्रीवामनपुराणाङ्क' तो साक्षात् भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति ही है । इस मूर्तिकी अर्चा-पूजामें जिनका सहयोग है, वे सुतरां कल्याणके भागी हैं, उनकी कर्तव्य-निष्ठा यद्गन्मयी हो—यही हमारी उन प्रभुसे प्रार्थना है ।



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



भगवान् वामनका स्तवन

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणसङ्कलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीञ्च भगवशसि दीननाथः ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपवृंहितपूर्णबोधन्यापादितात्मतमसे हरथे नमस्ते ॥
आयुः परं चपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीर्धोभूरसाः सकलयोगगुणात्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात् त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । १७ । ८-१०)

अदितिने कहा—आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं । अच्युत ! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं; आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है । आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाऽ है । आदिपुरुष ! जो आपकी शरणमें आ जाता है, आप उसकी सारी विपत्तियोंका नाश कर देते हैं । भगवन् ! आप दीनोंके स्वामी हैं । आप हमारा कल्याण कीजिये । आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं । अनन्त होनेपर भी सञ्चलतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं । आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं । नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्वकारको नष्ट करते रहते हैं । भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ । प्रभो ! अनन्त ! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताळ, योगकी समस्त सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और अद्वितीय ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है; फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ।



Free of charge]

संस्करण १,६०,०००

[बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारतसरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये विषयवती मूल्यके कागजपर मुद्रित]



शरणागत गजेन्द्रकी पाशसे मुक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णान् पूर्णसुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाशित्यते ॥



ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरसुर्गं सततं सरन्ति ।

ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥

(भीष्म० पु० १३।७२)

वर्ष १९३३ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, फरवरी १९८२ ई० { संख्या २
पूर्ण संख्या ६६३

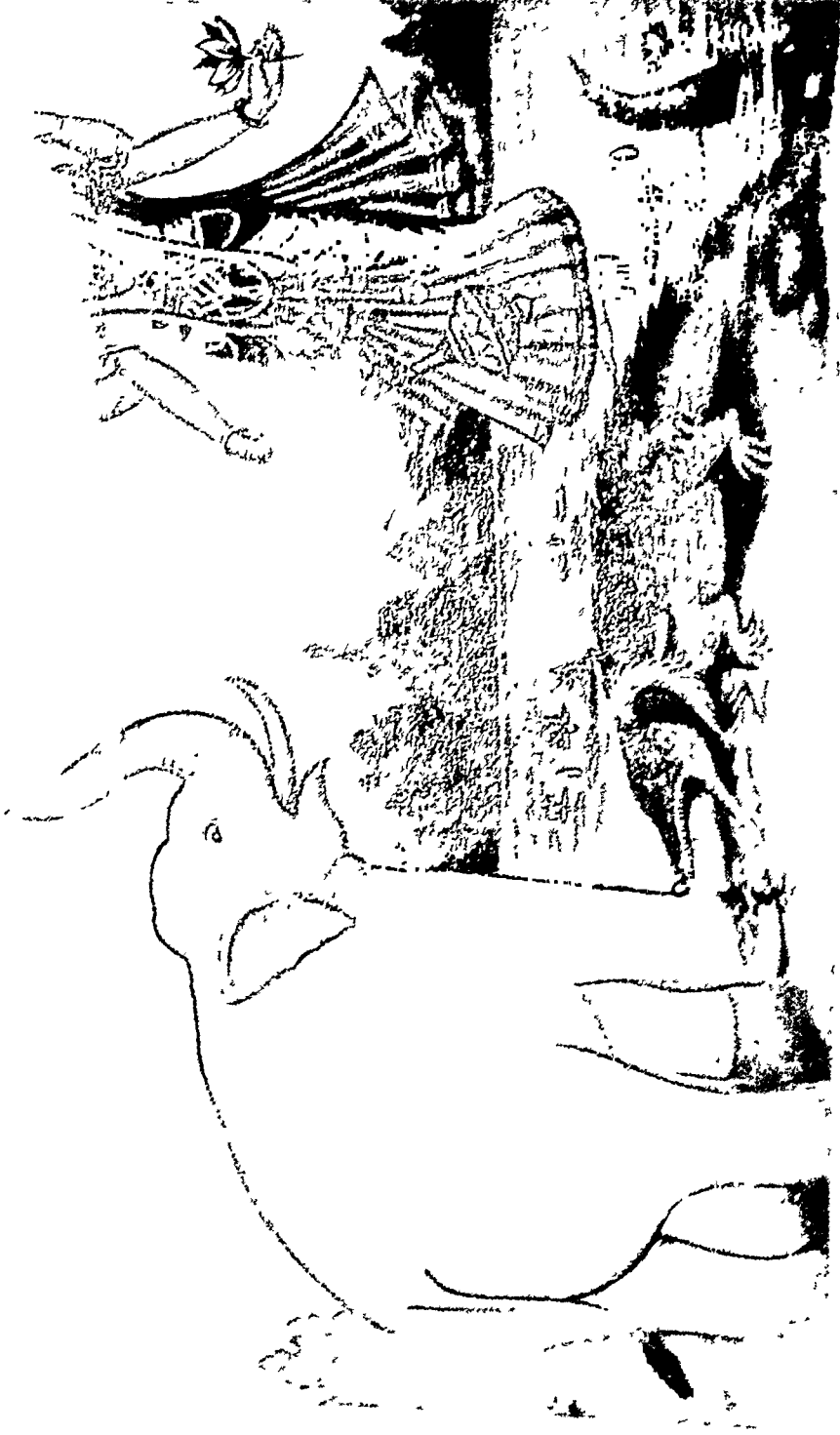
गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्तःसरस्युद्वलेन शृङ्गात आर्तो
दृष्ट्वा गदतमति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्र-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥

(भीष्म० ८।३।३२)

सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह व्याकुल हो रहा था । जब उसने देखा कि आकाशमें गहड़पर शेर ह्राथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये हैं, तब अपनी एक सुन्दर पुष्प लिखत उसने ऊपरको उठाया और बड़े — 'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है ।





शरणागत गजेन्द्रकी पाशसे मुक्ति



ये मानया विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।

ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥

(श्रीवा० पु० १३।७१)

५६ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, फरवरी १९८२ ई० { संख्या २
पूर्ण संख्या ६६३

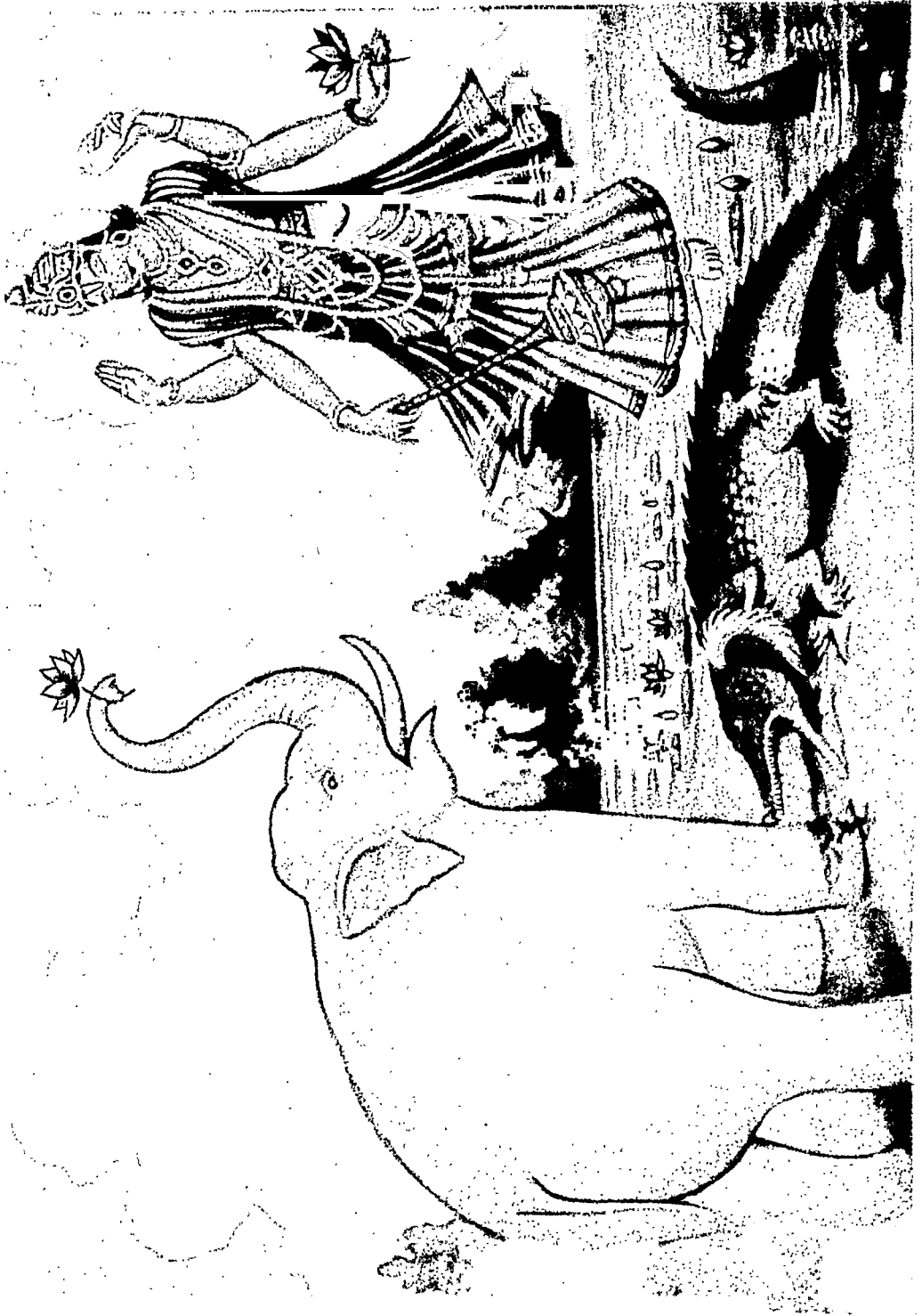
गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्तःसरस्वयुखलेन गृहीत आर्तो
इष्टा गच्छति हरिं ह्य उपात्तवक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्नुजकरं गिरमाह कृच्छ्र-
न्नापयणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥

(श्रीमद्भा० ८।३।३२)

सरोवरके भीतर बलवान् ब्राह्मणे गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है ।

कल्याण



शरणागत गजेन्द्रकी पाशोसे क्ति



ये मानया रिगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं सरन्ति ।

ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥

(श्रीवा० पु० १३।७१)

६ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-सप्त ५२०७, फरवरी १९८२ ई० { संख्या २
पूर्ण संख्या ६६३

गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्त सरस्युदयेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं स उपोत्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्युजकर गिरमाह कृच्छ्रा
न्नारायणादितलगुरो भगवन् नमस्ते ॥

(श्रीमद्भा० ८।३।३२)

सरोवरक भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये हैं, तब अपनी मुँहमें कमण्डलु एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है ।

[अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यान् जप्यान् भगवद्भक्त्या प्रह्लादो दानवोऽजपत् । गजेन्द्रमोक्षणादींस्तु चतुरस्तान् वदस्व मे ॥ १ ॥

चौरासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादके तीर्थयात्रा-प्रसङ्गमें त्रिकूटगिरिस्थित सरोवरमें ग्राहद्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना, गजेन्द्रद्वारा विष्णुकी स्तुति, गज-ग्राहका उद्धार एवं 'गजेन्द्रमोक्षणस्तोत्र'की फलश्रुति)

नारदजीने कहा—दनुवंशमें उत्पन्न हुए प्रह्लादने भगवान्की भक्तिसे भावित होकर जप (पाठ) करनेयोग्य गजेन्द्रमोक्षणादि जिन चार स्तोत्रोंका जप किया था उन चारों स्तोत्रोंको आप मुझे बतलावें ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि जप्यानेतांस्तपोधन । दुःस्वप्ननाशो भवति यैरुक्तैः संश्रुतैः स्मृतैः ॥ २ ॥
 गजेन्द्रमोक्षणं त्वादौ शृणुष्व तदनन्तरम् । सारस्वतं ततः पुण्यौ पापप्रशमनौ स्त्वौ ॥ ३ ॥
 सर्वरत्नमयः श्रीमांखिकूटो नाम पर्वतः । सुतः पर्वतराजस्य सुमेरोर्भास्करद्यूतेः ॥ ४ ॥
 क्षीरोदजलवीच्यग्रैर्धैतामलशिलातलः । उत्थितः सागरं भित्त्वा देवर्षिगणसेवितः ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन ! मैं उन (जप करनेयोग्य) स्तोत्रोंका वर्णन करता हूँ जिनके कहने, सुनने और स्मरण करनेसे दुःस्वप्नोंका विनाश होता है उसे आप सुनें । पहले गजेन्द्रमोक्षण-स्तोत्र सुनिये । उसके बाद सारस्वतस्तोत्र एवं उसके बाद पापोंके प्रशमन करनेवाले (दो पवित्र) स्तोत्रोंका वर्णन करूँगा । सूर्यके सदृश कान्तिवाले पर्वतराज सुमेरुका पुत्र सर्वरत्नोंसे भरा श्रीसे सम्पन्न त्रिकूट नामका एक पर्वत है । क्षीरसागरके जलकी लहरोंसे धुले हुए निर्मल शिलातलवाला वह पर्वत समुद्रका भेदन कर उसके ऊपर निकल आया है एवं देवता और ऋषिगण वहाँ सदा निवास करते हैं ॥ २-५ ॥

अप्सरोगैः परिवृतः श्रीमान् प्रस्रवणाकुलः । गन्धर्वैः किन्नरैर्यक्षैः सिद्धचारणपद्मैः ॥ ६ ॥
 विद्याधरैः सपत्नीकैः संयतैश्च तपस्विभिः । वृकद्वीपिगजेन्द्रैश्च वृतगात्रो विराजते ॥ ७ ॥
 पुत्रागैः कर्णिकारैश्च विल्वामलकपाटलैः । चूतनीपकद्रुमैश्च चन्दनागुरुचम्पकैः ॥ ८ ॥
 शालैस्तालैस्तमालैश्च सरलार्जुनपर्पटैः । तथान्यैर्विविधैर्बृक्षैः सर्वतः समलङ्कतः ॥ ९ ॥

अप्सराओंसे घिरा, झरते हुए झरनोंवाला, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों, सिद्धों, चारणों, पद्मों, पत्नीके साथ विद्याधरों, संयमका पालन करनेवाले तपस्वियों और भेड़ियों, चीतों एवं गजेन्द्रोंसे भरा-पूरा वह शोभाशाली पर्वत अत्यन्त सुशोभित है । पुंनग, कर्णिकार, विल्व, आमलक, पाटल, आम्र, नीप, कद्रु, चन्दन, अगुरु, चम्पक, शाल, ताल, तमाल, सरल, अर्जुन, पर्पट तथा दूसरे बहुत प्रकारके वृक्षोंसे वह पर्वत सब तरहसे सुशोभित है ॥ ६-९ ॥

नानाधात्वद्वितैः शृङ्गैः प्रस्रवद्भिः समन्ततः । शोभितो रुचिरप्रख्यैस्त्रिभिर्विस्तीर्णसानुभिः ॥ १० ॥
 मृगैः शाखाभृगैः सिंहैर्मातङ्गैश्च सद्रामदैः । जीवंजोवक्रसंघुष्टैश्चकोरशिखिजादितैः ॥ ११ ॥
 तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः । ज्ञानापुष्पसमाकर्णं नानागन्धाधिवासितम् ॥ १२ ॥
 द्वितीयं राजतं शृङ्गं सेवते यं निशाकरः । पाण्डुराम्बुदसंकाशं तुपारचयसंनिभम् ॥ १३ ॥

वह पर्वत भौंति-भौंतिकी धातुओंसे चमकती चोटियों, चारों ओरसे बहनेवाले झरनों और अत्यन्त मनोहर तथा सुदूर देशमें फैले हुए तीन शिखरोंसे शोभित है । वह पर्वत हरिण, चन्द्र, सिंह, मदसे मतवाले हाथी,

चातरु, चक्रोर एवं मोर आदिके शब्दोंसे सदा शब्दायमान होना रहता है । कई प्रकारके कृत्रिमें भरे-पूरे एव तरह-तरहकी सुगन्धोंसे सुगन्धित उसके एक सुनहले शिखरका सेवन सूर्य करते हैं । सफेद बादलोंकी तरह एव वर्णमें ढेरके समान चाँदी-जैसी उसकी दूसरी चोटीका सेवन चन्द्रमा करते हैं ॥ १०-१३ ॥

वज्रेन्द्रनीलवैडूर्यतेजोभिर्भासयन् दिशः । वृत्तव्यं ब्रह्मसदृशं प्रकृष्टं शृङ्गमुत्तमम् ॥ १४ ॥
 न तद् कृतघ्नाः पश्यन्ति न वृशंसा न नास्तिकाः । नातततपसो लोके ये च पापकृतो जनाः ॥ १५ ॥
 तस्य सानुमतः पृष्ठे सरः काञ्चनपद्मजम् । कारण्डवसमकोर्णं राजहंसोपशोभितम् ॥ १६ ॥
 कुमुदोत्पलकङ्कारैः पुण्डरीकैश्च मण्डितम् । कमलैः शतपत्रैश्च काञ्चनैः समलङ्कृतम् ॥ १७ ॥
 पत्रैर्मरकतप्रख्यैः पुष्पैः काञ्चनसंनिभैः । गुल्मैः कीचकवेणूनां समन्तात् पर्विष्टितम् ॥ १८ ॥

हीरा, इन्द्रनील, वैडूर्य आदि रत्नोंकी चमकसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाग उसका अत्यन्त उत्तम तीसरा शिखर ब्रह्माका निवास-स्थान है । वृत्तव्य, कूर, नास्तिक, तपस्थसे हीन एव लोकमें पापकर्म करनेवाले मनुष्य उसे नहीं देख सकते । उस पर्वतके पीछेकी ओर कमलोंसे युक्त, कारण्ड पक्षियोंसे भरे, राजहंसोंसे सुशोभित, कुमुद, उत्पल, कङ्कार, पुण्डरीक आदि अनेक प्रकारके सुनहले कमलोंसे अलङ्कृत एव सुनहले शतपत्रोवाले तथा अन्य प्रकारके कमलोंसे (ओर भी) सुशोभित एव मरुतके सदृश पत्तों तथा सोनेके समान पुष्पों ओर हवासे चूँचूँ शब्द करनेवाले बोंसेके भाडोसे चारों ओरसे घिरा एक सरोवर है ॥ १४-१८ ॥

तस्मिन् सरसि दुष्टात्मा विरूपोऽन्तर्जलेशयः । आसीद् ब्राह्मो गजेन्द्राणां रिपुराकेकेश्वरः ॥ १९ ॥
 अथ दन्तोऽज्वलमुल्ल कदाचिद् गजयूथपः । मदस्त्राग्रे जलाकाङ्क्षो पादचारोव पर्वतः ॥ २० ॥
 यास्यग्मद्गन्धेन गिरिमैरावतोपमः । गजो ह्यञ्जनसंकाशो मदाच्चलितलोचनः ॥ २१ ॥
 वृषितः पानुकाभोऽसौ अवतोरुंश्च तज्जलम् । सलिलः पद्मजनेन यूथमध्यगतश्चरन् ॥ २२ ॥
 गृहीतस्तोत्रेण रौद्रेण ब्राहेणाग्न्यकर्मृतिना । पश्यन्तीनां करेणूनां क्रोशन्तीनां च दारणम् ॥ २३ ॥
 ह्वियते पद्मजने ब्राहेणातिरलीयसा । वाटणैः संयतः पार्श्वनिर्गम्यत्नगतिः कृतः ॥ २४ ॥

उस सरोवरके जलमें हाथियोका शत्रु दुष्ट सभाकका आभी सुनी आँवोंवाला कुरूप एक मगर रहता था । एक समय उज्ज्वल दंतोंवाग, मदस्त्री, पैरसे चलनेवाले पर्वतके समान, मदके गणसे वासित ऐरावतके सदृश अञ्जनकी भौंति काग, मदके कारण चञ्चल नेत्रोवाग, प्यासा एक गजयूथपति पानी पीनेकी इच्छासे उस सरोवरके जलमें पडा और कमलोंके समूहमें अपने झुडक ग्रीचमें रहकर क्रीडा करने लगा । (जलके भीतर) अपने शरीरको छिपाये हुए एक मयकर प्राहुने उमे पकड लिया । उरण सरमे चिन्हाड कर रही हविनियोंके देखने ही देखते अत्यन्त बगवान् ब्राह्म उसे कमलोसे सङ्कृत जलमें खींच ले गया ओर बरुणके पाँशोंसे बौंफर उसे चेटरहित एव गतिहीन (निरश) कर दिया ॥ १९-२४ ॥

वेष्टयमानः सुघोरैस्तु पार्श्वनिर्गो दद्वैन्तया । विस्फुर्य च यथाशक्ति त्रिकोशंश्च महारवान् ॥ २५ ॥
 व्यथितः स निरस्ताहो गृहीतो घोरकर्मणा । परमापद्रमापजो मनसाऽचिन्तयद्धरिम् ॥ २६ ॥
 स तु नागरः श्रामान् नातायणपरायणः । तमेव शरणं देवं गतः सर्वोत्तमा तदा ॥ २७ ॥
 एकाम्ना निगृहीतात्मा विशुद्धेनान्तर्गतमना । जग्मजग्मान्तरगम्यासाद् भक्तियान् गच्छध्वजे ॥ २८ ॥
 नात्यं देवं महादेवात् पूजयामास केशवात् । मथितानुनफेनाभं शुकचक्रादाधरम् ॥ २९ ॥

सहस्रशुभनामानमादिदेवमजं निमुम् ।
 प्रगृह्य पुष्कराग्रेण काञ्चनं कमलोत्तमम् । आषाढिभोक्षमन्विचउन् गजः स्तोत्रमुदीरयत् ॥ ३० ॥

वहाँ सुदृढ़ और मयङ्कर पाशोंसे आवद्ध हो जानेके कारण गजराज यथाशक्ति छटपटाकर ऊँचे स्वर्से विग्वाने लगा । क्रूर कर्मवाले (उस प्राह-) के द्वारा पकड़े जानेपर वह पीड़ित और उन्साहरदित हो गया । भारी विरक्तिमें पड़कर वह मनमें भगवान् श्रीहरिको ध्यान करने लगा । वह सुन्दर गजराज (पूर्वजन्मका) नारायणका भक्त था । इसीचिन्ते वह उस समय सर्वतोभावेन उन्हीं देवकी कारणमें प्रपन्न हो गया । वह गजराज जन्म-जन्मान्तर-के अभ्यासमें एकप्र पत्र संयतचित्त होकर विशुद्ध अन्तःकरणमें गृहध्वज भगवान् विष्णुकी भक्तिमें लगा गया था । उसने महान् देव केवल (श्रीविष्णु) के सिवा अन्य देवताओंकी पूजा नहीं की । उस गजने मथे हृद्य अप्तनके फलके समान कान्तिवाले, शङ्ख तथा चक्र और गदाको धारण करनेवाले, सहस्रों शुभ नामोंवाले, आदिदेव एवं अज्ञाना सर्वथापक विष्णु- (नारायण-) का ध्यान किया और अपने सुण्डके अग्रभागमें एक उत्तम स्वर्ग-कमल लेकर (इस) आपत्तिसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छामें इस स्तोत्रका पाठ करने लगा ॥ २५-३० ॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो मूलप्रकृतये अजिताय महात्मने । अनाश्रिताय देवाय निःस्पृहाय नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥
नम आद्याय राजाय आप्तयाय प्रवर्तिने । अनन्तराय चैकाय अव्यक्ताय नमो नमः ॥ ३२ ॥
नमो गुह्याय गृहाय गुणाय गुणवर्तिने । अप्रतक्याप्रमेयाय अनुलाय नमो नमः ॥ ३३ ॥
नमः शिवाय शान्ताय सिद्धिन्ताय यशस्विने । सनातनाय पूर्याय पुराणाय नमो नमः ॥ ३४ ॥

गजेन्द्र बोला—ॐ मूलप्रकृतिरूप महान् आत्मा अजित विष्णुभगवान्को नमस्कार है । अन्योपर आश्रित न रहने वाले एवं (किसी वस्तुकी प्राणिकी) इच्छामें रहित आप देवको नमस्कार है । आद्यबीजस्वरूप, ऋषियोंके आराध्यदेव संसारचक्रके प्रवर्तक आपको नमस्कार है । अनन्तरहित—सर्वत्र व्याप्त एकमात्र अव्यक्तको पुनः-पुनः नमस्कार है । गुह्य, गृह्य, गुणरूप एवं गुणोंमें रहनेवालेको नमस्कार है । तर्कमें अतीत, निर्गुणामिका बुद्धिसे भी नहीं समझे जानेयोग्य, अनुक्रीय (आप)को वार-वार नमस्कार है । प्रथम मङ्गलमय, शान्त, सिद्धिन्त, यशस्वी, सनातन और पुराणपुरुषको वार-वार नमस्कार है ॥ ३१-३४ ॥

नमो देवाधिदेवाय स्वभावाय नमो नमः । नमो जगन्प्रतिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु पद्मनाभाय नमो योगोद्भवाय च । विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः ॥ ३६ ॥
नमोऽस्तु तस्मै देवाय निर्गुणाय गुणान्मने । नारायणाय विद्याय देवानां परमान्मने ॥ ३७ ॥
नमो नमः कारणवामनाय नारायणायामितविक्रमाय ।

श्रीगान्धर्वकासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥ ३८ ॥

आप देवाधिदेवको नमस्कार है । स्वभावस्वरूपी आपको वार-वार नमस्कार है । जगदकी प्रतिष्ठा करनेवाले (आप-) को नमस्कार है । गोविन्दको वार-वार नमस्कार है । पद्मनाभको नमस्कार है और योगसे उत्पन्न होनेवाले (आप) योगोद्भवको नमस्कार है । विश्वेश्वर, देव, शिव, हरिकों नमस्कार है । निर्गुण और गुणान्मा उन (प्रसिद्ध) देवको नमस्कार है । विश्वान्मा, नागवण एवं देवोंके परम आत्मा- (आप-) को नमस्कार है । कारणवश वामनरूप धारण करनेवाले, अनुष्ठ विद्वत्वाले नागवणको नमस्कार है । श्री, शङ्ख, चक्र, तख्दार एवं गदा धारण करनेवाले उन पुरुषोत्तमको नमस्कार है ॥ ३५-३८ ॥

गुह्याय वेदान्तियाय महोदराय सिद्धाय दैन्यनिधनाय चतुर्भुजाय ।

अत्यन्त-मुनिचारणसंस्तुनाय देवोत्तमाय वरदाय नमोऽच्युताय ॥ ३९ ॥

सत्तेन्द्रवदशयनात्मनमुप्रियाय

गोक्षीर्हेमशुकर्नालघनोपमाय ।

पाताम्बराय मधुकैडभनाशनाय

विद्याय चारुमुकुटाय नमोऽजराय ॥ ४० ॥

नभिप्रजातकमलस्यचतुर्मुखाय
 नानाविचित्रमुकुटाहदभूषणाय
 भक्तिप्रियाय वरदातसुदर्शनाय
 देवेन्द्रविष्णुरामनोद्यतपौरुषाय

श्रीरोदकार्णमनिकेतयशोधराय ।
 सर्वेश्वराय वरदाय नमो वराय ॥ ४१ ॥
 कुल्लारविन्दमिपुत्रायतलोननाय ।
 योगेश्वराय विरजाय नमो वराय ॥ ४२ ॥

गुह्य, वेदनिलय, महोदर, टैलके निधनके लिये सिद्धरूप धारण करनेवाले, चार मुनाओं
 इन्द्र, रुद्र, मुनि तथा चारणोंके द्वारा स्नान किये गये वरदानी देवोत्तम अच्युत भगवान्को न
 शेषनागके शरीरपर प्रसन्नतापूर्वक शयन करनेवाले, गौदुग्ग, स्वर्ग, शुरु एवं नीलवचनकी उपमासे युक्त,
 धारण करनेवाले, मधु-कूटभन्ना निनाश करनेवाले, सुन्दर मुकुट धारण करनेवाले, वृद्धावस्थामें रहित, त्रिव्य
 आप देवको नमस्कार है । नामिते उत्पन्न हुए कमलपर स्थित ब्रह्मासे युक्त, क्षीरसमुद्रको अपना निवास बना
 यशस्वी, अनेक प्रकारके विचित्र मुकुट एवं अङ्ग आदि आभूषणोंसे युक्त, वरदानी तथा वरस्वरूप से
 नमस्कार है । भक्तिके प्रेमी, श्रेष्ठ दीक्षिते सर्वा पूर्ण सुन्दर दिव्यशायी देनेवाले, खिचे हुए कमलके समान ।
 आँखोंवाले, देवेन्द्रके द्विर्भोक्ता निनाश करनेके लिये पुरुरार्थ करनेको उद्यत वरस्वरूप, विरज योगेश्वर
 नमस्कार है ॥ ३९-४२ ॥

प्रहायनाय त्रिदशायनाय लोकाधिनायाय भवायनाय ।
 नारायणायात्महितायनाय महावराहाय नमस्करोमि ॥ ४३ ॥
 कूटस्थमप्यकमचिन्त्यरूपं पुरुरं पुराणं तं देवदेवं कारणमादिदेयम् ।
 युगान्तदोरं पुरुरं चारुविचित्रमौलिमन्त्रेयमश्र्यं प्रकृतेः शरणं प्रपद्ये ॥ ४४ ॥
 योगेश्वरं वरेष्यं तं वासुदेवं महर्षयो ब्रह्ममयं शरणं प्रपद्ये ॥ ४५ ॥
 क्षेत्रज्ञमात्मप्रभवं अहद्व्यमप्यकमचिन्त्यमन्ययं यदन्ति यं वै पुरुरं सनातनं तं देवगुह्यं शरणं प्रपद्ये ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा और अन्य देवोंके आगरस्वरूप, अचिन्त्य रूपनाले, कारणस्वरूप, आदिदेव नारायण, युगान्तमें
 महावराहको नमस्कार करता हूँ । मैं कूटस्थ, अन्यक्त, अचिन्त्य रूपनाले, कारणस्वरूप, आदिदेव नारायण, युगान्तमें
 शेष रहनेवाले पुराणपुरुर, देवाधिदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ । मैं योगेश्वर, सुन्दर विचित्र रंगोंसे युक्त मुकुटको
 धारण करनेवाले, अज्ञेय, सर्वश्रेष्ठ, प्रवृत्तिके परे अप्रथित, क्षेत्रज्ञ, आत्मप्रभ, वरेष्य उन वासुदेवकी शरण ग्रहण
 करता हूँ । ब्रह्मर्षिजन जिन्हें अहद्व्य, अन्यक्त, अचिन्तनीय, अन्य, ब्रह्ममय और सनातन पुरुर कहते हैं, उन
 देवगुह्यकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४३-४६ ॥

यदक्षरं ब्रह्म वदन्ति सर्वगं निशम्य यं सृयुमुखात् प्रमुच्यते ।
 तमीश्वरं वृत्तमनुत्तमैर्गुणैः परायणं विष्णुमुपैमि शाश्वतम् ॥ ४७ ॥
 कार्यं क्रिया कारणमप्रमेयं हिरण्यवाहुं वरपद्मनाभम् ।
 महाबलं वेदनिधिं सुरेदां व्रजामि विष्णुं शरणं जनार्दनम् ॥ ४८ ॥
 किरीटकेयूरमहाहनिष्कैर्मण्युत्तमालङ्कृतसर्वगात्रम् ।
 पीताम्बरं काञ्चनभाकेचित्रं मालाधरं ।
 भयोद्भवं वेदविदां वरिष्ठं योगान्मनां केशवमभ्युपैमि ॥ ४९ ॥
 आदित्यरुद्रादिव्यसुप्रभावं प्रभं सांत्वयिदां वरिष्ठं

(ब्रह्मवेत्ता) जिसे अक्षर एवं सर्वव्यापी ब्रह्म कहते हैं तथा जिसके श्रवणसे मृत्युके मुक्त्वसे मुक्ति मिल जाती है, मैं उसी श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त, आत्मनृप, शाश्वत आश्रयस्वरूप ईश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ । मैं कार्य, क्रिया और कारण-स्वरूप, प्रमाणसे अगम्य, हिरण्यवाद्, नाभिमें श्रेष्ठ कमल धारण करनेवाले, महाबलशाली, वेदोंकी निधि, सुरेश्वर जनार्दन त्रिष्णुकी शरणमें जाता हूँ । मैं किरीट, केयूर एवं अतिमूल्यवान् श्रेष्ठ मणियोंसे सुसज्जित समस्त शरीरवाले, पीताम्बर धारण करनेवाले, खर्णिम पत्र-रचनासे अलङ्कृत, माला धारण करनेवाले केशवकी शरणमें जाता हूँ । मैं संसारको उत्पन्न करनेवाले, वेदके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, योगात्माओं तथा सांख्यशास्त्रके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ, आदित्य, रुद्र, अश्विनीकुमार एवं वसुओंके प्रभावसे युक्त अच्युत, आत्मस्वरूप प्रभुकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४७-५० ॥

श्रीवत्साङ्गं महादेवं देवगुह्यमनौपमम् । प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम् ॥ ५१ ॥
 प्रभवं सर्वभूतानां निर्गुणं परमेश्वरम् । प्रपद्ये मुक्तसङ्गानां यतीनां परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
 भगवन्तं गुणाध्यक्षमक्षरं पुष्करेक्षणम् । शरण्यं शरणं भक्त्या प्रपद्ये भक्तवत्सलम् ॥ ५३ ॥
 त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं सर्वेषां प्रपितामहम् । योगात्मानं महात्मानं प्रपद्येऽहं जनार्दनम् ॥ ५४ ॥
 आदिदेवमजं शम्भुं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् । नारायणमणीयांसं प्रपद्ये ब्राह्मणप्रियम् ॥ ५५ ॥

मैं श्रीवत्स-चिह्न धारण करनेवाले, महान् देव, देवताओंमें गुह्य, उपमासे रहित, सूक्ष्म, अचल तथा अभय देनेवाले वरेण्य देवकी शरण ग्रहण करता हूँ । मैं समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले, निर्गुण, निःसङ्ग, यम और नियमका पालन करनेवाले संन्यासियोंकी परम गतिस्वरूप परमेश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ । मैं गुणाध्यक्ष, अक्षर, कमलनयन, आश्रय ग्रहण करनेयोग्य, शरण देनेवाले, भक्तोंसे प्रेम रखनेवाले भगवान्की श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण करता हूँ । मैं तीन पगोंमें तीनों लोकोंको नाप लेनेवाले, तीनों लोकोंके ईश्वर, सभीके प्रपितामह, योगकी मूर्ति, महात्मा जनार्दनकी शरण ग्रहण करता हूँ । मैं आदिदेव, अजन्मा, शम्भु, व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, सनातन, परम सूक्ष्म, ब्राह्मणप्रिय नारायणकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ५१-५५ ॥

नमो वराय देवाय नमः सर्वसहाय च । प्रपद्ये देवदेवेशमणीयांसमणोः सदा ॥ ५६ ॥
 एकाय लोकतत्त्वाय परतः परमात्मने । नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय महात्मने ॥ ५७ ॥
 त्वामेव परमं देवसृपयो वेदपारगाः । कीर्तयन्ति च यं सर्वे ब्रह्मादीनां परायणम् ॥ ५८ ॥
 नमस्ते पुण्डरीकाक्ष भक्तानामभयप्रद । सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु त्राहि मां शरणागतम् ॥ ५९ ॥

श्रेष्ठ देवको नमस्कार है । सर्वशक्तिमान्को नमस्कार है । मैं सदा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म देवदेवेशकी शरण हूँ । लोकतत्त्वस्वरूप, एकमात्र, परात्पर परमात्मा, सहस्रशीर्ष महात्मा अनन्तको नमस्कार है । वेदोंके पारगामी ऋषिगण आपको ही परम देव एवं ब्रह्मा आदि देवोंका आश्रयस्थान कहते हैं । हे पुण्डरीकाक्ष ! हे भक्तोंको अभयदान देनेवाले ! आपको नमस्कार है । सुब्रह्मण्य ! आपको नमस्कार है । आप मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ५६-५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

भक्तिं तन्म्यानुसंचिन्त्य नागस्यामोघसम्भवः । प्रीतिमानभवद् विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ६० ॥
 सावित्र्यं कल्पयामास तस्मिन् सरसि केशवः । गहडस्थो जगत्स्वामी लोकाधारस्तपोधनः ॥ ६१ ॥
 प्राद्व्रस्त्रं गजेन्द्रं तं तं च ग्राहं जलाशयात् । उज्जहारप्रमेयात्मा तरसा मधुसूदनः ॥ ६२ ॥

स्थलेऽपि दारयामास प्राह चक्षेण माधव । मोक्षयामास नागेन्द्र योशोभ्य शरणागतम् ॥ ६३ ॥
 स हि देवलशापेन हृद्गन्धर्वसत्तम । ग्राह यमगमत् हृत्पाद् वध प्राप्य दित्रेगत ॥ ६४ ॥
 पुलस्त्यर्षी बोले—शङ्ख, चक्र एव गदाको धारण करनेवाले, समस्तान् आश्रय विष्णु उम् गजेन्द्रनी भक्तिमें
 विचार कर प्रसन्न हो गये । उसके बाद सप्ताक आधार जगन्नामी तपोवन कक्ष गुरुवर सवार हो उस
 सरोवरक निकट गये । अप्रमेय धामस्वरूप मधुमूदनने प्राहक द्वारा पकड़ गये उस गजेन्द्र तथा उन प्राहको
 वेगपूर्वक सरोवरसे बाहर निकाला । माधवन पृथ्वीपर स्थित प्राहको चक्रन द्वारा विनीत कर शरणार्थक गजेन्द्रको
 बानसे मुक्त कर दिया । देवक शापसे प्राह बना हुआ गर्भश्रेष्ठ हूँ भगवान् श्रीकृष्णसे मृत्यु पाकर स्वर्ग चला
 गया ॥ ६०-६४ ॥

गजेन्द्रपि विष्णुना स्पृष्टे जातो दिव्यवपु पुमान् । शपड्भ्रमुक्तौ युगपद् गन्धर्वसत्तमौ ॥ ६५ ॥
 प्रातिमान् पुण्डरीनाक्ष शरणागतव सल । अभवत् त्वथ देवेशस्ताभ्या चैव भूषित ॥ ६६ ॥
 इदं च भगवान् योगी गजेन्द्र शरणागतम् । प्रोवाच मुनिशार्ङ्गल मधुर मधुसूदन ॥ ६७ ॥

भगवान् विष्णुना स्पर्श होनेसे वह हाथी भी दिव्य शरीर धारण करनेवाला पुरुष हो गया । इस प्रकार
 हाथी एव गर्भश्रेष्ठ दोनों एव ही साथ समस्त मुक्त हो गये । मुनिवार । उसके बाद उन दोनोंसे पूजित होकर
 शरणागतपक्ष पुण्डरीनाक्ष देवेश प्रसन्न हुए और उन योगी भगवान् मधुमूदनने शरणार्थक गजेन्द्रसे यह
 मधुर वचन कहा— ॥ ६५-६७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ये मा त्वा च सरदश्चैव ग्राहस्य च विदारणम् । गुह्यमन्विकरेषूना रूप मेरो सुतस्य च ॥ ६८ ॥
 उदयत्य भास्कर गङ्गा नैमिषारण्यदेव च । सस्सरिष्यति मनुष्या प्रयता स्थिरबुद्धय ॥ ६९ ॥
 कीर्तयिष्यन्ति भयस्या च श्रोष्यन्ति च शुचिग्रता । दुःखानो नश्यते तेषा सुखपक्षश्च भविष्यति ॥ ७० ॥
 मात्स्य क्षीर्मञ्ज वाराह धामन तार्क्ष्यमेव च । नारसिंह च नागेन्द्र सृष्टिप्रलयकारकम् ॥ ७१ ॥
 एतानि प्रातरत्याय सस्सरिष्यन्ति ये नरा । सर्वपापै प्रमुच्यते पुण्य लोकमधाप्नुयु ॥ ७२ ॥

श्रीभगवानने कहा—स्थिर बुद्धिसे पवित्र व्रत धारण करनेवाले जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक मेरा, तुम्हारा तथा
 इस सरोवरका एव प्राहक विचारण, गुन्ध, कीचक, रेणु एव मेर पुत्रक रूप पीतल, सूर्य, गङ्गा और नमिसारण्यका श्रद्धापूर्वक
 स्मरण एव कीर्तन तथा श्रमण करेंगे उनका दुःखाना निनाश हो जायगा एव सुखपक्षकी सृष्टि होगी । जो मनुष्य
 प्रातः काल उठकर मत्स्याजतार, क्रूर्मानतार, वाराहानतार, रामानतार, गरुड, नरसिंहानतार, गजेन्द्र और सृष्टिप्रलय
 करनेवाले (भगवान्) का स्मरण करेंगे, वे संपूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यलोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६८-७२ ॥

पुलस्त्य उवाच

परमुक्त्वा हृपकेशो गजेन्द्र गरुडध्वज । स्पर्शयामास हस्तेन गन गन्धर्वमेव च ॥ ७३ ॥
 ततो दिव्यवपुर्भूत्वा गजेन्द्रा मधुसूदनम् । जगाम शरण त्रिप्र नाटयणपरायण ॥ ७४ ॥
 ततो नारायण श्रीमान् मोक्षयित्वा गजेन्द्रम् । पापबन्धाश्च शापाश्च प्राह चाद्भुतकर्मकृत् ॥ ७५ ॥
 ऋषिभि स्तूयमानश्च देवगुह्यपरायणै । गत स भगवान् विष्णुर्दुर्विज्ञेयगति प्रभु ॥ ७६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) गजेन्द्रसे ऐसा कहकर गरुडध्वज हृषीकेशने हाथसे गजेन्द्र और गन्धर्व दोनोंका स्पर्श किया । हे विप्र ! उसके बाद नारायणकी आराधना करनेमें लीन गजेन्द्र दिव्य शरीर धारणकर मधुसूदनकी शरणमें चला गया । उसके बाद अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीमान् नारायणने गजोत्तम एवं प्राहको पापबन्धसे एवं शापसे मुक्त किया । भगवद्भक्त ऋषियोंद्वारा स्तुत होते हुए वे अविज्ञेय गतिवाले प्रभु भगवान् विष्णु (अपने धाम) चले गये ॥ ७३-७६ ॥

गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा देवाः शक्रपुरोगमाः । ववन्दिरे महात्मानं प्रभुं नारायणं हरिम् ॥ ७७ ॥
महर्षयश्चारणाश्च दृष्ट्वा गजविमोक्षणम् । विस्मयोत्फुल्लनयनाः संस्तुवन्ति जनार्दनम् ॥ ७८ ॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा चक्रपाणिविचेष्टितम् । गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७९ ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः । प्राप्नुयात् परमांसिद्धिं दुःस्वप्नस्तस्य नश्यति ॥ ८० ॥

गजेन्द्रके मोक्षको देखकर इन्द्र आदि देवोंने महात्मा प्रभु नारायण श्रीहरिकी वन्दना की । गजको ग्राहसे मुक्त हुए देखकर विस्मयसे खिले नेत्रोंवाले महर्षियों एवं चारणोंने जनार्दनकी स्तुति की । चक्रपाणिके गजेन्द्रमोक्षणरूपी कर्मको देखकर प्रजापति ब्रह्माने यह वचन कहा—जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन इसे सुनेगा, वह परमसिद्धिको प्राप्त करेगा और उसका दुःस्वप्न विनष्ट हो जायगा ॥ ७७-८० ॥

गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
कथितेन स्मृतेनाथ श्रुतेन च तपोधन । गजेन्द्रमोक्षणेनेह : पापात् प्रमुच्यते ॥ ८१ ॥
पतत्पवित्रं परमं सुपुण्यं संकीर्तनीयं चरितं मुरारेः ।
यस्मिन् किलोक्ते बहुपापबन्धनात् लभ्येत मोक्षो द्विरदेन यद्वत् ॥ ८२ ॥
अजं वरेष्यं वरपद्मनाभं नारायणं ब्रह्मनिधिं सुरेशम् ।
तं देवगुह्यं पुरुषं पुराणं वन्दाम्यहं लोकपतिं वरेष्यम् ॥ ८३ ॥

तपोधन ! गजेन्द्रमोक्ष पवित्र और सब प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला है । इस गजेन्द्रमोक्षके कहने, स्मरण करने और सुननेसे मनुष्य तुरंत सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । मुरारि विष्णुका यह पवित्र चरित्र पुण्य प्रदान करनेवाला तथा कीर्तन करने योग्य है । इसे कहनेसे मनुष्य गजेन्द्रके समान अनेक पापोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है । मैं अज, वरेष्य, श्रेष्ठ, पद्मनाभ, नारायण, ब्रह्मनिधि, सुरेश, देवगुह्य, पुराणपुरुष उन लोक-स्वामीकी वन्दना करता हूँ ॥ ८१-८३ ॥

पुलस्त्य उवाच

पतत् त्वोक्तं प्रवरं स्तवं मुरारेर्वरनागकीर्तनम् ।
यं कीर्त्यं संश्रुत्य तथा विचिन्त्य पापापनोदं पुरुषो लभेत ॥ ८४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—स्तुतियोंमें श्रेष्ठ गजेन्द्रद्वारा कीर्तित मुरारिके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको मैंने तुमसे कहा । इससे कीर्तन, श्रवण तथा चिन्तन करनेसे मनुष्य पापोंसे विमुक्ति पा जाता है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

[अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कश्चिदासीद् द्विजद्रोघा पिशुनः क्षत्रियाधमः । परपीडासुचिः क्षुद्रः स्वभागासि निरुल्लः ॥ १ ॥
 पर्यासिताः सदा तेन पितृदेवद्विजातयः । स त्वायुषि परिक्षीणे उच्चो घोरो निशाचरः ॥ २ ॥
 तेनैव कर्मदोषेण स्वेन पापकृतां वरः । क्रूरैश्चक्रे ततो वृत्तिं राक्षसत्वाद् विशेषतः ॥ ३ ॥
 तस्य पापस्त्वैयं जगुर्मूर्खशतानि तु । तेनैव कर्मदोषेण नान्यां वृत्तिमरोचयत् ॥ ४ ॥
 यं यं पश्यति सत्त्वं स तं तमाश्रय राक्षसः । चखाद् रौद्रकर्मासौ बाहुगीचरमागतम् ॥ ५ ॥

पचासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सारस्वतस्तोत्रके संदर्भमें विष्णुपञ्जरस्तोत्र, सारस्वतस्तव-कथन-प्रसङ्गमें राक्षस-वृत्तान्त, राक्षसपत्त मुनिकी अग्नि-प्रार्थना, सारस्वतस्तोत्र और मुनिद्वारा राक्षसको उपदेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) ब्राह्मणसे बैर और घृणा रखनेवाला, चुगलखोर, दूसरोंको ब्रह्म देनेवाला, नीच, स्वमासे भी निर्दय एक अधम क्षत्रिय था । उसने सदा ही पितरों, देवों एवं द्विजातियोंका अपमान किया । आयु समाप्त होनेपर वह भयंकर राक्षस हुआ । अपने उसी कर्मके दोष एवं विशेषकर राक्षस होनेके कारण वह नीच पापी अशुभ कर्मोंद्वारा जीवनका निर्वाह करता रहा । पापकर्म करते हुए उसके सौ बरं बीत गये । उसी कर्म-दोषके कारण जीविकाके दूसरे साधनोंमें उसकी इच्छा नहीं होती थी । वह निन्दनीय कर्म करनेवाला राक्षस जिस प्राणीको देखता उसे अपनी मुजाओंसे पकड़कर खा जाता था ॥ १-५ ॥

एवं तस्यातिदुष्टस्य कुर्वतः प्राणिनां धमम् । जगाम च महान् कालः परिणामं तथा वयः ॥ ६ ॥
 स कदाचित् तपस्यन्तं ददर्श सरितस्तटे । महाभागमूर्खमुजं यथावत्संपतेन्द्रियम् ॥ ७ ॥
 अनया रक्षया ब्रह्मन् कृतरक्षं तपोनिधिम् । योगाचार्यं शुचिं दक्षं यामुदेवपरायणम् ॥ ८ ॥
 विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री विष्णुर्दक्षिणतो गवी । प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग्विष्णुर्विष्णुः खड्गो ममोत्तरे ॥ ९ ॥
 हृषीकेशो विक्रोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः । क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नारसिंहोऽम्बरे मम ॥ १० ॥
 धुरान्तममलं चक्रं ध्रमत्येतत् सुदर्शनम् । अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राणियोंका संहार करते हुए उस अतिदुष्टका अधिक समय बीत गया और उसकी अवस्था दबले लगी । किसी समय उसने नदी-तीरपर बाँह ऊपर उठाये एवं, भलीभाँति इन्द्रियोंपर संकत किये हुए महाभाग्यशाली ऋषिको तपस्या करते हुए देखा । ब्रह्मन् ! तपोनिधि पवित्र दक्ष और वामुदेवकी आश्रना करनेमें तत्पर उस योगाचार्यने अपनी रक्षा इस रक्षामन्त्रके द्वारा कर ली थी कि पूर्वदिशामें चक्र धरु करनेवाले विष्णु, दक्षिण दिशामें गदा धारण करनेवाले विष्णु, पश्चिम दिशामें शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले और उत्तर दिशामें खड्ग धारण करनेवाले विष्णु मेरी रक्षा करें । दिशाओंके कोणों (अग्निहोत्रेण वायव्यकोण, ईशानकोणों)में हरीकेश, उन दिशाओं और कोणोंके मध्य अवशिष्ट स्थानोंमें जनार्दन रूप धारण करनेवाले हरि एव नारसिंहभगवान् मेरी रक्षा करें । प्रेतों एवं दुष्टोंकी धारके समान अत्यन्त तीक्ष्ण यह निर्मल सुदर्शन चक्र घूम रहा है । इन्द्रियोंके संहार करनेपर भी सम्भव नहीं है ॥ ६-११ ॥

गदा चैयं महन्नादिंरुद्धमक्ष पादको यथा । त्र्यम्बुनविशाद्यानां साकिर्त्तनां च शान्ती ॥ १२ ॥
 गार्हं विस्फूर्जितं चैव वासुदेवस्य मद्भिपूज । तिर्यङ्गानुष्यङ्गाम्पाण्डप्रनदीन् हन्त्वशेषतः ॥ १३ ॥
 खड्गशराज्ज्वलज्ज्याम्सानिर्धृता ये समक्षिणाः । तं यान्तु सौम्यतां सख्यो नरुडेनेत्र पत्रयाः ॥ १४ ॥
 ये कृष्णाम्पाण्डस्तथा यथा देव्या ये च निशाचराः । प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जृम्भकाः खगाः ॥ १५ ॥
 सिंहादयो ये पशवो दृग्दशूकाश्च पन्तगाः । सर्वे भवन्तु मे सौम्या विष्णुचक्रवाहताः ॥ १६ ॥

ज्याय उगच्छेद्यायी अग्निकी भाँति हजारां किरणोंसे युक्त यह गदा गक्षसों, भूतों, पिशाचों और डाकिनियोंका संहार करे । वासुदेवका चमकतेवाला शङ्खबनुप मेरे साथ शत्रुका काम करनेवाले हिंसक पशु-पक्षियों, मनुष्यों, दानवों तथा प्रेतोंका जड़-मूकमे विनाश करे । जैसे गरुड़को देवकर साँप शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार (विष्णुके) ग्दकी चमकती हुई तीत्र धारमे मेरा अहित करनेवाले निष्प्रभ होकर तत्काल शान्त हो जायँ । सारे कृष्णाम्पाण्ड, यक्ष, दैत्य, निशाचर, प्रेत, विनायक, क्रूर मनुष्य, जृम्भक, पक्षी, सिंहदि पशु एवं तीत्र दैतोंसे काट खानेवाले मर आदि—ये सभी विष्णुके चक्रकी तीत्र गतिसे घायल होकर मेरे प्रति सल्य बन जायँ ॥ १२—१६ ॥

चित्तवृत्तिहरा ये च ये जनाः स्मृतिहारकाः । बलौजसां च हर्ताश्छायाविध्वंसकाश्च ये ॥ १७ ॥
 ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनागकाः । कृष्णाम्पाण्डस्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्रवाहताः ॥ १८ ॥
 बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा । समास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्तनात् ॥ १९ ॥

पृष्ठे पुरस्ताश्च दक्षिणोत्तरे विक्रान्तश्चास्तु जनार्दनो हरिः ।
 तमीड्यर्माशानमन्तमच्युतं जनार्दनं प्रणिपतिता न सीदति ॥ २० ॥

जो चित्तकी वृत्तियों—मानसिक आचार-व्यवहारोंका हरण करनेवाले, स्मृतिको हरण करनेवाले, बल और ओजको अपहरण करनेवाले, कान्तिका विध्वंस करनेवाले, सुखोंका विनाश करनेवाले तथा सुलक्षणोंके विनाशक हैं, वे सभी कृष्णाम्पाण्ड (भूत-प्रेत) विष्णुके चक्रकी तीत्र गतिसे घायल होकर नष्ट हो जायँ । देवदेव वासुदेवके कीर्तनसे मुझे बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंकी स्वच्छता प्राप्त है । जनार्दन हरि मेरे पीछे, आगे, दायें, बायें एवं दिशाओंके कोणों- (अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोण-) में स्थित रहें । स्तुतियोंमें उन ईशान, अनन्त, अच्युत जनार्दनको साष्टाङ्ग प्रणिपात करनेवाला मनुष्य दुःखी नहीं होना ॥ १७—२० ॥

यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परं जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः ।

ऋतेन तेनाच्युतनामकीर्तनात्प्रणाशमेतु त्रिविधं ममाशुभम् ॥ २१ ॥

इत्यग्नावात्मरक्षार्थं कृत्वा चै विष्णुपञ्जरम् । संस्थितोऽस्मावपि बली गक्षसः समुपाद्रवत् ॥ २२ ॥

ततो द्विजलियुक्तायां रक्षायां रजनीचरः । निर्धृतवेगः सहस्रा तस्थौ मासचतुष्टयम् ॥ २३ ॥

थावद् द्विजस्य देवेषु समामिधं समाधितः । जातं जप्याचसानेऽसौ तं ददर्श निशाचरम् ॥ २४ ॥

दीनं एतबलोत्साहं कान्दिशीकं हर्ताजसम् । तं दृष्ट्वा कृपयाविष्टः समाद्रवास्य निशाचरम् ॥ २५ ॥

पप्रच्छागमने हेतुं स चाचष्ट यथातथम् । स्वभावमात्मनो द्रष्टुं रक्षया तेजसः क्षितिम् ॥ २६ ॥

कथयित्वा च तद्रक्षः कारणं त्रिविधं ततः । प्रसंदिश्यत्रयोद् चित्रं निर्विण्णः स्वेन कर्मणा ॥ २७ ॥

जैसे ब्रह्म श्रेष्ठ है उसी प्रकार हरि भी श्रेष्ठ हैं । वे केशव ही जगत्के (निम्न) स्वरूप हैं । अच्युत भगवान्के नाम-कीर्तनके उम सत्यदाग मेरे नीनों प्रकारके अमङ्गल नष्ट हो जायँ । इस प्रकार अपनी रक्षाके लिये विष्णुपञ्जरस्तोत्रका पाठकर वे खड़े थे । वे बलवान् गक्षस उनकी ओर दौड़ा । देवों ! उसके बाद द्विजद्वारा रक्षाकी व्यवस्था रहनेपर वह गक्षस गनिदीन होकर चार मासक, जवनक कि ब्राह्मणकी समाधि समाप्त

नहीं हुई तबतक, रुका रहा । जब समाप्त होनेपर उन्होंने उम निशाचरको दया । उन्होंने दीन, बर्मे हीन, उसाहसे रहित, भयमे आकृत तथा निस्तेन हुए उम निशाचरको दया दयापूर्णक उमे निर्भयता प्रदान कर दी तथा उससे आनेका कारण पूछा । उसने अपने यथार्थ स्वभावका बर्णना करी और अपने अनेक तेनका नाश होना बताया । उसके बाद दूसरे ओर भी बहुत-से कारणोंका वर्णन कर अपने बर्मे दुखी हुए उस राक्षसने ब्रह्मगे कहा—आप प्रसन्न हो जायें ॥ २१—२७ ॥

गृह्णति पापानि मया कृतानि बहवो हताः ।
 कृताः स्त्रियो मया बहवो विधवाः पुत्रवर्जिता । जनागमां च सत्रयानामल्पकालां क्षयः कृत ॥ २८ ॥
 तस्मात् पापादहं मोक्षमिच्छामि त्वत्प्रसादतः । पापप्रशमनाय त्वं त्वं मे धर्मदेशनम् ॥ २९ ॥
 पापस्यास्य क्षयकरमुपदेशं प्रयच्छ मे । तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसस्य द्विजोत्तम ॥ ३० ॥
 वचनं प्राह धर्मात्मा हेतुमन् च सुभाषितम् ।
 कथं क्रूरस्वभावस्य सतस्त्व निशाचरं । सहसैव समायाता जिज्ञासा धर्मदर्शनि ॥ ३१ ॥

मैंने बहुत पाप किये हैं । मैंने बहुत-से मनुष्योंको मारा है । मैंने बहुत-सी स्त्रियोंको विधवा, पुत्रसे हीन कर दिया है तथा निर्दोष और निर्विक्र प्राणियोंका विनाश किया है । आपकी दयासे मैं उन पापोंसे मुक्त होना चाहता हूँ; अतः आप मुझे पापोंका नाश करनेवाले धर्माचरणका उपदेश दें । आप मुझे इस पापको नष्ट करनेवाला उपदेश प्रदान करें । उस राक्षसके उस वचनको सुनकर धर्माना द्विजोत्तमने युक्तियुक्त मधुर वचन कहा—
 निशाचर ! क्रूर स्वभावके होते हुए भी एकाएक धर्मके मार्गमें तुम्हारी जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई ! ॥ २८—३१ ॥

राक्षस उवाच

त्वां वै समागतोऽस्म्यद्य क्षितोऽहं रक्षया बलात् । तव संसर्गतो ब्रह्मन् जानो निवेदं उत्तम ॥ ३२ ॥
 का सा रक्षा न तां वैशि वैशि नास्याः परायणम् । यस्याः संसर्गमासाद्य निवेदं प्रापितं परम् ॥ ३३ ॥
 त्वं कृपां कुरु धर्मज्ञ मय्यनुकोशमात्रह । यथा पापापनोदो मे भयत्रयं तथा कुरु ॥ ३४ ॥
 १ राक्षसने कहा—मैं आज आपके निकट आते ही दयापूर्णक रक्षाद्वारा फँस दिया गया । त्रयन् ! आपके सम्पर्कसे मुझे श्रेष्ठ वैराग्य प्राप्त हो गया । मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि जिसका सम्पर्क पाकर मुझे श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न हुआ है वह रक्षा क्या है और उसका आधार कान है ? धर्मज्ञ ! आर्य ! आप कृपा करें । मेरे ऊपर दया करें । आप वह कार्य करें जिससे मेरे पापोंका विनाश हो जाय ॥ ३२—३४ ॥

पुण्ड्रस्य उवाच

इत्येवमुक्तः स मुनिस्तदा वै तेन रक्षसा । प्रत्युवाच महाभागो निमृश्य मुचिरं मुनिः ॥ ३५ ॥
 पुण्ड्रस्यजी बोले—उस राक्षसके इस प्रकार कहनेपर उन महाभाग मुनिने बहुत देतक विचार कर उत्तर दिया ॥ ३५ ॥

अपिरवाच

यन्ममाहोपदेशार्थं निर्विण्णः स्वेन कर्मणा । युक्तमेतद्धि पापानां निवृत्तिरूपकारिण ॥ ३६ ॥
 करिष्ये यत्तु धानानां न त्वहं धर्मदेशनम् । तान् संपृच्छद्विजान् सौम्य ये वै प्रवचने रताः ॥ ३७ ॥
 एवमुक्त्वा ययौ विप्रश्चिन्तामाप स राक्षसः । कथं पापापनोदः स्यादिति चिन्ताकुलेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
 न चखाद स सत्त्वानि क्षुधा सन्नाधितोऽपि सन् । पठे पठे तदा काले जन्तुमेकमभक्षयत् ॥ ३९ ॥
 स कदाचित्क्षुधाविष्टः पर्यटन् विपुले वने । ददर्शाय फलाहात्मानं ब्रह्मचारिणम् ॥ ४० ॥
 गृहीतो रक्षसा तेन स तदा मुनिदारकः । निराशो जायिते प्राह सामपूर्वं निशाचरम् ॥ ४१ ॥

ऋषिने उत्तर दिया—अपने कर्मसे पीड़ित होकर तुमने मुझसे जो उपदेश देनेके लिये कहा है, सो ठीक ही है। पापोंकी निवृत्तिसे उपकार होता है। परंतु मैं राक्षसोंको धर्मका उपदेश नहीं दूँगा। अतः भले राक्षस! इस विषयको तुम उन ब्राह्मणोंसे पूछो जो विषयोंपर शास्त्रीय व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार कहकर वह ब्राह्मण चला गया। वह राक्षस चिन्तासे आकुल हो गया। मेरे पाप किस प्रकार दूर होंगे—इस विषयकी चिन्तासे उसकी इन्द्रियाँ घबड़ा गयीं। (पर) भूखसे कष्ट पानेपर भी उसने प्राणियोंका भक्षण करना छोड़ दिया। (प्रतिदिन) प्रत्येक छोटे समय एक जीवका आहार करने लगा। किसी समय भूखसे पीड़ित होकर विशाल वनमें घूमते हुए उसने फल लेनेके लिये आये हुए एक ब्रह्मचारीको देखा। राक्षसने मुनिपुत्रको पकड़ लिया। उसके बाद जीवनसे निराश होकर उस ब्रह्मचारीने शान्त भाव प्रकट करनेवाला वचन कहा ॥ ३६-४१ ॥

ब्राह्मण उवाच

भो भद्र ब्रूहि यत् कार्यं गृहीतो येन हेतुना। तदनुब्रूहि भद्रं ते अयमस्म्यनुशाधि माम् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र! यह वतलाओ कि तुम्हारा क्या कार्य है, तुमने मुझे क्यों पकड़ा है? तुम्हारा कल्याण हो। यह मैं प्रस्तुत हूँ। मुझे आज्ञा दो ॥ ४२ ॥

राक्षस उवाच

पण्डे काले त्वमाहारः क्षुधितस्य समागतः। निःश्रीकस्यातिपापस्य निर्घृणस्य द्विजद्रुहः ॥ ४३ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मचारिन्! इस समय मैं ब्राह्मणोंसे द्वेष और घृणा करनेके कारण श्रीसे हीन, अत्यन्त पापी और निर्दय हो गया हूँ। मुझे भूख लगी हुई है। आज छोटे समयमें तुम मेरे भोजनके रूपमें आये हो ॥ ४३ ॥

ब्राह्मण

यद्यवश्यं त्वया चाहं भक्षितव्यो निशाचर। आयास्यामि तवाद्यैव निवेद्य गुरवे फलम् ॥ ४४ ॥

गुरुर्व्यमेतदागत्य यत्फलग्रहणं कृतम्। निष्ठा स्य फलानि विनिवेदितुम् ॥ ४५ ॥

स त्वं मुहूर्तमात्रं प्रतिपालय। निवेद्य गुरवे यावदिहागच्छाम्यहं फलम् ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणने कहा—निशाचर! यदि अवश्य ही तुम मुझे खाना चाहते हो तो मैं ये फल गुरुको समर्पित करके अभी आ जाता हूँ। यहाँ आकर गुरुके लिये मैंने जो फल एकत्र किये हैं, उन्हें गुरुको समर्पित करनेके लिये मेरी अत्यन्त श्रद्धा है। अतः तुम यहाँ मुहूर्तमात्र मेरी प्रतीक्षा करो, जबतककि मैं इन फलोंको गुरुको देकर लौट आता हूँ ॥ ४४-४६ ॥

राक्षस उवाच

पण्डे काले न मे ब्रह्मन् कश्चिद् ग्रहणमागतः। प्रतिमुच्येत देवोऽपि इति मे पापजीविका ॥ ४७ ॥

एक एवात्र मोक्षस्य तव हेतुः शृणुष्व तत्। मुञ्चाम्यहमसंदिग्धं यदि तत् कुरुते भवान् ॥ ४८ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मन्! छोटे समयमें मेरे पंजेमें आया हुआ कोई देवता भी छूट नहीं सकता। यही मेरी पापजीविका है। तुम्हारे छूटनेका एक ही उपाय है, उसे सुनो। यदि तुम उसे करो तो निःसंदेह मैं तुमको छोड़ दूँगा ॥ ४७-४८ ॥

ब्राह्मण उवाच

गुरोर्यन्त विरोधाय यन्त धर्मोपरोधकम्। तत् करिष्याम्यहं रक्षो यन्नव्रतहरं मम ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणने कहा—राक्षस! यदि वह कार्य गुरुकी सेवाकार्यमें विरोध डालनेवाला, धर्मके विषयमें बाधा डालनेवाला एवं मेरे व्रतको नष्ट करनेवाला न होगा तो मैं उसे करूँगा केवल तुमसे अपने छुटकारेके लिये नहीं ॥ ४९ ॥

राक्षस उवाच

मया निसर्गतो ब्रह्मन् जातिदोषाद् विशेषतः । निर्विधेकेन चित्तेन पापकर्म सदा कृतम् ॥ ५० ॥
 आवाल्यान्मम पापेषु न धर्मेषु रतं मनः । तत्पापसंशयान्मोक्षं प्राप्नुयां येन तद् वद ॥ ५१ ॥
 यानि पापानि कर्माणि बालत्वाचरितानि च । दुष्टां योनिमिमं प्राप्य तन्मुक्तिं कथय द्विज ॥ ५२ ॥
 यद्येतद् द्विजपुत्र त्वं समाख्याम्यस्यदोषतः । ततः क्षुधार्तात्मत्तस्त्वं नियतं मोक्षमाप्स्यसि ॥ ५३ ॥
 न चेत् तत्पापशीलोऽहमत्यर्थं क्षुत्पिपासितः । पण्डे काले नृशंसात्मा भक्षयिष्यामि निर्वृणः ॥ ५४ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने स्वभावतः तथा विशेषतः जानिदोषके कारण और निःचारशक्तिये रहित मनके कारण सदा पापका कार्य किया है। बाल्यावस्थासे ही मेरा मन धर्ममें नहीं, अरिपु पापमें आसक्त रहा है। इसीप्रिये तुम वह उपाय बताओ जिससे पापका नाश होकर मेरी मुक्ति हो जाय। द्विज ! इस पापयोनिमें पाकर अज्ञानवशा मैंने जिन पापकर्मोंका आचरण किया है, उनसे छुटकारा पानेका उपाय बताओ। ब्राह्मणपुत्र ! यदि तुम मुझे यह भलीभाँति बतलाओ तो मुझ भूखसे पीड़ित हुएसे निःसंदेह छुटकारा पा जाओगे। यदि ऐसा नहीं हुआ तो अत्यन्त भूखा-प्यासा निर्दय हुआ मैं छठे समयमें (प्रातः हुए) तुमको खा जाऊँगा ॥ ५०-५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

पचमुक्तो मुनिसुतस्तेन घोरेण रक्षसा । चिन्तामवाप महतीमशक्तस्तदुद्धारणे ॥ ५५ ॥
 स विमृश्य चिरं विप्रः शरणां जातवेदसम् । जगाम ज्ञानदानाय संशयं परमं गतः ॥ ५६ ॥
 यदि शुश्रूषितो वह्निर्गुरुशुश्रूषणादनु । व्रतानि वा सुचोर्णानि सप्तार्चिः पातु मां ततः ॥ ५७ ॥
 न मातरं न पितरं गौरवेण यथा गुहम् । सर्वदैवावगच्छामि तथा मां पातु पावकः ॥ ५८ ॥
 यथा गुरुं न मनसा कर्मणा वचसाऽपि वा । अवजानाम्यहं तेन पातु सत्येन पावकः ॥ ५९ ॥
 इत्येवं मनसा सत्यान् कुर्वतः शपथान् पुनः । सप्तार्चिषा समादिश्य प्रादुरासात् सरस्वती ॥ ६० ॥
 सा प्रोयाच द्विजसुतं राक्षसग्रहणाकुलम् । मा भैद्विजसुताहं त्वां मोक्षयिष्यामि संकटात् ॥ ६१ ॥
 यदस्य रक्षसः श्रेयो जिह्वाप्रे संस्थिता तव । तद् सर्वं कथयिष्यामि ततो मोक्षमयाप्स्यसि ॥ ६२ ॥
 अदृश्या रक्षसा तेन प्रोक्तव्यं सा सरस्वती । अदर्शनं गता सोऽपि द्विजः प्राह निशाचरम् ॥ ६३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस भयंकर राक्षसके इस प्रकार कहनेपर मुनिपुत्र (राक्षसकी पापसे मुक्तिका उपाय) कहनेमें असमर्थ होनेसे बहुत चिन्तित हुआ। बहुत समयतक विचार करनेके पश्चात् अत्यन्त संशययुक्त ब्राह्मण ज्ञानदानके हेतु अग्निदेव पास गया। (उसने कहा—) अग्निदेव ! गुरुकी सेवा करनेके बाद यदि मैंने आपकी सेवा की हो तथा व्रतोंका अच्छी तरह पालन किया हो तो हे सप्तार्चि ! आप मेरी रक्षा करें। अग्निदेव ! यदि मैंने गौरवमें माता-पितासे गुरुको अधिक महत्त्व दिया हो तो आप मेरी रक्षा करें। यदि मन, कर्म एवं वाणीसे भी मैंने गुरुका अनादर न किया हो तो उस सत्यके कारण अग्निदेव आप मेरी रक्षा करें। इस प्रकार मनसे सत्य शायकोंके लेनेवाले उसके सामने अग्निदेवके आदेशसे सरस्वती प्रकट हुई। उन्होंने राक्षसके द्वारा पकड़े जानेके कारण व्याकुल हुए ब्राह्मणके पुत्रसे कहा—ब्राह्मणपुत्र ! डरो मत। मैं तुम्हें संकटसे मुक्त करूँगी। तुम्हारी जीभके अग्रभागपर स्थित होकर मैं राक्षसके कल्याणकारी समस्त विनयोंका कथन करूँगी। उसके बाद तुम मुक्त हो जाओगे। उस राक्षससे अदृश्य रहती हुई सरस्वती ऐसा कहनेके बाद अन्तर्धान हो गयी। उस ब्राह्मणने निशाचरसे (सरस्वतीकी शक्तिये) कहा—॥ ५५-६३ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां तव यच्छ्रेयस्तथाऽन्वेषां च पापिनाम् । समस्तपापशुद्धयर्थं पुण्योपचयद् च यत् ॥ ६४ ॥
 प्रातरुत्थाय जप्तव्यं मध्याह्नेऽह्नःक्षयेऽपि वा । असंशयं सदा जप्यो जपतां पुष्टिशान्तिदः ॥ ६५ ॥
 ॐ हरिं कृष्णं हृषीकेशं वासुदेवं जनार्दनम् । प्रणतोऽस्मि जगन्नाथं स मे पापं व्यपोहतु ॥ ६६ ॥
 चराचरगुरुं नाथं गोविन्दं शेषशायिनम् । प्रणतोऽस्मि परं देवं स मे पापं व्यपोहतु ॥ ६७ ॥
 शङ्खिनं चक्रिणं शार्ङ्गधारिणं स्रग्धरं परम् । प्रणतोऽस्मि पतिं लक्ष्म्याः स मे पापं व्यपोहतु ॥ ६८ ॥
 दामोदरमुदाराक्षं पुण्डरीकाक्षमच्युतम् । प्रणतोऽस्मि स्तुतं स्तुत्यैः स मे पापं व्यपोहतु ॥ ६९ ॥
 नारायणं नरं शौरिं माधवं मधुसूदनम् । प्रणतोऽस्मि धराधारं स मे पापं व्यपोहतु ॥ ७० ॥

ब्राह्मणने कहा—(निशाचर!) सुनो! तुम्हारे और दूसरे अन्य पापियोंके लिये कल्याणकर सारे पापोंकी शुद्धि एवं पुण्य बढ़ानेवाले तत्वोंको मैं कहता हूँ। प्रातःकाल उठकर, मध्याह्नमें अथवा सायंकाल इस जपने योग्य स्तोत्रका सदा जप करना चाहिये। यह जप जप करनेवालेको निःसंदेह शान्ति एवं पुष्टि प्रदान करता है। ॐ, हरि, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन, जगन्नाथको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। चर और अचरके गुरु, नाथ, शेषशाय्यापर विराजमान, परमदेव गोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। शङ्ख धारण करनेवाले, चक्र धारण करनेवाले, शार्ङ्ग धारण करनेवाले एवं उत्तम मालाधारी, लक्ष्मीपतिको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। दामोदर, उदाराक्ष, पुण्डरीकाक्ष, स्तवनीय स्तोत्रोंसे स्तुत अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। नारायण, नर, शौरि, माधव, मधुसूदन एवं धराको धारण करनेवाले भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें ॥ ६४-७० ॥

केशवं चन्द्रसूर्याक्षं कंसकेशिनिपूदनम् । प्रणतोऽस्मि महाबाहुं स मे पापं व्यपोहतु ॥ ७१ ॥
 श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं श्रीवरं श्रीनिकेतनम् । प्रणतोऽस्मि श्रियः कान्तं स मे पापं व्यपोहतु ॥ ७२ ॥
 यमोशं सर्वभूतानां ध्यायन्ति यतयोऽक्षरम् । वासुदेवमनिर्देश्यं तमस्मि शरणं गतः ॥ ७३ ॥
 समस्तालम्बनेभ्यो यं व्यावृत्त्य मनसो गतिम् । ध्यायन्ति वासुदेवाख्यं तमस्मि शरणं गतः ॥ ७४ ॥
 सर्वगं सर्वभूतं च सर्वस्याधारमेश्वरम् । वासुदेवं परं ब्रह्म तमस्मि शरणं गतः ॥ ७५ ॥
 परमात्मानमव्यक्तं यं प्रयान्ति सुमेधसः । कर्मक्षयेऽक्षयं देवं तमस्मि शरणं गतः ॥ ७६ ॥
 पुण्यपापविनिर्मुक्ता यं प्रविश्य पुनर्भवम् । न योगिनः प्राप्नुवन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥ ७७ ॥
 ब्रह्मा भूत्वा जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम् । यः सृजत्यच्युतो देवस्तमस्मि शरणं गतः ॥ ७८ ॥

चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रोंवाले, कंस और केशीको मारनेवाले महाबाहु केशवको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। वक्षःस्थलपर धीवन् धारण करनेवाले, श्रीश, श्रीवर, श्रीनिकेतन एवं श्रीकान्तको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। संयम करनेवाले लोग जिन सब प्राणियोंके स्वामी, अक्षर एवं अनिर्देश्य वासुदेवका ध्यान करते हैं वे उनकी शरण ग्रहण करता हूँ। (संन्यासी लोग) अन्य समस्त सहारोंसे मनकी गतिको लौटाकर जिस वासुदेव नामक ईश्वरका ध्यान करते हैं, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। मैं सर्वगत, सर्वभूत, सर्वाधार ईश्वर एवं वासुदेव नामक परब्रह्मा शरण जाता हूँ। श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न लोग कर्मका नाश होनेपर जिन अदृष्ट, अनिनायी, परमात्मदेवको प्राप्त करते हैं, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। पुण्य तथा पापसे रहित योगीलोग जिन्हें पाकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करते, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। ब्रह्माभा रूप धारण कर देवता, दैत्य एवं गनुष्योंसे युक्त सारे जगत्की सृष्टि करनेवाले अच्युत देवकी मैं शरणमें जाता हूँ ॥ ७१-७८ ॥

१ ब्रह्मत्वे यस्य चक्षुर्भ्यश्चतुर्वेदमयं षणुः । प्रभूः पुमानो ज्ञो नमस्मि प्रणमं नः ॥ ७९ ॥
 ब्रह्मरूपधरं देवं जगद्योनि जनार्दनम् । स्रष्टुर्वे संनिर्न सृष्टो प्रणोऽस्मि सगदहम् ॥ ८० ॥
 स्रष्टा भूत्वा स्थितो योनिं स्थितावतुरस्रद्धन । तमादिपुरुषं विष्णुं प्रणोऽस्मि जगदहम् ॥ ८१ ॥
 धृता मही हता दैत्याः परिधातास्तथा सुताः । येन तं विष्णुमायेन प्रणोऽस्मि जगदहम् ॥ ८२ ॥
 यक्षैर्जन्ति यं विष्णुं यक्षेशं य भावनम् । तं यन्पुरुषं विष्णुं प्रणोऽस्मि सगदहम् ॥ ८३ ॥
 पातालवैर्याभूतानि तथा लोकाश्च निहन्ति यः । तमन्तपुरुषं स्रष्टं प्रणोऽस्मि सगदहम् ॥ ८४ ॥
 सम्भक्षयित्वा सकलं यथासृष्टमिदं जगत् । यो वै सृष्ट्यनि रुद्राणां प्रणोऽस्मि जगदहम् ॥ ८५ ॥
 सुरासुराः पितृगणाः यक्षगन्धर्वाक्षसाः । सम्भूता यस्य देवस्य स्वयं तं नमाम्यहम् ॥ ८६ ॥

ब्रह्माभा रूप धारण करनेपर तिनके मुखोसे चारों वेदोंसे युक्त शक्ति प्राप्त करनेवाले प्रसन्न आविर्भाव हुआ था, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ । मैं सृष्टिके लिये स्रष्टात्वासे स्थित ब्रह्मरूप धारण करनेवाले सनातन जगद्योनि जनार्दनको प्रणाम करता हूँ । सृष्टिकर्ता होकर योनिरूपमें विद्यमान पर स्थितस्वरूपे स्रष्टृत्वा नाश करनेवाले आदिपुरुष जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ । मैं उन आदि पुरुष ईश्वर जनार्दन विष्णुको प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने पृथ्वीको धारण किया है, दैत्योंको मारा है पर देवतायेंभी रक्षा की है । स्रष्टृत्वासे यज्ञोंके द्वारा जिनकी अर्चना करते हैं, मैं उन यज्ञपुरुष, यज्ञभावन, यज्ञेश, सनातन विष्णुको प्रणाम करता हूँ । मैं पाताललोकोमें रहनेवाले प्राणियों तथा लोकोंका विनाश करनेवाले उन अन्तपुरुष सनातन स्वयंको प्रणाम करता हूँ । सृष्ट किये गये इस समस्त जगत्का भक्षकका रूप करनेवाले स्रष्टा जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ । मैं सर्वत्र गमन करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ, जिनसे समस्त सुर, असुर, विष्णुग, यक्ष, गन्धर्व एव राक्षस उत्पन्न हुए हैं ॥ ७९-८६ ॥

समस्तदेवाः सकला मनुष्याणां च जातयः । यस्यांशभूता देवास्य सर्वं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥
 वृक्षगुल्मादयो यस्य तथा पशुमृगादयः । एकांशभूता देवास्य सर्वं तं नमाम्यहम् ॥ ८८ ॥
 यस्मान्नान्यत् परं किञ्चिद् यस्मिन् सर्वं महान्मनि । यः सर्वमध्यगोऽनन्त-सर्वं तं नमाम्यहम् ॥ ८९ ॥
 यथा सर्वेषु भूतेषु गृहोऽग्निरिव दारपुः । विष्णुरेवं तथा पापं प्रमाशेषं प्रणश्यतु ॥ ९० ॥
 यथा विष्णुमयं सर्वं ब्रह्मादि सचराचरम् । यत्र वातपरिच्छयं पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९१ ॥
 शुभाशुभानि ऋषाणि राजसरतमासि च । अनेकजन्ममार्गेषु पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९२ ॥
 यन्निशायां च यत्प्रातर्दन्मध्याह्नपरान्धयोः । सन्ध्यायत्र हत पापं कर्मणा मनसा गिरा ॥ ९३ ॥
 यत् विष्टता यद् ब्रजता यच्च शय्यागतेन मे । कृत यद्गुभ कर्म कायेन मनसा गिरा ॥ ९४ ॥
 अज्ञानतो दानतो वा मरानलितमातसे । तत् क्षमयित्यु यातु चासुदेवस्य कर्मणः ॥ ९५ ॥

१ मैं उन सर्वस्वपी देवको प्रणाम करता हूँ किन्तु शरणमें मन्वृष्य देव एव प्रसन्न उत्पन्न हुई हैं । वृक्ष, गुल्म आदि तथा पशु मृगा आदि तिनके शरणमें प्रसन्न उत्पन्न हुए हैं । मैं उन सर्वस्वपी देवको प्रणाम करता हूँ किन्तु शरणमें प्रयत्न कीजिये सम्पूर्ण पदार्थ स्थित हैं तथा जो स्त्रीके लक्षणमें रहनेवाले हैं वे भी सम्पन्न प्राणियोंमें व्याप विष्णु मेरे सम्पूर्ण शरीरमें स्थित हैं । सम्पन्न प्राणियोंमें व्याप विष्णु मेरे सम्पूर्ण शरीरमें स्थित हैं । सम्पन्न प्राणियोंमें व्याप विष्णु मेरे सम्पूर्ण शरीरमें स्थित हैं । सम्पन्न प्राणियोंमें व्याप विष्णु मेरे सम्पूर्ण शरीरमें स्थित हैं ।

कर्म, मन एवं वाणीके द्वारा रात्रिमें तथा प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, अपराह्नकाल और सन्ध्याकालमें चलते, बैठते और शयन करते हुए ज्ञान या अज्ञानपूर्वक अथवा निरहंकार मनसे मैंने जो अशुभ (पाप) कर्म किये हों वे वासुदेवके नाम-कीर्तनसे शीघ्र नष्ट हो जायँ ॥ ८७-९५ ॥

परदारपरद्रव्यवाञ्छाद्रोहोद्भवं च यत् । परपीडोद्भवां निन्दां कुर्वता यन्महात्मनाम् ॥ ९६ ॥
 यच्च भोज्ये तथा पेये भक्ष्ये चोष्ये विलेहने । तद् यातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९७ ॥
 यद् बाल्ये यच्च कौमारे यत् पापं यौवने मम । वयःपरिणतो यच्च यच्च जन्मान्तरे कृतम् ॥ ९८ ॥
 तन्नारायण गोविन्द हरिकृष्णेश कीर्तनात् । प्रयातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९९ ॥
 विष्णवे वासुदेवाय हरये केशवाय च । जनार्दनाय कृष्णाय नमो भूयो नमो नमः ॥ १०० ॥
 भविष्यन्तरकक्ष्णाय नमः कंसविघ्नातिने । अरिष्टकेशिचाणूरदेवारिश्रयिणे नमः ॥ १०१ ॥
 कोऽन्यो वलेर्वञ्चयिना त्वामृते वै भविष्यति । कोऽन्यो नाशयति वलाद् दर्पं हैहयभूपतेः ॥ १०२ ॥
 कः करिष्यत्यथाऽन्यो वै सागरे सेतुवन्धनम् । वधिष्यति दशग्रीवं कः सामात्यपुरःसरम् ॥ १०३ ॥

परस्त्री और परधनकी कामना, द्रोह, परपीडा, महात्माओंकी निन्दा तथा (निषिद्ध) भोज्य, पेय, भक्ष्य, चोष्य एवं चाटनेवाले वस्तुके कारण उत्पन्न सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे लवण रखनेवाला मिट्टीका पात्र पानीमें (पड़ते ही) नष्ट हो जाता है । नारायण, गोविन्द, हरि, कृष्ण, ईशका कीर्तन करनेसे बाल्यकाल, कुमारवस्था, यौवन, वार्द्धक्य एवं जन्मान्तरमें किये गये मेरे सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे जलमें नमक रखनेसे मिट्टीका वर्तन विलीन हो जाता (गल जाता) है । हरि, विष्णु, वासुदेव, केशव, जनार्दन, कृष्णको पुनः-पुनः प्रणाम है । भात्री नरकका नाश करनेवाले तथा कंसको मारनेवालेको नमस्कार है । अरिष्ट, केशी एवं चाणूर आदि राक्षसोंके नष्ट करनेवालेको नमस्कार है । आपके सिवाय वलिको कौन छल सकता था एवं आपके बिना हैहयनरेशके घमंडको कौन नष्ट कर सकता था ? आपके सिवाय समुद्रमें सेतुको कौन बाँध सकता था तथा मन्त्री आदिके साथ ही दशग्रीव रावणको कौन मार सकता था ॥ ९६-१०३ ॥

कस्त्वामृतेऽन्यो	नन्दस्य	गोकुले	रतिमेष्यति ।
प्रलम्बपूतनादीनां	त्वामृते	मधुसूदन । निहन्ताऽप्ययवा	देवदेव भविष्यति ॥ १०४ ॥
जपन्नेवं नरः पुण्यं	वैष्णवं	धर्ममुत्तमम् । इष्टानिष्टप्रसंगेभ्यो	ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ॥ १०५ ॥
कृतं तेन तु यत् पापं	सप्तजन्मान्तराणि वै । महापातकसंज्ञं	वा तपा	चैवोपपातकम् ॥ १०६ ॥
यज्ञादीनि च पुण्यानि	जपहोमव्रतानि च । नाशयेद् योगिनां	सर्वमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १०७ ॥	
नरः संवत्सरं पूर्णं	तिलपात्राणि पोडश । अहन्यहनि यो दद्यात्	पठत्येतच्च तत्समम् ॥ १०८ ॥	
अविलुप्तब्रह्मचर्यं	सम्प्राप्य स्मरणं हरेः । विष्णुलोकमवाप्नोति	सत्यमेतन्मयोदितम् ॥ १०९ ॥	
यथैतत् सत्यमुक्तं	मे न ह्यल्पमपि मे मृषा । राक्षसस्त्रस्तसर्वाङ्गं	तथा मामेप मुञ्चतु ॥ ११० ॥	

मधुसूदन ! आपके सिवाय कौन ऐसा है जो नन्दके गोकुलमें प्रेममयी क्रीडा कर सके ? देवदेव ! आपके सिवा प्रलम्ब और पूतना आदिका वध एवं शासन कौन कर सकता था ? इस धर्ममय उत्तम वैष्णव-मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य इष्ट और अनिष्टके प्रसङ्गवश तथा ज्ञान या अज्ञानपूर्वक सात जन्मोंमें किये अपने महापातकों, उपपातकों, यज्ञ, होम एवं व्रत आदिके पुण्य कर्मोंके भी योगको इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जलमें मिट्टीका घड़ा नष्ट हो जाता है । मैं यह सत्य कहता हूँ कि अखण्डित ब्रह्मचर्य एवं हरिस्मरणपूर्वक एक वर्षतक इस

स्तोत्रके पाठके साथ प्रतिदिन त्रिंशे भरे सोल्ह पात्रोंका दान करनेका मनुष्य विष्णुदेवको प्राप्त करण है । यदि मैंने यह सय नहा हो एव इसमें अण्यमात्र भी अण्य न हो तो यह राक्षस मव अह्नोसे पीड़ित हो चुके मुसे छोड़ दे ॥ १०४-११० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते तेन मुको विप्रस्तु रक्षसा । अकामेन द्विजो भूयस्तमाह रजनीचरम् ॥१११॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके ऐसा कहते ही राक्षसने ब्राह्मणको छोड़ दिया । पुन द्विजने निष्कामभावसे राक्षससे कहा—॥ १११ ॥

ब्राह्मण उवाच

एतद् भद्र मया ख्यातं तव पातकनाशनम् । विष्णोः सारस्वतं स्तोत्रं यज्ञगाद् सरस्वती ॥११२॥

हृताशनेन प्रहिता मम जिह्वायसंस्थिता । जगादैनं स्तवं विष्णोः सर्वेषां चोपशान्तिदम् ॥११३॥

अनेनैव जगन्नाथं त्यमाराध्य केशवम् । ततः शापापमोदं तु स्तुते लप्स्यसि केशवे ॥११४॥

अहर्निशं हृषीकेशं स्तुवेनानेन राक्षस । स्तुहि भक्ति ददां कृत्वा ततः पापाद् विमोक्ष्यसे ॥११५॥

स्तुनो हि सर्वपापानि नारायिष्यत्यसंशयम् । स्तुतो हि भक्त्या नृणां वै सर्वपापहरो हरिः ॥११६॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र । सरस्वती देवीने जिस पापका नाश करनेके लिये सारस्वत विष्णुस्तोत्रको कहा है, उसे मैंने तुमसे कह दिया । अग्निदेवसे भेजी गयी एव मेरी जिह्वाके अप्रमाणमें स्थित सरस्वतीने सभीके शान्ति देनेके लिये इस विष्णुस्तोत्रको कहा है । तुम इसीसे जगत्सामी केशवकी आराधना करो । उसके बाद केशवकी स्तुति करनेसे तुम शापसे मुक्त हो जाओगे । राक्षस ! इस स्तुतिके द्वारा दृढ भक्तिपूर्वक दिन-रात हृषीकेशकी स्तुति करो । तब तुम पापसे मुक्त हो जाओगे । स्तुति किये गये हरि नि सदेह सम्स्त पापोंको नष्ट करेंगे । भक्तिपूर्वक स्तुति करनेसे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले हरि मनुष्योंके सब पापोंका नाश कर देते हैं ॥ ११२-११६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रणम्य तं विप्रं प्रसाद्य स निशाचर । तदैव तपसे धीमान् शालग्राममगाद् धरो ॥११७॥

अहर्निशं स पर्वतं जपन् सारस्वतं स्तवम् । देवक्रियारतिभूत्या तपस्तेषु निशाचरः ॥११८॥

समाराध्य जगन्नाथं स तत्र पुरुषोत्तमम् । सर्वपापविनिमुक्तो विष्णुलोकमवातयान् ॥११९॥

पतत् ते कथितं ब्रह्मन् विष्णोः सारस्वतं स्तवम् । विप्रवक्त्रश्च यथा शक्यं सरस्वत्या समर्पितम् ॥१२०॥

य एतत् परमं स्तोत्रं वासुदेवस्य मानवः । पठिष्यति स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षमाप्स्यति ॥१२१॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद आत्मनिष्ठ वह राक्षस ब्राह्मणको प्रणाम एव प्रसन्न करनेके पश्चात् उसी समय तपस्याके लिये शालग्राम नामक स्थानमें चला गया । वह राक्षस दिन-रात इसी सारस्वतस्तोत्रका जप करते हुए देवक्रियामें लीन होकर तत्र करने लगा । वहाँ पुरुषोत्तम जगन्नाथकी पूजा कर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर उसने विष्णुलोक प्राप्त किया । ब्रह्मन् ! मैंने तुमसे ब्राह्मणने मुझसे सरस्वतीद्वारा कहा गया विष्णुका यह सारस्वतस्तोत्र कहा । वासुदेवके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको पढ़नेके लिये मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ११७-१२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥



[अथ पडशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

नमस्तेऽस्तु जगन्नाथ देवदेव नमोऽस्तु ते । वासुदेव नमस्तेऽस्तु बहुरूप नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥
 एकशृङ्ग नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं वृषाकपे । श्रीनिवास नमस्तेऽस्तु नमस्ते भूतभावन ॥ २ ॥
 विष्वक्सेन नमस्तुभ्यं नारायण नमोऽस्तु ते । ध्रुवध्वज नमस्तेऽस्तु सत्यध्वज नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥
 यज्ञध्वज नमस्तुभ्यं धर्मध्वज नमोऽस्तु ते । तालध्वज नमस्तेऽस्तु नमस्ते गरुडध्वज ॥ ४ ॥
 वरेण्य विष्णो वैकुण्ठ नमस्ते पुरुषोत्तम । नमो जयन्त विजय जयानन्त पराजित ॥ ५ ॥
 कृत्वावर्त महावर्त महादेव नमोऽस्तु ते । अनाद्यान्त मध्यान्त नमस्ते पद्मजप्रिय ॥ ६ ॥
 पुरञ्जय नमस्तुभ्यं शशुञ्जय नमोऽस्तु ते । शुभञ्जय नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु धनञ्जय ॥ ७ ॥
 सृष्टिगर्भ नमस्तुभ्यं शुचिश्रवः पृथुश्रवः । नमो हिरण्यगर्भाय पद्मगभाय ते नमः ॥ ८ ॥

छियासीवाँ अध्याय प्राग्म्भ

(स्तोत्रोंके क्रममें पुलस्त्यजीद्वारा उपदिष्ट महेश्वर-कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है । हे देवदेव । आपको नमस्कार है । हे वासुदेव ।
 आपको नमस्कार है । हे अनन्त रूप धारण करनेवाले । आपको नमस्कार है । हे एकशृङ्ग । आपको नमस्कार है ।
 हे वृषाकपे ! आपको नमस्कार है । हे श्रीनिवास ! आपको नमस्कार है । हे भूतभावन ! आपको नमस्कार है ।
 हे विष्वक्सेन ! आपको नमस्कार है । हे नारायण ! आपको नमस्कार है । हे ध्रुवध्वज ! आपको नमस्कार है ।
 हे सत्यध्वज ! आपको नमस्कार है । हे यज्ञध्वज ! आपको नमस्कार है । हे धर्मध्वज ! आपको नमस्कार है ।
 हे तालध्वज ! आपको नमस्कार है । हे गरुडध्वज ! आपको नमस्कार है । हे वरेण्य ! हे विष्णो ! हे वैकुण्ठ !
 हे पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है । हे जयन्त ! हे विजय ! हे जय ! हे अनन्त ! हे पराजित ! आपको
 नमस्कार है । हे कृत्वावर्त ! हे महावर्त ! हे महादेव ! आपको नमस्कार है । हे अनादि एवं आदि और अन्तमें
 विद्यमान ! हे मध्यान्त, (मध्य और अन्तवाले) हे पद्मजप्रिय ! आपको प्रणाम है । हे पुरञ्जय ! आपको नमस्कार
 है । हे शशुञ्जय ! आपको प्रणाम है । हे शुभञ्जय ! आपको प्रणाम है । हे धनञ्जय ! आपको प्रणाम है ।
 सृष्टिगर्भ ! हे सृष्टिको अपनेमें सुरक्षित रखनेवाले । श्रवण-मात्रसे ही पवित्र कर देनेवाले हे शुचिश्रवः !
 धार्तजनोकी पुकारको विशाल कर्णोंसे सुननेवाले हे पृथुश्रवः । आपको नमस्कार है । आप हिरण्यगर्भको
 नमस्कार है । आप पद्मगर्भको नमस्कार है ॥ १-८ ॥

नमः कमलनेत्राय कालनेत्राय ते नमः । कालनाभ नमस्तुभ्यं महानाभ नमो नमः ॥ ९ ॥

पृष्टिमूल महामूल मूलावास नमोऽस्तु ते । धर्मावास जळावास श्रीनिवास नमोऽस्तु ते ॥ १० ॥

धर्माध्यक्ष प्रजाध्यक्ष लोकाध्यक्ष नमो नमः । सेनाध्यक्ष नमस्तुभ्यं कालाध्यक्ष नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥

गदाधर श्रुतिधर चक्रधारिन् श्रियोधर । चनमालाधर हरे नमस्ते धरणाधर ॥ १२ ॥

आर्चिपेण महासेन नमस्तेऽस्तु पुमन्दुत । बहुकल्प महाकल्प नमस्ते कल्पनामुख ॥ १३ ॥

सर्वान्मन् सर्वग विभो विरिञ्चं द्येत् केशव । नील रक्त महानील अनिरुद्ध नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

द्वादशात्मक कालात्मन् सामात्मन् परमात्मक । ज्योमकात्मक सुव्राह्मन् भूतात्मक नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥

हरिकेश महाकेश गुडाकेश नमोऽस्तु ते । सुब्रह्मकेश हृषीकेश सर्वनाथ नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

आप कमलनेत्रको प्रणाम है । आप कालनेत्रको प्रणाम है । हे कालनाभ ! आपको प्रणाम है । हे महानाभ !
 आपको आरम्भार प्रणाम है । हे पृष्टिमूल ! हे महामूल ! हे मूलावास ! आपको प्रणाम है । हे धर्मावास ! हे जळावास !

हे श्रीनिवास ! आपको प्रणाम है । हे स्नाय्यश्व ! हे प्रजायन् ! हे त्रैकायश्व ! आपको नर-नार प्रणाम है ।
 हे सेनाय्यश्व ! आपको प्रणाम है । हे ऋत्वाय्यश्व ! आपको प्रणाम है । हे गदायन् ! हे युक्तिर ! हे चक्रर !
 हे श्रीवर ! त्रिमाग और पृथ्वीको मरण करनेवाले हे हरे ! आपको प्रणाम है । हे अर्चिदग्नि !
 हे महासेन ! हे पुरुते स्तुत ! आपको प्रणाम है । हे उदकत्य ! हे महावत्य ! हे वरुणनामुख ! आपको प्रणाम है ।
 हे सर्वायन् ! हे सर्वग ! हे त्रिभो ! हे त्रिरिच्छिन् ! हे इन्द्रे ! हे कदाव ! हे नीच ! हे रक्त ! हे महानील !
 हे अनिरुद्र ! आपको नमस्कार है । हे शदशामक ! हे मागयन् ! हे सामायन् ! हे परमाशमक ! हे आकाशामक !
 हे सुमहान् ! हे भूतामक ! आपको प्रणाम है । हे हरिकेश ! हे महाकेश ! हे गुडाकेश ! आपको प्रणाम है ।
 हे मुञ्जकेश ! हे ह्यीरुश ! हे सर्वनाथ ! आपको प्रणाम है ॥ ०-१६ ॥

सूक्ष्म स्थूल महास्थूल महासूक्ष्म शुभङ्कर । श्वेतपीताम्बरधर नीलवास नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
 कुशेशय नमस्तेऽस्तु पद्मेशय जलेशय । गोविन्द प्रतिकर्ता च हस पीताम्बरधरिय ॥ १८ ॥
 अधोक्षज नमस्तुभ्य सारध्वज जनार्दन । धामनाथ नमस्तेऽस्तु नमस्ते मधुसूदन ॥ १९ ॥
 सहस्रशीर्षय नमो ब्रह्मराषाय ते नमः । नम सहस्रनेत्राय सोमसूर्यान्तलेक्षण ॥ २० ॥
 नमश्चाथर्वशिरसे महाराषाय ते नमः । नमस्ते धर्मनेत्राय मदानेत्राय ते नमः ॥ २१ ॥
 नम सहस्रपादाय सहस्रभुजमन्यये । नमो यज्ञवराहाय महारूपाय ते नमः ॥ २२ ॥
 नमस्ते विश्वदेवाय विश्वामन् विश्वसम्भव । विश्वरूप नमस्तेऽस्तु त्वत्तो विद्वन्मभूदिदम् ॥ २३ ॥
 न्यप्रोधस्त्व महाराखस्त्व मूलवृषुमार्षित । स्कन्धपद्मङ्कुरलतापल्लवाय नमोऽस्तु ते ॥ २४ ॥

हे सूक्ष्म ! हे स्थूल ! हे महास्थूल ! हे महासूक्ष्म ! हे शुभङ्कर ! हे उज्ज्वल-शीते-रक्तको धारण करनेवाले ! हे नीलवास ! आप
 को प्रणाम है । हे कुशार शयन करनेवाले ! हे पद्मपर शयन करनेवाले ! हे जलमें शयन करनेवाले ! हे गोविन्द ! हे प्रतिकर्ता !
 हे हस ! हे पीताम्बरधर ! आपको नमस्कार है । हे अधोक्षज ! हे सीरध्वज ! हे जनार्दन ! आपको प्रणाम है । हे यामन !
 आपको प्रणाम है । हे मधुसूदन ! आपको प्रणाम है । आप सहस्रशिरवालेको नमस्कार है । आप ब्रह्मशीर्षको प्रणाम है ।
 आप सहस्रनेत्र और चन्द्र मूर्त्येव अग्निरूपी आँखवालेको प्रणाम है । अथर्वशिराको नमस्कार है । महाशीर्षको प्रणाम है ।
 धर्मनेत्रको प्रणाम है । महानेत्रको प्रणाम है । सहस्रपादको नमस्कार है । सहस्रों भुजाओं एव सहस्रों यज्ञवालेको नमस्कार है ।
 यज्ञवराहको नमस्कार है । आप महारूपको नमस्कार है । विश्वदेवको प्रणाम है । हे विश्वामन् ! हे विश्वसम्भव !
 हे विश्वरूप ! आपको नमस्कार है । आपसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है । आप यज्ञोप और महाशिव हैं आप
 ही मूलवृषुमार्षित हैं । स्कन्ध पत्र अङ्कुर उता एव पल्लवलक्ष्मण आपको नमस्कार है ॥ १७-२४ ॥

मूल ते ब्राह्मणा ब्रह्मन् स्कन्धस्ते क्षत्रिया प्रभो । वैश्या शाखा द्रव्य शूद्रा धनस्यते नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥
 ब्राह्मणा साग्नयो वक्रा शोर्ण्डा सायुधा नृपा । पार्श्वोद् विश्वेश्वर्युगाज्जाता शूद्राश्च पादत ॥ २६ ॥
 नेत्राद् भानुरभूत् तुभ्य पद्भ्या भू श्रोत्रयोर्दिश । नाभ्या ह्यभूदन्तरिक्षं दशार्द्धो मनसस्तव ॥ २७ ॥
 प्राणाद् वायु समभवत् कामाद् ब्रह्मा पितामह । क्रोधात् त्रिनयनो रुद्र शीर्ष्णो धी समवर्तत ॥ २८ ॥
 इन्द्राग्नी वदनाद् तुभ्य पशवो मलसम्भवा । ओषधो रोमसम्भूता विराजस्त्व नमोऽस्तु ते ॥ २९ ॥
 पुण्यहास नमस्तेऽस्तु महाहास नमोऽस्तु ते । अङ्कारस्त्व वषट्कारो धौषट् त्व च स्वधा सुधा ॥ ३० ॥
 क्वाहाकार नमस्तुभ्य हन्तकार नमोऽस्तु ते । सर्वाकार निराकार वेदाकार नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥
 त्वं हि वेदमयी देव सर्वदेवमयतथा । सर्वतीर्थमयदक्षैश्च सर्वयज्ञमयस्तथा ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! ब्राह्मण आपके मूल हैं । प्रभो ! क्षत्रिय आपके स्कन्ध, वैश्य शाखा एवं शूद्र पत्ते हैं । वनस्पते ! आपको नमस्कार है । अग्निसहित ब्राह्मण आपके मुख एवं शस्त्रसहित क्षत्रिय आपकी भुजाएँ हैं । वैश्य आपके दोनों जाँघोंके पार्श्वभागसे तथा शूद्र आपके चरणोंसे उत्पन्न हुए हैं । आपके नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुए हैं । आपके चरणोंसे पृथ्वी, कानोंसे दिशाएँ, नाभिसे अन्तरिक्ष तथा मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं । आपके प्राणसे वायु, कामसे पितामह ब्रह्मा, क्रोधसे त्रिनेत्र रुद्र और सिरसे शुलोक आविर्भूत हुए हैं । आपके मुखसे इन्द्र और अग्नि, मल्लसे पशु तथा रोमसे ओषधियाँ उत्पन्न हुईं । आप विराज हैं । आपको नमस्कार है । हे पुष्पहास ! आपको प्रणाम है । हे महाहास ! आपको प्रणाम है । आप ओङ्कार, वषट्कार और वौपट् हैं । आप खधा और सुधा हैं । हे खाहाकार ! आपको प्रणाम है । हे हन्तकार ! आपको प्रणाम है । हे सर्वाकार ! हे निराकार ! हे वेदाकार ! आपको प्रणाम है । आप वेदमय देव तथा सर्वदेवमय हैं । आप सर्वतीर्थमय और सर्वयज्ञमय हैं ॥ २५-३२ ॥

नमस्ते यज्ञपुरुष यज्ञभागभुजे नमः । नमः सहस्रधाराय शतधाराय ते नमः ॥ ३३ ॥
 भूर्भुवःस्वःस्वरूपाय गोदायामृतदायिने । सुवर्णब्रह्मदात्रे च सर्वदात्रे च ते नमः ॥ ३४ ॥
 ब्रह्मेशाय नमस्तुभ्यं ब्रह्मादे ब्रह्मरूपधृक् । परब्रह्म नमस्तेऽस्तु शब्दब्रह्म नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
 विद्यास्त्वं वेद्यरूपस्त्वं वेदनीयस्त्वमेव च । बुद्धिस्त्वमपि बोध्यश्च बोधस्त्वं च नमोऽस्तु ते ॥ ३६ ॥
 होता होमश्च हव्यं च ह्यमानश्च हव्यवाट् । पाता पोता च पूतश्च पावनीयश्च ॐ नमः ॥ ३७ ॥
 हन्ता च हन्यमानश्च ह्यिमाणस्त्वमेव च । हर्ता नेता च नीतिश्च पूज्योऽश्रेयो विश्वधार्यसि ॥ ३८ ॥
 स्रुकस्रुत्रौ परधामासि कपालोलूखलोऽरणिः । यज्ञपात्रारण्यस्त्वमेकधा बहुधा त्रिधा ॥ ३९ ॥
 यज्ञस्त्वं यजमानस्त्वमीड्यस्त्वमसि याजकः । ज्ञाता ज्ञेयस्तथा ज्ञानं ध्येयो ध्याताऽसि चेश्वर ॥ ४० ॥
 ध्यानयोगश्च योगी च गतिर्मोक्षो धृतिः सुखम् । योगाङ्गानि त्वमीशानः सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

यज्ञपुरुष ! आपको प्रणाम है । हे यज्ञभागके भोक्तः ! आपको प्रणाम है । सहस्रधार और शतधारको प्रणाम है । भूर्भुवःस्वःस्वरूप, गोदाता, अमृतदाता, सुवर्ण और ब्रह्म (संसारके निमित्त और उपादान कारण आदि) के भी जन्मदाता तथा सर्वदाता आपको प्रणाम है । आप ब्रह्मेशको नमस्कार है । हे ब्रह्मादि ! हे ब्रह्मरूपधारिन् ! हे परमब्रह्म ! आपको प्रणाम है । हे शब्दब्रह्म ! आपको प्रणाम है । आप ही विद्या, आप ही वेद्यरूप तथा आप ही जानने योग्य हैं । आप ही बुद्धि, बोध्य और बोधरूप हैं । आपको प्रणाम है । आप होता, होम, हव्य, ह्यमान द्रव्य तथा हव्यवाट्, पाता, पोता, पूत तथा पावनीय ओङ्कार हैं । आपको नमस्कार है । आप हन्ता, हन्यमान, ह्यिमाण, हर्ता, नेता, नीति, पूज्य, श्रेष्ठ तथा संसारको धारण करनेवाले हैं । आप स्रुक, स्रुव, परधाम, कपाली, उच्छ्रखल, अरणि, यज्ञपात्र, आरण्य, एकधा, त्रिधा और बहुधा हैं । आप यज्ञ हैं और आप यजमान हैं । आप स्तुत्य और याजक हैं । आप ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, ध्येय, ध्याता तथा ईश्वर हैं । आप ध्यानयोग, योगी, गति, मोक्ष, धृति, सुख, योगाङ्ग, ईशान एवं सर्वग हैं । आपको नमस्कार है ॥ ३३-४१ ॥

ब्रह्मा होता तथोद्गाता स्याम यूपोऽथ दक्षिणा । दीक्षा त्वं त्वं पुरोडाशस्त्वं पशुः पशुवाह्यसि ॥ ४२ ॥
 गुह्यो धाता च परमः शिवो नारायणस्तथा । महाजनो निरयनः सहस्रार्केन्दुरूपवान् ॥ ४३ ॥
 द्वादशारोऽथ पण्णाभिस्त्रिब्यूहो द्वियुगस्तथा । कालचक्रो भवानीशो नमस्ते पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥
 पराक्रमो विक्रमस्त्वं हयग्रीवो हरीश्वरः । नरेश्वरोऽथ ब्रह्मेशः सूर्येशस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४५ ॥
 अदचवक्त्रो महामेधाः शम्भुः शक्रः प्रभञ्जनः । मित्रावरुणमूर्तिस्त्वममूर्तिरनघः परः ॥ ४६ ॥
 प्राग्वंशकायां भूतादिमहाभूतोऽच्युतो द्विजः । त्वमूर्ध्वकर्त्ता ऊर्ध्वश्च ऊर्ध्वरेता नमोऽस्तु ते ॥ ४७ ॥
 मदापातकहा त्वं च उपपातकहा तथा । अनीशः सर्वपापेभ्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ ४८ ॥

इत्येतत् परमं स्तोत्रं सर्वपापप्रमोचनम् । महेश्वरेण कथितं वाराणस्यां पुरा मुने ॥ ४९ ॥

केशवम्याग्रनो गन्वा स्नान्वा तीर्थे सितोदके । उपशान्तस्तथा जातो रुद्रः पापयशान् ततः ॥ ५० ॥

एतत् पवित्रं त्रिपुररुध्रभारितं पठन् नरो विष्णुपरो महर्षे ।

विमुक्तपापो ह्युपशान्तमूर्तिः सम्पूज्यते देववरैः प्रसिद्धैः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षडशोडशोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

आप ब्रह्मा, होता, उद्गाता, साम, यूय, दक्षिणा तथा दीक्षा हैं । आप पुरोडाश एवं आप ही पशु तथा पशुवाही हैं । आप गुण, धाता, परम, शिव, नारायण, महाजन, निराश्रय तथा हजारों मूर्ध और चन्द्रमाके ममान रूपवान् हैं । आप बारह अरों, छः नामियों, तीन व्यूहों एवं दो युगोंवाले कालचक्र तथा ईश एव पुरोरोहण हैं । आपको नमस्कार है । आप पराक्रम, विक्रम, हयग्रीव, हरीश्वर, नरेश्वर, ब्रह्मेश और-मूर्धेश हैं । आरको नमस्कार है । आप अश्वक्व, महामेघ, शम्भु, शक्र, प्रभञ्जन, मित्रावहगर्गी मूर्ति, अमूर्ति, निगाप और श्रेष्ठ हैं । आप प्राग्वशकाय (मूलपुरुष), भूनादि, महाभूत, अच्युत और दिज हैं । आप ऊर्ध्वकर्ता, ऊर्ध्व और ऊर्ध्वरेता हैं । आपको नमस्कार है । आप महापानकोंका विनाश करनेवाले तथा उपशान्तकोंके नाशक हैं । आप सभी पापोंसे निर्दिष्ट हैं । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । मुने ! प्राचीन कालमें महेश्वरने संपूर्ण पापोंसे मुक्ति देनेवाले इस श्रेष्ठ स्तोत्रको वाराणसीमें कहा था । तीर्थके मन्त्र अग्ने स्नान कर केशवका दर्शन करनेसे रुद्र पापके प्रमाणसे मुक्त एवं शान्त हुए थे । महर्षे ! त्रिपुरारिके द्वारा कहे गये इस स्तोत्रका पाठ करनेसे विष्णुभक्त मनुष्य पापसे मुक्त और सौम्य होकर प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ देवनाथोंसे पूजित होना है ॥ ४२-५१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

[अथ मत्ताशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य ब्रह्मच

द्वितीयं पापशमनं स्तवं यक्ष्यामि ते मुने । येन सग्यगद्येतेन पापं नारां तु गच्छति ॥ १ ॥

मत्स्यं नमस्ये देवेशं कुर्म गोविन्दमेव च । हयशीर्षं नमस्येऽहं भवं विष्णुं त्रिविक्रमम् ॥ २ ॥

नमस्ये माधवेशान्तौ हृषीकेशकुमारिणौ । नारायणं नमस्येऽहं नमस्ये गरुडासनम् ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वकेशं नृसिंहं च रूपधारं कुरश्वक्षम् । कामपालमखण्डं च नमस्ये ब्रह्मणमियम् ॥ ४ ॥

अजितं विश्वकर्माणं पुण्डरीकं द्विजमियम् । हंसं शम्भुं नमस्ये च ब्रह्माणं सप्तजापतिम् ॥ ५ ॥

नमस्ये शूलबाहुं च देवं चक्रधरं तथा । शिष्यं विष्णुं सुवर्णशं गोपतिं पानवाप्तसम् ॥ ६ ॥

नमस्ये च गदापाणिं नमस्ये च कुरोदायम् । अर्धनारीश्वरं देवं नमस्ये पापनाशनम् ॥ ७ ॥

गोपालं च स्ववैकुण्ठं नमस्ये चापराजितम् । नमस्ये विश्वरूपं च सौगन्धिं सर्वदाशिवम् ॥ ८ ॥

मत्तासीर्षी अध्याय प्रारम्भ

(अगस्त्यद्वारा कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—मुने 'अब मैं आपसे पापोंका निवारण करनेवाला दूसरा स्तोत्र बट्टूंगा; जिसका

भन्दीभौति अण्यथन (पाठ) करनेसे पाप निवृत्त हो जाता है । मैं मत्स्य एव कच्छत्रका रूप धारण करनेवाले देवेश गोविन्द भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं हयशीर्ष, भव और त्रिविक्रम विष्णु भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं माधव, ईशान, हृषीकेश और कुमारको नमस्कार करता हूँ । मैं नारायणको नमस्कार करता हूँ । मैं गरुडासन भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं ऊर्ध्वकेश तथा नगसिद्धका रूप धारण करनेवाले एवं सुवर्णशरीरवाले

अखण्ड और ब्राह्मणप्रिय देवको नमस्कार करता हूँ । मैं अजित, विश्वकर्मा, पुण्डरीक, द्विजप्रिय, हंस, शम्भु तथा प्रजापतिके सहित ब्रह्माको नमस्कार करता हूँ । मैं शूलबाहु, चक्रधरदेव, शिव, विष्णु, सुवर्णाक्ष और गोपति तथा पीतवासाको प्रणाम करता हूँ । मैं गदा धारण करनेवाले गदाधर भगवान्को नमस्कार करता हूँ और कुशेशयको नमस्कार करता हूँ । मैं पापका नाश करनेवाले अर्धनारीश्वर देवको नमस्कार करता हूँ । मैं वैकुण्ठसहित गोपाल तथा अपराजितको नमस्कार करता हूँ । मैं विश्वरूप, सौगन्धि और सदाशिवको प्रणाम करता हूँ ॥ १-८ ॥

पाञ्चालिकं हयग्रीवं स्वयम्भुवममरेश्वरम् । नमस्ये पुष्कराक्षं च पयोगन्धिं च केशवम् ॥ ९ ॥
 अविमुक्तं च लोलं च ज्येष्ठेशं मध्यमं तथा । उपशान्तं नमस्येऽहं मार्कण्डेयं सजम्बुकम् ॥ १० ॥
 नमस्ये पद्मकिरणं नमस्ये चडवामुखम् । कार्तिकेयं नमस्येऽहं बाह्मीकं शिखिं तथा ॥ ११ ॥
 नमस्ये स्थाणुमनघं नमस्ये वनमालिनम् । नमस्ये लाङ्गलीशं च नमस्येऽहं ध्रियः पतिम् ॥ १२ ॥
 नमस्ये च त्रिनयनं नमस्ये हव्यवाहनम् । नमस्ये च त्रिसौवर्णं नमस्ये धरणीधरम् ॥ १३ ॥
 त्रिणाचिकेतं ब्रह्मेशं नमस्ये शशिभूषणम् । दिनं नमस्ये च स्वामयविनाशनम् ॥ १४ ॥
 नमस्ये शशिनं सूर्यं ध्रुवं रौद्रं महौजसम् । पामं हिरण्याक्षं नमस्ये स्कन्दमव्ययम् ॥ १५ ॥
 नमस्ये भीमहंसौ च नमस्ये हाटकेश्वरम् । सदाहंसं नमस्ये च नमस्ये प्राणतर्पणम् ॥ १६ ॥

मैं पाञ्चालिक, हयग्रीव, स्वयम्भुव, अमरेश्वर, पुष्कराक्ष, पयोगन्धि और केशवको नमस्कार करता हूँ । मैं अविमुक्त, लोल, ज्येष्ठेश, मध्यम, उपशान्त तथा जम्बुकसहित मार्कण्डेयको नमस्कार करता हूँ । मैं पद्मकिरणको नमस्कार करता हूँ । मैं बडवामुखको नमस्कार करता हूँ । मैं कार्तिकेय, बाह्मीक तथा शिखीको प्रणाम करता हूँ । मैं स्थाणु एवं अनघको नमस्कार करता हूँ तथा वनमालीको नमस्कार करता हूँ । मैं लाङ्गलीश तथा लक्ष्मीपतिको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिनेत्रको प्रणाम करता हूँ तथा हव्यवाहनको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिसौवर्णको नमस्कार करता हूँ तथा धरणीधरको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिणाचिकेत, ब्रह्मेश तथा शशिभूषणको प्रणाम करता हूँ । मैं सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेवाले कपर्दी भगवान्को प्रणाम करता हूँ । मैं चन्द्र, सूर्य, ध्रुव तथा महान् ओजस्वी रुद्रभगवान्को प्रणाम करता हूँ । मैं पद्मनाभ, हिरण्याक्ष तथा अव्यय स्कन्दको प्रणाम करता हूँ । मैं भीम और हंसको प्रणाम करता हूँ । मैं हाटकेश्वरको प्रणाम करता हूँ । मैं सदाहंसको प्रणाम करता हूँ और प्राणोंको तृप्त करनेवालेको प्रणाम करता हूँ ॥ ९-१६ ॥

नमस्ये रुक्मकवचं महायोगिनमौश्वरम् । नमस्ये श्रीनिवासं च नमस्ये पुरुपोत्तमम् ॥ १७ ॥
 नमस्ये च चतुर्बाहुं नमस्ये वसुधाधिपम् । वनस्पतिं पशुपतिं नमस्ये प्रभुमव्ययम् ॥ १८ ॥
 श्रीकण्ठं वासुदेवं नीलकण्ठं सद्गण्डिनम् । नमस्ये सर्वमनघं गौरीशं नकुलीश्वरम् ॥ १९ ॥
 मनोहरं कृष्णकेशं नमस्ये चक्रपाणिनम् । यशोधरं महाबाहुं नमस्ये च कुशप्रियम् ॥ २० ॥
 भूधरं छादितगर्दं सुनेत्रं शूलशङ्खिनम् । भद्राक्षं वीरभद्रं च नमस्ये शङ्खकर्णिकम् ॥ २१ ॥
 वृषध्वजं महेशं च विश्वामित्रं शशिप्रभम् । उपेन्द्रं चैव गोविन्दं नमस्ये पङ्कजप्रियम् ॥ २२ ॥
 साहस्रगिरिवं देवं नमस्ये कुन्दमालिनम् । कालाग्निं रुद्रदेवेशं नमस्ये कृत्तिवाससम् ॥ २३ ॥
 नमस्ये छागलेशं च नमस्ये पङ्कजासनम् । सहस्राक्षं कोकनदं नमस्ये हरिशङ्करम् ॥ २४ ॥

मैं रुक्म-कवच धारण करनेवाले महायोगी ईश्वरको नमस्कार करता हूँ और पुरुपोत्तम श्रीनिवास भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं चार भुजा धारण करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ । मैं पृथ्वीके अग्निपतिको प्रणाम करता हूँ । मैं वनस्पति, पशुपति और अव्यय प्रभुको प्रणाम करता हूँ । मैं श्रीकण्ठ वासुदेव, दण्डिसहित नीलकण्ठ, सर्व, अनघ, गौरीश तथा नकुलीधर भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं मनको हरण करनेवाले कृष्णकेश चक्रपाणि

भगवान्को नमस्कार करता हूँ और यशोधारी, महाबाहु कुरापियको नमस्कार करता हूँ । मैं भूर, छद्दिनगद, सुनेत्र, शूलशंखी, भद्रान, वीरभद्र तथा शंकुर्त्तिकको नमस्कार करता हूँ । मैं वृषध्वज, महेश, विधामित्र, शशिप्रभ, उपेन्द्र, गोविन्द तथा पद्मजप्रियको नमस्कार करता हूँ । मैं सहस्रशीर्षा तथा कुन्दमाली देवको नमस्कार करता हूँ । मैं कालाग्नि, रुद्रदेवेश तथा कृत्तिबासाको प्रणाम करता हूँ । मैं शगलेशको नमस्कार करता हूँ तथा पद्मवासनको नमस्कार करता हूँ । मैं सहस्राक्ष, कोमलद तथा हरिशंकरको नमस्कार करता हूँ ॥ १७-२४ ॥

अगस्त्यं गरुडं विष्णुं कपिलं ब्रह्मवाह्ययम् । सनातनं च ब्रह्माणं नमस्ये ब्रह्मतत्परम् ॥ २५ ॥
अप्रतर्भ्यं चतुर्बाहुं सहस्रांशुं तपोमयम् । नमस्ये धर्मराजानं देवं गरुडबाहनम् ॥ २६ ॥
सर्वभूतगनं शान्तं निर्मलं सर्वलक्षणम् । महायोगिनमध्यकं नमस्ये पापनाशनम् ॥ २७ ॥
निरञ्जनं निराकारं निर्गुणं निर्मलं पदम् । नमस्ये पापहन्तारं शरण्यं शरणं ब्रजे ॥ २८ ॥
एतत् पवित्रं परमं पुण्यं प्रोक्तं त्वगस्त्येन महर्षिणा च ।
धन्यं यशस्यं बहुपापनाशनं संकीर्तनात् स्मरणात् संश्रयाच्च ॥ २९ ॥
इति धीवामनपुराणं सप्तसोत्तमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

मैं अगस्त्य, गरुड, विष्णु, कपिल, ब्रह्मवाह्य, सनातन, ब्रजा तथा ब्रह्मन्परको नमस्कार करता हूँ । मैं अनुमानसे परे, चार भुजाधारी, सहस्रांशु, तपोमूर्ति, धर्मराज गरुडबाहन देवको नमस्कार करता हूँ । मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त, शान्तस्वरूप, निर्मल, समस्त लक्षणोंसे युक्त, महान् योगी, अत्यन्तस्वरूप एवं पाप नाश करनेवाले भगवान्को नमस्कार करता हूँ । मैं निरञ्जन, निराकार, गुणोंसे रहित, निर्मलपदस्वरूप, पाप हरण करनेवाली नमस्कार करता हूँ तथा शरणगतको रक्षा करनेवालेकी शरणमें जाता हूँ ।

महर्षि अगस्त्यने इस परम पवित्र पुरातन स्तोत्रको कहा था । इसके कथन, स्मरण तथा श्रवण करनेमें अनेक पापोंका विनाश हो जाता है और मनुष्य धन्य एवं यशस्वी हो जाता है ॥ २५-२९ ॥

इस प्रकार धीवामनपुराणमें सप्तसोत्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

[अथाष्टशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गतेऽथ तीर्थयात्रायां प्रह्लादे दातवेद्वरे । कुरुक्षेत्रं समभ्यागाद् यष्टुं धैतोवनो बलिः ॥ १ ॥
तस्मिन् महाधर्मयुते तीर्थे घ्राहणपुङ्गव । शुक्रो द्विजतिप्रवरानामन्त्रयत भार्गवान् ॥ २ ॥
धृग्नानामन्त्रमाणान् वै श्रुत्वाश्रेयाः सगीतमाः । कौशिकाङ्गिरसदचैव तत्पुत्रुः कुवजाङ्गलान् ॥ ३ ॥
उत्तपशां प्रजग्मुस्ते नदीमनु शतद्रुक्ाम् । शतद्रवे जले स्नात्वा विपारां प्रपयुस्ततः ॥ ४ ॥
विज्ञाय तत्राप्यरति स्नात्वाऽर्च्यं पितृदेवताः । प्रजग्मुः किरणां पुण्यां दिनेशकिरणच्युताम् ॥ ५ ॥
तस्यां स्नात्वाऽर्च्यं देवैः सर्वैः पव महर्षयः । देवतानां सुपुण्योदां स्नात्वा जग्मुर्देवरीम् ॥ ६ ॥
देविकाया जले स्नात्वा पयोऽर्च्यं चैव तापसाः । अवतानां मुने स्नात्वाश्रेयायाः गुभां नदीम् ॥ ७ ॥
ततो निमगता दृष्टुः प्रतिविम्बमयात्मनः । अन्तर्जले द्विजश्रेष्ठ महदादचर्यकारकम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मासीर्षी अध्याय प्रारम्भ

(बलि का कुरुक्षेत्रमें आना, वहाँके मुनियोंका पलायन, धामनका आविर्भाव, उनकी स्तुति, बलिके

यज्ञमें जानेकी उत्कण्ठा और भरद्वाजसे स्वस्थानका कथन)

पुलस्त्यजी बोले—दातवेश्वर प्रह्लादके तीर्थयात्राके लिये चले जानेपर त्रितोचनका पुत्र बलि कुरुक्षेत्रमें यज्ञ करनेके लिये गया । उस गङ्गाधर्मयुक्त तीर्थमें ब्राह्मणश्रेष्ठ शूक्राचार्यने दिनोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ मार्गदर्शक किया

भृगुवंशीय ब्राह्मणोंका आमन्त्रित किया जाना सुनकर अत्रि, गौतम, कौशिक और अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंने कुरुजाङ्गल-का त्याग कर दिया । वे उत्तर दिशामें शनदु नदीके तटपर गये । शनदुके जलमें स्नान करनेके बाद वे वहाँसे विपाशा नदीके निकट चले गये । वहाँ भी मनके अनुकूल न होनेके कारण वे सब स्नान करनेके पश्चात् पितरों एवं देवोंका पूजन कर सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न किरणा नदीके समीप गये । देवों ! उसमें स्नान और अर्चन करनेके बाद सभी महर्षि पवित्र जलवाली ऐरावती नदीके निकट गये तथा उसमें स्नान करके ईश्वरी नदीके तटपर चले गये । मुने ! देविका और प्रयोष्णीमें स्नान करके आत्रेय आदि तपस्वियोंने शुभा नामकी नदीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया । द्विजश्रेष्ठ ! जलमें गोता लगानेपर उन लोगोंने जलके भीतर महान आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपनी-अपनी परछाईं देखी ॥ १-८ ॥

उन्मज्जने च दृश्युः पुनर्विस्मितमानसाः । ततः स्नात्वाऽसमुत्तीर्णा ऋषयः सर्व एव हि ॥ ९ ॥
जग्मुस्ततोऽपि ते ब्रह्मन् कथयन्तः परस्परम् । चिन्तयन्तश्च सततं किमेतदिति विस्मिताः ॥ १० ॥
ततो दूरादपश्यन्त वनपण्डं सुविस्तृतम् । वनं हरगलश्यामं खगच्चनिनिनादितम् ॥ ११ ॥
अतितुङ्गतया व्योम आवृण्वानं नगोत्तमम् । विस्तृताभिर्जटाभिस्तु अन्तर्भूमिं च नारद ॥ १२ ॥
काननं पुष्पितैर्वृक्षैरतिभाति समन्ततः । दशार्द्धवर्णैः सुखदैर्नभस्तारागणैरिव ॥ १३ ॥
तं दृष्ट्वा कमलैर्व्याप्तं पुण्डरीकैश्च शोभितम् । तद्वत् कोकनदैर्व्याप्तं वनं पद्मवनं यथा ॥ १४ ॥
प्रजग्मुस्तुष्टिमतुलां ते ह्लादं परमं ययुः । विविशुः प्रीतमनसो हंसा इव महासरः ॥ १५ ॥
तन्मध्ये दृश्युः पुण्यमाश्रमं लोकपूजितम् । चतुर्णां लोकपालानां वगोणां मुनिसत्तम ॥ १६ ॥

महर्षियोंने डुबकी लगानेके बाद जब सिर ऊपर किया तब पुनः वैसा ही देखा; इससे वे आश्चर्यमें भर गये । उसके बाद स्नान करके सभी ऋषि बाहर निकले । ब्रह्मन् ! उसके पश्चात् वे सभी लोग यह क्या है ?—इस विषयमें आश्चर्यपूर्वक आपसमें बातचीत एवं विचार-विमर्श करते हुए वहाँसे भी चले गये । उसके बाद उन लोगोंने दूरसे ही अनिर्विस्तृत, शंकरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णवाले और पक्षियोंकी ध्वनिसे भरा एक वृक्षोंका समूह (वन) देखा । नारदजी ! वह वन अत्यन्त ऊँचा होनेके कारण आकाशको घेरे हुए था तथा उसकी नीचेकी भूमि त्रिखरे हुए फलोंसे ढकी रहती थी । वह वन तारागणोंसे जगमगाते हुए आकाशके समान खिले हुए पँचरंगे वृक्षोंसे बहुत सुन्दर लग रहा था । कमल-वनके समान कमलोंसे व्याप्त, पुण्डरीकोंसे विभूषित एवं कोकनदोंमें भरे उस वनको देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न एवं गद्गद हो गये । वे लोग संतुष्ट-चित्तसे उसमें इस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार हंस महासरोवरमें प्रवेश करते हैं । मुनिसत्तम ! उन लोगोंने उसके बीचमें लोकपालोंके चार वगों- (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-) का लोकपूजित पवित्र आश्रम देखा ॥ ९-१६ ॥

धर्माश्रमं प्राङ्मुखं तु पलाशविटपावृतम् । प्रतीच्यभिमुखं ब्रह्मन् अर्थस्यंशुचनावृतम् ॥ १७ ॥
विनाभिमुखं काम्यं रणं लोकवनावृतम् । उदङ्मुखं च मोक्षस्य शुद्धस्फटिकवर्चसम् ॥ १८ ॥
स्वाश्रमा मोक्षः काम्यं श्रमी । आश्रम्यर्यो ह्यपरान्ते तिष्यादौ धर्म आश्रमी ॥ १९ ॥
५ : । तत्रैव च रतिं चक्रुरखण्डे मल्लिलान्द्युते ॥ २० ॥
३ : । चतुर्मूर्तिर्जगन्नाथः पूर्वमेव प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥
। शुश्रूषयाऽयं तपसा ब्रह्मचर्येण नारद ॥ २२ ॥
। असुरेभ्यस्तदा भीताः स्वाधिन्यासखण्डपर्वतम् ॥ २३ ॥
। स्नान्या जले हि कालिन्ध्याः प्रजग्मुर्दक्षिणामुखाः ॥ २४ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्व दिशाकी ओर मुखवाला पलायनवृक्षमें विद्यमान धर्माश्रम, पश्चिममुख श्मुक्वतमें विद्यमान अध्याश्रम, दक्षिणकी ओर कटकी और अशोकके वनमें विद्यमान वननाश्रम तथा उत्तरकी ओर गुह्यशक्तिके समान तेजस्वी मोक्षाश्रम स्थित था। सप्तयुगके अन्तमें मोक्ष आने आश्रममें निजान करने लगता है, वनमें वन आश्रममासी हो जाता है, द्वारके अन्तमें अर्प आश्रमी बन जाता है और कठिके आदिमें धर्म आश्रममें रहना प्रारम्भ करता है। अथवा, आश्रम आदि मुनिगणों उन आश्रमोंको देवद्वार अथवा जन्म परित्यक्त उम स्नानमें सुखसे रहनेका निश्चय किया। धर्म आदिके द्वारा भगवान् विष्णु अथवा नानमें निष्पन्न है। कान्ताय चार पूर्वियोंवाले हैं, यह पहलेमें ही लिखित है। नारदजी ! ब्रह्मन् योग्यमा श्रुतियोग मेवा, तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा उनकी पूजा करते हैं। असुरोंसे वस्तु होकर वे मुनिगण मन्त्रिक्रियामें उम अथवा पूर्वतर मन्त्रोपनि आश्रयण कर रहने लगे। ब्रह्मन् ! केवल पत्थरमें कूटे हुए अन्नको खानेवाले वनप्रस्थी साधु तथा पूर्वकी किरणोंका पान करनेवाले अन्य श्रद्धा आदि बालिन्दोंके जलमें स्नान कर दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १७-२४ ॥

अवन्तिविपर्यं प्राप्य विष्णुमासाद्य संस्रिताः। विष्णोऽपि प्रसादेन दुष्पवेदां महामुरैः ॥ २५ ॥
 बालखिल्यादयो जगुर्यशा दानवाद् भयात्। रुद्रकोटिं समाश्रित्य स्थितास्ते ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
 एवं गतेषु त्रिषुषु गौतमाङ्गिरसादिषु। शुक्रस्तु भार्गवान् सर्वान् निन्द्य यज्ञविधौ मुने ॥ २७ ॥
 अधिष्ठिते भार्गवैस्तु महापद्मेऽमितवृते। यज्ञदीक्षां बलिः शुक्रश्चकार विधिना स्वयम् ॥ २८ ॥
 श्वेताश्वरधरो दैत्यः श्वेतमाल्यालुलेपनः। मृगाजितानवृतः पृष्ठे बर्हिषत्रविचित्रिकः ॥ २९ ॥
 समास्ते वितते यज्ञे सदस्यैरभिसंवृतः। ह्यर्घ्यावपलभ्याद्यैर्मयवाणपुरोगमैः ॥ ३० ॥
 पत्नी विन्ध्यावलीं चास्य दीक्षिता यज्ञकर्मणि। ललनानां सहस्रस्य प्रधाना श्रुपिकन्यका ॥ ३१ ॥
 शुक्रेणादयः श्वेतवर्णा मधुमासे सुलक्षणः। महीं विहर्तुमुत्सृष्टस्तारकासोऽन्वगाश्च तम् ॥ ३२ ॥

वे विष्णु भगवान्की कृपासे महान् असुरोंके कारण प्रवेश पानेमें कठिन अवन्ति नगर्मी पहुँचे और उनके निकट रहने लगे। दानवोंके डरसे विवश होकर बालिकिन्य आदि ब्रह्मचारी श्रुपि रुद्रकोटि चले गये और वहाँ रहने लगे। मुने ! इस प्रकार गौतम और आङ्गिरस आदि ब्राह्मणोंके चले जानेपर शुक्राचार्य सनी भार्गववंशीय ब्राह्मणोंको यज्ञ-कार्यमें ले गये। अमितनेत्रन्वि ' भार्गववंशीय ब्राह्मणोंमें अधिवृत्त शुक्राचार्यने बलिजी महायज्ञमें स्वयं निरिवृत्त यज्ञकी दीक्षा दी। श्वेत वज्र धारण करनेवाले, श्वेत मान्य पत्र अनुत्कननमें युक्त, धृग्वर्चमें आवृत्त एवं मधुपुच्छसे सुसज्जित दैत्य बलिने हयग्रीव, प्रलम्ब, मय पत्र बाण आदि मदन्योंसे विद्ये हुए विल्लुत यज्ञ-मण्डपमें आसन ग्रहण किया। उसकी पत्नी विन्ध्यावली भी यज्ञकर्ममें दीक्षित हुई। वह श्रुपिकन्या हजारों लक्ष्मणाओंमें प्रधान थी। शुक्राचार्यने चैत्रमासमें सुकृष्ण अथवा पृथ्वीपर विचरण करनेके त्रिषु छोड़ा। तारकाश नामका असुर उसके पीछे-पीछे चलने लगा ॥ २५-३२ ॥

एवमद्वे समुत्सृष्टे वितथे यज्ञकर्मणि। गते च मासत्रिनये ह्ययाम्ने न पावके ॥ ३३ ॥
 पूज्यमानेषु दैत्येषु मियुनस्थे दिकाकरे। सुषुवे देवजतनां माथरं यामनावृत्तिम् ॥ ३४ ॥
 तं जातमात्रं भागवन्तमीदां नारायणं लोकपतिं पुराणम्।
 ब्रह्मा स्वभ्येभ्य समं महर्षिभिः स्तोत्रं जगादथ विभोर्महर्षे ॥ ३५ ॥
 नमोऽस्तु ते माथय सत्त्वमूर्ते नमोऽस्तु ते साधन
 नमोऽस्तु ते शुश्रवनेधनागने नमोऽस्तु ते

भृगुवंशीय ब्राह्मणोंका आमन्त्रित किया जाना सुनकर अत्रि, गौतम, कौशिक और अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंने कुरुजाङ्गल-का त्याग कर दिया । वे उत्तर दिशामें शनट्टु नदीके तटपर गये । शनट्टुके जलमें स्नान करनेके बाद वे वहाँसे विपाशा नदीके निकट चले गये । वहाँ भी मनके अनुकूल न होनेके कारण वे सब स्नान करनेके पश्चात् पितरों एवं देवोंका पूजन कर सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न किरणा नदीके समीप गये । देवों ! उसमें स्नान और अर्चन करनेके बाद सभी महर्षि पवित्र जलवाली ऐरावती नदीके निकट गये तथा उसमें स्नान करके ईश्वरी नदीके तटपर चले गये । मुने ! देविका और पयोष्णीमें स्नान करके आत्रेय आदि तपस्वियोंने शुभा नामकी नदीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया । द्विजश्रेष्ठ ! जलमें गोता लगानेपर उन लोगोंने जलके भीतर महान् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपनी-अपनी परछाईं देखी ॥ १-८ ॥

उन्मज्जने च दृश्युः पुनर्विस्मितमानसाः । ततः स्नात्वाऽसमुत्तीणा ऋषयः सर्व एव हि ॥ ९ ॥
जग्मुस्ततोऽपि ते ब्रह्मन् कथयन्तः परस्परम् । चिन्तयन्तश्च सततं किमेतदिति विस्मिताः ॥ १० ॥
ततो दूरादपश्यन्त वनपण्डं सुविस्तृतम् । वनं हरगलश्यामं खगध्वनिनिनादितम् ॥ ११ ॥
अतितुल्लतया व्योम आवृष्णानं नगोत्तमम् । विस्तृताभिर्जटाभिस्तु अन्तर्भूमिं च नारद ॥ १२ ॥
काननं पुष्पितैर्वृक्षैरतिभाति ततः । दशाद्भ्रवणैः सुखदैर्नभस्तारागणैरिव ॥ १३ ॥
तं दृष्ट्वा कमलैर्व्याप्तं पुण्डरीकैश्च शोभितम् । तद्वत् कोकनदैर्व्याप्तं वनं पद्मवनं यथा ॥ १४ ॥
प्रजग्मुस्तुष्टिमतुलां ते ह्लादं परमं ययुः । विविशुः प्रीतमनसो हंसा इव महासरः ॥ १५ ॥
तन्मध्ये दृश्युः पुण्यमाश्रमं लोकपूजितम् । चतुर्णां लोकपालानां वराणां मुनिसत्तम ॥ १६ ॥

महर्षियोंने डुबकी लगानेके बाद जब सिर ऊपर किया तब पुनः वैसा ही देखा; इससे वे आश्चर्यमें भर गये । उसके बाद स्नान करके सभी ऋषि बाहर निकले । ब्रह्मन् ! उसके पश्चात् वे सभी लोग यह क्या है ?—इस विषयमें आश्चर्यपूर्वक आपसमें बातचीत एवं विचार-विमर्श करते हुए वहाँसे भी चले गये । उसके बाद उन लोगोंने दूरसे ही अतिविस्तृत, शंकरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णवाले और पक्षियोंकी ध्वनिसे भरा एक वृक्षोंका समूह (वन) देखा । नारदजी ! वह वन अत्यन्त ऊँचा होनेके कारण आकाशको घेरे हुए था तथा उसकी नीचेकी भूमि विखरे हुए फलोंसे ढकी रहती थी । वह वन तारागणोंसे जगमगाते हुए आकाशके समान खिले हुए पँचरंगे वृक्षोंसे बहुत सुन्दर लग रहा था । कमल-वनके समान कमलोंसे व्याप्त, पुण्डरीकोंसे विभूषित एवं कोकनदोंसे भरे उस वनको देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न एवं गद्गद हो गये । वे लोग संतुष्ट-चित्तसे उसमें इस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार हंस महासरोवरमें प्रवेश करते हैं । मुनिसत्तम ! उन लोगोंने उसके बीचमें लोकपालोंके चार वर्गों- (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-) का लोकपूजित पवित्र आश्रम देखा ॥ ९-१६ ॥

धर्मोद्यमं प्राङ्मुखं तु पलाशविष्टपञ्चतम् । प्रतीच्यभिमुखं ब्रह्मन् अर्थस्यैशुचनावृतम् ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखं काम्यं रम्भाशोकवनावृतम् । उदङ्मुखं च मोक्षस्य शुद्धस्फटिकवर्चसम् ॥ १८ ॥
शतान्ते न्वाश्रमो मोक्षः कामस्त्रेतान्तरे श्रमी । आश्रम्यर्थो ह्यपराण्ते तिप्याद्यौ धर्म आश्रमो ॥ १९ ॥
तान्याश्रमाणि मुनयो दृष्ट्वा ज्ञेयादयोऽप्ययाः । तत्रैव च रतिं चक्रुस्खण्डे सलिलाप्लुते ॥ २० ॥
धर्मोद्यमैर्भगवान् विष्णुरखण्ड इति विश्रुतः । चतुर्भूर्तिर्जगन्नाथः पूर्वमेव प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥
तमर्चयन्ति ऋषयो योगात्मानो बहुश्रुताः । शुद्धपयाऽथ तपसा ब्रह्मचर्येण नारद ॥ २२ ॥
एवं ते न्यवसंस्तत्र समेता मुनयो वने । असुरेभ्यस्तत्र भीताः स्वाश्रिन्याखण्डपर्यतम् ॥ २३ ॥
नयाऽन्ये ब्राह्मणा ब्राह्मण-श्रमकुट्टा मरीचिपाः । स्नात्वा जले हि कालिन्ध्याः प्रजग्मुर्दक्षिणामुखाः ॥ २४ ॥

ब्रह्मन् । पूर्वं दिशाग्नी और मुखपाला पलाशवृक्षसे विरा हुआ धर्माश्रम, पश्चिममुख इक्षुवनमे विरा हुआ अर्थाश्रम, दक्षिणग्नी और नदगी और अशोकके नसे विरा हुआ नामाश्रम तथा उत्तरग्नी और शुद्धस्फटिकके समान तेजस्वी मोक्षाश्रम स्थित था । स्रग्युगके अन्तमें मोक्ष अपने आश्रममें निगम करने लगता है, वेदमें काम आश्रमगामी हो जाता है, द्वारके अन्तमें अर्ध आश्रमी बन जाता है और ऋषिके आदिमें धर्म आश्रममें रहना प्रारम्भ करता है । अथर्व, आत्रेय आदि मुनियोंने उन आश्रमोंको देखकर अकण्ड जन्मे परिपूर्ण उम स्थानमें सुखसे रहनेका निश्चय किया । धर्म आदिके द्वारा भगवान् विष्णु अकण्ड नामसे विख्यात हैं । जगन्नाथ चार मूर्तियोंवाले हैं, यह पहलेमे ही निश्चिन है । नारदजी ! बहृश्रुत योगामा ऋषिगेग मेवा, तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा उननी पुत्रा करते हैं । असुरोंसे प्रसन्न होकर वे मुनिगग मम्मिच्छित्प्रत्यमे उम अकण्ड पर्वतका भग्नीर्भान्ति आश्रयण कर रहने लगे । ब्रह्मन् ! केवल पत्परसे कूटे हुए अन्नको खानेवाले गानप्रस्थी सातु तथा मूर्ध्वी निरगोंका पान करनेवाले अन्य ब्राह्मण आदि कालिन्दीके जलमें स्नान कर दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १७-२४ ॥

अवन्तिविषयं प्राप्य विष्णुमासाद्य सखिता । विष्णोरपि प्रसादेन दुष्पवेशं महासुरैः ॥ २५ ॥
 बालखिल्यादयो जगमुत्पशा दानवाद् भयात् । रुद्रकोटिं समाश्रित्य स्थितास्ते ब्रह्मचारिण ॥ २६ ॥
 एवं गतेषु विप्रेषु गौतमाङ्गिरसादिषु । शुक्रस्तु भार्गवान् सर्वान् निन्ये यज्ञनिधी मुने ॥ २७ ॥
 अधिष्ठिते भार्गवैस्तु महायज्ञेऽमितयुते । यज्ञदीक्षां वले शुक्रश्चकार विधिना स्वयम् ॥ २८ ॥
 श्वेताम्बरधरो दैत्यः श्वेतमाल्यानुलेपनः । मृगाजिनावृतः पृष्ठे यर्हिपत्रत्रिचित्रितः ॥ २९ ॥
 समास्ते वितते यज्ञे सदस्यैरभिसंभूतः । हयप्रोवप्रलम्बाद्यैर्मयगणपुगेगमैः ॥ ३० ॥
 पत्नी विन्ध्यायली चास्य दीक्षिता यज्ञकर्मणि । ललनानां सहस्रस्य प्रधाना ऋषिकन्यका ॥ ३१ ॥
 शुक्रेणाश्वः श्वेतवर्णो मधुमासे सुलक्षणः । माहीं विहर्तुमुत्सृष्टस्तारकाशोऽन्वगाण तम् ॥ ३२ ॥

वे विष्णु भगवान्की कृपासे महान् असुरोंके कारण प्रवेश पानमें कठिन अवन्ति नग्नीमें पहुँचे और उनके निकट रहने लगे । दानयोंके डरसे निरा होकर बालखिन्य आदि ब्रह्मचारी ऋषि रुद्रकोटि चले गये और वहाँ रहने लगे । मुने ! इस प्रकार गौतम और आङ्गिरस आदि ब्राह्मणोंके चले जानेपर शुक्राचार्य सभी भार्गववशीय ब्राह्मणोंको यज्ञ-कार्यमें ले गये । अमिततेजस्विन् । भार्गववशीय ब्राह्मणोंमे अधिष्ठित शुक्राचार्यने वयिको महायज्ञमें स्वयं निमित्त यज्ञनी दीक्षा दी । श्वेत खर धारण करनेवाले, श्वेत माल्य एवं अनुलेपनमे युक्त, मृगचर्ममे आवृत एवं मयूपुच्छसे सुसज्जित दैत्य ऋषिने हयप्रोव, प्रलम्ब, मय एव बाण आदि सदस्योंसे विरे हुए विस्तृत यज्ञ मण्डपमें आसन ग्रहण किया । उसनी पत्नी विन्ध्यायनी भी यज्ञकर्ममें दीक्षित हुई । वह ऋषिकन्या हजारों ललनाओंमें प्रधान थी । शुक्राचार्यने चैत्रमासमें सुलक्षण अथ वृध्नीपर विचरण करनेके लिये जेडा । तारकाश नामका असुर उसके पीछे-पीछे चलने लगा ॥ २५-३२ ॥

एवमश्वे समुत्सृष्टे वितथे यज्ञकर्मणि । गते च मासत्रितये ह्ययमाने च पावके ॥ ३३ ॥
 पूज्यमानेषु दैत्येषु मिथुनस्ये दिवाकते । सुषुप्ते देयजननी माधव यामनावृतिम् ॥ ३४ ॥
 त जातमान भगवन्तमीशं नारायण लोकपति पुराणम् ।
 ग्रहा समभ्येत्य समं महर्षिभि स्तोत्र जगादाय विभोर्महर्षे ॥ ३५ ॥
 नमोऽस्तु ते माधव सर्वमूर्ते नमोऽस्तु ते शाश्वत विश्वरूप ।
 नमोऽस्तु ते शत्रुवनेधनाने नमोऽस्तु ते पापमहादवाग्ने ॥ ३६ ॥

सभी दिशाएँ, पर्वत तथा मेघ व्याप्त हैं। ब्रह्मन् ! दिव्य, पार्थिव, जलचर, आकाशचर, स्थावर, जङ्गम, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वसु, वरुण, सभी अग्नियाँ, समस्त प्राणियोंके पालक, ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक पशु-पक्षिसहित सभी मूर्त और अमूर्त पदार्थ, भौति-भौतिके गुणोंसे सम्पन्न—ये सभी पदार्थ पृथ्वीकी पूर्तिके लिये मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वीपर स्थित ये सभी मुख्य पदार्थ देवों, सिद्धों एवं दानवोंके पूजनीय हैं। द्विजश्रेष्ठ ! इनके कीर्तन एवं दर्शनमात्रसे पाप शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ५६-५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अष्टासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥



[अथैकोनवतितमोऽध्यायः]

श्रीभगवानुवाच

आद्यं मात्स्यं महद्रूपं संस्थितं मानसे हृदे । सर्वपापक्षयकरं कीर्तनस्पर्शनादिभिः ॥ १ ॥
 कौर्ममन्यत्सन्निधानं कौशिक्यां पापनाशनम् । हयशीर्षं च कृष्णांशे गोविन्दं हस्तिनापुरे ॥ २ ॥
 त्रिविक्रमं च कालिन्ध्यां लिङ्गभेदे भवं विभुम् । केदारे माधवं शौरिं कुब्जाप्रे हृष्टमूर्धजम् ॥ ३ ॥
 नारायणं वदर्यां च वाराहे गरुडासनम् । जयेशं भद्रकर्णं च विपाशायां द्विजप्रियम् ॥ ४ ॥
 रूपधारमिरावत्यां कुरुक्षेत्रे कुरुध्वजम् । कृतशौचे नृसिंहं च गोकर्णं विश्वकर्माणम् ॥ ५ ॥
 प्राचीने कामपालं च पुण्डरीकं महाम्भसि । विशाखयूपे ह्यजितं हंसं हंसपदे तथा ॥ ६ ॥
 पयोष्ण्यायामखण्डं च वितस्तायां कुमारिलम् । मणिमत्पर्वते शम्भुं ब्रह्मण्ये च प्रजापतिम् ॥ ७ ॥
 मधुनद्यां चक्रधरं शूलबाहुं हिमालये । विद्धि विष्णुं मुनिश्रेष्ठ स्थितमोषधिसानुनि ॥ ८ ॥

नवासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन भगवान्का विविध स्थानोंमें निवास-वर्णन और कुरुजाङ्गलके लिये प्रस्थान करना)

श्रीभगवान् बोले—मेरा प्रथम विशाल मात्स्यरूप मानससरोवरमें स्थित है। वह कीर्तन और स्पर्श आदिसे सभी पापोंका विनाश करनेवाला है। दूसरा पापका विनाश करनेवाला मेरा कूर्मावतार कौशिकी नदीमें स्थित है। कृष्णांशमें हयशीर्ष और हस्तिनापुरमें गोविन्द नामसे विराजमान हैं। कालिन्धीमें त्रिविक्रम तथा लिङ्गभेदमें व्यापक भव, केदार तीर्थमें माधव, शौरि और कुब्जाप्रेमें हृष्टमूर्धज स्थित हैं। वदरिकाश्रममें नारायण, वाराहमें गरुडासन, भद्रकर्णमें जयेश एवं विपाशा नदीके तटपर द्विजप्रिय विद्यमान हैं। इरावतीमें रूपधार, कुरुक्षेत्रमें कुरुध्वज, कृतशौचमें नृसिंह और गोकर्णमें विश्वकर्मा वर्तमान हैं। प्राचीन स्थानमें कामपाल, महाम्भस्में पुण्डरीक, विशाखयूपमें अजित तथा हंसपदमें हंसरूप विद्यमान हैं। पयोष्णीमें अखण्ड, वितस्तामें कुमारिल, मणिमान् पर्वतपर शम्भु एवं ब्रह्मण्यमें प्रजापति रूप स्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ ! मधुनदीमें चक्रधर, हिमालयमें शूलबाहु और ओषधिविप्रस्थमें मेरे विष्णु रूपको अवस्थित जानें ॥ १-८ ॥

भृगुतुङ्गे मुचर्णाक्षं नैमिषे पीतवाससम् । गयायां गोपतिं देवं गदापाणिनमोश्वरम् ॥ ९ ॥
 व्रैलोभ्यनाथं चरदं गोप्रतारे कुशेशयम् । अर्द्धनारीश्वरं पुण्ये माहेन्द्रे दक्षिणे गिरौ ॥ १० ॥
 गोपालमुत्तरे निन्यं महेन्द्रे सोमपीथिनम् । वैकुण्ठमपि सहाद्रौ पारियात्रे पराजितम् ॥ ११ ॥
 क्रोशेन्द्रे देवेशं विश्वरूपं तपोधनम् । मलयाद्रौ च सौगन्धिं विन्ध्यपादे सदाशिवम् ॥ १२ ॥
 अवन्तिविषये विष्णुं निरघेत्वपरेदवरम् । पाञ्चालिकं च ब्रह्मणं पाञ्चालेषु व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
 महोदये एयप्रीचं प्रयागे योगशायिनम् । स्वयम्भुचं मधुवने अचोगन्धिं च पुष्करे ॥ १४ ॥

तथैव विप्रमचर वाराणस्यां च केशवम् । अविमुक्तकर्मत्रैव लोलध्वान्रैव गोपते ॥ १५ ॥
पद्मायां पद्मकिरणं समुद्रे षडध्यामुत्तम् । कुमारधारे बाह्योर्ध्वं कार्तिकेयं च वर्धितम् ॥ १६ ॥

भगवतुद्धमें सुवर्णाक्ष, नैमिषमें पीतगामा एव गयामें गोपति गङ्गावर ईश्वररूपसे वर्तमान हैं । गोपनारमें बरदायक, तीनों लोकोंके स्वामी कुशेश एव पवित्र महेन्द्र पर्वतपर दक्षिणमें अर्नारीधर रूप विद्यमान हैं । महेन्द्र पर्वतपर उत्तरमें सोमपीथी गोपाल, सथाद्रि पर्वतपर वैकुण्ठ एव पारियात्रमें अपराजिनरूप स्थित हैं । कशेरुदेशमें तगोमन, विश्वरूप देवेश, मलय पर्वतपर सीगन्धि तथा विन्ध्यपादमें सदाशिव रूप वर्तमान है । ब्रह्में । अश्वत्थदेशमें विष्णु, निम्बदेशमें अमरेश्वर और पाञ्चालदेशमें मेरा पाञ्चालिक रूप अवस्थित है । महोदयमें हयभीर, प्रयागमें योगेश्वरी, मधुवनमें स्वयम्भुव और पुष्करमें अयोगिनि रूप विद्यमान हैं । विप्रश्रेष्ठ ! उसी प्रकार वाराणसीमें मेरा केशवरूप तथा यहींपर अविमुक्तरु तथा लोकरूप स्थित कहा गया है । पद्मामें पद्मकिरण, समुद्रमें षडध्यामुत्त तथा कुमारधारमें बाह्योर्ध्व और कार्तिकेय रूपसे स्थित हैं ॥ १-१६ ॥

अजेशो शम्भुमनघं स्थानुं च कुरुजाङ्गले । वनमालिनमाहुर्मां किष्किन्धात्वासिनो जनाः ॥ १७ ॥
वीरं कुपल्यारूढं शङ्खचक्रगदाधरम् । श्रीवत्साङ्गमुदारान्नं नर्मदायां श्रियः पतिम् ॥ १८ ॥
माहिष्मत्यां त्रिनयनं तत्रैव च हुताशनम् । अर्जुदे च त्रिसौपर्णं इमाधरं शूकराचले ॥ १९ ॥
त्रिणाचिकेनं ब्रह्मणं प्रभासे च कपर्दिनम् । तथैवात्रापि विख्यातं तृतीयं शशिधरोत्तरम् ॥ २० ॥
उदये शशिनं सूर्यं ध्रुवं च त्रितयं स्थितम् । हेमकूटे हिरण्याक्षं स्कन्दं शरवणे मुने ॥ २१ ॥
महालये स्मृतं रुद्रमुत्तरेषु कुरुष्य । पद्मानाभं मुनिश्रेष्ठ सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥ २२ ॥
सप्तगोदापरे ब्रह्मन् विख्यातं हाटकेश्वरम् । तत्रैव च महाहंसं प्रयागेऽपि वटेश्वरम् ॥ २३ ॥
शोणे च रुक्मकचचं कुण्डिने प्राणतर्पणम् । भिल्लीवने महायोगं मात्रेषु पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

अजेशमें अनघ शम्भु तथा कुरुजाङ्गलमें स्थानुर्त्ति हैं । किष्किन्धाके निवासी लोग मुझे वनमाली कहते हैं । नर्मदाके क्षेत्रमें मुझे वीर, कुपल्यारूढ, शङ्ख-चक्र-गदाधर, श्रीवत्साङ्ग एव उदारान्न श्रीपति कहा जाता है । माहिष्मतीमें मेरा त्रिनयन एव हुताशन रूप विद्यमान हैं । इसी प्रकार अर्जुदमें त्रिसौपर्ण एव शूकराचलमें मेरा इमाधर रूप अवस्थित है । ब्रह्में । प्रभासेमें मेरा त्रिणाचिकेत, कपर्दी और तृतीय शशिधरोत्तर रूप विख्यात हैं । उदयगिरिमें चन्द्र, सूर्य और ध्रुव—ये तीन मूर्तियाँ अवस्थित हैं । मुने । हेमकूटमें हिरण्याक्ष एव शरवणमें स्कन्दनामक रूप विद्यमान है । मुनिश्रेष्ठ ! महालयमें रुद्र एव उत्तारकुलमें हर प्रकारका सुख प्रदान करनेवाला पद्मनाभ रूप विख्यात है । ब्रह्मन् । सप्तगोदारमें हाटकेश्वर एव महाहंस तथा प्रयागमें वटेश्वर रूप अवस्थित है । शोणमें रुक्मकच, कुण्डिनमें प्राणतर्पण, भिल्लीवनमें महायोग, मात्रमें पुरुषोत्तम रूप विद्यमान हैं ॥ १७-२४ ॥

प्लक्षायतरणे विद्यं ध्याननिवासं द्विजोत्तम । शूपाकरे चतुर्बाहु मगधायां सुधापतिम् ॥ २५ ॥
तिरिचजे पशुपतिं श्रीकण्ठं यमुनानटे । वनस्पतिं समालयातं दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २६ ॥
कालिञ्जरे नीलकण्ठं सरख्यां शम्भुमुत्तमम् । हंसयुक्तं महाकोदया सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २७ ॥
गोकर्णे दक्षिणे शर्वं यासुदेवं प्रजामुखे । विन्ध्यगृह्णे महाशौरिं कन्याया मधुमुदनम् ॥ २८ ॥
त्रिकूटशिरसरे ब्रह्मन् चक्रपाणिनमीश्वरम् । लौहदण्डे हृषीकेशं कोसलाया मनोहरम् ॥ २९ ॥
महागङ्गे सुराष्ट्रे च नगराष्ट्रे यशोधरम् । भूधरं देविकानद्या महोदया कुशप्रियम् ॥ ३० ॥
गोमत्यां छात्रिकगद् शङ्खोद्गरे च शक्तिनम् । सुनेत्रं सैन्धवारण्ये हर शरपुरे स्थितम् ॥ ३१ ॥
रद्राख्यं च हिरण्यवत्यां वीरभद्र त्रिविष्टपे । शङ्खकर्णं च भीमाया भीम शालवने विदु ॥ ३२ ॥

बलिरुपाच

शृणुष्व कथयिष्यामि कथामेतां मखान्तरे । पूर्वाभ्यासनिवद्धां हि सत्यां भृगुकुलोद्भवा ॥ २१ ॥
 मुद्गलस्य मुनेः पुत्रो ज्ञानविज्ञानपारगः । कोशकार इति ख्यात आसीद् ब्रह्मस्तपोरतः ॥ २२ ॥
 तस्यासीद् दयिता साध्वी धर्मिष्ठा नामतः श्रुता । सती वात्स्यायनसुता धर्मशीला पतिव्रता ॥ २३ ॥
 तस्यामस्य सुतो जातः प्रकृत्या वै जडाकृतिः । मूकवन्नालपति स न च पश्यति चान्धवद् ॥ २४ ॥
 तं जातं ब्राह्मणी पुत्रं जडं मूकं त्वचक्षुषम् । मन्यमाना गृहद्वारि पन्थेऽहनि लसुस्तज्जम् ॥ २५ ॥
 ततोऽभ्यागाद् दुराचारा राक्षसी जातद्वारिणी । स्वं शिशुं छशमादाय सुपाक्षी नाम नामतः ॥ २६ ॥
 तत्रोत्सृज्य खपुत्रं सा जग्राह द्विजनन्दनम् । तमादाय जगामाथ भोक्तुं शालोदरे गिरौ ॥ २७ ॥
 ततस्तामागतां वीक्ष्य तस्या भर्ता घटोदरः । नेत्रहीनः प्रत्युवाच क्रिमानीतस्त्वया प्रिये ॥ २८ ॥

बलिने कहा—भृगुकुलश्रेष्ठ ! पूर्वके अभ्याससे सम्बद्ध इस सत्य कथाको मैं यज्ञमें कह रहा हूँ; आप सुनें । ब्रह्मन् ! महर्षिं मुद्गलका कोशकार नामसे प्रसिद्ध एवं ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न एक तपस्वी पुत्र था । उसकी पत्नीका नाम था धर्मिष्ठा । वह वात्स्यायनकी कन्या पतिव्रता, साध्वी, धर्मका आचरण करनेवाली तथा पतिकी सेवा करनेमें निष्ठा रखनेवाली थी । उस स्त्रीके गर्भसे एक पुत्र हुआ, जो स्वभावसे ही मूढ़ था । वह गूंगे मनुष्यकी तरह न बोलता और अन्वेकी भाँति वह देखता भी नहीं था । अपने उस जन्मे हुए पुत्रको मूर्ख, गूंगा और अंधा समझकर ब्राह्मणीने छठे दिन उसे घरके द्वारपर फेंक दिया । उसके बाद सूर्पाक्षी नामकी एक दुराचारिणी एवं नवजात बालकोंको चुरा लेनेवाली राक्षसी अपने दुबले-पतले पुत्रको लेकर वहाँ आयी और अपने पुत्रको वहाँ छोड़कर उसने ब्राह्मणपुत्रको उठा लिया । उसे लेकर खानेके लिये शालोदर नामक पर्वतपर चली गयी । उसके बाद उसे आयी हुई जानकर घटोदर नामक उसके दाँवे पतिने पूछा—प्रिये ! तुम क्या कायी हो ? ॥ २१-२८ ॥

माऽब्रवीद् राक्षसपते मया स्थाप्य निजं शिशुम् । कोशकारद्विजेनृदे तस्यानीतः प्रभो सुतः ॥ २९ ॥
 स प्राह न न्वया भद्रे भद्रमाचरितं त्विति । महाज्ञानां द्विजेन्द्रोऽसौ ततः शप्यति कोपितः ॥ ३० ॥
 तस्माच्छीघ्रमिभं त्यक्त्वा मनुजं घोररूपिणम् । अन्यस्य कस्यचित् पुत्रं शीघ्रमानय सुन्दरि ॥ ३१ ॥
 इत्येवमुक्त्वा सा रौद्रा राक्षसी कामचारिणी । समाजगाम त्वरिता सङ्कुत्पत्य विहायसम् ॥ ३२ ॥
 स चापि राक्षससुतो निःश्रेष्ठे गृहवाह्यतः । रौद्रोऽसुखः सन् प्रक्षिप्याद्भ्रष्टमानने ॥ ३३ ॥
 सा क्रन्दितं चिराच्छ्रुत्वा धर्मिष्ठा पतिमब्रवीत् । पश्य स्वयं मुनिश्रेष्ठ सशब्दस्तनयस्तव ॥ ३४ ॥
 प्रस्ता सा निजंगामाथ गृहमध्यात् तपस्विनी । स चापि ब्राह्मणश्रेष्ठः समपश्यत तं शिशुम् ॥ ३५ ॥
 वर्णरूपादिसंयुक्तं यथा स्वतनयं तथा । ततो विदस्य प्रोवाच कोशकारे निजां प्रियाम् ॥ ३६ ॥

उसने कहा—राक्षसपते ! प्रभो ! मैं अपने बच्चेको कोशकार मुनिके घरमें रखकर उनके पुत्रको कायी हूँ । राक्षसने कहा—भद्रे ! तुमने यह ठीक नहीं किया । वह श्रेष्ठः, ण महाज्ञानी तो है; किंतु वह (इस कार्यसे) कुतित होकर (तुम्हें) शाप दे देगा । सुन्दरि ! इसलिये शीघ्र इस रौद्र रूपवाले मनुष्यको छोड़कर तुम किसी दूसरेके पुत्रको ले आओ । ऐसा कहनेपर वह स्वच्छन्दचारिणी डरावनी राक्षसी आकाशमें उड़ती हुई शीघ्र (वहाँ) चली गयी । ब्रह्मन् ! घरके बाहर छोड़ा गया वह राक्षस-पुत्र भी सुखमें बैंगूठा डालकर उच्च खरसे रोने लगा । उस धर्मिष्ठाने अधिक समयके बाद स्वर्ग मुनकर पहिलेसे कहा—मुनिश्रेष्ठ ! पुत्रको स्वयं देखिये, धर्मका यह पुत्र शब्द करने लगा । बरकर वह तपस्विनी गृहके भीतरसे बाहर निकडी । उस श्रेष्ठ

ब्राह्मणे भी उस शिशुको देखा । अपने पुत्रके ही समान रंग और रूप आदिसे युक्त उस बाबूजो देखकर कोशकार मुनिने हँसकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ २९—३६ ॥

पतेनाविद्य धर्मिष्ठे भाव्यं मूलेन साम्प्रतम् । फोऽप्यसानं छत्रयितुं सुरूपी भुवि संभ्रितः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मन्त्री मन्त्रैस्तं राक्षसात्मजम् । ययन्धोल्लिख्य वस्तुधां सकुरोनाय पाणिना ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सूर्पाशी विप्रवालन्म् । अन्नधानगता भूमौ निक्षेपं गृह्णदूरता ॥ ३९ ॥
तं क्षित्तमात्रं जग्राह कोशकारः स्वकं सुतम् । सा चाम्येत्य प्रहीतुं स्वं नाशकद् राक्षसी सुतम् ॥ ४० ॥
इतश्चेतश्च विभ्रष्टा सा भर्तारमुपागमत् । कथयामास यद् वृषं स्वद्विजात्मजदारिणम् ॥ ४१ ॥
पर्वं गतायां राक्षस्यां ब्राह्मणेन महात्मना । स राक्षसशिशुर्घोषान् भार्याये चिन्तितः ॥ ४२ ॥
स चात्मतनयः पित्रा कपिलायाः सयत्सयाः । दग्ना संयोजितोऽप्यर्थं क्षीरेणैवुरसेन च ॥ ४३ ॥
द्वावेव यर्धितौ बालौ संजातौ सप्तवार्षिकौ । पित्रा च कृतनामानौ निशाकरदिवाकरौ ॥ ४४ ॥

धर्मिष्ठे ! इस बाबूके अंदर अत्यंत कोई भूत प्रवेश कर गया है । हमजोगोंको धोखा देनेके लिये सुन्दर रूपवाला कोई (भूत) इस स्थानपर निचमान है । ऐसा कहकर उस मन्त्रवेत्ताने दायमें कुशा लेकर मन्त्रोंके द्वारा भूमिको रोखासे अङ्कितकर राक्षसपुत्रको बाँध दिया । इसी बीच सूर्पाशी वहाँ पहुँची और अदृश्यरूपमें (छिपकर) घरसे दूर स्थित होकर उसने ब्राह्मणके बाबूके फेंका । फेंकते ही कोशकारने अपने उस पुत्रको पकड़ लिया । परंतु वह राक्षसी वहाँ जाकर अपने पुत्रको नहीं पकड़ सकी । दोनों ओरसे हाथ धोकर वह अपने पतिके पास गयी और अपने पुत्र तथा ब्राह्मणपुत्र दोनोंके खोनेकी वटना कह सुनायी । गद्यन् । इस प्रकार राक्षसीके चले जानेपर महात्मा ब्राह्मणे अपनी पत्नीको उस राक्षसपुत्रको दे दिया । पिताने अपने पुत्रको सबसा कथिमा गायेके रूप, दही और ईशके रससे पाब-पोसा । दोनों ही बाबूक बढ़कर सात वर्षके हो गये । पिताने उन दोसौना नाम निशाकर और दिवाकर रखा ॥ ३७—३९ ॥

निशाचरिर्दिवाकर्तिर्निशाकीर्तिः स्वपुत्रकः । तयोश्चकार दिमोऽप्यौ मनस्यधिक्रियां कमात् ॥ ४५ ॥
मृतवन्धे कृते वेद्ं पपाठारौ रिवाचरौ । निशाचरो उद्धतया न पपाठेति ना भुतम् ॥ ४६ ॥
तं बान्धवाश्च पितरौ माना ध्रता गृहस्तया । पर्यनिन्दंस्तया ये च जना मलययासिनः ॥ ४७ ॥
ततः स पित्रा कुद्देन क्षितः कूपं निरूढये । महाशिलां चोपरि वै पिधानमवरोपयत् ॥ ४८ ॥
पर्वं क्षितस्तदा कूपे बहुवर्षगनान् स्थितः । तत्रास्त्यामलकां गुल्मः पादाय फलिनोऽभवत् ॥ ४९ ॥
ततो दशसु वर्षेषु समन्तेषु भार्गव । तस्य माताऽगमत् कूपं नम्रधं शिलयाचिनम् ॥ ५० ॥
सा दृष्ट्वा निश्चितं कूपं शिलया गिरिकल्पया । उच्चैः प्रोवाच केनेयं कूपोपरि शिला कृता ॥ ५१ ॥
कूपान्तस्थः स तां वार्षां श्रुत्वा मानुर्निशाकरः । प्राइ प्रदत्ता पित्रा मे कूपोपरि शिला न्वियम् ॥ ५२ ॥
साऽनिर्भानाऽप्रोत् कोऽसि कूपान्तस्थोऽद्भुतमन्तरः । साऽप्याह तव पुत्रोऽस्ति निशाकरेति विश्रुतः ॥ ५३ ॥

राक्षसके बाबूकका नाम दिवाकीर्ति (दिवाकर) और ब्राह्मणक बाबूकका नाम निशाकीर्ति (निशाकर) था । ब्राह्मणेने क्रमशः दोनोंका उपनयन-संस्कार किया । उपनयन (जनेऊ) हो जानेपर दिवाकर वेदपाठ करने लगा । निशाकर नशानके कारण वेदअध्वन नहीं करता था—ऐसा हमजोगोंने सुना है । माता, पिता, माई, बन्धुजन, गुरु और दूसरे मज्यके निवासी उसकी निन्दा करने लगे । उसके बाद पिताने दुर्गित होकर उसे जवरहित कुर्रमें फेंक दिया और ठहरने परू बनी शिल्पमे देऊ दिया । इस प्रकार कुर्रमें फेंक दिये जानेपर वह बाबूक बहुत दिनोंक वहाँ पड़ा रहा । उस कुर्रमें एक अत्यंत छोटा वृक्ष (धुआ) था । उस बाबूकके अत्यन्त-यादनके

लिये उसमें फल ला गये । भाग्य ! उसके बाद दस वर्ष बीत जानेपर उसकी माँ अन्वकार-भरं तथा पथरमे ढके हुए उस कुण्डके पास गयी । उस कुण्डके पर्वतके सदृश शिखरमे ढके हुए देवदार उसने ऊँचे स्वरमे कहा—कुण्डके ऊपर इस पथरको किसने रखा है ? कुण्डके अंदर पड़े हुए पुत्र निशाकरने मनाकी वाणी सुनकर कहा—मेरे पिताजीने कुण्डपर इस शिखरको रखा है । इस वाणीको सुनकर वह अत्यन्त डर गयी और बोली—कुण्डके भीतर इस अर्ध स्वच्छले तुम क्यों हो ! उसने भी कहा—मैं तुम्हारा पुत्र हूँ । मेरा नाम निशाकर है ॥ ४५-५३ ॥

साऽर्थात् नक्तयो मह्यं नाम्ना ग्यातो दिवाकरः । निशाकरेति नाम्नाऽहो न काश्चित् नक्तयोऽस्ति मे ॥ ५४ ॥
 न चाह पूर्वचरितं मातुर्निर्यक्षोपनः । सा श्रुत्या तां शिखां सुभ्रुः समुत्प्लियान्यनोऽक्षिपत् ॥ ५५ ॥
 सोत्तीर्यै कृताद् भगवन् मातुः पादायवन्दन । सा स्वानुत्पन्नं नक्तयं हृद्यया खजनामयनः ॥ ५६ ॥
 ननस्तमादाय सुतं धर्मिष्ठा पतिमेव च । हृद्ययामास हस्तैश्च चेषितं स्वसुगतय च ॥ ५७ ॥
 नतोऽन्वपृच्छद् विप्रोऽसौ किमिदं नात कारणम् । नान्वावात् यद् भवान् पूर्वं महत्कौतूहलं मम ॥ ५८ ॥
 न चरुत्या वचनं धामान् क्रोशकारं द्विजोत्तमम् । प्राह पुत्रोऽद्भुतं वाक्यं मातरं पितरं तथा ॥ ५९ ॥

उसने कहा—मेरे पुत्रका नाम तो दिवाकर है । निशाकर नामका मेरा कोई पुत्र नहीं है । उस बालकने पाताने अपनी पड़ोसी वटिका सारी बटना कह सुनायी । उमे सुननेके बाद माताने उस शिखरको उठाकर दूस्ती और निक दिया । भगवन् ! उस बालकने कुण्डमे ऊपर आकर माताके चरणोंकी बन्दना की । उसने अपनेसे उग्रह हुए और अपनेसे निकले-हुये स्वरवाले बालकको सामने देखा । उसके बाद उस बालकको लेकर वह धर्मिष्ठा पतिके पास गयी और अपने पुत्रके बारे चरितको उससे कह सुनायी । उसके बाद उस ब्राह्मणने पूछा—पुत्र ! तुम पहले नहीं बोले, इसका क्या कारण है ? मुझे बहुत दुःख हो रहा है । उस जानको सुनकर इक्षिमान् पुत्रने ब्राह्मणश्रेष्ठ कोशकार तथा मातासे अद्भुत वचन कहा— ॥ ५४-५९ ॥

निशाकर उवाच

अप्यनां कारणं नात येन मूकत्वमाश्रितम् । मया जहन्म्यमनय तथाऽप्यन्वं स्वचक्षुषः ॥ ६० ॥
 पूर्वमाममर्दं विप्र कुले वृन्दारकन्य तु । वृषाकप्येश्व नक्तये सादागमैश्चमुद्रयः ॥ ६१ ॥
 ततः रिताराडयन्यां शास्त्रं धर्मायकामदम् । मोक्षशास्त्रं परं नात सेनिदानश्रुतिं तथा ॥ ६२ ॥
 तोऽहं नात नगामाली परावरविशारदः । जगते मदान्यस्तेनाहं दुष्कर्याभिरतोऽप्यवम् ॥ ६३ ॥
 मयान् समभयल्लोभश्चैतन्न तथा प्रगल्भता । विदेको नाशमगमत् मूर्खभावमुपागतः ॥ ६४ ॥
 नृऽभावनया चाथ जातः पापगतोऽस्म्यहम् । परदारपरार्थेषु सतिमे च सदाऽप्यवत् ॥ ६५ ॥
 परदारभिरभिनिवार्य परार्थहरणादिभिः । सृताऽस्म्युद्भवन्त्येतेनाहं नक्तं गौरवं नक्तः ॥ ६६ ॥
 अन्तस्त्वं वर्षादृच्छान्ते मुक्तशिष्टे नक्षत्राणि । अन्वयं कुण्डा पापः संजातोऽहं शृणाधिरः ॥ ६७ ॥

निशाकरने कहा—नियम पिताजी ! मेरे द्वारा मूकता, जहल एवं अपने नेत्रोंके अन्वय ग्रहण करनेका कारण मुझने । विप्र ! मैं पहले वृन्दारक- (सम्मानित देव-) वंशमें बालकने गर्भसे उत्पन्न हुआ वृषाकपिका पुत्र था । तब ! पिताने मुझे धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि देनेवाले शास्त्र तथा इतिहास और वेदसहित सुजिदायक (दर्शन) शास्त्रको पढ़ाया । तब ! मैं मयाज्ञानी एवं लोक-ज्ञान और परलोक-दानमें कुशल था । उम्रमे मैं अविद्यमाने अन्ध होकर बुरे कर्ममें लग गया । मदमे मुझे क्रोध हुआ । उसमे मेरी वाक्यदृता नष्ट हो गयी । विदेक-राज्यके नष्ट हो जानेसे मैं विकलीन हो गया । मूढताके कारण मैं कर्म बन् गया ! मेरा एक सदा दूसरेकी ही एवं धर्ममें आसक्त हो गया । परलोकके साथ संलग्न करने एवं दूसरोंके अन्धक हरण करनेके कारण कर्मकालके

बन्धनसे प्रसन्न होनेपर मैं मरकर (विवशतया) रोव नरकमें गया । एक हजार वर्षके बाद नरक-भोगमें व
हस पापके कारण में पशुओंकी इत्या करनेवाला पापी वाव होकर जंगलमें उत्पन्न हुआ ॥ ६०-६७ ॥

व्याघ्रत्वे संस्थितस्मात् यद्गः पञ्जरगः कृतः । नराधिपेन विमुक्ता नीतश्च नगरं निजम् ॥ ६८ ॥
बसस्य पिञ्जरस्यस्य व्याघ्रत्वेऽधिष्ठितस्य ह । धर्मार्थकामशास्त्राणि प्रत्यभासन्त सर्वदाः ॥ ६९ ॥
ततो नृपनिशार्दूलो गदापाणिः कदाचन । एकवक्त्रपरीधानो नगरातिर्ययी यद्दिः ॥ ७० ॥
तस्य भार्या जिता नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि । सा निर्गते तु रमणे ममान्निकमुदागता ॥ ७१ ॥
ता इष्ठा वनृषे मह्यं पूर्वोभ्यासात्मनोभयः । यथैव धर्मशास्त्राणि तथाहमवर्द्धं च ताम् ॥ ७२ ॥
राजपुत्रि सुकल्प्याणि नवयौवनशालिनि । चित्तं हरसि मे भीरु कोकिला प्यनिना यया ॥ ७३ ॥
सा मद्रचनमारुण्यं प्रोवाच तनुमध्यमा । कथमेवावयोर्व्याघ्र रतियोगमुपेप्यनि ॥ ७४ ॥
ततोऽहमभुवं नात राजपुत्रां सुमध्यमात् । ह्यारमुद्याटयस्वाद्य निर्गमिष्यामि सन्वरम् ॥ ७५ ॥

तात । एक प्रभावशाली राजाने व्याघ्रयोनिमें उत्पन्न हुए मुखको बाँधकर पिंजड़ेमें डाल दिया और अ
नगरमें ले गया । व्याघ्रकी योनिवाँ प्राप्त हुए बन्धनसे प्रसन्न और पिंजड़ेमें पड़े हुए मुझे धर्म, अर्थ एवं काम
सम्बन्ध रखनेवाले सभी शास्त्र मनमें स्फुरित हो रहे थे । उसके कुछ समय बाद वह श्रेष्ठ राजा ह्यायमें गदा टि
एक वक्त्र धारणकर नगरसे बाहर चला गया । उसकी जिता नामकी भार्या पशुलोकमें अनुपम सुन्दरी थी । प्रति
बाहर जानेपर वह मेरे पास आयी । उसे देखकर पूर्व जन्मासके कारण धर्मशास्त्रोंके ज्ञानकी वृद्धिकी तरह मेरे मन
कामना बढ़ने लगी । उसके बाद मैंने उससे कहा—नवयौवने । सुकल्प्याणि । राजपुत्रि । तुम मेरा मन उसी प्रकार
हरण करती हो जिस प्रकार कोयल अपनी कूकसे लोगोंके चित्तमें । उस सुन्दरीने मेरा वचन सुनकर कहा—
व्याघ्र । हम दोनोंका सम्भोग कैसे सम्भव है ! तात । उसके बाद मैंने उस सुन्दरी राजपुत्रीके कहा—तुम अ
पिंजड़ेका द्वार खोजो, मैं शीघ्र बाहर निकट आऊँगा ॥ ६८-७५ ॥

व्याघ्रत्वेऽपि विद्या ध्याय लोकोऽयं परिपश्यति । राजानुद्याटयिष्यामि ततो रंभ्याय स्वेच्छया ॥ ७६ ॥
तामिवाहमवोचं वै कालक्षेपेऽहमक्षयः । तस्मादुद्याटय द्वारं मां यन्वाद्य विमोचय ॥ ७७ ॥
ततः सा पञ्चरथोणी ह्यारमुद्याटयन्मुने । उद्याटिते ततो द्वारे निर्गतेऽहं यद्दिःशणात् ॥ ७८ ॥
पाशानि निगडादीनि छिन्नानि हि यत्कामया । सा श्रुत्वा च नृपतेर्भाषां रमितुमिच्छता ॥ ७९ ॥
ततो ह्यप्रोऽस्मि नृपतेर्भृत्यैस्तुल्यिप्रमैः । दात्रहस्तैः सर्वतश्च तैर्हं परिवेष्टितः ॥ ८० ॥
महापाशैः शृङ्खलाभिः समाहृत्य च मुद्गरैः । बन्धमानोऽब्रुवमहं मा मा हिंसष्यमाकृत्याः ॥ ८१ ॥
ते मद्रचनमारुण्यं मन्यैव रजनीप्यम् । दृढं वृक्षे समुद्बध्य घातयन् तपोधन ॥ ८२ ॥
भूयो गतश्च नरकं परदारनिपेवणात् । मुक्तो वर्षसहस्रान्ते जानोऽहं द्येनगर्दभः ॥ ८३ ॥

उसने कहा—व्याघ्र । दिनमें लोग देखेंगे । रात्रिमें खोईंगी, तब इच्छानुकूल हम दोनों विश्र करोंगे । मैं
पुनः उसने कहा—समय बितानेमें मैं असमर्थ हूँ । इसदिये द्वार खोजो और मुझे बन्धनसे मुक्त करो । उसके वा
उस सुन्दरीने द्वार खोज दिया । द्वार खुलनेपर मैं श्रगमात्रमें बाहर निकटा । मैंने वक्त्रपूर्वक वेड़ी आदि बन्धनों
तोड़ डाल्य और उस राजकी पत्नीसे रमण करनेकी कामनासे पकड़ लिया । उसके बाद राजाके अतुल पराक्र
बन्धुवर्तने मुझे देग और ह्यायमें दात्र केन्द्र उन लोगोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया । मोटी रस्सियों और
बंजीरोंमें बाँधकर उन लोगोंने मुझे शृङ्खलासे बहुत मारा । मारे जाते समय मैंने उनसे कहा—तुमद्वेग मुझे

प्राणो । नमोऽयं । मेरा कर्तव्य सुन्दर उम को दे मुझे मध्य मरुत और वृक्षों कसकर वैवकर मां दाल ।
 परकी-मरुके काम दे मैं नमको मरु और शरीरों बरुके वर वृक्षों कसकर होनेपर मैं सुन्दर मरुकेकी
 बरुके काम ॥ ४६-४७ ॥

ब्राह्मणभारितोयोरुच्यते वेदेः अनुसन्धयितः तदर्थं सर्वविधानं प्रत्यभाषत ततो मम ॥ ४४ ॥
 उपयागाः कृतधर्म्मि द्वितयोपिद्विगदादात् । एकदा सवराष्ट्राया धार्या तन्याप्रजन्मतः ॥ ४५ ॥
 विमतिनामृतः स्याता यन्मुनेच्छद् मुने पितुः । तासुयात्र पतिगच्छ आचार्य इत्यनगर्दभम् ॥ ४६ ॥
 मासेनातदर्थं क्षाम न स्पृष्टं कृतकृतः । इत्येवमुक्त्वा ना भर्त्सा तन्त्रो मामधिक्यत् च ॥ ४७ ॥
 दण्डनाम्यमुच्यते उगाय त्वमिता मुने । तनोऽधर्याथ सा तन्त्रो मन्पृच्छाद्वचन्य वै ॥ ४८ ॥
 अथर्त्सा नष्टं स्नातुं मनसा आर्द्रवासात् । स्नातेनात्तं सपत्नी दृष्ट्वा तामहमाद्रवम् ॥ ४९ ॥
 मया चाभिद्रुता दृष्टे पतिना पृथिव्यन्तरे । तन्वासुगि शो नात पतिनाऽहं भृशालुः ॥ ५० ॥
 एते भर्त्सानुसृष्टेन दृष्ट्वा तन्मुखागिताः । शोभित्य तर्पि मां त्वत्तन्ममाधायत् स्वगन्धितः ॥ ५१ ॥

इस को दे मैं दे उमके कियेवने अन्धेवने नमको ब्राह्मणके उमके वरुत था । वरुं भी पूर्वजन्ममें
 बरुके मरे होनेवा अधम मुझे हो रहा था । ब्राह्मणके वरुं कियेने मुझे प्रेममें मरुकेके काममें आया ।
 एक समय हम ब्राह्मणके स्वराष्ट्रकेकी किति नाकर पत्नी अने मरुके वर जानेके किये उमुक हुई ।
 हमके पतिने हमसे कहा—उम सुन्दर मरुके मरु होकर चली अने और एक मरुकेके मीतर चली आना ।
 हमसे किये हमसेक न गटना । मुने ! पतिने इस प्रकार कहनेपर वह सुन्दरी मेरा कसकर खोल कसकर मेरे
 उम मरुत हूं और चरु पत्नी । उमके वर अने मरुके वर सुन्दरी मेरा पीठसे उतारकर नदीमें नहानेके किये
 हरी । मीरी का होनेसे उमका अफ मरु दिगयी पदा । उम मरुकेसुन्दरीके देखकर मैं उसकी ओर अगत ।
 मेरे अगतपर वह कसकर पृथीपर गि पड़ी । तब ! मैं अत्यन्त अन्त होकर उसके उम गि गया । कसत !
 हमसेके अनेवने हम सेके पति-गोके अनेवने अनुचने मुझे देत किये और वरु उतारकर वह वेगसे मेरी
 ओर दौड़ पदा ॥ ४४-५१ ॥

तदुपात्त्वा नां परिचर्य प्रवृत्ता दक्षिणामुखाः । ततोऽभिद्रवन्सन्तानं स्वर्गालसना मुने ॥ ५२ ॥
 मयापत्ता वंशगुण्ये दूमोऽत्रे प्राणनाशने । तन्नामकम्प्य पशुनाम्यमाभूज्जावितक्षयः ॥ ५३ ॥
 गतोऽरिषु नम्यं भूयन्तम्यामृदोऽवयं सुखः । क्षणकाले तथा वेदः शपरेण दुरात्मना ॥ ५४ ॥
 पक्षरे शिष्य विद्यातो वनिकपुत्राय शान्तिने । तेनात्यन्तःपुण्यं युवतातां समापतः ॥ ५५ ॥
 शपराजसिद्धिर्गण्यं शोभनाख्येवर्म्मिणः । तन्नामकम्प्यन्तः शोभनाशुफलादिभिः ॥ ५६ ॥
 भवैरेव शरिषाकैः पुण्यकृपाः पितः । कदाचित्पु पतयवाशो द्यामा पतिथयोधरा ॥ ५७ ॥
 सुश्रोणी तनुमयाः र्जाकपुत्रपिया शुभा । तान्ना अन्नापतौ नाम समुद्रादुगाय पश्वरम् ॥ ५८ ॥
 मां तस्मात् मुचावां समाख्यां आदर्शयन्तौ । जगत्परेरि पतिभ्यां स्तनाख्यां सा हि मां ततः ॥ ५९ ॥

उमके अनेवने उम पीठसे उतार मैं उम समय दक्षिण दिक्की ओर आया । मुने ! बहुत शीघ्रतासे
 दौड़ने हुए मेरी कसकर पत्नी अने ब्राह्मणकी वरुकी किये शरीरमें देत रही । वरुं देत हुआ मैं उः गानके
 वर मा गया । हमसे वर मुझे दित नमको वरुत पदा । वरुंसे कसकर गनेके वर मैं सुक पशुकी योनिमें
 मरुत हुआ । हम को दे मैं निगद वने दृष्ट्वा मरुके मुझे शो किये । पिच्छेमें कसकर (उमने मुझे) एक
 कसकर कियेवने काम देत किये । हमसे मैं उम मरुके कसकर पतिभ्यां सा हि मां ततः मरुके आसकर

जाननेवाला तथा दोरोंको दूर करनेवाला समझकर रख दिया। पिताजी ! वहाँ रहते समय वे युवनियाँ प्रतिदिन मुझे भान, जल, अनारके फल तथा अन्य भक्ष्य पदार्थ खिलाकर पाठने लगीं। एक समय यगिरूपुत्री कमलदलके समान नेत्रोंवाली श्यामा, विशाल स्तनों तथा सुन्दर जंवाओं एवं सूक्ष्मकटिवात्री बन्ध्याणी चन्द्रावती नामकी प्रियाने पिंजड़ेको खोला। मधुर मुसफानवाली सुन्दरीने मुझे दोनों हाथोंमें पकड़ लिया और अपने दोनों स्तनोंपर रख दिया ॥ ९२-९९ ॥

ततोऽहं हृतवान् भावं तस्मां विलसितुं प्लवन् । ततोऽनुप्लवतस्तत्र हारे मर्कटयन्धनम् ॥१००॥
 बहोऽहं पापसंयुक्तो मृतश्च नदनन्तरम् । भूयोऽपि नरकं घोरं प्रपन्नोऽस्मि सुदुर्मतिः ॥१०१॥
 तस्माच्छाहं वृपत्वं धै गतश्चाण्डालपक्षणे । स धैकदा मां शकटे नियोज्य स्त्रीविलासिनीम् ॥१०२॥
 समारोप्य महातेजा गन्तुं हृतमतिर्वनम् । ततोऽप्रतः स चण्डालो गनस्वेवास्य पृष्ठनः ॥१०३॥
 गायन्ती याति तच्छ्रुत्वा जातोऽहं व्यथितेन्द्रियः । पृष्ठतस्तु समालोक्य विपर्यस्तस्तयोत्प्लुनः ॥१०४॥
 पतितो भूमिसगमं तदक्षे क्षणविक्रमात् । योक्त्रे सुबद्ध एवासि पञ्चत्वमगमं ततः ॥१०५॥
 भूयो निमग्नो नरके दशवर्षशतान्यपि । अतस्त्व गृहे जानस्वहं जानिमनुस्वरन् ॥१०६॥
 तावन्स्वेवाद्य जन्मानि सारामि चानुपूर्वदाः । पूर्वाभ्यासाच्च शास्त्राणि बन्धनं चागतं मम ॥१०७॥
 तदहं जातविज्ञानो नावरिष्ये कथंचन । पापानि घोररूपाणि मनसा कर्मणा गिर ॥१०८॥

उसके बाद मैंने चन्द्रावतीके साथ विदार करनेका आशय प्रकट किया। तब पापमें आसक्त होकर धूमता हुआ मैं उसके हारमें बंदरके बन्धनकी भाँति बँधकर मर गया। मैं पुनः अत्यन्त पापमय बुद्धि होनेके कारण मर्कट नरकमें पड़ गया। उसके बाद मैं बैठ होकर चाण्डालके घरमें पहुँचा। उसने एक दिन मुझे गाड़ीमें जोतकर उस गाड़ीपर अपनी स्त्रीको चढ़ाया। इस प्रकार वनमें जानेकी इच्छासे वह महातेजस्वी चाण्डाल आगे चला और उसके पीछे वह गाती हुई चली। उसका गान सुनकर मेरी इन्द्रियों विकल हो उठीं। मैंने पीछे धूमकर देखा और कूदा तथा उलट गया। क्षणमात्रके विपरीत गतिके कारण मैं भूमिपर गिर पड़ा और रस्तीमें अत्यन्त बँध जानेसे मृत्युको प्राप्त हो गया। मैं फिर हज़ार वर्षतक नरकमें पड़ा रहा। वहाँसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण करता हुआ मैं आपके गृहमें उत्पन्न हुआ हूँ। मैं आज उन्हीं जन्मोंका क्रमशः स्मरण कर रहा हूँ। पूर्व अभ्याससे मुझे शास्त्रोंका ज्ञान तथा बन्धन मिला है। अतः ज्ञानी होकर मैं मन, कर्म और बाणीसे कभी घोर पापकर्मोंका आचरण नहीं करूँगा ॥ १००-१०८ ॥

शुभं चाप्यशुभं वाऽपि स्वाध्यायं शास्त्रजीविका । यन्धनं वा चधो वाऽपि पूर्वाभ्यासेन जायते ॥१०९॥
 जातिं यदा पौर्विकीं तु स्मरते तात मानवः । तदा स तेभ्यः पापेभ्यो निवृत्तिं हि करोति ये ॥११०॥
 तस्माद् गमिष्ये शुभवर्धनाय पापक्षयाथाय मुने हारण्यभ ।
 भवान् दिवाकीर्तिमिमं सुपुत्रं गार्हस्थ्यधर्मं विनिय... ॥१११॥

मङ्गल, अमङ्गल, स्वाध्याय, शास्त्रजीविका, बन्धन या धर्म पूर्व अभ्यासवश ही होते हैं। तब ! मनुष्यो जब अपने पूर्व-जन्मका स्मरण होता है तब वह उन पापोंसे दूर रहता है। अतः मुने ! शुभकी इच्छा और पापके क्षयके इत्ये मैं वनमें जाऊँगा। आप इस सुपुत्र दिवाकीर्तिको गृहस्थधर्ममें लयें ॥ १०९-१११ ॥

बलिद्वारा

इत्येयमुक्त्वा स निशादरस्तदा प्रणम्य मानसिनौ बभूव ।
 जगाम पुष्यं मदं सुरारिः स्थानं बदर्यान्नानन्दनम् ॥११२॥

इदं पुराभ्यासरतस्य गुणो भवन्ति दानान्ययनादिपुत्रः
 तस्माच्च पूर्वं द्विजवरं वै मया अभ्यस्तमासीन्नु ते हृदीं
 दानं तपो वाऽध्ययनं महर्षे स्तेर्यं ह. १०५मणिदाह
 दानानि चैवाभ्यसतां हि पूर्व भवन्ति धर्मार्थयशांसि वा

बलिबे कादा—महर्षे ! इस प्रकार कहनेके बाद माता-पिताको प्रणाम कर वह निशाद्वार
 घेष्ठ सुप्रसिद्ध पवित्र निवास बदरिकाश्रममें चला गया । इसी प्रकार पूर्वके अभ्यासवश मनुष्यके
 आदि कार्य होते हैं । द्विजवर ! इसीसे निश्चय ही मैं आपसे अपने पूर्व अभ्यासके तथ्यको कह
 नाय । दान, तप, अध्ययन, चोरी, महापातक, दृग्निदाह, ज्ञान, धर्म, कर्म एवं यश आदि
 अभ्याससे उत्पन्न होते हैं ॥ ११२-११४ ॥

पुलस्त्य उवाच

हृदयेवमुपत्वा बलवान् स शुक्रं दैत्येश्वरः ह्यं शुक्रमीशिताम्
 ध्यायंस्तदास्ते मधुकैटभर्गं नारायणं चक्रगदासिपाणिभू
 इति श्रीवामनपुराणे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

पुलस्त्यजी बोले—दैत्येश्वर बलवान् बलि अपने गुरु और नियम करनेवाले शुक्र
 काकर मधुकैटभके संहारकारी चक्र-गदा तथा खड्ग धारण करनेवाले नारायणका ध्यान करने लगा

एत श्रीवामनपुराणमें नव्वेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९० ॥

[अष्टौनवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतस्मिन्नातरे प्राप्नो भगवान् लुतिः । यक्षवाटसुपागल्य उच्यतेवैवमनाम् ।
 अकारपूर्वाः श्रुतयो मन्वेऽस्मिन् तिष्ठन्ति रूपेण यशोवमानाम् ।
 यतोऽभ्यमेधः प्रवरः क्रतूनां मुख्यस्तथा कश्चिद्दु दैत्यनाथः ॥ १
 इयं पञ्चममकार्ण्यं दानवाधिपतिर्वशी । सार्वपात्रः समभ्यागाद्यत्र देवः स्थितोऽन
 ततोऽर्च्यं देवदेवेशमर्च्यमर्घादिनासुरः । भरद्वाजर्षिणा सार्यं दत्तं त
 प्रविष्टमात्रं देवेशं प्रतिपूज्य विधानतः । प्रोवाच भगवन् ब्रूहि किं त
 इक्यानवेवाँ अध्याय शारम्भ

(वामनका बलिसे यज्ञमें जाकर उससे तीन पग भूमिकी याचना, वामनका विदारूप में
 वामनका बलिवन्धन-विषयक प्रश्न, बलिको घर, बलिका पाताल और वाचन

पुलस्त्यजी बोले—इतनेमें वामनके रूपमें भगवान् आ गये । यज्ञशास्त्रों
 बोले—ओंकारपूर्वक वेदमन्त्र तपस्वी ऋषियोंके रूपमें इस यज्ञमें स्थित हैं । यहाँ
 दैत्योंके स्वामी बलि यज्ञ करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । इस प्रकारकी बातको सुनकर
 स्वामी बलि धर्मपात्र लेकर, जहाँ वामनदेव स्थित थे, वहाँ गये । इसके बाद सार्य अ
 दानोंके स्वामी बलिने भरद्वाज ऋषिके साथ उगें यज्ञशास्त्रमें प्रवेश करके । य
 वामन भगवान्की विधिपूर्वक पूजा की और कहा—मान देनेवाले भगवन् ! बोले

कल्याण



१४३६ जगज्जगतां तेषां पणकां धूमंकी मांम

ततोऽब्रवीत् सुरश्रेष्ठो दैत्यराजानमभ्ययः । विहस्य सुचिरं कालं भरद्वाजमेवेक्ष्य च ॥ ६ ॥
 गुरोर्मदीप्यथ गुरुस्तस्यास्यग्निपरिग्रहः । न स धारयते भूम्यां पारश्यां जानवेदसम् ॥ ७ ॥
 तर्प्यमभियाचेऽर्धं मम शानप्रार्थिव । मच्छरीरप्रमाणेन देहि राजन् पद्मप्रयम् ॥ ८ ॥
 मुरारेर्वचनं ध्रुव्या बलिर्भायामवेक्ष्य च । बाणं च तनयं वीक्ष्य हर्षं वचनमत्रांत् ॥ ९ ॥
 न केवलं प्रमाणेन वामनोऽयं लघुः प्रिये । येन क्रमत्रयं मौख्याद् यावते बुद्धितोऽपि च ॥ १० ॥

इसके बाद देवोंमें श्रेष्ठ अविनाशी भगवान्‌ने देवतक ईससर और भरद्वाजको देखकर दैत्यराजसे कहा—
 मेरे गुरुके गुरु अग्निहोत्री (यज्ञके अनुष्ठाता) हैं । वे दूसरेकी भूमिमें अग्निस्थापन नहीं करते । दान करते ।
 राजन् ! मैं उनके लिये शपसे याचना करता हूँ कि मेरे शरीरके परिमाणसे आप तीन पग (भूमि) मुझे
 देनेकी कृपा करें । मुरारि-(भगवान्‌)-का वचन सुननेके बाद बलिने पत्नी और पुत्र बाणको देखकर (८-१०
 पत्नीसे) यह वचन कहा—प्रिये ! यह वामन केवल प्रमाणसे ही छोटा नहीं है, बल्कि यह बुद्धिवा भी छोटा
 है; क्योंकि अज्ञानवश पर मुझसे केवल तीन पग-(भूमि-) की याचना करता है ॥ ६-१० ॥

प्रायो विष्णोः शिष्याणां नृपणां बहिष्कृतानां च महाभारतैः ।
 धनार्थिकं भूरि न पै ददाति यद्येह विष्णोर्न वसुप्रयासः ॥ ११ ॥
 न ददाति विधिस्तस्य यद्य धारयतिपर्ययाः । मयि क्षतरि यथापमय याचेत् पद्मप्रयम् ॥ १२ ॥
 इत्येवमुक्त्वा पठन् महात्मा भूयोऽप्युवाचाप हरिं वसुजः ।
 याचस्व विष्णो राज्ञाजिर्मूर्ति दासीहिरण्यं यद्भीषितं च ॥ १३ ॥
 भवान् याचयिता विष्णो यद् दत्ता जगत्पतिः । दातुर्याञ्जयितुलैज्जा कथं न स्यात् पद्मप्रये ॥ १४ ॥
 एसादत्तं वा पृथिवीं भुवं तादप्रयापि वा । पतेभ्यः कथमं वधां स्थानं याचत्य वामन ॥ १५ ॥

निम्ना प्रायः कम बुद्धिवाले अभागो मनुष्योंकी अधिक धन आदि नहीं देते—जैसाकि इस पङ्क्तिमें विष्णुने
 धनिकके लिये प्रयत्न नहीं किया । जिसका भाग्य वसुवृद्ध नहीं होता है, उसे ईश्वर नहीं देते हैं । मेरे-जैसे
 दानीसे भी आज ये तीन पग-(भूमि)की ही याचना करते हैं । इस प्रकार कहकर महात्मा बलिने फिर हरिसे
 कहा—(विष्णो ! हाथी, घोड़ा, भूमि, दासी तथा सोना आदि (इसके अतिरिक्त और भी) जो आप चाहते हो,
 वह माँगिये । विष्णो ! आप याचना करनेवाले हैं और मैं जगत्पति देनेवाला हूँ । ऐसी अवस्थामें केवल तीन
 पग-(भूमि-)का दान करनेमें देने एव लेनेवालेको क्या लज्जा न होगी ! वामन ! यदि आप याचना करते हैं तो
 (कहिये) रसाजट, पृथ्वी, मुखलोक अपवा स्वर्गलोकमेंसे मैं किस स्थानका दान करूँ ? उसे माँगिये ॥ ११-१५ ॥

वामन उवाच

गजादमभूद्विरण्यादि नदधिभ्यः प्रदीयताम् । पतावता त्वह चाधीं देहि राजन् पद्मप्रयम् ॥ १६ ॥
 इत्येवमुक्ते वचने वामनेन महासुरः । बलिर्भृंहारमादाय ददौ विष्णोः क्रमप्रयम् ॥ १७ ॥
 पाणो नु पतिते तोये दिव्यं रूपं चकार ह । प्रैलोक्यकमणार्थाय बहुरूपं जगन्मभम् ॥ १८ ॥
 पादे भूमिस्तथा जडग्रे नभश्चैलोक्यवन्दितम् । सत्यं तपो जानुषुमे ऊरुस्तो मेघमन्दरो ॥ १९ ॥
 निद्वेदेवा कटोभागे मरुतो यस्तिशार्पणाः । लिङ्गे स्थितो मन्मथश्च कृपणाभ्यां प्रजापतिः ॥ २० ॥
 कुक्षिभ्यामर्णवाः सप्त जडरे भुवनानि च । बलिषु त्रिषु नयथ यथास्तु जडरे स्थिताः ॥ २१ ॥
 एसापृतादयः सर्गाः कियस्तत्र तु संस्थिताः । पृष्ठस्था वसवा देवाः स्कन्धी च्छैरधिष्ठिताः ॥ २२ ॥

भगवान् वामन दोहो—हाथी, घोड़ा, भूमि, सोना आदि वरपुर्ण उन्हें चाहनेवालेको ही दीजिये
 राजन् ! मैं इतनेकी ही याचना करता हूँ । इसलिये मुझे तीन पग (भूमि) प्रदान करें ।

ततोऽप्रतीत् सुरश्रेष्ठो दैत्यराजानमध्ययः । विहस्य सुचिरं कालं भरुडाजमेक्ष्य च ॥ ६ ॥
 गुरोर्मेदोयम्य गुरुस्तस्यास्त्यग्निपरिग्रहः । न स धारयते भूम्यां पारश्यां जानवेदसम् ॥ ७ ॥
 तदप्यमभिपाचेऽहं मम दानवपार्थिव । मच्छरीरप्रमाणेन देहि राजन् पदत्रयम् ॥ ८ ॥
 मुरारैर्यचनं ध्रुत्वा बलिर्भोग्योमवेक्ष्य च । बाणं च तनयं धीक्ष्य ह्यं वचनमप्रतीत् ॥ ९ ॥
 न केवलं प्रमाणेन वामनोऽयं लघुः प्रिये । येन क्रमत्रयं मौढ्यायं याचते बुद्धितोऽपि च ॥ १० ॥

इसके बाद देवोंमें श्रेष्ठ अविनाशी भगवान्ने देवतक हँसकर और महाजको देखकर दैत्यराजसे कहा—
 मेरे गुरुके गुरु अग्निहोत्री (यज्ञके अनुष्ठता) हैं । वे दूसरेकी भूमिमें अग्निस्थापन नहीं करते । दान करते ।
 राजन् ! मैं उनके लिये शपसे याचना करता हूँ कि मेरे शरीरके परिमाणसे आप तीन पग (भूमि) मुझे
 देनेकी कृपा करें । मुरारि-(भगवान्)-का वचन सुननेके बाद बलिने पत्नी और पुत्र बाणको देखकर (पत्नी
 पत्नीसे) यह वचन कहा—प्रिये ! यह वामन केवल प्रमाणसे ही छोटा नहीं है, बल्कि यह बुद्धिना भी छोटा
 है; क्योंकि अज्ञानयश यह मुझसे केवल तीन पग-(भूमि-) की याचना करता है ॥ ६-१० ॥

प्रायो विघ्नानां रूपधियां नपानां बहिष्कृतानां च महाबुभार्यै ।
 धनादिकं भूरि न पै ददाति यद्येह विष्णोर्न बहुप्रयासः ॥ ११ ॥
 न ददाति विधिस्तस्य पत्न्य भाग्यविपर्ययाः । मयि क्षतरि यद्भायमद्य याचेषु पदत्रयम् ॥ १२ ॥
 इत्येवमुक्त्वा पत्नं महात्मा भूयोऽप्सुवाचाय हरिं वनूजः ।
 पाचस्य विष्णो पञ्चाजिर्भूमिं दासीहिरण्यं यदभीष्टितं च ॥ १३ ॥
 भगवां पारुषिता विष्णो दाहं दाता जगत्पतिः । दातुर्पाचयितुर्लज्जा कथं न स्यात् पदत्रये ॥ १४ ॥
 रसात्कण्डं या पृथिवीं भुवं नाळमयापि वा । पतेम्यः कर्मं धर्मां स्वानं यास्यन् वामन ॥ १५ ॥

निष्णा प्रायः कम बुद्धिवाले अभागो मनुष्योंको अधिक धन आदि नहीं देते—जैसाकि इस यज्ञमें विष्णुने
 धनिकके लिये प्रयत्न नहीं किया । जिसका भाग्य अनुकूल नहीं होता है, उसे ईश्वर नहीं देते हैं । मेरे-जैसे
 दानीसे भी आज ये तीन पग-(भूमि-)की ही याचना करते हैं ! इस प्रकार कहकर महात्मा बलिने फिर हरिसे
 कहा—विष्णो ! हाथी, घोड़ा, भूमि, दासी तथा सेना आदि (इसके अतिरिक्त और भी) जो धन चाहते हों,
 वह माँगिये । विष्णो ! आप याचना करनेवाले हैं और मैं जगत्पति देनेवाला हूँ । ऐसी अवस्थामें केवल तीन
 पग-(भूमि-)का दान करनेमें देने एक लेनेवालेको क्या लज्जा न होगी ? वामन ! यदि आप याचना करते हैं तो
 (कहिये) रसात्कण्डं, पृथ्वी, भुवर्लोक अथवा स्वर्गलोकमेंसे मैं किस स्थानका दान करूँ ? उसे माँगिये ॥ ११-१५ ॥

वामन उवाच

पञ्चादशभूहिरण्यादि नर्थाभ्यः प्रदायताम् । एतावता त्वह चार्थी देहि राजन् पदत्रयम् ॥ १६ ॥
 इत्येवमुक्ते वचने वामनेन महासुतः । बलिर्भृङ्गारमादाय ददौ विष्णोः क्रमत्रयम् ॥ १७ ॥
 पाणौ तु पणिते तोये दिव्यं रूपं चकार ह । प्रैलोक्ष्यक्रमणार्थाय यदुत्सवं जगन्मयम् ॥ १८ ॥
 पादे भूमिस्तथा जडघे नभश्चैलोक्ष्यवन्दितम् । सत्यं तपो जानुयुग्मे ऊरुस्तो मेदमन्दरी ॥ १९ ॥
 निर्वेदेया कटीभागे मरुतो वस्तिर्शरिणाः । लिङ्गे स्थितो मन्मथश्च वृषणाभ्यां प्रजापतिः ॥ २० ॥
 बुद्धिभ्यामर्णवाः सप्त जडरे भुवनानि च । बलिषु निषु नपथ्य यथास्तु जडरे स्थिताः ॥ २१ ॥
 इहापूगादयः सर्वाः कित्यास्तत्र तु संस्थिताः । पृथस्या यस्यो देवाः स्कन्धी चैरर्थिष्ठितौ ॥ २२ ॥

भगवाञ्च वामन सोढे—हाथी, घोड़ा, भूमि, सेना आदि वस्तुएँ उन्हें चाहनेवालेको ही दीजिये ।
 राजन् ! मैं इनकेकी ही याचना करता हूँ । इसलिये मुझे तीन पग (भूमि) प्रदान करें । वामनभगवान्के

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला भूमिका दान हो रहा है, देवोंके धर्मदेव अपने-आपको नियन्त्रित रखनेवाले आप मात्र हैं, ज्येष्ठा एवं मूलके योगमें स्थित चन्द्रमासे युक्त काल है तथा प्रतिष्ठ पवित्र कुरुक्षेत्रका देश है यद्यथा हम-जैसे बुद्धिहीन लोगोंके द्वारा आप भगवान्को उचित और अनुचित शिक्षा क्या दी जाय ? स्वयं वेदोंके भी आदिस्तथा और सदसद्-विश्वको व्याप्त कर अवस्थित हैं। आपने स्वयं अपने प्रमाण-(शारीरिक आकाश-) को छोटा बनाकर तीन पग भूमि माँगी थी। देव ! क्या आपने तीनों लोकोंमें अपने वन्दित रूपसे तीनों लोकोंको प्रहण नहीं कर लिया है ? आपके तीन पगोंको सारा संसार पूरा नहीं कर सका—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आप इसको अपने एक पगसे ही लौंघ सकते हैं। लोकनाथ ! आपने तो यह लीला ही की है। मात्रव ! पद्मनाभ ! विष्णो ! पृथ्वीको अपने-आप छोटे पैमानेमें बनाकर बलिको बाँधना उचित नहीं। (ठीक है, आप) प्रभु जो चाहते हैं वही करते हैं ॥ ४१-४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने याणेन बलिस्तनुता । प्रोवाच भगवान् वाक्यमादिकर्ता जनार्दनः ॥ ४६ ॥
पुलस्त्यजी बोले—बलिपुत्र बाणके इस प्रकार कहनेपर आदिस्तथा भगवान् जनार्दनने यह वचन कहा—॥ ४६ ॥

त्रिविक्रम उवाच

यान्शुक्लानि चर्चास्तीत्यं त्वया बालेय साम्प्रतम् । तेषां वै हेतुसंयुक्तं शृणु प्रत्युत्तरं ॥ ४७ ॥
पूर्वमुक्तस्तव पिता मया राजन् पदत्रयम् । देहि मय्यं प्रमाणेन तदेतत् समनुष्ठितम् ॥ ४८ ॥
किं न वेत्ति प्रमाणं मे बलिस्तव पितासुर । प्रायच्छद् देव निःशङ्कं यमानन्तं क्रमत्रयम् ॥ ४९ ॥
सत्यं क्षयेण चैकेन क्रमेयं भूर्भुवादिक्म् । बलेरपि हितार्थाय कृतमेतत् क्रमत्रयम् ॥ ५० ॥
तस्माद् यन्मम बालेय त्वत्पित्राम्बु करे महत् । इत्तं तेनायुरेतस्य दत्तं यावद् भविष्यति ॥ ५१ ॥
गते मन्वन्तरे वाण श्राद्धदेवस्य साम्प्रतम् । सावर्णिके च सश्राप्ते बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥ ५२ ॥
इत्थं प्रोक्ष्वा बलिस्तुतं वाणं देवत्रिविक्रमः । प्रोवाच धलिमश्वेत्य वचनं मधुराश्रमम् ॥ ५३ ॥

त्रिविक्रमने कहा—बलिनन्दन । तुमने इस समय इस प्रकार जिन वचनोंको कहा है उनका कारणसहित प्रत्युत्तर मुझमें सुनो। मैंने पहले ही तुम्हारे पितासे यह कहा था कि राजन् ! मेरे प्रमाणके अनुसार मुझे तीन पग भूमि दो। उन्होंने भलीभाँति उसका सम्मान किया। असुर ! क्या तुम्हारे पिता बलि मेरा प्रमाण नहीं जानते थे, जो उन्होंने निःशङ्क होकर मेरे अनन्त तीन पगोंके मानका दान किया। सत्वमुच ही मैं अपने एक पैरसे समस्त भूः भुवः आदि जगत्को नाप सकता हूँ। किंतु बलिके कल्याणके लिये ही मैंने ये तीन पग किये हैं। बलिपुत्र ! तुम्हारे पिताने मेरे हाथमें शुद्ध संकल्पका जठ दिया है, इससे उनकी आयु एक कल्पकी होगी। वाण ! श्राद्धदेवका वर्तमान मन्वन्तर बीत जानेके बाद सावर्णिक मन्वन्तरके आनेपर बलि इन्द्र बनेंगे। बलिके पुत्र बाणसे इस प्रकार कहनेके बाद त्रिविक्रम देव बलिके निकट गये और उससे उन्होंने मधुर वचन कहा—॥ ४७-५३ ॥

श्रीभगवानुवाच

धापूरणाद् दक्षिणाया गच्छ राजन् महाफलम् । सुतलं नाम पातालं च स तत्र निरामयः ॥ ५४ ॥
श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! दक्षिणाप्ती स्मरता होनेतक तुम्हें यह महान् फल प्राप्त करना होगा।
उन महाफल प्राप्त पातालमें नीतोग—सत्य होकर निवास करो ॥ ५४ ॥

ध्रुवोऽसि आग्नेवोऽसि । ध्यानोऽसि च्येयोऽसि श्रेयोऽसि ज्ञानोऽसि यथाऽसि दानोऽसि भूमाऽसि
 विजयोऽसि ब्रह्माऽसि क्षोणाऽसि उद्गाताऽसि गतिमतां गतिरसि धानिनां ज्ञानमसि योगिनां योनोऽसि
 मोक्षनामिनां मोक्षोऽसि श्रीमतां श्रीरसि गृह्योऽसि पाताऽसि परमसि । सोमोऽसि सूर्योऽसि वीक्षाऽसि
 इन्द्रिणाऽसि नरोऽसि विनयनोऽसि महानयनोऽसि आश्रित्यप्रभवोऽसि सुरोत्तमोऽसि शुचिरसि शुक्रोऽसि
 तपोऽसि नमस्योऽसि इषोऽसि ऊर्जाऽसि सहोऽसि सहस्योऽसि तपोऽसि तपस्योऽसि मधुरसि ।
 मातृकोऽसि कालोऽसि संक्रमोऽसि विक्रमोऽसि पराक्रमोऽसि अश्वत्रोवोऽसि महामेधोऽसि शङ्करोऽसि
 धनीश्वरोऽसि शम्भुरसि ब्रह्मेशोऽसि सूर्योऽसि मित्रावरुणोऽसि ब्रह्मर्षाकायोऽसि भूतादिरसि महाभूतोऽसि
 सर्वकर्ताऽसि कर्त्ताऽसि । सर्वपापविमोचनोऽसि त्रिविक्रमोऽसि ॐ नमस्ते ।

हे देवेंकें देव ! वासुदेव ! एकशृङ्ग ! बहुरूप ! वृषाकपे ! भूतभावन ! सुरों और असुरोंमें श्रेष्ठ ! देवताओं
 और असुरोंका मयन करनेवाले पीतवस्त्रधारिन् ! श्रीनिवास ! असुरनिर्मितान्त ! अमितनिर्मित ! कपिल ! महाकपिल !
 विजयदेव ! नारायण ! आपको नमस्कार है । ध्रुवध्वज ! सत्यध्वज ! खड्गध्वज ! तालध्वज ! वैकुण्ठ ! पुरुषोत्तम !
 ज्येष्ठ ! विष्णो ! अपराजित ! जय ! जयन्त ! विजय ! कृतावर्त ! महादेव ! अनादे ! अनन्त ! आद्यन्त !
 नन्दविभन ! पुरजय ! धनजय ! शुचिश्रव ! पृथ्विगर्भ ! (आपको नमस्कार है ।) कमलगर्भ ! कमलायताक्ष !
 श्रीवर्त ! त्रिभुवन् ! मूलाधिवास ! धर्माधिवास ! धर्मवास ! धर्माध्यक्ष ! प्रजाध्यक्ष ! गदाधर ! श्रीधर ! श्रुतिधर !
 कदाकलाधर ! लक्ष्मीधर ! धरणीधर ! पद्मनाभ ! (आपको नमस्कार है ।) विरिञ्चे ! आर्द्धिषेण ! महासेन !
 ऐनाध्यक्ष ! पुरुपुत्र ! बहुकल्प ! महाकल्प ! कल्पनामुख ! अनिरुद्ध ! सर्वग ! सर्वात्मन् ! द्वादशात्मक ! सूर्यात्मक !
 सैमात्मक ! कालात्मक ! ज्योमात्मक ! भूतात्मक ! (आपको नमस्कार है ।) रसात्मक ! परमात्मन् ! सनातन !
 इन्द्राक्ष ! हरिकेश ! गुडाकेश ! केशव ! नील ! सूक्ष्म ! स्थूल ! पीत ! रक्त ! श्वेत ! श्वेताधिवास !
 रत्नाकरधिव ! प्रीतिकर ! प्रीतिवास ! इंस ! नीलवास ! सीरध्वज ! सर्वलोकाधिवास ! कुशेशय ! अधोक्षज !
 गोविन्द ! जनादेव ! मधुसूदन ! वामन ! आपको नमस्कार है । आप सहस्रशीर्षा, सहस्रनेत्र, सहस्रपाद,
 कमल, गलापुरुष, सहस्रबाहु एवं सहस्रमूर्ति हैं । आपको देवगण सहस्रवदन कहते हैं । आपको नमस्कार है ।
 ॐ विश्वधेव ! विश्वभू ! विश्वात्मक ! विश्वरूप ! विश्वसम्भव ! आपको नमस्कार है । आपसे यह विश्व उत्पन्न
 हुआ । आपके मुखसे ब्रह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, दोनों जाँवोंसे वैश्य एवं चरणबालोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं ।
 आपसे ! आपकी नाभिसे अन्तरिक्ष, मुखसे इन्द्र एवं अग्नि, नेत्रसे सूर्य, मनसे चन्द्रमा और आपके प्रसादसे मैं
 हुआ हूँ । आपके कोंठसे त्रिनेत्र (शंकरजी), प्राणसे वायु, सिरसे स्वर्गलोक, कर्णसे दिशाएँ, चरणोंसे यह पृथ्वी,
 आपके निजाद एवं तेजसे नक्षत्र उत्पन्न हुए हैं । सम्पूर्ण मूर्त और अमूर्त पदार्थ आपसे उत्पन्न हुए हैं । अतः आप
 विश्वोत्पन्न हैं । ॐ आपको नमस्कार है । आप पुण्यहास, महाहास, परम, ॐकार, तपट्कार, स्वाहाकार, वौषट्कार,
 यज्जकार, वैश्वदेव, हीर्गमय, यजमानमय, यज्ञमय, सर्वधाता, यज्ञभोक्ता, शुक्रधाता, भूर्दे, भुवर्दे, स्वर्दे, खर्गद, नोद
 एवं सृष्टादि हैं । ॐ आप ब्रह्मादि, ब्रह्ममय, यज्ञ, वेदकाग, वेद्य, यज्ञवाह, महामीन, महासेन, महाशिला, कुक्कुली,
 ऐना, डोना, इना, वृषगण, इयमेव, पोता, पावपिता, पूत, पूज्य, दाता, हन्यमान, हियमाग एवं कर्ता हैं । ॐ
 आप नीलि, नेता, अज्य, विश्वधाम, शुभाणम, ध्रुव, आरण्य, ध्यान, श्येय, ज्ञेय, ज्ञान, यथा, दान, भूमा, ईश्वर,
 ब्रह्म, होता, उद्गाता, गतिमानोंकी गति, ज्ञानियोंके ज्ञान, योगियोंके योग, मोक्षार्थियोंके मोक्ष, श्रीमानोंकी श्री, गृह्य,

पाता एवं परम हैं । आन सोम, सूर्य, दीक्षा, दक्षिणा, नर, त्रिनयन, महानयन, आदित्यप्रभन, सुरोत्तम, शुचि, शुक्र, नम, नभस्य, इन्द्र, ऊर्जन, सह, सहस्य, तप, तपस्य, मधु, माधन, काठ, संक्रम, विक्रम, पराक्रम, अरुप्रीव, महाभेध, शंकर, हरीश्वर, शम्भु, ब्रह्मेश, सूर्य, नित्रारुण, प्राम्यंशक्य, भूतादि, महाभूत, ऊर्ध्वकर्मा, कर्ता, सर्वपापविमोचन एवं त्रिविक्रम हैं । आपको ॐ नमस्कार है ॥ ५-७० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं स्तुतः पद्मभवेन विष्णुस्तपस्त्रिभिश्चाद्भुतकर्मकारी ।
 प्रोवाच देवं प्रपितामहं तु वरं वृणीष्यामलसत्यवृत्ते ॥ १२ ॥
 तमग्ररात् प्रीतियुतः पितामहो वरं ममेहाद्य विभो प्रयच्छ ।
 रूपेण पुण्येन विभो ह्यनेन संस्थोयतां मद्भवने सुरारे ॥ १३ ॥
 इत्थं वृत्ते देववरेण प्रादात् प्रभुस्तयास्त्रियति तमव्ययात्मा ।
 तस्यै हि रूपेण हि वामनेन सम्भूज्यमानः सद्ने स्वयम्भोः ॥ १४ ॥
 नृत्यन्ति तत्राप्सरसां समूहा गायन्ति गीतानि सुरेन्द्रगायनाः ।
 नियाधरास्तूर्यगंध वादयन् स्तुयन्ति देवासुरसिद्धसङ्घाः ॥ १५ ॥
 ततः समाराध्य विभुं सुराधिपः पितामहो धौतमलः स शुद्धः ।
 स्वर्गं निरिच्छिः सद्नात् सुपुण्याप्यानीय पूजां प्रचकार विष्णोः ॥ १६ ॥
 स्वर्गं सहस्रं स तु योजनानां विष्णोः प्रमाणेन हि वामनोऽभूत् ।
 तत्रास्य शक्रः प्रचकार पूजां स्वयम्भुस्तुल्यगुणां महर्षे ॥ १७ ॥
 पतद् तवोकं भगवांस्त्रिविक्रमश्चकार यद् देवहितं महात्मा ।
 रसातलस्थो दितिजश्चकार यत्तच्छृणुष्याद्य पदामि विप्र ॥ १८ ॥
 इति श्रीवामनपुराणे द्विंशत्तितमोऽध्यायः ॥ १२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मा एवं तपस्त्रियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर अद्भुत कर्म करनेवाले विष्णुने प्रपितामह देवने कहा—अमरसत्ववृत्ते । (निर्मल सत्त्वरूपवाले) आप वर माँगिये । पितामहने प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहा—विभो ! सुरारे ! 'आप इस पवित्र रूपसे मेरे भवनमें स्थित रहें । मुझे यही वर प्रदान करें ।' इस प्रकार देवप्रेष्ठके वर माँगनेपर अव्ययात्मा प्रभुने उनसे कहा—'रेसा ही होगा । उसके बाद वे स्वयम्भूके भवनमें अम्नरूपसे पूजित होते हुए रहने लगे । वहाँ अप्सराओंका समूह नृत्य करने लगा, सुरेन्द्रके गायक गान करने लगे, त्रिधाधर ब्रह्म दर्श बजाने लगे एवं देव, असुर तथा सिद्धोंके समूह स्तुति करने लगे । विष्णुकी समाराधनाके पश्चात् देवेश पितामह ब्रह्मा पापरहित एव शुद्ध हो गये । स्वर्गमें ब्रह्माने धर्मसे सुन्दर पुष्पोंको ब्यापार उनसे विष्णुका पूजन किया । विष्णु स्वर्गमें वामन-रूपसे (बड़कर) हजार योजन विस्तृत हो गये । महर्षे ! वहाँ इन्द्रने ब्रह्माके समान गुणोंसे युक्त पदार्थोंसे उनकी पूजा की । विप्र ! महात्मा भगवान् त्रिविक्रमने बधिको रसातलमें भेजकर देवताओंका जो कल्याण-साधन किया था, वह मैंने आपसे कहा । दैत्यने रसातलमें रहते हुए जो कार्य किया उसका वर्णन मैं अब कर रहा हूँ, उसे सुनिये— ॥ १२-१८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें वामनदेवों अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥



[अथ त्रिलवतितयोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गत्वा रसातलं दैत्यो महार्हमणिचित्रिनम् । शुद्धस्फटिकलोपानं कारयामास वै पुरम् ॥ १ ॥
तत्र मध्ये सुविस्तीर्णः प्रासादो वज्रवेदिकः । सुक्ताजालान्तरद्वारो निर्मितो विश्वकर्मणा ॥ २ ॥
तप्रास्ते विधिवान् भोगान् भुञ्जन् दिव्यान् स मानुषान् । नाम्ना विन्ध्यावलीत्येवं भार्याऽस्य दयिताऽभवत् ॥ ३ ॥
युवतीनां सहस्रस्य प्रधाना शीलमण्डिता । तया सह महातेजा रेमे वैरोचनिर्मुने ॥ ४ ॥
भोगासक्तस्य दैत्यस्य वसतः सुतले तदा । दैत्यतेजोहरः प्राप्तः पाताले वै सुदर्शनः ॥ ५ ॥

तिरानवेर्वा अध्याय प्रारम्भ

(बलिका पातालमें वास, सुदर्शनचक्रका वहाँ प्रवेश, बलिद्वारा सुदर्शनचक्रकी स्तुति,
प्रह्लादद्वारा विष्णुभक्तिकी प्रशंसा)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) रसातलमें जाकर दैत्यने बहुमूल्य मणियोंसे चित्रित शुद्ध स्फटिकके सोपानसे विभूषित नगर बनाया । विश्वकर्माने उसके बीचमें अत्यन्त विस्तृत वज्रमय वेदी बनायी तथा मोतीजड़ी खिड़कियोंके मध्य फाटकवाला महल बनाया । बलि भौंति-भौतिके स्वर्गीय तथा मनुष्योंके योग्य भोगोंका उपभोग करते हुए वहाँ निवास करने लगा । विन्ध्यावली नामकी उसकी प्रिय पत्नी थी । मुने! वह हजारों युवतियोंमें प्रधान तथा एक शीलवती स्त्री थी । महानेजस्वी विरोचन-पुत्र बलि उसके साथ सुख करने लगा । एक दिन भोग भोगनेमें आसक्त दैत्यके घुसल लोकमें रहते समय दैत्योंके तेजका हरण करनेवाला सुदर्शन चक्र पातालमें प्रवेश किया ॥ १-५ ॥

प्रविष्टे पानालं दानवानां पुरे महान् । वभौ हलहलाशब्दः क्षुभितार्णवसंनिभः ॥ ६ ॥
तं च श्रुत्वा मद्राशब्दं बलिः खड्गं समाददे । आः किमेतदितित्यं च पप्रच्छासुरपुङ्गवः ॥ ७ ॥
ततो विन्ध्यावली प्राह सान्त्वयन्ती निजं पतिम् । कोशे खड्गं समावेश्य धर्मपत्नी शुचिव्रता ॥ ८ ॥
पतद् भगवनश्चक्रं दैत्यचक्रक्षयंकरम् ।
सम्पूजनायं दैत्येन्द्र वामनस्य महान्मनः । इत्येवमुक्त्वा चार्धङ्गी सार्वपात्रा विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
अथाभ्यागात् सहस्रारं विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् ।

ततोऽसुरपतिः प्रहः कृत्वाञ्जलिपुटो मुने । सम्पूज्य विधिवच्चक्रमिदं स्तोत्रमुदीरयत् ॥ १० ॥

पातालमें सुदर्शन चक्रके प्रवेश करनेपर दानवोंके पुरमें क्षुब्ध हुए सागरके समान महान् हलहला शब्द उत्पन्न हुआ । उस महान् शब्दको सुनकर असुरश्रेष्ठ बलिनै हाथमें एक तलवार ले ली और इस प्रकार पूछा—‘अरे ! यह क्या है ? ! उसके बाद पवित्रताका व्रत करनेवाली धर्मपत्नी विन्ध्यावलीने अपने पतिको सान्त्वना देकर तथा तलवारको न्यानमें रगगाकर यह कहा—‘ऐश्वर्य आदि छः विभूतियोंवाले महान् आत्मा वामनका दैत्यसमूहका संहार करनेवाला यह आगवनीय चक्र है । इस प्रकार कहकर वह सुन्दरी अर्घ्यपात्रके साथ बाहर गयी । उसी समय विष्णुका हजारों धरोनाला सुदर्शनचक्र आ पहुँचा । मुने ! असुरपतिने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर विधिवत् चक्रका पूजन किया तथा यह स्तुति की—॥ ६-१० ॥

बलित्वाच

नमन्यामि हरेऽशकं दैत्यचक्रविदारणम् । सहस्रान्शुं सहस्राभं सहस्रारं सुनिर्मलम् ॥ ११ ॥
नमन्यामि हरेऽशकं यस्य नाभ्यां पितामहः । तुण्डे त्रिशूलधृक् शर्व आरामूले महाद्रयः ॥ १२ ॥
शारेषु संस्थिता देवाः सेन्द्राः साक्षाः सपावताः । जचे यस्य स्थितो वायुरापोनिः पृथिवीनभः ॥ १३ ॥

भारप्रान्तेषु
तमायुधवरं
तन्मे दहस्व
तन्मे हरस्व

जीमूताः
वन्दे
दीप्तांशो
तरसा

सौदामिन्युक्षतारकाः । बाह्यतो मुनयो यस्य बालविल्यादयस्तथा
वासुदेवस्य भक्तितः । यन्मे पापं शरीरोत्थं वाज्रं मानसमेव च ।
विष्णोश्चक्र सुदर्शन । यन्मे कुलोद्भवं पापं पैतृकं मातृकं तथा ॥
नमस्ते अच्युतायुध । आधयो मम नदयन्तु व्याधयो यान्तु संज्ञयम् ॥
दुरितं यातु संक्षयम् ॥ १७ ॥

इत्येवमुक्त्वा मतिमान् त्वन्नामकीर्तनाच्चक्र समभ्यर्च्योथ भक्तितः । संस्मरन् पुण्डरीकाक्षं सर्वपापप्रणाशनम् ॥
बलिने स्तुति कौ—दैत्य-समूहका सहार करनेवाले, अनन्तकिरणोंसे युक्त हजारों भ्रमररनी आ
हजारों अरोंसे युक्त विष्णुके निर्मल सुदर्शनचक्रको मैं नमस्कार करता हूँ । विष्णुके उस चक्रको मैं नम
करता हूँ, जिसकी नाभिमें पितामह, चौटीपर त्रिशूळ धारण करनेवाले महादेव, अरोंके मूलमें महान् परम, ब्र
ह्म, सूर्य, अग्नि आदि देवता, वेगमें वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश, अरोंके किनारोंमें मेव, त्रि
नक्षत्र एव ताराओंके समूह तथा ब्राह्मभागमें बालविन्य आदि मुनि स्थित हैं । मैं ब्रह्मपूर्वक वासुदेवके उस
आयुधको नमस्कार करता हूँ । विष्णुके प्रदीप किरणवाले सुदर्शनचक्र । मेरे शारीरिक, वाचिक एव मानसि
पापोंका आप विनाश करें । अच्युतायुध ! मेरे कुलमें हुए पैतृक एवं मातृक पापोंका शीतनापूर्वक आप हटाने
करें । आपको नमस्कार है । मेरी सारी आभि-व्याभियोंका नाश हो जाय । चक्र ! आपके नामका कीर्तन करनेसे
पापोंका नाश हो जाय । इस प्रकार बुद्धिमान् (बलि) ने ब्रह्मपूर्वक चक्रकी पूजा की तथा समस्त पापोंका
नाश करनेवाले पुण्डरीकाक्ष भगवान्का स्मरण किया ॥ ११-१८ ॥

पूजितं बलिना चक्रं कृत्वा निस्तेजसोऽसुरान् । निश्चक्रामाथ पातालाद् विपुत्रे दक्षिणे मुने ॥ १९ ॥
सुदर्शने निर्गते तु बलिर्विचल्यतां गतः । परमामापद् प्राप्य सस्मार स्वपितामहम् ॥ २० ॥
स चापि संस्मृतः प्रातः सुनलं दानवेध्वरः । दृष्ट्वा तस्थौ महातेजाः सार्धपात्रो बलिस्तदा ॥ २१ ॥
तमर्च्यं विधिना ब्रह्मन् पितुः पितरमोदयत् । कृत्वाञ्जलिपुटो भूत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
संस्मृतोऽसि मया तात सुविषण्णेन चेतसा । तन्मे हितं च पथ्यं च श्रेयोऽर्थं वद तात मे ॥ २३ ॥
किं कार्यं तान संसारे यसता पुरपेण हि । वृतेन येन वै नास्य बन्धः समुपजायते ॥ २४ ॥
संसारार्णवमग्नानां नराणामल्पचेतसाम् । तरणे यो भवेत् पोतस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २५ ॥
मुने ! बलिने अर्चिन हुआ चक्र असुरोंको तेजरहित करके पातालसे निकाल्य और दक्षिण दिशाकी ओर
गया । सुदर्शनके निकल जानेपर बलि अत्यन्त बेचैन हो गया । घोर सकट आनेपर उसने अपने
महको याद किया । स्मरण करने ही दैत्येश्वर (प्रहाद) सुनन्में आ गये । (उन्हें) देखने ही महातेजस्वी
वृतर हाथमें अर्य लिये उठ खड़ा हुआ । ब्रह्मन् ! अपने समर्थ पितामहकी विधिपूर्वक पूजा करनेके बाद
हाथ जोड़कर यह वचन कहा—तात ! अत्यन्त शोचमग्न चित्तसे मैं आपका स्मरण किया है । अतः
मुझे हितकर, पथ्य एव कल्याणकारी उत्तम उपदेश दें । तात ! मनुष्योंको संसारमें रहते हुए क्या करना
जिसके करनेसे उसे बन्धन न हो । संसार-समुद्रमें निगमन हुए अन्यमति मनुष्योंको तरनेके लिये
य क्या है, आप मुझसे इसे बतावें ॥ १९-२५ ॥

चनमाकर्ण्यं तत्पौत्राद्
लस्यजी बोले—अपने उस पौत्रके
श्रेष्ठ वचन कहा—॥ २६ ॥

दुलस्य ढकाव
दानवेध्वर । निचिन्त्य प्राह वचनं संसारे यद्विनं परम् ॥ २६ ॥
श्रेष्ठ वचन कहा—॥ २६ ॥

प्रहाद उवाच

साधु दानवशार्दूल यत्ते जाता मतिस्त्वियम् । प्रवक्ष्यामि हितं तेऽद्य तथाऽन्येषां हितं वले ॥ २७ ॥
 भवजलधिगतानां ब्रह्मवाताहतानां सुतदुहित्कलत्रबाणभारार्दितानाम् ।
 विषमविषयतोये मज्जतामण्डवानां भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥ २८ ॥
 ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमर्ष्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम् ।
 शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेषां ते धर्मराजकरणं न विशन्ति धीराः ॥ २९ ॥
 स्वपुत्रारमभिर्वाक्ष्य पाशदस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
 परिहर मधुमूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥ ३० ॥

प्रहादने कहा—दानवश्रेष्ठ ! तुम धन्य हो, जो तुम्हें ऐसी बुद्धि उपान्न हुई । वले ! अब मैं तुम्हारे और दूसरोंके लिये कल्याणकारी वचन कहता हूँ । संसाररूपी अगाध समुद्रमें डूबे हुए, ब्रह्मरूपी वायुसे आहत, पुत्र, कन्या, पत्नी आदिकी रक्षाके भारसे दुःखी, नौकाके दिना भयंकर विषयरूपी जलमें डूबते हुए मनुष्योंके लिये विष्णुरूप नौका ही एकमात्र सहारा होना है । आदि, मन्व और अन्तसे रहित कल्याणप्रद, वरगीय, गरुडवाहन, लक्ष्मीकान्त, पवित्र, देवगुरु, नारायण हरिको आश्रय ग्रहण करनेवाले वैश्याली मनुष्य यमराजके शासनमें नहीं पड़ते । यमराज हाथमें पाश लिये खड़े अपने दूतको देखकर उसके कानमें कहते हैं कि मधुमूदनकी शरणमें गये हुए मनुष्योंको छोड़ देना; क्योंकि मैं अन्य मनुष्योंका ही शासक हूँ, वैष्णवोंका नहीं ॥ २७-३० ॥

तथाऽन्यदुक्तं नरसत्तमेन इक्ष्वाकुणा भक्तियुतेन नूनम् ।

ये विष्णुभक्ताः पुरुषाः पृथिव्यां यमस्य ते निर्विषया भवन्ति ॥ ३१ ॥

सा जिह्वा या हरिं स्तौति तच्चित्तं यत्तदपितम् । तावेव केवलं इक्ष्वाक्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ ३२ ॥
 नूनं न नौ करौ शोकां वृद्धशाखाप्रपल्लवौ । न यौ पूजयितुं शक्नौ हरिपादान्भुजद्वयम् ॥ ३३ ॥
 नूनं तत्कण्ठशान्द्रकमयया प्रतिजिह्वका । रांगो वाऽन्यो न सा जिह्वा या न वक्ति हरेर्गुणान् ॥ ३४ ॥
 शोचनीयः स बन्धुतां जीवन्नपि मृतो नरः । यः पादपद्भुजं विष्णोर्न पूजयति भक्तितः ॥ ३५ ॥
 ये नरा धानुदेवस्य सन्तं पूजने रताः । मृता अपि न शोच्यास्ते सत्यंसत्यं मयोदितम् ॥ ३६ ॥
 शारीरं मानसं वागजं मूर्तामूर्तं चराचरम् । दृश्यं स्पृश्यमदृश्यं च तत्सर्वं केशवान्मकम् ॥ ३७ ॥

इसके सिवा श्रद्धालुक्त नरश्रेष्ठ इक्ष्वाकुने कहा था कि मनुष्योंके लिये विष्णुभक्त व्यक्ति यमके शासन-विषयसे कारर है । कभी जिह्वा है जो हरिको गुणगान करती है, वही चित्त है जो उनमें लीन है, वे ही हाथ प्रशंसाके योग्य हैं जो उनकी अर्चना करते हैं । जो हाथ श्रीहरिके दोनों चरण-कनयोंकी अर्चना नहीं करते, वे हाथ नहीं हैं, अग्नि वृद्धकी शाखमें लगे हुए आंगोंके पल्लव हैं । जो जिह्वा हरिके गुणोंका वर्णन नहीं करती, वह जिह्वा नहीं, अर्थात् कण्ठशाब्द—जिह्वाने युक्त मेढकका कण्ठ (केवल दिशाविके लिये लगी हुई निकामी जीम) अथवा अन्य कोई गोग है । श्रद्धार्थक विष्णुके चरण-कनयका अर्चन न करनेवाला मनुष्य जीना हुआ ही मरे हुएके समान है और बन्धुजनोंके लिये शोचनीय है । मैं यह सत्य कहता हूँ कि धानुदेवके पूजनमें सर्वदा रत रहनेवाले मनुष्य मत्स्य भी शोचनीय नहीं होते । समस्त शारीरिक मानसिक, वाचिक, मूर्त, अमूर्त, जङ्गम, स्थावर, दृश्य, स्पृश्य एवं अदृश्य समस्त पदार्थ विष्णु-रूप हैं ॥ ३१-३७ ॥

येनार्चितो हि भगवान् चतुर्धा वै त्रिविक्रमः । तेनार्चिता न संदेहो लोचः सामरदानया ॥ ३८ ॥
 यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुष्यक । तथा गुणा हि देवस्य त्वसंख्यातास्तु चक्रिणः ॥ ३९ ॥
 ये शङ्खचक्राञ्जकरं सराङ्गिणं खगेन्द्रकेतुं यरवं धियः पतिम् ।

समाधयन्ते भवभीतिनाशनं संसारगतं न पतन्ति ते पुनः ॥ ४० ॥

येषां मनसि गोविन्दो निधासां सततं धले । न ते परिभवं यान्ति न मृत्योर्द्विजन्ति च ॥ ४१ ॥
 देवं शार्ङ्गधरं विष्णुं ये प्रपन्नाः परायणम् । न तेषां यमसालोक्यं न च ते नरकौकसः ॥ ४२ ॥
 न तां गतिं प्राप्नुवन्ति श्रुतिदशखण्डिशास्त्राः । विप्रा दानवशार्ङ्गं विष्णुभक्तं व्रजन्ति याम् ॥ ४३ ॥
 या गतिर्दैत्यशार्ङ्गं हतानां तु महाद्वेषे । ततोऽधिकां गतिं यान्ति विष्णुभक्ता नरोत्तमाः ॥ ४४ ॥

त्रिविक्रम भगवान्की चार प्रकारसे अर्चना करनेवाले मनुष्योंने निःसन्देह सुर और अनुसहित स्मरणें लोकोंका पूजन कर लिया है । पुत्र । जिस प्रकार समुद्रके रत्न अनगिनत हैं, उसी प्रकार चक्र धारण करनेवाले विष्णुके गुण भी असंख्य हैं । हाथोंमें शङ्ख, चक्र, कमल एवं शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले गृहद्वज, भवभीतिके नाश करनेवाले बरदानी लक्ष्मीपतिता आश्रय ग्रहण करनेवाले मनुष्य फिर संसाररूपी गड्ढेमें नहीं पड़ते । बले । जिनके मनमें गोविन्द निरन्तर निवास करते हैं, उनका अनादर नहीं होता और वे मृत्युसे जानकित नहीं होते । मौञ्ज-प्राप्ति करनेके श्रेष्ठ शरणस्थान शार्ङ्गधरदेव विष्णुकी शरणमें पहुँचे मनुष्योंसे यमलोक या नरकमें नहीं जाना पड़ता । दानवश्रेष्ठ ! वेदशास्त्रमें कुशल ब्राह्मणोंको बड़ गति नहीं प्राप्त होती जो गति विष्णुभक्त प्राप्त करते हैं । दैत्यश्रेष्ठ ! महान् युद्धमें मारे गये व्यक्ति जो गति प्राप्त करते हैं, उस नरश्रेष्ठ विष्णुभक्तसे उससे भी उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ३८-४४ ॥

या गतिर्धर्मशीलानां सात्विकानां महात्मानाम् । सा गतिर्गतिता दैत्य भगवत्सेविनामपि ॥ ४५ ॥
 सर्वायासं वासुदेवं सङ्गममव्यकविप्रहम् । प्रथितानि महात्मानं तद्रक्षा नान्यचेतसः ॥ ४६ ॥
 अनन्यमनसो भक्त्या ये नमस्यन्ति केशवम् । शुच्यस्ते महात्मानस्तीर्यमृता भवन्ति ते ॥ ४७ ॥

गच्छन् तिष्ठन् स्वप्नं जाग्रत् पितृवन्दनप्रभीक्षणतः ।

ध्यायन् नारायणं यस्तु न ततोऽन्योऽस्ति पुण्यभाक् । वैकुण्ठं स्वप्नपरशुं भववन्धसमुच्छिदम् ॥ ४८ ॥
 प्रणिपत्य यथान्यार्यं संसारे न पुनर्भवेत् । क्षेत्रेषु यसते नित्यं क्रीडाध्यास्तेऽमितयुक्ति ॥ ४९ ॥
 आसीनः सर्वदेहेषु कर्मभिर्न स वप्यते । येषां विष्णुः प्रियो नित्यं ते निष्णोः सततं प्रियाः ॥ ५० ॥
 न ते पुनः सम्भवन्ति तद्रक्षास्तत्परायणाः । ध्यायेत् दामोदरं यस्तु भक्तिनसोऽर्चयेत् वा ॥ ५१ ॥

न स संसारपङ्केऽसिन् मज्जते दानधेध्वर ।

फलमुत्पाद्य ये भक्त्या स्मरन्ति मयुखदन्म् । स्तुवन्त्यप्यभिष्टुष्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५२ ॥

दैत्य ! धर्मशील, सात्विक महात्माओंको जो गति प्राप्त होती है, भगवद्भक्तोंकी भी वही गति कही गयी है । अनन्यग्रहसे भगवान्की भक्ति करनेवाले सर्वावास, सूक्ष्म, अन्यक्त शरीरवाले महान्गा वासुदेवमें प्रवेश करते हैं । अनन्यमनसे श्रद्धापूर्वक केशवको नमन करनेवाले मनुष्य पवित्र एवं तीर्थस्वरूप होते हैं । चरते, खड़े, सोते, जागते एवं खाते-पीते हुए निरन्तर नारायणका ध्यान करनेवाले अधिक पुण्यका योग्य अधिपति होता । विधानानुकूल संसार-बन्धनका समुच्छेद करनेवाले स्वप्न और परशु धारण करनेवाले वैकुण्ठेश्वरों करनेसे संसारमें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता । क्षत्रमं निवास करते हुए सर्वदा क्रीडा करनेवाले कृष्णभक्त समस्त शरीरोंमें रहनेपर भी उनके कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता । विष्णु

विष्णुके प्रिय होते हैं। दामोदरका चिन्तन करनेवाले उनके भक्त, उनके शरणागत अथवा श्रद्धापूर्वक उनका अर्चन करनेवाले मनुष्य फिर जन्म ग्रहण नहीं करते। दानवेश्वर ! प्रातःकाल उठकर श्रद्धापूर्वक मधुसूदनका चिन्तन करनेवाले मनुष्य इस संसाररूपी कीचड़में नहीं फँसते। उनका गुणगान करनेवाले एवं गुणोंको श्रवण करनेवाले मनुष्य कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं ॥ ४५-५२ ॥

हरिवाक्यामृतं पान्वा विमलैः श्रोत्रभाजनैः । प्रहृष्यति मनो येषां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५३ ॥
 येषां चक्रगदापाणां भक्तिरव्यभिचारिणी । ते यान्ति नियतं स्थानं यत्र योगेश्वरो हरिः ॥ ५४ ॥
 विष्णुकर्मप्रसक्तानां भक्तानां या परा गतिः । सा तु जन्मसहस्रेण न तपोभिस्वाप्यते ॥ ५५ ॥
 किं जप्यंस्तस्य मन्त्रैर्वा किं तपोभिः किमाश्रमैः । यस्य नास्ति परा भक्तिः सततं मधुसूदने ॥ ५६ ॥
 वृथा यथा वृथा वेदा वृथा दानं वृथा श्रुतम् । वृथा तपश्च कीर्तिश्च यो द्वेषि मधुसूदनम् ॥ ५७ ॥
 किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दनैः । नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ ५८ ॥
 विष्णुरेव गतिर्येषां कुतस्तेषां पराजयः । येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥ ५९ ॥
 सर्वमद्गलमाद्गल्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् । नारायणं नमस्कृत्य सर्वकर्माणि कारयेत् ॥ ६० ॥

विमल वर्णरूपी पात्रोंसे अमृतरूपी हरिके वचनोंका पान कर (श्रवण कर) जिनका मन अत्यन्त आह्लादित होता है वे कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। चक्र-गदाधारी विष्णुमें स्थिर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निःसंदेह योगेश्वर हरिके स्थानमें जाते हैं। विष्णुकी सेवामें तप्यर रहनेवाले भक्तोंको जो श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है वह हजारों जन्मोंके भी तपसे नहीं प्राप्त हो सकती। मधुसूदनमें निरन्तर पराभक्तिसे रहित मनुष्योंके जप, मन्त्र, तप एवं आश्रमोंसे क्या लाभ ! मधुसूदनमें द्वेष करनेवाले मनुष्योंके यज्ञ, वेद, दान, ज्ञान, तप एवं कीर्ति व्यर्थ हैं। जनार्दनमें रखनेवालोंको बहुत-से मन्त्रोंसे क्या लाभ ? 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र सभी अर्थोंका सिद्ध करनेवाला है। जिनकी गति विष्णु है एवं जिनके हृदयमें नील कमलके समान श्याम वर्णवाले जनार्दन अवस्थित हैं, उनकी हार कहाँ सम्भव है ! सभी मन्त्रोंके मङ्गलमूर्ति, वरेण्य, वरदानी प्रभु नारायणको नमस्कार कर समस्त कर्म करना चाहिये ॥ ५३-६० ॥

विष्टयो व्यतिपातादच येऽन्ये दुर्नानिसम्भवाः । ते नामस्तरणाद्विष्णोर्नानां यान्ति महासुर ॥ ६१ ॥
 तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च । नारायणप्रणामस्य कलां नाहन्ति षोडशीम् ॥ ६२ ॥
 पुण्यान्यायनानि च । तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नानुकीर्तनात् ॥ ६३ ॥
 प्राप्नुयन्ति न ताल्लोकान् व्रतिनो वा नपत्विनः । प्राप्यन्ते ये तु कृष्णस्य नमस्कारपरैररैः ॥ ६४ ॥
 योऽप्यन्यदेवताभक्तो मिथ्यार्चयति केशवम् । सोऽपि गच्छति साधूनां स्थानं पुण्यकृतां महत् ॥ ६५ ॥
 स्नातयेत् एतदेवं पूजयित्वा तु यत्कलम् । सुचीर्णनपसां नृणां तत् फलं न कदाचन ॥ ६६ ॥
 धितन्यं पदानाभं तु चे स्मरन्ति सुमधसः । ते लभन्त्युपवासस्य फलं नास्त्यत्र संशयः ॥ ६७ ॥

महासुर ! विष्टियों, व्यतिपात एवं दुर्नानिसे उत्पन्न हुई अन्य सभी आपत्तियों विष्णुके नामका स्मरण करनेसे निराश हो जाती हैं। सी करों एवं हजारों करोड़ तीर्थ भी नारायणको प्रणाम करनेकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं। मृत्युभयके जितने तीर्थ और पवित्र स्थान—देवस्थान हैं, वे सभी विष्णुके नामके संकीर्तनसे प्राप्त होते हैं। भोग्यभक्तों नाम करनेवाले मनुष्य जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, उन्हें व्रत करनेवाले या तपस्या करनेवाले प्राप्त नहीं कर सकते। अन्य देवताका भक्त होने हुए केशवकी आठभ्यूरूपी अर्चना करनेवाला मनुष्य भी पुण्यकर्म करनेकी मन्त्रोंके प्रदान स्थानको प्राप्त करता है। दशैश्वरके निरन्तर पूजनमें जो फल प्राप्त

होता है धीरे तप करनेवाले मनुष्योंको वह फल कभी नहीं प्राप्त होता । नीचों साधकोंके स्मरणमें पद्मनाभका स्मरण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको निस्सन्देह उपजासक फल प्राप्त होता है ॥ ६१-६३ ॥

सततं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा हरिप्रसव्यं । तत्रसाक्षात् परांसिद्धिं यत्प्रान्श्यसि साधारणीम् ॥ ६८ ॥

तन्मना भव तद्भक्तस्तथाजो तं नमस्तुत ॥ तमेवाश्रित्य देवेशं सुखं प्राप्स्यसि पुत्रकः ॥ ६९ ॥

आद्यं ह्यनन्तमजरं हरिमन्व्ययं च ये वै सरन्त्यहरहर्नृपरा मुक्त्विषाः ।

सर्वत्रयं शुभदं प्रद्वामयं पुराणं ते पान्ति वैष्णवपदं ध्रुवमन्वयञ्च ॥ ७० ॥

ये मानवा विगतरागपरपरया नारायणं सुरसुखं सततं स्मरन्ति ।

ते धौनपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥ ७१ ॥

प्यायन्ति ये सततामच्युतमोक्षितारं निष्कल्पं प्रवत्पद्मद्वयपताम् ।

प्यानेन तेन ह्यनिकल्पियपदेनास्ते मानुः पयोधररसं न पुन पिबन्ति ॥ ७२ ॥

बले । शास्त्रोंमें वर्णित कर्मद्वारा निरन्तर हरिमा अर्चन करो । उनके प्रसारमें निरन्तर मिर रहनेकी उत्तम सिद्धि प्राप्त करोगे । पुत्र । तुम तन्मना, तद्भक्त एवं उनका भजन करनेवाले होकर उन्हे नमन करो, उन देवेशका ही आश्रय ग्रहण कर तुम सुख प्राप्त करोगे । आद्य, अनन्त, अजर, सर्वत्रगामी, शुभदाता, प्रद्वामय, पुराण, अन्वय हरिको दिन-रात स्मरण करनेवाले मृत्युलोकके कासी श्रेष्ठ मनुष्य ध्रुव एवं अक्षय वैष्णव पदको प्राप्त करते हैं । जो आसक्तिहीन एवं पर और अग्रके ज्ञाता मनुष्य निरन्तर गुह्यदेव नारायणका चिन्तन करते हैं वे बुने हुए रनेतें पंखोंवाले राजहंसोंके समान श्रिय-रूपी जलसे भरे सप्ता-सागरको पार कर जाते हैं । जो मनुष्य उत्तम कर्म दलके समान त्रिस्तृत नेत्रोंवाले निर्दोष, नियमन करनेवाले अच्युतका निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे उस प्यानेसे पाय कष्टका नाश हो जानेपर फिर माताके पयोधरका रस नहीं पान करते (उनका पुनर्जन्म नहीं होता) ॥ ६८-७२ ॥

ये कीर्तयन्ति वरदं धरपद्मनाभं शङ्खाम्बजवराचारगदासिद्धस्तम् ।

पद्मालयावद्भनपद्मजयटपदास्यं नूनं प्रयान्ति सदनं मधुघातिनस्ते ॥ ७३ ॥

शृण्वन्ति ये भक्तिपरा मनुष्या संकीर्त्यमानं भगवन्तमाद्यम् ।

ते मुक्तपापाः सुखितो भवन्ति यथाऽमृतप्राशनार्पितास्तु ॥ ७४ ॥

तस्माद् प्यानं स्मरणं कीर्तनं वा नाम्नां ध्वरणं पठतां सज्जनानाम् ।

कार्यं विष्णोः भद्रधानैर्मनुष्यैः पूजातुल्यं तत् प्रशंसन्ति देवाः ॥ ७५ ॥

यातौस्तथाऽन्तःकरणैरिह्मवैश्यां नाचंयेव केनचनमोक्षिताम् ।

पुणैश्च पत्रैर्जलपद्मनादिभिर्नूनं स मुष्टं निधितस्मरेण ॥ ७६ ॥

इति श्रीवामनपुराण त्रिबलिनमाध्याय ॥ १३ ॥

शार्पोंमें शङ्ख, कमल, चक्र, श्रेष्ठ धनुष, पटा तथा तखवार धारण करनेवाले, लडकीके मुखकमलके अंगर, वर देनेवाले पद्मनाभका कीर्तन करनेवाले मनुष्य निश्चय ही मधुसूदनका लोक प्राप्त करते हैं । अच्युत पीनेसे सुख होनेवाले प्राणीके समान भक्तिपरायण मनुष्य आद्य भगवान्का कीर्तन सुनकर पासे मुक्त एवं सुखी होते हैं । अथः अक्षरालील मनुष्योंको विष्णुका प्यान, स्मरण, कीर्तन अथवा पाठ करनेवाले मनुष्योंके विष्णुके नामोंका श्रवण करना चाहिये । देवगण पूजाके समान उसकी प्रशंसा करते हैं । स्वस्य, वाय तथा आन्तरिक इन्द्रियोंके जो मनुष्य पुष्य, पत्र, जल एवं पद्मवादिद्वारा शासन करनेवाले केशवका अर्चन नहीं करता, निधय ही निरिच्छी तस्करने उसे दृष्ट किया है ॥ ७३-७६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें निगमनेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

[अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः]

वदित्वा च

भयना कथितं सर्वं समागत्य जनार्दनम् । या गतिः प्राप्यते लोकं तां मे वक्तुमिहाहंमि ॥ १ ॥
 देवान्नेन देवस्य प्रीतिः समुपजायते । कानि क्षानानि क्षान्तानि प्रीणनाय जगद्गुरोः ॥ २ ॥
 उपवासदिकं कार्यं कस्यां तिथ्यां महोदयम् । कानि पुण्यानि क्षान्तानि विष्णोस्तुष्टिप्रदानि वै ॥ ३ ॥
 यशान्यदपि कर्त्तव्यं बृहस्पतिरजालसैः । तद्व्यशेषं ह्येन्द्र ममाख्यातुमिहाहंमि ॥ ४ ॥
 चौगनवेवौ अच्युत प्रारम्भ

(वदित्वा ब्रह्मदेसे प्रथ, विष्णुकी पूजादि-विधि, सामानुसार विचित्र दान-विधान,
 विष्णु-मन्दिर-निर्माण और विष्णुभक्त एवं बृहस्पतिरजालसै महिमाका वर्णन)

वदित्वा ब्रह्मा—(तात !) आगे सब कुछ बड़ दिया । अब आप जनार्दनकी पूजा करनेसे प्राप्त होनेवाली गतिका कथन करें । किस प्रकारकी आराधना करनेसे ब्रह्मदेवको प्रसन्नता होती है ? (उन) जगद्गुरुको प्रसन्न करनेके लिये किस प्रकारके दान करने चाहिये (कौन-सी वस्तुएँ प्रशंसित हैं ?) किस तिथिमें उपवास आदि करनेसे महान् उन्नति होती है ? विष्णुकी प्रीति उत्पन्न करनेवाले कौन-से पवित्र कार्य कहे गये हैं ? हेत्येन्द्र ! आलग्यसे रहित होकर प्रीतिपूर्वक करने योग्य अन्य कार्योंका भी वर्णन आप भव्योक्ति मुझसे कीजिये ॥१-४॥

ब्रह्मा उवाच

श्रद्धाभक्तिसंनिधिरयं न्युद्दिश्य जनार्दनम् । बले क्षानानि दीयन्ते तान्क्षुमुनयोऽक्षयात् ॥ ५ ॥
 ता एव तिथयः शस्ता यास्त्वय्यस्य जगत्पतिम् । तच्चित्तस्त्वन्मयो भूत्वा स्ववाच्यं नरो भवेत् ॥ ६ ॥
 पूजितं तु द्विजेन्द्रेषु पूजितः स्याज्जनार्दनः । पतान् द्विपत्नि ये भूदास्ते याम्नि नरकं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
 तान्चयेष्वरमे भक्त्या शाल्लभान् विष्णुतन्वरः । एवमाह इतिः पूर्वं ब्राह्मणा ग्रामकी तनुः ॥ ८ ॥
 शाल्लभो नावमन्त्रयो बुधो वायव्योऽपि वा । सोऽपि दिव्यातनुर्विष्णोन्मन्त्रान् नामच्येऽक्षरः ॥ ९ ॥
 तान्येव च प्रशान्तानि कुमुदानि महासुर । यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रमणान्श्रुतानि च ॥ १० ॥
 विदोषतः प्रवक्ष्यामि पुण्याणि तिथयन्मया । क्षानानि च प्रशान्तानि साक्षरप्रोक्तानि तु ॥ ११ ॥

ब्रह्मदेवने कहा—हे ! श्रद्धासे भरे और भक्तिसे युक्त होकर जनार्दनके उद्देश्यसे जो दान दिये जाते हैं, उन्हें मुनियोंने कभी भी किताब न होनेवाली (दान) कहा है । वे ही तिथियाँ प्रशंसनीय होती हैं, जिनमें मनुष्य विष्णुकी पूजा करनेके बाद तनमें चित्त एवं मन लगाकर उपवास करता है । ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे जनार्दनकी (ही) पूजा होती है । उनसे धर करनेवाले बूढ़ व्यक्ति निम्न ही नरकमें जाते हैं । विष्णुमें अनुग्रह समानेवाले भक्तिमत् मनुष्यको श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । पूर्वकालमें विष्णुने यह कहा था कि ब्राह्मण भरे शरीर हैं । झली (ही) अथवा अज्ञानी, (पर) ब्राह्मण नरस्वार (कभी) नहीं करना चाहिये । यह विष्णुका शरीर होता है । अतः उसकी पूजा करनी चाहिये । (बर्हातक विष्णुपूजाके लिये पुण्यका प्रश्न है,) महासुर । बर्ग, स्व एवं मन्त्रसे युक्त पुण्य ही उत्तम होते हैं । अब मैं माधवकी प्रसन्नताके लिये कहे गये विशेष पुण्यों, तिथियों एवं शर्तोंका (स्पष्ट करने) कर्त्तव्य करता हूँ ॥ ५-११ ॥

जानी शलाका नुमनाः कुन्तं बहूपुटं तथा । दानं च चम्पकागोदं करधारं च श्रुतिका ॥ १२ ॥
 पारिभद्रं पाटला च बहुलं गिरिशालिनी । तिलकं च जगद्गुरुं पीनकं नागरं व्यपि ॥ १३ ॥

यतानि हि प्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्चने । सुरभीणि तथाप्यानि वर्जयित्वा तु केतकीम् ॥ १४ ॥
 बिल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं मृगसृगाह्वयोः । तमालामलकौपत्रं शस्त्रं केशवपूजने ॥ १५ ॥
 येषामपि हि पुष्पाणि प्रशस्तान्यच्युतार्चने । पल्लवान्यपि तेषां स्युः पत्राण्यर्चाविधौ हरेः ॥ १६ ॥
 धीरुधां च प्रवालैर्दक्षिणा चार्चयेत्तथा । नानारूपैश्चाम्बुभङ्गैः कमलेर्दावरादिभिः ॥ १७ ॥
 प्रवालैः शुचिभिः प्लवङ्गैर्जलप्रशालितैर्बले । धनस्पतीनामर्चयेत् तथा दूर्वाप्रपल्लवैः ॥ १८ ॥
 चन्द्रेणानुलिम्बेन कुङ्कुमेन प्रयत्नतः । उशीरपत्रकाम्यां च तथा कालायक्यादिना ॥ १९ ॥
 महिषाण्यं कर्णं दातुं सिद्धकं सागरं सितम् । शङ्खं जलार्कं चोशीरं धूपानि स्युः प्रियाणि वै ॥ २० ॥

अच्युत (श्रीविष्णु) की अर्चनाके लिये—मालती, शतावरी, चमेरी, कुन्द, गुलाब, बहूपत्र, बाण, चम्पा, अशोक, कनेर, जूही, पारिभद्र, पात्र, मौसुरी, निरिशादिनी, तिन्त्रक, अड़हल, पीतक एवं नागर नामक पुष्प उत्तम हैं । इनके सिवा केतकीको छोड़कर अन्य सुगन्धित पुष्प भी श्रेष्ठ हैं । केशवके पूजनमें बिल्वपत्र, शमीपत्र, मृग एवं सृगाह्वके पत्र, तमाल तथा आमलकीके पत्र प्रशंसनीय हैं । अच्युतके अर्चनमें जिन वृक्षोंके पुष्पोंका प्रयोग होता है उनके पञ्चव एवं पत्र भी विष्णुके पूजनके लिये प्रशंसनीय होते हैं । वीरुधोंके किसलय एवं कुश तथा जलमें उतरन होनेवाले अनेक प्रकारके कमल एवं इन्दीवरादिमें विष्णुका पूजन करना चाहिये । बले । धनस्पतियोंके चिकने, पत्रि एवं जटसे घोषे हुए कोरसे तथा दूबके अङ्कुरसे (विष्णुका) पूजन करना चाहिये । प्रफलपूर्वक चन्दन, कुङ्कुम, उशीर, खस, पद्मक एवं कालीयक आदिसे विष्णुका अनुलेपन करना चाहिये । श्रीविष्णुको महिष नामक कण, दाह, सिद्धक, अन्न, सिता, शङ्ख एवं जलीकलका धूप प्रिय होता है ॥ १२-२० ॥

हविषा संस्कृता ये तु यवगोधूमदाण्डकः । निलमुद्गाद्यो माषा मोहश्च प्रिया हरेः ॥ २१ ॥
 गोदानानि पवित्राणि सूम्निदानानि धानयः । वस्त्रान्नखर्बदानानि प्रीतये मधुघातितः ॥ २२ ॥
 माघमासे निला देवास्तिलधेनुश्च दानयः । इधनादानि च तथा माघश्रीणनाय तु ॥ २३ ॥
 फाल्गुने ब्राह्मणो मुग्धा वस्त्रकृष्णाजित्नादिकम् । गोविन्दश्रीणनायैश्च दानव्यं पुरुषर्षभैः ॥ २४ ॥
 चैत्रे चित्राणि वज्राणि शयनान्यासनानि च । विष्णोः प्रीत्यर्थमेतानि देयानि ब्राह्मणेभ्यः ॥ २५ ॥
 गन्धमाल्यानि देयानि वैशाखे सुरभीणि वै । देयानि द्विजमुक्येभ्यो मधुसूदनतुष्टये ॥ २६ ॥
 उदकुम्भाम्बुधेनुं च तालवृन्तं सुचन्दनम् । त्रिक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं साधुभिः सदा ॥ २७ ॥
 उपानयुगलं चैत्रं लयणामलकादिकम् । आषाढे धामनप्रीत्यै दातव्यानि तु भक्तितः ॥ २८ ॥

श्रुतसे संस्कृत जौ, गेहूँ, शालिधान्य, निच, मूँग, उदक और अन्न हरिको प्रिय हैं । हे निष्पाप ! मधुसूदनको गौ, पत्रि मूँग, वस्त्र, अन्न और सोनेके दान प्रिय होते हैं । दानव ! माघमासमें माघवकी प्रसन्नताके लिये निच, तिन्त्रेणु एवं इधनादिना दान करना चाहिये । महान् पुरुषोंसे गोविन्दकी प्रीतिके लिये फाल्गुन मासमें चावड़, मूँग, वस्त्र तथा कृष्णलृगवर्ण दान करना चाहिये । चैत्र मासमें विष्णुकी प्रीतिके लिये बालगोंसे मीनि-मीतिके वस्त्र, शय्या एवं आसनोका दान करना चाहिये । मधुसूदनकी प्रीतिके लिये वैशाख मासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुगन्धित गन्ध एवं माषोंका दान करना चाहिये । त्रिक्रमकी प्रीतिके लिये सृजन व्यक्तिको जयका घड़ा, जटसेनु, कदमरु पंख तथा सुन्दर चन्दनका दान करना चाहिये । भाद्रपद वाननकी प्रीतिके लिये आषाढ मासमें महिषपूर्वक जूतीका जोड़ा, छत्र, लयण एवं आँवके आदिका दान करना चाहिये ॥ २१-२८ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुपत्वा वचनं दितीश्वरो वैरोचनं सत्यमनुत्तमं हि ।
 सम्पूजितस्तेन विमुक्तिमाययौ सम्पूर्णकामो हरिपादभक्तः ॥ ५६ ॥
 गते हि तस्मिन् मुदिते पितामहे बलेर्वभौ मन्दिरमिन्दुवर्णम् ।
 महेन्द्रशिलिवप्रचरोऽथ केशवं स कारयामास महामहीयान् ॥ ५७ ॥
 स्वयं स्वभार्यासहितश्चकार देवालये मार्जनलेपनादिकाः ।
 क्रिया महात्मा यवशर्कराद्या बलिं चकारप्रतिमां मधुदुहः ॥ ५८ ॥
 दीपप्रदानं स्वयमायताक्षी विन्ध्यावली विष्णुगृहे चकार ।
 गेयं स धर्म्यश्रवणं च धीमान् पौराणिकैर्विप्रवरैरकारयत् ॥ ५९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मिसे इस प्रकार सत्य तथा श्रेष्ठ वचन कहनेके बाद विष्णुभगवान्के चरणोंमें धनुराग रखनेवाले सफलमनोरथ दितीश्वर प्रह्लाद बलिद्वारा किये गये सत्कारको ग्रहण कर मोक्षमार्गकी ओर प्रस्थित हो गये । पितामह प्रह्लादके प्रसन्न होकर चले जानेपर बलिका महल चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित होने लगा । महामहिम उस- (बलि-) ने विश्वकामसे केशवका मन्दिर निर्मित करवाया । बलि स्वयं अपनी पत्नीके साथ उस देवालयमें मार्जन, लेपन आदि क्रियाएँ करने लगा । मधुसूदनके लिये महात्मा बलिने जौ एवं शक्कर आदिका उत्तम नैवेद्य निवेदित किया । विशालनयना विन्ध्यावली स्वयं विष्णुमन्दिरमें दीपदान करने लगी । बुद्धिमान् बलि पुराणवेत्ता श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे धार्मिक प्रवचन करवाने लगा ॥ ५६-५९ ॥

तथाविधस्यासुरपुङ्गवस्य धर्म्यं सुमार्गं प्रतिसंस्थितस्य ।
 जगत्पतिर्दिव्यवपुर्जनादर्नस्तस्यौ महात्मा बलिरक्षणाय ॥ ६० ॥
 सूर्यायुताभं मुसलं प्रगृह्य निध्नन् स दुष्टानरियूथपालान् ।
 छारि स्थितो न प्रददौ प्रवेशं प्राकारगुप्ते बलिनो गृहे तु ॥ ६१ ॥
 छारि स्थिते धातरि रक्षपाले नारायणे सर्वगुणाभिरामे ।
 प्रासादमध्ये हरिमोशितारमभ्यर्चयामास सुरर्षिमुख्यम् ॥ ६२ ॥
 स एवमास्ते सुरराड् बलिस्तु समर्चयन् वै हरिपादपङ्कजौ ।
 सस्मार नित्यं हरिर्भोपितानि स तस्य जातो विनयाङ्कुशस्तु ॥ ६३ ॥

उस प्रकारके धर्ममार्गमें स्थित रहनेवाले असुरोंमें श्रेष्ठ बलिकी रक्षाके लिये दिव्य शरीर धारण करनेवाले जगत्पति परमात्मा जनार्दन (वहाँ) विराजने लगे । वे द्वारपर रहते हुए दस हजार सूर्योंके समान तेजवाले मुसलको लेकर दुष्ट शत्रुओंके यूपपनियोंका संहार करते एवं प्राचीर- (परकोटा-) से रक्षित बलिके भवनमें किसीको प्रवेश नहीं करने देते थे । सभी गुणोंके सुन्दर लगनेवाले विधाता नारायणके द्वारपाल होनेपर बलि भी अपने महलके भीतर निरन्तर सुरों एवं ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ नियमनकर्ता हरिका पूजन करने लगा । असुरराज बलि इस प्रकार हरिके चरणकमलोंका अर्चन करते हुए नित्य हरिके वचनोंको स्मरण किया करता था । वह (नियम) उसके लिये विनयका अङ्कुश हो गया ॥ ६०-६३ ॥

इदं च वृत्तं स पपाट दैन्यगद् स्मरन् सुवाक्यानि गुरोः शुभानि ।
 नथ्यानि पथ्यानि परत्र चेष्ट पितामहस्येन्द्रसमस्य वीरः ॥ ६४ ॥
 ये तुल्यवाक्यानि समाचरन्ति श्रुत्वा दुःखकान्यपि पूर्वतस्तु ।
 स्निग्धानि पक्षाभयनांतशुद्धा मोदन्ति ते नात्र विचारमस्ति ॥ ६५ ॥

आपद्भ्रजंगदपृथ्व्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा । वृद्धवाक्त्रयौपधा नूनं कुर्वन्ति किल निर्दिशन् ॥ ६६ ॥
 वृद्धवाक्त्रयामृतं पोत्वा तदुकमनुभात्य च । या वृत्तिजायते पुंसां सोमपाने हुतस्तदा ॥ ६७ ॥
 आपत्तौ पतितानां येषां वृद्धा न सन्ति शास्ताः । ते शोच्या रन्धूनां जीवन्तोऽप्राह मनुष्यैः ॥ ६८ ॥
 आपद्प्राहगृहीतानां वृद्धाः सन्ति न पण्डिताः । येषां मीक्षयिताये वै तेषां शान्तिर्न विन्दते ॥ ६९ ॥
 आपज्जलनिमग्नानां द्वियतां व्यसनोर्मिभिः । वृद्धवाक्त्रयैर्विना नूनं नैवोच्चारं कथंचन ॥ ७० ॥
 तस्माद् यो वृद्धराजपानि शृणुयाद् विदधाति च । स सद्यः सिद्धिमाप्नोति यथा वैरोचनो वन्दितः ॥ ७१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इन्द्रके समान श्रेष्ठ अपने पितामहके कल्याणप्रद इस लोक तथा परलोकमें कल्याणकारी एव सुन्दर लब्ध वचनोंका स्मरण करते हुए वह वीर दैत्यराज इस वृत्तका पाठ (आहुति) करता था । पूर्वमें सत्योक्तपूर्वक कट्टे में और बादमें नवनीतके समान स्निग्ध (कोमल) एव शुद्ध वृद्धवाक्त्रयोंका श्रवण कर तदनुसार आचरण करनेवाले निस्सन्देह आनन्द प्राप्त करते हैं । वृद्धवाक्त्ररूपी ओगधि आपत्तिरूपी सर्से दशिन मन्त्रहीन पुरुषको निस्सन्देह विमसे रहित कर देती है । वृद्धवचनरूपी अमृतको पीने एव उनके कथनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्योंको जो वृत्ति होती है वैसी वृत्ति सोमपानमें कहाँ है ? वृद्धजन आपत्तिमें पड़े हुए जिन मनुष्योंका शासन (मार्गदर्शन) नहीं करते वे कन्धुओंके लिये शोचनीय तम जीविन ही मरे हुएके समान होते हैं । आपत्तिरूपी प्राइसे मत्स्य जिन व्यक्तियोंको वृद्ध ज्ञानी लोग (उससे) मुक्त करानेवाले नहीं होते उन्हें शान्तिभी प्राप्ति नहीं होती । आपत्तिरूपी जलमें डूबे और व्यसनरूपी ल्हटोंके थपड़े खनेवाले पुरुषोक्त उद्धार वृद्ध वचनके सिवा अन्य किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । अतः वृद्धवचनको सुनने एव तदनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य विरोचन-पुत्र बलिके समान शीघ्र सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ६४-७१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

[अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतन्मया पुण्यतमं पुराणं तुभ्यं तथा नारद कीर्तितं वै ।
 श्रुत्वा च कीर्त्या परया समेतो भक्त्या च दिष्णोः पदमभ्युपैति ॥ १ ॥
 यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनत्वाद् । तथा पुराणश्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥ २ ॥
 न तस्य रोगा जायन्ते न रिपं चाभिचारिकम् । शरीरे च कुले ब्रह्मन् यः शृणोति च पापानम् ॥ ३ ॥
 शृणोति नित्यं विधिगच्छ भक्त्या सम्पूजयन् यः प्रणतश्च दिष्णुम् ।
 स चाश्वमेधस्य सदक्षिणस्य कलं समग्रं परिहृणपापम् ॥ ४ ॥
 प्राप्नोति दत्तस्य सुवर्णभूमेरश्वस्य गोसगरधस्य धैव ।
 नापि नरद्व्यापि च पादमेकं शृण्वन् शुचिः पुण्यतमः पूषिष्याम् ॥ ५ ॥

पंचानवेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुराण-वाचन, धारण-श्रवण और पठनकी फलश्रुति)

पुलस्त्यकी बाँटे—नारदनी । मैं आपसे इस कथ्यन्त पावन पुराणका कथन किया है । इसको पुनःपुनः

वंशजोंका चरित), संस्था (प्रलय कैसे होती है), ईशकथा, निरोध और आश्रय, अथवा हेतु (सृष्टिका कारण जीव) और—

१०—आपाश्रय (ब्रह्म)—इन दस बातोंका जिसमें वर्णन हो, उसे ही पुराण कहते हैं। पुराणोंका मुख्य उद्देश्य आश्रय-स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान ही है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिसे परे जो तुरीय तत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा है। सृष्टि तथा राजा आदिके चरित्र कहकर पुराण ब्रह्मको ही लक्ष्य कर लक्षित कराते हैं; जैसे—किसीको ध्रुवतारा दिखाना हो तो पहले वृक्षकी डाल दिखायेंगे। फिर कहेंगे कि इस डालकी सीधमें जो चमकीला तारा दीख रहा है, वही ध्रुवतारा है। इसी प्रकार असुक राजा ऐसा था, उसका भगवान्से ऐसा सम्बन्ध हुआ, भगवान्ने उसके निमित्त यह अवतार लेकर ऐसी-ऐसी थोड़ाएँ कीं। उन ली गओंके उपलक्ष्यसे ययार्थ लक्ष्य जो परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींका बोध कराना है; राजाओंकी कथा तो वागीका विलासमात्र है। परमार्थतत्त्व तो ज्ञान-वैराग्यके द्वारा परब्रह्म परमात्माको दिखाना है। इसलिये श्रीमद्भागवतके अन्तमें श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितसे कहा था—राजन् ! मैंने तुमको बहुत-से ऐसे राजाओंकी कथाएँ सुनायी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंमें अपने यशका शिस्तार करके इस लोकका परित्याग कर परलोक प्रयाण कर गये। उनकी कथाएँ ज्ञान और वैराग्यका उपदेश करनेके निमित्त ही तुम्हें सुनायी हैं। ये कथाएँ केवल वाणीकी विभूतिमात्र हैं। परमार्थतत्त्व तो पराश्रय परब्रह्म परमात्मा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ही हैं। राजा तो हुए और धरना बल-पीहर दिवाकर चले गये। उनके चरित्रसे

केवल ज्ञान-वैराग्यकी शिक्षा लो और परमार्थतत्त्वपर अपना लक्ष्य रखो। इसी पराश्रय-तत्त्वका उपदेश समस्त पुराण करते हैं। इसीलिये वामनपुराणके अन्तमें भगवान्के पाँच नाम लिये गये हैं—१—कारणवामन, २—नारायण, ३—अमितविक्रम, ४—शार्ङ्गचक्र, तलवार और गदाधारी तथा ५—पुरुषोत्तम। इन नामोंको लेकर तीन बार नमस्कार किया है। तीन बार नमस्कारका तात्पर्य है—१—हृदयसे, २—वाणीसे और ३—शरीरसे निरन्तर भगवान्के नामोंको लेता हुआ 'नमो ; नमो ;' कहता हुआ निरन्तर नमस्कार करता रहे। इससे क्या होगा ? जो इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है, वह मुक्तिपदका दायभाक-उत्तराधिकारी हो जाता है; अर्थात् जिनके चरणोंमें मुक्ति लोयती रहती है, उन श्रीकृष्णका वह उत्तराधिकारी हो जाता है। इस प्रकार वामनपुराणमें भगवान्के पाँच नाम लेकर तीन बार नमस्कार करनेका फल बताया है कि जो इस प्रकार भगवान्के नामोंका उच्चारण हृदयसे, वाणीसे और शरीरसे नित्य नमस्कार करता रहेगा और मनमें श्रीकृष्णकी भावना करता रहेगा, उसको विष्णुपद, जो मोक्ष है, उसे देवताओंद्वारा पूजित श्रीवामन भगवान् अवश्य दे देते हैं।

इत्थं वदेद् यो नियतं मनुष्यः कृष्णभावनः ।
तस्य विष्णुः पदं मांशं ददाति सुरपूजितः ॥
(वामनपुराण ९५ । १५)

छप्य

कृष्ण	भावना	करै	नाम	नारायण	केवै ।
मन	बानी	अरु	देह	सहित	प्रनवै प्रभु सेवै ॥
नमो	नमः	नित	कहे	रूप	हरि हियमें राखै ।
मुखमें	राखै	नाम	जीभ	परसादी	चाखै ॥
पादोदक	निरमाल्य	सिर,	श्रवन	कथा	नित ही सुने ।
भक्ति	मुक्ति	करतक	बसै,	जे	श्रीवामन गुन गुने ॥

नवज्योतिका प्रकाश मिले

(अनन्त श्रीजगदाचार्य पूज्य भीनारदानन्दजी महाराजका शुभाशीर्वाचन)

श्रीजगदाचार्यजी महाराज यह जानकर कि 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'श्रीवामनपुराणाङ्क' निकल रहा है, बहुत प्रसन्न हुए। पूज्यचरणका शुभाशीर्वाद है कि 'कल्याण' इसी प्रकार ईश्वर-भक्ति, देश-भक्ति नैतिकता राष्ट्रमें एव पित्रमें फैलाना हुआ नव-जीवन-ज्योति प्रकाशित करता रहे। हमारी समस्त शुभ कामनाएँ कल्याणके साथ हैं।

(प्रेषक—गोपबन्धु पूजन कृते—श्री महाराजजी)

‘कल्याण’के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित
 स्त्रियों द्वारा बनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना।

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर
 परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत
 आशेषरहित लेख ही प्रायः प्रकाशित होने हैं। स्त्रियोंकी घटाने
 नशाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है।
 अनुदित लेख बिना मँगि प्रायः नहीं लौटाये जाते। स्त्रियोंमें
 प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं होंगे।

(२) डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित, ‘कल्याण’का अभिमत
 मूल्य भारतमें २०.०० रुपये वार्षिक और भारतमेंसे
 बाहरके लिये ४५.५० रु० (दो पौण्ड पचहत्तर पन्च) नियत है।

(३) ‘कल्याण’का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ
 होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है; अतः ग्राहक जनवरीसे
 ही रूनाये जाते हैं। विशेषाङ्क स्टॉकमें रहनेपर वर्षके किसी भी
 महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी
 दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे ‘कल्याण’ प्रत्येक ग्राहकके नामसे दो-
 तीन बार जाँच करके भेजा जाता है, यदि किसी मासका अङ्क
 समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे खिन्नापदी करनी चाहिये।
 वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये।

(६) पता बदलनेकी सूचना कमसे-कम १५ दिन पहले
 कार्यालयमें पहुँचानी चाहिये। पत्र लिखते समय ग्राहक-
 संख्या, पुराना या नया ग्राहक, नाम तथा पता साफ-
 साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये पता
 बदलवाना हो तो अपने पोस्टमार्शरको ही लिखकर प्रबन्ध कर
 लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना मिलनेपर ही अङ्क नये
 पतेपर भेजे जाते हैं।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रग-विरगे
 चित्रोबाला तथा विशिष्ट विषयक सदस्यमूलतः चारु वर्षका विशेषाङ्क
 प्रथम अङ्कमें दिया जाता है। बाकी ११ अङ्क बिना मूल्य
 दिये जाते हैं। केवल विशेषाङ्क ही मूल्य २०.०० रुपये है।

(८) ‘कल्याण’पर किसी प्रकारका कमीशन या ‘कल्याण’-
 की एजेन्सी किसीको भी देनेका नियम नहीं है।

एक ब्रह्मज्योतिका तिरोभाव !

आयरांकराचार्यके अन्तार धर्मसम्राट् पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रोजी महाराजका ७५ वर्षकी ८२
 को अविमुक्त यापणसोमें ध्यानस्थायस्थामें ही तिरोधान हो गया। वे ७६ वर्षके थे।

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज विद्वान्की शान्ति तथा सुख-वेधर्यके लिये भारतमें धार्मिक
 रामराज्यकी व्यवस्थाके समर्थक थे। उन्होंने रामराज्य-परिपक्की संस्थापना की। उनका जीवन
 धर्ममय, त्यागमय और तपोमय था। विद्या और तपसे अश्रुत उनके भौतिक शरीरसे भी
 दिव्यताका दर्शन होता था। वे धर्म और दर्शनके भारतीय परम्पराके मौजूद व्याख्याता एवं
 समर्थक थे। इधर वे ‘वेदार्थ पारिजात’ नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके प्रणयनकार्यमें लग गये थे।

देश और धर्मके लिये उनके ये नारे थे—(१) धर्मकी जय हो, (२) अधर्मका नाश
 हो, (३) प्राणियोंमें सद्भाव हो, (४) विश्वका कल्याण हो और (५) [हिन्दू-गौरव-गाथाको
 अपनेमें गूँथनेवाला] हर-हर महादेव !

गोवध भारतका कलंक है—यह वे मानते थे और गोवधबंदीके विविध कार्योंमें लगे
 रहे। उनके तिरोधानसे धार्मिक जगत्की अपूर्णता महती क्षति हुई है।

‘कल्याण’ एवं कल्याण परिवारको श्रेष्ठ प्रह्लादमूलतः श्रीस्वामीजीका सतत आशीर्वाद प्राप्त
 था। ‘कल्याण’ श्रीस्वामीजीके सहयोगके सौभाग्यसे धञ्जित हो गया। हम उन प्रह्लादमूलतः
 जोके प्रति अपनी श्रद्धाके भाव-भरित शब्द सुमन अर्पित कर रहे हैं।

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सप्तसङ्गकी सूचना

गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सप्तसङ्गके आयोजनकी व्यवस्था है। प्रार्थना है कि सप्तसङ्गी महानुभाव तथा मातापुत्र-पुत्रों अधिकाधिक संख्यामें केवल सप्तसङ्ग तथा भजनके पवित्र उद्देश्यसे ही गीताभवनमें पधारें। वहाँ चैत्र शुक्ल पूर्णिमाके लगभग श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके पधारनेका विचार है। अन्यान्य संत-महात्मा, विद्वान् तथा रामायणके वक्ता आदि भी पधारनेवाले हैं।

नौकर-रसोडिया आदिको यथासम्भव साथमें लाना चाहिये। लियँ पीहर या सपुराल्वालोंके (या निकटके सुन्दरीके) साथ ही बहाँ जायँ। वे अकेली न जायँ। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथमें बिल्कुल नहीं ले जानी चाहिये। अपने सामानकी पूरी सँभाल स्वयं रखनी चाहिये। जहाँतक हो, छोटे बच्चोंको साथमें न ले जायँ। खान-पानकी वस्तुओंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, परंतु दूधके प्रबन्धमें बहुत कठिनाई है। —प्रबन्धक

गीता-दैनन्दिनी—(डायरी) १९८२

(मूल्य रु० १.७५ मात्र, ढाक-खर्च रु० ३.०० अलग)

गीता-दैनन्दिनी १९८२ की अभी उपलब्ध है; इच्छुक सज्जनोंको (ढाक-खर्च सहित) मूल्य अग्रिम भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये। व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सूचना

वामनपुराणको पूरा करनेके लिये 'कल्याण'के दूसरे अङ्क (फरवरी '८२) में १६ पृष्ठ अधिक दिये जायँ हैं; अतः तीसरे अङ्कमें पृष्ठ कम जा सकते हैं।

'कल्याण' नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म—अर, नियम-संख्या—आ८

१-अवकाशका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर;

२-प्रकाशककी आदृष्टि—मासिक;

३-सुप्रकाश नाम—मोतीलाल जालान;

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

४-प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान;

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

५-सम्पादकका नाम—मोतीलाल जालान;

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

६-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं।

श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय,
पता—नं० १५१, महात्म
गांधीगेड, कलकत्ता, (सन
१८६० के विधान २१ के
अनुसार) रजिस्टर्ड धार्मिक
संस्था।

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दिनांक २८-२-८२

—मोतीलाल जालान

प्रकाशक

पद्मपुराणीयं चामनस्तोत्रम्

भद्रिबिन्दवाच

नमस्ते देवदेवेश सर्वव्यापिन् जनार्दन । सत्त्वादिगुणभेदेन लोकन्यापारकारण ॥
 नमस्ते बहुरूपाय अरूपाय नमो नमो । सर्वैकाद्भुतरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥
 नमस्ते लोकनाथाय परमज्ञानरूपिणे । सद्भक्तजनवात्सल्यशीलिते मङ्गलात्मने ॥
 ब्रह्मावताररूपाणि ह्यर्चयन्ति मुनीश्वराः । तमाद्रिपुरुषं देवं नमामोऽष्टासिद्धये ॥
 यं न जानन्ति श्रुतयो यं न जानन्ति स्वरयः । तं नमामि जगद्धेतुं मायिनं तममायिनम् ॥
 यस्यावलोकनं चित्रं मायोपद्रवधारणम् । जगद्रूपं जगत्पालं तं वन्दे परमनाथम् ॥
 यो देवस्त्यक्तसङ्गानां ह्यन्तानां करुणार्णवः । करोति ह्यात्मना सङ्गं तं वन्दे सद्भक्तजितम् ॥
 यत्पदाद्भजजलङ्घितसेवाभिजितमस्तकाः । अथापु' परमां सिद्धिं तं वन्दे सर्वानन्दितम् ॥
 यज्ञेश्वरं यज्ञमुजं यज्ञकर्मसु निष्ठितम् । नमामि यज्ञफलदं यज्ञधर्मप्रबोधरम् ॥
 ब्रह्ममिच्छोऽपि पापात्मा यज्ञामोऽष्टारणाद्भु । प्रातमान् परमं धाम तं वन्दे लोकसाक्षिणम् ॥
 प्रह्लादा अपि ये देवा यन्मायापाशयन्त्रिता । न जानन्ति परं भावं तं वन्दे सर्वनायकम् ॥

भद्रिबिन्दो—

सप्तसप्त सप्तारके व्यापारो—त्रिया-कल्पयोमें सख-रज-राम गुणोंक भेदसे पृथक्-पृथक् प्रधान कारण बने हुए, सर्वव्यापी देवदेवेश भगवान् जनार्दन । आपको नमस्कार है । समस्त रूपोंमें एक अद्भुत रूप धारण करनेवाले, सत्त्वादि गुणात्मक, निर्गुणस्वरूपी, (अव्यक्त रूपसे) अरूप और (व्यक्तरूपसे) बहुरूप धारण करनेवाले भगवान् जनार्दन ! आपको बार-बार नमस्कार है । समस्त सप्तारके स्वामी, परम ज्ञानके रूप, सद्मज प्राणियोंके प्रति वात्सल्य प्रकट करनेवाले मङ्गलमूर्ति । आपको नमस्कार है । अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये मुनीश्वर योग जिनके अक्षरारके रूपोंकी अचना करते हैं, उन आदिपुरुष प्रभुओं में (अदिनि) नमस्कार करती हूँ । मायासे परे और मायामूर्ति धारण करनेवाले, सप्तारके हेतु जिन प्रभुओं न तो तत्पत्न श्रुतियों जानती हैं और न तो (बृहस्पति आदि) विद्वद्वारेण ही जानते हैं, उन प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ । जिन प्रभुकी भूर्भुवः दण मायाजनित सम्पूर्ण तपद्रवोंका निवारण करनेवाला है, उन जगद्रूप, जगत्पति पालन करनेवाले लक्ष्मीपतिकों में नमस्कार करती हूँ । जो परमार्थ अज्ञानसे रहित होकर शमन मागपर चञ्चलनेवालोंके लिये वरुणाके सागर हैं और निर्लेप होते हुए भी अल्पनेमें मिला लेनेवाले हैं, उन प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ । जिन प्रभुके चरण-कमलोंके अन्तसे प्रकाशरूप सेवासे एव प्रणामादि करनेसे जिनका मन्त्रक सज्ज हो गया है और (अनएव) वे परम सद्भक्तोंके प्राप्त कर चुके हैं, उन ऐसे सम्पूर्ण प्राणियोंका वन्दित प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ । यज्ञमें शिररूपसे विराजमान, यज्ञभागके भोक्ता, यज्ञकर्ममें अधिष्ठित, यज्ञधर्मके लिये ज्ञान देनेवाले तथा यज्ञधर्मके दानी प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ । पापमूर्ति अनामिन्ने भी जिनके नामक उच्चारण करनेके बाद परमधामको प्राप्त कर ल्या, उन समस्त सप्तारके सक्षी प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ । ब्रह्मा आदि देवता भी जिनका मायास्वी ल्यासे नियन्त्रित होकर परम भवको नहीं जान सक, उन सर्वनायक प्रभुओं में नमस्कार करती हूँ ।